भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार, डी० लिट् (पेरिस)

(गोविन्द वल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार और
मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता)

प्रकाशक

सरस्वती-सदन

मसूरी

चतुर्थ संस्करण]　　१९६८　　[मूल्य १२·०० रुपये

प्रारम्भिक शब्द

भारतीय संस्कृति का यह इतिहास उन पाठकों और विद्यार्थियों के लिये लिखा गया है, जो राजनीतिक घटनाओं के विस्तार और उनकी बारीकियों में गये बिना भारतीय संस्कृति और उसके क्रमिक विकास का विशद रूप से अध्ययन करना चाहते हैं। अपने देश की संस्कृति के विषय में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा सर्वथा स्वाभाविक है। स्वराज्य की स्थापना के बाद भारत में अपने देश की संस्कृति को जानने की उत्कण्ठा बहुत प्रबल हो गयी है। यही कारण है, कि कालिजों और यूनिवर्सिटियों में इतिहास के पाठ्यक्रम में इस विषय को पृथक् रूप से स्थान दिया गया है।

संसार की अनेक प्राचीन सभ्यताएँ इस समय नष्ट हो चुकी हैं। असीरिया, बैबिलोनिया के तो अब केवल नाम ही शेष हैं। मिस्र के वर्त्तमान निवासियों का संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था, और जिन्होंने अपने पितरों की ममी बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। प्राचीन ग्रीस और रोम में जो सभ्यताएँ विकसित हुई थीं, वे भी अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन ग्रीक व रोमन धर्मों का कोई अनुयायी नहीं है। जो विचारधारा प्राचीन रोमन लोगों को देवी-देवताओं और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, वह आज के रोमन (इटालियन) लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखती। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारत के बहु-संख्यक निवासियों का धर्म अब भी वैदिक है। इस देश के पुरोहित आज भी वेदमंत्रों द्वारा यज्ञकुण्ड में आहुति देकर देवताओं व प्राकृतिक शक्तियों को तृप्त करते हैं। उपनिषदों और गीता ने ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी अबाधित रूप से इस देश में बह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भावना का जो उपदेश दिया था, वह आज तक भी इस देश में जीवित और जागृत है। इस बीसवीं सदी में भी इस देश की स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री और पार्वती हैं।

अनेक विदेशी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किए। यवन, शक, कुशाण, हूण, तुर्क, अफगान, मुगल और इंगलिश जातियों ने भारत में प्रवेश कर इसके अनेक भागों पर शासन किया। इन सब ने इस देश की संस्कृति को प्रभावित भी किया। पर इन आक्रमणों व शासन ने यहाँ मूल सांस्कृतिक धारा को नष्ट नहीं किया। जिस प्रकार अनेक छोटी-छोटी नदियाँ व नाले गंगा में मिलकर उसे अधिक समृद्ध करते जाते हैं, और स्वयं गंगा के ही अंग बन जाते हैं, वैसे ही विविध जातियों ने भारत में प्रवेश कर इस देश की संस्कृति को समृद्ध बनाने में सहायता की, और उनकी अपनी संस्कृतियाँ इस देश की उन्नत व समृद्ध संस्कृति में मिलकर अपनी पृथक सत्ता को खो बैठीं, और यहाँ की संस्कृति के साथ मिलकर एकाकार हो गयीं। पर उन्होंने इस देश की संस्कृति को अनेक प्रकार से प्रभावित भी

किया। मुसलिम व यूरोपियन देशों की पाश्चात्य संस्कृतियों के साथ चिरकाल तक सम्पर्क में रहने के कारण इस देश की प्राचीन संस्कृति पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़े हैं, और ये अन्य संस्कृतियाँ इस देश के निवासियों के धर्म, कला, शिक्षा, रहन-सहन व विचारों आदि पर अपनी अमिट छाप छोड़ गयी हैं। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इन संस्कृतियों की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है। मैंने यत्न किया है, कि इनके विविध तत्त्वों और प्रभावों पर समुचित रूप से प्रकाश डाला जाए।

किसी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक विचार, कविता, संगीत, कला, शासन-प्रबन्ध आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। मनुष्य जिस ढंग से अपने धर्म का विकास करता है, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन करता है, साहित्य, संगीत और कला का जिस प्रकार से सृजन करता है, और अपने सामूहिक जीवन को हितकर व सुखी बनाने के लिए जिन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं व प्रथाओं को विकसित करता है, उन सब का समावेश हम 'संस्कृति' में करते हैं। इस पुस्तक में मैंने भारतीय इतिहास के इन्हीं अंगों का विशद रूप से विवेचन करने का प्रयत्न किया है। इसे लिखते हुए यद्यपि मैंने भारत के राजनीतिक इतिहास की उपेक्षा की है, पर विषय को स्पष्ट करने के लिये प्रसंगवश संक्षिप्त रूप से उसका उल्लेख भी कर दिया है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास पर कतिपय अन्य पुस्तकें भी हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं। पर मुझे विश्वास है, कि विद्यार्थी व सर्वसाधारण पाठक मेरी इस पुस्तक में कुछ विशेषता व नवीनता पाएँगे, और इसे वे उपादेय मानेंगे। यदि पाठकों को इस पुस्तक से भारतीय संस्कृति के स्वरूप और उस के क्रमिक विकास को समझने में सहायता मिली, तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

—सत्यकेतु विद्यालंकार

प्रकाशक का निवेदन

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास' के चतुर्थ संस्करण को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता है। हिन्दी जगत् में इस ग्रन्थ को समुचित आदर प्राप्त हुआ, और अनेक यूनिवर्सिटियों ने इतिहास विषय की बी० ए० की पाठ्य पुस्तकों में इसे सम्मिलित किया। सर्वसाधारण पाठकों ने भी इसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया, और भारतीय संस्कृति के आवश्यक तत्त्वों का परिचय प्राप्त करने के लिये इसे उपयोगी पाया। इसी कारण हमें अवसर मिला है, कि इस ग्रन्थ के चतुर्थ संस्करण को प्रकाशित कर सकें।

हमारे अनुरोध से लेखक ने इस ग्रन्थ को पूर्णतया संशोधित व परिवर्धित कर दिया है। अनेक नये प्रकरणों की इसमें वृद्धि की गयी है, जिनके कारण इस नये संस्करण की उपयोगिता बहुत बढ़ गयी है। भारतीय संस्कृति के साथ सम्बन्ध रखने वाला कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिस पर इस नये संस्करण में समुचित रूप से प्रकाश न डाला गया हो। हमें आशा है, कि पाठक इसे द्वितीय और तृतीय संस्करणों की तुलना में अधिक पूर्ण व उपयोगी पाएंगे।

डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार इतिहास और राजनीतिशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् हैं, और इन विषयों पर वे चौबीस के लगभग पुस्तकें लिख चुके हैं। उनकी भाषा सरल और विषय को प्रतिपादित करने की शैली सुबोध होती है। इसी कारण उनकी पुस्तकें बहुत लोकप्रिय हैं। हमें आशा है, कि उनकी अन्य पुस्तकों के समान इस ग्रन्थ का भी हिन्दी संसार में समुचित आदर होगा, और विद्यार्थी व पाठक इसका स्वागत करेंगे।

पिछले दिनों में कागज की कीमत बहुत बढ़ गयी है, और छपाई व जिल्द आदि के व्यय में भी वृद्धि हुई है। १९६० की तुलना में अब पुस्तकों की लागत ५० प्रतिशत से भी अधिक पड़ती है। सरस्वती सदन की सदा यह नीति रही है, कि पुस्तकों का मूल्य कम-से-कम रखा जाए, और उनकी छपाई आदि की उत्कृष्टता पर विशेष ध्यान दिया जाए। चतुर्थ संस्करण में इस पुस्तक की पृष्ठ संख्या बढ़ गयी है, और कागज भी अधिक बढ़िया लगाया गया है। हमें विश्वास है, कि बड़े आकार के सात सौ के लगभग पृष्ठों के इस ग्रन्थ के बारह रुपए मूल्य को पाठक बहुत मुनासिब मानेंगे, और बड़ी संख्या में इस पुस्तक को खरीदकर हमारे उत्साह को बढ़ायेंगे। इतिहास, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र आदि विषयों की उच्चकोटि की पुस्तकों को प्रकाशित कर सरस्वती सदन ने जो कार्य किया है, उसे हिन्दी संसार में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इसी कारण हमें यह अवसर मिलता है, कि हम अपनी पुस्तकों के नये संशोधित संस्करण प्रकाशित करते रहें, और साथ ही नये ग्रन्थों का प्रकाशन कर हिन्दी के साहित्य-भंडार में वृद्धि करते रहें। हमें आशा है, कि ग्राहकों व पाठकों की कृपा हम पर पूर्ववत् बनी रहेगी।

सरस्वती सदन, मसूरी

द्वितीय संस्करण की प्रस्तावना

'भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास' का पहला संस्करण अब से तीन साल पूर्व प्रकाशित हुआ था। हमें प्रसन्नता है, कि अनेक विश्वविद्यालयों के अध्यापकों और विद्यार्थियों ने इसे उपयोगी पाया, और आगरा तथा राजपूताना आदि की यूनिवर्सिटियों ने इसे बी० ए० के पाठ्य क्रम में नियत किया।

इस नये संस्करण को पूर्णरूप से संशोधित कर दिया गया है। विद्यार्थियों और सर्वसाधारण पाठकों की दृष्टि से इस पुस्तक में अनेक संशोधन किये गये हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(१) भारतीय कला के रूप और क्रमिक विकास के विषय पर इस संस्करण में अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है। प्राचीन, मध्य और आधुनिक युगों में वास्तुकला, चित्रकला, संगीत आदि ने जिस ढंग से प्रगति की, उसका विवेचन इस नये संस्करण में पर्याप्त विस्तार के साथ किया गया है।

(२) दक्षिणी भारत का भारतीय संस्कृति के इतिहास में बहुत महत्त्व है। उस पर इस नये संस्करण में एक पृथक् अध्याय बढ़ा दिया गया है।

(३) प्राचीन समय में भारत का विदेशों (विशेषतया पाश्चात्य देशों) के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध रहा, उस पर इस नये संस्करण में अधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इस विषय पर एक नया अध्याय भी जोड़ दिया गया है।

(४) ऐतिहासिक महाकाव्य-काल और मौर्यकाल के भारत की शासन-व्यवस्था, समाज, आर्थिक जीवन आदि के अध्यायों को संक्षिप्त कर दिया गया है।

(५) मध्ययुग में इस्लाम के सम्पर्क से भारतीय संस्कृति पर जो प्रभाव पड़े, और हिन्दू धर्म में जो नवजागरण उत्पन्न हुआ, उस पर इस नये संस्करण में अधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

(६) इस इतिहास के प्रथम संस्करण में प्राचीन संस्कृति के मुकाबले में मुसलिम युग और आधुनिक युग की सांस्कृतिक धाराओं का बहुत संक्षेप से उल्लेख किया गया था। अब उनका अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है। यह तो स्वाभाविक ही है, कि भारतीय संस्कृति के किसी भी इतिहास में प्राचीनकाल को अधिक स्थान प्राप्त हो, क्योंकि भारतीय संस्कृति के मूलरूप का विकास प्राचीन काल में ही हुआ था। पर इस नये संस्करण में मध्य और आधुनिक युगों की संस्कृति पर भी पर्याप्त विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया है।

(७) प्रथम संस्करण में जिन विषयों का विस्तार अधिक था, उन्हें इस नये संस्करण में संक्षिप्त कर दिया गया है, और जिन पर अधिक विशद रूप से विवेचन की आवश्यकता थी, उन्हें अधिक विस्तार से लिख दिया गया है।

हमें आशा है, कि इस इतिहास के नये संस्करण को अध्यापक व विद्यार्थी अधिक

उपयोगी पायेंगे । पिछले वर्षों में भारतीय संस्कृति पर अनेक नई पुस्तकें प्रकाशित हो गयी हैं। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि भारतीय पाठकों की इस विषय के प्रति रुचि निरन्तर बढ़ रही है । पर इस ग्रंथ की कुछ विशेषताएं हैं, जिनके कारण इसकी उपयोगिता में कोई कमी नहीं आ पायी है । भारत के जो विद्यार्थी व पाठक अपने देश की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उनके सम्मुख जहां इस विषय के विवादास्पद विषय लाने चाहिएँ, वहां साथ ही उन्हें भारतीय संस्कृति के स्वरूप व क्रमिक विकास का भी भली-भांति ज्ञान होना चाहिए । यह तभी सम्भव है, जब कि संस्कृति के विकास के साथ-साथ उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का भी संक्षेप के साथ निर्देश कर दिया जाए, जिनमें कि संस्कृति के विविध अंगों का विकास हुआ था । इस पुस्तक में यही करने का प्रयत्न किया गया है ।

संस्कृति का विषय बहुत विस्तृत है । धर्म, दार्शनिक चिन्तन, कला, सामूहिक जीवन के विविध रूप, साहित्य आदि सब संस्कृति के अन्तर्गत रहते हैं । इन सब का जितने सुपाठ्य रूप से इस पुस्तक में परिचय दिया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। हमें विश्वास है, कि इस ग्रन्थ के नये संस्करण का हिन्दी क्षेत्र में पहले संस्करण के समान अच्छा स्वागत होगा ।

सरस्वती सदन, मसूरी

जुलाई, १९५६

विषय-सूची

अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः।
अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।
प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चार्थसम्पदम्॥

(कौटलीय अर्थशास्त्र)

भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

(१) सभ्यता और संस्कृति

उपनिषदों में एक ऐसे वृक्ष का वर्णन किया गया है, जिसपर दो पक्षी बैठे हैं। उनमें से एक पक्षी तो वृक्ष के फल खाने में व्यस्त है, और दूसरा पक्षी केवल देख रहा है, वह फल नहीं खाता। इस रूपक द्वारा उपनिषद् ने सृष्टि के एक महान् सत्य का प्रतिपादन किया है। वृक्ष का अभिप्राय प्रकृति से है, और उसपर जो दो पक्षी बैठे हैं, वे जीवात्मा और परमात्मा हैं। जीवात्मा प्रकृति का भोक्ता है, वह उसके सुस्वादु फलों का भक्षण करता है। वह प्रकृति के विविध तत्त्वों और रहस्यों का ज्ञान प्राप्त कर उन्हें अपने सुख और समृद्धि के लिए प्रयुक्त करता है। इसके विपरीत परमात्मा केवल द्रष्टा है, वह सृष्टि का नियमन अवश्य करता है, पर उसका उपभोग नहीं करता।

इसमें संदेह नहीं, कि जीव या मनुष्य प्रकृति का उपभोग करने वाला है। वह इस बात के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है, कि प्रकृति पर अपना आधिपत्य स्थापित करता जाए और उसके सुस्वादु फलों को प्राप्त करे। पर इस प्रयत्न में उसे एकदम सफलता नहीं हो जाती। प्रकृति उसके सम्मुख अपने रहस्यों का धीरे-धीरे उद्घाटन करती है, और वह धीरे-धीरे ही समृद्धि, सभ्यता और उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है। ऐतिहासिकों का मत है, कि शुरू में मनुष्य अन्य पशुओं के समान जंगल में रहा करता था। उस समय न वह वस्त्र पहनता था, और न ही अपने निवास के लिए मकानों का निर्माण करता था। पेट भरने के लिए अन्न व अन्य भोज्य पदार्थों का उत्पादन भी वह स्वयं करता था। प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होने वाले कन्द-मूल-फल आदि को एकत्र कर व पशुओं का शिकार करके ही वह अपनी क्षुधा को शान्त करता था। धीरे-धीरे इस दशा में परिवर्तन आना शुरू हुआ। मनुष्य शिकार के लिए न केवल पत्थर के औजारों का प्रयोग करने लगा, अपितु उसने पशुओं को पालना भी शुरू किया। उसे यह भी ज्ञान हुआ, कि जिन कन्द-मूल-अन्न आदि को वह जंगल से एकत्र करता है, उन्हें वह स्वयं भी खेती द्वारा उत्पन्न कर सकता है। शीत, वर्षा और गरमी से बचाव के लिए उसने गुफा में रहना शुरू किया और फिर धीरे-धीरे लकड़ी, फूंस व ईंटों के मकान भी वह बनाने लगा। शुरू में वह नंगा फिरता था, पर धीरे-धीरे उसने वृक्षों के वल्कल व पशुओं की खाल से अपने तन को ढकना शुरू किया, और बाद में ऊन, सूत व रूई के विविध प्रकार के कपड़ों का वह निर्माण करने लगा। वायु, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग कर उसने अपने जीवन को अधिक सुखी बनाने का प्रयत्न किया,

और आज वह समय आ गया है, जब मनुष्य गगनचुम्बी भवनों में निवास करता है, विद्युत् शक्ति का उपयोग करता है, और वैज्ञानिक साधनों व यान्त्रिक उपकरणों द्वारा बहुत बड़े परिमाण में अन्न-वस्त्र व अन्य वस्तुओं का उत्पादन करता है ।

प्रकृति द्वारा प्रदत्त पदार्थों, तत्त्वों और शक्तियों का उपयोग कर मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की है, उसी को हम 'सभ्यता' (सिविलिजेशन) कहते हैं। मनुष्य की यह भौतिक उन्नति धीरे-धीरे हुई है। पत्थर के भद्दे व मोटे औजारों का प्रयोग करना शुरू कर मनुष्य अब इस स्थिति में पहुँच गया है, कि वह धातुओं का और विद्युत् व परमाणु शक्ति आदि प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग करने लगा है। इतिहास का अध्ययन करते हुए हम मनुष्य की इस आश्चर्यजनक उन्नति पर विचार करते हैं, और उन विभिन्न दशाओं का विवेचन करते हैं, जिनमें से होते हुए मानव-सभ्यता ने अपने वर्तमान रूप को प्राप्त किया है। भौतिक क्षेत्र में मनुष्य निरन्तर उन्नति कर रहा है। इसीलिए एतिहासिक लोगों का यह मत है, कि मानव-सभ्यता निरन्तर विकास को प्राप्त कर रही है ।

पर मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। बुद्धि के रूप में मनुष्य को एक ऐसी शक्ति व साधन प्राप्त है, जो अन्य प्राणियों को प्राप्त नहीं है। प्रकृति के रहस्यपूर्ण तत्त्वों और शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कर जो वह सभ्यता के क्षेत्र में उन्नति कर सका, उसका कारण यह बुद्धि ही है। पर बुद्धि का क्षेत्र केवल भौतिक ही नहीं होता। बुद्धि जहाँ मनुष्य में प्रकृति के विविध तत्त्वों के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है, वहाँ वह उसे यह विचार करने के लिए भी प्रेरित करती है, कि यह सृष्टि किस प्रकार उत्पन्न हुई, इसका निर्माण किसने किया और क्या ऐसा भी समय आयेगा, जब यह सृष्टि नहीं रहेगी। बुद्धि द्वारा मनुष्य यह विचार करने के लिए भी प्रवृत्त होता है, कि यह जो जीवित-जागृत प्राणी है, वह क्या शरीर से भिन्न है? यदि यह शरीर से भिन्न है, तो इसका क्या स्वरूप है। इस प्रकार के विचार द्वारा 'दर्शनशास्त्र' का प्रादुर्भाव होता है। अपने जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता हुआ मनुष्य यह अनुभव करता है, कि जहाँ प्रकृति की अनेक शक्तियाँ उसकी उन्नति में सहायक हैं, वहाँ अनेक शक्तियाँ उसके मार्ग में बाधक भी हैं। आंधी और तूफान उसकी झोंपड़ी को उड़ा देते हैं, दावानल उसके पशुओं और खेतों को जलाकर भस्म कर देता है, और भूकम्प द्वारा जब कभी पृथिवी काँप उठती है, तो उसका जीवन ही खतरे में पड़ जाता है। प्रकृति के इन विविध कोपों को देखकर वह सोचने लगता है, कि वायु, अग्नि, जल आदि ऐसी दैवी शक्तियाँ हैं, जिन्हें संतुष्ट व तृप्त रखे बिना वह कभी अपने हित का सम्पादन नहीं कर सकता। वह वायु, अग्नि आदि को देवता मानकर उनकी पूजा के लिए प्रवृत्त होता है, और इस प्रकार 'धर्म' का प्रारम्भ करता है। प्रकृति के अज्ञात रहस्यों को जानने और उसकी विविध शक्तियों को संतुष्ट व तृप्त करने के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, उनका उसके भौतिक सुखों के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं होता। पर इसमें संदेह नहीं, कि ये प्रयत्न उसके हित व कल्याण में अवश्य सहायक होते हैं। इसीलिए मनुष्य जहाँ अपने भौतिक सुखों के साधन जुटाने में तत्पर हुआ, वहाँ साथ ही वह धर्म तथा दर्शन-सम्बन्धी तत्त्वज्ञान के चिन्तन के लिए भी प्रयत्नशील हुआ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है, और सामूहिक रूप से ही अपनी समृद्धि व उन्नति के लिए प्रयत्न करता है। अतः उसके लिए यह प्रश्न बड़े महत्त्व का था, कि वह समूह में रहते हुए अपने साथ के अन्य व्यक्तियों के साथ क्या सम्बन्ध रखे। उसने बुद्धि द्वारा इस प्रश्न पर विचार किया, और धीरे-धीरे उन सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का विकास किया, जिनपर उसका हित और कल्याण अनेक अंशों में निर्भर रहता है। परिवार, जन (कबीला या ट्राइब), राज्य आदि जिन विविध संस्थाओं का मनुष्य ने विकास किया, वे सब उसके सामाजिक व सामूहिक जीवन को ही अभिव्यक्त करती हैं। अपने सामूहिक जीवन पर बुद्धिपूर्वक विचार करने के कारण ही मनुष्य राजनीति-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि 'सामाजिक विज्ञानों' का विकास करने में समर्थ हुआ।

प्रकृति के विविध तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। पर उसका संतोष केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति द्वारा ही नहीं होता। वह अपने जीवन को अधिक सरस और सौन्दर्यमय बनाने का यत्न करता है। इसके लिए वह संगीत, साहित्य और कला का अनुसरण करता है, और इन्हें भलीभाँति उन्नत कर अपने जीवन को सुसंस्कृत बनाने का प्रयत्न करता है।

मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता है, उसी को 'संस्कृति' कहते हैं। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस ढंग से प्रयोग करता है, उससे उसकी 'सभ्यता' का निर्माण होता है। पर चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम 'संस्कृति' के रूप में प्राप्त होता है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया; दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया; साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं व संस्थाओं को विकसित किया—उन सबका समावेश हम 'संस्कृति' में करते हैं। सभ्यता और संस्कृति का यह भेद महत्त्वपूर्ण है।

क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसकी संस्कृति का विकास भी सामाजिक व सामूहिक रूप में ही होता है। समाज से पृथक् अकेला रहता हुआ मनुष्य न भौतिक क्षेत्र में उन्नति कर सकता है, और न सांस्कृतिक क्षेत्र में। इसीलिए संस्कृति किसी एक व्यक्ति के प्रयत्न का परिणाम नहीं होती। वह समाज के अनगिनत व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है, और यह प्रयत्न भी ऐसा, जिसे एक के बाद एक आने वाली मनुष्यों की विविध संततियां निरन्तर करती रहती हैं। यही कारण है, कि संस्कृति का विकास धीरे-धीरे होता है। वह किसी एक युग की कृति नहीं होती, अपितु विभिन्न युगों के विविध मनुष्यों के सामूहिक व अनवरत श्रम का परिणाम होती है।

यह पृथिवी बहुत विशाल है। इसके विविध प्रदेशों में मनुष्यों के विविध समूह हजारों वर्षों से पृथक्-पृथक् निवास करते रहे हैं। इन सब प्रदेशों की प्राकृतिक व भौगोलिक परिस्थितियां एक सदृश नहीं हैं। यही कारण है, कि पृथिवी के विविध प्रदेशों में निवास करने वाले मनुष्यों के विभिन्न समूहों ने अपनी सभ्यता और संस्कृति

का विकास विभिन्न प्रकार से किया है। मानव समाज में विभिन्न संस्कृतियों की सत्ता का कारण केवल यह नहीं है, कि विविध मनुष्य विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक परिस्थितियों में निवास करते हैं। मनुष्य का मन, बुद्धि या दिमाग एक ऐसा रहस्यमय तत्त्व है, जो केवल प्रकृति या परिस्थितियों का दास बनकर ही नहीं रह सकता। बहुधा वह प्रकृति पर विजय प्राप्त कर लेता है, और उसे अनेक अंशों में अपना अनुगामी बना लेता है। इसीलिए अनेक प्रतिभाशाली मनुष्यों ने प्रकृति के प्रभाव से स्वतन्त्र होकर भी अपनी विशिष्ट संस्कृति के विकास में सहायता पहुंचाई है।

इस पुस्तक में हम भारतीय संस्कृति और उसके विकास पर विचार करेंगे। अपने सुदीर्घ इतिहास में भारत के निवासियों ने जहाँ एक उन्नत सभ्यता का विकास किया, वहां साथ ही एक ऐसी संस्कृति का भी प्रादुर्भाव किया, जो बहुत उन्नत और लोक-हितकारी है। भारत की यह संस्कृति अन्य देशों की संस्कृतियों से अनेक अंशों में भिन्न है, और अपनी अनेक विशेषताएं रखती है। यही कारण है, जो संसार के इतिहास में इसका महत्त्व बहुत अधिक है।

(२) भारतीय संस्कृति की विशेषता

भारत का इतिहास प्रारम्भ हुए हजारों वर्ष व्यतीत हो चुके। इस देश की सभ्यता संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं में गिनी जाती है। वेद दुनिया का सबसे प्राचीन साहित्य है। प्राचीन संसार की अनेक सभ्यताएं इस समय नष्ट हो चुकी हैं। मिस्र, असीरिया, बैबीलोनिया आदि के तो अब केवल नाम ही बचे हैं। मिस्र के वर्तमान निवासियों का संस्कृति की दृष्टि से उन प्राचीन लोगों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, जिन्होंने कि नील नदी की घाटी में गगनचुम्बी विशाल पिरामिडों का निर्माण किया था, और जिन्होंने अपने पितरों की 'ममी' बनाकर उन्हें अमर जीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया था। यही बात असीरिया, बैबीलोनिया आदि सभ्यता के अन्य प्राचीन केन्द्रों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। मिस्र और असीरिया की सभ्यताएं काल की दृष्टि से भारतीय सभ्यता के समान ही प्राचीन थीं। पर उनके भी बहुत समय बाद यूनान और रोम की जो सभ्यताएं विकसित हुईं, वे भी अब नष्ट हो चुकी हैं। आज प्राचीन यूनानी व रोमन धर्मों का अनुयायी कोई नहीं है। जो विचारधारा प्राचीन रोमन लोगों को देवी-देवताओं और प्राकृतिक शक्तियों की पूजा के लिए प्रेरित करती थी, वह आज के रोमन (इटालियन) लोगों के लिए कोई अर्थ नहीं रखती। पर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक कायम है। भारत का धर्म अब भी वैदिक है, इस देश के पुरोहित व ब्राह्मण आज भी वेद-मंत्रों द्वारा यज्ञ-कुण्ड में आहुति देकर देवताओं व प्राकृतिक शक्तियों को तृप्त करते हैं। उपनिषदों और गीता ने ज्ञान की जो धारा प्रवाहित की थी, वह आज भी अबाधित रूप से इस देश में बह रही है। बुद्ध और महावीर जैसे महात्माओं ने अहिंसा और प्राणिमात्र के प्रति मैत्री-भावना का जो उपदेश दिया था, वह आज तक भी इस देश में जीवित और जागृत है। यहाँ की स्त्रियों का आदर्श इस बीसवीं सदी में भी सीता, सावित्री और पार्वती हैं। भारत की संस्कृति की वे क्या विशेषताएं हैं, जिनके कारण हजारों साल

बीत जाने पर भी वह अभी तक जीवित है। यवन, शक, युइशि, कुशाण, हूण, तुर्क, अफगान, मुगल और इंगलिश—इन सब विदेशियों के आक्रमण व शासन इस संस्कृति को नष्ट नहीं कर सके।

किसी देश की संस्कृति अपने को धर्म, दार्शनिक विचार, कविता, संगीत और कला आदि के रूप में अभिव्यक्त करती है। भारत की संस्कृति ने अपने को जिस रूप में अभिव्यक्त किया, उसकी मुख्य विशेषता अध्यात्म की भावना है। आँखों से दिखाई देने वाले इस स्थूल संसार से परे भी कोई सत्ता है, जिससे जीवन व शक्ति प्राप्त करके यह प्रकृति फल-फूल रही है, यह विचार इस देश में सदा से चला आया है। यह विश्वात्मा हम सबमें विद्यमान है, हम सब इसी के रूप हैं, यही मूलतत्त्व माया द्वारा अपने को प्रकृति के रूप में प्रकट करता है, और फिर उसे अपने में ही लीन कर लेता है—ये विचार भारत के न केवल तत्त्ववेत्ताओं में अपितु जनसाधारण में भी प्रचलित रहे। 'जो अपने को सबमें और सबको अपने में देखता है, वही असल में देखता है,' इस भावना का परिणाम यह हुआ कि इस देश में धार्मिक व साम्प्रदायिक विद्वेष बहुत नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक धर्म में सुधार करने के लिए जो धार्मिक सुधारणा भगवान् बुद्ध द्वारा प्रारम्भ की गई थी, वह यहाँ के पुराने धर्मों को नष्ट नहीं कर सकी। इसके विपरीत यहाँ के सनातन वैदिक धर्म ने ही उसे अपने में लीन कर लिया। बुद्ध को भी राम और कृष्ण की तरह भगवान् का अवतार मान लिया गया। बोधिवृक्ष हिन्दुओं का भी पवित्र वृक्ष बन गया और बौद्ध-चैत्य हिन्दू मन्दिरों में परिवर्तित हो गये, जहाँ भगवान् के अवतार 'बुद्ध' की पूजा होने लगी। 'सबमें अपने को देखने' की भावना का ही यह परिणाम था। यवन, शक, कुशाण आदि जातियों को भी इसी भावना द्वारा भारतीय समाज का अंग बनाया गया, और उनके अनेक धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों को सनातन वैदिक धर्म में सम्मिलित कर लिया गया। विविध धार्मिक आन्दोलनों और परम्पराओं में आर्य लोग सदा समन्वय स्थापित करते रहे। हिन्दू-धर्म में अनेक मत व सम्प्रदाय रहे हैं, उनमें विरोध और विद्वेष भी रहा है। पर साथ ही, सब सम्प्रदायों की मूल प्रेरक शक्ति वही अध्यात्म-भावना रही है, जो भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। इसीलिए उनमें विरोध के बावजूद भी समन्वय और ऐक्य स्थापित होता रहा। इस्लाम के सम्पर्क से मिस्र, ईरान आदि के प्राचीन धर्म नष्ट हो गये, पर भारत का धर्म कायम रहा। भारत के विचारकों ने तो इस्लाम के साथ भी अपने धर्म के समन्वय का प्रयत्न किया। इसीलिए अल्लोपनिषद् बनी। समन्वय की इसी प्रवृत्ति ने 'दीनेइलाही' के रूप में मूर्तरूप धारण किया, यद्यपि यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका। पर भारतीय मुसलमानों को भारतीय संस्कृति की मूल भावना देने में इस देश के विचारक सफल हुए। मुसलमानों का सूफी सम्प्रदाय भारत के अध्यात्मवाद, योग-साधन और रहस्यवाद का मुस्लिम संस्करण है। मुस्लिम पीरों के मकबरे बनाकर उनकी पूजा करना भारतीय संस्कृति की ही देन है। संगीत-विरोधी इस्लाम में भजन, नृत्य और संगीत द्वारा अपने पीर-पैगम्बरों की भक्ति भारतीय कीर्तन के रूपान्तर के सिवाय और क्या है? राम और रहीम, कृष्ण और करीम की एकता के प्रतिपादन द्वारा इस देश के अनेक सन्तों ने इस्लाम और हिन्दू-धर्म में समन्वय का प्रयत्न किया। समन्वय

की यह प्रक्रिया क्यों पूर्णरूप से सफल नहीं हुई, इस बात की विवेचना का यहाँ स्थान नहीं है। पर यही समन्वय की प्रवृत्ति थी, जिसने भारत की प्राचीन संस्कृति की परम्परा को अब तक अक्षुण्ण रखा है। वर्मा, लंका, तिव्वत आदि के प्राचीन धर्म लुप्त हो गये, उनका स्थान भारत से ही गये बौद्ध-धर्म ने ले लिया। पर भारत में बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म में विलीन हो गया। भारतीय संस्कृति की अध्यातम-प्रधान मूल भावना 'सबमें अपने को और अपने में सबको' देखने की प्रवृत्ति और समन्वय के विचार ही इसमें प्रधान कारण थे।

वर्णाश्रम-धर्म भारतीय संस्कृति का अन्य विशेषता है। इस देश के विचारकों ने मानव-समाज की कल्पना एक जीवित-जागृत शरीर के रूप में की; जिसमें सिर, बाहु, पैर आदि अंग एक-दूसरे पर आश्रित रहते हैं। समाज रूपी शरीर में ब्राह्मण सिर के समान, क्षत्रिय बाहुओं के समान, वैश्य उदर और जंघाओं के समान और शूद्र पैरों के समान हैं। समाज के ये सब अंग अपने सुख व समृद्धि के लिए एक-दूसरे पर आश्रित हैं। रुपया कमाना वैश्य का काम है, पर अपनी कमाई से सारे समाज का पालन करना उसका परम कर्त्तव्य है। वह सम्पत्ति का मालिक नहीं है, सम्पत्ति का स्वामित्व समाज में निहित है। वर्ण-व्यवस्था की यह कल्पना आर्यो के प्रारम्भिक राज्यों में क्रियात्मक रूप से विद्यमान थी। बाद में समाज का विभाग इन वर्णों के अनुसार नहीं रहा। पर यह भावना भारत में सदा विद्यमान रही, कि समाज में सबसे उच्च स्थान उन ब्राह्मणों का है, जो त्याग और अकिंचनता को ही अपनी सबसे बड़ी सम्पत्ति मानते हैं। ये ब्राह्मण राजा से भी ऊँचे हैं, 'प्रतिज्ञा-दुर्बल' और पथ-भ्रष्ट राजा को रास्ते पर लाना अथवा पदच्युत कर देना उनका परम कर्त्तव्य है। ये विचार भारतीय समाज को सदा मर्यादा में रखते रहे। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की व्यवस्था कर भारत के प्राचीन विचारकों ने अध्यात्म-भावना को सदा जीवित रखा। यद्यपि बाद में संन्यास व प्रव्रज्या ने भी विकृत रूप धारण कर लिया, पर इस आश्रम का आदर्श क्या है, यह बात इस देश के विचारकों की आँखों से कभी ओझल नहीं हुई। इसीलिए जब बौद्ध-संघ के भिक्षु संन्यास के आदर्श से गिर गये, तो वैष्णव और शैव साधुओं के मठ प्रबल हो गये। जब वैष्णव और शैव संन्यासी अपने आदर्श से विमुख होने लगे, तो मध्यकाल के सन्तों द्वारा प्रचारित उदासी, वैरागी आदि साधु-सम्प्रदायों की शक्ति बढ़ने लगी। पर ब्राह्मणों, साधुओं और तापसों की पूजा की भावना इस देश में सदा समान रूप से कायम रही।

विविध सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता और सम्मान का भाव भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग रहा है। अशोक ने इस भाव को कितने सुन्दर शब्दों में प्रकट किया था "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान व पूजा से गृहस्थ व संन्यासी, सब सम्प्रदायवालों का सत्कार करते हैं, किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की उतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है। पर उसकी जड़ वाणी का संयम है, अर्थात् लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। केवल विशेष-विशेष कारणों के होने पर ही निन्दा होनी

चाहिए, क्योंकि किसी-न-किसी कारण से सब सम्प्रदायों का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। उसके विपरीत जो करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है, और दूसरे सम्प्रदाय का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर, इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है, और दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी क्षति पहुंचाता है। समवाय (मेलजोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक-दूसरे के धर्म को ध्यानपूर्वक सुनें और उसकी सेवा करें, क्योंकि देवताओं के प्रिय की इच्छा है, कि सब सम्प्रदायवाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करने वाले हों। इसलिए जहाँ-जहाँ सम्प्रदायवाले हों, उनसे कहना चाहिए कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नहीं मानते, जितना कि इस बात को कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की उन्नति हो।" अशोक द्वारा प्रतिपादित समवाय (मेलजोल) की भावना भारत के सम्पूर्ण इतिहास में ओत-प्रोत रही है। इसीलिए यहाँ धार्मिक दृष्टि से राजाओं ने अत्याचार नहीं किये और न साम्प्रदायिक युद्ध ही हुए। जो दो-एक उदाहरण इस प्रकार के अत्याचारों व साम्प्रदायिक संघर्ष के यहाँ मिलते हैं, वे अपवाद-रूप हैं। वे भारतीय संस्कृति की मुख्य धारा को सूचित नहीं करते।

भारत के विचारक सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सम्पत्ति को जमा करने की प्रवृत्ति का न होना) पर बड़ा जोर देते रहे हैं। इन व्रतों व आदर्शों पर वैदिक, बौद्ध, जैन व पौराणिक विचारकों ने समान रूप से जोर दिया है। हमारे देश को वैयक्तिक व सामाजिक साधना के लिए ये मूल सूत्र रहे हैं। इन आदर्शों का पालन कर जहाँ हमारे प्राचीन गृहस्थों व परिव्राजकों ने जीवन के लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, वहाँ हमारे समाज व देश ने भी उन्हीं की साधना में अपनी शक्ति को लगाया। इसी साधना के परिणामस्वरूप अशोक ने धर्म-विजय की नीति का प्रारम्भ किया था, और इन्हीं को आदर्श बनाकर बौद्ध और पौराणिक नेताओं ने संसार में अपने धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया था।

पर यह नहीं समझना चाहिए कि अध्यात्म की भावना ने भारत की संस्कृति को निष्क्रिय और इहलोक की उन्नति से विमुख बना दिया था। इस देश के राजा दिग्विजय और चक्रवर्ती साम्राज्य को सदा अपना आदर्श समझते रहे। उन्होंने न केवल भारत में अपितु उसके बाहर भी अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने पंजाब और अफगानिस्तान की नदियों को पार कर सुदूर बाल्हीक (बल्ख) देश पर भी विजय कायम की। इस देश के व्यापारी धनोपार्जन के लिए मिस्र, रोम, जावा, सुमात्रा और चीन जैसे सुदूरवर्ती देशों में आते-जाते रहे। ऐहलौकिक उन्नति की भारतीयों ने कभी उपेक्षा नहीं की। वे 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' में सदा भेद करते रहे। संसार को मिथ्या प्रतिपादित करने वाले शंकराचार्य जैसे दार्शनिक ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा—"व्यावहारिक दृष्टि से तो सभी कुछ सत्य है।" पारमार्थिक सत्य के कारण व्यावहारिक सत्य को इस देश के विचारकों ने कभी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया। उनका यह विश्वास था कि सच्ची संस्कृति वह है, जो परलोक

और इहलोक, अध्यात्म और भौतिक जीवन, आत्मा और शरीर—इन सबका समान रूप से हित और कल्याण सम्पादित करती है। इसी कारण महर्षि वेदव्यास ने यह प्रतिपादित किया था कि लोक का जो प्रत्यक्ष जीवन है, उसको जाने बिना मनुष्य सर्वदर्शी नहीं हो सकता। सर्व या सम्पूर्ण के ज्ञान के लिए मनुष्य के लिए भौतिक जीवन का ज्ञान भी आवश्यक है, और इहलोक के जीवन की उपेक्षा करके काम नहीं चल सकता। इहलोक की उपेक्षा कर जो केवल परलोक की ही कामना करते हैं, उनका सांस्कृतिक दृष्टिकोण अधूरा रह जाता है। इस लोक में और प्रत्यक्ष जीवन में मनुष्य को जो सुख व कल्याण प्राप्त होता है, उसकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। इसीलिए महाभारत में कहा गया था:—

मनुष्यलोके यच्छ्रेयः परं मन्ये युधिष्ठिर !

'हे युधिष्ठिर, मनुष्य-लोक में या मानव-जीवन में जो श्रेय है, उसी को मैं महत्त्वपूर्ण मानता हूं।' अध्यात्म-भावना से अपनी संस्कृति को ओत-प्रोत करने पर भी भारत के विचारक इहलोक और जीवन-सुख को महत्त्व देते रहे।

पर अध्यात्म-भावना के कारण भारत की संस्कृति में एक ऐसा सौन्दर्य आ गया, जो इस देश की संस्कृति की अनुपम विशेषता है। इस देश की कला, कविता, संगीत, विज्ञान—सर्वत्र इस अध्यात्म-भावना की छाप दिखाई देती है। यही कारण है, कि भारत के अनेक प्राचीन कलाविद् संगीत और नृत्य तक को भी परमतत्त्व की प्राप्ति का साधन मानकर उनकी साधना में प्रयत्नशील हुए। चिकित्सा, ज्योतिष आदि ऐहलौकिक ज्ञान के अन्वेषक भी यह मानते रहे, कि उनके ज्ञान का चरम उद्देश्य परमार्थतत्त्व की प्राप्ति ही है। संसार के सुख और भोग हेय नही हैं, उनको प्राप्त करना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। पर साथ ही यह जान लेना और भी अधिक आवश्यक है, कि ऐहिलौकिक सुख ही मनुष्य का अन्तिम ध्येय नहीं है। इस विचार-सरणी ने भारत की संस्कृति में एक अनुपम सौन्दर्य ला दिया है। भारतीय संस्कृति की इन विशेषताओं का हम संक्षेप के साथ इस प्रकार परिगणन कर सकते हैं :—

(१) यह सांस्कृति अध्यात्म-भावना पर आश्रित है। इसके अनुयायी भौतिकवाद की अपेक्षा अध्यात्मवाद को अधिक महत्त्व देते हैं।

(२) पर इस संस्कृति में ऐहलौकिक सुख और समृद्धि की उपेक्षा नहीं की गई। इसके अनुसार मनुष्य का सर्वांगीण विकास वांछनीय है। शरीर, मन और आत्मा, इहलोक और परलोक, भौतिक सुख और आध्यात्मिक संतोष—सब क्षेत्रों में एक साथ उन्नति द्वारा ही मनुष्य अपनी वास्तविक उन्नति कर सकता है। मनुष्य जहाँ धर्म, अर्थ और काम को प्राप्त करता है, वहाँ साथ ही मोक्ष को अपना अन्तिम उद्देश्य मानता है। केवल अर्थ और काम को प्राप्त करके या केवल मोक्ष-साधन में तत्पर होकर मनुष्य अपनी उन्नति नहीं कर सकता। धर्म का अनुसरण कर अर्थ की उपलब्धि करने, धर्मानुसार 'काम' का सेवन करने और मोक्ष को अन्तिम लक्ष्य बनाकर ही मनुष्य अपनी सर्वांगीण उन्नति कर सकता है—यह भारतीय संस्कृति का आधारभूत विचार है।

(३) इस सर्वांगीण उन्नति के लिए वर्ण और आश्रम-धर्म का पालन करना

आवश्यक है। मनुष्य अपने वर्ण और आश्रम के 'स्वधर्म' का पालन करके ही अपनी व अपने समाज की उन्नति करने में समर्थ हो सकता है। इससे जहाँ मनुष्य को ऐहलौकिक सुख व समृद्धि का अवसर मिलता है, वहाँ मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य भी उसकी आँखों से ओझल नहीं होने पाता। प्राचीन भारतीयों ने अपने समाज की अनेक संस्थाओं व परम्पराओं का निर्माण इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के सिद्धान्त के अनुसार किया था।

(४) सहिष्णुता भारतीय संस्कृति की एक प्रमुख विशेषता रही है। धार्मिक विद्वेष का इस देश के इतिहास में प्रायः अभाव रहा है।

(५) भारतीय संस्कृति अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है। द्रविड़, आर्य, ग्रीक, शक, युइशि, कुशाण, हूण, अफगान, मुगल आदि कितनी ही विविध जातियों के विचारों, विश्वासों और परम्पराओं के सम्मिश्रण से इसका विकास हुआ है। इस देश के निवासी अन्य लोगों के विचारों व विश्वासों का सदा आदर करते रहे, और उन्हें अपने में मिलाने के लिए सदा तत्पर रहे। अध्यात्म-भावना के कारण जो सहिष्णुता यहाँ के लोगों में उत्पन्न हुई, उसी से यह बात सम्भव हो सकी।

(६) भारत ने अपनी जिस अनुपम संस्कृति को विकसित किया, उसे संसार में प्रचारित करने का भी इस देश के लोगों ने प्रयत्न किया। बौद्धों का 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इसी कारण 'उत्थान' और 'कृण्वन्तो विश्व-मार्यम्' को प्राचीन आर्यो ने अपना आदर्श बनाया था।

भारत के निवासियों ने अपने सुदीर्घकालीन इतिहास में अपने जीवन को जिस प्रकार विकसित किया; धर्म, दर्शन, राजनीति, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, संगीत, कला आदि के क्षेत्र में जिस प्रकार उन्नति की, उसका इतिहास ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है। इस ग्रन्थ में हम उसी को प्रतिपादित करने का प्रयत्न करेंगे।

दूसरा अध्याय

भारत और उसके निवासी

(१) भारत-भूमि

ब्रिटिश शासन से मुक्त होने पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के साथ भारत-भूमि दो भागों में विभक्त हो गई है। ये भाग हैं, भारत और पाकिस्तान। राजनीतिक दृष्टि से ये राज्य अब एक-दूसरे से पृथक् हैं, पर ऐतिहासिक और भौगोलिक दृष्टियों से इनकी एकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। इन दोनों राज्यों का अब तक का इतिहास एक रहा है, और इनके बीच की जो सीमा निश्चित की गई है, वह भूगोल की दृष्टि से सर्वथा अस्वाभाविक और अप्राकृतिक है। भविष्य में इन राज्यों का विकास चाहे पृथक् रूप से हो, पर विगत काल में इनका विकास एक देश के समान और एक ही ढंग से हुआ है। अतः इस इतिहास में हम भारत के वर्तमान राजनीतिक विभाग की उपेक्षा कर भारत की उन्हीं सीमाओं को अपनी दृष्टि में रखेंगे, जो कि पाकिस्तान के निर्माण से पूर्व इस देश की थीं। यही नहीं, ब्रिटिश युग के भारत के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे प्रदेश हैं, जिनका प्राचीन काल में भारत के साथ घनिष्ठ संबंध था। संभवतः, यह कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि प्राचीन काल में ये प्रदेश भारत-भूमि के ही अंग थे। उदाहरणार्थ, वर्तमान अफगानिस्तान के अनेक प्रदेश प्राचीन इतिहास में भारत के उसी प्रकार से अंग थे, जैसे कि काश्मीर और बलोचिस्तान। भारत के प्राचीन इतिहास का अध्ययन करते हुए हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये।

भारत का नाम—इस देश का नाम भारत किस कारण पड़ा, इस सम्बन्ध में अनेक मत हैं। जैन-अनुश्रुति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र का नाम भरत था, जो अत्यन्त प्रतापी और श्रेष्ठ राजा था। उसी के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार पौरव-वंश के प्रसिद्ध राजा दुष्यन्त का पुत्र भरत था, जो चक्रवर्ती राजा हुआ और जिसने अन्य विविध आर्य-राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। भरत के इस चक्रवर्ती साम्राज्य का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी मिलता है। भरत के कारण उसके वंशज 'भारत' कहाये, और उनके शासन में यह देश चिरकाल तक रहा। यही कारण है, कि इस देश का नाम भी भारत हो गया। पुराणों में ही इस सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण अनुश्रुति भी उपलब्ध होती है। विष्णु-पुराण में लिखा है, कि "समुद्र के उत्तर और हिमालय के दक्षिण में जो देश है, उसका नाम भारतवर्ष है, क्योंकि यहाँ भारती-संतति (प्रजा) निवास करती है।" इससे सूचित होता है, कि भारत के निवासियों की एक प्राचीन संज्ञा 'भारती' भी थी। कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है, कि यह भारती जनता (प्रजा) उन लोगों को सूचित

करती है, जो आर्यों के इस देश में आने से पूर्व यहाँ निवास करते थे, और जिनकी सभ्यता के अवशेष सिन्धु-घाटी में (मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में) उपलब्ध हुए हैं। पर अन्य विद्वान् इस मत को स्वीकार नहीं करते। उनका विचार है, कि भारती-संतति का अभिप्राय सम्राट् भरत की प्रजा से है, और इससे किसी आर्य-भिन्न जाति का ग्रहण न कर आर्यों की 'भारत' शाखा का ही ग्रहण करना चाहिये।

इस देश का एक अन्य नाम हिन्दुस्तान है। सिन्धु नदी का प्रदेश किसी समय में आर्य लोगों का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्राचीन ईरानी लोग 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, और वे सिन्धु नदी तथा उसके तटवर्ती प्रदेशों में निवास करनेवाले लोगों को 'हिन्दू' कहते थे। ईरान के सम्पर्क में जो लोग आये, वे भी इस प्रदेश के निवासियों को हिन्दू और इस प्रदेश को हिन्दुस्तान कहने लगे। प्राचीन ग्रीक लोग सिन्धु नदी को इण्डस कहते थे। इसीलिये वे इसके समीपवर्ती प्रदेशों को इंडिया कहने लगे। भारत के इंडिया नाम का यही उद्भव है।

भौगोलिक दशा का इतिहास पर प्रभाव—किसी देश की भौगोलिक दशा का उसके इतिहास पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। प्राचीन ग्रीस में जो बहुत-से नगर-राज्यों का विकास हुआ, उसका एक कारण यह था कि पर्वत की शृंखलाओं द्वारा ग्रीस अनेक छोटी-छोटी घाटियों में विभक्त था। प्राचीन समय में क्रीट और फिनीशिया जो सामुद्रिक व्यापार व सामुद्रिक साम्राज्यों की स्थापना में समर्थ हुए, उसका कारण उनकी भौगोलिक स्थिति ही थी। वर्तमान समय में ग्रेट ब्रिटेन और जापान ने नाविक क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की, उसका श्रेय भी उनकी भौगोलिक स्थिति को ही दिया जाता है। अनेक विद्वानों का मत है, कि किसी देश की जलवायु और उपज-शक्ति आदि का भी उसके इतिहास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। फ्रेंच विद्वान् रूसो के अनुसार ग्रीष्म जलवायु-वाले देशों में एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी शासन का विकास होता है। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् बकले ने यह प्रतिपादित किया था, कि किसी देश के मनुष्यों की क्रियाएँ उनके अपने विचार व चिन्तन पर उतना निर्भर नहीं करतीं, जितना कि प्राकृतिक परिस्थितियों पर। बकले के अनुसार नार्वे और स्वीडन के लोगों में और स्पेन तथा पोर्तुगाल के लोगों में जो भारी अन्तर हैं, उसका कारण इन देशों की भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियाँ ही हैं। मनुष्य जो भोजन करता है, जिस जलवायु में निवास करता है, और जिन परिस्थितियों में रहता है, उनका उसके शरीर, मन और विचारों पर बहुत असर पड़ता है। इन बाह्य प्रभावों द्वारा न केवल मनुष्यों के वैयक्तिक चरित्र का निर्माण होता है, अपितु साथ ही उनके सामूहिक व राष्ट्रीय चरित्र का भी विकास होता है।

मनुष्यों के विचार, राष्ट्रीय चरित्र व संस्थाओं पर भौगोलिक दशाओं के प्रभाव को किस अंश तक स्वीकार किया जाय, इस विषय में मतभेद की गुञ्जाइश है। शासन-व्यवस्था जलवायु और भौगोलिक दशा पर ही निर्भर नहीं होती। जिस समय रूसो यह प्रतिपादित कर रहा था, कि ग्रीष्म जलवायु वाले प्रदेशों में एकतन्त्र स्वच्छाचारी शासन होते हैं, तभी फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि यूरोपियन राज्यों में भी ऐसे निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून समझते थे। फ्रांस के लुई चौदहवें व स्पेन के फिलिप द्वितीय का शासन जहाँगीर व औरंगजेब के शासन से स्वेच्छाचारिता

में किसी भी प्रकार कम नहीं था। पर यह सत्य है, कि भौगोलिक व प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव देश के इतिहास पर पड़ता है। जर्मनी और ग्रेट ब्रिटेन जो व्यावसायिक क्षेत्र में इतना अधिक आगे बढ़ गये, उसका एक प्रधान कारण वे खनिज पदार्थ हैं, जो वहाँ बहुतायत से उपलब्ध होते हैं। जिन देशों में अब परमाणुशक्ति को उत्पन्न करने में सहायक यूरेनियम आदि पदार्थ उपलब्ध हो रहे हैं, उनकी भविष्य में बहुत उन्नति होगी, यह बात पूर्ण भरोसे के साथ कही जा सकती है। भारत के इतिहास पर भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत असर हुआ। अतः यह आवश्यक है, कि हम इस देश की भूमि और अन्य प्राकृतिक दशाओं का संक्षेप के साथ प्रदर्शन करें।

भारत की सीमा—प्राकृतिक दृष्टि से भारत की सीमाएँ अत्यन्त सुन्दर व निर्दोष हैं। इसके उत्तर में हिमालय की ऊँची और दुर्गम पर्वत-शृंखलाएँ हैं। पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम में यह महासमुद्र द्वारा घिरा हुआ है। इसके उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी कोनों पर समुद्र नहीं हैं, पर उनकी सीमा निर्धारित करने के लिये हिमालय की पश्चिमी और पूर्वी पर्वत-शृंखलाएँ दक्षिण की ओर मुड़ गई हैं, और समुद्रतट तक चली गई हैं। हिमालय की पश्चिमी पर्वतमाला दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़कर सफेदकोह, सुलेमान और किरथर की पहाड़ियों के रूप में अरब-सागर तक चली गई हैं, और भारत की सिन्धु-घाटी को अफगानिस्तान और बलोचिस्तान से पृथक् करती हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर भारत की असली वैज्ञानिक सीमा हिन्दूकुश पर्वत है, जो हिमालय की पर्वत-शृंखला का ही एक अंग है। हिन्दूकुश पर्वत के दोनों ओर का प्रदेश जो अब अफगानिस्तान के अन्तर्गत है, प्राचीन काल में भारत का ही अंग था। उत्तर-पूर्व में हिमालय की एक शृंखला दक्षिण की ओर झुकती है, और लुशेई, नागा और पतकोई पहाड़ियों के रूप में बंगाल की खाड़ी तक चली जाती है। प्रकृति ने भारत को एक विशाल दुर्ग के समान बनाया है, जो पर्वत-शृंखलाओं और समुद्र से घिरा हुआ है। जैसी सुन्दर और स्वाभाविक सीमा भारत की है, वैसी शायद ही किसी अन्य देश की हो।

भौगोलिक विभाग—भारत की इस स्वाभाविक सीमा के बीच में इस विशाल देश के चार बड़े प्राकृतिक विभाग स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। ये विभाग निम्नलिखित हैं—(१) सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेश, (२) उत्तर-भारत का मैदान, (३) विन्ध्य-मेखला और मध्य-भारत का पठार, और (४) दक्षिण भारत। इनमें से प्रत्येक पर संक्षिप्त रूप से विचार करना उपयोगी है।

सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेश—पश्चिम से पूर्व तक भारत के उत्तरी सीमान्त पर विद्यमान हिमालय की पर्वत-शृंखला लम्बाई में १६०० मील के लगभग और चौड़ाई में १५० मील से २०० मील तक है। हिमालय का यह विस्तृत पार्वत्य-प्रदेश अनेक स्थानों पर आबाद है। इसकी मनोहर घाटियों में अनेक जातियाँ प्राचीन काल से बसती आयी हैं, और इनके अनेक छोटे-बड़े राज्य भी प्राचीन समय में स्वतंत्र रूप से विद्यमान रहे थे। हिमालय के सबसे अधिक पश्चिमी प्रदेश में प्राचीन काल में उरशा का राज्य था, जो आजकल के हजारा जिले में विद्यमान था। उससे पूर्व में जेहलम (वितस्ता) नदी की घाटी में काश्मीर है, जो प्राचीन समय में भारतीय सभ्यता और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। काश्मीर में विद्यमान मार्तण्ड-मंदिर के भग्नावशेष और अमरनाथ का मंदिर

इस संस्कृति के परिचायक हैं। काश्मीर के उत्तर में सिन्धु नदी की घाटी में दरद देश था, जो अब तक दरदिस्तान कहाता है। काश्मीर-घाटी के दक्षिण में जेहलम और चनाव नदियों के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय में अभिसार देश कहाता था। इस प्रदेश में आजकल पुंच्छ, राजौरी और बिम्भर के प्रदेश हैं। काश्मीर के दक्षिण में ही रावी और चनाव के बीच का पार्वत्य-प्रदेश प्राचीन समय में दार्व देश कहा जाता था। इसी में आजकल जम्मू का प्रान्त विद्यमान है।

रावी और व्यास नदियों के बीच का पार्वत्य-प्रदेश अब काँगड़ा कहाता है। प्राचीन समय में यह त्रिगर्त देश के अन्तर्गत था। काँगड़ा के साथ का जो प्रदेश अब कुल्लू कहाता है, उसका प्राचीन नाम कुलूत था। सतलज नदी की घाटी के जिन पार्वत्य प्रदेशों में आजकल बशहर आदि रियासतें (शिमला के समीपवर्ती) हैं, उसको प्राचीन समय में किन्नर देश कहते थे। यह किन्नर देश सतलज और यमुना के बीच की पार्वत्य-घाटी तक चला गया है। यमुना के पूर्व का पार्वत्य-प्रदेश गढ़देश (गढ़वाल) है, जिसके और अधिक पूर्व में कूर्माञ्चल (कुमायूँ) का क्षेत्र है। कूर्माञ्चल के पूर्व में क्रमशः नेपाल सिक्किम और भूटान स्थित हैं। भूटान के पूर्व में आसाम का उत्तरी प्रदेश आ जाता है, जिसमें आजकल अका, दफला, मीरी, अबोर और मिश्मी जातियों का निवास है। ये विविध जातियाँ हिमालय के सबसे अधिक पूर्वी प्रदेश में निवास करती हैं। प्राचीन समय में इस क्षेत्र में किसी उन्नत आर्य-राज्य की सत्ता सूचित नहीं होती।

हिमालय के पश्चिमी सीमान्त पर विद्यमान उरशा (हजारा) देश का उल्लेख हमने ऊपर किया है। सिन्धु नदी के पश्चिम में स्वात (सुवास्तु), पंजकोरा (गौरी) और कुनार नदियाँ काबुल (कुभा) नदी में मिलती हैं, और फिर यह कुभा नदी सिन्ध में आ मिलती है। स्वात, पंजकोरा और कुभा नदियों से सिंचित यह प्रदेश प्राचीन समय का पश्चिमी गान्धार देश है, जिसकी राजधानी पुष्करावती थी। इस पुष्करावती के खंडहर स्वात और काबुल (कुभा) नदियों के संगम पर उपलब्ध हुए हैं। पश्चिमी गान्धार से और आगे पश्चिम की ओर चलने पर हिन्दूकुश पर्वत के साथ का प्रदेश प्राचीन समय में कपिश देश कहाता था। कपिश के पश्चिम-उत्तर में आजकल जो बदख्शाँ और बलख प्रदेश हैं, उन्हीं को प्राचीन समय में कम्बोज और बाल्हीक देश कहते थे। ये विविध प्रदेश अब भारत के अन्तर्गत नहीं हैं। पर प्राचीन समय में ये भारत के ही अंग थे, और इनमें भी भारतीय आर्यों के विविध राज्य विकसित हुए थे। भारत के चक्रवर्ती सम्राटों का यह प्रयत्न रहता था, कि इन सबको जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित करें। चन्द्रगुप्त मौर्य और गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए थे।

हिमालय की सुविस्तीर्ण पर्वत-शृंखलाएँ भारत के लिये सन्तरी का काम करती रही हैं। विदेशियों के लिये यह सुगम नहीं है, कि वे इन्हें पार कर भारत पर आक्रमण करें। पर इस दुर्गम पर्वतमाला के होते हुए भी भारत का बाहरी दुनिया से सम्बन्ध टूटा नहीं। कारण यह कि इसमें अनेक ऐसे दर्रे हैं, जिनसे जहाँ अनेक विदेशी जातियाँ समय-समय पर भारत में प्रवेश करती रहीं, वहाँ साथ ही भारत के लोग भी अपनी सभ्यता और धर्म का प्रचार करने या उपनिवेश बसाने के लिये बाहर जाते रहे।

उत्तर-भारत का मैदान—हिमालय के पर्वतप्रधान प्रदेशों के नीचे और विन्ध्य-मेखला के उत्तर में जो विस्तृत मैदान है, वह लम्बाई में १६०० मील के लगभग है। इस विशाल मैदान को नदियों के दो जाल सींचते हैं, जिनका उद्गम लगभग एक ही जगह से है। नदियों का एक जाल पंजाब में सिन्धु व उसकी सहायक नदियों का है, और दूसरा गंगा-यमुना व उनकी सहायक नदियों का। पंजाब की नदियाँ दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हैं, और गंगा-यमुना का प्रवाह दक्षिण-पूर्व की तरफ है। इससे स्पष्ट है, कि यमुना और सतलज के बीच का प्रदेश ऊँचा व जल का विभाजक है। इसी प्रदेश में राजपूताना का रेगिस्तान और अरावली (आड़ावला) की पर्वतमाला फैली हुई है। सतलज और यमुना के बीच का जलविभाजक ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत के उत्तरी मैदान में यही एक ऐसा प्रदेश है, जो शश्य-श्यामल व उपजाऊ नहीं है। इस प्रदेश के उत्तरी भाग में कुरुक्षेत्र का बांगर है, और दक्षिणी भाग में अरावली-पर्वतमाला और राजपूताना का मरुस्थल। सिन्ध और गंगा के क्षेत्रों के बीच में कुरुक्षेत्र का बांगर ही एक ऐसा तंग रास्ता है जिससे होकर पूर्व से पश्चिम की ओर जानेवाली या पश्चिम से पूर्व की ओर आनेवाली सेनाएँ गुजर सकती हैं। यही कारण है, कि कुरुक्षेत्र के बांगर-प्रदेश में भारतीय इतिहास की अनेक महत्त्वपूर्ण व भाग्य-निर्णायक लड़ाइयाँ लड़ी गई थीं।

मानव-सभ्यता का विकास शुरू में नदियों की उपजाऊ घाटियों में ही हुआ था। वहाँ न केवल जल की सुविधा थी, अपितु उनमें कृषि के लिये उपयुक्त जमीन व पशुपालन के लिये उपयुक्त चरागाह भी सुगमता से प्राप्त हो सकते थे। जिस प्रकार पश्चिमी संसार में दजला और फरात नदियों की घाटी (ईराक) में और नील नदी की घाटी (मिस्र) में मानव-सभ्यता का विकास अति प्राचीन काल में हुआ, वैसे ही भारत में सिन्ध नदी और गंगा की घाटियों में अत्यन्त प्राचीन समय में सभ्यता का विकास हुआ। आर्य-जाति के प्रवेश से पूर्व भी अनेक आर्य-भिन्न जातियों ने इन क्षेत्रों में अपनी विविध वस्तियाँ बसायी थीं। जब आर्य लोग यहाँ आकर बसे, तब उन्होंने तो इन प्रदेशों में अपनी सभ्यता का बहुत उन्नत रूप से विकास किया।

भौगोलिक दृष्टि से उत्तर भारत के इस मैदान को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है, पंजाब, सिन्ध, राजपूताना, गंगा व उसकी सहायक नदियों से सिंचित प्रदेश, गंगा का मुहाना और ब्रह्मपुत्र नदी की घाटी। सिन्ध नदी की घाटी और गंगा की घाटी के बीच के प्रदेश (राजपूताना का मरुस्थल) का इतिहास में बहुत महत्त्व है। प्राचीन समय में इसको पार कर सकना किसी भी सेना के लिये सुगम नहीं था। आठवीं सदी के अरब आक्रान्ता दक्षिणी बलोचिस्तान के मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए थे। सिन्ध को उन्होंने विजय भी कर लिया था, पर राजपूताना की मरुभूमि के कारण उनके लिये यह संभव नहीं हुआ, कि वे सिन्ध से आगे बढ़कर उत्तर-भारत के मैदान को अपने अधीन कर सकें। आगे चलकर जब तुर्क आक्रान्ताओं ने भारत पर आक्रमण किया, तो वे उत्तरी मार्ग से भारत में प्रविष्ट हुए। विदेशी आक्रमणों से परेशान होकर पंजाब और गंगाघाटी की अनेक जातियों ने राजपूताना के मरुस्थल में जाकर ही अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की थी।

उत्तर भारत के इस सुविस्तृत मैदान में प्राचीन समय में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे। आर्य जाति ने भारत में प्रविष्ट होने के बाद इसमें अनेक राज्य कायम किये। आर्यों के मानव (ऐक्ष्वाकव) और ऐल (चन्द्र) वंशों ने बहुत-सी शाखाओं और प्रशाखाओं में विभक्त होकर इस मैदान में अपने बहुत-से राज्य स्थापित किये थे। भारत का प्राचीन इतिहास प्रधानतया इसी मैदान का इतिहास है, क्योंकि इसी में वे चक्रवर्ती सम्राट् हुए, जिन्होंने सारे भारत को अपने शासन में लाने के अनेक सफल प्रयत्न किये।

विन्ध्यमेखला—भारत के ठीक बीच में विंध्याचल की पर्वतमाला है, जो पश्चिम में अरावली की पर्वत-शृंखला से शुरू होकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी के समीप तक चली गई है। विन्ध्याचल से अनेक नदियाँ निकलकर उत्तर की ओर चली गई हैं, और आगे चलकर गंगा नदी में मिल गई हैं। चम्बल, सिन्ध (पंजाब की सिन्ध नदी नहीं), बेतवा, केन और सोन नदियाँ इनमें मुख्य हैं। दुर्गम पर्वतों से युक्त विन्ध्याचल का यह प्रदेश उत्तर भारत को दक्षिण भारत से पृथक् करता है। आर्यों के लिये यह तो सुगम था, कि वे उत्तर भारत के मैदान में शीघ्रता से अपना प्रसार कर सकें। पर विन्ध्यमेखला को पार कर दक्षिण भारत में प्रवेश कर सकना बहुत अधिक सुगम नहीं था। यही कारण है, कि दक्षिण में आर्य-भिन्न जातियाँ बड़ी संख्या में निवास करती हैं, और नस्ल, भाषा आदि की दृष्टि से दक्षिण भारत और उत्तर भारत में बहुत भेद है। विन्ध्याचल का क्षेत्र पर्वतप्रधान होने के कारण उतना अधिक आबाद व समृद्ध नहीं है, जितना कि उत्तर भारत का मैदान है।

भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्यमेखला के इस क्षेत्र को अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। ये विभाग निम्नलिखित हैं—(१) दक्षिण राजपूताना, जो चम्बल नदी के पश्चिम में और अरावली पर्वतमाला के समीप का प्रदेश है। (२) मालवा, जिसमें चम्बल और सिन्ध नदियों की घाटी का प्रदेश, नर्मदा नदी की घाटी का मध्यवर्ती प्रदेश और सातपुड़ा पर्वतमाला का पूर्वी भाग सम्मिलित है। (३) बुन्देलखंड। (४) बघेलखंड। (५) झाड़खंड या छोटा नागपुर। गुजरात के शश्य-श्यामल व उपजाऊ प्रदेश को भी विन्ध्यमेखला के ही अन्तर्गत किया जा सकता है, यद्यपि वह इस पर्वतमाला के एक तरफ बगल में रह जाता है। गुजरात न दक्षिण भारत में है, और न उत्तर भारत के मैदान में। पर विंध्यमेखला के साथ लगा होने के कारण उसका उल्लेख भी इसी क्षेत्र में किया जाना उचित है।

कृषि की दृष्टि से विन्ध्यमेखला का क्षेत्र उत्तर भारत के मैदान का मुकाबला नहीं कर सकता, पर जंगलों और खानों की दृष्टि से वह बहुत समृद्ध है। प्राचीन काल में यह प्रदेश बड़े-बड़े जंगलों से परिपूर्ण था, और इसमें कृषि की विशेष सुविधा नहीं थी। यही कारण है, कि इस क्षेत्र में उत्तर भारत के समान समृद्ध राज्यों व नगरों का विकास नहीं हो सका। उत्तर और दक्षिण-भारत में सम्बन्ध जोड़ने वाले विविध मार्ग विन्ध्याचल के प्रदेशों में से होकर ही गये हैं, इससे प्राचीन काल में इस क्षेत्र का सामरिक महत्त्व बहुत अधिक था।

दक्षिण भारत—भारत का दक्षिण भाग आकार में एक त्रिभुज के समान

है, जिसके दो ओर समुद्र और एक ओर विंध्याचल की पर्वतमाला है। विन्ध्याचल की दो भुजाएँ दक्षिण भारत के समुद्रतट के साथ-साथ कुछ अन्तर छोड़कर दक्षिण की ओर चली गई हैं, जो क्रमशः पूर्वी घाट या पश्चिमी घाट कहाती हैं। पश्चिमी घाट को सह्याद्रि पर्वत भी कहते हैं। सह्याद्रि पर्वतमाला और समुद्र के बीच में जो समतल मैदान है वह चौड़ाई में बहुत कम है। इसके उत्तरी भाग को कोंकण और दक्षिणी भाग को केरल व मलाबार कहते हैं। ये दोनों प्रदेश उपज की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन काल से अब तक कोंकण और केरल अपनी उपज-शक्ति और समृद्धि के लिये प्रसिद्ध रहे हैं। दक्षिण भारत की सब प्रमुख नदियाँ पश्चिम से पूर्व की ओर बहती हैं। इसका अभिप्राय यह है, कि उसकी जमीन का ढाल पूर्व की ओर है। पश्चिमी घाट की ऊँची पर्वतमालाएँ पूर्व की ओर ऊँचाई में कम होती जाती हैं, और इनके कारण कोंकण और केरल से पूर्व की तरफ का दक्षिणी भारत एक पठार के समान है, जिसके उत्तरी भाग को महाराष्ट्र और दक्षिणी भाग को कर्णाटक कहते हैं। महाराष्ट्र का प्रदेश पर्वतप्रधान है, और उसमें खेती की विशेष सुविधा नहीं है। इसीलिये वहाँ के निवासियों को अपनी आजीविका के लिये विशेष परिश्रम करने की आवश्यकता रही है, और वे स्वभाव से ही परिश्रमी व कष्टसहन की प्रवृत्ति रखने वाले रहे हैं। कर्णाटक का पठार ऊँचाई में महाराष्ट्र से अधिक है, परन्तु उसके दक्षिणी सिरे पर पहाड़ों का सिलसिला समाप्त होकर मैदान आ जाता है। इस कारण यह प्रदेश बहुत उपजाऊ व समृद्ध है, और प्राचीन समय में यहाँ भी अनेक उन्नत राज्यों का विकास हुआ था।

पश्चिमी घाट के समान पूर्वी घाट की पर्वतमाला भी समुद्रतट से कुछ हटकर उत्तर से दक्षिण की ओर चली गई है। नदियों के कारण पूर्वी घाट की यह पर्वतशृंखला बीच-बीच में टूट जाती है, और पूर्वी समुद्र में गिरने वाली इन नदियों के मुहानों द्वारा पूर्वी समुद्र के साथ-साथ समतल मैदान का एक अच्छा चौड़ा क्षेत्र बन गया है। इस क्षेत्र का सबसे उपरला भाग कलिंग (उड़ीसा), बीच का भाग आन्ध्र देश, और निचला भाग चोलमंडल (कोरोमंडल) कहाता है। ये तीनों प्रदेश बहुत उपजाऊ हैं, और इनमें वर्षा भी प्रचुर मात्रा में होती है। ये प्रदेश न केवल वर्तमान समय में समृद्ध हैं, अपितु प्राचीन काल में भी इनमें अनेक शक्तिशाली और उन्नत राज्यों का विकास हुआ था। कलिंग के राजा मौर्ययुग में अत्यन्त शक्तिशाली माने जाते थे, और एक बार तो कलिंग-राज ने पाटलिपुत्र तक को विजय कर लिया था। आन्ध्र और चोल-राज्यों ने भी एक से अधिक बार उत्तर भारत पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया था।

दक्षिण भारत को जाने वाला एक प्रधान मार्ग बंगाल से कन्याकुमारी तक समुद्रतट के साथ-साथ जाता है। प्राचीन समय में यह मार्ग बहुत अधिक प्रयुक्त होता था, और उत्तर भारत के अनेक सम्राटों ने इसी का अनुसरण कर दक्षिण भारत में दिग्विजय की थी।

लंका या सिंहलद्वीप भी दक्षिण भारत का ही एक अंग है, जो रामेश्वरम् के आगे सेतुबन्ध की चट्टान-शृंखला द्वारा दक्षिण भारत से प्रायः जुड़ा हुआ-सा है। प्राचीन भारतीय इतिहास की दृष्टि से सिंहलद्वीप को भी भारत के ही अन्तर्गत रखना उचित होगा।

समुद्र—ऐतिहासिक दृष्टि से भारत के समुद्र का भी बहुत महत्त्व है। प्राचीन

भारतीय लोग समुद्र का जहाँ व्यापार के लिये उपयोग करते थे, वहाँ अपनी सभ्यता का विस्तार करने के लिये भी वे समुद्रमार्ग से दूर-दूर तक जाते थे। पूर्वी एशिया में वृहत्तर भारत का जो विकास हुआ, उसका कारण यह समुद्र ही था, जिसे पार करने के लिये भारतीय लोग अनेक प्रकार की नौकाओं और जहाजों का उपयोग करते थे।

(२) भारत के निवासी

भारत एक अत्यन्त विशाल देश है। इसमें सब प्रकार की जलवायु विद्यमान है। इसमें जहाँ एक ओर हिमालय की ऊँची-ऊंची पर्वत-शृंखलाएँ व घाटियाँ हैं, जिन पर सदा वरफ जमी रहती है, वहाँ दूसरी ओर ऐसे प्रदेश भी हैं, जो उष्ण कटिबन्ध के अन्तर्गत होने के कारण सदा गरम रहते हैं। जलवायु और प्राकृतिक दशा की भिन्नता के समान इस देश के निवासियों में भी अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। इस विभिन्नता के आधार नस्ल और भाषा के भेद हैं। मनुष्य के शरीर की आकृति, रचना और रंग के आधार पर नृतत्त्व-शास्त्र के विद्वानों ने मनुष्यों को अनेक नस्लों में विभक्त करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, भाषा की भिन्नता के आधार पर भी मनुष्यों में अनेक जातियों की भिन्नता प्रदर्शित की गई है। शरीर की रचना या भाषा के भेद के आधार पर इस प्रकार से मनुष्यों की विभिन्न जातियों की कल्पना करना कहाँ तक उचित व युक्तिसंगत है, इस विषय पर विचार करने की यहाँ हमें आवश्यकता नहीं। पर यह स्पष्ट है, कि भारत के वर्तमान निवासियों को दृष्टि में रखकर उन्हें अनेक विभागों या जातियों में वाँटा जा सकता है। भाषा के भेद को सम्मुख रखकर भारत-भूमि के निवासियों को जिन मुख्य विभागों में वाँटा जाता है, वे निम्नलिखित हैं:—

(१) आर्य—भारत के निवासियों की वहुसंख्या आर्य जाति की है। भाषा की दृष्टि से भारत में आर्य-भाषाओं को बोलने वालों की संख्या १०० में ७६·४ है। उत्तर भारत की प्राय: सभी भाषाएँ आर्य-परिवार की हैं। उड़िया, हिन्दी, पंजाबी, पश्तो, काश्मीरी, गुजराती, असमी, वंगला, मराठी, सिन्धी और लहंदा ये सब आर्य-भाषाएँ ही हैं। भारत की आर्य-परिवार की भाषाओं में हिन्दी सबसे मुख्य है। इसे वोलने वालों की संख्या वाईस करोड़ के लगभग है। साहित्यिक उपयोग के लिये हिन्दी का जो रूप प्रयुक्त होता है, वह कुरु देश (गंगा-यमुना के दोआव का उत्तरी भाग) में बोली जाने वाली खड़ी वोली का परिष्कृत रूप है। सर्वसाधारण जनता की वोलचाल में हिन्दी-भाषा के जो विविध रूप प्रयुक्त होते हैं, उनमें प्रमुख ये हैं—खड़ी वोली, व्रजभाषा, वांगरू, राजस्थानी, पंजावी, बुन्देली, अवधी, छत्तीसगढ़ी, वघेली, भोजपुरी, मैथिली, मगही, गोरखाली, कुमाउँनी, गढ़वाली और कन्नौजी। पश्चिम में पंजाव (पूर्वी) से शुरू कर पूर्व में विहार तक और उत्तर में हिमालय से लगाकर दक्षिण में विन्ध्याचल तक हिन्दी-भाषा का क्षेत्र है। असम, वंगाल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, सिन्ध, पश्चिमी पंजाव, सीमा-प्रान्त और काश्मीर की विविध भाषाएँ भी आर्य-परिवार की हैं, और इनको वोलने वाले लोग भी आर्य-जाति के माने जाते हैं। हिन्दी, मराठी और विविध पहाड़ी वोलियाँ (जिन्हें हिन्दी के ही अन्तर्गत समझना चाहिये) देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं। आर्य-परिवार की अन्य भाषाओं की लिपियां देवनागरी से कुछ भिन्न हैं, पर उनकी वर्णमाला

देवनागरी के समान ही है। केवल पश्तो और सिन्धी ने मुसलिम प्रभाव के कारण अरबी वर्णमाला और लिपि को अपनाया है।

यह कह सकना कठिन है, कि आर्य-भाषाओं को बोलने वाले सब लोग जातीय दृष्टि से भी आर्य हैं। बंगाल, असम आदि पूर्वी भारत के प्रदेशों में जो लोग बसते हैं, उनमें आर्य-भिन्न रक्त भी प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। इस प्रकार विन्ध्यमेखला के निवासी आर्य-भाषा-भाषी होते हुए भी नस्ल की दृष्टि से सर्वांश में आर्य नहीं माने जाते। वस्तुतः, भारत में रक्त का सम्मिश्रण बहुत हुआ है, और यहाँ के बहुसंख्यक निवासी नस्ल की दृष्टि से विशुद्ध आर्य जाति के नहीं समझे जाते।

भारत के जिन प्रदेशों में आजकल आर्य-परिवार की विविध भाषाएँ बोली जाती हैं, उनमें प्राचीन काल में भी आर्य भाषाएँ ही प्रचलित थीं। संस्कृत, पाली, प्राकृत व उनके अपभ्रंश विविध समयों में इन प्रदेशों में बोले जाते थे। वस्तुतः, भारत की आधुनिक आर्य-भाषाएँ इन प्राचीन आर्य-भाषाओं से ही विकसित हुई हैं। जिन प्रदेशों में आजकल आर्य-भाषाओं का चलन नहीं है, उनकी भाषाओं पर भी प्राचीन आर्य भाषा संस्कृत का गहरा प्रभाव है। उनमें संस्कृत के शब्द बहुत बड़ी संख्या में विद्यमान हैं, और उन प्रदेशों के विद्वान् संस्कृत का अध्ययन करना अत्यन्त गौरव की बात समझते हैं।

(२) द्राविड़—भारत के निवासियों में द्राविड़ लोगों की संख्या १०० में २१.६ है। ये प्रधानतया दक्षिण भारत में निवास करते हैं। वर्तमान समय की द्राविड़ भाषाओं में मुख्य निम्नलिखित हैं—तेलगू, तमिल, मलयालम और कन्नड। ये क्रमशः आन्ध्र देश, तमिलनाड, केरल और कर्णाटक में बोली जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाएँ भी हैं, जिन्हें द्राविड़वर्ग के अन्तर्गत रखा जाता है। इनमें से अन्यतम ब्राहुई उत्तर भारत के पश्चिमी कोने में सुदूरवर्ती कलात में बोली जाती है। ब्राहुई भाषा को बोलने वालों की संख्या दो लाख के लगभग है। उत्तर भारत में बलोचिस्तान में एक द्राविड़ भाषा की सत्ता से यह अनुमान किया जाता है, कि आर्यों के समान द्राविड़ लोग भी पश्चिम की ओर से भारत में प्रविष्ट हुए थे, और वे भारत के मूल निवासी नहीं हैं। अन्य द्राविड़ भाषाओं में गोंडी, कुई, कुरूखी और मल्तो बोलियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये बोलियाँ मध्य भारत के विविध क्षेत्रों में बोली जाती हैं, और भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इन्हें द्राविड़-परिवार की भाषाएँ माना जाता है।

(३) मुंड या शाबर—इस शाखा की बोलियाँ विन्ध्यमेखला व उसके पड़ोस के प्रदेशों में बोली जाती हैं। इनके बोलनेवालों की कुल संख्या चालीस लाख के लगभग है। मुंड-भाषाभाषी लोग प्रधानतया छोटा नागपुर और संथाल परगनों के जंगलप्रधान प्रदेशों में निवास करते हैं। इनकी भाषा की न कोई लिपि है और न वर्णमाला। इस दशा में इस भाषा का कोई साहित्य तो हो ही नहीं सकता। पड़ोस की अधिक विकसित व सम्पन्न भाषाएँ धीरे-धीरे इन बोलियों को आत्मसात् करती जाती हैं।

(४) किरात—इस शाखा का वास्तविक अभिजन तिब्बत और बरमा है। इस जाति के लोग न केवल तिब्बत और बरमा में अपितु चीन और हिन्दचीन में भी छाये हुए हैं। जहाँ तक भारत का सम्बन्ध है, इस देश में किरात-जाति की तीन शाखाएं विद्यमान हैं—(१) तिब्बत-हिमालयी, (२) असमोत्तरक और (३) असम-बर्मी

या लौहित्य। तिब्बत की सीमा के समीप स्थित भारतीय प्रदेशों में अनेक बोलियाँ बोली जाती हैं, जो किरातवर्ग की हैं। इनमें बाल्ती (बाल्तिस्तान की) और लद्दाखी (लद्दाख की) बोलियाँ मुख्य हैं। असम के उत्तरी प्रदेशों में निवास करने वाली अनेक जातियाँ भी किरात-भाषाएँ बोलती हैं। इसी प्रकार लौहित्य घाटी में (आसाम में) अनेक ऐसी जातियों का निवास है, जिनकी बोलियों को किरातवर्ग के अन्तर्गत किया जाता है।

मुंड और किरात-परिवार की जिन भाषाओं का उल्लेख हमने इस प्रकरण में किया है, उन्हें बोलनेवालों की कुल संख्या १०० में ३ के लगभग है। भारत की कुल जनसंख्या को दृष्टि में रखते हुए इनकी सत्ता नगण्य ही समझी जा सकती है। ये भाषाएँ प्रायः अविकसित दशा में हैं, और इनमें साहित्य का सर्वथा अभाव है। वह समय दूर नहीं है, जबकि इन भाषाओं को बोलनेवाले लोग अपने पड़ोस में रहनेवाले आर्यों के सांस्कृतिक प्रभाव में आ जाएँगे।

(२) भारत की आधारभूत एकता

इसमें सन्देह नहीं, कि भारत में ऐसे अनेक तत्त्व विद्यमान हैं, जो इस विशाल देश में अनेक प्रकार की विभिन्नताओं को उत्पन्न करते हैं। इस देश की भौगोलिक दशा सर्वत्र एकसदृश नहीं है। इसके विविध प्रदेशों में कहीं समतल मैदान हैं, तो कहीं पर्वतप्रधान प्रदेश, घाटियाँ व पठार भी विद्यमान हैं। कहीं अत्यन्त सूखे रेगिस्तान हैं, तो कहीं ऐसे भी प्रदेश हैं, जहाँ साल में कई सौ इंच वर्षा पड़ती है। प्राकृतिक दृष्टि से देखने पर पूर्वी बंगाल और राजपूताना में व कूर्माञ्चल और काशी में भारी भेद दृष्टिगोचर होता है। इस देश में अनेक नसलों व जातियों के लोगों का निवास है। आर्य, द्राविड़, मुंड, किरात आदि कितनी ही जातियों के लोग यहाँ बसते हैं। हिन्दी, गुजराती, मराठी, तेलुगू, तमिल, बँगला आदि कितनी ही भाषाएँ इस देश में बोली जाती हैं। यहाँ बारह से अधिक समुन्नत भाषाएँ व सैकड़ों की संख्या में बोलियों की सत्ता है। धर्म की दृष्टि से भी इस देश में एकता का अभाव है। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, बौद्ध, जैन, पारसी आदि कितने ही धर्म यहाँ विद्यमान हैं। विविध धर्मों के अनुयायियों में, विशेषतया हिन्दुओं और मुसलमानों में विरोध की भावना भी इस देश में पर्याप्त प्रबल रही है। देश की विशालता के कारण यहाँ के निवासियों में भौगोलिक एकता की अनुभूति भी भलीभाँति विद्यमान नहीं है। पंजाब के निवासी अपने को पंजाबी समझते हैं, और बंगाल के निवासी बंगाली। ऐतिहासिक दृष्टि से भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा है। मौर्य, गुप्त आदि कतिपय प्राचीन राजवंशों और मुगलों के शासन में भारत का बड़ा भाग कुछ समय के लिये चाहे एक शासन के अधीन रहा हो, पर ब्रिटिश शासन से पूर्व हम प्रायः यही देखते हैं, कि इस देश में अनेक राज्य थे, जो प्रायः आपस में संघर्ष करते रहते थे। इस दशा में यदि अनेक विचारक भारत को एक भूखंड मात्र समझें, और उसकी राष्ट्रीय एकता से इन्कार करें, तो यह आश्चर्य की बात नहीं है। इसी कारण यह भी बहुत सुगम नहीं रहता, कि सारे भारत का इतिहास एक साथ लिखा जा सके। वस्तुतः, भारत का राजनीतिक इतिहास विविध राजवंशों के पारस्परिक संघर्ष

का ही वृत्तान्त है।

पर अधिक गम्भीर दृष्टि से विचार करने पर अनेक विविधताओं के होते हुए भी भारत की आधारभूत एकता को समझने में कठिनाई नहीं होगी। जो तत्त्व भारत में एक प्रकार की आधारभूत एकता को स्थापित करते हैं, उनका यहाँ संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है:—

(१) भौगोलिक एकता—प्रकृति ने भारत को एक अत्यन्त सुन्दर व स्वाभाविक सीमा प्रदान की है, यह पहले लिखा जा चुका है। भारत की भौगोलिक एकता इस देश के लोगों में एक प्रकार की एकानुभूति उत्पन्न करती रही है। भारत के निवासी सदा से अपने देश के प्रति एक विशेष प्रकार की ममता का अनुभव करते रहे हैं। उन्होंने सदा यह माना है, कि यह उनकी मातृभूमि और देवभूमि है। सम्पूर्ण भारत में उन्होंने एक सिरे से दूसरे सिरे तक तीर्थों और देवस्थानों की स्थापना की थी। यहाँ के निवासी हिन्दू लोग भारत के पर्वतों, जंगलों, नदियों और पुरियों को पवित्र मानते रहे हैं। गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्ध और कावेरी—ये सात नदियाँ भारत के सब हिन्दुओं के लिए पवित्र हैं। प्रत्येक हिन्दू की यह आकांक्षा रहती है, कि वह इन सातों नदियों में स्नान करके अपने जीवन को सफल करे। दक्षिण भारत के हिन्दू के लिए गंगा भी उतनी ही पवित्र है, जितनी कि कावेरी। यही दशा उत्तर भारत के हिन्दू की है। महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र—ये सात पर्वत सब हिन्दुओं के लिए पवित्र हैं। इसी प्रकार अयोध्या, मथुरा, मायापुरी, काशी, काँची, अवन्तिका और द्वारवती (द्वारिका)—ये सात पुरियाँ हिन्दुओं की दृष्टि में पवित्र हैं, और इनमें तीर्थयात्रा के लिये जाना सब हिन्दुओं के लिए एक पवित्र कर्त्तव्य है। दक्षिण में काँची से उत्तर में मायापुरी तक यात्रा करनेवाला हिन्दू इस सारे देशके प्रति एक आदर और पवित्रता की भावना रखता है, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दुओं के विविध तीर्थ उत्तर में अमरनाथ और केदारनाथ से शुरू होकर दक्षिण में रामेश्वरम् तक फैले हुए हैं। इसी प्रकार मुसलमानों के भी अनेक पीरों और औलियों की स्मृति भारत के विभिन्न स्थानों के साथ जुड़ी हुई है। भारत के बौद्धिक नेताओं ने भी भारत की इस भौगोलिक एकता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। यही कारण है, कि केरल-देश में उत्पन्न हुए आचार्य शंकराचार्य ने अपने विविध मठों की स्थापना उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सर्वत्र की थी। इस दशा में यदि भारत के विभिन्न निवासी इस देश के प्रति ममता और एकता की भावना रखें, तो यह स्वाभाविक ही है।

(२) जातीय एकता—यह ठीक है, कि भारत में अनेक नसलों के लोग निवास करते हैं, पर इन विविध नसलों में सम्मिश्रण भी खूब हुआ है। इस समय भारत की बहुसंख्यक जनता आर्यों और द्राविड़ों का सम्मिश्रण ही है। इस देश में भाषाओं की भिन्नता अवश्य है, पर यहाँ की प्रायः सभी भाषाएँ एक ही सांचे में ढली हुई हैं। भारत की अनेक द्राविड़ भाषाओं तक ने आर्यों की वर्णमाला को अपना लिया है। आर्यों और द्राविड़ों का भारत के इतिहास में इतना अधिक सामंजस्य हो गया है, कि आज प्रायः सारे भारत की एक वर्णमाला है, और एक वाङ्मय है। न केवल वैदिक और संस्कृत साहित्य का सारे भारत में समान रूप से आदर है, अपितु मध्यकालीन सन्तों और विचारकों

के विचार भी सारे भारत को एक समान रूप से प्रभावित किये हुए हैं। संस्कृत-साहित्य के ग्रंथ दक्षिण भारत के द्राविड़-भाषाभाषी लोगों में भी उसी प्रकार आदर के साथ पढ़े जाते हैं, जैसे कि उत्तर-भारत में। नसल और भाषा की विविधता के होते हुए भी प्राय: सम्पूर्ण भारत के निवासी एक प्रकार की सामाजिक रचना रखते हैं। सर्वत्र वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समान रूप है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भेद दक्षिण-भारत में भी वैसा ही है, जैसा कि उत्तर-भारत में। आश्रम-मर्यादा का भी सर्वत्र एक समान रूप से पालन किया जाता है। इस दशा में सारे भारत में एक प्रकार की जातीय एकता उत्पन्न हो गई है, जो नसल और भाषा के भेद को बहुत महत्त्व का नहीं रहने देती।

(३) **संस्कृति की एकता**—सांस्कृतिक एकता भारत की एक भारी विशेषता है। इस देश के न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान, पारसी और ईसाई भी एक ही संस्कृति के रंग में रंगे हुए हैं। यह संस्कृति वैदिक, बौद्ध, जैन, हिन्दू, मुस्लिम और आधुनिक संस्कृतियों के सम्मिश्रण से बनी है। भारत के मुसलमान अपने विचारों, रीति-रिवाजों व अभ्यासों की दृष्टि से अरब व टर्की के मुसलमानों से बहुत भिन्न हैं। लखनऊ या दिल्ली का मुसलमान कैरो या कोन्स्टेन्टिनोपल में जाकर अपने को सर्वथा विदेशी अनुभव करेगा। अरबों व तुर्कों के साथ धार्मिक एकता होते हुए भी वह लखनऊ और दिल्ली के हिन्दू के बहुत समीप है। इसका कारण संस्कृति की एकता है। जो रिवाज व सामाजिक आचार-विचार हिन्दू के हैं, प्राय: वही भारतीय मुसलमान के भी हैं। भारत के बहुसंख्यक मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू ही थे। धर्म-परिवर्तन से उनके संस्कारों व परम्परागत विचारों में मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। इसी प्रकार आन्ध्र, तामिलनाड, बंगाल, गुजरात आदि में विभिन्न भाषाभाषी जो जन-समुदाय निवास करते हैं, वे सब एक संस्कृति के ही अनुयायी हैं। राम और कृष्ण के आदर्श, अर्जुन और भीम की वीर-गाथाएँ व नानक और तुलसी के उपदेश उन्हें समान रूप से प्रभावित करते हैं। संस्कृति की यह एकता ऐसी है, जो नसल, भाषा आदि के भेद की अपेक्षा अधिक महत्त्व की है। इसी के कारण सम्पूर्ण भारतीय अपने को चीनी, ईरानी, अरब, अंग्रेज आदि अन्य राष्ट्रीयताओं से भिन्न समझते हैं, और अपने को एक मानते हैं।

(४) **राजनीतिक एकता**—इसमें सन्देह नहीं, कि प्राचीन भारत में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे। पर साथ ही यह बात भी सत्य है कि बहुत प्राचीन समय से इस देश में यह विचार विद्यमान था, कि यह विशाल देश एक चक्रवर्ती साम्राज्य का उपयुक्त क्षेत्र है, और इसमें एक ही राजनीतिक शक्ति का शासन होना चाहिए। आचार्य चाणक्य ने कितने सुन्दर रूप से यह प्रतिपादित किया था, कि हिमालय से समुद्र-पर्यन्त जो सहस्र योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती शासन का क्षेत्र है। चाणक्य के इस स्वप्न को उसके शिष्य मौर्य चन्द्रगुप्त ने क्रिया में परिणत किया, और हिमालय से समुद्र तक मागध-साम्राज्य की स्थापना की। पर चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व भी अनेक सम्राटों ने दिग्विजय द्वारा भारत के विविध आर्य-राज्यों में राजनीतिक एकता को प्रादुर्भूत किया था। मान्धाता, भरत आदि कितने ही राजा वैदिक काल में भी ऐसे हुए, जिनका प्रयत्न सम्पूर्ण आर्यावर्त में एक शासन स्थापित करने का था, और जो राजसूय आदि यज्ञों द्वारा चक्रवर्ती, सार्वभौम व सम्राट्-पद को प्राप्त करने में

समर्थ हुए थे । प्राचीन समय में भारत चाहे सदा एक शासन में न रहा हो, पर इस देश में यह अनुभूति प्रबल रूप से विद्यमान थी, कि यह एक देश है, और इसमें जो धार्मिक, साहित्यिक व सांस्कृतिक एकता है, उसे राजनीतिक क्षेत्र में भी अभिव्यक्त होना चाहिए। यही कारण है, कि विविध राज्यों और राजवंशों की सत्ता के होते हुए भी इस देश के इतिहास को एक साथ प्रतिपादित किया जा सकता है।

भारत बहुत बड़ा देश है। प्राचीन समय में तो ग्रीस, इटली, इंगलैण्ड जैसे छोटे-छोटे देशों में भी बहुत-से राज्य विद्यमान थे। ग्रीस में स्पार्टा, एथन्स, कोरिन्थ आदि के रूप में कितने ही छोटे-छोटे नगर-राज्यों की सत्ता थी। यही बात इटली, इंगलैण्ड, मिस्र, ईरान आदि देशों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। बहुत-से नगर-राज्यों की सत्ता के होते हुए भी ग्रीस को एक देश समझा जाता था, क्योंकि उसमें संस्कृति की एकता थी, और ग्रीक लोग अपने में एक प्रकार की एकानुभूति रखते थे। ठीक यही बात भारत के संबंध में भी है। जिस प्रकार मैसिडोन के नेतृत्व में ग्रीक नगर-राज्य एक राजनीतिक सूत्र में संगठित हुए, वैसे ही मगध के नेतृत्व में आगे चलकर भारत के विविध राज्य एक साम्राज्य के अधीन हुए। यदि केवल विविध राज्यों की सत्ता के कारण भारत की आधारभूत एकता से इनकार किया जाय, तो यह भी मानना होगा, कि ग्रीस, इटली, इंगलैण्ड आदि सभी देश प्राचीन समय में एकता से शून्य थे। पर किसी देश की एकता के लिये राजनीतिक एकता सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व नहीं होती। धर्म, संस्कृति, भूगोल, परम्परा आदि की एकता ने ही आगे चलकर ग्रीस, इटली, इंगलैण्ड जर्मनी आदि को एक संगठन में संगठित किया। इसी प्रकार भारत भी आगे चलकर राजनीतिक दृष्टि से भी एक हो गया। पर जिन तत्त्वों के कारण उसका एक होना सम्भव हुआ, वे प्राचीनकाल में भी यहाँ विद्यमान थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि भारत में अनेक प्रकार की विभिन्नताएँ विद्यमान हैं। पर इन विभिन्नताओं के होते हुए भी इस देश में एक आधारभूत एकता की सत्ता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। वस्तुतः, इस देश की स्थिति संघात्मक शासन के लिये बहुत उपयुक्त है। भारत-जैसे विशाल देश को विविध खंडों में विभक्त कर यदि उन्हें एक संघ में संगठित किया जाय, तो यह बात यहाँ के लिये बहुत उपयोगी होगी। विविध खंडों में इस देश की विभिन्न भाषाओं, साहित्य, पृथक् परम्परा आदि को विकास का पूरा अवसर मिलेगा, और संघ द्वारा वह आधारभूत एकता भली-भाँति अभिव्यक्त हो सकेगी, जो भारत को अन्य सब देशों से पृथक् करती है। स्वतंत्र भारत के नये संविधान में इसी सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है।

प्राचीन भारत का इतिहास लिखते हुए जहाँ हम उस धर्म, सभ्यता, संस्कृति, साहित्य और सामाजिक संगठन के विकास का वृत्तान्त लिखते हैं, जो सारे भारत में समान रूप से विकसित हुए, वहाँ साथ ही हम उस प्रयत्न का भी प्रदर्शन करते हैं, जो इस देश में राजनीतिक एकता की स्थापना के लिये निरन्तर जारी रहा। यही कारण है, कि हम इसका इतिहास एक साथ लिखने में समर्थ होते हैं।

(४) भौगोलिक दशा का भारतीय इतिहास पर प्रभाव

इसमें सन्देह नहीं, कि भारत की भौगोलिक परिस्थितियों ने इस देश के इतिहास को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। भारत उन अर्थों में एक राष्ट्र व देश नहीं है, जिन अर्थों में फ्रांस, जर्मनी व इंगलैण्ड एक राष्ट्र हैं। यहाँ के सब निवासियों की भाषा एक नहीं है, और न ही इस देश के सब निवासी एक नसल व एक जाति के हैं। भारत एक इस प्रकार का महादेश है, जिसमें विविध भाषाओं को बोलनेवाली विविध जातियों के लोगों का निवास है। इस स्थिति का प्रधान कारण इस देश की विशालता और विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियाँ ही हैं। भौगोलिक दशा ने इस देश के इतिहास को किस प्रकार प्रभावित किया है, इस बात को हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं :—

(१) **विविध राज्यों की सत्ता**—भारत के सीमान्त के पर्वतप्रधान प्रदेशों में बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता रही है, जो अपनी विकट भौगोलिक परिस्थिति के कारण साम्राज्यवादी विजेताओं की विजयों के प्रभाव से प्रायः बचे रहे हैं। मगध के बार्हद्रथ, नन्द, मौर्य, गुप्त आदि राजवंशों के प्रतापी सम्राट् उत्तर भारत के सुविस्तृत मैदान को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए। पर काश्मीर, अभिसार, त्रिगर्त, कुलूत, गढ़देश, कूर्माञ्चल, नेपाल आदि पार्वत्य-प्रदेशों को वे स्थिर रूप से अपने विशाल साम्राज्यों के अन्तर्गत नहीं कर सके। विन्ध्यमेखला के कारण उनके लिए यह भी सम्भव नहीं हुआ, कि वे दक्षिण-भारत पर स्थिर रूप से अपना शासन स्थापित कर सकते। अफगान और मुगल-सम्राट् भी जो सारे भारत को अपनी अधीनता में नहीं ला सके, उसका मुख्य कारण भी इस देश की भौगोलिक परिस्थितियाँ ही थीं। राजनीतिक दृष्टि से दक्षिण भारत का इतिहास प्रायः उत्तर भारत के इतिहास से पृथक् रहा, क्योंकि विन्ध्यमेखला भारत के इन दोनों भागों के मध्य में एक विशाल दीवार का काम करती रही। दक्षिण भारत में पश्चिमी घाट और पूर्वी घाट की पर्वतमालाओं के कारण वहाँ उस ढग के विशाल साम्राज्यों का विकास सम्भव नहीं हुआ, जैसा कि उत्तर भारत के सुविस्तृत मैदान में हुआ था। दक्षिण भारत अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा, जो निरन्तर परस्पर के युद्धों में व्यापृत रहे। शक्तिशाली मुगल सम्राट् भी इस प्रदेश को अविकल रूप से अपनी अधीनता में लाने में असमर्थ रहे। उत्तर भारत के विस्तृत मैदान में जो शक्तिशाली विशाल साम्राज्यों का विकास संभव हुआ, उसका कारण वहाँ की भौगोलिक दशा ही थी। इस प्रदेश में कोई ऐसी प्राकृतिक बाधाएँ नहीं थीं, जो मगध, कन्नौज और दिल्ली के शक्तिशाली सम्राटों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हो सकतीं। इसीलिये सदियों तक भारत का यह भाग एक शासन की अधीनता में रह सका, और यहाँ एक ऐसी सभ्यता का विकास हुआ, जो इसके सब निवासियों को सांस्कृतिक दृष्टि से एक सूत्र में बांध रखने में समर्थ हुई।

(२) **पृथक् सभ्यता का विकास**—भौगोलिक दृष्टि से अनेक भागों में विभक्त होते हुए भी भारत संसार के अन्य भूखण्डों से पृथक् व स्वतंत्र सत्ता रखता है। इस देश को एक ऐसी प्राकृतिक सीमा प्राप्त है, जो अन्य देशों को प्राप्त नहीं है। महासमुद्र

और दुर्गम पर्वतश्रृंखलाओं से घिरा हुआ यह देश एक विशाल दुर्ग के समान है, जिसमें एकता की अनुभूति अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान रही है। जहाँ एक ओर शक्तिशाली सम्राट् इस देश को राजनीतिक दृष्टि से एक शासन में लाने का प्रयत्न करते रहे, वहाँ दूसरी ओर यहाँ के धर्माचार्य और सन्त-महात्मा इस सम्पूर्ण देश में एक धर्म और एक संस्कृति की स्थापना के लिये तत्पर रहे। यही कारण है, कि भारत में एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ जो इस देश की अपनी चीज है, और जिसका पड़ोस के अन्य देशों के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं है। यह सच है, कि भारत ने समीपवर्ती अन्य देशों को भी अपनी संस्कृति के प्रभाव में लाने का प्रयत्न किया। कुछ समय तक अफगानिस्तान, तुर्किस्तान, तिब्वत, बरमा, मलाया, सियाम आदि देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव में भी रहे। पर भौगोलिक परिस्थितियों के कारण ही ये सब देश देर तक भारत के सांस्कृतिक प्रभाव में नहीं रह सके, और उनमें अपनी पृथक् संस्कृतियों का विकास हुआ। भारत जो अपनी एक पृथक् व स्वतंत्र सभ्यता और संस्कृति का विकास करने में समर्थ हुआ, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यही था, कि भौगोलिक परिस्थितियों ने इसे पृथ्वी के अन्य क्षेत्रों से पृथक् कर रखा था।

(३) **अन्य देशों से सम्बन्ध**—यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से भारत की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता है, पर अन्य देशों के साथ उसका सम्पर्क सदा कायम रहा है। इस देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर विद्यमान दुर्गम पर्वत-माला में दो ऐसे द्वार हैं, जो विदेशों के साथ इसका सम्बन्ध निरन्तर बनाये रहे हैं। ये मार्ग खैबर और बोलन के दर्रों के रूप में हैं। जहाँ अनेक विदेशी जातियों ने इन मार्गों से प्रवेश कर इस देश को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया, वहाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य-जैसे प्रतापी विजेता इन मार्गों से ही वाह्लीक देश तक की विजय करने में समर्थ हुए। इन मार्गों से जाकर बहुत-से धर्म-प्रचारकों ने भारतीय धर्म और संस्कृति का पश्चिम व उत्तर में दूर-दूर तक प्रसार किया। केवल इन दो दर्रों से ही नहीं, अपितु हिमालय पर्वतश्रृंखला के अन्य अनेक मार्गों द्वारा भी भारत का पड़ोस के देशों के साथ सम्बन्ध कायम रहा। भारत के सुविस्तीर्ण समुद्रतट ने भी विदेशों के साथ सम्पर्क को स्थापित करने में सहायता पहुँचाई। इस देश के व्यापारी जहाँ जलमार्ग से उत्तर-पूर्व में चीन तक और पश्चिम में ईरान और अरब तक व्यापार करने में व्यापृत रहे, वहाँ साथ ही इस देश के बहुत-से धर्म-प्रचारक व विद्वान् समुद्र के मार्ग से इन्डोचायना, इन्डोनीसिया आदि सुदुरवर्ती प्रदेशों में भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रचार के लिये प्रयत्नशील रहे। इस स्थिति का परिणाम यह हुआ, कि अन्य देशों के साथ भारत का सम्पर्क निरन्तर कायम रहा, और इस देश की विशिष्ट संस्कृति के विकास में इस सम्पर्क ने बहुत सहायता पहुँचाई। यह समझना भूल है, कि भारत ऐतिहासिक दृष्टि से संसार के घटनाप्रवाह से पृथक् रहा है। जहाँ एक ओर भारत के विचारक और धर्म-प्रचारक एशिया के बहुत बड़े भाग को अपनी विचारधारा द्वारा प्रभावित करते रहे हैं, वहाँ साथ ही पड़ोस के विदेशी राज्यों की राजनीतिक व सांस्कृतिक उथल-पुथल भी इस देश के इतिहास पर अपना प्रभाव डालती रही है। यवन, शक, युइशी, हूण, अफगान, मुगल आदि कितने ही विदेशी लोग समय-समय पर भारत में प्रविष्ट हुए, और इन सबने इस देश के इतिहास को प्रभावित किया। यही कारण है,

कि भारत की संस्कृति पर अन्य जातियों का प्रभाव भी कम नहीं है। वस्तुतः, भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। वैदिक युग में आर्यों की जो संस्कृति थी, उसपर भी द्राविड़ लोगों का प्रभाव था। बाद में कितने ही नये लोगों ने इस संस्कृति को प्रभावित किया, यद्यपि आर्यों की संस्कृति की मूलधारा नष्ट नहीं होने पाई।

(४) **एकता और विभिन्नता**—भारत की भौगोलिक परिस्थितियों में बहुत विभिन्नता है। इस देश के कुछ भाग जहाँ सदा हिम से अच्छादित रहते हैं, तो अन्य भाग मरुस्थल के रूप में हैं। हरे-भरे मैदान, पहाड़ियों से परिपूर्ण पठार, रेगिस्तान आदि सब प्रकार के प्रदेश इस विशाल देश में विद्यमान हैं। भौगोलिक दृष्टि से इतनी विभिन्नताओं के होते हुए भी यह देश प्राकृतिक दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इस विशिष्ट भौगोलिक परिस्थिति ने भारत के इतिहास और संस्कृति पर बहुत प्रभाव डाला है। यहाँ जो लोग निवास करते हैं, वे अपने चरित्र, व्यवहार और परम्परा आदि की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पहाड़ों पर निवास करनेवाले गढ़वाली, गोरखे व मराठे राजपूताना के रेगिस्तान में रहनेवाले लोगों से भिन्न प्रकृति रखते हैं, और वे लोग उत्तरी भारत के हरे-भरे उपजाऊ मैदान के निवासियों से बहुत भिन्न हैं। इस देश की विशालता और उसमें विद्यमान विविध प्रकार की जलवायु के कारण इसके निवासियों में बहुत-सी विभिन्नताओं का विकास हो गया है। पर ये विभिन्नताएँ इस देश की आधारभूत एकता को नष्ट नहीं कर सकीं। जिस प्रकार भौगोलिक परिस्थितियों की विभिन्नता के होते हुए भी यह देश एक है, वैसे ही अनेक प्रकार के लोगों के निवास होने पर भी उन सबमें एक प्रकार की एकानुभूति विद्यमान है, जिसका कारण उनके इतिहास और संस्कृति की एकता है। विभिन्नता के रहते हुए भी एकता की सत्ता इस देश की एक अपनी विशेषता है, और इसमें यहाँ की भौगोलिक दशा बहुत सहायक है।

अनेक ऐतिहासिकों का यह विचार है, कि भारत की गरम जलवायु के कारण यहाँ के निवासियों में परिश्रम और अध्यवसाय का अभाव है। वे जो सुगमता से आक्रमणकारी लोगों की अधीनता में आ गये और उन्नति की दौड़ में यूरोप व अमेरिका से पीछे रह गये, उसके लिये यहाँ की भौगोलिक परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। पर गम्भीरता से विचार करने पर यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती। यह सत्य है, कि अनेक विदेशी आक्रान्ता भारत के कतिपय भागों को जीतने में समर्थ हुए। अनेक सदियों तक भारत विदेशी शासकों की अधीनता में भी रहा। पर यह बात यूरोप के अनेक देशों के संबंध में भी कही जा सकती है। मंगोल आक्रान्ता विएना तक यूरोप को जीतने में समर्थ हुए थे और पूर्वी यूरोप के अनेक देश तो सदियों तक तुर्कों के अधीन रहे थे। उन्नति की दौड़ में यदि भारत आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों के मुकाबिले में पीछे रह गया, तो प्राचीन काल और मध्यकाल में भारत यूरोप से किसी भी प्रकार कम उन्नत नहीं था। उन्नति की दौड़ में तो रूस भी पश्चिमी यूरोप के मुकाबिले में बहुत पीछे रह गया था। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि की अपेक्षा रूस बहुत पिछड़ा हुआ था। आधुनिक युग में जो भारत दुर्दशाग्रस्त रहा, उसकी उत्तरदायिता उसकी जलवायु व भौगोलिक परिस्थिति पर नहीं है। उसके कारण अन्य हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि भारत की भौगोलिक दशा ने अनेक प्रकार से इस देश के इतिहास को प्रभावित किया है।

तीसरा अध्याय

मानव-सभ्यता का आदिकाल

(१) पुरातन प्रस्तर-युग

मनुष्य की उत्पत्ति—पृथिवी पर पहले-पहल मनुष्य किस प्रकार प्रकट हुआ, शुरू में वह अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता था, और सभ्यता के क्षेत्र में उसने किस प्रकार उन्नति की, यह विषय बहुत विवादग्रस्त है। भारत के अनेक प्राचीन विचारकों का यह मत था, कि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर ने पृथिवी पर वृक्ष, वनस्पति, जीव-जन्तु, मनुष्य—सबका एक साथ निर्माण किया। मनुष्य को ज्ञान भी सृष्टि के शुरू में ही ईश्वर की ओर से दे दिया गया, ताकि इस ज्ञान का उपयोग कर वह अपनी उन्नति कर सके। प्रारम्भ में मनुष्य सभ्य, ज्ञानी व उन्नत थे। सृष्टि का प्रारम्भ सतयुग से हुआ, जब मनुष्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। बाद में मनुष्य और उसके ज्ञान व सभ्यता में ह्रास होता गया। कुछ इसी प्रकार के विचार संसार की अन्य प्राचीन जातियों में भी विद्यमान थे। यही कारण है, कि चीन, पैलेस्टाइन आदि प्राचीन देशों के अनेक विचारकों ने भी आदि-मानव के संबंध में इन्हीं से मिलते-जुलते विचारों का प्रतिपादन किया था।

पर आजकल विद्वानों ने वैज्ञानिक खोज के आधार पर एक दूसरे मत का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है, कि पृथिवी पर जीव-जन्तुओं का विकास धीरे-धीरे हुआ। अब से कोई अस्सी करोड़ साल पहले पृथिवी पर जीवन के चिन्ह प्रकट होने शुरू हुए थे। उथले जल में रहनेवाले छोटे-छोटे जन्तुओं से विविध प्राणियों के विकास में करोड़ों साल लग गये। वानर जाति के एक प्राणी से विकसित होते-होते मनुष्य की उत्पत्ति हुई। मनुष्य को पृथिवी पर प्रकट हुए अभी कुछ लाख साल से अधिक समय नहीं हुआ है।

पुरातन प्रस्तर-युग—शुरू में जब मनुष्य पृथिवी पर प्रकट हुआ, तो उसमें और अन्य चौपायों में बहुत कम भेद था। अन्य पशुओं के समान वह भी जंगल में रहता था, और शिकार द्वारा अपना भोजन प्राप्त करता था। पशुओं के मांस के अतिरिक्त जंगल में पैदा होनेवाले कंद, मूल, फल व अन्न का भी वह भोजन के लिये प्रयोग करता था। अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये मनुष्य आर्थिक उत्पत्ति नहीं करता था, अपितु प्रकृति द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं पर ही निर्भर रहता था। पर अन्य पशुओं की अपेक्षा मनुष्य का दिमाग अधिक बड़ा था। उसके पास बुद्धि नामक एक ऐसी वस्तु थी, जो अन्य जन्तुओं के पास नहीं थी। इसका परिणाम यह हुआ कि मनुष्य शिकार करते हुए केवल अपने हाथों और पैरों पर ही निर्भर नहीं रहता था, अपितु अनेक प्रकार के औजार बनाकर उनका भी उपयोग करता था। शुरू में मनुष्य के ये औजार पत्थर, हड्डी व लकड़ी के बने होते थे। धातुओं का प्रयोग वह नहीं जानता था। इसीलिये मानव-सभ्यता के इस प्रारम्भिक काल के मनुष्य को हम प्रस्तर-युग

का कहते हैं ।

पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य पत्थर, हड्डी और लकड़ी के मोटे व भद्दे औजार बनाता था। पत्थर का टुकड़ा काटकर उसे आगे से पतला व नुकीला करके उसे वह शिकार करने, मांस काटने व इसी तरह के अन्य कामों के लिये प्रयोग में लाता था। मकान बनाना वह नहीं जानता था। वह गुफाओं में रहता था, और वहीं आग में मांस आदि भोजन को भूनकर खाता था। पत्थर को रगड़कर आग उत्पन्न करने की कला मनुष्य ने बहुत शुरू में ही जान ली थी। बरतन बनाने का शिल्प अभी उसे ज्ञात नहीं था। वह प्रायः नदियों व जलाशयों के समीप निवास करता था। वह किसी निश्चित स्थान पर बसकर नहीं रहता था। शिकार की खोज में वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर दूर-दूर तक चला जाता था। कला का भी उसे कुछ-कुछ ज्ञान था। गुफा की दीवारों पर कोयले व रंगीन मिट्टी से अनेक प्रकार के चित्र बनाकर अपने मनोभावों को प्रकट करने का भी वह प्रयत्न करता था।

नृतत्त्व-शास्त्र (एन्थ्रोपोलोजी) के अनुसार पुरातन प्रस्तर-युग का प्रारम्भ अब से लगभग छः लाख साल पूर्व हुआ था। इस युग की सभ्यता के भग्नावशेष पृथिवी के अनेक प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। यूरोप, एशिया, अफ्रीका आदि सर्वत्र पत्थर के बने हुए वे औजार मिले हैं, जिन्हें पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य प्रयोग में लाता था। पृथिवी के सुदूरवर्ती प्रदेशों में पाये गये इन औजारों में आश्चर्यजनक समता पायी जाती है। दक्षिणी इङ्गलैण्ड या उत्तर-पश्चिमी फ्रांस में उपलब्ध हुए पत्थर के औजार ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि भारत या अफ्रीका में प्राप्त हुए प्राचीन औजार हैं। इससे यह सूचित होता है, कि पुरातन प्रस्तर-युग की सभ्यता पृथिवी के सब प्रदेशों पर एकसदृश थी, और विविध भू-भागों पर विचरण करनेवाले मनुष्य एक ही ढंग से अपनी सभ्यता की उन्नति कर रहे थे।

अब से लगभग छः लाख साल पूर्व शुरू होकर पुरातन प्रस्तर-युग अब से प्रायः दस हजार साल पहले तक जारी रहा। इतने लम्बे समय में मनुष्य ने सभ्यता के क्षेत्र में बहुत कम उन्नति की। उसके पत्थर, हड्डी व लकड़ी के औजारों में कुछ-न-कुछ उन्नति अवश्य होती गई, पर उसकी आजीविका का साधन शिकार व जंगल में उत्पन्न होनेवाले कन्द, मूल, फल व अन्न का भोजन ही बना रहा। कृषि व पशुपालन द्वारा अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न इस सुदीर्घ काल में मनुष्य ने नहीं किया। मुख्यतया शिकार पर आश्रित होने के कारण इस काल में मनुष्य ने कहीं स्थिर रूप से अपनी बस्तियाँ भी नहीं बसाईं। वह टोली बनाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करता था, और जहाँ कहीं भी शिकार की सुविधा हो, वहाँ सामयिक रूप से डेरा डाल देता था। पुरातन प्रस्तर-युग के इस आदि-मानव के जो औजार इस समय प्राप्त हुए हैं, उन्हीं के आधार पर उसकी सभ्यता का स्वरूप प्रतिपादित किया जाता है।

छः लाख साल के सुदीर्घ काल में मनुष्य ने सभ्यता के क्षेत्र में कोई भी उन्नति न की हो, यह बात नहीं है। धीरे-धीरे उसके औजार अधिक विकसित व सुसंस्कृत होते गये। केवल गुफाओं में व वृक्षों के नीचे रहने के स्थान पर उसने छोटे-छोटे तम्बुओं का भी निर्माण शुरू किया, जो प्रायः पशुओं की खाल के बने होते थे। पशुओं के चर्म को उसने शरीर ढँकने के लिये भी प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया। यही कारण है, कि

पुरातन प्रस्तर-युग को भी अनेक विभागों में विभक्त किया जाता है, जिन्हें हम अति-पुरातन प्रस्तर-युग, मध्य पुरातन प्रस्तर-युग व पश्चात्कालीन पुरातन प्रस्तर-युग कह सकते हैं। पत्थर के औजारों की रचना व गुफाओं में उपलब्ध हुए अन्य अवशेषों के आधार पर नृतत्त्वशास्त्री यह निर्णय करते हैं, कि छः लाख साल के सुदीर्घ काल में मनुष्य किस प्रकार धीरे-धीरे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता गया।

(२) भारत में प्रस्तर-युग के अवशेष

प्रारम्भिक खोज—उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में यूरोप के पुरातत्त्व-शास्त्रियों ने पहले-पहल पत्थर के उन औजारों को ढूंढ़ निकाला था, जिन्हें आदि-मानव प्रयोग में लाता था। १८४७ ई० में बूशे-द-पर्थ नामक विद्वान् ने सबसे पहले इस प्रकार के औजारों का पता किया था। ये औजार यूरोप में सॉम नदी के समीपवर्ती प्रदेश में उपलब्ध हुए थे। भारत में सबसे पहले ब्रूस फुट नामक विद्वान् ने प्रस्तर-युग के औजारों की खोज की थी। ये औजार मद्रास के समीप पल्लावरम् नामक स्थान में मिले थे। ब्रूस फुट ने जो खोज प्रारम्भ की थी, उसे अन्य विद्वानों ने जारी रखा। १८६५ ई० में ए० वी० वाइन ने गोदावरी नदी की घाटी में फुठन नामक स्थान पर पुरातन प्रस्तर-युग के अनेक औजार प्राप्त किए। अकेले ब्रूस फुट ने ४३ साल के निरन्तर प्रयत्न द्वारा इस आदि-युग के बहुत-से अवशेष एकत्र किए, जिन्हें बाद में मद्रास सरकार ने तीस हजार रुपये में क्रय कर लिया, और वे सब अब मद्रास के म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

बीसवीं सदी में यूरोप के विद्वानों ने भारत के प्रस्तर-युग के अवशेषों को एकत्र करने के लिए विशेष रूप से उद्योग किया। १९३० ई० के बाद इङ्गलैण्ड से विद्वानों की अनेक मण्डलियाँ इसी उद्देश्य से भारत में आईं, और उनके प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि भारत के अनेक प्रदेशों से प्रस्तर-युग के अवशेष उपलब्ध हुए।

प्रस्तर-युग के अवशेषों के क्षेत्र—भारत के जिन प्रदेशों से पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष अब तक उपलब्ध हुए हैं, उनका उल्लेख करना उपयोगी है। ये निम्नलिखित हैं:—

(१) रावलपिंडी जिले का पोठवार-प्रदेश।
(२) काश्मीर में पुंच्छ का क्षेत्र।
(३) उत्तर-पश्चिमी पंजाब में स्थित ख्यूड़ा की नमक की पहाड़ियों का प्रदेश।
(४) नर्मदा नदी की घाटी।
(५) दक्खन का करनूल जिला।
(६) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी।
(७) मद्रास प्रान्त का समुद्रतटवर्ती प्रदेश।
(८) बम्बई के समीप खण्डिव्ली का प्रदेश।
(९) उड़ीसा की मयूरभंज रियासत में कुलियाना का क्षेत्र।
(१०) माइसूर रियासत में बेल्लारी का प्रदेश।

इन दस क्षेत्रों के अतिरिक्त भारत में अनेक अन्य स्थानों पर भी पुरातन प्रस्तर-युग के औजार व अन्य अवशेष मिले हैं। पर इन सब स्थानों का यहाँ उल्लेख कर सकना संभव नहीं है।

पोठवार-प्रदेश के अवशेष—भारत में प्राप्त पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेषों में पोठवार-क्षेत्र के अवशेष सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सिन्ध नदी की एक सहायक नदी है, जिसे सोआँ कहते हैं। यह रावलपिण्डी जिले के पोठवार-प्रदेश से होकर बहती है, और अन्त में सिन्ध नदी में मिल जाती है। इस नदी की घाटी से आदि-मानव द्वारा प्रयुक्त होने वाले औजार बड़ी संख्या में मिले हैं। इसी कारण इन अवशेषों से सूचित होने-वाली सभ्यता को सोआँ-सभ्यता भी कहते हैं।

पोठवार-प्रदेश में उपलब्ध होनेवाले पत्थर के औजारों को काल-क्रम की दृष्टि से निम्नलिखित विभागों में विभक्त किया गया है:—

(१) प्राग्-सोआँ-सभ्यता—पुरातन प्रस्तर-युग के ये सबसे प्राचीन अवशेष हैं। न केवल भारत में, अपितु एशिया भर में इनसे अधिक पुराने अवशेष कहीं भी उपलब्ध नहीं हुए हैं। इस सभ्यता के औजार आकार में बड़े (सात इंच के लगभग) हैं, और पत्थर को एक ओर से नुकीला करके बनाये गये हैं। ये औजार उत्तर-पश्चिमी भारत के पोठवार, मलकपुर, अडियाला, चौंतरा, कल्लर आदि स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। ये सब स्थान सोआँ नदी की घाटी में स्थित हैं। सोआँ की घाटी में जो बहुत-से औजार मिले हैं, ये अति प्राचीन औजार उनसे भिन्न प्रकार के हैं। इसीलिये सोआँ घाटी में विकसित हुई बाद की सभ्यता से पृथक् करने के लिये इन्हें 'प्राग्-सोआँ-सभ्यता' का नाम दिया गया है। भारत में उपलब्ध ये प्राचीनतम अवशेष अब से चार लाख साल से भी अधिक पुराने माने जाते हैं।

(२) सोआँ-सभ्यता—पोठवार के क्षेत्र में सोआँ नदी की घाटी से पुरातन प्रस्तर-युग के जो बहुत-से अवशेष मिले हैं, उन्हें ही 'सोआँ-सभ्यता' कहते हैं। इस सभ्यता के काल को भी दो भागों में विभक्त किया गया है—पुरातन सोआँ-सभ्यता और नूतन सोआँ-सभ्यता।

पुरातन सोआँ-सभ्यता के अवशेषों का काल चार लाख से दो लाख साल तक पुराना माना जाता है। इस काल के पत्थर के औजार दो प्रकार के हैं। कुछ औजार गोल पत्थर को एक तरफ से तराश कर बनाये गये हैं। इसी ढंग के औजार पूर्वी व दक्षिणी अफ्रीका में भी मिले हैं। दूसरी तरह के औजार एक बड़े पत्थर पर आघात कर उससे टुकड़े काटकर बनाये गये हैं। बड़े पत्थर पर इस अन्दाज से आघात किया गया है, कि उससे एक ऐसा टुकड़ा पृथक् हो जाय, जो औजार के रूप में प्रयुक्त हो सके। इस ढंग के औजारों के अतिरिक्त वे पत्थर भी मिले हैं, जिनसे अलग करके औजार का निर्माण किया गया था। आघात द्वारा पृथक् किये गये पत्थर के ये औजार यूरोप में प्राप्त हुए इसी ढंग के औजारों से बहुत मिलते-जुलते हैं। पुरातन सोआँ-सभ्यता के ये विविध औजार पोठवार, अडियाला, खसला कलाँ, चौंतरा, घड़ियाला, कुशालगढ़ आदि अनेक स्थानों पर मिले हैं। ये सब स्थान सोआँ और सिन्ध नदियों की घाटी में स्थित हैं।

नूतन सोआँ-सभ्यता अब से दो लाख साल के लगभग पूर्व शुरू हुई थी। इस युग के मनुष्य पत्थर के जो औजार बनाते थे, वे अधिक परिष्कृत व उन्नत प्रकार के हैं। इस समय में मनुष्य अनेक प्रकार से औजारों का प्रयोग करने लगा था। वह उन्हें न केवल शिकार के काम में लाता था, अपितु लकड़ी काटने, जमीन खोदने व

इसी ढंग के अन्य कामों में भी प्रयुक्त करता था। यही कारण है कि इस समय के पत्थर के बने हुए कुल्हाड़े भी उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें लकड़ी के डंडे के साथ जोड़कर प्रायः उसी प्रकार से प्रयुक्त किया जाता था, जैसे कि आजकल लोहे के कुल्हाड़े प्रयुक्त होते हैं। नूतन सोआँ-सभ्यता के औजार केवल सिन्ध और सोआँ के समीपवर्ती प्रदेशों में ही उपलब्ध नहीं होते, अपितु पूर्व में शिमला तक में प्राप्त हुए हैं।

काश्मीर का प्रदेश—काश्मीर के पुंच्छ क्षेत्र में जो बहुत-से औजार मिले हैं, वे सोआँ सभ्यता के औजारों से मिलते जुलते हैं। यही बात ख्यूड़ा की नमक की पहाड़ियों के प्रदेश से प्राप्त हुए औजारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। पर काश्मीर की घाटी में श्रीनगर और गान्धरबल के बीच में स्थित बुर्जहोम नामक स्थान पर पिछले दिनों में जो खुदाई हुई है, उसमें सबसे नीचे की सतह में कुछ ऐसे औजार मिले हैं, जो अपना पृथक् महत्त्व रखते हैं। इन औजारों में पत्थर के कुल्हाड़े भी हैं, जिनकी रचना सोआँ-सभ्यता के कुल्हाड़ों से भिन्न प्रकार की है। काश्मीर-क्षेत्र के कुल्हाड़े अधिक परिष्कृत हैं। इनके साथ में मिट्टी के बरतनों के टुकड़ों का प्राप्त होना यह सूचित करता है, कि ये पुरातन प्रस्तर-युग के न होकर नूतन प्रस्तर-युग के हैं।

नर्मदा नदी की घाटी—मध्य-प्रदेश के होशंगाबाद और जबलपुर जिलों में नर्मदा नदी की घाटी में पुरातन प्रस्तर-युग के बहुत-से अवशेष मिले हैं, जो सोआँ-सभ्यता के अवशेषों के समान ही प्राचीन व महत्त्वपूर्ण हैं। नर्मदा की घाटी के ये प्राचीन औजार भी पत्थर को तराश कर और बड़े पत्थर से आघात द्वारा टुकड़ा काटकर बनाये गये हैं।

कृष्णा नदी की घाटी—दक्खन में कृष्णा नदी की घाटी में पुरातन प्रस्तर-युग के जो अवशेष मिले हैं, वे भी बहुत महत्त्व के हैं। ये अवशेष करनूल जिले से प्राप्त हुए हैं। बरकिट नामक विद्वान् ने इनपर बड़े विशद रूप से विचार किया है। उसके अनुसार करनूल में प्राप्त ये अवशेष चार विभिन्न सभ्यताओं को सूचित करते हैं। ये चार सभ्यताएं निम्नलिखित हैं :—

(१) प्राचीनतम सभ्यता—इस युग के कुल्हाड़े और काटने के काम आनेवाले अनेक प्रकार के औजार मिले हैं, जो दक्षिणी अफ्रीका में प्राप्त हुए प्राचीनतम औजारों से बहुत समता रखते हैं।

(२) आघात द्वारा पृथक् करके बनाये गये औजार—ये नल्लमलई पर्वतमाला के नन्दिकनम् दर्रे के क्षेत्र में मिले हैं। प्राचीनतम औजारों से ये न केवल भिन्न हैं, पर जिस दशा में ये उपलब्ध हुए हैं, उससे सूचित होता है, कि ये बाद के काल के हैं।

(३) परिष्कृत औजारों का काल—दक्खन में कृष्णा नदी के समीपवर्ती प्रदेशों में ऐसे भी बहुत-से औजार मिले हैं, जो बहुत परिष्कृत हैं। वर्तमान युग की लोहे की छुरियों व चाकुओं के समान इस युग के कतिपय औजार ऐसे भी हैं, जो एक तरफ से धारवाले व दूसरी ओर से खुण्डे हैं। ये औजार उस युग की सभ्यता को सूचित करते हैं, जब पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य उन्नति के मार्ग पर तेजी से आगे बढ़ रहा था, और उसने अनेक प्रकार के कार्यों के लिये औजारों का प्रयोग शुरू कर दिया था।

(४) मध्य प्रस्तर-युग के औजार—ये औजार और भी अधिक उन्नत व परिष्कृत हैं। ये उस युग को सूचित करते हैं, जब मनुष्य पुरातन प्रस्तर-युग से आगे बढ़कर

मध्य प्रस्तर-युग में पहुँच गया था। इस युग में मनुष्य शिकार के लिये तीर-कमान का भी प्रयोग करने लगा था, और पत्थर के नोकीले व तेज तीर बनाता था। इस काल के औजार न केवल कृष्णा नदी की घाटी में मिले हैं, अपितु साथ ही गोदावरी नदी के तटवर्ती प्रदेशों में, विन्ध्याचल की पर्वत-शृंखला में और उत्तर-प्रदेश के बाँदा जिले में भी उपलब्ध हुए हैं।

गुजरात का क्षेत्र—गुजरात में साबरमती नदी की घाटी में पुरातन प्रस्तर-युग के महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं। यहाँ न केवल पत्थर के कुल्हाड़े उपलब्ध हुए हैं, अपितु साथ ही गोल पत्थर को तराशकर बनाये हुए औजार भी मिले हैं, जो रचना की दृष्टि से पुरातन सोआँ-सभ्यता के औजारों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। पुरातन प्रस्तर-युग के औजारों के अतिरिक्त साबरमती की घाटी से मध्य प्रस्तर-युग के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं।

मद्रास का क्षेत्र—मद्रास के समुद्रतट के समीप एक नदी की घाटी में अनेक स्थानों पर पुरातन प्रस्तर-युग की सभ्यता के अवशेष मिले हैं। इनमें वन्दमदुरेई और अन्तिरम्पक्कम् का विशेष महत्त्व है। इन स्थानों पर पत्थर के जो औजार मिले हैं, वे या तो एक बड़े पत्थर को तराश कर बनाये गये हैं, और या आघात द्वारा पत्थर के टुकड़े को काटकर उनका निर्माण किया गया है। ये औजार जहाँ कुल्हाड़े के रूप में हैं, वहाँ साथ ही काटने के लिये प्रयुक्त होने वाले अन्य भी अनेक प्रकार के औजार इस क्षेत्र में मिले हैं। अन्तिरम्पत्तकम् में प्राप्त अवशेष एक दृष्टि से अद्वितीय हैं। भारत में अब तक कहीं भी उन मनुष्यों के शरीर वा अस्थिपंजर का कोई अवशेष नहीं मिला था, जो इन प्रस्तर-औजारों का उपयोग करते थे। यूरोप, जावा आदि में इन प्राचीन मनुष्यों की खोपड़ी व अन्य अस्थियाँ प्राप्त हो चुकी हैं, और उनके आधार पर इन मनुष्यों के शरीर की रचना का अनुमान किया जाता है। भारत में अब तक केवल अन्तिरम्पक्कम् ही ऐसा स्थान है, जहाँ पत्थर के औजारों के साथ मनुष्य की एक हड्डी भी प्राप्त हुई है। यह अस्थि इस समय ऑक्सफोर्ड में सुरक्षित है। कोई आश्चर्य नहीं, कि भविष्य में मद्रास व अन्य किसी प्रदेश से प्राचीनतम मानव-शरीरों की अस्थियाँ अधिक संख्या में उपलब्ध हो सकें, और उनके आधार पर भारत के इन अति-प्राचीन निवासियों के शरीर व नसल आदि का भी अन्दाज किया जा सके।

खंडिव्ली का क्षेत्र—भारत के पश्चिमी समुद्रतट के निकट बम्बई के समीप खंडिव्ली के क्षेत्र में पुरातन प्रस्तर-युग की सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं, वे पुरातन सोआँ-सभ्यता के समकालीन माने जाते हैं। इस क्षेत्र में जो खुदाई हुई है, उसकी सबसे निचली सतह में उपलब्ध हुए औजार मोटे और भद्दे हैं। उपरली तहों में औजार अधिक परिष्कृत होते जाते हैं, और जमीन के बराबर की सतह के औजारों का रूप इतना उन्नत है, कि उन्हें मध्य प्रस्तर-युग का समझा जा सकता है।

खंडिव्ली के अतिरिक्त पश्चिमी समुद्रतट के समीप रत्नगिरि से मलाबार तक अन्य भी अनेक स्थानों पर पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष प्राप्त हुए हैं।

माइसूर का प्रदेश—दक्षिणी भारत में माइसूर प्रदेश के क्षेत्र में चिनलद्रुग नामक स्थान पर खुदाई करने से प्रस्तर-युग के जो अवशेष मिले हैं, वे बहुत प्राचीन

नहीं हैं। कारण यह है, कि पत्थर के औजारों के साथ-साथ वहाँ मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं, जो यह सूचित करते हैं कि इन औजारों को प्रयुक्त करनेवाले मनुष्य सभ्यता के मार्ग पर आगे बढ़ गये थे और बरतनों का निर्माण करने लगे थे। चितलद्रुग में प्राप्त बरतनों के ये अवशेष बहुत प्रारम्भिक दशा के हैं। उनका निर्माण हाथ से किया गया था, और चक्र आदि किसी उपकरण की सहायता उनके बनाने के लिये नहीं ली गई थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि चितलद्रुग के ये अवशेष उस युग को सूचित करते हैं, जब कि मनुष्य पुरातन प्रस्तर-युग से आगे बढ़कर नूतन प्रस्तर-युग में प्रवेश कर रहा था।

भारत में अन्य भी अनेक क्षेत्रों में प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं, पर इन सब स्थानों का उल्लेख कर सकना यहाँ संभव नहीं है। यह भी संभव है, कि भविष्य में अनेक अन्य स्थानों पर भी इस युग के अवशेष उपलब्ध हों।

विविध औजार—पुरातन प्रस्तर-युग के जो औजार भारत में उपलब्ध हुए हैं, उन्हें उपयोग की दृष्टि से स्थूल-रूप से दस भागों में विभक्त किया जा सकता है—परशु, बाण के फलक, भाले, खुदाई के लिये प्रयुक्त होनेवाले उपकरण, फेंकने के काम आनेवाले बड़े गोल पत्थर, काटने के लिये प्रयुक्त होनेवाले उपकरण, छुरियाँ, हथौड़े और आग जलाने के लिये काम आनेवाले चकमक पत्थर। इन औजारों के बनाने के लिये प्रधानतया एक विशेष प्रकार का पत्थर प्रयोग में लाया जाता है, जिसे 'क्वर्टजाइट' कहते हैं। पर अन्य प्रकार के पत्थरों से बने हुए औजार भी मिले हैं। पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य औजारों के लिये केवल पत्थर का ही उपयोग नहीं करता था, अपितु हड्डी व लड़की को भी इस काम के लिये प्रयुक्त करता था। लाखों साल का समय व्यतीत हो जाने के कारण हड्डी व लकड़ी के बने औजार इस समय तक कायम नहीं रह सके हैं। अति प्राचीन काल के पत्थर के भी जो औजार उपलब्ध हुए हैं, उनपर भी 'काल' का विनाशकारी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

(३) पुरातन प्रस्तर-युग का जीवन

आर्थिक जीवन—पुरातन प्रस्तर-युग में मनुष्य अपना जीवन किस प्रकार व्यतीत करता था, नृतत्त्व-शास्त्र के विद्वानों ने इस विषय पर विशद रूप से विचार किया है। यूरोप, पूर्वी एशिया, चीन, भारत, अफ्रीका आदि में इस युग के जो अवशेष मिले हैं, उन सबको दृष्टि में रखकर इस प्राचीनतम मानव-सभ्यता का स्पष्ट रूप से चित्रण किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं, कि पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य शिकार द्वारा अपनी भोजन-सामग्री प्राप्त करता था। पर जंगल में रहनेवाले जीव-जन्तुओं का शिकार करने के अतिरिक्त वह मछली पकड़ना भी जानता था, और इसके लिये उसने अनेक प्रकार के उपकरणों का भी निर्माण किया था। जंगल में जो विविध प्रकार के कन्द, मूल फल आदि प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होते हैं, उनमें से कौन-से भक्ष्य हैं, इसका उसे भली-भाँति ज्ञान था। इन कन्दमूलों को खोदकर निकालने के लिये उसने अनेक प्रकार के औजारों का निर्माण किया था। पृथिवी पर जो अनेक प्रकार के अन्न प्राकृतिक रूप से उगते हैं, उनका उपयोग भी उसे ज्ञात था। इन अन्नों को वह एकत्र करता था; इन्हें काटने

के लिये एक प्रकार की दरांती का भी वह प्रयोग करता था, और एकत्र हुए अन्न को भूनकर व पीसकर प्रयुक्त करने का भी उसे ज्ञान था। पुरातन प्रस्तर-युग का काल कई लाख साल का माना जाता है। इस सुदीर्घकाल में मनुष्य धीरे-धीरे उन्नति की ओर कदम बढ़ाता गया। शुरू में वह केवल शिकारी था, और मोटे व भद्दे औजारों का प्रयोग करता था। पर समय के साथ-साथ जहाँ वह मछली पकड़ने, कन्द-मूल-फल एकत्र करने और प्राकृतिक-रूप से उत्पन्न होनेवाले अनाज को इकट्ठा करने के लिये प्रवृत्त हुआ, वहाँ साथ ही उसके औजार भी निरन्तर उन्नति करते गये। वह पत्थर के परिष्कृत औजार बनाने लगा, और हड्डी, सींग, लकड़ी, हाथीदाँत आदि का भी अपने उपकरणों के लिए प्रयोग करने लगा। शुरू में वह पत्थर फेंककर शिकार करता था, बाद में उसने धनुष-बाण बनाए। धनुष के लिए उसने सींग और लकड़ी का प्रयोग किया, और बाण के आगे हड्डी, पत्थर व सींग के फलकों को बाँधना शुरू किया।

अति प्राचीन प्रस्तर-युग का मनुष्य वृक्षों की शाखाओं पर या गुफाओं में निवास करता था। पर धीरे-धीरे उसने अपने रहने के लिये तम्बुओं या आश्रय-स्थानों का निर्माण शुरू किया। इनके लिये वह पशुओं की खाल का प्रयोग करता था। खालों को जोड़ने के लिये चमड़े को काटकर तांगा बनाने की कला भी उसे ज्ञात थी। सीने के लिये वह सुइयों का निर्माण करता था, जो प्रायः हड्डी व हाथीदाँत की बनी होती थीं। चमड़े के तागे से खालों को सीकर वह अपने निवास के लिये तम्बू बना लेता था। उसके वस्त्र भी चमड़े के होते थे। प्रारम्भिक मनुष्य प्रायः नंगा ही रहता था। पर सरदी व धूप से बचने के लिए चमड़े के वस्त्र उपयुक्त हो सकते हैं, यह बात उसने पुरातन प्रस्तर-काल में ही जान ली थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि पुरातन प्रस्तर-काल का मनुष्य आत्म-निर्भर था, वह अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओं को स्वयं ही प्राप्त किया करता था। पर इस प्राचीन युग में भी वस्तुओं के विनिमय और व्यापार का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं है। पश्चिम-मध्य फ्रांस में अनेक स्थानों पर इस युग के अन्य अवशेषों के साथ-साथ वे शंख और कौड़ियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो समुद्रतट पर ही प्राप्त हो सकती थीं। फ्रांस के मध्य में निवास करने वाले पुरातन प्रस्तर-युग के इन आदि-मानवों ने इन्हें व्यापार द्वारा ही प्राप्त किया होगा। इसी प्रकार यूरोप के अन्य प्राचीन अवशेषों में भी ऐसी अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो उन स्थानों पर नहीं होतीं, और जिन्हें कहीं बाहर से ही प्राप्त किया गया होगा। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस प्राचीन काल के शिकारी मनुष्य भी कतिपय अद्भुत व आकर्षक वस्तुओं को विनिमय द्वारा प्राप्त करते थे, और इन विविध वस्तुओं का व्यापार इस प्राचीन काल में भी विद्यमान था।

संगठन—पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य टोलियाँ बनाकर रहते थे। यह असम्भव नहीं, कि इन टोलियों में एक प्रकार का संगठन भी विद्यमान हो, टोली के सब सदस्य अपने किसी मुखिया का शासन मानते हों, और यह मुखिया टोली का सबसे वृद्ध, अनुभवी या शक्तिशाली व्यक्ति हो। इस मुखिया के नेतृत्व में पुरातन प्रस्तर-युग की टोलियाँ आहार की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करती रहती थीं। वे कहीं स्थिर रूप से बसकर नहीं रहती थीं। जहां कहीं भी शिकार, कन्द-मूल-फल आदि की सुविधा हो,

वे वहीं चली जाती थीं। उस युग में जनसंख्या बहुत कम होती थी। शिकार पर आश्रित रहनेवाले प्राणी तभी अपना निर्वाह कर सकते हैं, जबकि वे संख्या में अधिक न हों। जनसंख्या की इतनी कमी का ही यह परिणाम है, कि पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्यों के शरीरों के अवशेष बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

कला—इस युग के मनुष्य कला से सर्वथा अपरिचित हों, यह बात नहीं है। दुर्भाग्यवश, भारत में अभी तक कोई ऐसी गुफाएँ उपलब्ध नहीं हुई हैं, जहाँ पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य द्वारा चित्रित चित्र विद्यमान हों। मध्य भारत में सिंगनपुर में कतिपय ऐसी गुफाएँ मिली थीं, जिनकी दीवारों पर अनेक प्रकार के चित्र चित्रित हैं। पहले विद्वानों का यह मत था, कि ये गुफाएँ पुरातन प्रस्तर-युग की हैं। पर कुछ वर्ष हुए, जब गोर्डन ने यह प्रतिपादित किया, कि ये गुफाएँ बाद के समय की हैं, और इन्हें पुरातन प्रस्तर-युग का नहीं माना जा सकता। पर यूरोप में अनेक ऐसी गुफाएँ मिली हैं, जो निश्चय ही पुरातन प्रस्तर-युग की हैं, और जिनमें आदि-मानव-सभ्यता के मनुष्य ने अपने मनोभावों को विविध प्रकार के चित्रों द्वारा अभिव्यक्त किया है। ये चित्र प्रायः कोयले व रंगीन मिट्टी द्वारा बनाये गये हैं, और इनमें उन पशुओं को चित्रित किया गया है, जिनका शिकार कर आदि-मानव अपनी भूख को शान्त करता था।

धर्म—पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य परलोक और धर्म के संबंध में भी कुछ विचार रखता था। उसका विचार था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता। मृत्यु के बाद भी उसे उन वस्तुओं की आवश्यकता रहती है, जिनका वह जीवन-काल में उपयोग करता था। इसीलिये जब वे मृत शरीर को गाड़ते थे, तो वे विविध औजारों, मांस व अन्य भोजन आदि को भी साथ में रख देते थे; ताकि मृत व्यक्ति आवश्यकतानुसार उनका उपयोग कर सके। यूरोप में अनेक ऐसी गुफाएँ मिली हैं, जिनमें मनुष्य के शरीर के अस्थि-पंजर के साथ-साथ अनेक औजार, आभूषण व आहार के लिये प्रयुक्त होनेवाले मांस की हड्डियाँ भी प्राप्त हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि इस युग के मनुष्य मृत शरीर को गाड़ा करते थे, और परलोक-सम्बन्धी जीवन के विषय में भी उनके अपने विचार थे।

ऐसा प्रतीत होता है, कि पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य जादू-टोने में भी विश्वास रखता था। उसे सदा इस बात की चिन्ता रहती थी, कि उसकी आहार-सामग्री में न्यूनता न आने पाये, शिकार के पशुओं में निरन्तर वृद्धि होती रहे, और जंगल में उत्पन्न होनेवाले कन्द-मूल-फल आदि में भी कमी न हो। वह समझता था, कि जादू-टोने और मन्त्र के उपयोग से वह इस सब आहार-सामग्री को प्रचुर मात्रा में प्राप्त करता रह सकता है। फ्रांस में अनेक प्राचीन अवशेषों के साथ पत्थर की स्त्री-मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं; जो आकार में भद्दे प्रकार की हैं। इन मूर्तियों में स्त्री की प्रजननेन्द्रिय को बहुत महत्त्व दिया गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है, कि शिकार के पशु व कन्द-मूल-फल आदि की वृद्धि के लिए जो अनेक प्रकार के अनुष्ठान पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य किया करते थे, उनके लिये इन स्त्री-मूर्तियों का उपयोग किया जाता था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक अनुष्ठानों के चिह्न फ्रांस के प्राचीन अवशेषों में मिले हैं। प्रस्तर-युग की अनेक गुफाओं में पत्थर के बने हुए दीपक पाये गये हैं, जिनमें तेल की जगह चरबी प्रयोग में लायी

जाती थी। ये दीपक गुफा की दीवार के साथ बहुत ऊँचाई पर रखे गये हैं, और उनके ऊपर हिरन, बारहसिंगा आदि उन पशुओं के चित्र अंकित किये गये हैं, जिनका शिकार कर प्राचीन मनुष्य अपना पेट भरता था। यह अनुमान किया गया है, कि हिरन आदि पशुओं की वृद्धि के उद्देश्य से उनके चित्रों के नीचे दीपक जलाया जाता था, और साथ ही अनेकविध अनुष्ठान करके यह प्रयत्न किया जाता था, कि शिकार के पशुओं में निरन्तर वृद्धि होती रहे।

शिकार का मौसम शुरू होने पर जब पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य टोली बनाकर आखेट के लिये निकलते थे, तो जो प्राणी पहले-पहल उनके हाथ लगता था, उसे वे खाते नहीं थे, अपितु उसे एक भारी पत्थर के नीचे दबा देते थे। इस प्रकार दबाये गये बहुत-से पशुओं के अस्थि-पंजर व उनके खंड इस समय यूरोप में उपलब्ध हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि ये पशु बलि के रूप में अर्पित किये जाते थे, और इनका उपयोग किन्हीं अदृश्य आत्माओं व देवताओं को तृप्त करने के लिये किया जाता था। मनुष्य की अपेक्षा ऊँची कोई सत्ता संसार में विद्यमान है, यह विचार इस अति प्राचीन युग में भी विकसित हो गया था, और मनुष्य प्रकृति की अदृश्य व अज्ञात शक्तियों में दैवी भावना की कल्पना कर उन्हें तृप्त करने के लिये अनेकविध अनुष्ठान करने लगा था। जिसे हम आजकल 'धर्म' कहते हैं, उसका प्राचीनतम रूप यही था।

संगीत—पुरातन प्रस्तर-युग की चित्रकला का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस युग का मनुष्य न केवल गुफाओं की दीवारों पर कोयले व रंगीन मिट्टी से चित्र बनाता था, अपितु हड्डी व हाथीदाँत के औजारों पर अनेक प्रकार की आकृतियों को उत्कीर्ण भी करता था। यूरोप के प्राचीन अवशेषों में कुछ ऐसे औजार भी मिले हैं, जिनपर विविध पशुओं की आकृतियाँ अंकित हैं। इस युग का मनुष्य संगीत से भी अपरिचित नहीं था। उसके बनाये हुए कतिपय वाद्य-यंत्र (सीटी आदि) भी मिले हैं, जो प्रायः हड्डी के बने हुए हैं। इन वाद्य-यंत्रों की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि प्राचीन मानव संगीत का प्रेमी था, और विविध प्रकार के उपकरणों द्वारा वाद्य-कला का प्रदर्शन करता था। पुरातन प्रस्तर-युग का मनुष्य आभूषणों से भी प्रेम रखता था। कौड़ी, शंख, पशुओं के दाँत आदि को वह आभूषणों के रूप में प्रयुक्त करता था। इन पदार्थों से वह अपने आभूषण तैयार करता था। उसके इस काल के अनेक आभूषण कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं।

पुरातन प्रस्तर-युग के जीवन का जो चित्र ऊपर दिया गया है, उसका आधार वे अवशेष हैं, जो यूरोप, पश्चिमी एशिया आदि में बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। भारत में पत्थर के बने औजारों के अतिरिक्त कोई ऐसी गुफाएँ इस युग की नहीं मिली हैं, जिनमें इस युग के मनुष्यों के अस्थि-पंजर आदि विद्यमान हों। फिर भी अन्य देशों के पुरातन प्रस्तर-युग के जीवन को दृष्टि में रखकर यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि भारत के आदि-मानव भी कुछ इसी ढंग का जीवन व्यतीत करते होंगे, जिसका स्वरूप इस प्रकरण में वर्णित किया गया है।

(४) मध्य और नूतन प्रस्तर-युग

पुरातन प्रस्तर-युग में भी मनुष्य सभ्यता के क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ रहा था।

धीरे-धीरे वह समय आ गया, जबकि वह न केवल पशुओं का शिकार करता था, अपितु उन्हें पालता भी था। उसे यह अधिक उपयोगी प्रतीत होता था, कि वह घोड़ा, हिरन, भेड़ आदि पशुओं को अपने पास पालकर रखे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर जहाँ उसे उनका मांस भोजन के लिए उपलब्ध हो, वहाँ साथ ही वह उनके दूध, ऊन आदि का भी उपयोग कर सके। पहले वह जंगल में प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होनेवाले कन्द-मूल-फल, अन्न आदि को एकत्र मात्र करता था। अब उसने उन्हें उत्पन्न करना भी शुरू किया। शिकारी के स्थान पर अब वह पशुपालक और कृषक बनने लगा। उसके औजार भी निरन्तर अधिक-अधिक उन्नत व परिष्कृत होते गये। पत्थर के कुल्हाड़े से वह पहले भी लकड़ी काटता था। पर अब उसने इस लकड़ी का प्रयोग मकान बनाने के लिये भी करना शुरू किया। खेती के लिए यह आवश्यक था, कि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर होकर रहे। स्थिरता के साथ बसने के लिए यह उपयोगी था, कि मनुष्य अधिक पक्के किस्म के मकान बनाये। इसीलिए उसने बाकायदा घर बनाने शुरू किये, और जगह-जगह पर उसकी बस्तियों (डेरों व ग्रामों) का विकास होने लगा। पहले मनुष्य केवल पशुओं की खाल ओढ़कर सरदी व गरमी से अपना बचाव करता था। अब उसने ऊन व रेशम के कपड़े भी बनाने शुरू किये। यद्यपि अभी तक भी मनुष्य के औजार केवल पत्थर, हड्डी व लकड़ी के होते थे, धातु का प्रयोग अभी वह नहीं जानता था, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन औजारों की सहायता से ही वह सभ्यता के क्षेत्र में तेजी के साथ आगे बढ़ रहा था। इस नये युग के मनुष्य को हम 'नूतन प्रस्तर-युग' का कह सकते हैं। यह युग अब से दस या पन्द्रह हजार साल पहले शुरू हो चुका था। पर पुरातन और नूतन प्रस्तर-युगों के बीच में एक ऐसा भी काल था, जबकि मनुष्य पूरी तरह से कृषक व पशु-पालक न होकर एक ऐसा जीवन व्यतीत करता था, जिसमें कि वह शिकार के साथ-साथ कुछ कुछ खेती भी प्रारम्भ कर चुका था। इस युग को मध्य प्रस्तर-युग कहा जाता है। यूरोप और पश्चिमी एशिया में इस युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। खेद की बात है कि भारत में पुरातत्त्व-संबंधी खोज अभी इस दशा में नहीं पहुँची है कि मध्य व नूतन प्रस्तर-युगों के पर्याप्त अवशेष ढूंढे जा सके हों।

भारत में मध्य प्रस्तर-युग के अवशेष—मध्य प्रस्तर-युग के औजारों की यह विशेषता है, कि वे पुरातन युग के औजारों की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व उन्नत होते हैं। इस युग में मनुष्य उन्नति करता हुआ इस दशा तक पहुंच जाता है, कि वह अपने औजारों को सुडौल बना सके व उसके उपकरण ज्यामिति की दृष्टि से पूर्ण व निर्दोष हों। यही कारण है, कि इस युग के अनेक औजार अर्धचन्द्राकार, त्रिभुजाकर व अन्य प्रकार से ज्यामिति के सिद्धान्तों के अनुरूप होते हैं। साथ ही, इस युग में मनुष्य मिट्टी के बरतनों का निर्माण शुरू कर चुकता है, यद्यपि ये बरतन हाथ से बने होने के कारण बहुत सुन्दर व सुडौल नहीं होते। प्राचीन काल के अवशेषों में जब पत्थर के परिष्कृत औजार मिट्टी के हाथ से बने बरतनों के टुकड़ों के साथ मिलने लगते हैं, तो हम उन्हें मध्य प्रस्तर-काल का समझ सकते हैं।

भारत में इस काल के अवशेष अनेक स्थानों में मिले हैं, जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) माइसूर रियासत के चित्तलद्रुग जिले में ब्रह्मगिरि नामक स्थान पर मध्य प्रस्तर-युग के बहुत-से अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें 'रोप्पा सभ्यता' कहा जाता है।

(२) हैदराबाद रियासत में मास्की नामक स्थान पर भी इस युग के अवशेष मिले हैं।

(३) नर्मदा नदी की घाटी में प्राचीन काल के अवशेषों की विविध सतहों की जो खुदाई हुई है, उसमें जहाँ नीचे की सतहों में पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं, वहाँ ऊपर की सतह में मध्य प्रस्तर-युग के औजार व मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्राप्त हुए हैं।

(४) दक्खन में करनूल के क्षेत्र में इस युग के औजार मिले हैं, जिनसे मिलते-जुलते औजार विन्ध्याचल की पर्वतशृंखला में और उत्तर-प्रदेश के बाँदा जिले से भी उपलब्ध हुए हैं।

(५) गोदावरी नदी की घाटी में अनेक स्थानों पर मध्य प्रस्तर-युग के औजार व मिट्टी के बरतनों के टुकड़े प्राप्त हुए हैं। किसी-किसी स्थान पर तो विशाल आकार के वे बरतन भी मिले हैं, जिनमें मृत शरीर को गाड़ा जाया करता था, और शव के साथ में मृत-मनुष्य के उपयोग की वस्तुओं को भी रख दिया जाता था। प्रचीन काल के मानव-जीवन पर इस प्रकार की समाधियों से बहुत उत्तम प्रकाश पड़ता है।

(६) गुजरात में साबरमती नदी की घाटी में और बम्बई के समीप खंडिव्ली नामक स्थान पर पुरातन प्रस्तर-युग के अवशेषों के अतिरिक्त उपरली सतहों पर इस युग के अवशेष भी मिले हैं।

(७) काश्मीर में उपलब्ध प्राचीन अवशेषों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। साथ ही, यह भी निर्देश किया जा चुका है कि काश्मीर घाटी के विविध अवशेष पुरातन प्रस्तर-युग की अपेक्षा मध्य व नूतन प्रस्तर-युग के समझे जाने चाहिएँ, क्योंकि वहाँ के औजार जहाँ अधिक परिष्कृत हैं, वहाँ साथ ही मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी प्रचुर संख्या में वहाँ मिलते हैं।

(८) सिन्ध में सक्खर और रोहड़ी के क्षेत्र में पत्थर के बहुत-से औजार मिले हैं, जो मध्य प्रस्तर-युग के हैं। इन औजारों की मोहनजोदड़ो में प्राप्त प्राचीनतम औजारों से बहुत अधिक समता है। संभवतः, मोहनजोदड़ो की समुन्नत सभ्यता का विकास उन्हीं लोगों द्वारा हुआ था, जिनके अधिक पुराने औजार सक्खर और रोहड़ी के क्षेत्र में पाये गये हैं।

(९) काश्मीर रियासत में श्रीनगर के दक्षिण-पूर्व में स्थित पाम्पुर से चार मील की दूरी पर साम्बुर नामक स्थान पर पत्थर के अनेक औजार मिले हैं, जिन्हें इस युग का माना जाता है।

(१०) रावलपिण्डी के दक्षिण में चिट्टा नामक स्थान पर इस युग के न केवल औजार मिले हैं, अपितु साथ ही उन मनुष्यों के अनेक अस्थि-पंजर और उनके खंड भी प्राप्त हुए हैं, जो इन औजारों को प्रयुक्त करते थे। इन अस्थि-पंजरों की खोपड़ियों के अवलोकन से ज्ञात होता है, कि इन मनुष्यों के सिर आकार में लम्बे होते थे। औजारों और अस्थि-पंजरों के साथ-साथ मिट्टी के बरतनों के अवशेष भी मिले है, जिनके कारण

इन सबको मध्य प्रस्तर-युग का माना जाता है।

भारत में नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष—नूतन प्रस्तर-युग में मनुष्य शिकारी के स्थान पर कृषक और पशुपालक बनकर किसी निश्चित स्थान पर बस जाता है, और धीरे-धीरे ग्रामों और नगरों का विकास प्रारम्भ करता है। वह मकानों में रहने लगता है, और वस्त्र-आभूषणों से सुसज्जित होकर अपना जीवन व्यतीत करता है। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशों में इस युग के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष मिले हैं, जिनसे इस काल के मनुष्य की सभ्यता के संबंध में विशद रूप से प्रकाश पड़ता है। पर भारत में अभी नूतन प्रस्तर-युग के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे बहुत महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी उन अवशेषों का निर्देश करना आवश्यक है, जिन्हें इस युग का माना जाता है:—

(१) माइसूर रियासत के चित्तलद्रुग जिले में चन्द्रवल्ली और ब्रह्मगिरि नामक स्थानों पर खुदाई द्वारा नूतन प्रस्तर-युग के अनेक अवशेष मिले हैं। इनमें चन्द्र-वल्ली की खुदाई विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उसमें सबसे उपरली सतह पर सात-वाहन-काल के अवशेष पाये गये है, उसके नीचे मौर्य-काल के और उसके भी नीचे लौहकाल के अवशेष मिले हैं। ये लौहकाल के अवशेष किस समय के हैं, यह अभी निश्चित नहीं किया जा सका है। लौहकाल के अवशेषों के नीचे, जमीन से कोई बारह फीट नीचे नूतन प्रस्तर-युग के औजार व मिट्टी के बरतन पाये गये हैं। मिट्टी के बरतन रंग में लाल व काले हैं, और मध्य प्रस्तर-युग के हाथ से बनाये गये बरतनों की अपेक्षा बहुत अधिक परिष्कृत व सुडौल हैं।

(२) दक्षिणी भारत में बेल्लारी नामक स्थान पर नूतन प्रस्तर-युग के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। बेल्लारी के प्राचीनतम अवशेष सक्खर और रोहड़ी (सिन्ध) में प्राप्त मध्य प्रस्तर-युग के अवशेषों से समता रखते हैं। पर वहाँ के बाद के अवशेष विशुद्ध रूप से नूतन प्रस्तर-युग के हैं। बेल्लारी के ये अवशेष इस समय मद्रास म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

(३) काश्मीर में गान्धरबल के समीप नूनर नामक स्थान पर खुदाई करने से नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष मिले हैं। काश्मीर के बुर्जहोम नामक स्थान का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। यह भी गान्धरबल के समीप ही है। इसकी खुदाई में ऊपर की सतहों में मिट्टी के जो बरतन व पत्थर के औजार मिले हैं, वे बहुत परिष्कृत व उन्नत हैं। इसी कारण उन्हें नूतन प्रस्तर-युग का माना जाता है।

(४) उत्तरप्रदेश के मिरजापुर जिले में जहाँ इस युग के अनेक औजार मिले हैं, वहाँ साथ ही बहुत-से अस्थिपंजर भी प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ऐसे कलश (मिट्टी के बने हुए) भी इस क्षेत्र से मिले हैं, जिनमें मृत शरीरों के भस्म रखे गये थे। मिरजापुर के समीप ही विन्ध्याचल की पर्वतशृंखला में कुछ ऐसी गुफाएँ भी मिली हैं, जिनमें इस युग के मनुष्यों के बनाये हुए चित्र अंकित हैं।

धातुओं के उपयोग का प्रारम्भ होने से पूर्व भारत में एक ऐसा युग था, जब इस देश के बड़े भाग में नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता विस्तृत थी। यद्यपि इस युग के अवशेष भारत में उतनी प्रचुरता से उपलब्ध नहीं हुए हैं, जितने कि पश्चिमी एशिया के विविध क्षेत्रों में मिले हैं, तथापि इस सभ्यता की सत्ता में कोई सन्देह नहीं है। अब से

कोई दस हजार साल पहले यह सभ्यता भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, और बाद में धातुओं का उपयोग शुरू होने पर यही सभ्यता धातु-युग में परिवर्तित हो गई। सिन्ध नदी की घाटी में मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में किसी प्राचीन समुन्नत सभ्यता के जो अवशेष मिले हैं, वे इसी नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता का विकसित रूप हैं, यद्यपि उस काल में कांसे और ताम्बे का प्रयोग भली-भाँति शुरू हो गया था।

(५) नूतन प्रस्तर-युग का जीवन

पुरातन प्रस्तर-युग में, जबकि मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से निवास नहीं करता था, सभ्यता के क्षेत्र में अधिक उन्नति हो सकना संभव नहीं था। पर जब मनुष्य ने बस्तियाँ बसाकर एक स्थान पर रहना शुरू किया, और शिकार के बजाय कृषि और पशु पालन द्वारा जीवन-निर्वाह करना प्रारम्भ किया, तो सभ्यता के मार्ग पर वह बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ने लगा। यही कारण है, कि नूतन प्रस्तर-युग का मानव-इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है।

आर्थिक जीवन—कृषि और पशुपालन का आश्रय लेकर मनुष्य ने पहले-पहल किस प्रदेश में अपनी स्थिर बस्तियाँ बसानी शुरू कीं, इस विषय पर सब विद्वान् एकमत नहीं हैं। पर बहुसंख्यक विद्वानों का यह विचार है, कि नूतन प्रस्तर-युग का प्रारम्भ पश्चिमी एशिया में हुआ। एशिया माइनर, ट्रांस-काकेशिया, ईरान, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ जौं प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होता है। ईराक और पश्चिमी ईरान में वह अनाज भी प्राकृतिक रूप से उत्पन्न होता था, जो आगे चलकर गेहूँ के रूप में विकसित हुआ। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में विचरण करने वाले पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य इस बात के लिये प्रवृत्त हों, कि इन अनाजों को एकत्र कर उन्हें भोजन के लिये प्रयुक्त करें। क्योंकि इन प्रदेशों में ये अन्न प्राकृतिक रूप में उत्पन्न होते थे, अतः यहीं पर उनकी खेती करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में उत्पन्न हुई। शुरू में मनुष्य किसी एक स्थान पर स्थिर रूप से खेती नहीं करता था। जिन खेतों में वह इस साल खेती करता, उन्हें अगले साल परता छोड़ देता था। उस युग में जनसंख्या कम थी, और जमीन बहुत अधिक थी। वह जब चाहे अपने पालतू पशुओं को भोजन के लिये भी प्रयुक्त कर सकता था। साथ ही, वह इन पशुओं के दूध, खाल व ऊन को भी अनेक प्रकार के कार्यों के लिये उपयोग में ला सकता था।

मनुष्य ने पुरातन प्रस्तर-युग से आगे बढ़कर किस प्रकार नूतन प्रस्तर-युग में प्रवेश किया, इसका उत्तम उदाहरण पैलेस्टाइन में उपलब्ध हुआ है। पैलेस्टाइन में वादी-एल-नतफ नाम का एक स्थान है, जहाँ पर किसी प्राचीन सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। इस सभ्यता के लोग गुफाओं में निवास करते थे, और शिकार द्वारा अपना आहार प्राप्त करते थे। वादी-एल-नतफ की इन प्राचीन गुफाओं में जहाँ शिकार के लिये प्रयुक्त होने वाले पत्थर और हड्डी के औजार मिले हैं, वहाँ साथ ही ऐसी दरांतियाँ भी मिली हैं, जो अनाज काटने के लिये प्रयुक्त होती थीं। खेती के लिये काम आ सकने वाले अन्य भी अनेक प्रकार के उपकरण यहाँ मिले हैं, जो पत्थर व हड्डी के ही बने हुए हैं। अनाज

को कूटकर आटा बनाने के उपकरण भी यहाँ उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन युग के इन अवशेषों से यह भली-भाँति अनुमान किया जा सकता है, कि वादी-एल-नतफ की गुफाओं में निवास करने वाले लोग शिकार के साथ-साथ कृषि में भी प्रवृत्त हो रहे थे, और धीरे-धीरे उस सभ्यता की ओर अग्रसर हो रहे थे, जिसे हम नूतन प्रस्तर-युग की सभ्यता कहते हैं। वादी-एल-नतफ के इन अवशेषों को कम-से-कम ५००० ई० पू० का माना जाता है।

ईराक, पैलेस्टाइन, मिस्र, ईरान आदि पश्चिमी एशिया के देशों में नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं। फ्रांस, स्विट्ज़रलैण्ड आदि यूरोपियन देशों में भी इस युग के अवशेष इस दशा में उपलब्ध हुए हैं, कि उनसे इस काल के मनुष्य का जीवन भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। भारत के मुकाबले में इन देशों के नूतन प्रस्तर-युग के अवशेष बहुत अधिक पूर्ण दशा में हैं। यहाँ यह संभव नहीं है, कि हम इनका अधिक विस्तार से उल्लेख करें। पर इनके अध्ययन से इस युग की सभ्यता का जो स्वरूप हमारे सम्मुख आता है, उसका संक्षेप से निदर्शन करना उपयोगी होगा, क्योंकि भारत का नूतन प्रस्तर-युग भी पश्चिमी संसार के इस युग के सदृश ही था।

नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्य की आजीविका के मुख्य साधन कृषि और पशु-पालन थे। खेती के लिए वह पत्थर के औजारों का प्रयोग करता था। उसके हल, दरांती, कुल्हाड़े, हथौड़े आदि सब उपकरण पत्थर के बने होते थे। शुरू में वह स्वयं अपने हाथ से जमीन खोदता था, पर समयान्तर में उसने यह जान लिया था, कि बैलों व घोड़ों का प्रयोग हल चलाने के लिये किया जा सकता है। नूतन प्रस्तर-युग के अन्तिम दिनों तक मनुष्य न केवल हल के लिये बैलों व घोड़ों का प्रयोग करने लगा था, अपितु गाड़ी चलाने के लिये भी इन पशुओं का उपयोग जान गया था। उसकी गाड़ियाँ लकड़ी की बनी होती थीं। पत्थर के बने औजारों से वह लकड़ी काटता था, और उन्हीं की सहायता से हल, गाड़ी आदि का निर्माण करता था। अब उसके निवास-स्थान गुफाएँ व खाल के बने तम्बू न होकर लकड़ी, पत्थर व मिट्टी के बने मकान हो गये थे। जिन प्रदेशों में लकड़ी, फूंस आदि की सुविधा थी, वहाँ वह लकड़ी के मकान बनाता था। अन्य स्थानों पर कच्ची मिट्टी या पत्थर मकान बनाने के काम में लाये जाते थे। उसके गाँव छोटे-छोटे होते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया में नूतन प्रस्तर-युग के गाँवों के जो अवशेष मिले हैं, उनका रकबा १।। एकड़ से ५।। एकड़ तक हैं। इन अवशेषों के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि एक गाँव में प्रायः २५ से लगाकर ३५ तक मकान रहते थे। इन मकानों में अनाज को जमा करने के लिये बड़े-बड़े गोदाम भी बनाये जाते थे। अनाज के ये गोदाम कच्ची मिट्टी के बने होते थे। भारत के वर्तमान गाँवों में भी इस प्रकार के गोदाम विशेष महत्त्व रखते हैं, और प्रत्येक किसान के घर में उनकी सत्ता अनिवार्य होती है। पुरातन प्रस्तर-युग के गाँवों में सामूहिक जीवन की भी सत्ता थी। पश्चिमी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप में उपलब्ध हुए इस युग के गाँवों के अवशेषों से सूचित होता है, कि बहुत-से गाँवों के चारों ओर खाई और मिट्टी की मोटी दीवार भी बनायी गई थी। इस किलाबंदी का प्रयोजन संभवतः शत्रुओं से अपनी रक्षा करना होता था। ये खाइयाँ, दीवारें और गाँव के बीच की सड़कें व गलियाँ किसी एक व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सारे गाँव की सम्मिलित सम्पत्ति होती थीं, और

उनका निर्माण भी ग्राम-निवासियों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा ही होता था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि गाँव के लोगों में एक प्रकार का संगठन भी विद्यमान हो। पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य शिकार के लिये टोलियाँ बनाकर विचरण करते थे। वे टोलियाँ ही इस नूतन युग में ग्राम के रूप में बस गयी थीं। इन टोलियों का संगठन इस युग में और भी अधिक विकसित हो गया था। शिकारी टोली का मुखिया अब ग्राम का नेता या 'ग्रामणी' बन गया था। यह ग्रामणी सम्पूर्ण ग्रामवासियों पर एक प्रकार का शासन रखता था, यह सहज में कल्पित किया जा सकता है।

बरतन—मिट्टी के बरतन बनाने की कला मध्य प्रस्तर-युग में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। नूतन प्रस्तर-युग में उसने बहुत उन्नति की। पहले बरतन हाथ से बनाये जाते थे, अब कुम्हार के चाक का अविष्कार हुआ, और चाक (चक्र) का उपयोग कर सुन्दर व सुडौल बरतन बनने लगे। इन बरतनों पर अनेक प्रकार की चित्रकारी भी शुरू की गयी, और बरतनों को सुन्दर रंगों द्वारा सुशोभित करने की कला का भी विकास हुआ। ये बरतन आग में पकाये जाते थे, और इनके बहुत-से अवशेष नूतन प्रस्तर-युग के खंडहरों में उपलब्ध हुए हैं। सभ्यता के विकास के साथ-साथ नूतन प्रस्तर-युग के मनुष्यों में श्रम-विभाग का भी प्रारम्भ हुआ। अति प्राचीन युग में श्रम-विभाग का प्राय: अभाव था, उस समय यदि कोई श्रम-विभाग था, तो वह पुरुषों और स्त्रियों में था। पुरुष प्राय: शिकार करते थे, और स्त्रियाँ जंगली अनाज को एकत्र कर उसका उपयोग करती थीं। पर अब नूतन प्रस्तर-युग में बढ़ई, कुम्हार आदि के रूप में ऐसे शिल्पियों की पृथक् श्रेणी विकसित होनी शुरू हुई, जो खेती न करके शिल्प द्वारा ही अपनी आजीविका कमाते थे।

व्यापार—नूतन प्रस्तर-युग में व्यापार की भी उन्नति हुई। एक ग्राम में रहने वाले लोग परस्पर अपनी वस्तुओं का विनिमय करते थे। बढ़ई या कुम्हार अपने शिल्प द्वारा तैयार की गयी वस्तु के बदले में किसान से अनाज प्राप्त करता था। उस युग में वस्तुओं के विनिमय के लिये मुद्रा (सिक्के) की आवश्यकता नहीं थी। मुद्रा के अभाव में भी लोग अपनी वस्तुओं का विनिमय करने में समर्थ होते थे। व्यापार का क्षेत्र केवल ग्राम ही नहीं था, सुदूरवर्ती ग्राम आपस में भी व्यापार किया करते थे। यूरोप और पश्चिमी एशिया के भग्नावशेषों में अनेक ऐसी वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं, जो उस प्रदेश में उत्पन्न ही नहीं हो सकती थीं, और जिन्हें अवश्य ही किसी सुदूरवर्ती प्रदेश से व्यापार द्वारा प्राप्त किया गया था। यह विदेशी व 'अन्तर्राष्ट्रीय' व्यापार केवल विशिष्ट वस्तुओं के लिये ही होता था। वैसे प्रत्येक गाँव अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न करता था। उस युग में मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत कम थीं, और उन्हें अपने प्रदेश से ही पूरा कर सकना सर्वथा संभव था।

मृतक-संस्कार—नूतन-प्रस्तर-युग के मनुष्य प्रायः अपने मृत शरीरों को जमीन में गाड़ा करते थे। शवों को गाड़ने के लिये जहाँ बाकायदा कबरिस्तान थे, वहाँ कहीं-कहीं यह भी प्रथा थी, कि उन्हें अपने मकान में या उसके समीप ही गाड़ दिया जाए। भूमध्य-सागर के समीपवर्ती नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामों के अवशेषों से यह सूचित होता है, कि उनमें मकान के नीचे गढ़ा खोद कर छोटे पैमाने पर उस मकान का नमूना

तैयार किया जाता था, जहाँ कि जीवित दशा में मृत मनुष्य निवास करता था। मरने के बाद मनुष्य को इस (जमीन के नीचे बने हुए) मकान में गाड़ दिया जाता था, और वहाँ उसके उपयोग की वस्तुओं को भी रख दिया जाता था। इस युग की अनेक बस्तियों में शव को जलाने की भी प्रथा थी, और राख को मिट्टी के बने हुए कलशों में रखकर आदर के साथ जमीन में गाड़ दिया जाता था।

धर्म—मिस्र, सीरिया, ईरान, दक्षिण-पूर्वी यूरोप आदि में इस युग की बस्तियों के जो भग्नावशेष मिले हैं, उनमें मिट्टी या पत्थर की बनी हुई बहुत-सी स्त्री-मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। नृतत्त्वशास्त्र के विद्वानों का विचार है, कि ये मूर्तियाँ पूजा के काम में आती थीं। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य 'मातृ-देवता' का उपासक था। प्रकृति में जो निरन्तर उत्पत्ति होती रहती है, जीव-जन्तु, वृक्ष, वनस्पति, अन्न आदि सबमें निरन्तर वृद्धि व उत्पत्ति जारी रहती है, इसका कारण वह रहस्यमयी शक्ति है, जो सब चराचर के लिये मातृ-स्थानीय है। प्रजनन एक ऐसी प्रक्रिया है, जो इस युग के मनुष्य को बहुत रहस्यमयी प्रतीत होती थी। वह सोचता था, यह मातृशक्ति की देन है। इसीलिये वह स्त्री-रूप में इस मातृशक्ति या मातृ-देवता की मूर्ति बनाता था, और उन मूर्तियों में स्त्री की जननेन्द्रियों को प्रमुख रूप से प्रदर्शित करता था। पुरुष की जननेन्द्रिय को वह लिंग-रूप में बनाता था। इस प्रकार के बहुत-से लिंग इङ्गलैण्ड, अनेतोलिया व बालकन प्रायद्वीप के प्राचीन भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य शायद यह समझता था, कि मातृ-देवता और लिंग की पूजा से अन्न और पशुओं की वृद्धि की जा सकती है। अनेक विद्वानों का मत है, कि देवता को तृप्त करने के लिये बलि या कुर्बानी की प्रथा भी इस युग में शुरू हो चुकी थी। प्रकृति में हम देखते हैं, कि बीज को जमीन में गाड़ा जाता है। बीज नष्ट होकर पौदे को जन्म देता है। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य यह समझता था, कि खेती की पैदावार का मूल कारण बीज की 'बलि' है। अतः यदि धरती माता को तृप्त करने के लिये पशु या मनुष्य की बलि दी जाय, तो इससे पैदावार, समृद्धि और सम्पत्ति की वृद्धि होगी।

जादू-टोने और मन्त्र-प्रयोग का प्रारम्भ पुरातन प्रस्तर-युग में ही हो चुका था। नूतन प्रस्तर-युग में उसमें और अधिक वृद्धि हुई। भूमध्यसागर के तटवर्ती प्रदेशों और मिस्र के इस युग के अवशेषों में पत्थर की बनी हुई छोटी-छोटी कुल्हाड़ियाँ मिली हैं, जिनके बीच में छेद हैं। संभवतः, इन कुल्हाड़ियों के बीच में तागा डालकर उन्हें गले में पहना जाता था और यह विश्वास किया जाता था, कि इनके पहनने से मनुष्य में शक्ति का संचार होता है। कुल्हाड़ा शक्ति का प्रतीक था, और उसे रक्षा-कवच के रूप में धारण करना उपयोगी माना जाता था।

वस्त्र-निर्माण—वस्त्र बनाने की कला में भी इस युग में अच्छी उन्नति हुई। ऊन और रेशम के वस्त्र मध्य प्रस्तर-युग में ही शुरू हो चुके थे। अब उनका निर्माण करने के लिये बाकायदा तकुओं और खड्डियों का प्रारम्भ हुआ। तकुए पर सूत कात कर उसे खड्डी पर बुना जाता था, और नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य सरदी-गरमी से बचने के लिये पशु-चर्म के वस्त्रों पर आश्रित न रहकर ऊन और रेशम के सुन्दर वस्त्रों को धारण करता था। वस्त्र के निर्माण के लिये कपास का उपयोग इस युग में प्रारम्भ

हुआ था या नहीं, यह विषय अभी संदिग्ध है।

युद्ध—नूतन प्रस्तर-युग की विविध बस्तियों में प्रायः युद्ध भी होते रहते थे। यही कारण है, कि अनेक ग्रामों के चारों ओर परिखा और दुर्ग का निर्माण किया गया था। शुरू में प्रत्येक मनुष्य आर्थिक उत्पादक होने के साथ-साथ योद्धा भी होता था। वह पत्थर के औजारों को लड़ाई के काम में लाता था, और उनकी सहायता से शत्रु से अपनी रक्षा करता था।

पुरातन प्रस्तर-युग की अपेक्षा इस काल में जनसंख्या बहुत बढ़ गयी थी। इसीलिये पश्चिमी एशिया व यूरोप में इस युग के मनुष्यों के अस्थि-पंजर हजारों की संख्या में उपलब्ध हुए हैं। निःसन्देह, इस युग का मनुष्य पत्थर के औजारों का ही उपयोग करता था, पर सभ्यता के क्षेत्र में वह पुरातन प्रस्तर-युग के मनुष्य की अपेक्षा बहुत अधिक आगे बढ़ गया था। पत्थर के औजारों की सहायता से ही वह बहुत-कुछ उस दशा में आ गया था, जिसे हम 'सभ्यता' कहते हैं।

(६) धातु-युग का प्रारम्भ

नूतन प्रस्तर-युग के बाद धातु-युग का प्रारम्भ हुआ। नूतन प्रस्तर-युग का मनुष्य आग का उपयोग करता था, और मिट्टी के बरतन पकाने तथा भोजन बनाने के लिये वह भट्टियों व चूल्हों का निर्माण करता था। ये भट्टियाँ प्रायः पत्थर की बनी होती थीं। अनेक पत्थरों में धातु का अंश पर्याप्त मात्रा में होता है। आग के ताप से ये धातुमिश्रित पत्थर पिघल जाते थे, और उनसे चमकीली धातु अलग हो जाती थी। धीरे-धीरे मनुष्य ने यह मालूम किया, कि यह धातु औजार बनाने के लिये अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसे न केवल पिघलाया जा सकता है, अपितु ठोक-पीट कर भी अभीष्ट आकार में लाया जा सकता है। संभवतः, सबसे पहले मनुष्य ने सोने का प्रयोग शुरू किया, क्योंकि अनेक स्थलों पर सोना प्राकृतिक रूप में भी पाया जाता है। पर सोना इतनी अधिक मात्रा में नहीं मिलता था, कि उसका उपयोग औजार बनाने के लिए किया जा सके। संभवतः, मनुष्य इस धातु का उपयोग केवल आभूषण बनाने के लिए ही करता था। पर समयान्तर में उसे ताम्बे, ब्रोंज और लोहे का ज्ञान हुआ, और इन धातुओं का प्रयोग उसने औजार बनाने के लिए शुरू किया। उत्तरी भारत में ताम्बे के और दक्षिण भारत में लोहे के औजार बनाये जाने लगे। पश्चिमी भारत के कुछ प्रदेशों (सिन्ध और बिलोचिस्तान) में ताम्बे से पहले ब्रोंज का प्रयोग शुरू हुआ। ब्रोंज एक मिश्रित धातु होती है, जो ताम्बे और टिन के मिश्रण से बनती है। न केवल सिन्ध और बिलोचिस्तान में, अपितु पाश्चात्य संसार के भी अनेक देशों में मनुष्य ने ताम्बे से पहले ब्रोंज का उपयोग शुरू किया था। इसी कारण नूतन प्रस्तर-युग के बाद मानव-सभ्यता का जो युग शुरू हुआ, उसे ब्रोंज-युग कहते हैं। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये, कि धातु का उपयोग शुरू होने से मनुष्य की सभ्यता में कोई आकस्मिक व महान् परिवर्तन नहीं आ गया। जो काम पहले मनुष्य पत्थर के औजारों से करता था, वही अब धातु के औजारों से होने लगा। इसमें सन्देह नहीं, कि धातु के बने औजार पत्थर के औजारों की अपेक्षा अधिक सुडौल व उपयोगी होते थे, और मनुष्य उनकी सहायता से कृषि व

शिल्प को अधिक अच्छी तरह से कर सकता था। पर नूतन प्रस्तर-युग में ही मनुष्य ने उस उन्नत सभ्यता का प्रारम्भ कर दिया था, जो धातु-युग में जारी रही। अन्तर केवल इतना आया, कि कृषि, शिल्प आदि का अनुसरण अब मनुष्य के लिये अधिक सुगम हो गया, और धातु के बने उपकरणों से मनुष्य अपना कार्य अधिक अच्छी तरह से करने लगा।

(७) भारत में ताम्र-युग

सिन्ध और बिलोचिस्तान के जो प्रदेश आजकल रेगिस्तान व उजाड़ हैं, किसी प्राचीन युग में वे एक अच्छी उन्नत सभ्यता के केन्द्र थे। इन प्रदेशों में खोज द्वारा ताम्र-युग की सभ्यता के बहुत-से भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं। नूतन प्रस्तर-युग के ग्रामों और बस्तियों के जिस प्रकार के अवशेष पश्चिमी एशिया व यूरोप में बड़ी संख्या में मिले हैं, उसी ढंग के ताम्र-युग के अवशेष सिन्ध और बिलोचिस्तान के अनेक प्रदेशों में भी उपलब्ध हुए हैं। इस युग के मनुष्य बस्तियों में रहते थे, मकानों का निर्माण करते थे, कृषि और पशु-पालन द्वारा अपना निर्वाह करते थे, मिट्टी के बने हुए सुन्दर व सुडौल बरतनों का उपयोग करते थे, और ताम्र के बने सुन्दर औजारों को कृषि, शिल्प व युद्ध के लिये प्रयुक्त करते थे। बरतनों और औजारों की रचना के भेद को दृष्टि में रखकर इन प्रदेशों में उपलब्ध हुए भग्नावशेषों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया गया है :—

(१) क्वेटा-सभ्यता (बोलान दर्रे में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)

(२) अमरी-नल-सभ्यता (सिन्ध में अमरी नामक स्थान पर और बिलोचिस्तान के नल-घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)

(३) कुल्ली सभ्यता (दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा नामक स्थान में प्राप्त अवशेषों के आधार पर)

(४) झोब-सभ्यता (उत्तरी बिलोचिस्तान की झोब-घाटी में उपलब्ध अवशेषों के आधार पर)।

इन चारों सभ्यताओं पर हम क्रमशः संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

क्वेटा-सभ्यता—भारत की ताम्र-युग की सभ्यताओं में क्वेटा-सभ्यता सबसे अधिक प्राचीन है। बोलान के दर्रे में क्वेटा के समीप पाँच ऐसे खेड़े (गाँव, बस्ती या शहर के खंडहरों के कारण ऊँचे उठे हुए प्रदेश) मिले हैं, जो इस सभ्यता के भग्नावशेषों को सूचित करते हैं। इनमें सबसे बड़े खेड़े का व्यास २०० गज के लगभग है, और यह खेड़ा ४५ फीट से ५० फीट तक ऊँचा है। यह खेड़ा एक प्राचीन बस्ती को सूचित करता है। इस बस्ती के मकान मिट्टी या मिट्टी की ईंटों के बने हुए थे। ये ईंटें आग में पकायी गई थीं। इन खेड़ों में जो बरतन मिले हैं, वे मिट्टी को पकाकर बनाये गये थे, और उनपर अनेक प्रकार से चित्रकारी की गई थी। इस चित्रकारी में पशुओं व अन्य जन्तुओं के चित्रों का सर्वथा अभाव है। गोल व तिर्यक् रेखाओं द्वारा ही इन बरतनों को सुशोभित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ढंग के बरतनों के अवशेष ईरान में भी अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। क्वेटा-सभ्यता के अवशेषों में सामग्री की इतनी कमी है, कि उनके आधार पर इस सभ्यता के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं की जा सकी है।

अमरी-नल-सभ्यता—इस सभ्यता के अवशेष सिन्ध और विलोचिस्तान में बहुत-से स्थानों पर उपलब्ध हैं। इन अवशेषों के कारण जो बहुत-से खेड़े इस क्षेत्र में मिलते हैं, उनका आकार क्वेटा-सभ्यता की अपेक्षा अधिक बड़ा है। उदाहरणार्थ, रकशां नामक प्रदेश का एक खेड़ा लम्बाई में ५३० गज और चौड़ाई में ३६० गज है। बंधनी नामक स्थान पर विद्यमान एक अन्य खेड़ा ४०० गज लम्बा और २३० गज़ चौड़ा है। इससे सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की कतिपय बस्तियाँ आकार में अधिक विशाल थीं, पर वहुसंख्यक बस्तियाँ क्वेटा-सभ्यता की बस्तियों के सदृश ही छोटी-छोटी थीं। इन बस्तियों में से कुछ के चारों ओर परिखा और दीवार के चिह्न भी मिले हैं। ये दीवारें मिट्टी की ईंटों द्वारा बनायी गई थीं, यद्यपि इनके आधार में मजबूती के लिए पत्थरों का भी उपयोग किया गया था। इस सभ्यता की एक बस्ती तो ऐसी भी मिली है, जिसके चारों ओर दो दीवारें थीं, और दोनों दीवारों के बीच में २५० फीट का अन्तर रखा गया था। इन दीवारों के निर्माण के लिए कच्ची मिट्टी की जिन ईंटों का प्रयोग किया गया था, वे लम्बाई में २१ इंच, चौड़ाई में १० इंच और ऊँचाई में ४ इंच हैं। बस्ती के चारों ओर के प्राकार के लिये ही नहीं, अपितु मकानों के निर्माण के लिये भी इसी ढंग की ईंटों का प्रयोग किया गया था।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषों की जो खुदाई हुई है, उससे उन मकानों के संबंध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, जो इस सभ्यता की बस्तियों में विद्यमान थे। मकानों का आकार प्राय: ४० फीट लम्बा व ४० फीट चौड़ा होता था। इस मकान के अन्दर अनेक छोटे-बड़े कमरे होते थे, जिनमें से कुछ १५ × १५ फीट, कुछ १५ × १० फीट और कुछ ८ × ५ फीट होते थे। मकान के बीच में सहन भी रखा जाता था। मकान प्राय: कच्ची मिट्टी की ईंटों के बने होते थे, यद्यपि किसी-किसी खेड़े में ऐसे मकानों के अवशेष भी मिले हैं, जिनमें ईंटों के साथ-साथ पत्थर का भी प्रयोग किया गया है। मकानों में दरवाजे और खिड़कियाँ भी होती थीं, और इनके भी कतिपय अवशेष खुदाई द्वारा उपलब्ध हुए हैं। एक मकान और दूसरे मकान के बीच में गली छोड़ दी जाती थी, जिसकी चौड़ाई २॥ फीट से ८ फीट तक थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता की बस्तियों में मकानों का निर्माण बहुत अच्छे ढंग से और एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता था।

इस सभ्यता के खेड़ों की खुदाई द्वारा अनेक स्थानों पर कबरिस्तान भी उपलब्ध हुए हैं। एक खेड़े के कबरिस्तान में १०० के लगभग अस्थि-पंजर मिले हैं, जिनसे यह कल्पना सहज में की जा सकती है, कि इस खेड़े द्वारा सूचित होने वाली बस्ती में मनुष्य अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। अमरी-नल-सभ्यता के मनुष्य अपने शवों को जमीन में गाड़ते थे, और इसके लिये बाकायदा कबरों का निर्माण करते थे। उनकी कबरें ईंटों व पत्थरों द्वारा बनायी जाती थीं। कबर में शव को रखने के साथ-साथ उन वस्तुओं को भी रख दिया जाता था, जिनका उपयोग मृत मनुष्य अपने जीवन-काल में करता था। यही कारण है, कि कब्रों में अस्थिपंजर के साथ मिट्टी के बरतन, आभूषण, औजार व इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं। कहीं-कहीं बरतनों में पशुओं की हड्डियाँ भी मिली हैं। संभवत:, शव के साथ बरतन में मांस भी रख दिया गया था,

जिसकी हड्डियाँ अब तक सुरक्षित रूप में विद्यमान हैं। ये हड्डियाँ प्राय: भेड़ व बकरी की हैं। इन कबरों में जो औजार मिले हैं, वे प्राय: ताम्बे के बने हुए हैं। इससे सूचित होता है, कि अमरी-नल-सभ्यता के लोग धातु के प्रयोग से भली-भाँति परिचित हो गये थे। कबरों में प्राप्त हुए आभूषण मुख्यतया ताम्बे, शंख, कौड़ी व मिट्टी के बने हुए हैं। इनके अतिरिक्त, मूंगे आदि की बनी हुई मालाएँ भी कहीं-कहीं इस सभ्यता के कबरिस्तानों में मिली हैं।

अमरी-नल-सभ्यता के भग्नावशेषों में जो बरतन या उनके टुकड़े मिले हैं, वे सुन्दर, सुडौल व परिष्कृत हैं। उनपर अनेक प्रकार की चित्रकारी की गयी है। बरतनों को चित्रित करने के लिये केवल गोल, अर्धचन्द्राकार व तिरछी रेखाओं का ही प्रयोग नहीं किया गया, अपितु पौदों और पशुओं की आकृतियों का भी प्रयोग किया गया है। इनमें बैल, बारासिंगा और मछली का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है।

कुल्ली-सभ्यता—दक्षिणी बिलोचिस्तान के कोलवा-प्रदेश में इस युग की प्राचीन सभ्यता के जो अनेक भग्नावशेष मिले हैं, उन्हें कुल्ली-सभ्यता कहते हैं। इसकी बस्तियों में भवन-निर्माण के लिये पत्थरों का उपयोग होता था, और पत्थरों को परस्पर जोड़ने के लिये मिट्टी के गारे का प्रयोग किया जाता था। पत्थर के अतिरिक्त मिट्टी की कच्ची ईंटें भी मकान बनाने के लिये प्रयुक्त होती थीं, जिनका आकार १६ × १० × ३ इंच होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुल्ली-सभ्यता के मकानों में फरश बनाने के लिये लकड़ी का भी प्रयोग किया जाता था। ऐसे फरशों के कुछ अवशेष कुल्ली के खेड़े में दृष्टिगोचर हुए हैं। इस सभ्यता के मकानों के कमरे आकार में कुछ छोटे होते थे। कुल्ली में कमरों का आकार १२ × ८ और ८ × ६ फीट का था। यहाँ के मकान एक से अधिक मंजिल के थे, इसी लिये कहीं-कहीं ऊपर की मंजिल में जाने के लिये बनायी गई पत्थर की सीढ़ी के अवशेष भी मिले हैं।

अमरी-नल-सभ्यता के समान कुल्ली-सभ्यता के बरतन भी सुन्दर और सुडौल होते थे। उनपर चित्रकारी के लिये वनस्पति और पशुओं की आकृतियों का प्रयोग किया जाता था। ककुद् से युक्त बैल इन आकृतियों में विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में पशुओं और स्त्रियों की छोटी-छोटी मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में मिली हैं। ये मूर्तियाँ मिट्टी की बनी हुई हैं, और बरतनों के समान उन्हें भी आग में पकाया गया है। इन मूर्तियों के निर्माण का क्या प्रयोजन था, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पशुओं की कतिपय मूर्तियों में पैरों के नीचे पहिये लगाने के भी निशान पाये जाते हैं। इससे अनुमान किया गया है, कि ये पशु-मूर्तियाँ बच्चों के खिलौनों के रूप में बनाई गयी होंगी। कुछ पक्षी-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनकी पूँछ से सीटी बजाने का काम लिया जाता था। कुल्ली-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ कुछ अद्भुत प्रकार की हैं, उनमें स्त्री-शरीर केवल कमर तक बनाया गया है, और मुख को बहुत बेडौल कर दिया गया है। पर इन सबमें आभूषणों और केश-कलाप को बहुत स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि कुल्ली-सभ्यता की स्त्रियाँ अपने केशों को किस ढंग से संवारती थीं, और किस प्रकार

के आभूषणों का प्रयोग करती थीं। उनके आभूषणों में चूड़ियों की बहुलता होती थी, जिन्हें वे हाथों पर कुहनियों तक व उससे भी ऊपर तक पहना करती थीं।

कुल्ली-सभ्यता के अन्यतम स्थान मही में पत्थर के बने हुए कुछ सुन्दर बरतन मिले हैं, जो संभवत: शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के काम में आते थे। ये बरतन न केवल अत्यन्त परिष्कृत हैं, पर साथ ही इनमें अनेक छोटे-छोटे व सुन्दर खाने भी बनाये गये हैं। इन बरतनों को बाहर की ओर से भी चित्रित किया गया है।

मही में ही एक कबरिस्तान भी मिला है, जो अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्व का है। यहाँ से ताम्बे के अनेक उपकरण मिले हैं, जिनमें ताम्बे का बना हुआ दर्पण विशेषरूप से उल्लेखनीय है। यह दर्पण आकार में वर्तुल है, और इसका व्यास ५ इंच है। दर्पण के हत्थे को स्त्री-आकृति के समान बनाया गया है, जिसके हाथ और छातियाँ बड़े सुन्दर रूप से बनाई गयी हैं। स्त्री-आकृति में सिर नहीं रखा गया है। जब कोई महिला इस दर्पण में अपने मुख को देखती होगी, तो हत्थे की स्त्री-आकृति की सिर की कमी पूरी हो जाती होगी। इस प्रकार का सुन्दर दर्पण प्राच्य संसार के पुरातन अवशेषों में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला है।

कुल्ली-सभ्यता के बरतनों और पश्चिमी एशिया (ईराक और एलम) के बरतनों तथा उनके चित्रण में बहुत समता है। कुल्ली के बरतनों पर प्रकृति (वृक्ष, वनस्पति आदि) के बीच में पशुओं को चित्रित किया गया है। यही शैली ईराक व पश्चिमी ईरान के इस युग के बरतनों को चित्रित करने के लिये अपनायी गई है। कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया के बरतनों में यह असाधारण समता ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार जिस ढंग के पत्थर के सुन्दर व छोटे आकार के बरतन कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, ठीक वैसे ही पत्थर के बरतन पश्चिमी एशिया के अनेक भग्नावशेषों में भी उपलब्ध हुए हैं। इन समताओं को दृष्टि में रखकर विद्वानों ने यह अनुमान किया है, कि कुल्ली-सभ्यता और पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं में घनिष्ठ सम्बन्ध था और इनके व्यापारी एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। पश्चिमी एशिया के इस युग के भग्नावशेषों में भी बिलोचिस्तान के भारतीय व्यापारियों की विद्यमानता के अनेक प्रमाण मिले हैं।

झोब-सभ्यता—उत्तरी बिलोचिस्तान में झोब नदी की घाटी में ताम्र-युग की सभ्यता के अनेक भग्नावशेष मिले हैं, जिनमें रनघुण्डई का खेड़ा सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह खेड़ा ४० फीट ऊँचा है, और इसकी विविध सतहों में झोब-सभ्यता के विकास की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। यहाँ यह सम्भव नहीं है, कि हम रनघुण्डई के खेड़े की विविध सतहों में प्राप्त हुई सामग्री का संक्षेप से भी उल्लेख कर सकें। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि रनघुण्डई व अन्यत्र प्राप्त झोब-सभ्यता के अवशेषों से सूचित होता है, कि यह सभ्यता भी अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यता के समान अच्छी उन्नत थी। इसके मकान मिट्टी की कच्ची ईंटों के बने होते थे, यद्यपि आधार को मजबूत बनाने के लिये पत्थरों का भी प्रयोग किया जाता था। यहाँ की ईंटों का आकार प्राय: १३×६×२½ इंच होता था। कतिपय बस्तियों के चारों ओर परिखा और प्राकार भी विद्यमान थे।

कुल्ली-सभ्यता के समान झोब-सभ्यता के अवशेषों में भी पशुओं और स्त्रियों की बहुत-सी मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं। कुल्ली में जो पशु-मूर्तियाँ मिली हैं, वे प्रायः गाय-बैल की हैं। पर झोब-सभ्यता के अवशेषों में एक स्थान पर घोड़े की भी एक मूर्ति मिली है। झोब-सभ्यता की स्त्री-मूर्तियाँ देखने में भयंकर हैं। यद्यपि विविध प्रकार के आभूषणों से ये भली-भाँति विभूषित की गयी हैं, पर इनकी मुख-आकृति कंकाल के सदृश बनाई गयी है, और आंखें उस ढंग के छेद द्वारा दिखाई गयी हैं, जैसा कि मानव-कंकाल की खोपड़ी में होता है। सम्भवतः, ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम में आती थीं, और इनके चेहरे की भयंकरता मातृ-देवता के रौद्र-रूप को अभिव्यक्त करती थी।

भारत में अन्यत्र ताम्र-युग के अवशेष—उत्तरी-भारत में अन्यत्र कई स्थानों पर ताँबे के बने हुए औजार मिले हैं। पर जिस ढंग से प्राचीन भग्नावशेषों की खुदाई सिन्ध और बिलोचिस्तान में हुई है, वैसी अभी तक अन्यत्र नहीं हुई। सम्भव है, कि भविष्य में भारत के अन्य भागों में भी वैसी ही ताम्र-युग की सभ्यताओं के चिन्ह प्रकाश में आएँ, जैसे कि पश्चिमी भारत में खोज द्वारा प्रगट हुए हैं।

खेद की बात है, कि ताम्र-युग के भारतीय भग्नावशेषों में कहीं भी किसी लिपि की सत्ता सूचित नहीं हुई। यही कारण है कि जिन सभ्यताओं का हमने ऊपर उल्लेख किया है, उनके निर्माताओं का इतिवृत्त हमें पूर्ण रूप से अज्ञात है।

चौथा अध्याय

सिन्धु-घाटी की सभ्यता

(१) सिन्धु-सभ्यता के ग्राम और नगर

अत्यन्त प्राचीन काल में सिन्ध और बिलोचिस्तान के प्रदेशों में ताम्र-युग की जिस सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इस प्राचीन सभ्यता के बाद सिन्ध नदी की घाटी में एक अन्य उन्नत व समृद्ध सभ्यता का विकास हुआ, जिसके प्रधान नगरों के भग्नावशेष इस समय के हड़प्पा और मोहन-जोदड़ो नामक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। यह सभ्यता पूर्व में गंगा व गुजरात से शुरू होकर पश्चिम में मकरान तक विस्तृत थी। उत्तर में इसका विस्तार हिमालय तक था। इसके प्रधान नगर सिन्ध व उसकी सहायक नदियों के समीपवर्ती प्रदेशों में विद्यमान थे, इसीलिये इसे 'सिन्धु-घाटी की सभ्यता' कहा जाता है। इस सभ्यता के सुविस्तृत क्षेत्र को यदि एक त्रिभुज द्वारा प्रगट किया जाय, तो उसकी तीनों भुजाएँ क्रमशः ९५०, ६०० और ५५० मील लम्बी होंगी। इस सुविशाल क्षेत्र में अब तक चालीस बस्तियों में खुदाई का कार्य हुआ है। इन बस्तियों के भग्नावशेष खेड़ों के रूप में विद्यमान हैं, जिनकी खुदाई करने से इस समृद्ध व उन्नत सभ्यता के बहुत-से महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त किये गये हैं। इस क्षेत्र में अभी अन्य भी अनेक खेड़े विद्यमान हैं, जिनकी अब तक खुदाई नहीं हुई है। खोज द्वारा जिन चालीस बस्तियों का अब तक परिचय मिला है उनमें कुछ ग्राम, कुछ कस्बे, और दो विशाल नगर हैं। इस सिन्धु-सभ्यता के प्रधान नगर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो हैं, जिनमें से मोहनजोदड़ो कराची से २०० मील उत्तर में सिन्ध नदी के तट पर स्थित है। यह स्थान सिन्ध के लरकाना जिले में है। हड़प्पा पंजाब में लाहौर से १०० मील दक्षिण-पश्चिम में रावी नदी के तट पर है। यह नदी आगे चलकर सिन्ध में मिल जाती है। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में ३५० मील का अन्तर है।

सिन्धु-सभ्यता की जिन चालीस बस्तियों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उन सबके अवशेष एक-दूसरे से असाधारण समता रखते हैं। उनमें उपलब्ध हुए मिट्टी के बरतन एकसदृश हैं; उनके मकानों का निर्माण करने के लिये जो ईंटें प्रयुक्त हुई है, वे भी एक ही आकार की हैं। उनमें माप और तोल के उपकरण भी एकसमान हैं, और इन स्थानों से जो उत्कीर्ण लेख मिले हैं, वे भी एक ही तरह के हैं। हजारों वर्गमील के इस विशाल क्षेत्र में एकसदृश सभ्यता की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि यह सारा प्रदेश एक व्यवस्था व एक संगठन के अधीन था। यदि इसे एक साम्राज्य कहा जाय, तो अनुचित नहीं होगा। सम्भवतः, इस विशाल साम्राज्य की दो राजधानियाँ थीं, उत्तर में हड़प्पा और दक्षिण में मोहनजोदड़ो। दुर्भाग्य की बात है, कि इस सभ्यता की लिपि को अब तक पढ़ा नहीं जा सका है, और इसी कारण हम यह नहीं जानते कि इस साम्राज्य का क्या नाम था, और इसपर किन राजाओं का शासन था।

सिन्धु-सभ्यता के युग की प्राकृतिक दशा—इस समय सिन्ध का प्रदेश रेगिस्तान

व उजाड़ है। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि जिस युग में सिन्धु-सभ्यता का विकास हुआ, तब यह प्रदेश हरे-भरे वनों से आच्छादित था। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में हाथी, गैंडा, शेर आदि अनेक हिंस्र जन्तुओं की हड्डियाँ बड़े परिमाण में प्राप्त हुई हैं। साथ ही, इन अवशेषों में जो उत्कीर्ण मुद्राएँ (मोहरें) मिली हैं, उनपर भी इन वन्य पशुओं के चित्र अंकित हैं। सिन्धु-सभ्यता के नगरों व कस्बों के निर्माण के लिये जो ईंटें प्रयुक्त की गयी थीं, वे सब मिट्टी को पकाकर तैयार की गयी थीं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के मकानों में करोड़ों ईंटें प्रयुक्त हुई थीं। इन ईंटों को आग में पकाने के लिये लकड़ी व ईंधन की जिस प्रचुर मात्रा में आवश्यकता हुई होगी, वह अब सिन्ध के क्षेत्र से उपलब्ध नहीं हो सकती। अतः यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि प्राचीन सिन्ध जंगलों से परिपूर्ण था, और वहाँ लकड़ी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती थी। इन जंगलों में हाथी, गैंडा, शेर, भेड़िया, रीछ आदि जंगली पशु बड़ी संख्या में निवास करते थे। इसी कारण सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में इन पशुओं की हड्डियाँ बड़े परिमाण में मिलनी सम्भव हो सकी हैं। मकानों के लिये पक्की ईंटों का भारी संख्या में उपयोग भी इस बात को सूचित करता है, कि उस युग में सिन्ध में वर्षा बहुत होती थी और वह प्रदेश आजकल के समान रेगिस्तान व उजाड़ नहीं था। सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया, तब भी सिन्ध के अनेक प्रदेश हरे-भरे व समृद्ध थे। अतः यह सुगमता से अनुमान किया जा सकता है, कि सिन्धु-सभ्यता के युग में ये प्रदेश हरे-भरे व जंगलों से परिपूर्ण थे।

खोज का प्रारम्भ और सिन्धु-सभ्यता का काल—सिन्ध नदी की घाटी में विद्यमान इस प्राचीन सभ्यता को खोज निकालने का श्रेय श्री राखालदास बनर्जी और रायबहादुर श्री दयाराम साहनी को है। इन विद्वानों ने मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के विशाल खेड़ों के नीचे दबे हुए प्राचीन भग्नावशेषों का पता लगाया और इनके विवरणों के कारण अन्य विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ। १९२१ ई० से शुरू करके अब तक इन खेड़ों व सिन्धु-सभ्यता की अन्य बस्तियों की जो खुदाई हुई है उससे एक समृद्ध सभ्यता की सत्ता प्रमाणित हुई है, जो आर्यों के भारत में प्रवेश से पहले इन प्रदेशों में विद्यमान थी। इसमें सन्देह नहीं, कि सिन्धु-घाटी की यह सभ्यता अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यताओं की अपेक्षा अर्वाचीन है। इस सभ्यता के काल के सम्बन्ध में अभी विद्वानों में एकमत नहीं हो सका है। पर इस बात से सब विद्वान् सहमत हैं, कि सिन्धु घाटी की यह सभ्यता ईसवी सन् के प्रारम्भ से तीन हजार साल के लगभग पुरानी है। अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यताओं का जिन लोगों ने विकास किया था, सिन्धु-सभ्यता के लोग उनसे भिन्न थे। सम्भवत:, इन लोगों ने पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश किया था, और पश्चिमी भारत के पुराने निवासियों को परास्त कर अपनी नयी सभ्यता का विकास किया था। पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज के कारण सिन्धु-सभ्यता के सम्बन्ध में अब इतनी अधिक बातें ज्ञात हो चुकी हैं, कि हम इस सभ्यता के लोगों के जीवन का स्पष्ट और विशद चित्र अपने सम्मुख ला सकते हैं।

(२) नगरों की रचना और भवन-निर्माण

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खुदाई हुई है, उससे ज्ञात होता है कि इन नगरों की रचना एक निश्चित योजना के अनुसार की गयी थी। मोहनजोदडो में जो

भी सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर सीधी रेखा में जाती हैं, और या पूर्व से पश्चिम में। ये सड़कें चौड़ाई में भी बहुत अधिक हैं। नगर की प्रधान सड़क तेंतीस फीट चौड़ी है, और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर चली गयी है। सड़क का तेंतीस फीट चौड़ा होना इस बात को सूचित करता है, कि इसका उपयोग गाड़ियों के लिये होता था, और इसपर अनेक गाड़ियाँ एक साथ आ-जा सकती थीं। इस प्रधान मार्ग को काटती हुई जो सड़क पूर्व से पश्चिम की ओर गयी है, वह इससे भी अधिक चौड़ी है, और यह भी शहर के ठीक बीच में है। इन दो (पूर्व से पश्चिम की ओर व उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली) सड़कों के समानान्तर जो अन्य अनेक सड़कें हैं, वे भी चौड़ाई में बहुत पर्याप्त हैं। ये अन्य सड़कें भी नौ फीट से अठारह फीट तक चौड़ी हैं। सड़कों को मिलाने वाली गलियों की चौड़ाई भी कम नहीं है। कम से कम चौड़ी गली चार फीट के लगभग है। यह आश्चर्य की बात है, कि मोहनजोदड़ो की कोई भी सड़क या गली पक्की नहीं है। केवल मुख्य सड़क (उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाली) पर इस बात के चिह्न पाये जाते हैं, कि उसे किसी समय में ईंटों के टुकड़ों से पक्का करने का प्रयत्न किया गया था। पर प्रतीत होता है, कि इसमें सिन्धु-सभ्यता के प्राचीन मनुष्यों को सफलता नहीं हुई, और इसीलिये इस परीक्षण को उन्होंने अन्य सड़कों में नहीं दोहराया।

सड़कों व गलियों के दोनों ओर मकानों का निर्माण किया गया था। इन मकानों की दीवारें अब तक भी भग्न रूप में विद्यमान हैं। खेड़े की खुदाई द्वारा सड़कों व गलियों के साथ-साथ मकानों की जो दीवारें मिली हैं, कहीं-कहीं उनकी ऊँचाई पच्चीस फीट तक पहुँच गयी है। इससे सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि मोहनजोदड़ो के मकान ऊँचे व विशाल थे, और जिस समय यह नगर अपने अविकल रूप में विद्यमान होगा, तो ऊँचे-ऊँचे मकानों की ये पंक्तियाँ बहुत ही भव्य प्रतीत होती होंगी।

खुदाई के द्वारा हड़प्पा नगर का जो चित्र सामने आता है, वह मोहनजोदड़ो के समान ही एक निश्चित योजना के अनुसार बना था। सड़कों का सीधा होना और उनके साथ-साथ मकानों का एक निश्चित क्रम के अनुसार बनाया जाना इस बात का प्रमाण है, कि उस युग में नगर की व्यवस्था करने के लिये कोई ऐसा संगठन अवश्य विद्यमान था, जिसके आदेशों का सब लोग पालन करते थे।

शहर के गन्दे पानी को नालियों द्वारा बाहर ले जाने का सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में बहुत उत्तम प्रबन्ध था। मकानों के स्नानागारों, रसोइयों और टट्टियों का पानी नालियों द्वारा बाहर आता था, और वह शहर की बड़ी नाली में मिल जाता था। प्रत्येक गली व सड़क के साथ-साथ पानी निकलने के लिए नाली बनी हुई थी। सड़कों के साथ की नालियाँ प्रायः नौ इंच चौड़ी और बारह इंच गहरी होती थीं। गलियों के साथ की नालियाँ इनकी अपेक्षा छोटी होती थीं। नालियों का निर्माण पक्की ईंटों से किया गया था, और उन्हें परस्पर जोड़ने के लिये मिट्टी मिले चूने का प्रयोग किया गया था। नालियों को ढँकने के लिये ईंटें प्रयुक्त होती थीं, जिन्हें ऊपर की सतह से कुछ इंच नीचे जमाकर रखा जाता था। इस प्रकार की खुली ईंटों से ढँकने का लाभ यह था, कि आवश्यकता पड़ने पर नाली को सुगमता से साफ किया जा सकता था। अधिक

चौड़ी नालियों को ढँकने के लिये पत्थर की शिलाएँ भी प्रयुक्त की जाती थीं। मकानों से बाहर निकलने वाले गन्दे पानी के लिये मिट्टी के पाइप भी प्रयोग में लाये जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के नगरों के मकान प्रायः दोमंजिले या और भी अधिक मंजिलों वाले होते थे। अतः यह आवश्यक था, कि ऊपर की मंजिलों से गिरने वाले पानी को ढँकने का प्रबन्ध किया जाय, ताकि गलियों में चलने वाले लोगों पर पानी के छींटे न पड़ें। इसी उद्देश्य से मिट्टी के इन पाइपों का प्रयोग किया जाता था। मकानों के बाहर प्रायः चौबच्चे भी बना दिये जाते थे, ताकि मकान का गन्दा पानी पहले इनमें एकत्र हो, और उसका गन्द नीचे बैठ जाय, केवल पानी ही शहर की नालियों में जाने पाये। संभवतः, इन चौबच्चों को साफ करने व उनके गन्द को एकत्र कर शहर से बाहर फेंकने की व्यवस्था भी सिन्धु-सभ्यता के नगरों में विद्यमान थी। शहर की कुछ नालियाँ बहुत बड़ी (मनुष्य के समान ऊँचाई वाली) भी होती थीं। गलियों और सड़कों के साथ-साथ विद्यमान नालियों से आकर जब बहुत-सा पानी एकत्र होकर चलता था, तो उसे शहर से बाहर ले जाने के लिये इन विशाल नालियों की आवश्यकता होती थी। इन नालियों में कहीं-कहीं सीढ़ियाँ भी बनाई गयी थीं, ताकि उनसे उतरकर नाली को भली-भाँति साफ किया जा सके। सम्भवतः ये बड़ी नालियाँ वर्षा के पानी को बाहर निकालने के लिये भी उपयोगी थीं। उस युग में सिन्धु-घाटी में अब की अपेक्षा बहुत अधिक वर्षा होती थी। इसी कारण ऐसी विशाल नालियों को बनाने की आवश्यकता हुई थी, जो कि गहराई में पाँच फीट और चौड़ाई में ढाई फीट के लगभग थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि वर्षा के या मकानों के गन्दे पानी को शहर के बाहर ले जाने की जो उत्तम व्यवस्था सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में विद्यमान थी, वह प्राचीन संसार के अन्य किसी नगर में नहीं पाई जाती।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में पानी के लिए कुएँ विद्यमान थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से कुएँ मिले हैं, जो चौड़ाई में २ फीट से लगाकर ७ फीट तक हैं। इन कुओं के किनारे पर रस्सी के निशान अब तक विद्यमान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि बहुत-से मकानों में अपने निजी कुएँ विद्यमान थे, और कुछ बड़े कुएँ ऐसे थे, जिनसे सर्वसाधारण जनता पानी खींच सकती थी। कुओं के अतिरिक्त जल की प्राप्ति का कोई अन्य साधन भी इन नगरों में था, इस बात का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई द्वारा उन मकानों के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ ज्ञान उपलब्ध होता है, जिनमें सिन्धु-सभ्यता के नागरिक निवास करते थे। इन मकानों के निर्माण के लिए पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया था। ईंटें अनेक आकारों की होती थीं। छोटी ईंटों का आकार १०¼ × ५ × २¼ इंच होता था। बड़ी ईंटों का आकार २०½ × ८½ × २¼ इंच था। सम्भवतः, ये बड़ी ईंटें विशेष कार्यों के लिए प्रयुक्त होती थीं। सिन्धु-सभ्यता के मकानों के निर्माण के लिए जिन ईंटों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है, उनका आकार १०¼ × ५ × २¼ इंच ही है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की ये प्राचीन ईंटें बहुत मजबूत, पक्की और रंग में लाल हैं। हजारों साल बीत जाने पर भी ये उत्तम दशा में हैं। ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी प्रयुक्त होती थी। शहर के बाहर ईंटों के पकाने के लिए बड़े-बड़े पजावे उस युग में विद्यमान रहे होंगे, यह कल्पना

सहज में की जा सकती है। दीवार में ईंटों को जोड़ने के लिए मिट्टी का गारा प्रयुक्त होता था, पर अधिक मजबूती के लिए कभी-कभी मिट्टी में चूना भी मिला लिया जाता था।

मोहनजोदड़ो के छोटे मकानों का आकार प्राय: २६ × ३० फीट होता था। पर बहुत-से ऐसे मकान भी थे, जो आकार में इसकी अपेक्षा दुगने व और भी अधिक बड़े होते थे। प्राय: मकान दोमंजिले होते थे। मोहनजोदड़ो में उपलब्ध दीवारों की मोटाई इस बात को सूचित करती है, कि वहाँ के मकान कई मंजिल ऊँचे रहे होंगे। जो दीवारें २५ फीट के लगभग ऊँची मिली हैं, इनमें अभी तक वे छेद विद्यमान हैं, जिनमें शहतीरें लगाकर दूसरी मंजिल का फर्श बनाया गया था। इस युग में छत बनाने की यह पद्धति थी, कि पहले शहतीरें डाली जाती थीं, फिर उनपर बल्लियाँ डालकर एक मजबूत चटाई बिछा दी जाती थी। उसके ऊपर मिट्टी बिठाकर उसे भली-भाँति कूटकर पक्का कर दिया जाता था। भारत में अब भी अनेक स्थानों पर छतें इसी ढंग से बनाई जाती हैं। निचली मंजिल से उपरली मंजिल पर जाने के लिये सीढ़ियाँ थीं, जो पत्थर और लकड़ी से बनाई जाती थीं। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में जगह की बहुत कमी थी, और नागरिकों के लिये स्थान का बहुत मूल्य था। इसीलिये वे सीढ़ियों को बहुत ऊँची व तंग बनाते थे, ताकि जगह की बचत हो। मोहनजोदड़ो से उपलब्ध बहुत-सी सीढ़ियों की पौड़ियाँ १५ इंच ऊँची और ५ इंच चौड़ी हैं। पर कुछ ऐसी इमारतें भी थीं, जिनकी सीढ़ियाँ बहुत चौड़ी व सुविधाजनक थीं। एक विशाल भवन में ऐसी सीढ़ी भी मिली है, जो ऊँचाई में २$\frac{1}{4}$ इंच, और चौड़ाई में ८$\frac{1}{4}$ इंच है। निस्संदेह, यह मकान किसी सम्पन्न व धनी व्यक्ति का था, जिसे जगह की कमी अनुभव नहीं होती थी। कमरों के दरवाजे अनेक प्रकार के होते थे। छोटे मकानों में प्राय: दरवाजे की चौड़ाई ३ फीट ४ इंच होती थी। पर कुछ ऐसे दरवाजों के अवशेष भी मिले हैं, जिनमें से बोझ से लदे हुए पशु, बैलगाड़ियाँ व रथ भी आ जा सकते थे। कमरों में दीवारों के साथ अलमारियाँ बनाने की भी प्रथा थी। अलमारी दीवार में ही बना ली जाती थी। इस युग में खूँटियों व चटखनियों आदि का भी प्रयोग होता था। हड्डी और शंख के बने हुए इस प्रकार के अनेक उपकरण मोहनजोदड़ो के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं। सम्भवत:, उस समय फर्नीचर का भी प्रयोग किया जाता था। मोहनजोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा पर एक स्टूल (चौकी) का चित्र अंकित है। खेद की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के भग्नावशेषों में से अब तक किसी पलंग, मेज, कुर्सी, चौकी आदि का कोई खंड नहीं मिला है, जिससे कि इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश पड़ सके।

मकानों के बीच में प्राय: सहन (आँगन) भी होता था, जिसके एक कोने में रसोईघर बनाया जाता था। मोहनजोदड़ो में कुछ रसोईघर मिले हैं, जिनमें चूल्हे अब तक विद्यमान हैं। ये चूल्हे ईंटों द्वारा बनाये गये हैं। भारत में अब तक भी इसी प्रकार के चूल्हे बड़ी संख्या में प्रयुक्त होते हैं। स्नानागार प्रत्येक मकान का एक आवश्यक अंग होता था। यह न केवल स्नान के काम में आता था, अपितु इसमें पानी संचित भी रहता था। पानी को रखने के लिये मिट्टी के बने हुए घड़े और मटके प्रयोग में आते थे। स्नानागार के समीप ही अनेक मकानों में टट्टी (शौचालय) के अवशेष भी मिले हैं। स्नानागार के फर्श पक्की ईंटों से बनाये जाते थे, और उन्हें चिकना व

साफ रखने का विशेष रूप से उद्योग किया जाता था। स्नानागार का कमरा आकार में प्राय: चौकोर होता था।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से जहाँ छोटे मकानों के बहुत-से अवशेष मिले हैं, वहाँ साथ ही विशाल इमारतों के अवशेष भी उपलब्ध हुए हैं। शहर के उत्तरी भाग में मध्यवर्ती (पूर्व से पश्चिम की ओर जाने वाली) सड़क के साथ एक विशाल इमारत के खंडहर विद्यमान हैं, जो लम्बाई में २४२ फीट और चौड़ाई में ११२ फीट थी। इस इमारत की बाहरी दीवार मोटाई में ५ फीट है। इससे सूचित होता है, कि यह इमारत कई मंजिल ऊँची थी। इस इमारत के समीप ही एक अन्य विशाल प्रासाद के खंडहर मिले हैं, जो लम्बाई में २२० फीट और चौड़ाई में ११५ फीट था। इसकी बाहरी दीवार ५ फीट से भी अधिक मोटी है। सम्भवत:, यह विशाल इमारत एक भव्य प्रासाद थी। विशाल आकार की इमारतों के अन्य भी अनेक अवशेष मिले हैं। ये इमारतें या तो शासक-वर्ग के साथ सम्बन्ध रखती हैं, या अत्यन्त समृद्ध व वैभवशाली व्यापारी वर्ग की सत्ता को सूचित करती हैं।

मोहनजोदड़ो की इमारतों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एक विशाल जलाशय है, जो ३९½ फीट लम्बा २३ फीट चौड़ा और ८ फीट गहरा है। यह जलाशय पक्की ईंटों से बना है, और इसकी दीवारें बहुत मजबूत हैं। इसमें अन्दर जाने के लिये पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। जलाशय के चारों ओर एक गैलरी बनी है, जो १५ फीट चौड़ी है। इसके साथ ही जलाशय के दक्षिण-पश्चिम की ओर आठ स्नानागार बने हैं। इन स्नानागारों में सीढ़ियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है, कि इनके ऊपर और कमरे थे। अनुमान किया गया है, कि ये ऊपर के कमरे निवास के काम में आते थे। उन तक पहुँचने का रास्ता स्नानागारों से होकर जाता था। सम्भवत:, इनमें पुरोहित लोग निवास करते थे, क्योंकि इस जलाशय का उपयोग किसी विशिष्ट धार्मिक प्रयोजन से ही होता था। जलाशय के समीप ही एक कुआँ भी था, जिसके जल से शायद इस जलाशय को पूर्ण किया जाता था। जलाशय को पानी से भरने व उसके गन्दे जल को निकालने के लिये जो नल थे, उनके भग्नावशेष भी उपलब्ध हुए हैं। इस जलाशय के समीप ही एक अन्य इमारत है, जिसे हम्माम समझा जाता है। सम्भवत:, यहाँ पानी को गरम करने का भी प्रबन्ध था।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों के चारों ओर की परिखा और प्राकार के भी अवशेष मिले हैं। यह स्वाभाविक है, कि इन विशाल नगरों की रक्षा के लिये इन्हें दुर्ग के रूप में बनाया गया हो। इन नगरों का क्षेत्रफल एक वर्गमील से भी कुछ अधिक है। एक वर्गमील के विस्तृत क्षेत्र में ये समृद्ध नगर दुर्ग की चहारदीवारी से घिरे हुए विद्यमान थे। यह सहज में ही समझा जा सकता है, कि दुर्ग के बाहर भी अनेक छोटे-बड़े गाँव रहे होंगे, जो नगर-निवासियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते होंगे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के छोटे-बड़े घरों में जो हजारों स्त्री-पुरुष निवास करते थे, वे अपनी भोजन-सामग्री बाहर से ही प्राप्त करते होंगे। इसके लिये यह आवश्यक है, कि नगरों के समीपवर्ती प्रदेशों में बहुत-से ग्राम विद्यमान हों। पर इन ग्रामों के कोई भग्नावशेष अभी तक नहीं मिल सके हैं।

सिन्धु-सभ्यता के इन नगरों में दूकानों के भी अनेक अवशेष मिले हैं। सड़कों और गलियों के दोनों ओर अनेक ऐसे भवनों के खंडहर प्राप्त हुए हैं, जो सम्भवतः दूकानों के रूप में प्रयुक्त होते थे। कुछ ऐसी विशाल इमारतें भी मिली हैं, जिनको विद्वानों ने बड़े व्यापार-भण्डार माना है,जिन में व्यापारी लोग अपने माल को लाकर जमा करते थे, और जहां वे उसका विक्रय करते थे। ऐसे व्यापार-भण्डार आकार में बहुत विस्तृत व विशाल होते थे।

(३) धर्म

सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धार्मिक विश्वास क्या थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कोई ऐसी इमारतें नहीं मिली हैं, जिन्हें निश्चित रूप से मन्दिर या धर्म-स्थान माना जा सके। सम्भवतः, इन नगरों में बहुत-से छोटे-छोटे मन्दिर भी थे, जिनके खंडहर अन्य मकानों से पृथक् नहीं किये जा सकते। मोहनजोदड़ो के मुख्य खेड़े के समीप ही एक बौद्ध-स्तूप है, जो स्वयं भी एक प्राचीन खेड़े के ऊपर बना हुआ है। पुरातत्त्व विभाग ने इस स्तूप को गिराकर नीचे गड़े हुए प्राचीन भग्नावशेषों की खुदाई नहीं की है। फिर भी इस स्तूप के चारों ओर के स्थान से जो बहुत-से अवशेष मिले हैं, उनसे सूचित होता है, कि इसके नीचे किसी विशाल इमारत के खंडहर दबे हुए हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह विशाल इमारत किसी मन्दिरकी है, जिसे सिन्धु-सभ्यता के निवासी पूजा-स्थान के रूप में प्रयुक्त करते थे। जो जगह एक समय में पवित्र मानी जाती है उसे बाद के लोग भी पवित्र मानते रहते हैं। बौद्धों ने इस जगह पर अपना स्तूप इसीलिये खड़ा किया था, क्योंकि पूर्ववर्ती समय में भी यह स्थान पूजापाठ के काम में आता था। जिस जलाशय का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह भी इस स्थान के समीप ही है। सम्भवतः, बौद्ध-स्तूप के नीचे दबी हुई विशाल इमारत मोहनजोदड़ो का प्रधान मन्दिर थी, और इस प्राचीन नगर के निवासी वहां पूजा-पाठ के लिये एकत्र हुआ करते थे।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में कुछ वस्तुएं ऐसी मिली हैं, जिनके आधार पर हम सिन्धु-सभ्यता के लोगों के धर्म के विषय में कुछ उपयोगी बातें जान सकते हैं। ये वस्तुएँ मुद्राएँ (मोहरें) और धातु, पत्थर व मिट्टी की बनी हुई मूर्तियां हैं। पत्थर की बनी मूर्तियों में सबसे अधिक महत्त्व की वह मूर्ति है, जो कमर के नीचे से टूटी हुई है। यह केवल ७ इंच ऊंची है। अपनी अविकल दशा में यह मूर्ति अधिक बड़ी होगी, इसमें सन्देह नहीं। इस मूर्ति में मनुष्य को एक ऐसा चोगा पहने हुए दिखाया गया है, जो बाएं कंधे के ऊपर और दाई भुजा के नीचे से गया है। चोगे के ऊपर तीन हिस्से-वाली पुष्पाकृति बनी है। सम्भवतः, यह पुष्पाकृति धार्मिक चिह्न की द्योतक थी, क्योंकि इस प्रकार का चिह्न मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में बहुलता के साथ उपलब्ध है। मूर्ति के पुरुष की मूंछें मुंडी हुई हैं, यद्यपि दाढ़ी विद्यमान है। प्राचीन सुमेरिया में उपलब्ध अनेक देवी और मानुषी-मूर्तियों में भी इसी प्रकार से मूंछें मुंड़ी हुई व दाढ़ी पाई जाती है। मूर्ति में आंखें मुंदी हुई व ध्यानमग्न दिखाई गयी हैं। मूर्ति की ध्यानमुद्रा से प्रतीत होता है, कि इसे योगदशा में बनाया गया है। इस बात से प्रायः सब विद्वान् सहमत हैं,

कि सिन्धु-सभ्यता की यह मूर्ति किसी देवता की है, और इसका सम्बन्ध वहाँ के धर्म के साथ है।

पत्थर से बनी इस देव मूर्ति के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मिट्टी की भी बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं। इनमें से एक प्रकार की स्त्री-मूर्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है, क्योंकि ऐसी मूर्तियाँ बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। यह स्त्री-मूर्ति प्राय: नग्न दशा में बनाई गयी है, यद्यपि कमर के नीचे जाँघों तक एक प्रकार का कपड़ा भी प्रदर्शित किया गया है। मूर्ति पर बहुत-से आभूषण अंकित किये गये हैं, और सिर की टोपी पंखे के आकार की बनाई गयी है, जिसके दोनों ओर दो प्याले या दीपक हैं। ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियों में दीपक के बीच में धूम्र के निशान हैं, जिनसे यह सूचित होता है, कि इनमें तेल या धूप जलाई जाती थी। धूम्र की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि ये स्त्री-मूर्तियाँ पूजा के काम में आती थीं। संसार की प्राय: सभी प्राचीन सभ्यताओं में मातृ-देवता की पूजा की प्रथा विद्यमान थी। कुल्ली-सभ्यता का उल्लेख करते हुए हम पहले भी मातृ-देवता का जिक्र कर चुके हैं। सिन्धु-सभ्यता में यदि लोग मातृ-देवता की पूजा करते हों, और उसकी मूर्ति के दोनों पार्श्वों में दीपक जलाते हों, तो यह स्वाभाविक ही है।

मातृ-देवता की मूर्तियों के अतिरिक्त मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में अनेक पुरुष-मूर्तियाँ भी मिली हैं, जिन्हें नग्न रूप में बनाया गया है। अनेक प्राचीन सभ्यताओं में लोग त्रिमूर्ति की उपासना किया करते थे। मातृ-देवता, पुरुष और बालक—ये इस त्रिमूर्ति के तीन अंग होते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में बालक देवता की कोई मूर्ति नहीं मिली है। अत: यह कल्पना तो नहीं की जा सकती, कि अन्य प्राचीन सभ्यताओं के समान यहाँ भी त्रिमूर्ति की उपासना प्रचलित थी, पर पुरुष-मूर्तियों की सत्ता इस बात को अवश्य सूचित करती है, कि मातृ-देवता के अतिरिक्त वहाँ पुरुष-रूप में भी दैवी शक्ति की पूजा का भाव विद्यमान था।

सिन्धु-सभ्यता के धर्म के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें उन मुद्राओं से ज्ञात होती हैं, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में प्रचुर संख्या में उपलब्ध हुई हैं। इनमें से एक मुद्रा पर किसी ऐसे नग्न देवता की आकृति अंकित है, जिसके तीन मुख हैं, और जिसके सिर पर सींग बनाये गये हैं। इस देव-मूर्ति के चारों ओर अनेक पशु बनाये गये हैं। ये पशु हिरण, गेंडा, हाथी, शेर और भैंसें हैं। अनेक विद्वानों का विचार है, कि यह आकृति पशुपति शिव की है, जिसकी पूजा आगे चलकर हिन्दू-धर्म में भी प्रारम्भ हुई। पशुपति शिव की प्रतिमा से अंकित तीन मुद्राएँ अब तक उपलब्ध हुई हैं। यदि इन तीन मुद्राओं में अंकित प्रतिमा को शिव की मान लिया जाय, तो यह स्वीकार करना होगा, कि शैव-धर्म संसार के प्राचीनतम धर्मों में से एक है।

सिन्धु-सभ्यता के लोग मातृ-देवता की पूजा के साथ-साथ प्रजनन-शक्ति की भी उपासना करते थे। वहाँ ऐसे अनेक प्रस्तर मिले हैं, जिन्हें विद्वान् लोग योनि और लिंग के प्रतीक मानते हैं। आगे चलकर हिन्दू धर्म में योनि और लिंग की पूजा ने बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शैव-धर्म में इस प्रकार की पूजा सम्मिलित है, और अनेक शैव-मन्दिरों में योनि और लिंग की प्रतिमा स्थापित की जाती है। कोई आश्चर्य नहीं,

कि पशुपति शिव के उपासक सिन्धु-सभ्यता के लोग योनि और लिंग की प्रतिमा बनाकर प्रकृति की प्रजनन-शक्ति की भी पूजा करते हों।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर पीपल का वृक्ष भी अंकित है। अब तक भी हिन्दू-धर्म में पीपल का वृक्ष पवित्र माना जाता है। बौद्ध-धर्म में भी बोधिवृक्ष के रूप में पीपल की पूजा विद्यमान है। कोई आश्चर्य नहीं, कि भारत में पीपल सदृश वृक्षों की पूजा सिन्धु-सभ्यता के युग से चली आती हो, और इसी सभ्यता के लोगों द्वारा इस ढंग की पूजा बाद के हिन्दू-धर्म में प्रविष्ट हुई हो। अनेक मुद्राओं पर कतिपय पशुओं की प्रतिमाएँ भी अंकित हैं, और कुछ पशुओं की मूर्तियाँ भी मिली हैं। हिन्दू-धर्म में विविध देवताओं के वाहन-रूप में जो बैल, मूषक आदि पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है, सम्भवतः, उसका प्रारम्भ भी सिन्धु-सभ्यता के युग में ही हुआ था।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व यह लिखना भी आवश्यक है, कि मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा में जो बहुत-सी मूर्तियाँ मिली हैं, वे प्रायः सभी खंडित दशा में हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि उन्हें जानबूझकर तोड़ा गया है। संभव है, कि जब किन्हीं विदेशी व विधर्मी आक्रान्ताओं ने इस सभ्यता के नगरों को विजय कर उनका विनाश किया हो, तो उन्होंने विद्वेषवश इन देव मूर्तियों को तोड़ दिया हो।

(४) आर्थिक जीवन

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे विशाल व समृद्ध नगरों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि सिन्धु-सभ्यता का आर्थिक जीवन बहुत समृद्ध व उन्नत था। इस सभ्यता के लोगों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। ये लोग खेती द्वारा अनेक प्रकार के अन्नों को उत्पन्न करते थे। इन अन्नों में गेहूँ और जौ की प्रमुखता थी। इनके कुछ अवशेष भी सिन्धु-सभ्यता के नगरों के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। पर इस सभ्यता के लोग केवल शाकाहारी ही नहीं थे। वे मांस, मछली, अण्डे आदि का भी भोजन के लिये प्रयोग करते थे। मृत शरीरों को गाड़ते हुए मृत मनुष्यों के उपयोग के लिये उन्होंने जो विविध सामग्री साथ में रखी थी, उसमें मांस भी सम्मिलित था। यही कारण है, कि मनुष्यों के अस्थिपंजर के साथ-साथ पशुओं की हड्डियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खजूर की गुठलियों की उपलब्धि इस बात को सूचित करती है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी फलों का भी उपयोग करते थे। मोहरों पर अंकित गाय, बैल, भैंस आदि की प्रतिमाएं इस बात का प्रमाण है, कि सिन्धु-सभ्यता में इन पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। लोग इनके दूध, घी आदि का उपयोग करते होंगे, यह कल्पना सहज में की जा सकती है। गाय, बैल और भैंस के अतिरिक्त सिन्धु-सभ्यता के लोग भेड़, बकरी, हाथी, सूअर और कुत्ते भी पालते थे। इन सब पशुओं की हड्डियां इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुई हैं। यह आश्चर्य की बात है, कि इन अवशेषों में ऊँट की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिला है। सम्भवतः, उस युग में सिन्धु घाटी की प्राकृतिक दशा ऐसी नहीं थी, कि उसमें ऊँट रह सके। इस बात के प्रमाण भी मिले हैं, कि सिन्धु-सभ्यता में घोड़े और गधे की भी सत्ता थी। सिन्धु-सभ्यता से पूर्ववर्ती अमरी-नल और कुल्ली-सभ्यताओं में भी ये पशु विद्यमान थे। जंगली पशुओं में

गैंडे, शेर, बाघ, भालू, बन्दर और खरगोश से इस सभ्यता के लोग भली-भाँति परिचित थे। इन पशुओं के चित्र मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में उपलब्ध अनेक मुद्राओं पर उत्कीर्ण हैं।

सिन्धु-सभ्यता के लोग गेहूँ और जौं की खेती करते थे, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। इस बात का भी प्रमाण मिला है, कि इस युग के मनुष्य कपास भी उत्पन्न करते थे। मोहनजोदड़ो के अवशेषों में एक सूती कपड़ा चाँदी के एक कलश के साथ चिपका हुआ मिला है। विशेषज्ञों के मतानुसार यह कपड़ा वर्तमान समय की खादी से मिलता-जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-घाटी के प्रदेश में सूती कपड़ा बहुतायत के साथ बनता था। वह सुदूरवर्ती देशों में विक्रय के लिये जाता था, और पश्चिमी संसार में उसकी बहुत कद्र थी। प्राचीन ईराक में सूती कपड़े के लिये 'सिन्धु' शब्द का प्रयोग होता था। यही शब्द और अधिक पश्चिम में जाकर ग्रीक भाषा में 'सिन्दन' बन गया। सूत को लपेटने के लिये प्रयुक्त होने वाली बहुत-सी नरियाँ मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में मिली हैं। इनकी उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि वहाँ घर-घर में सूत कातने की प्रथा विद्यमान थी। वस्त्र-व्यवसाय के समुन्नत होने के कारण सिन्धु-सभ्यता में कपास की खेती का कितना अधिक महत्त्व होगा, इस बात की कल्पना सहज में की जा सकती है।

हड़प्पा के भग्नावशेषों में उन विशाल गोदामों के चिह्न भी पाये गये हैं, जिनका उपयोग अनाज को जमा रखने के लिये किया जाता था। इन अन्न-भंडारों के समीप ही अनाज को पीसने का भी प्रबन्ध था। गेहूँ और जौं के अतिरिक्त सरसों और राई की खेती के भी प्रमाण सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं।

शिल्प और व्यवसाय—कृषि के अतिरिक्त जो व्यवसाय और शिल्प सिन्धु-सभ्यता में विद्यमान थे, उनके सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें इस युग के खंडहरों से ज्ञात हुई हैं। मिट्टी के बरतन बनाने की कला इस युग में बहुत उन्नत थी। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में बहुत-से बरतन खण्डित रूप में उपलब्ध हुए हैं। ये बरतन कुम्हार के चाक पर बनाये गये हैं, और इन्हें अनेक प्रकार के चित्रों व आकृतियों द्वारा विभूषित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता के कुम्हार पहले चाक पर अनेक प्रकार के बरतन बनाते थे, फिर उन्हें चमकाने के लिये एक विशेष प्रकार का लेप प्रयुक्त करते थे, और बाद में उनपर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती थी। अन्त में उन्हें भट्ठी में पकाया जाता था, और इस प्रकार तैयार हुए बरतन अत्यन्त सुन्दर और मजबूत होते थे। इस युग के कटोरे-कटोरियाँ, कलश, थालियाँ, रकाबियाँ, सुराहियाँ आदि बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं, जो कुम्हार के शिल्प की उत्कृष्टता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। बहुत-से बरतनों पर उस ढंग की चमक पायी जाती है, जैसी कि चीनी मिट्टी के बने बरतनों पर होती है।

बरतन न केवल मिट्टी के बनाये जाते थे, अपितु पत्थर और धातु का भी इनके निर्माण के लिये प्रयोग होता था। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में पत्थर के बरतन अधिक संख्या में नहीं मिले हैं। इसका कारण शायद यह है, कि धातु का ज्ञान हो जाने से उनकी विशेष आवश्यकता अनुभव नहीं की जाती थी। धातु से बरतन व मूर्ति आदि बनाने के शिल्प पर हम इसी प्रकरण में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

मोहनजोदड़ो की खुदाई से हाथी-दाँत का बना हुआ एक फूलदान भी उपलब्ध हुआ है, जिसका यहाँ विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। यह फूलदान बहुत सुन्दर है, और इसपर अनेक प्रकार के रेखाचित्र भी उत्कीर्ण किये गए हैं। उस युग में सिन्धु-घाटी में हाथी विद्यमान थे, यह पहले लिखा जा चुका है। हाथी-दाँत को शिल्प के लिये भी प्रयुक्त किया जाता था, यह बात इस फूलदान से सूचित होती है। सिन्धु-सभ्यता के खंडहरों में हाथी-दाँत के कुछ टुकड़े भी मिले हैं, जो इस शिल्प की लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

सूती कपड़ों के निर्माण का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। सिन्धु-घाटी सूती कपड़ों के लिये प्रसिद्ध थी, और वहाँ के वस्त्र पश्चिमी संसार में दूर-दूर तक बिकने के लिये जाते थे। पर इस सभ्यता के लोग ऊनी और रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण करते थे, और तैयार हुए वस्त्रों पर अनेक प्रकार के फूल व अन्य आकृतियाँ भी काढ़ते थे। सम्भवतः, कपड़े को छापने की कला भी उस युग में विकसित हो चुकी थी। कुम्हार के सदृश ही तन्तुवाय (जुलाहा) का शिल्प भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था। यद्यपि इस सभ्यता की पुरुष-मूर्तियाँ नग्न रूप में बनाई गयी हैं, पर इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि इस काल में कपड़ा पहनने की प्रथा का अभाव था। नग्न मूर्तियाँ शारीरिक सौंदर्य को प्रदर्शित करने के लिये बनाई गयी थीं या इन मूर्तियों के दैवी होने के कारण ही इन्हें नग्न रखा गया था। एक पुरुष-मूर्ति का पहले उल्लेख हो चुका है, जिसे वस्त्र पहने हुए बनाया गया है। स्त्री-मूर्तियों पर तो कमर से जाँघ तक का वस्त्र सर्वत्र ही प्रदर्शित किया गया है। कुछ स्त्री-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनमें कमर से ऊपर भी वस्त्र बनाया गया है। इस युग की सभी पुरुष-प्रतिमाएँ नग्न नहीं हैं। हड़प्पा में एक ऐसी पुरुष-प्रतिमा भी उपलब्ध हुई है, जिसकी टाँगों पर चूड़ीदार पायजामा के ढंग का एक वस्त्र है। कुछ विद्वानों के मत में यह कपड़ा धोती है, जिसे टाँगों के साथ कसकर बाँधा गया था।

सिन्धु-सभ्यता के स्त्री-पुरुष आभूषणों के बहुत शौकीन थे। यही कारण है, कि इस युग की जो स्त्री-मूर्तियाँ, पुरुष-मूर्तियाँ और प्रतिमाएँ मिली हैं, उनमें बहुत-से आभूषणों को प्रदर्शित किया गया है। सौभाग्यवश, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में आभूषण अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें इस युग के स्त्री-पुरुष धारण किया करते थे। ये आभूषण चाँदी और ताँबे के बरतनों में संभालकर रखे हुए मिले हैं। ये बरतन मकानों के फर्श के नीचे गड़े हुए पाये गए हैं, जिससे सूचित होता है कि सुरक्षा के लिये इन्हें जमीन के नीचे गाड़ दिया गया था। आभूषणों से भरा हुआ एक कलश हड़प्पा में फर्श से आठ फीट के लगभग नीचे गड़ा हुआ मिला है। जिस स्थान पर यह कलश पाया गया है, वह समृद्ध व धनी लोगों के निवास का मोहल्ला नहीं था। वहाँ गरीब लोगों के छोटे-छोटे घर थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि किसी चोर ने ये आभूषण चोरी द्वारा प्राप्त किये थे, और उन्हें अपने कमरे में आठ फीट नीचे गाड़ दिया था। इस कलश में सोने के बने हुए जो आभूषण व उनके खंड मिले हैं, उनकी संख्या ५०६ के लगभग है। इनमें सुवर्णनिर्मित बाजूबन्द और हार से लगाकर छोटे-छोटे मनके तक सम्मिलित हैं। मोहनजोदड़ो के भग्नावशेषों में भी आभूषणों से पूर्ण अनेक छोटे-बड़े कलश उपलब्ध हुए हैं। यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम इन आभूषणों

का संक्षिप्त वर्णन भी दे सकें। पर यह उल्लेख कर देना आवश्यक है, कि सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में मिले आभूषणों में अनेक लड़ियों वाले गले के हार, बाजूबन्द, चूड़ियाँ, कर्णफूल, झुमके, नथ आदि बहुत प्रकार के आभूषण विद्यमान हैं। कला की दृष्टि से ये अत्यन्त सुन्दर और उत्कृष्ट हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सुनार और जौहरी का शिल्प बहुत उन्नत दशा में था। सुवर्ण के अतिरिक्त चाँदी और बहुमूल्य पत्थरों (लाल, पन्ना, मूँगा आदि) का भी आभूषणों के लिये प्रयोग किया जाता था। ताँबे, हाथी-दाँत, हड्डी और मिट्टी के बने हुए भी बहुत-से आभूषण इस सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुए हैं। इससे सूचित होता है, कि जो गरीब लोग सोने-चाँदी के आभूषण नहीं पहन सकते थे, वे ताँबे आदि के आभूषण पहनकर ही संतोष कर लेते थे। पर उस युग के सब मनुष्य आभूषणों के बहुत शौकीन थे, यह सर्वथा सत्य है।

धातु का उपयोग—सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन में धातुओं द्वारा बरतन और औजार बनाने का शिल्प भी बहुत उन्नत था। इन धातुओं में ताँबे को प्रचुरता के साथ प्रयुक्त किया जाता था, यद्यपि चाँदी, ब्रोंज और सीसे का उपयोग भी उस युग के धातुकार भली-भाँति जानते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में अब तक चाँदी के केवल तीन बरतन उपलब्ध हुए हैं। पर इन तीन बरतनों की सत्ता इस बात का प्रमाण है, कि इस युग के धनी लोग चाँदी का उपयोग किया करते थे। ताम्र और ब्रोंज के बरतन वहाँ बहुत बड़ी संख्या में मिले हैं, और ये अच्छे सुडौल व सुन्दर हैं। ताम्र का प्रयोग औजारों के लिए विशेष रूप से किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता प्रस्तर-युग को पीछे छोड़ चुकी थी, और उसके निवासी अपने सब प्रकार के उपकरण ब्रोंज और ताँबे से बनाते थे। मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा के खंडहरों में मिले कुछ ताँबे के कुल्हाड़े लम्बाई में ११ इंच हैं, और उनका बोझ दो सेर से कुछ अधिक है। इनमें लकड़ी को फँसाने के लिए छेद भी विद्यमान हैं। आकार-प्रकार में ये ठीक वैसे हैं, जैसे लोहे के कुल्हाड़े आजकल भारत में प्रयुक्त होते हैं। धातु से निर्मित औजारों में ताँबे की बनी एक आरी भी उपलब्ध हुई है, जिसका हत्था लकड़ी का था। इस आरी में दाँते भी बने हैं, और यह लम्बाई में १६½ इंच है। पाश्चात्य संसार में रोमन-युग से पूर्व आरी की सत्ता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अब से पाँच हजार वर्ष के लगभग पूर्व भी आरी का प्रयोग करते थे, जबकि पाश्चात्य दुनिया में इसकी सत्ता को दो हजार साल से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता। इस आरी की सत्ता से यह भली-भाँति सूचित हो जाता है, कि बढ़ई का शिल्प सिन्धु-सभ्यता में भली भाँति विक-सित था, और उसके नगरों में लकड़ी का प्रचुरता के साथ उपयोग किया जाता था। इस युग में अस्त्र-शस्त्र भी धातु के बनते थे। सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में परशु, तलवार, कटार, धनुष-बाण, बरछी, भाला, छुरी आदि अनेक प्रकार के हथियार मिले हैं, जो सब ताँबे या ब्रोंज के बने हैं। ये हथियार जहाँ शिकार के काम में आते थे, वहाँ युद्ध के लिए भी इनका उपयोग होता था। छोटे-छोटे चाकू भी इन अवशेषों में मिले हैं, जो घरेलू कार्यों के लिए प्रयुक्त होते होंगे। पत्थर काटने वाली छेनियों की सत्ता इस बात को सूचित करती है, कि पत्थर तराशने का शिल्प भी इस युग में विकसित था। ब्रोंज के बने मछली पकड़ने के काँटे भी इस सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध हुए हैं। रावी और

सिन्धु नदियों के तट पर स्थित होने के कारण इन नगरों में मछली पकड़ने का व्यवसाय अवश्य ही विकसित दशा में होगा, और इसी प्रयोजन से इन काँटों का प्रयोग किया जाता होगा। धातुओं का प्रयोग केवल बरतन और औजार बनाने के लिए ही नहीं होता था। इस युग के अवशेषों में ताम्र और ब्रोंज की बनी अनेक मूर्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो धातु-शिल्प की उत्कृष्टता के जीवित-जागृत प्रमाण हैं।

तोल और माप के साधन—सिन्धु-सभ्यता की विविध बस्तियों के अवशेषों में तोल के बहुत-से बट्टे भी उपलब्ध हुए हैं। ये बट्टे पत्थर के बने हैं, और इन्हें एक निश्चित आकार (चौकोर घन के आकार) में बनाया गया है। सबसे छोटा बाट तोल में १३.६४ ग्राम के बराबर है। इस छोटे बाट को अगर इकाई मान लिया जाय, तो १, २, ४, ८, १६, ३२, ६४, १६०, २००, ३२० और ६४० इकाइयों के बोझ के बाट उपलब्ध हुए हैं। यह बात बड़े आश्चर्य की है, कि भारत की इस प्राचीन सभ्यता में भी बोझ के विविध अनुपात को सूचित करने के लिए १, ४, ८, १६, की पद्धति का अनुसरण किया जाता था। आधुनिक समय का सेर १६ छटांकों में विभक्त था, और अधपौवा, पौवा व अधसेरा के बाट ही भारत में तोल के लिए प्रयुक्त किये जाते रहे हैं। इस तरह के बाट केवल मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में ही नहीं मिले हैं, अपितु छन्हूदड़ो, मही आदि सिन्धु-सभ्यता की अन्य बस्तियों के अवशेषों में भी प्राप्त हुए हैं। हजारों वर्ग-मील में विस्तृत इस सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र एकसदृश बाटों की उपलब्धि इस बात का प्रमाण है, कि उसका राजनीतिक व आर्थिक संगठन बहुत दृढ़ था। तोलने के लिए उस युग में तराजू का प्रयोग होता था। धातु की बनी एक तराजू के भी अनेक खंड इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं।

मोहनजोदड़ो के खंडहरों में सीपी के बने 'फुटे' का एक टुकड़ा मिला है, जिसमें ६ एक समान विभाग स्पष्ट रूप से अंकित हैं। ये विभाग ०.२६४ इंच के बराबर हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि यह फुटा अच्छा लम्बा था, और सीपी के जिन टुकड़ों से इसे बनाया गया था, उन्हें परस्पर जोड़ने के लिये धातु का प्रयोग किया गया था। हड़प्पा के अवशेषों में ब्रोंज की एक शलाका मिली है, जिसपर नापने के लिए छोटे-छोटे विभाग अंकित हैं। ये विभाग लम्बाई में ०.३६७६ इंच हैं। इन दो 'फुटों' के आधार पर सिन्धु-सभ्यता की ईंटों व कमरों की लम्बाई-चौड़ाई को माप कर विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है, कि इस युग का फुट १३.२ इंच लम्बा होता था। इस फुटे के अतिरिक्त माप का एक अन्य मान था, जो लम्बाई में २०.४ इंच होता था। सिन्धु सभ्यता में जो भी मकान बनाये गये थे, और जो भी ईंटें बनायी गई थीं, वे इन दो मानों में से किसी न किसी मान के अनुसार ठीक उतरती हैं।

व्यापार—तोल और माप के इन निश्चित मानों की सत्ता इस बात की सूचक है, कि इस युग में व्यापार अच्छी उन्नत दशा में था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों में जो बहुत-सी वस्तुएं मिली हैं, वे सब उसी प्रदेश की उपज व कृति नहीं हैं। उनमें से अनेक वस्तुएं सुदूरवर्ती प्रदेशों से व्यापार द्वारा प्राप्त की गयी थीं। सिन्धु नदी की घाटी में तांबा, चांदी, सोना आदि धातुएं प्राप्त नहीं होतीं। सम्भवतः, सिन्धु-सभ्यता के लोग चांदी, टिन, सीसा और सोना अफगानिस्तान व और भी दूर ईरान से

प्राप्त करते थे। अनेक प्रकार के बहुमूल्य पत्थर बदख्शां जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों से आते थे। तांबे के लिये मुख्यतया राजपूताना पर निर्भर रहना पड़ता था। सीपी, शख, कौड़ी आदि का प्रयोग सिन्धु-सभ्यता में प्रचुरता के साथ हुआ है। सम्भवतः, ये सब काठियावाड़ के समुद्र-तट से आती थीं। इसी प्रदेश से मूंगा, मोती आदि बहुमूल्य रत्न भी आते थे, जिनका उपयोग आभूषणों के लिये किया जाता था। सिन्धु-सभ्यता के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के खंड भी मिले हैं। देवदार का वृक्ष केवल पहाड़ों में होता है। हिमालय से इतनी दूरी पर स्थित सिन्धु-सभ्यता के नगरों में देवदार की लकड़ी की उपलब्धि इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इन नगरों का पार्वत्य प्रदेशों के साथ भी व्यापार था।

यह व्यापार तभी सम्भव था, जबकि व्यापारियों का वर्ग भली-भाँति विकसित हो चुका हो, और आवागमन के साधन भी अच्छे उन्नत हों। व्यापारियों के काफिले (सार्थ) स्थल और जल दोनों मार्गों से दूर-दूर तक व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। इस युग में नौका व छोटे जहाजों का प्रयोग होता था, यह बात असंदिग्ध है। इस सभ्यता के खंडहरों में उपलब्ध हुई एक मोहर पर एक जहाज की आकृति सुन्दर रूप से अंकित की गयी है। इसी प्रकार मिट्टी के बरतन के एक टुकड़े पर भी जहाज का चित्र बना हुआ मिला है। ये चित्र इस बात को भली-भाँति सूचित करते हैं, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाजों और नौकाओं का प्रयोग करते थे। स्थल-मार्ग द्वारा आवागमन के लिये जहाँ घोड़े और गधे जैसे पशु प्रयुक्त होते थे, वहाँ साथ ही बैलगाड़ियाँ भी उस युग में विद्यमान थीं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खिलौने के तौर पर बनाई गयी मिट्टी की छोटी-छोटी गाड़ियाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं। सम्भवतः, बच्चे इन गाड़ियों से खेलते थे। पर खिलौने के रूप में गाड़ियों को बनाना ही इस बात का प्रमाण है, कि उस युग में इनका बहुत अधिक प्रचार था। केवल बैलगाड़ी ही नहीं, इस युग में इक्के भी प्रयुक्त होते थे। हड़प्पा के खण्डहरों में ब्रोंज का बना एक छोटा-सा इक्का मिला है, जिसे सम्भवतः उस युग में प्रयुक्त होने वाले इक्के के नमूने पर बनाया गया था। इसी तरह का एक इक्का छन्नूदड़ो के खंडहरों में भी मिला है। हड़प्पा और छन्नूदड़ो में ४०० मील का अन्तर है। पर इतने अन्तर पर स्थित इन दो बस्तियों में एक ही तरह के इक्के का मिलना इस बात को सूचित करता है, कि सिन्धु-सभ्यता में सर्वत्र बैलगाड़ी के साथ-साथ इक्के का भी चलन था।

इस युग की सिन्धु-सभ्यता में न केवल अन्तर्देशीय व्यापार अच्छा उन्नत था, अपितु विदेशी व्यापार भी बहुत विकसित दशा में था। पिछले अध्याय में हम यह बता चुके हैं, कि दक्षिणी बिलोचिस्तान की कुल्ली-सभ्यता के व्यापारी सुदूर पश्चिमी एशिया में व्यापार के लिये आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोग भी पश्चिमी एशिया के विविध देशों से व्यापारिक सम्बन्ध रखते थे, इसके भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन सुमेरिया के अवशेषों में अनेक ऐसी मुद्राएं मिली है, जो हड़प्पा की मुद्राओं से हूबहू मिलती-जुलती हैं। ये मुद्राएं सुमेरिया की अपनी मुद्राओं से सर्वथा भिन्न हैं। इनमें से एक मुद्रा पर सूती कपड़े का निशान भी अंकित है, जो सिन्धु-सभ्यता में बड़ी मात्रा में तैयार होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि सिन्धु देश के व्यापारी सुमेरिया में भी बसे हुए

थे, और वहां वे मुख्यतया कपड़े का व्यापार करते थे। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो में कुछ ऐसी मुद्राएँ मिली हैं, जो ठीक सुमेरियन शैली की हैं। ये मुद्राएँ या तो सुमेरियन व्यापारियों की सिन्धु देश में सत्ता को सूचित करती हैं, और या यह भी सम्भव है कि सुमेरिया से घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध रखने वाले कुछ सिन्धुदेशीय व्यापारियों ने सुमेरियन शैली पर अपनी मुद्राओं का निर्माण किया हो। सिन्धु-सभ्यता के व्यापारी न केवल सुमेरिया के साथ व्यापार करते थे, अपितु ईरान से भी उनका व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। ईरान के अनेक प्राचीन भग्नावशेषों में ऐसी अनेक वस्तुएं उपलब्ध हुई हैं, जो वहां सिन्धु देश से गयी मानी जाती हैं। यह विदेशी व्यापार समुद्र-मार्ग द्वारा होता होगा, यह कल्पना असंगत नहीं है, क्योंकि सिन्धु-सभ्यता के लोग जहाज से भली-भांति परिचित थे। पुरातत्त्व के पंडितों के अनुसार सिन्धु देश का पश्चिमी एशिया के देशों के साथ वह व्यापार-सम्बन्ध तीसरी सहस्राब्दि ई० पू० में विद्यमान था।

मुद्रा—इस प्रकरण में हमने अनेक बार सिन्धु-सभ्यता की मुद्राओं (मोहरों) का उल्लेख किया है। ये मुद्राएँ अच्छी बड़ी संख्या में मिली हैं, और इनपर किसी पशु, देवता या वृक्ष की प्रतिमा अंकित है। प्रतिमा के साथ-साथ कुछ लेख भी उत्कीर्ण हैं, जिन्हें अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। ये मुद्राएँ छापे के काम में लायी जाती थीं। सम्भवतः, उत्पादक या व्यापारी लोग इन्हें अपने विक्रेय पदार्थों को मुद्रित करने के काम में लाते थे। इस प्रकार की मुद्राएँ संसार की अन्य प्राचीन सभ्यताओं के अवशेषों में भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुई हैं।

(५) कला, लिपि और आमोद-प्रमोद आदि

कला—सिन्धु-सभ्यता के शिल्प का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस युग में चित्रण-कला, मूर्ति-निर्माण-कला और संगीत अच्छी उन्नत दशा में थे। मिट्टी के बरतनों को किस प्रकार सुन्दर रेखा-चित्रों और विविध प्रकार की आकृतियों द्वारा विभूषित किया जाता था, इसका निर्देश भी हमने पिछले प्रकरण में किया है। सिन्धु-सभ्यता की कला में पत्थर और धातु की बनी हुई मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। धातु की बनी हुई नर्तकी की एक मूर्ति इतनी सुन्दर है, कि वह बिलकुल सजीव प्रतीत होती है। नर्तकी का शरीर नग्न है, यद्यपि उसपर बहुत-से आभूषण बनाये गये हैं। सिर के केशों का प्रसाधन मूर्ति में बहुत ही सुन्दर रूप से प्रदर्शित किया गया है। इस नर्तकी का रूप कुल्ली-सभ्यता के अवशेषों में उपलब्ध स्त्री-मूर्तियों से मिलता-जुलता है, अतः यह अनुमान किया गया है, कि जिस स्त्री की यह मूर्ति है, वह सिन्धु देश की न होकर दक्षिणी बिलोचिस्तान की थी। नर्तनक्रिया में दक्ष होने के कारण सम्भवतः कोई व्यापारी उसे सिन्धु देश ले आया होगा। इस युग की अन्य मूर्तियाँ भी मूर्ति-निर्माण-कला की उत्तम उदाहरण हैं।

सिन्धु-सभ्यता के लोग संगीत और नृत्य के शौकीन थे, यह बात केवल नर्तकी की मूर्ति द्वारा ही सूचित नहीं होती, अपितु उन छोटे-छोटे वाद्यों द्वारा भी प्रकट होती है, जो इस युग के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। पक्षियों की कुछ ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जिनकी पूंछ से सीटी या बांसुरी बजाने का उपयोग लिया जा सकता था। तबले

और ढोल के चित्र भी कुछ स्थानों पर उत्कीर्ण मिले हैं।

अपने केशों के प्रसाधन के लिये इस युग के लोग दर्पण और कंघे का प्रयोग करते थे। ताँबे के बने हुए कुछ दर्पण इस सभ्यता के अवशेषों में मिले हैं, और हाथीदांत के बने एक कंघे से यह सूचित होता है, कि इस युग में किस ढंग के कंघे प्रयुक्त होते थे। शृंगार की वस्तुएँ उस समय में भी उपयोग में लायी जाती थीं। पत्थर के बने हुए छोटे-छोटे ऐसे पात्र मिले हैं, जो सम्भवतः शृंगार-प्रसाधन की वस्तुओं को रखने के लिये प्रयोग में लाये जाते थे।

लिपि और लेखन-कला—मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में जो बहुत-सी मुद्राएँ मिली हैं, उनपर अनेक प्रकार के लेख उत्कीर्ण हैं। लेख केवल इन मुद्राओं पर ही नहीं मिले, अपितु ताम्रपत्रों और मिट्टी के बरतनों पर भी मिले हैं। दुःख की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की इस लिपि को अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। अनेक विद्वानों ने इसे पढ़ने का प्रयत्न किया है, और कुछ का यह भी दावा है, कि वे इस लिपि को पढ़ सकने में सफल हो गये हैं। पर अभी तक पुरातत्व-शास्त्र के बहुसंख्यक विद्वान् यही मानते हैं कि यह लिपि पढ़ी नहीं जा सकती है, और जिन विद्वानों ने इसे पढ़ने का दावा किया है, उनका दावा उन्हें स्वीकार्य नहीं है। सिन्धु-सभ्यता के ये लेख चित्रलिपि में हैं, जिसका प्रत्येक चिह्न किसी विशेष शब्द या वस्तु को प्रकट करता है। इस प्रकार के ३९६ चिह्नों की सूची अब तक बनाई गयी है। सुमेरिया की प्राचीन लिपि में कुल मिलाकर ९०० चिह्न प्रयुक्त होते थे, और उरुक की प्राचीन लिपि में २००० चिह्न। ज्यों-ज्यों लेखन-कला विकसित होती जाती है, लिपि-चिह्नों की संख्या कम होती जाती है। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाए, तो यह स्वीकार करना होगा, कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि प्राचीन संसार की अन्य लिपियों की अपेक्षा अधिक उन्नत और परिष्कृत थी। कुछ विद्वानों ने प्रतिपादित किया है, कि सिन्धु-सभ्यता की यह लिपि पहली पंक्ति में दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी, और दूसरी पंक्ति में बाईं ओर से दाहिनी ओर। यह आश्चर्य की बात है, कि सिन्धु-सभ्यता की लिपि में लिखे हुए कोई बड़े उत्कीर्ण लेख अभी तक नहीं मिल सके हैं। मुद्राओं और ताम्रपत्रों पर लिखे या उत्कीर्ण किये गये छोटे लेखों के आधार पर इस लिपि को संतोषजनक रीति से पढ़ सकना बहुत सुगम प्रतीत नहीं होता।

सिन्धु-सभ्यता में लिखने के लिये स्याही का भी उपयोग होता था, यह बात छन्हूदड़ो के भग्नावशेषों में उपलब्ध एक दवात से सूचित होती है। यह दवात मिट्टी की बनी है, और इसकी उपलब्धि से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि सिन्धु-सभ्यता के लोग अपने लेखों को केवल उत्कीर्ण ही नहीं करते थे, अपितु कलम-दवात से लिखते भी थे।

आमोद-प्रमोद—सिन्धु-सभ्यता के बच्चे किस प्रकार के खिलौनों से खेलते थे, यह बात उन बड़ी संख्या में प्राप्त मिट्टी के खिलौनों से सूचित होती है, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में उपलब्ध हुए हैं। मिट्टी की बनी हुई छोटी-छोटी गाड़ियों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन गाड़ियों के साथ बैल भी बनाये गये थे। बैलों से युक्त गाड़ी से बच्चे बड़े शौक से खेलते होंगे, यह समझ सकना कठिन नहीं है। अनेक

पशु-मूर्तियाँ ऐसी भी मिली हैं, जिनके नीचे पहियों को लगाया गया था। सिन्धु-सभ्यता के बच्चों को खिलौनों को स्वयं अपने हाथों से बनाने का बहुत शौक था। इस युग के खंडहरों में बहुत-से ऐसे खिलौने मिले हैं, जो बच्चों द्वारा बनाये गये प्रतीत होते हैं। कुछ खिलौनों पर तो छोटे बच्चों की उंगलियों की रेखाएँ भी विद्यमान हैं। बच्चे जहाँ अपने खेलने के खिलौने स्वयं बनाते थे, वहाँ कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये गये खिलौने बाजार में बिकते भी थे। सिन्धु-सभ्यता के खंडहरों में मिट्टी के बने कतिपय ऐसे खिलौने मिले हैं, जो पशु-आकृति के हैं, और जिनका सिर हिलता है। कुछ खिलौनों में हाथ या पैर पृथक् हैं, जिन्हें तागे से जोड़ा गया था, और तागे को खींचने से जिनके हाथ-पैर हिलते थे। बन्दर आदि की कुछ ऐसी आकृतियाँ भी मिली हैं, जो बच्चों को विशेष रूप से आकृष्ट करती होंगी।

सिन्धु-सभ्यता के लोग आमोद-प्रमोद के लिये अनेक प्रकार के खेल खेला करते थे। ये खेल प्रायः पासों द्वारा खेले जाते थे। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में खेल के लिये प्रयुक्त होने वाले पासे बड़ी संख्या में मिले हैं। ये पासे चतुष्कोण घनरूप से बनाये गये हैं। पासे मिट्टी और पत्थर दोनों से बनाये जाते थे। उनके विविध पार्श्वों पर संख्या भी डाल दी जाती थी। कुछ पासे हाथीदांत के भी पाये गये हैं, जिन्हें सम्भवतः धनी लोग खेलने के काम में लाते थे।

सिन्धु-सभ्यता के लोग आमोद-प्रमोद के लिये नृत्य और गान को बहुत महत्त्व देते थे। इस युग की नर्तकियों की जो मूर्तियाँ व आकृतियाँ मिली हैं, उनमें से एक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तबले और ढोल की उत्कीर्ण आकृतियाँ इस बात को सूचित करती हैं, कि नृत्य के लिये इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता था। इस युग के लोगों को शिकार का भी बहुत शौक था। कुछ मुद्राओं पर यह दृश्य अंकित किया गया है, कि लोग तीर कमान से बारासिंगे का शिकार कर रहे हैं। एक अन्य मुद्रा पर दो शेरों के साथ लड़ाई करते हुए एक वीर पुरुष का चित्र अंकित किया गया है। इस युग के मनुष्य मनोरंजन के लिये तीतर और बटेरों को भी लड़ाया करते थे। सिन्धु-सभ्यता के अनेक अवशेषों पर इस प्रकार की लड़ाई के भी चित्र अंकित हैं।

(६) शासन-प्रबन्ध

सिन्धु-सभ्यता के क्षेत्र में शासन का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में कोई भी निर्देश अब तक उपलब्ध नहीं हुए हैं, और न कोई ऐसी विशाल इमारत इस सभ्यता के नगरों में मिली है, जिसे निश्चित रूप से राजप्रासाद कहा जा सकता हो। प्राचीन समय में अनेक देशों में दैवतन्त्र-शासन स्थापित थे, लोग अनेक देवी-देवताओं के उपासक थे और प्रधान देवता के मन्दिर का मुख्य पुरोहित राज्य का शासक भी होता था। प्राचीन मिस्र में इसी ढंग का दैवतन्त्र-शासन विद्यमान था। पर सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों से किसी ऐसे विशाल मन्दिर और उनके प्रधान देवता का भी परिचय नहीं मिला है, जिसके पुरोहित को इस राज्य का शासक समझा जा सके। हाँ, यह बात सर्वथा स्पष्ट है, कि सिन्ध, पंजाब, पूर्वी बिलोचिस्तान और काठियावाड़ तक विस्तृत सिन्धु-सभ्यता में एक संगठन, एक व्यवस्था और एक शासन की सत्ता थी। अन्यथा

यह कैसे सम्भव है कि इस सुविस्तृत क्षेत्र में एक ही प्रकार के माप और तोल के मान प्रचलित हों, एक ही तरह के भवनों का निर्माण होता हो, एक ही तरह की मूर्तियां पायी जाती हों, और एक ही प्रकार की लिपि का प्रचार हो ।

इस दशा में यही कल्पना संगत प्रतीत होती है, कि सिन्धु-सभ्यता का यह क्षेत्र एक विशाल साम्राज्य के रूप में संगठित था, जिसकी दो राजधानियाँ थीं, एक हड़प्पा में और दूसरी मोहनजोदड़ो में । पुराने समय में साम्राज्य के सुविस्तृत होने की दशा में इस प्रकार से दो राजधानियाँ रखने की प्रथा विद्यमान थी । रोमन साम्राज्य की दो राजधानियाँ थीं, और मागध-साम्राज्य के भी अत्यन्त विस्तृत हो जाने पर सुदूर पश्चिम में पुष्पपुर (पेशावर) के रूप में एक नये कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) की स्थापना की गयी थी । मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के रूप में सिन्धु-सभ्यता की भी दो राजधानियाँ थीं, और इनको केन्द्र बनाकर साम्राज्य के दक्षिणी और उत्तरी प्रदेशों का शासन किया जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि सिन्धु-साम्राज्य का शासन बहुत व्यवस्थित था । इस विशाल क्षेत्र में सभ्यता जो एकरूपता के साथ रह सकी, उसका यही कारण है ।

(७) सिन्धु-सभ्यता के निवासी

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में मनुष्यों के जो अस्थिपंजर मिले हैं, उनका अनुशीलन कर यह निर्णय करने का प्रयत्न किया गया है, कि सिन्धु-सभ्यता के निवासी नसल और जाति की दृष्टि से कौन थे । यह तो स्पष्ट ही है, कि इस सभ्यता के प्रधान नगरों की आबादी मिश्रित थी। व्यापार, नौकरी व अन्य आकर्षणों से आकृष्ट होकर अनेक नसलों और जातियों के लोग इन नगरों में आकर निवास करते थे । यही कारण है, कि इनसे उपलब्ध हुए मानव अस्थिपंजर विविध प्रकार के लोगों की सत्ता को सूचित करते हैं। कर्नल स्यूअल और डा० गुहा के मतानुसार इन नगरों में उपलब्ध हुए अस्थिपंजरों से यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि इनके निवासी चार विभिन्न नसलों के थे । ये नसलें निम्नलिखित हैं—आस्ट्रेलोअड, भूमध्यसागरीय, मंगोलियन और अल्पाइन । इनमें से मंगोलियन और अल्पाइन नसल के लोगों की केवल एक-एक खोपड़ी सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में प्राप्त हुई है। इससे सूचित होता है, कि इन नसलों के लोग सिन्धु देश के क्षेत्र में बहुत कम संख्या में निवास करते थे। सिन्धु देश के बहुसंख्यक निवासी आस्ट्रेलोअड और भूमध्यसागरीय नसलों के थे । इनमें भी भूमध्यसागरीय नसल का प्राधान्य था । विद्वानों का विचार है, कि आर्य जाति के इतिहास के रंगमंच पर प्रकट होने से पूर्व पृथिवी के अनेक प्रदेशों पर (विशेषतया भूमध्यसागर के तटवर्ती क्षेत्रों में और पश्चिमी एशिया में) जिन लोगों ने मानव-सभ्यता का विकास किया था, उन्हें हम सामूहिक रूप से भूमध्यसागरीय नसल का कह सकते हैं। इसी नसल को आइबीरियन भी कहा जाता है । इस नसल के लोग रंग में कुछ भूरे व कद में छोटे होते थे। संसार की प्राचीनतम सभ्यता का विकास इसी नसल के लोगों ने किया । भारत के द्राविड़ लोग भी इसी आइबीरियन नसल की एक शाखा माने जाते हैं, और अनेक विद्वानों का यह मत है, कि सिन्धु-सभ्यता का विकास इन्हीं द्राविड़-आइबीरियन लोगों द्वारा हुआ था । वर्तमान समय में द्राविड़ लोग केवल दक्षिणी भारत मेंनिवास करते

हैं। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन समय में द्राविड़ लोग उत्तरी भारत में भी निवास करते थे। एक द्राविड़ भाषा (ब्राहुई) भारत के पश्चिमी कोने में कलात के प्रदेश में अब भी बोली जाती है। सुदूर कलात में ब्राहुई नामक एक जाति निवास करती है, जिसकी भाषा द्राविड़ वंश की है। ब्राहुई बोलने वालों की कुल संख्या १ लाख ८४ हजार है। भारत के पश्चिमी कोने में एक द्राविड़ भाषा की सत्ता से कुछ विद्वानों ने यह परिणाम निकाला है, कि प्राचीन काल में द्राविड़ लोग केवल दक्षिणी भारत में ही आबाद नहीं थे, अपितु उत्तरी व पश्चिमी भारत में भी बसे हुए थे, और आर्यों के आक्रमण के कारण ही वे अपना पुराना अभिजन छोड़कर दक्षिण की ओर चले जाने के लिये विवश हुए थे। पर सिन्धु-सभ्यता के निवासियों का द्राविड़ होना अभी सब विद्वानों ने स्वीकार नहीं किया है। ब्राहुई के रूप में एक द्राविड़ भाषा का भारत के पश्चिमी कोने में पाये जाने का यह भी कारण हो सकता है, कि दक्षिणी भारत के कतिपय द्राविड़ लोग पश्चिमी देशों के साथ होने वाले व्यापार के सिलसिले में उत्तर-पश्चिम में जा बसे हों, और ये ब्राहुई लोग द्राविड़ों के एक उपनिवेश को सूचित करते हों।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि सिन्धु-सभ्यता का विनाश बाह्य आक्रमणों द्वारा हुआ था। २००० ई० पू० के लगभग संसार की प्राचीन सभ्यताओं के ऊपर बाह्य शत्रुओं के हमले शुरू हो गए थे। इसी समय के लगभग एशिया माइनर के प्रदेश पर हत्ती या खत्ती (हित्ताईत) जाति ने आक्रमण किया था, और वहाँ की पुरातन सभ्यताओं का विनाश कर अपने राज्य की स्थापना की थी। ये खत्ती लोग उस आर्य-जाति की एक शाखा थे, जो इस समय अपने पुराने अभिजन को छोड़कर भूमध्यसागरीय या आइबीरियन जातियों द्वारा विकसित सभ्यताओं के ध्वंस में तत्पर थी। इसी आर्य जाति की अन्य शाखाओं ने ईराक, ईरान आदि पश्चिमी एशिया की अन्य प्राचीन सभ्यताओं को विनष्ट किया। २००० ई० पू० के कुछ समय बाद आर्यजाति की ही एक शाखा ने भारत पर आक्रमण कर उन सभ्यताओं को नष्ट किया, जो उस समय इस देश में विद्यमान थीं। सिन्धु-सभ्यता का विनाश भी आर्य लोगों द्वारा हुआ। आर्यो ने इनके दुर्गों व पुरों का ध्वंस किया। आर्य लोग इन्हें 'दस्यु' या 'दास' कहते थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का अन्य कोई नाम हमें ज्ञात नहीं है, अतः यदि हम भी उन्हें दस्यु या दास संज्ञा दें, तो अनुचित नहीं होगा। ये दोनों शब्द संस्कृत में डाकू और गुलाम अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं। आर्यो ने जिन लोगों को नष्ट किया, उनके नाम को यदि वे इन हीन अर्थों में प्रयुक्त करने लगे हों, तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

सिन्धु-सभ्यता २००० ई० पू० के लगभग तक कायम रही। इससे पूर्व वह अनेक सदियों तक फलती-फूलती दशा में थी' यह बात निर्विवाद है।

पाँचवाँ अध्याय

आर्य जाति और उसका भारत में प्रवेश

(१) आर्य-जाति

अठाहरवीं सदी के उत्तरार्ध में जब कतिपय यूरोपियन विद्वानों ने भारत के सम्पर्क में आकर संस्कृत-भाषा का अध्ययन शुरू किया, तो उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ, कि संस्कृत की लेटिन और ग्रीक भाषाओं के साथ बहुत समता है। यह समता केवल शब्दकोष में ही नहीं है, अपितु व्याकरण में भी है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में यह 'आविष्कार' बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसे प्रकट करने वाले प्रथम विद्वान केअर्दू थे, जिन्होंने १७६७ ई० में ग्रीक और लेटिन की संस्कृत के साथ समता का प्रतिपादन किया। केअर्दू फ्रेंच थे, और इसी कारण ब्रिटिश विद्वानों ने उनके आविष्कार पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उनके कुछ समय बाद सर विलियम जोन्स नामक अंग्रेज विद्वान् ने १७८६ ई० में इसी तथ्य को प्रकट किया, और उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि संस्कृत, लेटिन, ग्रीक, जर्मन और केल्टिक भाषाएँ एक ही भाषा-परिवार की हैं, और इनका मूलस्थान एक ही है। जोन्स की इस स्थापना से यूरोप के विद्वानों में एक तहलका-सा मच गया। हीगल ने तो यहाँ तक लिख दिया, कि जोन्स का यह आविष्कार एक नई दुनिया के आविष्कार के समान है। इस समय से उस नये विज्ञान का प्रारम्भ हुआ, जिसे हम तुलनात्मक भाषाविज्ञान कहते हैं। संसार की वर्तमान और प्राचीन भाषाओं का अध्ययन कर विद्वान् लोग शब्दकोष और व्याकरण की दृष्टि से उनकी तुलना करने लगे, और उन्हें विविध भाषा-परिवारों में विभक्त करने लगे। इस विवेचना से विद्वानों ने यह परिणाम निकाला कि इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, ग्रीक, केल्टिक, जर्मन, इंगलिश, ट्यूटानिक, स्लावोनिक, लिथुएनियन, लेटिन, अल्बेनियन आदि यूरोपियन भाषाएँ, उत्तरी भारत की हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती, बंगाली, उड़िया आदि भाषाएँ और पश्चिमी एशिया की जेन्द, पर्शियन, पश्तो, बलूची, कुर्द और आर्मीनियन भाषाएँ एक ही विशाल भाषा-परिवार की अंग हैं। यूरोप और एशिया की इन सब भाषाओं में शब्दकोष और व्याकरण की जो आश्चर्यजनक समता है, वह आकस्मिक नहीं हो सकती। इस समता का कारण यही हो सकता है, कि इन विविध भाषाओं को बोलने वाले लोगों के पूर्वज किसी अत्यन्त प्राचीन काल में एक स्थान पर निवास करते थे और एक भाषा बोलते थे। बाद में जब वे अनेक शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त होकर विविध प्रदेशों में बस गये, तो उनकी भाषा भी पृथक् रूप से विकसित होती गयी। पर उसमें वह समता कायम रही, जो हमें इस समय आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। जिस प्रकार गुजराती, मराठी, बंगाली, हिन्दी आदि विविध भारतीय भाषाओं का उद्गम प्राचीन संस्कृत भाषा से हुआ, वैसे ही यूरोप और एशिया की इन भाषाओं का स्रोत कोई एक प्राचीन भाषा थी, जिसका स्वरूप हमें

अज्ञात है। यदि यह बात सत्य है, कि अटलांटिक महासागर के समुद्र-तट से भारत तक विस्तृत इस विशाल क्षेत्र में (पश्चिमी एशिया की सेमेटिक भाषाओं और यूरोप की तुर्क, मगयार और फिन भाषाओं के क्षेत्रों को छोड़कर) जो भाषाएँ अब बोली जाती हैं, उनका उद्गम एक है, तो साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि इनको बोलने वाले लोग एक ही विशाल जाति के अंग हैं, और किसी प्राचीन काल में वे एक ही स्थान पर निवास करते थे। अनेक विद्वानों ने शरीर की रचना और आकृति के आधार पर भी इस मन्तव्य की पुष्टि की और यह बात सर्वमान्य-सी हो गयी, कि यूरोप, ईरान और भारत के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से एक हैं, और उनके रंग, रूप और भाषा आदि में जो भेद इस समय दिखायी देता है, उसका कारण जलवायु की भिन्नता और चिरकाल तक एक-दूसरे से पृथक् रहना ही है।

इस जाति का नाम क्या हो, इस सम्बन्ध में विद्वानों में एकमत नहीं है। इसके लिए विविध लेखकों ने 'इण्डो-जर्मन', 'इण्डो-यूरोपियन', 'इण्डो-ईरानियन', 'आर्यन्' आदि विविध नामों का उपयोग किया है। कुछ लेखकों ने इसके लिये 'वीराः' या 'वीरोस्' शब्द चुना है, क्योंकि भाषा-परिवार की अनेक प्राचीन भाषाओं में मनुष्य के लिये 'वीर' या इससे मिलते-जुलते शब्द विद्यमान हैं। पर अधिक प्रचलित शब्द 'आर्यन्' या 'आर्य' है, और हमने भी इसी को उपयुक्त समझा है। संस्कृत और प्राचीन ईरानियन भाषा में आर्य शब्द अपनी जाति के लिये प्रयुक्त होता था। भारत के आर्य लोग तो अपने को आर्य कहते ही थे, ईरानी लोग भी इसी शब्द का उपयोग करते थे। ईरान शब्द स्वयं आर्य का अपभ्रंश है, और इस शब्द की स्मृति आयरलैंड के 'आयर' में भी विद्यमान है। इन्हीं दृष्टियों से बहुसंख्यक विद्वान् इस विशाल जाति के लिये आर्य संज्ञा का उपयोग करना उपयुक्त समझते हैं।

(२) आर्य जाति का मूल अभिजन

जो विशाल आर्य जाति इस समय अटलान्टिक महासागर से भारत तक फैली हुई है, उसका मूल अभिजन (निवास-स्थान) कौन-सा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में अनेक मत हैं। इनमें से कतिपय प्रमुख मतों पर हम यहाँ संक्षेप से प्रकाश डालेंगे :—

(१) **मध्य एशिया**—आर्य जाति का मूल अभिजन मध्य एशिया (ईरान के उत्तर और कैस्पियन सागर के पूर्व) में था, इस मत को सबसे पूर्व १८२० ई० में जे० जी० र्होड ने प्रतिपादित किया था। ईरान की प्राचीन अनुश्रुति को दृष्टि में रखकर र्होड ने यह मत स्थिर किया, कि आर्य लोग शुरू में बैक्ट्रिया में निवास करते थे, और वहाँ से वे दक्षिण, पूर्व और पश्चिम दिशाओं में फैले। जिस ईरानी अनुश्रुति को र्होड ने अपने मत का आधार बनाया था, उसका हम आगे चलकर उल्लेख करेंगे। श्लीगल और पॉट ने र्होड के मत का समर्थन किया। पॉट का कथन था, कि बाद के इतिहास में हम देखते हैं कि कितनी ही जातियाँ मध्य एशिया के क्षेत्र से पूर्व और पश्चिम की तरफ फैलीं। जो प्रक्रिया बाद के इतिहास में हुई, वही प्राचीन युग में भी हुई थी, और आर्य लोग इसी क्षेत्र से अन्य प्रदेशों में जाकर बसे थे। सन् १८५९ में प्रोफेसर मैक्स-मूलर ने मध्य एशिया के आर्यों का मूल निवास स्थान होने के मत की प्रबलता के साथ

पुष्टि की। आर्य लोग पहले मध्य एशिया में निवास करते थे। उनकी एक शाखा दक्षिण-पूर्व की तरफ चली गयी। इसी की बाद में ईरानी और भारतीय आर्यों के रूप में दो उप-शाखाएँ हो गयीं। ईरानी और भारतीय आर्य चिरकाल तक एक साथ रहे थे। यही कारण है, कि उनमें परस्पर बहुत अधिक समता पायी जाती है। आर्य-जाति की अन्य शाखाएं पश्चिम व दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ती गयीं और धीरे-धीरे सारे यूरोप में फैल गयीं। सन् १८७४ में प्रोफेसर सेग्रस ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर मध्य एशिया में आर्यों के मूल अभिजन होने के मत की पुष्टि की। उन्होंने कहा कि वेद और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से यह सूचित होता है, कि आर्य लोग पहले ऐसे स्थान पर रहते थे, जहाँ शीत की अधिकता थी। ऋग्वेद में वर्ष को सूचित करने के लिए 'हिम' का प्रयोग किया गया है। वहाँ एक मन्त्र (ऋग्वेद ५,५४,१५) में 'तरेम तरसा शतं हिमाः' यह पद आया है, जिसका अर्थ है कि हम शत हिम (सौ साल) जीएं। वेद और अवस्ता में घोड़े और गौवों का जिक्र आता है, नाव चलाने का भी उल्लेख है, और वृक्षों में पीपल का वर्णन है। अतः आर्यों का मूल अभिजन कोई ऐसा प्रदेश होना चाहिए जहाँ खूब सरदी पड़ती हो, पीपल बहुत होता हो, नाव चलाने की सुविधा हो, और घोड़ों व गौवों की प्रचुरता हो। ऐसा प्रदेश मध्य-एशिया का है। कैस्पियन सागर के समीप होने के कारण वहाँ नाव की सुविधा है, और अन्य सब वनस्पति व जन्तु भी वहाँ उपलब्ध हैं। क्योंकि जेन्दाबस्ता में इस बात का निर्देश भी मिलता है, कि आर्य लोग पहले बैक्ट्रिया के प्रदेश में निवास करते थे, अतः कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती इस प्रदेश को आर्यों का मूल स्थान मानना चाहिए।

(२) **उत्तरी ध्रुव**—भारत के प्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने आर्यों के मूल अभिजन के सम्बन्ध में यह मत प्रतिपादित किया, कि शुरू में आर्य लोग उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में रहते थे। जलवायु की स्थिति में परिवर्तन होने के कारण बाद में वे अन्य स्थानों में जाने के लिये विवश हुए। तिलक ने इस मत को प्रधानतया वैदिक संहिताओं के आधार पर पुष्ट किया था। इसमें सन्देह नहीं, कि ऋग्वेद के निर्माण के समय आर्य लोग सप्तसैन्धव (पंजाब व समीपवर्ती प्रदेश) देश में आ चुके थे। पर उस युग की स्मृति अभी उनमें विद्यमान थी, जब कि वे उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में निवास करते थे। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में छः मास के दिन का वर्णन आता है। एक सूक्त में उषा की स्तुति की गयी है। यह वैदिक उषा भारत की उषा नहीं है, जो कुछ मिनटों तक रहती है। यह एक अत्यन्त सुदीर्घकाल तक रहने वाली उषा है, जो समाप्त ही नहीं होती। ऐसी उषा उत्तरी ध्रुव के प्रदेश में ही होती है, मध्य एशिया या भारत में नहीं। महाभारत में सुमेरु पर्वत का वर्णन आता है, जहाँ देव लोगों का निवास है। सुमेरु के क्षेत्र में एक साल का अहोरात्र होता है। इस पर्वत पर बहुत-सी वनस्पतियाँ व औषधियां भी उत्पन्न होती हैं। जिस पर्वत पर एक साल का अहोरात्र होता हो, वह केवल उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में ही हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि महाभारत के इस वर्णन में उस समय की स्मृति सुरक्षित है, जबकि आर्य लोग उत्तरी ध्रुव में निवास करते थे, और जबकि हिमप्रलय-पूर्ववर्ती समय में वह प्रदेश वनस्पति आदि से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्यों के निवास के योग्य था। आर्य लोग वहाँ से चले आये थे

पर अपने प्राचीन अभिजन को आदर की दृष्टि से देखते थे, और यह कल्पना करते थे कि देव लोग अब तक भी वहाँ निवास करते हैं।

प्राचीन ईरानियों के धर्मग्रन्थ जेन्दावस्ता की प्रथम पुस्तक वेन्दिदाद में भी कतिपय ऐसे निर्देश मिलते हैं, जो आर्यों के मूल अभिजन पर प्रकाश डालते हैं। उनके अनुसार अहुरमज्द ने पहले-पहल 'ऐर्य्यन वेइजो' (आर्यों का बीज या मूल) का निर्माण किया। इस प्रदेश में सरदी के दस महीने और गर्मी के दो महीने होते थे। ऐर्य्यन वेइजो के बाद अहुरमज्द ने सुग्ध और फिर मोउर का निर्माण किया। अनेक विद्वानों के अनुसार यह ऐर्य्यन वेइजो देश उत्तरी ध्रुव के समीप ही कहीं स्थित था। जेन्दावस्ता में अहुरमज्द द्वारा निर्मित विविध देशों का जो क्रम लिखा गया है, अनेक विचारकों के अनुसार वह आर्यों के विस्तार को सूचित करता है। पर ऐर्य्यन वेइजो उत्तरी ध्रुव के क्षेत्र में ही कहीं था, इस बात से सब विद्वान् सहमत नहीं हैं। कतिपय विद्वान् इस प्रदेश को ईरान के उत्तर में स्थित मानते हैं।

(३) **सप्तसैन्धव देश**—भारत के ही कुछ अन्य विद्वानों ने यह मत प्रतिपादित किया, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन सप्तसैन्धव देश था। सरस्वती, शतद्रु, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता और सिन्धु—इन सात नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश का प्राचीन नाम सप्तसैन्धव देश था। आर्य लोगों का यही प्राचीन अभिजन था, और यहीं से वे सारे भारत में और पश्चिम में यूरोप तक फैले। इस मत के प्रधान समर्थक श्री अविनाशचन्द्र दास हैं। उन्होंने बड़े विस्तार से यह प्रतिपादित किया है कि ऋग्वेद के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में आर्य लोग इन सात नदियों के प्रदेश में निवास करते थे। तब वर्तमान राजपूताना और पूर्वी उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल के प्रदेशों में समुद्र था। इन्हीं को वैदिक आर्य दक्षिणी और पूर्वी समुद्र कहते थे। ऋग्वेद के आधार पर ही श्रीयुत दास ने यह प्रदर्शित किया, कि आर्यों की एक शाखा अहुरमज्द (असुर महत्) की उपासिका होने के कारण अन्य आर्यों के साथ संघर्ष में व्यापृत हुई, और उनसे परास्त होकर पश्चिम की ओर चली गयी और ईरान में जा बसी। वैदिक आर्य देवों के उपासक थे, और ईरान में बसने वाले आर्य असुरों के। पहले ये एक साथ सप्तसैन्धव देश में निवास करते थे। पर धार्मिक मतभेद के कारण इनमें घोर संग्राम हुआ, जिसे वैदिक साहित्य में देवासुर-संग्राम कहा गया है। इसमें असुर लोग परास्त हुए, और अपना मूल अभिजन छोड़कर पश्चिम में ईरान के प्रदेश में बस जाने के लिये विवश हुए। सप्तसैन्धव के क्षेत्र में निवास करने वाली एक अन्य आर्य जाति, जिसे 'पणि' कहते थे, व्यापार में विशेष कुशल थी। वह पश्चिम की ओर जाकर बस गयी, और आगे चलकर प्यूनिक व फिनीशियन जाति कहाई। पश्चिमी एशिया के सेमेटिक लोगों पर इस पणि जाति का बहुत प्रभाव पड़ा। आर्य जाति की अन्य शाखाएँ सप्तसैन्धव देश से यूरोप में भी गयीं, और यूरोप की भाषाओं में और संस्कृत व प्राचीन ईरानी भाषाओं में जो समता दृष्टिगोचर होती है, उसका कारण आर्य जातियों का यह विस्तार ही है।

श्रीयुत दास ने लोकमान्य तिलक की उन युक्तियों की भी विस्तृत रूप से आलोचना की, जिनके आधार पर उत्तरी ध्रुव को आर्यों का मूल अभिजन प्रतिपादित किया

गया था। यह तो स्पष्ट ही है, कि ऋग्वेद के समय आर्य सप्तसैन्धव देश में निवास करते थे। उत्तरी ध्रुव में सुदीर्घ उषा और छः मास के दिन व रात का जो वर्णन कहीं-कहीं वैदिक सूत्रों में आ गया है, उसका कारण यह भी हो सकता है, कि वैदिक युग के आर्यों को सप्तसैन्धव देश से बाहर के देशों का भी ज्ञान था।

(४) **डैन्यूब नदी की घाटी**—तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आधार पर अनेक विद्वानों ने इस मत का प्रतिपादन किया है, कि आर्यों का मूल अभिजन हंगरी या डेन्यूब नदी की घाटी का क्षेत्र था। प्राचीन समय की विविध आर्य-भाषाओं में से एक-सम शब्दों को चुनकर भाषा-विज्ञान के इन पंडितों ने इसे आर्य या 'वीरा:' जाति की सभ्यता का चित्र खींचने का प्रयत्न किया; और इस जाति को जिन पशुओं, वनस्पतियों या वृक्षों का परिचय था, उनकी उत्पत्ति के लिये सबसे अधिक अनुकूल स्थान डेन्यूब नदी की घाटी ही हो सकती थी, इस मत की स्थापना की। इस मत के प्रधान प्रतिपादक श्री गाइल्स थे। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित भारत का प्राचीन इतिहास (प्रथम भाग) में भी इसी मत को स्वीकृत किया गया है।

(५) **दक्षिणी रूस**—कैस्पियन सागर के पूर्व में रूस के दक्षिणी भाग में आर्यों का मूल अभिजन था, इस मत का प्रतिपादन पहले-पहल प्रोफेसर मायर्स ने किया था। प्रो० मायर्स की स्थापना का आधार तुलनात्मक भाषा-विज्ञान था। पर बाद में प्रोफेसर चाइल्ड ने पुरातत्व-सम्बन्धी अवशेषों के आधार पर भी इस मत का समर्थन किया, और आजकल के यूरोपियन विद्वानों का झुकाव मुख्यतया इसी मत को स्वीकृत करने की ओर है। इस क्षेत्र में एक प्राचीन सभ्यता के अनेक अवशेष मिले हैं, जो ईसा से तीन सहस्राब्दी के लगभग पहले के माने जाते हैं। इस सभ्यता के लोग पशुपालक दशा से ऊपर उठकर खेती का प्रारम्भ कर चुके थे। उनकी स्थिर बस्तियाँ भी विद्यमान थीं। पत्थर के अतिरिक्त वे अपने औजारों व अन्य उपकरणों के लिये धातु का भी प्रयोग करने लगे थे। सोने और चाँदी से वे भली-भाँति परिचित थे। पशुओं में वे भेड़, बकरी, गाय और घोड़े का पालन करते थे। उनमें एक प्रकार का राजनीतिक संगठन भी विकसित हो चुका था, और उनके सरदार व ग्रामणी सर्वसाधारण लोगों की अपेक्षा अधिक वैभव के साथ जीवन व्यतीत करते थे। ये लोग अपने मृतकों को गाड़ते थे, और उनके लिये समाधियों का निर्माण करते थे। प्रोफेसर चाइल्ड और अन्य अनेक विद्वानों का मत है, कि कैस्पियन सागर के पूर्व के दक्षिणी रूस के प्रदेश में विविध स्थानों पर जो अनेक छोटी-बड़ी समाधियाँ मिली हैं, वे आर्य जाति के लोगों की ही हैं। अति प्राचीन काल में आर्य लोग इस प्रदेश में बसते थे, और वहीं से उनकी शाखाएँ अन्य स्थानों पर फैलीं।

विवेचना—आर्य जाति का मूल अभिजन कौन-सा था, इस सम्बन्ध में विद्वानों में जो प्रमुख मत हैं, उनका हमने संक्षेप से उल्लेख कर दिया है। यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है, कि इनमें से कौन-सा मत सही व स्वीकार्य है। वस्तुतः, अभी तक कोई ऐसा प्रमाण व आधार नहीं मिला है, जिससे आर्य जाति के मूल निवास-स्थान का अन्तिम रूप से निश्चय किया जा सके। ऐसे विद्वान् भी हैं, जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों द्वारा सूचित होने वाली सिन्धु-सभ्यता को मूल आर्य-सभ्यता के रूप में स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानों ने दजला और फरात (युफ्रेटस और टिग्रिस) नदियों

की घाटी में विद्यमान सुमेर सभ्यता को ही मूल आर्य-सभ्यता माना है। प्रोफेसर वाडेल के अनुसार सुमेर के भग्नावशेषों में जो विविध मोहरें (मुद्राएँ व छापें) मिली हैं, उन पर उत्कीर्ण राजाओं के नाम भारत की पौराणिक अनुश्रुति के राजाओं के नामों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उन्होंने तो यहाँ तक लिखा है, कि पौरव, ऐक्ष्वाकव आदि प्राचीन भारतीय राजवंशों के राजा दजला और फरात की घाटी में ही शासन करते थे, और बाद में जब उनके वंशज भारत में आये, तो इन प्राचीन राजाओं की स्मृति को भी अपने साथ लेते आये। भारत में कहीं भी रघु, दिलीप व दशरथ के समय के अवशेष उपलब्ध नहीं हुए। इसका कारण यही है, कि ये राजा भारत के निवासी नहीं थे। इनके अवशेष प्राचीन ईराक में मिलते हैं। प्रो० वाडेल के मत को यहाँ प्रदर्शित करने का अभिप्राय यह दिखाने का है, कि इस अत्यन्त प्राचीन युग के इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद है, और उनकी बहुत-सी स्थापनाएँ अटकल, अनुमान या कल्पना पर ही निर्भर हैं। वैज्ञानिक ढंग से अभी इस विषय का प्रतिपादन नहीं हुआ है।

पर यहाँ यह लिख देना आवश्यक है, कि प्राचीन इतिहास के विद्वानों का झुकाव इस ओर नहीं है, कि वे सप्तसैन्धव देश या सिन्धु-घाटी में आर्यों के मूल निवास-स्थान होने की बात स्वीकृत करें। यद्यपि भारत के बहुसंख्यक विद्वान् वैदिक साहित्य के आधार पर यही प्रतिपादित करते हैं, कि आर्य लोग भारत से अन्य देशों में गये, पर यूरोपियन विद्वानों का मत इससे विपरीत है। उनका कथन है, कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व भारत में जो द्राविड़ सभ्यता विद्यमान थी, वह ईराक और भूमध्यसागर के तट पर विद्यमान प्राचीन-सभ्यता या यूरोप की आइबीरियन सभ्यता के समकक्ष थी। इसे हम संसार की मूलभूत सभ्यता कह सकते हैं। आर्य लोग इस सभ्यता से साथ आक्रान्ता के रूप में संपर्क में आये। जिस प्रकार यूरोप में ग्रीक, लैटिन आदि प्राचीन आर्य जातियों ने आक्रमण कर आइबीरियन सभ्यता का ध्वंस किया, और जैसे हत्ती (या हित्ताइत), मित्तनी आदि जातियों ने पश्चिमी एशिया की मूलभूत सभ्यता का विनाश किया, वैसे ही भारत मे आर्य आक्रान्ताओं ने द्राविड़ सभ्यता को परास्त किया। ये ग्रीक, लैटिन, हत्ती, मित्तनी, भारतीय आर्य आदि सब एक विशाल आर्य जाति की ही विविध शाखाएँ थीं, जो अनेक धाराओं में प्राचीनतम सभ्यताओं के क्षेत्रों में प्रविष्ट हुईं। यूरोप में ग्रीक व लैटिन लोगों से पहले भी कैल्टिक जाति के रूप में आर्य-जाति की एक धारा प्रवेश कर चुकी थी। भारत में भी आर्यों का प्रवेश अनेक धाराओं में हुआ। डा० हार्नली के अनुसार आर्य लोग भारत में दो धाराओं में आये। पहली धारा उत्तर-पश्चिम की ओर से प्रविष्ट होकर भारत में मध्य देश (गंगा-यमुना का क्षेत्र) तक चली गयी। आर्यों की दूसरी धारा ने मध्य हिमालय (किन्नर देश, गढ़वाल और कूर्माचल) के रास्तों से भारत में प्रवेश किया, और अपने से पहले बसे हुए आर्यों को पूर्व, पश्चिम और दक्षिण की तरफ धकेल दिया। पहले आने वाले आर्य मानव-वंश के थे, और दूसरे ऐल-वंश के।

भारत में आर्यों का प्रवेश चाहे दो धाराओं में हुआ हो या अधिक धाराओं में, पर बहुसंख्यक विद्वानों का यही मत है, कि वे बाहर से आकर ही इस देश में प्रविष्ट हुए थे। वर्तमान समय में विद्वानों का झुकाव इस ओर है, कि आर्य लोगों का मूल अभिजन कैस्पियन सागर के पूर्व में वंक्षु (आक्सस) नदी तक के प्रदेश में कहीं पर था।

(३) आर्य-जाति का प्रसार

आर्य-जाति का मूल निवास-स्थान चाहे सप्तसैन्धव देश में हो, चाहे कैस्पियन सागर के पूर्ववर्ती प्रदेश में, यह निश्चित है कि उसकी विविध शाखाएँ अनेक धाराओं में एशिया और यूरोप के विविध प्रदेशों में जाकर आबाद हुईं। इनमें से कतिपय शाखाओं के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी उपलब्ध हुए हैं। दजला और फरात नदियों की घाटी में जिस प्राचीन (आर्यों से पूर्ववर्ती) सभ्यता का विकास हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। सोलहवीं सदी ई० पू० में ईराक के इस प्रदेश पर उत्तर-पश्चिम की ओर से आक्रमण शुरू हुए। कस्साइत् नामक एक जाति ने बैबिलोन को जीत कर वहाँ अपना शासन स्थापित कर लिया। ये कस्साइत् लोग आर्य जाति के थे। इनके राजाओं के नाम आर्य-राजाओं के नामों के सदृश हैं। कस्साइत् राजवंश की राजधानी वेबिलोन थी, और ईराक के प्रदेश में स्थित इस प्राचीन नगरी में सम्भवतः यह आर्य-जाति का प्रथम राजवंश था। कस्साइत् (या कस्शु) लोगों के प्रधान देवता सूर्यस् (सूर्य) और मरुत (मरुत्) थे। इनकी भाषा भी आर्य-परिवार की थी। इनके जो लेख मिले हैं, उनके अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ये लोग विशाल आर्य-जाति की ही अन्यतम शाखा थे।

पन्द्रहवीं सदी ई० पू० के लगभग मित्तनी नामक एक अन्य जाति ने कस्साइत् लोगों के राज्य के उत्तर-पश्चिम में अपने राज्य की स्थापना की। मित्तनी लोग भी आर्य-जाति के थे। इनके पश्चिम में एक अन्य आर्य-जाति ने अपने राज्य की स्थापना की, जिसे खत्ती, हत्ती या हित्ताइत कहते हैं। मित्तनी और खत्ती जातियों के राज्य एक दूसरे के पड़ोस में थे, अतः उनमें प्रायः संघर्ष होता रहता था। १३८० ई० पू० के लगभग इन दोनों राज्यों में परस्पर सन्धि हो गयी। यह सन्धि मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हुई मिली है, और ये तख्तियाँ बोगजकोई नामक स्थान पर उपलब्ध हुई हैं। बोगजकोई मित्तनी राज्य की राजधानी के प्राचीन स्थान को सूचित करता है, और एशिया माइनर में स्थित है। यह सन्धि मित्तनी के राजा (दशरथ के पुत्र) मतिउज और खत्ती के राजा सुबिलुलिम के बीच में हुई थी। इस सन्धि के साक्षी रूप कुछ देवताओं के नाम लिखे गये थे। ये देवता हैं, मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ। बोगजकोई के इस लेख में इन देवताओं के नाम इस रूप में दिये गये हैं—मि-इत्-अस्, व-अर-रु-उण-अस् इन्-द-र, न-स-अति-इअ। वैदिक पदों को इस रूप में लिखने की प्रथा की व्यवस्था भारत में भी थी। मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ (अश्विनीकुमार) देवताओं के नामों की एशिया माइनर में सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि मित्तनी और खत्ती दोनों आर्य जातियाँ थीं, और दोनों उन आर्य-देवताओं की पूजा करती थीं, जिनका परिज्ञान हमें ऋग्वेद से होता है। इससे यह भी सूचित होता है, कि जिस युग में सब आर्य जातियाँ एक प्रदेश में निवास करती थीं, तब भी उनमें इन देवताओं की पूजा प्रचलित थी। बोगजकोई में ही एक पुस्तक भी प्राप्त हुई है, जो कि मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण की हुई है। इस पुस्तक का विषय रथचालन है। इसका लेखक किक्कुली नामक एक व्यक्ति था, जो मित्तनी जाति का था। रथ के पहियों के घूमने के लिये इस पुस्तक में 'आवर्त्तन्न' शब्द का प्रयोग किया गया है, और एक, तीन, पाँच व सात चक्करों के लिये क्रमशः ऐकवर्त्तन्न, तेरवर्त्तन्न,

पंचवर्त्तन्न और सत्तवर्त्तन्न शब्दों का उपयोग किया गया है। आवर्त्तन्न शब्द संस्कृत भाषा के आवर्त्तन शब्द से मिलता है, और इससे सूचित होता है, कि मित्तनी लोगों की भाषा संस्कृत से बहुत मिलती-जुलती थी। मित्तनी राजाओं द्वारा भेजे गये कतिपय पत्र मिस्र में एल-अमरना नामक स्थान पर भी उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र भी मिट्टी की तख्तियों पर उत्कीर्ण हैं। इन पत्रों में मित्तनी-राजाओं के अर्ततम, दशरत्त आदि जो नाम मिले हैं, वे भी संस्कृत शब्दों के बहुत समीप हैं। इसी प्रकार खत्ती राजाओं के अन्यतम नाम मर्यतस् और सूर्यस् स्पष्टतया संस्कृत नामों से मिलते-जुलते हैं। इन प्रमाणों को दृष्टि में रखने से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि कस्साइत, खत्ती और मित्तनी के रूप में जो जातियाँ पश्चिमी एशिया के रंगमंच पर प्रकट हुई थीं, वे आर्य-जाति की ही शाखाएँ थीं। अपने मूल अभिजन से निकलकर जब आर्य-जातियों के प्रसार का प्रारम्भ हुआ, तो उसकी कुछ शाखाएँ इस क्षेत्र में जा बसीं, बोगजकोई आदि के अवशेष इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

पूर्व की ओर जो आर्य लोग गये, उनकी दो प्रधान शाखाएँ थीं, ईरानी और भारतीय। जिस प्रकार भारतीय आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ ऋग्वेद है, वैसे ही ईरानी आर्यों का प्रमुख ग्रन्थ जेन्दावस्ता है। जेन्दावस्ता की भाषा वैदिक भाषा से बहुत मिलती है। उनमें न केवल तत्सम शब्दों की प्रचुरता है, अपितु साथ ही व्याकरण, धातु आदि भी एक-दूसरे के सदृश हैं। प्राचीन ईरानी लोगों का धर्म भी वैदिक धर्म के बहुत समीप था। मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की पूजा प्राचीन ईरानी लोग भी करते थे। ऐसा प्रतीत होता है, कि पूर्व की ओर जाने वाली ये दोनों आर्य-जातियां बहुत समय तक एक-दूसरे के साथ रहीं, और उनके धर्म का साथ-साथ विकास हुआ। देर तक साथ रहने से उनकी भाषा भी एक-दूसरे के अधिक समीप रही।

पर बाद में आर्यों की ईरानी और भारतीय शाखाओं में विरोध हो गया। इस विरोध ने एक उग्र संग्राम का रूप धारण किया। अन्त में ईरानी लोग परास्त हुए, और वे अपने साथियों से पृथक् होकर उस देश में बस गये, जिसे आजकल ईरान कहा जाता है, और जिसका यह नाम आर्य-जाति के नाम पर ही पड़ा था। वैदिक संहिताओं और जेन्दावस्ता के अनुशीलन से इस संघर्ष पर बहुत प्रकाश पड़ता है। इसी को देवासुर-संग्राम भी कहा जाता है।

संस्कृत-भाषा में देव शब्द उत्तम अर्थ में और असुर बुरे अर्थों में प्रयुक्त होता है। देव का अभिप्राय है, दिव्य गुणयुक्त। असुर का अर्थ है, दानव या दैत्य। इसके विपरीत प्राचीन जेन्द भाषा में असुर शब्द अच्छे अर्थों में और देव शब्द घृणित अर्थों में आता है। प्राचीन ईरानी असुर के उपासक थे। उनका प्रधान देवता (उपास्य देव) अहुरमज्द (असुर महत्) था। किसी अत्यन्त प्राचीन काल में वैदिक आर्य भी असुर शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में करते थे। वे अपने देवताओं को असुर (प्रतापशाली) कहते थे। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में आर्यों में मतभेद हो गया। उनका एक भाग देव का उपासक हो गया, और दूसरा असुर का। इस विरोध का कारण सम्भवतः धार्मिक था। जेन्दावस्ता में मित्र, वरुण, अग्नि आदि वैदिक देवताओं की तो सत्ता है, पर इन्द्र को कहीं उपास्य नहीं माना गया। इसके विपरीत वेदों में इन्द्र की

महिमा बहुत विशद रूप से वर्णित है। ऋग्वेद के कितने ही सूक्त इन्द्र की स्तुति में बनाये गये हैं, और उसे देवों का देव माना गया है। अन्य देवता किसी एक लोक का शासन करते हैं, पर इन्द्र तीनों लोकों (द्युलोक, अन्तरिक्ष-लोक और पृथिवी-लोक) का अधिपति है। इसके विपरीत जेन्दावस्ता में इन्द्र का समावेश उन देवों में किया गया है, जो असुर नहीं हैं, जो असुर के विरोधी हैं, और इस कारण जो घृणायोग्य हैं। प्रचीन ईरानी लोग किस कारण देवविरोधी और असुर के उपासक हो गये, और भारत के आर्य किस कारण से असुर विरोधी और देव के उपासक हो गये, यह विषय बहुत विवाद-ग्रस्त है। इसपर हमें यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं। पर यह स्पष्ट है, कि आर्यों की दो शाखाएँ धार्मिक विश्वासों में भेद हो जाने के कारण एक-दूसरे से पृथक् हो गयीं, और उनमें से एक ईरान में बस गयी और दूसरी भारत में आ बसी।

भारत में आर्यों का प्रवेश—आर्यों की जो शाखा भारत में प्रविष्ट हुई, उसे इस देश में अनेक आर्य-भिन्न जातियों के साथ युद्ध करने पड़े। जिस प्रकार पश्चिमी एशिया में बसने वाली कस्साइत्, खत्ती और मित्तनी जातियों ने अपने से पूर्ववर्ती सभ्यताओं को परास्त कर वहाँ अपनी सत्ता स्थापित की, वैसे ही भारतीय आर्यों ने इस देश में विकसित हुई पूर्ववर्ती सभ्यताओं को विनष्ट कर अपनी सत्ता की स्थापना की। आर्यों के पहले के ये आर्य-भिन्न लोग कौन थे, इस विषय में वैदिक साहित्य से ही कतिपय उपयोगी निर्देश मिलते हैं। वेदों में इन्हें 'दस्यु' और 'दास' कहा गया है। वैदिक सूक्तों से यह भी ज्ञात होता है, कि ये दस्यु लोग कृष्णवर्ण के थे, और इनकी नाक छोटी होती थी। इसीलिए इन्हें 'अनास' (नासिकाहीन) भी कहा गया है। पर ये लोग अच्छे बड़े पुरों में निवास करते थे, और इनके अनेक सुदृढ़ दुर्ग भी बने हुए थे। इन्हें परास्त करने के लिये आर्यों को घनघोर युद्ध करने पड़े और एक युद्ध में तो पचास हज़ार के लगभग 'दासों' के मारे जाने का निर्देश ऋग्वेद में दिया गया है। संस्कृत भाषा में दस्यु शब्द का प्रयोग डाकू के अर्थ में होता है, और दास शब्द का गुलाम अर्थ में। प्रतीत होता है, कि आर्यों के प्रवेश से पूर्व जो जाति इस देश में निवास करती थी, उसकी संज्ञा दस्यु या दास थी। आर्यों ने उसे परास्त किया, और उसकी बड़ी संख्या को अपने पास गुलाम के रूप में रहने के लिए विवश किया। ये गुलाम दास-जाति के थे, अतः दास शब्द का अर्थ ही गुलाम हो गया। इसी प्रकार आर्य लोग दस्यु शब्द का प्रयोग घृणा के रूप में करते थे, और बाद में इसका अर्थ डाकू हो गया। पर प्राचीन संस्कृत में ऐसे निर्देशों की कमी नहीं है, जिनसे दस्यु का अभिप्राय डाकू न होकर एक जाति विशेष प्रतीत होता है। महाभारत में एक दस्यु की कथा आती है, जिसे परम धर्मात्मा कहा गया है। आर्यो ने इन दस्युओं व दासों को परास्त करके ही भारत में अपनी सत्ता स्थापित की। पिछले अध्याय में हम सिन्धु घाटी की समुन्नत सभ्यता का विवरण दे चुके हैं, जिसके अनेक नगर विद्यमान थे, और जिसके अनेक नगर दुर्गरूप में थे। अतः यह कल्पना की जाती है, कि वैदिक आर्यो ने जिन दस्युओं को परास्त किया, वे सिन्धु घाटी में निवास करते थे, और उन्हीं की सभ्यता के भग्नावशेष पंजाब में रावी नदी के और सिन्ध में सिन्धु नदी के तट पर पाये गये हैं।

भारत में आकर आर्यों ने जो सभ्यता विकसित की, उसे ही 'वैदिक सभ्यता' कहा जाता है, क्योंकि इसका परिज्ञान हमें वैदिक साहित्य द्वारा होता है।

छठा अध्याय

वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) वैदिक साहित्य

वैदिक युग—भारतीय आर्यों के इतिहास के प्राचीनतम युग को वैदिक युग कहते हैं। इसका कारण यह है कि वेद आर्यों के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं, और उनके अनुशीलन से हम इन आर्यों की सभ्यता, संस्कृति और धर्म के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। अनेक ऐतिहासिकों में यह प्रवृत्ति रही हैं कि वे प्राचीन भारतीय इतिहास को वैदिक, उत्तर वैदिक (ब्राह्मण), सूत्र-धर्म-शास्त्र, इतिहास और पौराणिक कालों में विभक्त करते हैं। इस काल-विभाग का आधार यह समझा जाता है कि वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, सूत्र-ग्रन्थ, रामायण-महाभारत रूपी इतिहास ग्रन्थ, और पुराण-ग्रन्थ—ये एक के बाद एक करके बने, और क्योंकि इनके अनुशीलन से हमें आर्यों की सभ्यता और संस्कृति के विकास का परिचय मिलता है, अतः आर्य इतिहास का काल-विभाग इन्हीं के अनुसार किया जाना चाहिये। पर भारतीय इतिहास के अनुशीलन के लिये यह काल-विभाग उपयुक्त नहीं है। पुराण अपने वर्तमान रूप में चाहे बाद के समय में आये हों, पर उनमें आर्यों की अत्यन्त प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति संगृहीत है। वस्तुतः, पौराणिक अनुश्रुति में उस युग के आर्यों का इतिवृत्त भी विद्यमान है, जबकि वैदिक मंत्रों का निर्माण प्रारम्भ नहीं हुआ था। वैवस्वत मनु से शुरू कर महाभारत युद्ध के समय तक आर्य राजवंशों की ९५ पीढ़ियाँ पुराणों में दी गयी हैं। वैदिक मंत्रों का निर्माण करने वाले ऋषियों की परम्परा जब शुरू हुई, तो इन ९५ पीढ़ियों में से ३६ पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। विश्वामित्र, आत्रेय आदि जिन ऋषियों ने ऋग्वेद के विविध सूक्तों का निर्माण किया, वे ऐक्ष्वाकव-वंश की तीसवीं पीढ़ी के बाद हुए थे। इसका यह अभिप्राय नहीं, कि तीसवीं पीढ़ी से पहले के समय में कोई वैदिक ऋषि हुआ ही नहीं। ऋग्वेद में कतिपय सूक्त ऐसे भी हैं, जिनका ऋषि मनु है। यह मनु सम्भवतः मानव वंश का प्रवर्त्तक वैवस्वत मनु ही था। अतः यह स्वीकार करना होगा, कि वेदों में प्राचीनतम भारतीय आर्यों द्वारा निर्मित मन्त्र भी सम्मिलित हैं। पर वैदिक सूक्तों के बड़े भाग का निर्माण तब हुआ, जबकि भारत में आर्य राजाओं की तीस व बत्तीस पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं, और आर्य लोग इस देश में अच्छी तरह से बस गये थे। राजवंशों के समान ऋषियों के भी वंश होते थे। इन ऋषिवंशों में उत्पन्न हुए आंगिरस, वासिष्ठ आदि ऋषि अनेक पीढ़ियों तक वैदिक सूक्तों का निर्माण करते रहे।

प्राचीन भारतीय आर्यों की सभ्यता, संस्कृति, जीवन और धर्म का परिचय प्राप्त करने के लिए इन वेदों का बहुत अधिक उपयोग है, क्योंकि वैदिक सूक्तों में आर्य ऋषियों के विचार और कथन अविकल रूप से उनकी अपनी भाषा में विद्यमान हैं। जिस प्रकार

पौराणिक अनुश्रुति प्राचीन आर्यों के राजनीतिक वृत्तान्त को सूचित करती है, वैसे ही वैदिक संहिताएँ उनके धर्म व सभ्यता का परिचय देती है। पर यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक साहित्य का निर्माण किसी एक समय में नही हुआ, उसमें जहाँ वे मन्त्र विद्यमान हैं, जिनका निर्माण वैवस्वत मनु द्वारा हुआ था, तो वहाँ वे मन्त्र भी हैं, जो राजा सुदास (उत्तर पंचाल का राजा, ८६वीं पीढ़ी) के समय में बने थे। राजा सुदास के बाद भी वैदिक सूक्तों का निर्माण हुआ, और कुछ मन्त्र तो महाभारत-युद्ध के बाद राजा परीक्षित के समय में भी बने। इस प्रकार वेदों में वैवस्वत मनु के समय से शुरू कर महाभारत-काल के लगभग तक के मन्त्र संगृहीत हैं। यही कारण है, कि सब वैदिक सूक्तों की भाषा एक सदृश नहीं है, और पुराने व नये मंत्रों की भाषा पर विचार करने से उसमें भेद स्पष्ट दिखाई देता है।

वैवस्वत मनु से महाभारत तक के काल को हम वैदिक युग कह सकते हैं। क्योंकि इस सुदीर्घ (१५०० वर्ष के लगभग के) काल में वैदिक सूक्तों का निरन्तर निर्माण होता रहा, और वेदों के अनुशीलन से जिस सभ्यता और संस्कृति का परिचय मिलता है, वह इसी युग की है।

वैदिक संहिता—आर्य जाति का सबसे प्राचीन साहित्य वेद है। वेद का अर्थ है, ज्ञान। वेद मुख्यतया पद्य में हैं, यद्यपि उनमें गद्य भाग भी विद्यमान है। वैदिक पद्य को ऋग् या ऋचा कहते हैं, वैदिक गद्य को यजुष् कहा जाता है, और वेदों में जो गीतात्मक (छन्द रूप) पद्य हैं, उन्हें साम कहते हैं। ऋचाओं व सामों के एक समूह का नाम सूक्त होता है, जिसका अर्थ है, उत्कृष्ट उक्ति या सुभाषित। वेद में इस प्रकार के हजारों सूक्त विद्यमान हैं। प्राचीन समय में वेदों को 'त्रयी' भी कहते थे। ऋचा, यजुष् और साम—इन तीन प्रकार के पदों में होने के कारण ही वेद की 'त्रयी' संज्ञा भी थी।

पर वैदिक मंत्रों का संकलन जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे 'संहिता' कहते हैं। विविध ऋषि-वंशों में जो मन्त्र श्रुति द्वारा चले आते थे, बाद में उनका संकलन व संग्रह किया गया। पहले वेद मन्त्रों को लेखबद्ध करने की परिपाटी शायद नहीं थी। गुरु-शिष्य परम्परा व पिता-पुत्र परम्परा द्वारा ये मन्त्र ऋषि-वंशों में स्थिर रहते थे, और उन्हें श्रुति (श्रवण) द्वारा शिष्य गुरु से या पुत्र पिता से जानता था। इसी कारण उन्हें श्रुति भी कहा जाता था। विविध ऋषि वंशों में जो विविध सूक्त श्रुति द्वारा चले आते थे, धीरे-धीरे बाद में उनको संकलित किया जाने लगा। इस कार्य का प्रधान श्रेय मुनि वेदव्यास को है। यह महाभारत-युद्ध का समकालीन था, और असाधारण रूप से प्रतिभाशाली विद्वान् था। इसका वैयक्तिक नाम कृष्ण द्वैपायन था, पर इसे वेदव्यास इसलिये कहा जाता है, क्योंकि इसने वेदों का संकलन व वर्गीकरण किया था। वेदव्यास ने वैदिक सूक्तों का संहिता रूप में संग्रह किया। उसके द्वारा संकलित वैदिक संहिताएँ चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास ने सूत, चारण व मागधों में चली आती हुई राजवंशों की अनुश्रुति का भी संग्रह किया। उसके ये संग्रह 'पुराण' कहे जाते हैं। वैदिक संहिताओं में जिस प्रकार ऋषिवंशों की 'श्रुति' संगृहीत है, वैसे ही पुराणों में आर्य-राजवंशों के साथ सम्बन्ध रखने वाली 'अनुश्रुति' संकलित है। वेदव्यास को अठारहों पुराणों का

'कर्त्ता' कहा गया है, पर वस्तुतः वह पुराणों का 'कर्त्ता' न होकर 'संकलयिता' था। राजवंशों के प्रतापी राजाओं के वीर कृत्यों का आख्यान उस युग के सूतों व चारणों द्वारा किया जाता था। इन सूत वंशों में राजवंशों के आख्यान व गाथाएं वैसे ही पिता-पुत्र परम्परा से चली आती थीं, जैसे कि ऋषि-वंशों में सूक्तों की श्रुति। वेदव्यास ने इन सबका संग्रह किया। इसमें संदेह नहीं, कि मुनि वेदव्यास अपने युग का सबसे बड़ा विद्वान् और संकलनकर्त्ता था।

कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास को अपने समय में विद्यमान प्राचीन 'श्रुति' व 'अनुश्रुति' का संकलन करने की प्रवृत्ति शायद इस कारण हुई थी, कि इस समय तक आर्यों में लिपि व लेखन प्रणाली का प्रारम्भ हो चुका था। जो ज्ञान पहले श्रुति द्वारा चला आता था, उसे अब लेखबद्ध किया जा सकता था, और उसका उपयोग केवल विशिष्ट ऋषि-वंश व सूतवंश के लोग ही नहीं, अपितु अन्य लोग भी कर सकते थे।

चार वेद—अब हम इस स्थिति में हैं, कि चारों वैदिक संहिताओं का संक्षेप के साथ परिचय दे सकें। ऋग्वेद में कुल मिलाकर १०१७ सूक्त हैं। यदि ११ वालखिल्य सूक्तों को भी इसमें अन्तर्गत कर लिया जाय, तो ऋग्वेद के कुल सूक्तों की संख्या १०२८ हो जाती है। सम्भवतः, ये वालखिल्य सूक्त परिशिष्ट रूप में हैं, और बाद में जोड़े गये है। यही कारण है, कि अनेक विद्वान् इन्हें ऋग्वेद का अंग नहीं मानते, और इस वेद की कुल सूक्त संख्या १०१७ समझते हैं। ये १०१७ या १०२८ सूक्त १० मण्डलों में विभक्त हैं। वेद के प्रत्येक सूक्त व ऋचा (मन्त्र) के साथ उसके 'ऋषि' और 'देवता' का नाम दिया गया है। ऋषि का अर्थ है, मन्त्रद्रष्टा या मन्त्र का दर्शन करने वाला। जो लोग वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं, उनके अनुसार वेदों का निर्माण तो ईश्वर द्वारा हुआ था, पर इस वैदिक ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले ये ऋषि ही थे। पर आधुनिक विद्वान् वैदिक ऋषियों का अभिप्राय यह समझते है कि ये ऋषि मन्त्रों के निर्माता थे। वैदिक देवता का अभिप्राय उस देवता से है, जिसकी उस मन्त्र में स्तुति की गयी है, या जिसके सम्बन्ध में मन्त्र में प्रतिपादन किया गया है।

ऋग्वेद के ऋषियों में सर्वप्रधान गृत्समद, विश्वमित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, और वशिष्ठ हैं। इन छः ऋषियों व इनके वंशजों ने ऋग्वेद के दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें मण्डलों का दर्शन या निर्माण किया था। आठवें मण्डल के ऋषि कण्व और आंगिरस वंश के हैं। प्रथम मण्डल के पचास सूक्त भी कण्व-वंश के ऋषियों द्वारा निर्मित हुए। अन्य मण्डलों व प्रथम मण्डल के अन्य सूक्तों का निर्माण अन्य विविध ऋषियों द्वारा हुआ, जिन सबके नाम इन सूक्तों के साथ में मिलते हैं। इन ऋषियों में वैवस्वत मनु, शिवि और औशीनर, प्रतर्दन, मधुछन्दा और देवापि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऋग्वेद के इन ऋषियों में कतिपय स्त्रियाँ भी है, जिनमें लोपामुद्रा प्रमुख है। लोपामुद्रा राजकुल में उत्पन्न हुई थी। वह विदर्भ-राज की कन्या थी, और अगस्त्य ऋषि की पत्नी थी।

यजुर्वेद के दो प्रधान रूप इस समय मिलते हैं, शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण-यजुर्वेद। शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं, जिसकी दो शाखाएं उपलब्ध हैं—कण्व और माध्यन्दिनीय। कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाएँ प्राप्त होती हैं, काठक संहिता

कपिष्ठल संहिता, मैत्रेयी संहिता और तैत्तिरीय संहिता। विविध ऋषि-वंशों व सम्प्रदायों में श्रुति द्वारा चले आने के कारण वेदमन्त्रों के मूल पाठ में भेद का हो जाना असम्भव नहीं था। सम्भवतः, इसी कारण यजुर्वेद की ये विविध शाखाएँ बनीं। इन शाखाओं में अनेक स्थानों पर मंत्रों में पाठभेद पाया जाता है। इनमें यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता सबसे महत्त्वपूर्ण है, और बहुत-से विद्वान् उसे ही असली यजुर्वेद मानते हैं। यह चालीस अध्यायों में विभक्त है। इनमें उन मंत्रों का पृथक्-पृथक् रूप से संग्रह किया गया है, जो विविध याज्ञिक अनुष्ठानों में प्रयुक्त किये जाते थे। यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् है, जिसका सम्बन्ध याज्ञिक अनुष्ठान के साथ न होकर अध्यात्म-चिन्तन के साथ में है।

सामवेद की तीन शाखाएँ इस समय मिलती हैं, कौथुम शाखा, राणायनीय शाखा और जैमिनीय शाखा। इनका आधार भी पाठभेद है। सम्भवतः, पहले सामवेद की अन्य भी बहुत-सी शाखाएँ विद्यमान थीं। पुराणों में तो सामवेद की सहस्र शाखाओं का उल्लेख है। वर्तमान समय में उपलब्ध शाखाओं में कौथुम-शाखा अधिक प्रचलित व प्रामाणिक है। सामवेद के दो भाग हैं, पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक। दोनों भागों को मिलाकर मंत्र-संख्या १८१० है। इसमें अनेक मन्त्र ऐसे भी हैं, जो एक से अधिक बार आये हैं। यदि इन्हें अलग कर दिया जाय, तो सामवेद के मन्त्रों की कुल संख्या १५४९ रह जाती है। इनमें से भी १४७४ मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं। इस प्रकार सामवेद के अपने मन्त्रों की संख्या केवल ७५ रह जाती है। सम्भवतः, सामवेद में ऐसी ऋचाओं का पृथक् रूप से संग्रह कर दिया गया है, जिन्हें गीत के रूप में गाया जा सकता है। सामरूप में ऋचाएं वैदिक ऋषियों द्वारा संगीत के लिये प्रयुक्त होती थीं।

अथर्ववेद की दो शाखाएँ इस समय मिलती हैं, शौनक और पिप्पलाद। इनमें शौनक शाखा अधिक प्रसिद्ध है, और उसे ही प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाता है। अथर्ववेद में कुल मिलाकर २० काण्ड और ७३२ सूक्त हैं। सूक्तों के मंत्रों की संख्या ६००० के लगभग है। इनमें भी बहुत-से मन्त्र ऐसे हैं, जो ऋग्वेद में भी पाये जाते हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथ—वैदिक साहित्य में चार वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन ब्राह्मण-ग्रन्थों में उन अनुष्ठानों का विशद रूप से वर्णन है, जिनमें वैदिक मंत्रों को प्रयुक्त किया जाता है। अनुष्ठानों के अतिरिक्त इनमें वेदमंत्रों के अभिप्राय व विनियोग की विधि का भी वर्णन है। प्रत्येक ब्राह्मण-ग्रन्थ का किसी वेद के साथ सम्बन्ध है, और उसे उसी वेद का ब्राह्मण माना जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक वेद के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-ग्रन्थों का संक्षेप के साथ उल्लेख करें, क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थों का परिचय दिये विना वैदिक-साहित्य का वर्णन पूरा नहीं हो सकता।

ऋग्वेद का प्रधान ब्राह्मण-ग्रन्थ ऐतरेय है। इसमें कुल मिलाकर चालीस अध्याय हैं। अनुश्रुति के अनुसार ऐतरेय ब्राह्मण का रचयिता महीदास ऐतरेय था। पर सम्भवतः, महीदास इस ब्राह्मण का रचयिता न होकर संकलनकर्त्ता-मात्र था,

क्योंकि ऋग्वेद के समान इस ब्राह्मण का निर्माण भी एक सुदीर्घ युग में याज्ञिक अनुष्ठानों के विकास के साथ-साथ हुआ था। ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी या सांख्यायन ब्राह्मण है। सम्भवतः, यह ब्राह्मण किसी एक व्यक्ति की ही रचना है।

कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय है। शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद में मुख्य भेद यह है, कि जहाँ शुक्ल यजुर्वेद में केवल मन्त्र भाग है, वहाँ कृष्ण यजुर्वेद में ब्राह्मण-भाग भी अन्तर्गत है। उसमें मन्त्रों के साथ-साथ विधि-विधान व याज्ञिक अनुष्ठान के साथ सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण भाग को भी दे दिया गया है। अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण रचना की दृष्टि से कृष्ण यजुर्वेद से बहुत भिन्न नहीं है। शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण शतपथ है, जो अत्यन्त विशाल ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर सौ अध्याय हैं, जिन्हें चौदह काण्डों में विभक्त किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में न केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है, पर साथ ही इस बात पर भी विचार किया गया है, कि इन विविध अनुष्ठानों का क्या प्रयोजन है, और इन्हें क्यों यज्ञ का अंग बनाया गया है। शतपथ ब्राह्मण का रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि माना जाता है। पर सम्भवतः यह विशाल ग्रन्थ किसी एक ऋषि की रचना न होकर अनेक ऋषियों की कृति है।

सामवेद के तीन ब्राह्मण हैं, ताण्ड्य महाब्राह्मण, पड्विंश ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण। अनेक विद्वानों के अनुसार ये तीनों ब्राह्मण अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं।

अथर्ववेद का ब्राह्मण गोपथ है। अनेक विद्वानों की सम्मति में यह बहुत प्राचीन नहीं है, और इसमें उस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों का वर्णन नहीं है, जैसे कि अन्य ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है।

आरण्यक व उपनिषद्—इसमें सन्देह नहीं कि भारत के प्राचीन आर्यों के धर्म में यज्ञों की प्रधानता थी। यज्ञ के विधि-विधानों व अनुष्ठानों को वे बहुत महत्त्व देते थे। इसी लिये याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादन व उनमें वैदिक मंत्रों के विनियोग को प्रदर्शित करने के लिये उन्होंने ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना की थी। पर साथ ही, वैदिक ऋषि अध्यात्मिक, दार्शनिक व पारलौकिक विषयों का भी चिन्तन किया करते थे। आत्मा क्या है, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, सृष्टि किन तत्त्वों से बनी है, इस सृष्टि का कर्त्ता व नियामक कौन है, जड़ प्रकृति से भिन्न जो चेतन सत्ता है, उसका क्या स्वरूप है—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वे विचार किया करते थे। इन गूढ़ विषयों का चिन्तन करने वाले ऋषि व विचारक प्रायः जंगलों व अरण्यों में निवास करते थे, जहाँ वे आश्रम बनाकर रहते थे। यहीं उस साहित्य की सृष्टि हुई, जिसे आरण्यक व उपनिषद् कहते हैं। अनेक आरण्यक ब्राह्मण-ग्रन्थों के ही भाग हैं। इससे सूचित होता है कि याज्ञिक अनुष्ठानों में लगे हुए याज्ञिक व ऋषि लोग यज्ञों को ही अपना ध्येय नहीं समझते थे, अपितु आध्यात्मिक चिन्तन में भी तत्पर रहते थे। कुछ विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि ब्राह्मण लोग याज्ञिक विधि-विधान में संलग्न रहते थे, और अन्य वर्गों के (विशेषतया क्षत्रिय वर्ग के) विचारक आध्यात्मिक चिन्तन को महत्त्व देते थे। पर इस मत में विशेष सार प्रतीत नहीं होता, कारण यह कि इस प्राचीन युग में वर्ण-व्यवस्था या जाति-विभाग का पूरी तरह से विकास नहीं हुआ था। अनेक राजवंशों के विवि

व्यक्ति इहलोक के सुखों का परित्याग कर ऋषि जीवन को व्यतीत करने के लिये उद्योग करते थे। कौरव वंश के राजा शान्तनु का भाई देवापि मन्त्रद्रष्टा ऋषि था। विदर्भ-राज की कन्या लोपामुद्रा एक ऋषि की पत्नी थी, और स्वयं भी ऋषि थी। याज्ञवल्क्य आदि अनेक ऋषि जहाँ याज्ञिक अनुष्ठानों के प्रतिपादक थे, वहाँ साथ ही अध्यात्म-चिन्तन करने वाले भी थे। इन ऋषियों ने अरण्य में स्थापित आश्रमों में जिन आरण्यकों व उपनिषदों का विकास किया, उनकी संख्या दो सौ से भी ऊपर है। इनमें से कतिपय प्रमुख उपनिषदों का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि ये भी वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग हैं।

(१) ऐतरेय उपनिषद्—यह ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण का एक भाग है। ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थ कौशीतकी ब्राह्मण के अन्त में भी आरण्यक भाग है, जिसे कौशीतक आरण्यक या कौशीतकी उपनिषद् कहते हैं।

(२) यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय ईशोपनिषद् के रूप में है। शुक्ल यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण का अन्तिम भाग भी आरण्यक रूप से है, जिसे बृहदारण्य-कोपनिषद् कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत कठ उपनिषद्, श्वेता-श्वतरोपनिषद्, तैत्तारीय उपनिषद् और मैत्रायणीय उपनिषद् हैं।

(३) सामवेद के ब्राह्मण-ग्रन्थों के साथ सम्बन्ध रखने वाली उपनिषदें केन और छान्दोग्य हैं।

(४) अथर्ववेद के साथ मुण्डक उपनिषद्, प्रश्न उपनिषद्, और माण्डूक्य उप निषद् का सम्बन्ध है।

आरण्यक व उपनिषदें गद्य और पद्य दोनों में हैं। भाषा और छन्द की दृष्टि से ये वैदिक संहिता से बहुत भिन्न हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि इनका निर्माण वैदिक सूक्तों के पर्याप्त बाद हुआ था। उपनिषदों में अनेक कथानक भी आते हैं, जिनमें से कतिपय का सम्बन्ध आर्य-राजवंशों के साथ में हैं। अध्यात्म-चिन्तन और दार्शनिक विचारों की दृष्टि से ये आरण्यक-ग्रन्थ बहुत महत्त्व रखते हैं। बाद के समय में भारत में जो अनेक दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, वे अपने पक्ष की पुष्टि के लिये इन उपनिषदों का आश्रय लेते थे, और उन्हें प्रमाण-रूप से भी पेश करते थे।

वेदांग—वैदिक साहित्य के महत्त्वपूर्ण भाग वे ग्रन्थ भी हैं, जिन्हें वेदांग नाम से कहा जाता है। वेदांग संख्या में छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। इन वेदांगों का विकास वैदिक काल के बाद में हुआ, और इनमें वर्णित सभ्यता और संस्कृति वैदिक युग की सभ्यता और संस्कृति से भिन्न है। अतः यद्यपि इनका परिगणन वैदिक साहित्य में किया जाता है, तथापि अधिक विशद रूप से इनका उल्लेख हम आगे चलकर करेंगे।

(२) वैदिक युग का राजनीतिक जीवन

वैदिक संहिता, ब्राह्मण-ग्रन्थ और उपनिषदों के अध्ययन से वैदिक युग के आर्यों की सभ्यता, राजनीतिक संगठन, धर्म, आर्थिक दशा और संस्कृति आदि के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। उनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना उप-योगी होगा।

राजनीतिक संगठन—जब आर्यों ने पहले-पहल भारत में प्रवेश किया, तो वे सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर चुके थे। वे शिकारी की दशा से आगे बढ़कर पशुपालक और कृषक की दशा को पहुँच चुके थे। राजनीतिक दृष्टि से वे 'जनों' में संगठित थे। जन को हम कबीला या ट्राइब समझ सकते हैं। इसका संगठन एक बड़े परिवार के समान था, जिसमें यह विचार विद्यमान था कि उसके सब व्यक्ति एक आदि पुरुष की सन्तान हैं, और एक ही परिवार के अंग हैं। जिस प्रकार एक परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति शासन करता है, उसी प्रकार जन रूपी बड़े परिवार में भी एक पिता या मुखिया का शासन होता था। इस मुखिया को राजा कहते थे, और इसकी नियुक्ति परम्परागत प्रथा के अनुसार या निर्वाचन द्वारा होती थी। प्रत्येक जन की सम्पूर्ण 'विशः' (जनता) इस राजा का वरण करती थी। यह समझा जाता था, कि जनता राजा के साथ एक संविदा (इकरार) करती है, जिसके अनुसार राजा यह जिम्मा लेता है कि वह अपनी प्रजा की सब बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से रक्षा करेगा और उसका न्यायपूर्वक पालन करेगा। इसी कार्य के लिये प्रजा राजा को 'बलि' (कर) प्रदान करती थी। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन की प्रतिज्ञा करता था। यदि वह इस प्रतिज्ञा को तोड़े, तो प्रजा को अधिकार था कि वह उसे पदच्युत कर सके। राजा किसी दैवी अधिकार से शासन करता है, यह विचार वैदिक संहिताओं में कहीं नहीं पाया जाता। इसके विपरीत, वहाँ यह विचार स्पष्ट रूप से विद्यमान है कि 'विशः' राजा को शासन कार्य के लिये वरण करती है। वरण द्वारा जब कोई व्यक्ति राजा के पद पर नियत होता था, तो उससे यह आशा की जाती थी कि वह जीवन-पर्यन्त अपने पद पर ध्रुव (स्थिर) रहेगा। अथर्ववेद में लिखा है, कि यह द्यौः और पृथ्वी सब ध्रुव हैं। यह सारा विश्व ध्रुव है, ये पर्वत ध्रुव हैं। इसी प्रकार विशः का यह राजा भी ध्रुव रहे। सब 'विशः' इसको चाहें, और यह राष्ट्र पद से कभी च्युत न हो।

राजा को वरण करने का कार्य 'विशः' के जिन प्रमुख व्यक्तियों के सुपुर्द था, उन्हें 'राजकृतः, (राजा को नियत करने वाले) कहते थे। 'राजकृतः' स्वयं भी राजा कहाते थे, और राजा के पद पर वरण किया गया व्यक्ति इन 'राजानः राजकृतः' का मुखियामात्र माना जाता था। ये 'राजकृतः' कौन होते थे, वेदों से यह स्पष्ट नहीं होता। ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'रत्नियों' का उल्लेख आया है, जो राज्याभिषेक के समय पर राजा से हवि ग्रहण करते थे। इन रत्नियों के सम्बन्ध में हम उत्तर वैदिक काल (प्राग्-बौद्ध काल) की सभ्यता का विवरण करते हुए अधिक विस्तार के साथ लिखेंगे। सम्भवतः, ब्राह्मण-ग्रन्थों में जिन्हें 'रत्नी' कहा गया है, वैदिक काल में वे ही 'राजकृतः राजानः' कहे जाते थे, क्योंकि वैदिक युग के ये राजकृतः राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को एक 'पर्णमणि' प्रदान करते थे, जो राजत्व का चिह्न समझी जाती थी। सम्भवतः, यह पर्णमणि (पर्णों द्वारा निर्मित रत्न) पलाश वृक्ष की शाखा होती थी। पलाश को पवित्र मानने की कल्पना वैदिक काल में भी विद्यमान थी। 'राजकृतः राजानः' के अतिरिक्त सूत, ग्रामणी, रथकार, कर्मार आदि जनता के विविध व्यक्ति भी राज्याभिषेक में हाथ बँटाते थे, और 'विशः' की ओर से राजा का वरण करते थे।

समिति और सभा—जनता द्वारा वरण किये जा चुकने पर राजा अकेला शासन-कार्य का संचालन करता हो, यह बात नहीं थी। वैदिक युग में समिति और सभा नामक दो संस्थाएँ भी थीं, जो न केवल राजकार्य में राजा की सहायता करती थीं, अपितु उस पर नियन्त्रण भी रखती थीं। अथर्ववेद के जिस सूक्त में राजा के ध्रुव रहने की प्रार्थना की गयी है, उसी में यह भी कहा गया है कि राजा की समिति भी ध्रुव रहे। समिति के सदस्य कौन होते थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सम्भवतः, वह सम्पूर्ण विशः की संस्था थी, और उसमें 'जन' के सब लोग एकत्र होते थे। यह भी सम्भव है कि वैदिक युग के जनपदों में जनसंख्या के बढ़ने के साथ-साथ सब लोग इस समिति में एकत्र न होते हों, और कतिपय प्रमुख व्यक्ति ही इसमें सम्मिलित होने का अधिकार रखते हों। प्राचीन ग्रीक नगर-राज्यों की लोकसभाओं (यथा एथेन्स की एक्लीजिया) में सब नागरिक सदस्य रूप से सम्मिलित होते थे। जब नगर-राज्यों की जनसंख्या लाखों में हो गयी थी, तब भी प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार था कि वह अपने राज्य की लोक-सभा में उपस्थित होकर विचार में हाथ बटा सके, और अपनी सम्मति दे सके। सम्भवतः, वैदिक युग के आर्य जनपदों (जिनका स्वरूप नगर-राज्य के सदृश ही था) की समिति का भी यही रूप था। उसमें जनपद की सम्पूर्ण 'विशः' एकत्र हो सकती थी। वहाँ एकत्र हुए व्यक्ति सब विचारणीय विषयों पर वाद-विवाद करते थे। विवाद व भाषण में प्रवीणता प्राप्त करना एक अत्यन्त महत्त्व की बात समझी जाती थी। अथर्ववेद के एक सूक्त में एक व्यक्ति यह प्रार्थना करता है, कि वह बहुत कुशल वक्ता बने, अपनी युक्तियों, ज्ञान और भाषण कला द्वारा सबको वशीभूत कर ले। वाद-विवाद में अपने प्रतिपक्षियों को परास्त करने और भाषण द्वारा सबको अपने पक्ष में कर सकने की शक्ति प्राप्त करने के लिये अनेक प्रार्थनाएँ वेदों में विद्यमान हैं। निःसन्देह, समिति में विविध विषयों पर खुला विवाद होता था, और विविध व्यक्ति वहाँ अपनी वक्तृत्वशक्ति का चमत्कार प्रदर्शित किया करते थे। समिति में केवल राजनीतिक विषयों पर ही विवाद नहीं होता था, अपितु साथ ही आध्यात्मिक व गूढ़ विषयों पर भी उनमें विचार हुआ करता था। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदों में 'समिति' में ब्रह्म-विद्या-विषयक विचारों का उल्लेख आया है। श्वेतकेतु पांचाल जनपद की इसी प्रकार की समिति में उपस्थित हुआ था, और वहाँ उसने अध्यात्म-विषयक विचार में हाथ बटाया था। समिति का अपना अध्यक्ष होता था, जिसे 'ईशान्' कहते थे। ईशान् के सभापतित्व में ही समिति का कार्य चलता था। पर राजा भी विविध अवसरों पर समिति में उपस्थित होता था। जब श्वेतकेतु पांचाल-जनपद की समिति में गया, तो वहाँ का राजा प्रवाहण जावालि उसमें उपस्थित था।

समिति के समान सभा भी वैदिक युग के जनपदों की एक महत्त्वपूर्ण संस्था थी। वेदों में समिति और सभा को प्रजापति की 'दुहिता' कहा गया है, और यह प्रार्थना की गयी है, कि दोनों राजा की रक्षा में सदा तत्पर रहें। सभा और समिति के संगठन में क्या भेद था, यह वैदिक संहिताओं द्वारा भली-भाँति स्पष्ट नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है, कि सभा समिति की अपेक्षा छोटी संस्था थी, उसके सदस्य केवल बड़े लोग (पितर व वृद्ध) ही होते थे, और उसका प्रधान कार्य न्याय करना था। अथर्ववेद में सभा

को 'नरिष्ट' कहा गया है। सायणाचार्य ने नरिष्ट शब्द के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "बहुत-से लोग एक साथ मिलकर जो एक बात कहें, उसका दूसरों को उल्लंघन नहीं कहना चाहिये। क्योंकि बहुतों की बात का उल्लंघन नहीं किया जा सकता, अतः सभा को 'नरिष्ट' कहते हैं।" नरिष्ट का शब्दार्थ है, अनुल्लंघनीय। बहुमत से जो कुछ सभाओं में निर्णीत होता था, उसे अनुल्लंघनीय माना जाता था, और इसी कारण सभा को नरिष्ट कहते थे। प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा में भी विविध विषयों पर विवाद होता था और विविध वक्ता सभासदों को अपने पक्ष में करने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील रहते थे। इसीलिये अथर्ववेद में प्रार्थना की गयी है—"हे सभा ! हम तेरे से भली-भाँति परिचित हैं, तेरा नाम नरिष्ट (अनुल्लंघनीय) भी है। तेरे जो भी सभासद् हैं, वे मेरे साथ 'सवाचस्' (मेरे कथन के साथ सहमति रखने वाले) हों। यहाँ (सभा में) जो लोग बैठे हैं, मैं उन सबके नेत्र और ज्ञान को ग्रहण करता हूँ (सबको अपने पीछे चलाता हूँ)। हे इन्द्र ! मुझे इस प्रयत्न में सफल बनाओ। तुम लोगों (सभासदों) का जो मन किसी और पक्ष में गया हुआ है, या किसी पक्ष के साथ इधर-उधर बंध गया है, उसे मैं लौटाता हूँ, तुम सबका मन मेरे पक्ष में हो।" सभा में उपस्थित सभासदों को अपने पक्ष में करने, उन सबको वशीभूत करने और अपने पीछे चलाने की यह प्रार्थना कितनी सुन्दर है, और कितनी उत्तम रीति से उस युग की सभा पर प्रकाश डालती है। सभा के सदस्यों को 'सभासद्' कहा जाता था। वेदों में इन्हें 'पितर' भी कहा गया है। बाद के साहित्य में इनके लिये 'वृद्ध' शब्द का उपयोग किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि सभा में सम्पूर्ण 'विशः' एकत्र नहीं होती थी, अपितु उसके कतिपय प्रतिष्ठित व वृद्ध (बड़े) लोग ही उसमें सम्मिलित होते थे।

सभा का एक मुख्य कार्य न्याय करना था। न्याय के लिये अभियुक्त रूप में जिस व्यक्ति को सभा के सम्मुख पेश किया जाता था, उसे 'सभाचर' कहते थे। यजुर्वेद में सभाचर का उल्लेख पुरुषमेध के प्रकरण में किया गया है। आलंकारिक रूप से विचार करने पर अभियुक्त व्यक्ति को 'मेध्य' (बलि योग्य) समझ सकना कठिन नहीं है। यजुर्वेद के ही एक अन्य मंत्र में सभा में किये गये पाप के प्रायश्चित्त का उल्लेख किया गया है। न्याय कार्य को करते हुए सभासद लोगों से अनजाने में या जान-बूझकर जो भूल हो जाती थी, उसे यजुर्वेद में पाप कहा गया है, और उससे छूटने के लिये प्रार्थना की गयी है। सूत्रग्रन्थों और धर्मशास्त्रों के समय में भी 'सभा' न्याय का कार्य करती थी। "या तो सभा में जावे नहीं, जावे तो वहाँ सोच-समझकर अपनी बात कहनी चाहिए, सभा में जाकर जो अपनी सम्मति नहीं कहता या गलत बात कहता है, वह पापी होता है," यह धर्मशास्त्रों का वचन जिस सभा के विषय में है, वह सम्भवतः न्याय का भी कार्य करती थी।

(२) सामाजिक जीवन

करते हैं। ये पंचजन अणु, द्रुह्यु, यदु, तुर्वशु, और पुरु थे। पर इनके अतिरिक्त भरत, त्रित्सु, शृंजय आदि अन्य भी अनेक जनों का उल्लेख वेदों में आया है, जिनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि ज्यों-ज्यों आर्य लोग भारत में फैलते गये, उनमें विविध जनों का विकास होता गया। आर्य जाति के प्रत्येक जन में सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी, सबको एक ही 'विश:' (जनता) का अंग माना जाता था।

आर्य और दास—आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व यहाँ जिन लोगों का निवास था, वेदों में उन्हें 'दास' या 'दस्यु' कहा गया है। इनकी अनेक समृद्ध बस्तियाँ भारत में विद्यमान थीं। आर्यों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन किया, और ये आर्यभिन्न लोग आर्य-जनपदों में आर्य-राजाओं की अधीनता में रहने लगे। यह स्वाभाविक था कि इन दासों व दस्युओं की सामाजिक स्थिति आर्यों की अपेक्षा हीन रहे। आर्य लोग इनसे घृणा करते थे, इन्हें अपने से हीन समझते थे, और इन्हें अपने समान स्थिति देने को उद्यत नहीं थे। इसी दशा का यह परिणाम हुआ, कि आर्य-जनपदों में निवास करने वाली जनता दो भागों में विभक्त हो गयी—(१) आर्य और (२) दास। दास-जाति की हीन स्थिति के कारण इस शब्द का अभिप्राय ही संस्कृत भाषा में गुलाम हो गया, यह हम पहले लिख चुके हैं। दास जाति के ये लोग शिल्प में अत्यन्त चतुर थे। ये अच्छे विशाल घरों का निर्माण करते थे, शहरों में रहते थे, और अनेक प्रकार के व्यवसायों में दक्ष थे। आर्यों द्वारा विजित हो जाने के बाद भी शिल्प और व्यवसाय में इनकी निपुणता नष्ट नहीं हो गयी। ये अपने इन कार्यों में तत्पर रहे। विजेता आर्य योद्धा थे। वे याज्ञिक अनुष्ठानों को गौरव की बात समझते थे, और भूमि के स्वामी बनकर खेती, पशुपालन आदि द्वारा जीवन का निर्वाह करते थे। विविध प्रकार के शिल्प दास-जाति के लोगों के हाथ में ही रहे। इसका परिणाम यह हुआ, कि भारत में प्राचीन काल से ही शिल्पियों को कुछ हीन समझने की प्रवृत्ति रही। आर्यों और दासों में परस्पर सामाजिक सम्बन्ध का सर्वथा अभाव हो, यह बात नहीं थी। प्राच्य भारत में जहाँ आर्यों की अपेक्षा आर्यभिन्न जातियों के लोग अधिक संख्या में थे, उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होता रहता था। उन प्रदेशों में ऐसे लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी, जो शुद्ध आर्य या दास न होकर वर्णसंकर थे। ऐसे वर्णसंकर लोगों को ही सम्भवत: व्रात्य कहा जाता था। अथर्ववेद में व्रात्य जातियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। बाद में व्रात्य-स्तोम-यज्ञ का विधान कर इन व्रात्यों को आर्य जाति में सम्मिलित करने की भी व्यवस्था की गयी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि वैदिक युग में आर्यों और दासों का भेद बहुत स्पष्ट था, और उस काल के आर्य-जनपदों में ये दो वर्ण ही स्पष्ट रूप से विद्यमान थे।

वर्ण-व्यवस्था—आर्य-विश: के सब व्यक्तियों की सामाजिक स्थिति एक समान थी। पर धीरे-धीरे उसमें भी भेद प्रादुर्भूत होने लगा। दास-जातियों के साथ निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहने के कारण सर्वसाधारण आर्य जनता में कतिपय ऐसे वीर सैनिकों (रथी, महारथी आदि) की सत्ता आवश्यक हो गयी, जो युद्ध-कला में विशेष निपुणता रखते हों। इनका कार्य ही यह समझा जाता था कि ये शत्रुओं से जनता की रक्षा करें। क्षत (हानि) से त्राण करने वाले होने के कारण इन्हें 'क्षत्रिय' कहा जाता था। यद्यपि ये क्षत्रिय आर्य विश: के ही अंग थे, पर तो भी इन्हें विश: के सर्वसाधारण लोगों (वैश्यों)

से अधिक सम्मानित व ऊँचा समझा जाता था। क्षत्रिय सैनिकों के विशिष्ट कुल 'राजन्य' कहाते थे। सम्भवतः, ये राजन्य ही वे 'राजकृतः राजानः' थे, जो अपने में से एक को राजा के पद के लिये वरण करते थे। जिस प्रकार क्षत्रियों की सर्वसाधारण आर्य विशः में एक विशिष्ट स्थिति थी, वैसे ही उन चतुर व्यक्तियों की भी थी, जो याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष रूप से दक्ष थे। जब आर्य लोग भारत में स्थिर रूप से बस गये, तो उनके विधि-विधानों व अनुष्ठानों में भी बहुत वृद्धि हुई। प्राचीन समय का सरल धर्म निरन्तर अधिक-अधिक जटिल होता गया। इस दशा में यह स्वाभाविक था कि कुछ लोग जटिल याज्ञिक कर्मकाण्ड में विशेष निपुणता प्राप्त करें, और याज्ञिकों की इस श्रेणी को सर्वसाधारण आर्य-विशः द्वारा क्षत्रियों के समान ही विशेष आदर की दृष्टि से देखा जाए। इस प्रकार वैदिक युग में उस चातुर्वर्ण्य का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो आगे चलकर भारत में बहुत अधिक विकसित हुआ, और जो बाद के हिन्दू व भारतीय समाज की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बन गया। पर वैदिक युग में यह भावना होने पर भी कि ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वसाधरण विशः (वैश्य जनता) से उत्कृष्ट व भिन्न हैं, जातिभेद या श्रेणी-भेद का अभाव था। कोई व्यक्ति ब्राह्मण या क्षत्रिय है, इसका आधार उसकी योग्यता या अपने कार्य में निपुणता ही थी। कोई भी व्यक्ति अपनी निपुणता, तप व विद्वत्ता के कारण ब्राह्मण पद को प्राप्त कर सकता था। इसी प्रकार आर्य जन का कोई भी मनुष्य अपनी वीरता के कारण क्षत्रिय व राजन्य बन सकता था। वैदिक ऋषियों ने समाज की कल्पना एक मानव-शरीर के समान की थी, जिसके शीर्ष-स्थानीय ब्राह्मण थे, बाहुरूप क्षत्रिय थे, पेट व जंघाओं के सदृश स्थिति वैश्यों की थी, और शूद्र पैरों के समान थे। आर्य भिन्न दास लोग ही शूद्र वर्ण के अन्तर्गत माने जाते थे।

पारिवारिक जीवन—वैदिक युग के सामाजिक जीवन का आधार परिवार था। महाभारत में संकलित प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार एक ऐसा समय था, जब विवाह-संस्था विकसित नहीं हुई थी, जब स्त्रियां 'अनावृत्त', 'स्वतन्त्र' और 'कामाचारविहारिणी' होती थीं। पर यदि सचमुच कोई ऐसा समय आर्यों में रहा था, तो वह वैदिक युग से अवश्य ही पहले का होगा, क्योंकि वेदों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है, कि विवाह-संस्था उस समय भली-भाँति विकसित हो चुकी थी, और वैदिक युग के आर्य वैवाहिक बंधन में बँधकर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करते थे। साधारणतया, एकपत्नीव्रत का अनुसरण किया जाता था, यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा भी कहीं-कहीं प्रचलित थी। संभवतः, ये प्रथाएं आर्यभिन्न जातियों में थीं, आर्यों में नहीं। बहन और भाई में विवाह निषिद्ध था। विवाह बाल्यावस्था में नहीं होते थे। लड़कियां भी लड़कों के समान ब्रह्म-चर्य-व्रत का पालन करती थीं, और युवावस्था में विवाह करती थीं। स्त्रियों को अशिक्षित नहीं रखा जाता था। 'स्त्रियों और शूद्रों को शिक्षा नहीं देनी चाहिये', यह विचार वैदिक युग में विद्यमान नहीं था। अनेक स्त्रियाँ इतनी विदुषी थीं, कि उनके बनाये हुए मंत्रों को वैदिक संहिताओं में भी संकलित किया गया है। लोपामुद्रा, अपालात्रेयी आदि अनेक स्त्रियां वैदिक सूक्तों की ऋषि हैं। गोधा, घोषा, विश्ववारा, अदिति, सरमा, आदि कितनी ही ब्रह्मवादिनी महिलाओं (ऋषियों) का उल्लेख प्राचीन साहित्य में आया है। गार्गी, मैत्रेयी आदि तत्त्वचिन्तक स्त्रियों का उपनिषदों में भी जिक्र किया

गया है। ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्याध्ययन कर जो स्त्रियाँ गृहस्थाश्रम में प्रवेश करती थी, वे परदे में नहीं रह सकती थीं। उन्हें पारिवारिक जीवन में पति की सहधर्मिणी माना जाता था। विवाह-सम्बन्ध स्वयं वरण करने से ही निर्धारित होता था। स्त्रियाँ स्वयं अपने पति का वरण करती थीं। राजकुमारियों के अनेक स्वयंवर-विवाहों का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है। न केवल राजकुमारियाँ ही, अपितु सर्वसाधारण आर्य-कन्याएँ भी अपने पति का स्वयमेव वरण किया करती थीं, और वैदिक युग के समाज में उन्हें इसके लिये पूर्ण अवसर मिलता था।

(४) धर्म

वैदिक वाङ्मय प्रधानतया धर्मपरक है, अतः इस युग के धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में हमें बहुत विशद रूप से परिचय मिलता है। वैदिक युग के आर्य विविध देवताओं की पूजा करते थे। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि उनके अनेक देवता थे, जिन्हें तृप्त व सन्तुष्ट करने के लिये वे अनेक विधि-विधानों का अनुसरण करते थे। संसार का स्रष्टा, पालक व संहर्ता एक ईश्वर है, यह विचार वैदिक आर्यों में भली-भाँति विद्यमान था। उनका कथन था कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान्, मातरिश्वा, यम आदि सब एक ही सत्ता के विविध नाम हैं, और उस एक सत्ता को ही विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र आदि विविध नामों से पुकारते हैं। सम्भवतः, एक ईश्वर की यह कल्पना बाद में विकसित हुई, और प्रारम्भ में आर्य लोग प्रकृति की विविध शक्तियों को देवता के रूप में मानकर उन्हीं की उपासना करते थे। प्रकृति में हम अनेक शक्तियों को देखते हैं। वर्षा, धूप, सरदी, गरमी सब एक नियम से होती हैं। इन प्राकृतिक शक्तियों के कोई अधिष्ठातृ-देवता भी होने चाहिएँ और इन देवताओं की पूजा द्वारा मनुष्य अपनी सुख-समृद्धि में वृद्धि कर सकता है, यह विचार प्राचीन आर्यों में विद्यमान था। प्राकृतिक दशा को सम्मुख रखकर वैदिक देवताओं को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) द्युलोक के देवता यथा सूर्य, सविता, मित्र, पूषा, विष्णु, वरुण और मित्र। (२) अन्तरिक्षस्थानीय देवता, यथा इन्द्र, वायु, मरुत् और पर्जन्य। (३) पृथिवी-स्थानीय देवता, यथा अग्नि, सोम और पृथिवी। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोक के विभिन्न क्षेत्रों में प्रकृति की जो शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबको देवतारूप में मानकर वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति में विविध सूक्तों व मन्त्रों का निर्माण किया था। अदिति, उषा, सरस्वती आदि के रूप में वेदों में अनेक देवियों का भी उल्लेख है, और उनके स्तवन में भी अनेक मन्त्रों का निर्माण किया गया है। यद्यपि बहुसंख्यक वैदिक देवी-देवता प्राकृतिक शक्तियों व सत्ताओं के मूर्त्तरूप हैं, पर कतिपय देवता ऐसे भी हैं, जिन्हें भाव-रूप समझा जा सकता है। मनुष्यों में श्रद्धा, मन्यु (क्रोध) आदि की जो विविध भावनाएँ हैं, उन्हें भी वेदों में दैवी रूप प्रदान किया गया है।

इन विविध देवताओं की पूजा के लिये वैदिक आर्य अनेकविध यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर दूध, घी, अन्न, सोम आदि विविध सामग्री की आहुति दी जाती थी। यह समझा जाता था, कि अग्नि में दी हुई आहुति देवताओं तक पहुँच जाती है, और अग्नि इस आहुति के लिये वाहन का कार्य करती है।

वैदिक युग में यज्ञों में मांस की आहुति दी जाती थी या नहीं, इस सम्बन्ध में मतभेद है। महाभारत में संकलित एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार पहले यज्ञों में पशुबलि दी जाती थी। बाद में राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन प्रबल हुआ। इस बात में तो सन्देह की कोई गुञ्जाइश नहीं है, कि बौद्ध-युग से पूर्व भारत में एक ऐसा समय अवश्य था, जब यज्ञों में पशुहिंसा का रिवाज था। पर वेदों के समय में भी यह प्रथा विद्यमान थी, यह बात संदिग्ध है। वेदों में स्थान-स्थान पर घृत, अन्न व सोम द्वारा यज्ञों में आहुति देने का उल्लेख है, पर अश्व, अजा आदि पशुओं की बलि का स्पष्ट वर्णन प्रायः वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता।

आर्यों ने दास, दस्यु आदि जिन आर्यभिन्न जातियों को विजय कर अपनी सत्ता की स्थापना की, उनके धर्म का भी उनपर प्रभाव पड़ा। ऋग्वेद के एक मंत्र में यह प्रार्थना की गयी है, कि 'शिश्नदेव' हमारे यज्ञ को न बिगाड़ें। हम पहले लिख चुके हैं, कि सिन्धु-घाटी की प्राचीन सभ्यता के निवासियों में शिश्न (लिंग) की पूजा प्रचलित थी। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के भग्नावशेषों में ऐसे अनेक शिश्न (जो पत्थर के बने हैं) उपलब्ध भी हुए हैं। ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर शिश्नदेवों के पुर के विजय का भी उल्लेख है। वैदिक युग के आर्य लिंग के रूप में प्रकृति की प्रजनन-शक्ति के उपासकों से घृणा करते थे, पर बाद में आर्य-जाति ने पूजा की इस विधि को भी अपना लिया, और शिवलिंग के रूप में शिश्नदेव की पूजा आर्यों में भी प्रचलित हो गयी। इसी प्रकार अथर्ववेद में अनेक जादू-टोने पाये जाते हैं, जो आर्य-भिन्न जातियों से ग्रहण किये गये थे। साँप का विष उतारने के मन्त्रों में तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगुला आदि अनेक शब्द आये हैं। अनेक विद्वानों के मत में ये शब्द वैदिक भाषा के न होकर कैल्डियन भाषा के है। कैल्डियन लोग ईराक के क्षेत्र में निवास करते थे, और आर्यभिन्न जाति के थे। सिन्धु-सभ्यता के लोगों का पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, यह हम पहले लिख चुके हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि तैमात आदि ये शब्द पश्चिमी एशिया से सिन्धु सभ्यता में आये हों, और बाद में आर्यों ने इन्हें सिन्धु-सभ्यता के दास व दस्यु लोगों से ग्रहण किया हो।

यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम वैदिक देवताओं के स्वरूप का विशद रूप से वर्णन कर सकें। पर इतना लिख देना आवश्यक है, कि देवताओं के रूप में प्राचीन आर्य प्रकृति की विविध शक्तियों की पूजा करते थे, और यह विचार उनमें भली-भाँति विद्यमान था कि ये सब देवता एक ही सत्ता की विविध अभिव्यक्तियाँ हैं। वैदिक आर्य केवल देवताओं की पूजा और याज्ञिक अनुष्ठान में ही तत्पर नहीं थे, अपितु वे उस तत्त्व-चिन्तन में भी लगे थे, जिसने आगे चलकर उपनिषदों और दर्शन-शास्त्रों को जन्म दिया। यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई, सृष्टि से पहले क्या दशा थी, जब सृष्टि नहीं रहेगी, तो क्या अवस्था होगी—इस प्रकार के प्रश्नों पर भी वैदिक युग मे विचार किया जाता था। वैदिक संहिताओं में ऐसे अनेक सूक्त आते है, जिनमें इस प्रकार के प्रश्नों पर बहुत सुन्दर व गम्भीर विचार किया गया है। यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, जो इसका धारण करता है, जो इसका अन्त कर प्रलय करता है, जो इस सम्पूर्ण विश्व का स्वामी व पालनकर्त्ता है, हे प्रिय मनुष्य! तू उसको जान, अन्य किसी को

जानने का प्रयत्न न कर। इस विश्व में पहले केवल तम (अन्धकार) था, अत्यन्त गूढ़ तम था। तब सृष्टि विकसित नहीं हुई थी, सर्वत्र प्रकृति अपने आदि रूप में विद्यमान थी। उस सर्वोच्च सत्ता ने अपनी तपःशक्ति द्वारा तब इस सृष्टि को उत्पन्न किया। भूत, वर्तमान व भविष्य में जो कुछ भी इस संसार में है, वह सब उसी 'पुरुष' में से उत्पन्न होता है—इस प्रकार के कितने ही विचार वैदिक मन्त्रों में उपलब्ध होते हैं, और उस तत्त्व-चिन्तन को सूचित करते हैं, जिसमें वैदिक युग के अनेक ऋषि व विचारक संलग्न थे।

क्योंकि वैदिक युग के देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप थे, अतः उनकी मूर्ति बनाने व इन मूर्तियों की पूजा करने की पद्धति सम्भवतः वैदिक युग में विद्यमान नहीं थी। वैदिक आर्य देवताओं की पूजा के लिये ऐसे मन्दिरों का निर्माण नहीं करते थे, जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हों। वैदिक युग में देवताओं की पूजा का ढंग याज्ञिक अनुष्ठान ही था।

(५) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के आर्थिक जीवन के मुख्य आधार कृषि और पशुपालन थे। पशुओं में गाय, बैल, घोड़ा, भेड़, बकरी, कुत्ते व गधे विशेष रूप से पाले जाते थे। आर्यों के आर्थिक जीवन में गाय का इतना अधिक महत्त्व था, कि उसे अघ्न्या (न मारने योग्य) समझा जाता था। आर्य लोग इन पशुओं को बड़ी संख्या में पालते थे, और इनसे उनकी आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिलती थी। इस युग में आर्य लोग कतिपय निश्चित प्रदेशों पर बस गये थे, और कृषि के क्षेत्र में उन्होंने अच्छी उन्नति कर ली थी। जमीन को जोतने के लिये बैलों का प्रयोग किया जाता था। खेतों की उपज बढ़ाने के लिये खाद भी प्रयुक्त होता था। सिंचाई के लिये झील, जलाशय, नदी व कुएँ का जल काम में लाया जाता था। खेतों में पानी देने के लिये छोटी-छोटी नहरें व नालियाँ बनाई जाती थीं। भारत के ग्रामों में जिस ढंग से आजकल किसान लोग खेती करते हैं, जिस प्रकार वे अब लकड़ी और धातु के बने हलों को बैलों से चलाते हैं, जिस तरह से वे खेती को सींचते, नलाते व काटते हैं, प्रायः उसी ढंग से वैदिक युग के आर्य भी करते थे। खेतों में उत्पन्न होने वाले अनाजों में जौ, गेहूँ, धान, माष व तिल प्रमुख थे। यद्यपि वैदिक आर्यों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि था, पर धीरे-धीरे अनेक प्रकार के शिल्पों और व्यवसायों का भी विकास हो रहा था। तक्ष्मन् (बढ़ई), हिरण्यकार (सुनार) कर्मार (धातु-शिल्पी), चर्मकार (मोची), वाय (तन्तुवाय या जुलाहा) आदि अनेक व्यवसायियों का उल्लेख वेदों में आता है। उस युग में आर्य लोग रथों का बहुत उपयोग करते थे। ये रथ न केवल सवारी और माल ढोने के काम में आते थे, अपितु युद्ध के लिये भी इनका बहुत उपयोग था। आर्य-भिन्न दास लोग तो विविध शिल्पों का अनुसरण करते ही थे, पर आर्य लोगों ने भी कारु (शिल्पी), भिषक् (चिकित्सक) आदि अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन प्रारम्भ कर दिया था। दास-शिल्पियों को अपनी नौकरी में या गुलाम रूप में रखकर आर्य गृहपति अनेक प्रकार के व्यवसायों का संचालन करने लग गये थे।

वैदिक युग के आर्य अनेक धातुओं का प्रयोग जानते थे। सभ्यता के क्षेत्र में वे प्रस्तर युग से बहुत आगे बढ़ चुके थे। सुवर्ण और रजत का प्रयोग वे आभूषणों

और पात्रों के लिये करते थे, पर 'अयस्' नामक एक धातु को वे अपने औजार बनाने के लिये काम में लाते थे। संस्कृत भाषा में 'अयस्' का अर्थ लोहा है, पर अनेक विद्वानों का यह विचार है, कि वेदों में जिस अयस् का उल्लेख है, वह लोहा न होकर तांबा है। अयस् का अभिप्राय चाहे लोहे से हो और चाहे ताँबे से, इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक युग के आर्य इस उपयोगी धातु के प्रयोग को भली-भाँति जानते थे, और कर्मार लोग अनेक प्रकार के उपकरणों के निर्माण के लिये इसका उपयोग करते थे।

आर्य लोग अपने निवास के लिये सुन्दर शालाओं का निर्माण करते थे। वेद में एक शालासूक्त है, जिसमें शाला (मकान या घर) का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है। सम्भवतः, इन शालाओं के निर्माण के लिये लकड़ी का प्रयोग अधिक किया जाता था।

वस्त्र-निर्माण का शिल्प भी इस युग में अच्छा उन्नत था। ऊन और रेशम कपड़े बनाने के लिये विशेष रूप से प्रयुक्त होते थे। यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि रुई से भी आर्य लोग भली-भाँति परिचित थे। सिन्धु-सभ्यता के आर्थिक जीवन का विवरण देते हुए हमने उन प्रमाणों का उल्लेख किया है, जिनसे इस सभ्यता के लोगों का रुई से परिचय सिद्ध होता है। आर्य लोगों के लिये यह बहुत सुगम था कि वे अपने से पूर्ववर्ती सिन्धु-सभ्यता के लोगों से रुई की खेती और उपयोग को भली-भाँति सीख सकें। सूत कातने और उससे अनेक प्रकार के वस्त्र बनाने के व्यवसाय में आर्य लोग अच्छे कुशल थे। वे सिर पर उष्णीष (पगड़ी) धारण करते थे, नीचे एक अधोवस्त्र (धोती या साड़ी) और फिर उत्तरीय (चादर) का प्रयोग करते थे। स्त्री और पुरुष दोनों आभूषण पहनने का शौक रखते थे। कुण्डल, केयूर, निष्कग्रीव आदि अनेक प्रकार आभूषण इस युग के लोग प्रयोग में लाते थे।

व्यापार के लिये इस युग में वस्तुविनिमय (बार्टर) का प्रयोग होता था। पर बहुधा वस्तुओं के मूल्य का अंकन गौओं द्वारा करके और गौ को मूल्य की इकाई मान कर विनिमय का काम चलाया जाता था। धातु द्वारा निर्मित किसी सिक्के का चलन इस युग में था या नहीं, यह बात संदिग्ध है। निष्क नामक एक सुवर्ण मुद्रा का उल्लेख वैदिक साहित्य में आया है। पर सम्भवतः, उसका उपयोग मुद्रा की अपेक्षा आभूषण के रूप में अधिक था। वैदिक संहिताओं में नौकाओं का भी अनेक स्थलों पर वर्णन आया है। इनमें से कतिपय नौकाएँ बहुत विशाल भी हैं। सम्भवतः, वैदिक युग के लोग स्थल और जल मार्गों द्वारा दूर-दूर तक व्यापार के लिये आते-जाते थे। सिन्धु-सभ्यता के काल में भी सामुद्रिक व्यापार का प्रारम्भ हो चुका था। इस काल में यह और भी अधिक विकसित हुआ।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर 'पणि' नामक व्यापारियों का उल्लेख आया है, जिन्हें असुर कहा गया है। सम्भवतः, ये पणि फिनीशियन लोग थे, जिन्हें लैटिन भाषा में 'पूनि' कहा जाता था। फिनीशियन लोगों की बस्ती पैलेस्टाइन के समुद्रतट पर थी, जहां से वे सुदूर देशों में व्यापार के लिये आया जाया करते थे। भारत के आर्यों का इनसे परिचय था। सम्भवतः, वैदिक युग में भारत का पैलेस्टाइन के फिनीशियन (पूनि या पणि) लोगों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था।

सातवां अध्याय

उत्तर-वैदिकयुग और ऐतिहासिक महाकाव्यों का काल

(१) वैदिक साहित्य का विकास

महाभारत-युद्ध के बाद महात्मा बुद्ध के समय तक का राजनीतिक इतिहास बहुत अस्पष्ट है। पर इस काल की सभ्यता, धर्म, जीवन व संस्कृति के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने की सामग्री की कमी नहीं है, कारण यह कि इस समय में साहित्य का निरन्तर विकास होता रहा। यद्यपि इस युग के साहित्य का बड़ा भाग आजकल उपलब्ध नहीं होता, तथापि जो ग्रन्थ अब प्राप्त हैं, उन्हीं के आधार पर हम इस काल के आर्यों के जीवन के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें जान सकते हैं।

वेदांग—वैदिक साहित्य के अंगभूत वैदिक संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक (उपनिषद्) ग्रन्थों का विवरण पहले दिया जा चुका है। बाद में वेद-सम्बन्धी जिस साहित्य का विकास हुआ, उसे वेदांग कहते हैं। ये वेदांग छः हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। इन छः वेदांगों के साहित्य का परिचय देना यहाँ बहुत उपयोगी है।

शिक्षा का अभिप्राय उस शास्त्र से है, जिसमें वर्णों व शब्दों का सही उच्चारण प्रतिपादित किया जाता है। इस शास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ प्रातिशाख्य कहाते हैं। विभिन्न वैदिक संहिताओं के प्रातिशाख्य निम्नलिखित हैं :—(१) शौनक द्वारा रचित ऋग्वेद-प्रातिशाख्य, (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य-सूत्र, (३) कात्यायन द्वारा विरचित वाजसनेयी प्रातिशाख्य-सूत्र, और (४) अथर्ववेद प्रातिशाख्य-सूत्र। इन चार मुख्य प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त भारद्वाज, वशिष्ठ, व्यास, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा रचित अन्य प्रातिशाख्य-ग्रन्थ भी थे। इन सब में वेद-मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण के ढंग का प्रतिपादन किया गया है। प्राचीन आर्य लोग मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण को बहुत महत्त्व देते थे। शब्द में किस वर्ण या मात्रा पर अधिक जोर देना चाहिये, इसका उनकी दृष्टि में बहुत महत्त्व था। यज्ञ व अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में वेद-मन्त्रों का विनियोग तभी पूरा फल दे सकता था, जब कि उनका ठीक उच्चारण किया जाय। इसी कारण, शिक्षा-शास्त्र सम्बन्धी इन ग्रन्थों का विकास हुआ था। प्रातिशाख्यों से पूर्व भी शिक्षा-शास्त्र की सत्ता थी। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस शास्त्र का प्रारम्भ बाभ्रव्य ऋषि द्वारा हुआ था।

छन्द-शास्त्र में वैदिक छन्दों का निरूपण किया जाता है। छन्द का यह विषय प्रातिशाख्यों में भी आता है, पर इस शास्त्र का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छन्दसूत्र है, जिसे आचार्य पिंगल ने बनाया था। पिंगल का छन्दसूत्र जिस रूप में आजकल मिलता है, वह शायद बहुत प्राचीन नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि यह प्राचीन छन्द-शास्त्र के आधार पर लिखा गया है।

वेदों को भले प्रकार से समझने के लिये व्याकरण-शास्त्र बहुत उपयोगी है। संस्कृत-भाषा का सबसे प्रसिद्ध व्याकरण ग्रन्थ पाणिनीय अष्टाध्यायी है, जिसे पाणिनि मुनि ने बनाया था। किन्तु पाणिनि की अष्टाध्यायी वेदांग के अन्तर्गत नहीं है, क्योंकि उसमें प्रधानतया लौकिक संस्कृत-भाषा का व्याकरण दिया गया है। वेद या छन्दस् की भाषा के नियम उसमें अपवादरूप से ही दिये गये हैं। पर अष्टाध्यायी के रूप में संस्कृत-व्याकरण अपने विकास व पूर्णता की चरम सीमा को पहुँच गया था। पाणिनि का काल अन्तिम रूप से निश्चित नहीं हुआ है, पर बहुसंख्यक विद्वान् उन्हें पाँचवीं सदी ई० पू० का मानते हैं। उनसे पूर्व अन्य भी अनेक वैयाकरण हो चुके थे, जिनके प्रयत्नों के कारण ही संस्कृत का व्याकरण इतनी पूर्ण दशा को प्राप्त हुआ था। चन्द्र, इन्द्र आदि अनेक प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों की सत्ता के प्रमाण प्राचीन साहित्य में मिलते हैं। यास्क के निरुक्त में शाकपूणि नामक एक आचार्य का उल्लेख आता है, जो व्याकरणशास्त्र का बड़ा आचार्य था।

निरुक्त-शास्त्र भी एक वेदांग है, जिसमें शब्दों की व्युत्पत्ति या निरुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। यास्काचार्य का निरुक्त इस शास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यास्क से पूर्व इस शास्त्र के अन्य भी अनेक आचार्य हुए, जिनके मतों का उल्लेख यास्क ने अनेक बार अपने निरुक्त में किया है। पर इनमें से किसी भी आचार्य का ग्रन्थ वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं होता।

ज्योतिष-शास्त्र भी छः वेदांगों में से एक है। बाद में इस शास्त्र का भारत में बहुत विकास हुआ, और आर्यभट्ट, वराहमिहिर आदि अनेक ऐसे आचार्य हुए, जिन्होंने इस विद्या को बहुत उन्नत किया। पर प्राचीन युग का केवल एक ग्रन्थ इस समय मिलता है जिसका नाम 'ज्योतिषवेदांग' है। इसमें केवल ४० श्लोक हैं, जिनमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि का वर्णन है। पर प्राचीन काल में ज्योतिष भली-भाँति विकसित था, और वैदिक संहिताओं व ब्राह्मण ग्रन्थों में भी ज्योतिष सम्बन्धी अनेक तथ्य पाये जाते हैं।

आर्यों के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के क्या नियम हों, वे किन संस्कारों व कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करें, इस महत्त्वपूर्ण विषय का प्रतिपादन कल्प-वेदांग में किया गया है। कल्प के तीन भाग हैं—श्रौत, गृह्य और धर्म। ब्राह्मण-ग्रन्थों में याज्ञिक कर्मकाण्ड का बहुत विशद रूप से प्रतिपादन था। प्रत्येक याज्ञिक व अन्य विधि का इतने विस्तार के साथ वर्णन उनमें किया गया था, कि सर्वसाधारण जीवन व व्यवहार में उनका सुगमता के साथ उपयोग सम्भव नहीं था। अतः यह आवश्यकता अनुभव की गयी, कि वैदिक अनुष्ठानों को संक्षेप के साथ प्रतिपादित किया जाय। श्रौत-सूत्रों की रचना इसी दृष्टि से की गयी। इन्हें ब्राह्मण-ग्रन्थों का सार कहा जा सकता है, यद्यपि वैदिक विधियों में कुछ परिवर्तन व संशोधन भी इनसे सूचित होता है। गृह्य-सूत्रों में आर्य गृहस्थ के उन विधि-विधानों का वर्णन है, जो उसे आवश्यक रूप से करने चाहिएँ। जन्म से मृत्यु पर्यन्त आर्य गृहस्थ को अनेक धर्मों का पालन करना होता है, अनेक संस्कार करने होते हैं, व अनेक अनुष्ठानों का सम्पादन करना होता है। इन सबका प्रतिपादन गृह्य-सूत्रों में किया गया है। एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के प्रति या समाज के प्रति जो कर्त्तव्य हैं, व दूसरों के साथ बरतते हुए उसे जिन नियमों का पालन करना

चाहिये, उनका विवरण धर्मसूत्रों में दिया गया है।

वर्तमान समय में जो सूत्र-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें अधिक महत्त्वपूर्ण निम्न-लिखित हैं— गौतम धर्मसूत्र, बौधायनसूत्र, आपस्तम्बसूत्र, मानवसूत्र, काठकसूत्र, कात्यायन श्रौतसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र, आश्वलायन श्रौतसूत्र, आश्वलायन गृह्यसूत्र, सांख्यायन श्रौतसूत्र, सांख्यायन गृह्यसूत्र, लाट्यायन श्रौतसूत्र, गोभिलगृह्यसूत्र, कौशिक-सूत्र और वैतान श्रौतसूत्र। इन विविध सूत्र-ग्रन्थों के नामों से ही यह बात सूचित होती है, कि इनका निर्माण विविध प्रदेशों में और विविध सम्प्रदायों में हुआ था। प्राचीन भारत में विविध आचार्यों द्वारा ज्ञान व चिन्तन के पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों का विकास हुआ था, और इन सम्प्रदायों में विधि-विधान, विचार व ज्ञान की अपनी-अपनी परम्परा जारी रहती थी। भारतीय आर्यों के प्राचीन जीवन को भली-भाँति समझने के लिये इन सूत्र-ग्रन्थों का अनुशीलन बहुत उपयोगी है।

उपवेद—छः वेदांगों के अतिरिक्त इस युग में चार उपवेदों का भी विकास हुआ। ये उपवेद निम्नलिखित हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद। चिकित्सा-सम्बन्धी ज्ञान आयुर्वेद के अन्तर्गत हैं। चरक, सुश्रुत आदि आचार्यों ने चिकित्सा-शास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ लिखे थे, वे आजकल उपलब्ध होते हैं। पर ये आचार्य बौद्ध-काल में व उसके बाद हुए थे। प्राग्बौद्ध-काल का आयुर्वेद-सम्बन्धी कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होता। पर चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि उनसे पूर्व बहुत-से आचार्य ऐसे हो चुके थे, जिन्होंने आयुर्वेद का विकास किया था। उपनिषदों में श्वेतकेतु नामक आचार्य का उल्लेख आया है, जो उद्दालक आरुणि का पुत्र था। यह श्वेतकेतु केवल ब्रह्मज्ञानी ही नहीं था, अपितु साथ ही प्रजननशास्त्र और कामशास्त्र का भी पण्डित था। ये शास्त्र आयुर्वेद के अन्तर्गत थे। श्वेतकेतु के समान अन्य भी अनेक विद्वान् इस युग में हुए, जिनके प्रयत्न से आयुर्वेद-विज्ञान का भारत में विकास हुआ। धनुर्वेद, शिल्पवेद और गान्धर्ववेद पर बाद के समय में बने हुए अनेक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं। पर अभी तक कोई ऐसी पुस्तक इन विषयों पर नहीं मिली है, जिसे निश्चितरूप से प्राग्बौद्ध-काल का कहा जा सके। पर इन विद्याओं का उपवेद समझा जाना ही इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि प्राचीन आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठान और ब्रह्मविद्या का ही चिन्तन नहीं करते थे, अपितु चिकित्सा, युद्ध-विद्या, शिल्प और संगीत आदि लौकिक विषयों का भी अनुशीलन करते थे।

अन्य विद्याएँ—वैदिक संहिताओं और उनसे सम्बद्ध विषयों के अतिरिक्त अन्य किन विद्याओं का अनुशीलन इस युग के आर्य करते थे, इस विषय में छान्दोग्य उपनिषद् का एक सन्दर्भ बहुत महत्त्व का है। इस उपनिषद् के सप्तम प्रपाठक में महर्षि सनत्कुमार और नारद का संवाद आता है, जिसमें सनत्कुमार के यह पूछने पर कि नारद ने किन-किन विषयों का अध्ययन किया है, नारद ने इस प्रकार उत्तर दिया—'हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का अध्ययन किया है, मैंने पंचमवेद इतिहास-पुराण को पढ़ा है, मैंने पितृविद्या, राशिविद्या (गणित), दैवविद्या, निधि-विद्या (खान सम्बन्धी विद्या), वाक्योवाक्य (तर्कशास्त्र), एकायन (नीति-शास्त्र), देव-विद्या, ब्रह्मविद्या (अध्यात्म-शास्त्र), भूतविद्या, क्षत्र-विद्या (युद्ध-शास्त्र), नक्षत्र-विद्या

(ज्योतिष), सर्प-विद्या और देवजन-विद्या को पढ़ा है। छान्दोग्य उपनिषद का यह सन्दर्भ इस विषय में कोई सन्देह नहीं रहने देता, कि महाभारत के बाद इस देश में अनेक लौकिक विद्याओं का भली-भाँति विकास हो गया था, और नारद-जैसे विद्वान् इन विविध विषयों के अनुशीलन में निरन्तर तत्पर रहते थे।

अर्थशास्त्र या दण्डनीति—अन्य अनेक लौकिक विद्याओं के समान इस युग में दण्डनीति या अर्थशास्त्र का भी भली-भाँति विकास हुआ। महाभारत का शान्तिपर्व राजधर्मशास्त्र का अत्यन्त उत्कृष्ट व विशद ग्रन्थ है। उससे इस युग की राजनीति व राजनीतिक विचारों पर बहुत सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कौटलीय अर्थशास्त्र की रचना बौद्ध-काल के बाद में हुई। पर उसमें अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख मिलता है, जिनकी सम्मति को बार-बार आचार्य चाणक्य ने उद्धृत किया है। इनमें से कतिपय के नाम निम्नलिखित हैं—भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि और बाहुदन्तीपुत्र। इन आचार्यों के अतिरिक्त चाणक्य ने मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि अनेक सम्प्रदायों का भी उल्लेख किया है, जिनमें दण्डनीति व राजनीतिशास्त्र-सम्बन्धी विविध विचारधाराओं का विकास हुआ था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इनके मतों का उल्लेख कर उनपर अपनी सम्मति भी दी गयी है। यह इस बात का प्रमाण है, कि प्राग्बौद्ध-काल में राजनीति-शास्त्र का बहुत विकास हुआ था। यदि इन आचार्यों और सम्प्रदायों के दण्डनीति-सम्बन्धी ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते, तो हम इस युग के राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। शुक्रनीतिसार नाम से राजनीति-शास्त्र-सम्बन्धी जो ग्रन्थ इस समय मिलता है, वह औशनस सम्प्रदाय का है। शुक्र राजनीति के बहुत बड़े आचार्य थे। उनकी सम्मति में दण्डनीति ही एकमात्र ऐसी विद्या थी, जिसे 'विद्या' कहा जा सकता था। शुक्राचार्य की सम्मति में अन्य सब विद्याएँ दण्डनीति के ही अन्तर्गत हो जाती हैं। शुक्रनीतिसार का वर्तमान रूप चाहे बाद के समय में बना हो, पर इसमें सन्देह नहीं, कि उसमें शुक्राचार्य के या औशनस सम्प्रदाय के परम्परागत विचार संकलित हैं।

दर्शन-शास्त्र का विकास—भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार छः आस्तिक दर्शन हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त। ये छः दर्शन आस्तिक और वेदसम्मत माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य दर्शनों का विकास भी प्राचीन समय में हुआ था, जिन्हें नास्तिक व लोकायत कहा जाता था। दर्शन-शास्त्रों द्वारा प्राचीन आर्य विद्वान् सृष्टि के मूल-तत्त्वों का परिचय प्राप्त करने का उद्योग करते थे। ब्राह्मण-ग्रन्थों और श्रौत-सूत्रों का विषय याज्ञिक कर्मकाण्ड व विधि-विधान का प्रतिपादन करना है। आरण्यकों या उपनिषदों में ब्रह्म-विद्या या अध्यात्मशास्त्र का विवेचन किया गया है। पर दर्शन-ग्रन्थों में वैज्ञानिक (दार्शनिक) पद्धति से यह जानने का भी यत्न किया गया है, कि इस सृष्टि के मूल-तत्त्व क्या हैं, यह सृष्टि किस तत्त्व से या किन तत्त्वों से और किस प्रकार निर्मित हुई, और इसका कोई स्रष्टा है या नहीं। इस प्रकार के विवेचन को 'दर्शन' कहा जाता था। भारत का सबसे पहला दार्शनिक शायद कपिल मुनि था, जो महाभारत-युद्ध के बाद उपनिषदों के निर्माण काल में हुआ था। जिस प्रकार वाल्मीकि को भारत का आदि-

कवि माना जाता है, वैसे ही कपिल भारत का प्रथम दार्शनिक था। उसने सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। जड़ और चेतन—दोनों प्रकार की सत्ताओं को निश्चित संख्याओं में विभक्त कर कपिल ने प्रकृति सम्बन्धी विवेचन के लिये एक वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण किया। बाद के विद्वानों ने कपिल की शैली का अनुसरण कर सांख्य-दर्शन की बहुत उन्नति की। शंकराचार्य के समय तक सांख्य का भारतीय दर्शनों में प्रमुख स्थान था। कपिल मुनि ने सृष्टि के निर्माण के लिये किसी कर्त्ता या स्रष्टा की आवश्यकता अनुभव नहीं की। प्रकृति पहले अव्यक्त रूप में विद्यमान थी, इस दशा में उसे 'प्रधान' कहते थे। यह प्रधान ही बाद में 'व्यक्त' होकर प्रकृति के रूप में आया।

कपिल के समान अन्य भी अनेक विचारक इस युग में हुए, जिन्होंने प्रकृति के मूल-तत्त्वों के सम्बन्ध में मौलिक विचार अभिव्यक्त किये। कणाद वैशेषिक दर्शन का प्रवर्तक था। सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं द्वारा हुई, इस मत का प्रतिपादन कणाद ने किया। न्याय-दर्शन का प्रवर्तक गौतम था, जिसने पञ्चभूत के सिद्धान्त का प्रारम्भ किया। वेदान्त के मत में सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म द्वारा हुई। ब्रह्म चेतन सत्ता है, जो अपने को सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त करती है। वेदान्त दर्शन का प्रवर्त्तक मुनि वेदव्यास को माना जाता है। यह निश्चित नहीं किया जा सका है, कि ये सब दार्शनिक मुनि किस समय में हुए थे। षड्दर्शनों के जो ग्रन्थ इस समय में मिलते हैं, वे बाद के समय के बने हुए हैं। पर इन ग्रंथों में जो विचार व सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, उन्हें विकसित होने में बहुत समय लगा होगा। यह सहज में माना जा सकता है, कि प्राग्-बौद्ध काल में जब अनेक ब्रह्मवादी ऋषि उपनिषद् के विचारों का विकास कर रहे थे, तभी अन्य मुनि या विचारक लोग दार्शनिक पद्धति द्वारा सृष्टि के मूल-तत्त्वों के चिन्तन में तत्पर थे। दर्शन-शास्त्र को ही 'आन्वीक्षकी' विद्या भी कहते थे। आन्वीक्षकी शब्द अन्वीक्षण से बना है, जिसका अर्थ है दर्शन। आचार्य चाणक्य के समय (मौर्य-युग) तक सांख्य, योग और लोकायत—इन तीन दार्शनिक पद्धतियों का भली-भाँति विकास हो चुका था। लोकायत का अभिप्राय चार्वाक-दर्शन से है। चार्वाक सम्प्रदाय के लोग न केवल ईश्वर को नहीं मानते थे, अपितु वेद में भी विश्वास नहीं रखते थे। प्राचीन वैदिक श्रुति का आदर भारत के सब आर्यों में था, पर धीरे-धीरे ऐसे विचारक भी उत्पन्न होने लगे थे, जो वेद तक के प्रामाण्य से इनकार करते थे। वस्तुतः, यह युग ज्ञान-पिपासा, स्वतन्त्र विचार और दार्शनिक चिन्तन का था।

(५) वैदिक और उत्तर-वैदिक युग

भारत के प्राचीन आर्य ऋषियों ने जिन सूक्तों (सुभाषितों) का निर्माण किया, वे वैदिक संहिताओं में संगृहीत हैं। अपने पूर्वज ऋषियों की इन कृतियों का आर्य-जाति की दृष्टि में बहुत महत्त्व था। ये सूक्त मुख्यतया विविध देवताओं की स्तुति में कहे गये थे। बाद में इन वैदिक सूक्तों की व्याख्या के लिये व याज्ञिक अनुष्ठानों में इनके विनियोग के लिये ब्राह्मण-ग्रन्थों की रचना हुई। उपनिषदों व

आरण्यक ग्रंथों में वे विचार संकलित किये गये, जो अध्यात्मचिन्तन के सम्बन्ध में थे। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक—ये तीनों वैदिक साहित्य के अन्तर्गत माने जाते हैं, यद्यपि आर्य-जाति की दृष्टि में जो आदर मूल संहिताओं का है, वह ब्राह्मण-ग्रंथों व आरण्यकों का नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि ब्राह्मण और आरण्यक वैदिक संहिताओं की अपेक्षा बाद के समय के हैं। वेदों का बड़ा भाग महाभारत-युद्ध से पहले अपने वर्तमान रूप में आ चुका था। पर ब्राह्मणग्रंथों और आरण्यकों (उपनिषदों) का निर्माण प्रधानतया महाभारत-युद्ध के बाद में हुआ। इसीलिये इतिहास में हम वैदिक संहिताओं के युग को या महाभारत-युद्ध से पहले के काल को वैदिक युग कहते हैं, और ब्राह्मणों व उपनिषदों के काल को उत्तर-वैदिक युग। उत्तर-वैदिक युग के अन्तर्गत ही वह समय भी आ जाता है, जब कि सूत्र-ग्रंथों व अन्य वेदांगों का विकास हुआ। रामायण, महाभारत और पुराण (जिन्हें प्राचीन परम्परा के अनुसार 'इतिहास-पुराण' कहा जाता है) इस युग के बाद के नहीं हैं। अपने वर्तमान रूप में तो वे बौद्ध-काल के भी बाद में आये, पर उनमें जो अनुश्रुति संगृहीत है, उसका सम्बन्ध वैदिक और उत्तर-वैदिक काल के साथ ही है। इसीलिये ऐतिहासिकों ने अब भारतीय इतिहास को लिखते हुए वैदिक, उत्तर-वैदिक, सूत्र-धर्म-शास्त्र, ऐतिहासिक काव्य (ईपिक)—इस ढंग के काल-विभाग की परिपाटी को छोड़ दिया है।

वैदिक संहिताओं के आधार पर प्राचीन आर्यों के जीवन, सभ्यता और संस्कृति पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, सूत्र-ग्रन्थों व अन्य वेदांगों के आधार पर आर्यों की सभ्यता के विकास की विवेचना करेंगे। साथ ही, रामायण, महाभारत, व अन्य प्राचीन ग्रन्थों का भी इसके लिये उपयोग करेंगे, क्योंकि इन ग्रन्थों के अनेक अंश प्राग्-बौद्ध काल में विकसित हो चुके थे।

इस प्रसंग में हमें यह भी स्पष्ट करना है, कि प्राचीन भारत के अनेक ग्रन्थ किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर एक 'सम्प्रदाय' की कृति हैं। हमने पिछले प्रकरण में मानव, औशनस, बार्हस्पत्य आदि सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। प्राचीन भारत में जब कोई प्रतिभाशाली मुनि व आचार्य किसी नये विचार व सिद्धान्त का प्रतिपादन करता था, तो उसकी शिक्षा वह अपने शिष्य को देता था। मुनि द्वारा प्रतिपादित नया विचार गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा निरन्तर विकसित होता था, और इस प्रकार एक नये सम्प्रदाय (धार्मिक सम्प्रदाय नहीं, अपितु विचार-सम्प्रदाय) का विकास हो जाता था। बृहस्पति, उशना (शुक्र), मनु आदि इसी प्रकार के विचारक थे, जिनकी शिष्य-परम्परा में बार्हस्पत्य, औशनस, मानव आदि सम्प्रदायों का विकास हुआ। कपिल, कणाद, गौतम आदि मुनियों की शिष्य-परम्परा ने सांख्य, वैशेपिक, न्याय आदि दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास किया। वैदिक मन्त्रों के विनियोग और याज्ञिक अनुष्ठान के सम्बन्ध में भी अनेक सम्प्रदाय बने, और यह प्रक्रिया ज्ञान व चिन्तन के प्रत्येक क्षेत्र में जारी रही। इसी का यह परिणाम हुआ, कि दर्शन, दण्डनीति, कल्प (श्रौत, गृह्य और धर्म) आदि विषयक जो ग्रन्थ इस समय हमें मिलते हैं, वे सम्प्रदायों की ही कृति हैं। उन सबका विकास धीरे-धीरे अपने-अपने सम्प्रदायों में हुआ। उनका वर्तमान रूप चाहे बाद का हो, पर उनमें

सकलित विचारों का प्रारम्भ उत्तर-वैदिक युग में ही हो चुका था।

(३) धर्म और तत्त्वचिन्तन

याज्ञिक विधि-विधान—वैदिक युग में आर्य-धर्म का क्या स्वरूप था, इसपर हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। वेदों के देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप थे। संसार की मूलशक्ति प्रकृति के विविध रूपों में जिस प्रकार अभिव्यक्त होती है, उनमें वैदिक आर्यों ने अनेक देवताओं की कल्पना की थी। आर्य लोग इन देवताओं के रूप में विश्व की मूलभूत अधिष्टात्री शक्ति की उपासना करते थे। इन देवताओं की पूजा और तृप्ति के लिये वे यज्ञों का अनुष्ठान करते थे। प्रारम्भ में इन यज्ञों का रूप बहुत सरल था। यज्ञकुण्ड में अग्नि का आधान कर उसमें आहुति दी जाती थी, और इस प्रकार देवताओं को तृप्त किया जाता था। पर धीरे-धीरे इन यज्ञों का रूप बहुत जटिल होता गया। उत्तर-वैदिक काल में यज्ञों की जटिलता अपने चरम उत्कर्ष को पहुँच गई थी। आर्य-जनता के एक भाग का यही कार्य था, कि वह याज्ञिक विधि-विधानों में प्रवीणता प्राप्त करे, और उसकी प्रत्येक विधि का सही तरीके-से अनुष्ठान करे। इन लोगों को 'ब्राह्मण' कहते थे। यज्ञ के लिये वेदी की रचना किस प्रकार की जाय, वेदी में अग्नि कैसे प्रज्वलित की जाय, किस प्रकार आहुतियाँ दी जायें, यज्ञ करते हुए यजमान, ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि कहाँ और किस प्रकार बैठें, वे अपने विविध अंगों को किस प्रकार उठाएं, किस प्रकार मन्त्रोच्चारण करें, कैसे ज्ञात हो कि अब देवता यज्ञ की आहुति का ग्रहण करने के लिये पधार गये हैं, किन पदार्थों की आहुति दी जाय—इस प्रकार के विविध विषयों का बड़े विस्तार के साथ ब्राह्मण-ग्रन्थों में विवेचन किया गया है। किस याज्ञिक विधि का क्या प्रयोजन है, यह विषय भी उनमें विशद रूप से वर्णित है। जन्म से मृत्युपर्यन्त प्रत्येक गृहस्थ को अनेक प्रकार के यज्ञ करने होते थे। मनुष्य के वैयक्तिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखनेवाले संस्कारों का स्वरूप भी यज्ञ का था।

तत्त्वचिन्तन की लहर—पर इस युग के आर्य केवल याज्ञिक अनुष्ठानों में ही व्यापृत नहीं थे, उनका ध्यान ब्रह्मविद्या तथा तत्त्वचिन्तन की ओर भी गया था। यज्ञों से इहलोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त होता है, यह मानते हुए भी वे इस प्रकार के विषयों के चिन्तन में तत्पर थे, कि मनुष्य क्या है? जिसे हम आत्मा कहते हैं, उसका क्या स्वरूप है? शरीर और आत्मा भिन्न हैं या एक ही हैं? मरने के बाद मनुष्य कहाँ जाता है? इस सृष्टि का कर्त्ता कौन है? इसका नियमन किस शक्ति द्वारा होता है? इसी प्रकार के प्रश्नों की जिज्ञासा थी, जो अनेक मनुष्यों को इस बात के लिये प्रेरित करती थी, कि वे गृहस्थ-जीवन से विरत होकर या सांसारिक सुख-समृद्धि की उपेक्षा कर एकनिष्ठ हो तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करें। उस युग के ग्रामों और नगरों के बाहर जंगल के प्रदेशों में अनेक विचारकों ने अपने आश्रम बनाये थे, जहाँ ब्रह्मविद्या या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिये आतुर हुए लोग एकत्र होते थे, और तप व स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की अपनी प्यास को बुझाते थे। इस युग में अनेक राजा भी ऐसे हुए, जो इस प्रकार के विचारों में

तत्पर थे। विदेह के जनक, केकय के अश्वपति, काशी के अजातशत्रु और पंचालदेश के प्रवाहण जाबालि का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये सब राजा न केवल स्वयं तत्त्वचिन्तक थे, अपितु इसी प्रकार का चिन्तन करनेवाले मुनियों व विचारकों के आश्रयदाता भी थे। उनकी राजसभा में भारत के विभिन्न प्रदेशों से मुनिलोग एकत्र होते थे, और अध्यात्मविषयक प्रश्नों पर विचार करते थे। राजा लोग भी इस विचार में हिस्सा लेते थे, और विविध विचारकों में जिसका पक्ष प्रबल होता था, उसकी धन आदि से पूजा भी करते थे।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कथा आती है कि जनक वैदेह ने एक बड़े यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें कुरु और पंचाल देश के ब्राह्मण लोग एकत्र हुए। जनक ने निश्चित किया, कि जो ब्राह्मण सबसे अधिक विद्वान् होगा, उसे हजार गौवें दी जायेंगी, और इन गौओं के सींगों के साथ दस-दस स्वर्ण-मुद्राएँ बंधी होंगी। इस पर ब्राह्मणों में परस्पर विवाद होने लगा। अन्त में याज्ञवल्क्य की विजय हुई। उसने अन्य सब ब्राह्मणों को शास्त्रार्थ में परास्त किया, और हजार गौओं को विजयोपहार के रूप में प्राप्त किया। याज्ञवल्क्य के साथ इस शास्त्रार्थ का विषय अध्यात्म-सम्बन्धी था, और उससे परास्त होने वाले विद्वानों में केवल कुरु-पंचाल के ही ब्राह्मण नहीं थे, अपितु मद्रदेश और शाकल नगरी के भी विद्वान् थे। इसी प्रकार की कथाएँ इस युग के अन्य राजाओं के सम्बन्ध में भी उपनिषदों में पायी जाती हैं।

याज्ञिक कर्मकाण्ड की जटिलता से आरण्यक आश्रमों में चिन्तन करने वाले विद्वान् सहमत नहीं थे। वे अनुभव करते थे, कि यज्ञों द्वारा मनुष्य यथेष्ट फल नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये उनका कथन था कि यज्ञरूपी ये नौकाएँ अदृढ़ है, संसार-सागर से तरने के लिये इनका भरोसा नहीं किया जा सकता। यज्ञ के स्थान पर इन विचारकों ने तप, स्वाध्याय और सदाचरण पर जोर दिया। ये कहते थे, कि मानव-जीवन की उन्नति और परमपद की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है, कि मनुष्य अपनी इन्द्रियों को वश में करे, वाणी और मन पर नियन्त्रण रखे, तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करे, दृढ़ संकल्प हो कर आत्मा और ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करे और ईश्वर में ध्यान लगाये। शरीर से भिन्न जो आत्मा है, जिसके कारण शरीर को शक्ति प्राप्त होती है, उसको जानने और उसपर ध्यान देने से ही मनुष्य उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, यह इन तत्त्वचिन्तकों का उपदेश था। उनका कथन था, यह आत्मा बलहीन मनुष्य को नहीं मिल सकती, तप के अभाव से प्रमादी मनुष्य इसे कदापि प्राप्त नहीं कर सकता।

इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर इस युग के अनेक मनुष्यों की प्रवृत्ति यज्ञों से विमुख हो गई, और भारत में तत्त्वचिन्तन की उस लहर का प्रारम्भ हुआ, जिसने इस देश में बहुत से मुनि, योगी व तपस्वी उत्पन्न किये। ये लोग सांसारिक सुखों को हेय समझते थे, सन्तान, धन और यश की अभिलाषा से ऊपर उठते थे, और ज्ञान की प्राप्ति को ही अपना ध्येय मानते थे। इनके चिन्तन के कारण भारत में जो नया ज्ञान विकसित हुआ, वही उपनिषदों और दर्शन-ग्रन्थों में संगृहीत है।

निःसन्देह, ये अपने विषय के अत्यन्त उत्कृष्ट और गम्भीर ग्रन्थ हैं।

भागवत धर्म—यज्ञों के जटिल कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया तत्त्व-चिन्तक मुनियों द्वारा शुरू हुई थी, उसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम भागवत धर्म का प्रारम्भ होना था। बौद्ध-युग के बाद यह धर्म भारत का सबसे प्रमुख धर्म बन गया और गुप्त-सम्राटों के समय में इस धर्म ने न केवल भारत में अपितु भारत से बाहर भी बहुत उन्नति की। पर इस धर्म का प्रारम्भ महाभारत-युद्ध के समय में व उससे कुछ पूर्व ही हो गया था। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार राजा वसु चैद्योपरिचर के समय में याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्बन्ध में एक भारी विवाद उठ खड़ा हुआ था। कुछ ऋषि यज्ञों में पशुओं की बलि देने के विरुद्ध थे, और कुछ पुरानी परम्परा का अनुसरण करना चाहते थे। राजा वसु ने अपने यज्ञों में पशुबलि देने के विरुद्ध परिपाटी का अनुसरण किया, और स्वयं हरि (भगवान) उससे संतुष्ट हुए। यद्यपि पुरानी प्रथा के अनुयायी अनेक ऋषि इस बात से वसु से बहुत नाराज थे, पर क्योंकि वसु भगवान् का सच्चा भक्त था, अतः भगवान् ने उसे अपनाया और उसके समय से भगवत्-पूजा की एक नई पद्धति का प्रारम्भ हुआ। वसु के बाद सात्वत लोग इस नई पद्धति के अनुयायी हुए। सात्वत लोग यादव वंश की एक शाखा थे, और मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश में आबाद थे। मथुरा के क्षेत्र के अन्धक-वृष्णिगण के निवासी लोग सात्वत ही थे। सात्वत लोगों का यह विश्वास था, कि हरि सब देवों का देव है, और अन्य सब देवता उसकी विविध शक्तियों के प्रतीकमात्र हैं। इस देवों के देव हरि की पूजा के लिये न याज्ञिक कर्मकाण्ड का उपयोग है, और न ही जंगल में बैठकर तपस्या करने का। इसकी पूजा का सर्वोत्तम उपाय भक्ति है, और हरि की भक्ति के साथ-साथ अपने कर्त्तव्यों को कुशलता के साथ करते रहने में ही मनुष्य का कल्याण है। सात्वत लोग यज्ञों के विरोधी नहीं थे, और न ही वे तपस्या को निरुपयोगी समझते थे। पर उनका विचार था, कि ये सब बातें उतने महत्त्व की नहीं हैं, जितना कि हरिभक्ति और कर्त्तव्यपालन। सात्वत यादवों में वासुदेव कृष्ण, कृष्ण के भाई संकर्षण और संकर्षण के वंशज प्रद्युम्न और अनिरुद्ध ने इस नये विचार को अपनाया और सात्वत लोगों में इस विचार का विशेषरूप से प्रचार हुआ। वासुदेव कृष्ण और उसके अनुयायी सात्वत लोग यज्ञों में पशुहिंसा के विरोधी थे और भगवान् की भक्ति व निष्काम-कर्म के सिद्धान्त पर बहुत जोर देते थे। वसु चैद्योपरिचर के समय में जिस नई विचारधारा का सूत्र-रूप में प्रारम्भ हुआ था, वासुदेव कृष्ण द्वारा वह बहुत विकसित हुई। इसी विचारधारा को भागवत व एकान्तिक धर्म कहते हैं। इसके प्रधान प्रवर्त्तक वासुदेव कृष्ण ही थे, जो वृष्णि (सात्वत) संघ के 'मुख्य' थे, और जिनकी सहायता से पाण्डवों ने मगधराज जरासन्ध को परास्त किया था। कृष्ण न केवल उत्कृष्ट राजनीतिज्ञ थे, अपितु भागवत सम्प्रदाय के महान् आचार्य भी थे। कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को आत्मा की अमरता और निष्काम-कर्म का जो उपदेश उन्होंने दिया था, भगवद्गीता में उसी का विशदरूप से वर्णन है। गीता भागवत-धर्म का प्रधान ग्रन्थ है। इसे उपनिषदों का सार कहा जाता है। प्राचीन मुनियों और विचारकों द्वारा भारत में तत्त्वचिन्तन की जो लहर

चली थी, उसके कारण यज्ञप्रधान वैदिक धर्म में बहुत परिवर्तन हो गया था। उपनिषदों के तत्त्व-चिन्तन के परिणामस्वरूप जिस भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ, उसमें याज्ञिक अनुष्ठानों का विरोध नहीं किया गया था। यज्ञों की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए उसमें एक सर्वोपरि शक्ति की सत्ता, आत्मा की अमरता, कर्म-मार्ग की उत्कृष्टता और हरिभक्ति की महिमा का प्रतिपादन किया गया था। पुराने भारतीय धर्म में सुधार करने के लिये बौद्ध और जैन आदि जो नये धर्म बाद में उत्पन्न हुए, वे वैदिक श्रुति में विश्वास नहीं करते थे। प्राचीन वैदिक धर्म के साथ अनेक अंशों में उनका विरोध था। पर वासुदेव कृष्ण के भागवत-धर्म का उद्देश्य वैदिक मर्यादा, प्राचीन परम्परा और याज्ञिक अनुष्ठानों को कायम रखते हुए धर्म के एक ऐसे स्वरूप का प्रतिपादन करना था, जो नये चिन्तन के अनुकूल था। बौद्ध-युग के बाद इस धर्म का जिस ढंग से उत्कर्ष हुआ, उसपर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

(४) शासन-विधि

जनपदों का विकास—वैदिक युग के आर्य-राज्यों का स्वरूप 'जानराज्य' का था, क्योंकि उनका आधार 'जन' होता था। एक जन के सब व्यक्ति प्रायः 'सजात' होते थे। कुरु, पंचाल, शिवि, मद्र, केकय, गान्धार आदि जो राज्य वैदिक युग में विद्यमान थे, वे सब जनराज्य ही थे। जिस स्थान या प्रदेश पर यह जन बसा होता था, उसे जनपद व राष्ट्र कहते थे। धीरे-धीरे इन जनपदों में अन्य लोग (जो सजात नहीं थे) भी बसने शुरू हुए, और वे सब उसके अंग या प्रजा बन गये। इन जनपदों में किसी कबीले या जन के प्रति भक्ति की अपेक्षा उस प्रदेश के प्रति भक्ति अधिक महत्त्व की बात हो गई। विविध जनपदों के परस्पर संघर्ष के कारण महाजनपदों का विकास शुरू हुआ। काशी, कोशल, मगध आदि जो राज्य बौद्ध-काल में थे, उत्तर-वैदिक काल के साहित्य में उन्हें महाजनपद ही कहा गया है।

शासन के भेद—इन सब जनपदों का शासन का प्रकार एक-सा नहीं था। कुछ राज्यों में राजतन्त्र शासन था, तो कुछ में गणतन्त्र। ऐतरेय ब्राह्मण की अष्टम पंजिका में एक सन्दर्भ आता है, जिसमें उस युग के विविध शासन-प्रकारों का परिगणन किया गया है। इस सन्दर्भ के अनुसार प्राची दिशा (मगध, कलिंग, वंग आदि) के जो राजा हैं, उनका 'साम्राज्य' के लिये अभिषेक होता है, और वे सम्राट् कहाते हैं। दक्षिण दिशा में जो सात्वत (यादव) राज्य हैं, वहाँ का शासन 'भोज्य' है, और उनके शासक भोज कहे जाते हैं। प्रतीची दिशा (सुराष्ट्र, कच्छ, सौवीर आदि) का शासन-प्रकार 'स्वाराज्य' है, और उनके शासक 'स्वराट्' कहाते हैं। उत्तर-दिशा में हिमालय के क्षेत्र में (उत्तर-कुरु, उत्तर-मद्र आदि जनपद) जो राज्य हैं, वहाँ 'वैराज्य' प्रणाली है, और वहाँ के शासक 'विराट्' कहाते हैं। मध्यप्रदेश (कुरु, पंचाल, कोसल आदि) के राज्यों के शासक 'राजा' कहे जाते हैं। इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य और राज्य—इन पाँच प्रकार की शासन विधियों का उल्लेख है। ये प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न क्षेत्र में प्रचलित थीं,

इसका निर्देश भी ऐतरेय ब्राह्मण में कर दिया गया है। सम्राट् वे शासक थे, जो वंशक्रमानुगत होते हुए अपनी शक्ति के विस्तार के लिये अन्य राज्यों का मूलोच्छेद करने के लिये तत्पर रहते थे। जरासन्ध आदि मगध के सम्राट् इसी प्रकार के थे। सम्भवतः भोज उन राजाओं की संज्ञा थी, जो वंशक्रमानुगत न होकर कुछ निश्चित समय के लिये अपने पद पर नियुक्त होते थे। सात्वत यादवों (अन्धक, वृष्णि आदि) में यह प्रथा विद्यमान थी, और हम यह जानते हैं कि वासुदेव कृष्ण इसी प्रकार के भोज या 'संघ-मुख्य' थे। स्वराट् वे शासक थे, जिनकी स्थिति 'समानों में ज्येष्ठ' की होती थी। इन स्वराज्यों में कतिपय कुलीन श्रेणियों का शासन होता था, और सब कुलों की स्थिति एक समान मानी जाती थी। समानों में ज्येष्ठ व्यक्ति को ही स्वराट् नियत किया जाता था। सम्भवतः, वैराज्य जनपद वे थे, जिनमें कोई राजा नहीं होता था, जहाँ जनता अपना शासन स्वयं करती थी। कुरु, पंचाल आदि मध्यदेश के जनपद 'राज्य' कहाते थे, और वहाँ प्राचीन काल की परम्परागत शासन-प्रणाली विद्यमान थी।

राजा का राज्याभिषेक—ब्राह्मण-ग्रन्थों में राजा की राज्याभिषेक-विधि का विशदरूप से वर्णन किया गया है, और इस वर्णन से उस युग के राजाओं व शासन-प्रकार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जब किसी व्यक्ति को राजा के पद पर अधिष्ठित किया जाता था, तो राजसूय-यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता था। राजसूय-यज्ञ के बिना कोई व्यक्ति राजा नहीं बन सकता था। राजसूय से पूर्व राजा के पद पर अधिष्ठित होने वाला व्यक्ति 'रत्नियों' को हवि प्रदान करता था या उनकी पूजा करता था। वैदिक युग में कतिपय लोग 'राज-कृतः' (राजा को बनाने वाले) होते थे, जो उसे राजचिन्ह के रूप में 'मणि' (रत्न) प्रदान करते थे। इस युग में राजकृतः का स्थान रत्नियों ने ले लिया था। ये रत्नी निम्नलिखित होते थे—(१) सेनानी, (२) पुरोहित, (३) राजन्य या स्वयं राजा, (४) राजमहिषी, (५) सूत, (६) ग्रामणी, (७) क्षत्ता, (८) संगृहीता, (९) भागदुघ्, (१०) अक्षवाप, (११) गोविकर्त्ता और (१२) पालागल। इन बारह रत्नियों में से कतिपय नामों को स्पष्ट करने की आवश्यकता है। सूत राज्यविषयक इतिवृत्त का संकलन करते थे। प्रत्येक ग्राम का एक ग्रामणी होता था, यह पहले बता चुके हैं। बारह रत्नियों में जो ग्रामणि था, वह या तो राज्य के अन्तर्गत विविध ग्रामों के ग्रामणियों का प्रमुख था और या राज्य के मुख्य ग्राम (पुर या नगर) का ग्रामणी। राजकीय कुटुम्ब के प्रबन्धकर्त्ता को क्षत्ता कहते थे। राज्यकोष के नियन्ता को संगृहीता कहते थे। राज्यकर को वसूल करने वाले प्रधान अधिकारी को भागदुघ् कहा जाता था। आय-व्यय का हिसाब रखनेवाला प्रधान अधिकारी अक्षवाप कहा जाता था। जंगल-विभाग का प्रधान गोविकर्त्ता कहाता था। पालागल का कार्य राजकीय सन्देशों को पहुँचाना होता था। मैत्रायणी संहिता में पालागल के स्थान पर तक्षा व रथकार का अन्यतम रत्नी के रूप में उल्लेख किया गया है। इसमें सन्देह नहीं, कि ब्राह्मण-युग के ये बारहों रत्नी राज्य की जनता के प्रधान व्यक्ति होते थे, और राज्याभिषेक से पूर्व राजा इन सबको हवि

प्रदान करके उनके प्रति प्रतिष्ठा की भावना को प्रदर्शित करता था। क्योंकि राजा स्वयं भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग था, अतः उसे भी रत्नियों के अन्तर्गत किया गया है।

रत्नियों द्वारा हवि प्रदान करने के अनन्तर राजसूय-यज्ञ के जो विविध अनुष्ठान होते थे, उनका यहाँ विवरण देने की आवश्यकता नहीं। पर दो बातों का उल्लेख करना आवश्यक है—(१) राजा को एक प्रतिज्ञा करनी होती थी, एक शपथ लेनी होती थी, जिसमें वह कहता था कि यदि मैं प्रजा के साथ किसी भी तरह से द्रोह करूँ, उसपर अत्याचार करूँ, तो मेरा वह सब इष्टापूर्त (शुभ कर्म) नष्ट हो जाय, जो मैं जन्म से मृत्यु पर्यन्त करता हूँ। राजा के लिये यह आवश्यक था, कि वह 'धृत-व्रत' और 'सत्यधर्मा' हो, अभिषेक के समय की हुई प्रतिज्ञा का उल्लंघन न करे। (२) प्रतिज्ञा के बाद राजा की पीठ पर दण्ड से हलका-हलका आघात किया जाता था, जिसका प्रयोजन यह था, कि राजा अपने को दण्ड (व्यवस्था या कानून) से ऊपर न समझे, और उसे यह मालूम रहे कि वह जहाँ दूसरों को दण्ड दे सकता है, वहाँ उसे भी दण्ड दिया जा सकता है।

कल्प-वेदांग के अन्तर्गत धर्मसूत्रों से भी इस युग के राजा और कानून आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। राजा का एक मुख्य कर्त्तव्य यह था, कि वह अपराधियों को दण्ड दे। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र में लिखा है, कि 'यदि राजा एक दण्डनीय अपराध के लिये दण्ड नहीं देता, तो उसे भी अपराधी समझना चाहिये।' गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार जो राजा न्यायपूर्वक दण्ड देकर अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिये। बौधायन-सूत्र के अनुसार 'यदि राजा चोर को दण्ड नहीं देता, तो चोरी का पाप राजा को लगता है।' सूत्र-ग्रन्थों के अनुसार व्यवहार या कानून का स्रोत राजा नहीं है, राजा अपनी इच्छा के अनुसार कानून नहीं बनाता। वेद, पुराण आदि में जो नियम प्रतिपादित हैं, विविध जनपदों के जो परम्परागत चरित्र हैं, कृषकों, शिल्पियों, व्यापारियों आदि के जो व्यवहार हैं, वे ही कानून के आधार हैं। राजा को उन्हीं के अनुसार शासन करना चाहिये, और उन्हीं का पालन कराना राजा का कर्त्तव्य है। कानून का उल्लंघन करने वालों को दण्ड देने के लिये न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाती थी। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "पूर्ण विद्वान्, पवित्र-कुलोत्पन्न, वृद्ध, तर्क में निपुण और अपने कर्त्तव्यों के पालन में सावधान व्यक्ति को ही अभियोगों के निर्णय के लिये न्यायाधीश बनाना चाहिये।" कानून सब लोगों के लिये एक समान था, पर दण्ड देते हुए अपराधी की स्थिति को दृष्टि में रखा जाता था। गौतम-धर्मसूत्र के अनुसार यदि कोई शूद्र किसी वस्तु को चुरा ले, तो उसे उस वस्तु का आठ गुना मूल्य दण्ड के रूप में देना होगा। यदि कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य किसी वस्तु को चुराये, तो उसे उस वस्तु का सोलहगुना मूल्य दण्ड के रूप में देना होगा। यदि कोई महाविद्वान् चोरी करे, तो उससे और भी अधिक जुरमाना वसूल किया जाना चाहिये। अन्य प्रकार के अपराधों के लिये भी दण्ड-व्यवस्था का विशद वर्णन धर्मसूत्रों में किया गया है, पर यहाँ उसका उल्लेख कर

सकना सम्भव नहीं है।

उत्तर-वैदिक काल में शासन-कार्य में राजा को परामर्श देने के लिए और राजकीय कानूनों के निर्माण के लिये किसी राजसभा की सत्ता थी या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्देश उपलब्ध नहीं होते। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि वैदिक युग की सभा और समिति नामक संस्थाएँ किसी अन्य रूप में इस समय भी विद्यमान थीं। वाशिष्ठ-धर्मसूत्र के अनुसार राजा को जहाँ मन्त्रियों के साथ परामर्श करना चाहिये, वहाँ साथ ही नागरों की भी सम्मति लेनी चाहिये। रामायण में पौर-जानपद नामक जिन संस्थाओं का उल्लेख है, उनमें से पौरसंस्था को ही शायद वाशिष्ठ-धर्मसूत्र में नागर कहा गया है।

(५) सामाजिक जीवन

वर्णभेद—वैदिक युग के आर्यों में वर्णभेद का विकास नहीं हुआ था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। पर प्राग्-बौद्धकाल में ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र का भेद पर्याप्त स्पष्टरूप से विकसित हो गया था। वैदिक युग के रथेष्ठ (रथी) और राजन्य (राजपरिवार के व्यक्ति) लोगों से मिलकर क्षत्रिय वर्ग का निर्माण हुआ। यह स्वाभाविक था, कि सर्वसाधारण विश: से इसे अधिक ऊँचा माना जाय। यज्ञों के विधि-विधान जब अधिक जटिल हो गये, तो एक ऐसी पृथक् श्रेणी का विकास हुआ, जो इन अनुष्ठानों में विशेष निपुणता रखती थी। ऋत्विग्, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि के रूप में याज्ञिक विधियों के विशेषज्ञ जनता में अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त करने लगे। अरण्यों व आश्रमों में निवास करने वाले ब्रह्मवादियों और तत्त्वचिन्तकों को भी इसी विशिष्ट वर्ग में गिना जाने लगा, और इस प्रकार याज्ञिकों और मुनियों द्वारा एक नये वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे ब्राह्मण कहा जाता था। ब्राह्मण और क्षत्रियों के अतिरिक्त जो सर्वसाधारण आर्य जनता थी, उसे पहले की तरह ही विश: या वैश्य कहा जाता था। इसमें सब प्रकार के शिल्पी, पशुपालक, वणिक्, कृषक आदि सम्मिलित थे। शूद्र वर्ण आर्यविश: से वैदिक युग में भी पृथक् था। इस प्रकार अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चारों वर्ण आर्य जनता में विकसित हो गये थे। जो लोग अध्ययन-अध्यापन, याज्ञिक अनुष्ठान व तत्त्वचिन्तन में लगे रहते थे, वे ब्राह्मण कहाते थे। बाह्य और आभ्यन्तर शत्रुओं से देश की रक्षा करना और शासन-कार्य में हाथ बटाना क्षत्रियों का कार्य था। सर्वसाधारण जनता वैश्य कहाती थी। समाज में जो सबसे निम्न वर्ग था, और जो अन्य वर्णों की सेवा द्वारा अपना निर्वाह करता था, उसे शूद्र कहते थे। विद्या की प्राप्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग ही करते थे, इसीलिये उन्हें 'द्विज' भी कहते थे। विद्या द्वारा मनुष्य दूसरा जन्म प्राप्त करता है, यह विचार उस काल में विद्यमान था। विद्यारम्भ के समय पर द्विज लोग यज्ञोपवीत धारण करते थे, और यह सूत्र उनके द्विजत्व का चिह्न होता था।

पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अभी वर्णभेद बहुत दृढ़ नहीं हुआ था। वर्णभेद का मुख्य आधार जन्म न होकर कर्म था। सारी आर्य जनता एक है,

यह भावना अभी विद्यमान थी। याज्ञिक अनुष्ठान व सैनिक वृत्ति आदि की विशिष्टता के कारण ही ब्राह्मण और क्षत्रिय लोग अन्य आर्यविशः की अपेक्षा अधिक ऊँची स्थिति रखते थे। पर अभी यह स्थिति नहीं आई थी, कि ब्राह्मण और क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए बिना कोई व्यक्ति इन वर्णों में न जा सके। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र के अनुसार "धर्माचरण द्वारा निकृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से उत्तम वर्ण को प्राप्त करता है, और अधर्म का आचरण करने से उत्कृष्ट वर्ण का व्यक्ति अपने से निचले वर्ण में चला जाता है।" आपस्तम्ब की यह उक्ति उस युग की वास्तविक स्थिति को सूचित करती है। राजा शन्तनु के भाई देवापि ने याज्ञिक अनुष्ठान में दक्षता प्राप्त करके ब्राह्मण-पद प्राप्त किया था, और राजन्य शन्तनु के यज्ञ कराए थे। इसी प्रकार के कितने ही उदाहरण प्राचीन अनुश्रुति में प्राप्त होते हैं। विविध वर्णों में विवाह-सम्बन्ध भी सम्भव था। महर्षि च्यवन ने राजन्य शर्याति की कन्या के साथ विवाह किया था। अनुलोम-विवाहों (अपने से निचले वर्ण की कन्या के साथ विवाह) की प्रथा भी प्रचलित थी। शूद्र कन्याओं को अनेक सम्पन्न पुरुष 'रामा' (रमणार्थ) के रूप में भी अपने घर में रखते थे। शूद्र वर्ण आर्यविशः से पृथक् था, पर फिर भी यदि कोई शूद्र विशिष्ट रूप के धार्मिक, विद्वान् व दक्ष हो, तो समाज में उसका आदर होता था। ऐतरेय ब्राह्मण में कथा आती है, कि ऋषि लोग सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ कर रहे थे, उस समय ऐलूष कवष नाम का व्यक्ति उनके बीच में आ बैठा। तब ऋषियों ने कहा, यह दासी का पुत्र अब्राह्मण है, हमारे बीच में कैसे बैठ सकता है। बाद में ऋषियों ने कहा, यह तो परम विद्वान् है, देवता लोग भी इसे जानते हैं।

चार आश्रम—प्राचीन आर्यों के सामाजिक जीवन में आश्रमों का बहुत महत्त्व था। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चार आश्रम माने जाते थे। इन आश्रमों की कल्पना का आधार यह विचार था, कि प्रत्येक मनुष्य चार ऋण लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक मनुष्य देवताओं, ऋषियों, पितरों और अन्य मनुष्यों के प्रति ऋणी होता है। सूर्य, वरुण, अग्नि आदि देवताओं का मनुष्य ऋणी होता है, क्योंकि इन्हीं की कृपा से वह प्रकाश, जल, उष्णता आदि प्राप्त करता है। इनके बिना वह अपना जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता। अतः मनुष्य का कर्त्तव्य है, कि वह देवताओं की पूजा करे, यज्ञ आदि द्वारा उनके ऋण को अदा करे। अपने साथ के अन्य मनुष्यों के ऋण को अदा करने के लिए अतिथि-यज्ञ का विधान था। ऋषियों के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे चुकाने का यही उपाय था, कि मनुष्य उस ज्ञान को कायम रखे व उसमें वृद्धि करे जो उसे पूर्वकाल के ऋषियों की कृपा से प्राप्त हुआ था। इसके लिये मनुष्य को ब्रह्मचर्य-आश्रम मे रहकर ज्ञान उपार्जन करना चाहिए, और बाद में वानप्रस्थ-आश्रम में प्रवेश करके अपने ज्ञान को ब्रह्मचारियों व अन्तेवासियों को प्रदान करना चाहिए। अपने माता-पिता (पितर) के प्रति मनुष्य का जो ऋण है, उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके ही अदा किया जा सकता है। गृहस्थ-धर्म से सन्तानोत्पत्ति करके अपने पितरों के वंश को जारी रखना, वंशतन्तु का उच्छेद न होने देना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य माना जाता था। संन्यास-आश्रम में प्रवेश करके मनुष्य अपने साथी

मनुष्यों का उपकार करने में ही अपने सारे समय को व्यतीत करता था, और इस प्रकार वह मनुष्य-ऋण को भी अदा करता था। पर हर कोई मनुष्य संन्यासी नहीं हो सकता था। जो व्यक्ति विशेष रूप से ज्ञानवान् हो, सब प्राणियों में आत्मभावना रखने की सामर्थ्य जिसमें हो, वही संन्यासी बनकर भैक्षचर्या (भिक्षा-वृत्ति) द्वारा जीवन निर्वाह करने का अधिकारी था। संन्यासी किसी एक स्थान पर स्थिर होकर निवास नहीं कर सकता था। उसका कर्त्तव्य था, कि वह सर्वत्र भ्रमण करता हुआ लोगों का उपकार करे। इसीलिए उसे 'परिव्राजक' भी कहते थे। वानप्रस्थ लोग शहर या ग्राम से बाहर आश्रम बनाकर रहते थे, और वहाँ ब्रह्मचारियों को विद्यादान करते थे। ब्रह्मचारी अपने घर से अलग होकर वानप्रस्थी गुरुओं के आश्रमों में निवास करते थे, और गुरुसेवा करते हुए ज्ञान का उपार्जन करते थे। गृहस्थाश्रम को बहुत ऊँची दृष्टि से देखा जाता था। वशिष्ठ-सूत्र में लिखा है, कि जिस प्रकार सब बड़ी और छोटी नदियां समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के मनुष्य गृहस्थ पर ही आश्रित रहते हैं। जैसे बच्चे अपनी माता की रक्षा में ही रक्षित रहते हैं, वैसे ही सब भिक्षुक व संन्यासी गृहस्थों की ही रक्षा में रहते हैं। गृहस्थ-आश्रम को नीचा समझने और संन्यास व भिक्षुधर्म को उत्कृष्ट समझने की जो प्रवृत्ति बौद्ध-युग में विद्यमान थी, वह इस प्राचीन युग में नहीं पाई जाती। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि और याज्ञिक अपने तत्त्वचिन्तन व याज्ञिक अनुष्ठानों के लिए गृहस्थ-धर्म से विमुख होने की आवश्यकता इस युग में नहीं समझते थे।

स्त्रियों की स्थिति—उत्तर-वैदिक काल में स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर विद्याध्ययन करती थीं। 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्' इस प्राचीन श्रुति से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि युवा पति को प्राप्त करने के लिए कन्याएँ भी ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताती थीं, और इस समय का उपयोग ज्ञानोपार्जन के लिए करती थीं। गोभिल-गृह्यसूत्र के अनुसार जब कोई कुमारी विवाह के लिये मण्डप में आती थी, तो वह न केवल वस्त्रों से भली-भांति आच्छादित होती थी, पर साथ ही यज्ञोपवीत को भी धारण किये होती थी। यज्ञोपवीत विद्याध्ययन का चिह्न था। स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्त करती थीं, इसी का यह परिणाम था, कि अनेक स्त्रियाँ परम विदुषी बन सकी थीं, और उनके ज्ञान व विद्या की उत्कृष्टता का परिचय हमें उपनिषदों द्वारा होता है। वैदेह जनक की राजसभा में 'ब्रह्मवादिनी' स्त्रियों का भी एक दल था, जिसमें प्रमुख गार्गी थी। जनक की राजसभा में गार्गी ने याज्ञवल्क्य के साथ शास्त्रार्थ किया था। ऐतरेय ब्राह्मण में कुमारी गन्धर्वगृहीता का उल्लेख आता है, जो परम विदुषी और वक्तृता में अत्यन्त चतुर थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि कतिपय अपवादों को छोड़ सर्वसाधारण स्त्रियां विवाह द्वारा गृहस्थ-धर्म के निर्वाह में तत्पर रहती थीं। इस युग में माता के पद को बहुत ऊँचा और पवित्र समझा जाता था। वाशिष्ठ-सूत्र में लिखा है, कि उपाध्याय की अपेक्षा दशगुण अधिक प्रतिष्ठित आचार्य है, आचार्य से सौ गुना अधिक प्रतिष्ठित पिता है, और पिता से सहस्रगुण अधिक प्रतिष्ठा-योग्य माता है। माता के पद के प्रति यह आदर की भावना इस युग की संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास के अनेक विद्वानों ने मध्ययुग के भारत में स्त्रियों की हीन स्थिति को दृष्टि में रखकर यह कल्पना की है, कि प्राचीन युग में भी उनकी सामाजिक स्थिति हीन थी। पर इस युग के साहित्य के अनुशीलन से इस मन्तव्य की पुष्टि नहीं होती। वैदिक और उत्तर-वैदिक युग में जहाँ स्त्रियाँ ऋषि व ब्रह्मवादिनी हो सकती थीं, वहाँ सर्वसाधारण आर्य स्त्रियां 'उपनीत' होकर विद्याध्ययन करती थीं, और फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके माता के गौरवमय पद को प्राप्त करती थीं। वैवाहिक जीवन में स्त्री को पुरुष की 'सहधर्मिणी' माना जाता था। विवाह के अवसर पर पति और पत्नी दोनों ही कतिपय प्रतिज्ञाएँ करते थे, जिनका प्रयोजन एक दूसरे के प्रति कर्त्तव्यों का पालन करते रहने का निश्चय करना होता था। पति या पत्नी बिना किसी असाधारण कारण के अपने जीवनसाथी का परित्याग नहीं कर सकते थे। आपस्तम्ब-सूत्र में लिखा है, कि जिस पति ने अन्याय से अपने पत्नि का परित्याग किया हो, वह गधे का चमड़ा ओढकर प्रतिदिन सात गृहों में यह कहते हुए भिक्षा माँगे, कि उस पुरुष को भिक्षा प्रदान करो, जिसने अपनी पत्नी को त्याग दिया है। इसी प्रकार की भिक्षा से वह पुरुष छ: मास तक अपना निर्वाह करे। निःसंदेह यह एक भयंकर दण्ड था, जो इस युग में पत्नी के साथ अन्याय करने वाले पुरुष को दिया जाता था।

(६) आर्थिक जीवन

वैदिक युग के समान प्राग्-बौद्ध-युग में भी आर्यों के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार कृषि था। आर्य विश: का बड़ा भाग अब भी कृषि द्वारा अपना निर्वाह करता था। जमीन को जोतने के लिए हलों का प्रयोग होता था, जिन्हें खींचने के लिए बैल काम में लाये जाते थे। खेती द्वारा उत्पन्न किए जाने वाली फसलों में जौ, गेहूँ, चावल, दाल और तिल प्रमुख थे। इस युग में आर्यों का विस्तार सिन्धु नदी और गंगा नदी की घाटियों में भली-भाँति हो चुका था, और सिन्धु, गंगा और उनकी सहायक नदियों के उपजाऊ प्रदेश में बसे हुए आर्य लोग कृषि द्वारा अच्छी समृद्ध दशा में आ गये थे। पशुपालन को भी इस युग में बहुत महत्त्व दिया जाता था। वैदेह जनक ने अपनी राजसभा में एकत्र विद्वानों में से सर्वश्रेष्ठ विद्वान् को पुरस्कृत करने के लिए सहस्र गौओं को ही चुना। इस युग के समृद्ध लोग गौओं को बहुत बड़ी संख्या में अपने पास रखते थे। दूध-घी के लिए जहाँ उनका उपयोग था, वहाँ साथ ही खेती की दृष्टि से भी उनका बहुत महत्त्व था। खेती के अतिरिक्त अनेक शिल्पों का भी इस युग में विकास हुआ। जुलाहे, रंगरेज, रज्जुकार, रजक, सुवर्णकार, रथकार, गोप, व्याध, कुम्हार, लोहार, नर्तक, गायक, पाचक आदि कितने ही प्रकार के शिल्पी इस युग में अपने-अपने शिल्प व व्यवसाय के विकास में तत्पर थे। धातुओं के ज्ञान की वृद्धि के कारण इस काल में आर्थिक जीवन भली-भांति उन्नति कर गया था। वैदिक काल के आर्यों को प्रधानतया सुवर्ण और अयस् का ज्ञान था, पर इस युग के आर्य त्रपु (टिन), ताम्र, लोह, रजत, हिरण्य और सीसे का भी प्रयोग करते थे, यह बात असंदिग्ध है। सुवर्ण और रजत का प्रयोग मुख्यतया आभूषणों और बरतनों के लिए होता था, पर

अन्य धातुएं उपकरण बनाने के काम में आती थीं। सम्भवत:, इस युग में वस्तुओं के विनिमय के लिए सिक्के का प्रयोग होने लगा था। अथर्ववेद में सुवर्ण निर्मित जो निष्क प्रयुक्त होता था वह आभूषण था या सिक्का—इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, पर उत्तर-वैदिक काल में निष्क का प्रचलन सिक्के के रूप में अवश्य था। शायद इसी को शतमान भी कहते थे। वैदेह जनक ने याज्ञवल्क्य ऋषि को जो एक हजार गौवें पुरस्कार के रूप में दी थीं, उनके सींगों के साथ दस-दस स्वर्णपाद बंधे हुए थे। ये 'पाद' निष्क सिक्के का चौथाई भाग ही था। इसमें सन्देह नहीं कि इस युग में वस्तु-विनिमय (बार्टर) का स्थान सिक्के द्वारा विनिमय ने ले लिया था, और सुवर्ण का सिक्के के रूप में प्रयोग होने लगा था।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के व्यापारी, कृषक, शिल्पी आदि अनेक प्रकार की श्रेणियों (गिल्ड) में भी संगठित होने लगे थे। बौद्ध-साहित्य के अन्तर्गत जो जातक-कथाएँ मिलती हैं, उनसे 'श्रेणी' संस्था का भली-भाँति परिचय मिलता है। स्मृति-ग्रन्थों और धर्म-शास्त्रों में भी श्रेणियों का उल्लेख आता है। इन श्रेणियों के विकसित होने में अवश्य समय लगा होगा, और इनका विकास उत्तर-वैदिक युग में ही प्रारम्भ हो गया होगा।

उत्तर-वैदिक युग का साहित्य प्रधानतया धर्मपरक है। इसीलिये उसके आधार पर इस युग के आर्थिक जीवन के सम्बन्ध में अधिक परिचय हमें प्राप्त नहीं होता। बौद्ध-युग के शुरू होने पर भारत की जो आर्थिक दशा थी, उसपर हम अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे, क्योंकि बाद के साहित्य में इस सम्बन्ध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

(७) भारत के छः आस्तिक दर्शन

दर्शन-शास्त्र का विकास किस प्रकार हुआ, इसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर संक्षिप्त रूप से किया जा चुका है। पर इस विषय पर अधिक विशद रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है, क्योंकि इन दर्शन-शास्त्रों का प्राचीन भारतीय संस्कृति और जीवन में बहुत अधिक महत्त्व है।

जिस समय प्राचीन भारत में याज्ञिक कर्मकाण्ड और धार्मिक अनुष्ठानों का विकास हो रहा था, उसी समय अरण्यों में विद्यमान ऋषि-आश्रमों में अध्यात्म-चिन्तन और दर्शन-शास्त्रों का विकास जारी था। ब्राह्मण-ग्रन्थों के आरण्यक भाग व उपनिषदें इसी चिन्तन का परिणाम थे। पर कुछ विद्वान् मुनि लोग अध्यात्म-सम्बन्धी चिन्तन और मनन से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वे यह प्रयत्न भी कर रहे थे, कि प्रकृति और परमात्मा सम्बन्धी रहस्यों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें। सृष्टि किस तत्त्व या तत्त्वों से बनी, संसार में कुल पदार्थ कितने हैं, पदार्थों का ज्ञान ठीक-ठीक किन प्रकारों से हो सकता है, सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए कौन-सी कसौटियाँ या प्रमाण हैं—इन प्रश्नों पर इन मुनियों ने बाकायदा विचार शुरू किया, और इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में अनेक दर्शन-शास्त्रों का विकास हो सका। ये दर्शन दो प्रकार के हैं—आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक दर्शन वे हैं, जो वेदों को मानते हैं। नास्तिक

दर्शन वेदों पर विश्वास नहीं करते। जैन और बौद्ध दोनों वेदों को नहीं मानते। उन्होंने जिन दर्शनों का विकास किया, वे नास्तिक कहाते हैं। उनसे भी पहले चार्वाक लोग वेदों को न मानते हुए स्वतन्त्र रूप से दर्शन-तत्त्व पर विचार कर रहे थे। उनका दर्शन नास्तिक-दर्शन गिना जाता है। पर जैन और बौद्धों से पहले भारत के प्रायः सभी प्रमुख विचारक वेदों को सत्यज्ञान और प्रमाण के रूप में स्वीकार करते थे। इसीलिए उस समय चार्वाक-दर्शन को छोड़कर अन्य जिन दर्शनों का विकास हुआ, वे सब आस्तिक थे। आस्तिक दर्शन छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। हम इनपर क्रमशः विचार करेंगे।

न्याय-दर्शन—न्याय-दर्शन का प्रधान लक्ष्य यह निश्चित करना है कि सही-सही ज्ञान की प्राप्ति के लिए कितने और कौन-कौन-से प्रमाण हैं। प्रमाण चार हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। जिस बात को हम स्वयं साक्षात् रूप से जानें, वह प्रत्यक्ष है। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं, आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा। जब किसी इन्द्रिय का उसके विषय (अर्थ) से सीधा सम्पर्क (सन्निकर्ष) होता है, तो उस विषय के सम्बन्ध में हमें ज्ञान होता है। यही ज्ञान प्रत्यक्ष है। हम कोई बात आंख से देखते हैं, कान से सुनते हैं, नाक से सूंघते हैं, जिह्वा से किसी रस का स्वाद लेते हैं, त्वचा के स्पर्श से किसी को जानते हैं, तो हमारा यह ज्ञान प्रत्यक्ष कहाता है। जब किसी वस्तु को हम प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानते, अपितु किसी हेतु द्वारा उसे जानते हैं, तो वह ज्ञान हमें अनुमान द्वारा होता है। हमने दूर पहाड़ की चोटी पर धुँआ उठता हुआ देखा। इस हेतु से हमने अनुमान किया कि वहां अग्नि है। क्योंकि जहां-जहां धुंआ होता है वहां-वहां अग्नि अवश्य होती है। बिना अग्नि के धुंआ नहीं हो सकता। अतः धुंए की सत्ता से हमने अग्नि की सत्ता का अनुमान किया। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान कहा जाता है। जब किसी जानी हुई वस्तु के सादृश्य (साधर्म्य) से हम न जानी हुई वस्तु को जानते हैं, तो उसे उपमान कहते हैं। एक आदमी गौ को अच्छी तरह जानता है, पर गवय (चंवर गौ) को नहीं जानता। उसे कहा जाता है कि गवय भी गाय के सदृश होती है। वह जंगल में एक पशु को देखता है, जिसकी आकृति आदि गाय के सदृश है। इससे वह समझ लेता है कि यह पशु गवय है। इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे उपमान कहते हैं। पर बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी हैं, जिन्हें हम प्रत्यक्ष, अनुमान या उपमान द्वारा नहीं जान सकते। उन्हें जानने का साधन केवल शब्द है। राजा अशोक भारत में शासन करता था और उसने धर्म-विजय की नीति का अनुसरण किया था, यह बात हम केवल शब्द द्वारा जानते हैं। भूमण्डल के उत्तरी भाग में ध्रुव है, जो सदा बरफ से आच्छादित रहता है, यह बात भी हमें केवल शब्द द्वारा ज्ञात हुई है। इसी प्रकार की कितनी ही बातें हैं, जिनके ज्ञान का आधार शब्द प्रमाण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है।

ज्ञान के आधारभूत जो ये विविध प्रमाण हैं, इनका खूब विस्तार से विवेचन न्याय-दर्शन में किया गया है। ज्ञान के इन साधनों का विवेचन कर के फिर न्याय-दर्शन में संसार के विविध तत्त्वों का प्रदर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है। न्याय के अनुसार मूल पदार्थ या तत्त्व तीन हैं, ईश्वर, जीव और प्रकृति। जीवात्मा शरीर

से भिन्न है। चार्वाक लोग शरीर और जीवात्मा में कोई भेद नहीं मानते थे। उनका कहना था, कि मृत्यु के साथ ही प्राणी की भी समाप्ति हो जाती है। पर नैयायिकों ने इसका खण्डन करके यह सिद्ध किया, कि जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, और वह शरीर, मन व बुद्धि से भिन्न एक स्वतन्त्र तत्त्व है। इसी प्रकार ईश्वर और प्रकृति के स्वरूप का भी न्याय-दर्शन में बड़े विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

न्याय-दर्शन के प्रवर्तक महर्षि गौतम थे। उन्होंने सूत्ररूप में न्याय-दर्शन की रचना की। गौतम-विरचित इन न्याय-सूत्रों पर वात्स्यायन मुनि ने विस्तृत भाष्य लिखा। न्याय-दर्शन के मूलग्रन्थ गौतम द्वारा विरचित सूत्र और उनपर किया गया वात्स्यायन-भाष्य ही हैं। बाद में न्याय-दर्शन-सम्बन्धी अन्य अनेक ग्रन्थ लिखे गये। सातवीं सदी में आचार्य उद्योतकर ने 'न्याय-वार्तिक' लिखा, जो वात्स्यायन-भाष्य की व्याख्या के रूप में है। फिर वाचस्पति मिश्र ने उसके ऊपर 'तात्पर्य-टीका' लिखी। इस तात्पर्य टीका की व्याख्या उदयनाचार्य ने 'तात्पर्य-परिशुद्धि' नाम से की। इस प्रकार न्याय-दर्शन का निरन्तर विकास होता गया। इसमें सन्देह नहीं, कि न्यायदर्शन के रूप में भारत के आर्यों ने एक ऐसे ज्ञान को विकसित किया, जिसके द्वारा पदार्थों के ज्ञान व सत्यासत्य-निर्णय में बड़ी सहायता मिलती है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन के अनुसार ज्ञान के चार साधन हैं, प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्षज्ञान। ज्ञानेन्द्रियों, मन और आत्मा द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। लैंगिक ज्ञान चार प्रकार से होता है—अनुमान से, उपमान से, शब्द से और ऐतिह्य से। ऐतिह्य का अभिप्राय अनुश्रुति से है। पहले जानी हुई वस्तु की याद (स्मृति) से जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहते हैं। यह भी ज्ञान का साधन है। आर्षज्ञान वह है, जो ऋषियों ने अपनी अन्तर्दृष्टि से प्राप्त किया था। हम कितनी ही बातों को केवल इस आर्षज्ञान द्वारा ही जानते हैं।

वैशेषिक के अनुसार संसार के कुल पदार्थ सात भागों में बांटे जा सकते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव। पदार्थ का अभिप्राय है, ज्ञान का विषय। संसार की प्रत्येक सत्ता या प्रत्येक ज्ञातव्य (जिसे हम जान सकें) वस्तु को इन सात भागों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नौ में से पहले पाँच वे हैं, जिन्हें पंचमहाभूत कहा जाता है। काल और दिशा (Time and space) ऐसे द्रव्य हैं, जिनसे बाहर विश्व की कोई भौतिक सत्ता कल्पित ही नहीं की जा सकती। आत्मा और मन ऐसी सत्ताएँ हैं, जिनका सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से नहीं है। पृथिवी, जल आदि पाँच द्रव्य भौतिक हैं, और इनका निर्माण परमाणुओं द्वारा हुआ है। परमाणु नित्य और शाश्वत है। वह तत्त्व जिसका विभाग नहीं किया जा सकता, परमाणु कहाता है। परमाणुओं के संयोग से ही पृथिवी, जल आदि द्रव्यों का निर्माण होता है।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक कणाद मुनि थे। उन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना

की। उनपर आचार्य प्रशस्तपाद ने अपना भाष्य लिखा। वैशेषिक दर्शन के मूल प्रामाणिक ग्रन्थ ये ही हैं। बाद में इनपर व्योमशिखाचार्य ने 'व्योमवती' तथा उदयनाचार्य ने 'किरणावली' नाम की टीकाएँ लिखीं। श्रीधराचार्य की 'न्यायकन्दली' तथा वल्लभाचार्य की 'न्यायलीलावती' आदि अन्य भी अनेक पुस्तकें वैशेषिक दर्शन के सम्बन्ध में लिखी गई हैं।

सांख्य-दर्शन—सांख्य-दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है, सत्कार्यवाद। इसके अनुसार असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक सत्ता अव्यक्तरूप में अपने कारण में विद्यमान रहती है। उत्पत्ति का अभिप्राय केवल यह है, कि कारण का कार्य के रूप में उद्भाव हो जाता है। जिसे हम विनाश कहते हैं, वह भी वस्तुतः कार्य का कारण में लीन (अनुभाव) हो जाना है। किसी विद्यमान (सत्) सत्ता का सर्वथा विनाश नहीं हो सकता, वह केवल अपने कारण में लय हो जाती है। मृत्तिका मे घट की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः, घट मृत्तिका रूप में पहले ही विद्यमान होता है। मृत्तिका ही घटरूप में व्यक्त हो जाती है। घट के नाश का अभिप्राय केवल यह है, कि वह फिर मृत्तिकारूप हो जाता है।

इसी सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का अनुसरण करके सांख्य-शास्त्र में संसार का कारण प्रकृति को माना गया है। संसार वस्तुतः प्रकृति का ही रूपान्तर (परिणाम) है। प्रकृति अनादि और नित्य है। अपने अव्यक्त रूप में वह सदा से रहती आई है। जब वह अपने को व्यक्त करती है, तो संसार बनता है। सृष्टि के आधारभूत गुण तीन हैं—सत्वगुण, रजोगुण, और तमोगुण। इन तीनों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। जब इन गुणों की साम्यावस्था नहीं रहती, तब किसी एक गुण के प्रधान होने से संसार के विविध पदार्थों का निर्माण होता है। पर प्रकृति स्वयं संसार के रूप में व्यक्त नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं जड़ है। अतः उसे 'पुरुष' की आवश्यकता होती है। प्रकृति और पुरुष—ये दो ही मूल और अनादि तत्त्व हैं। इन्हीं के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है। प्रकृति और पुरुष की हालत ठीक वह है, जो अन्धे और लंगड़े की होती है। न अकेला अन्धा किसी उद्दिष्ट स्थान पर पहुँच सकता है, और न अकेला लंगड़ा। पर यदि लंगड़ा मनुष्य अन्धे मनुष्य के कन्धे पर बैठ जाए, और दोनों एक-दूसरे की सहायता से किसी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचना चाहें, तो वे सफल हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष एक-दूसरे के सहयोग से सृष्टि का निर्माण करते हैं।

सांख्य के अनुसार पुरुष का स्वरूप केवल चेतन और सदाप्रकाश-स्वरूप है। सुख, दुःख, काम क्रोध, लोभ, मोह आदि का सम्बन्ध पुरुष से नहीं, अपितु प्रकृति से है। पर प्रकृति के संयोग से पुरुष विभिन्न पदार्थों में अहंकार या ममत्व की बुद्धि कर लेता है। संसार में जो कुछ हो रहा है, उसका करनेवाला पुरुष नहीं है। संसार के सब कार्य प्रकृति करती है। पर जब प्रकृति के संयोग से पुरुष अहंकारविमूढ़ हो जाता है, तो वह प्रकृति के द्वारा किये जानेवाले कार्यों को अपना किया हुआ समझने लगता है। पुरुष वस्तुतः 'कर्ता' नहीं होता। जब पुरुष यह भली-भाँति समझ लेता है, कि करनेवाला वह नहीं, अपितु प्रकृति है, तब वह अहंकार से मुक्त हो जाता है।

इसी का नाम 'मोक्ष' है।

सृष्टि के निर्माण, स्थिति व अनुभाव (प्रलय) के लिए सांख्य ईश्वर की आवश्यकता को अनुभव नहीं करता। यही कारण है, कि उसके मूल तत्त्वों में ईश्वर को नहीं गिना गया, और न ही वेदान्तियों के ब्रह्म के समान मूल तत्त्वों के भी उपरिरूप से उसकी सत्ता को स्वीकार किया गया। पर सांख्य लोग ईश्वर का खण्डन भी नहीं करते हैं।

सांख्य-दर्शन के प्रवर्तक कपिल मुनि थे। उन्होंने सांख्य-सूत्रों की रचना की थी। पंचशिखाचार्य का षष्टितन्त्र इस शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ था, पर वह अब उपलब्ध नहीं होता। ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका इस शास्त्र का प्रामाणिक व प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य विज्ञानभिक्षु ने सांख्य-प्रवचन-भाष्य नाम से सांख्य सूत्रों का भाष्य किया है। इसके अतिरिक्त सांख्यकारिका पर माठर की माठर वृत्ति, गौड़पाद का भाष्य और वाचस्पति की तत्त्व-कौमुदी टीकारूप में हैं।

योग-दर्शन—योग और सांख्य में भेद बहुत कम है। सांख्य के समान योग भी प्रकृति से संसार की उत्पत्ति स्वीकार करता है। साँख्य के अनुसार, जिस प्रकार प्रकृति का विकास महत्, अहंकार आदि दशाओं में होता है, वैसे ही योग-दर्शन भी मानता है। पर इन दर्शनों में मुख्य भेद ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में है। योग-दर्शन प्रकृति और पुरुष के साथ-साथ ईश्वर की सत्ता भी मानता है। ईश्वर की भक्ति द्वारा पुरुष शीघ्र ही संसार के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है, यह योग-दर्शन का सिद्धान्त है। योग के अनुसार पुरुष की उपासना से प्रसन्न होकर ईश्वर उसका उद्धार कर देता है, अतः योग-मार्ग में ईश्वर की भक्ति व उपासना परम सहायक है।

इस दर्शन के आदिप्रवर्तक महर्षि पतन्जलि थे। उन्होंने योग-सूत्रों की रचना की। उनपर व्यास ऋषि का भाष्य योग-दर्शन का अत्यन्त प्राचीन व प्रामाणिक ग्रन्थ है। उसपर वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व-वैशारदी' और विज्ञान भिक्षु की 'योग-वार्तिक' टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हैं।

मीमांसा-दर्शन—मीमांसा दर्शन का मुख्य प्रयोजन यह है, कि वैदिक कर्मकाण्ड का शास्त्रीय रूप से प्रतिपादन करे, उनमें जहाँ विरोध या असंगति नजर आती हो उसका निराकरण करे, और धर्म के नियमों की ठीक-ठीक मीमांसा करे। इस दर्शन के अनुसार वेद द्वारा विहित कर्म ही धर्म है। उन कर्मों को करने से 'अपूर्व' उत्पन्न होता है। मनुष्य को जो सुख व दुःख, ऐश्वर्य या दारिद्रय है, उस सबका मूल यह 'अपूर्व' ही है। प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों द्वारा अपने अपूर्व (प्रारब्ध) का निर्माण करता है। वैदिक कर्मकाण्ड में किसी विशेष फल की प्राप्ति के लिए विशेष प्रकार के कर्म-काण्ड या अनुष्ठान का विधान किया गया है। पर यज्ञ या कर्मकाण्ड से तुरन्त ही अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं हो जाती। अतः मीमांसा-दर्शन ने यह प्रतिपादित किया, कि कर्मकाण्ड द्वारा 'अपूर्व' उत्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप बाद में अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है।

मीमांसा के प्रवर्तक आचार्य जैमिनि थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रों की रचना

की। उनपर शबर मुनि ने भाष्य लिखा। शाबर-भाष्य पर आचार्य कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट ने व्याख्याएँ लिखीं। कुमारिल भट्ट मीमांसा दर्शन के बड़े प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। उनके श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक ग्रन्थ मीमांसा-दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। कुमारिल ने बौद्धों का खण्डन कर वेदों की प्रामाणिकता का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया।

वेदान्त-दर्शन—वेदान्त के अनुसार विश्व की वास्तविक सत्ता 'ब्रह्म' है। वस्तुतः, ब्रह्म ही सत्य है, अन्य कोई सत्ता सत्य नहीं है। जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। प्रकृति या जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्म से पृथक् उनकी भी सत्ता नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप 'निर्विशेष-चिन्मात्र' है। ब्रह्म चेतन-स्वरूप है, वह चित्-शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। सांख्य-दर्शन जिन्हें पुरुष व प्रकृति कहता है, उनका विकास इसी ब्रह्म से होता है। जब ब्रह्म 'संकल्प' करता है, यह चाहता है कि वह 'बहुरूप' हो जाए, तो अपनी लीला द्वारा सृष्टि का विकास करता है।

वेदान्तदर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास थे। उन्होंने ही वेदान्त-सूत्रों की रचना की। इन सूत्रों पर विविध आचार्यों ने अपने-अपने मत से अनुसार अनेक भाष्य लिखे। इनमें शंकराचार्य का 'ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य' सबसे प्रसिद्ध है। वस्तुतः, शंकर ने वेदान्त के एक नए सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसे 'अद्वैतवाद' कहते हैं। इसके अनुसार सब जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार रात के समय मनुष्य को रज्जु में साँप का भ्रम हो जाता है, वैसे ही संसार की दृष्टि-गोचर होनेवाली सब सत्ताएँ भ्रम का परिणाम है। जगत् माया के अतिरिक्त कुछ नहीं है। माया की परमार्थ में कोई सत्ता नहीं होती। जब ब्रह्म माया से अवच्छिन्न हो जाता है, तो वह ईश्वर कहाता है। जीवात्मा वस्तुतः ब्रह्म ही है। जैसे एक ही सर्वव्यापी आकाश घट में घटाकाश के रूप से और मठ में मठाकाश के रूप से आभासित होता है, पर वस्तुतः वह एक आकाश ही होता है, ऐसे ही अन्तःकरणावच्छिन्न ब्रह्म जीवात्मा के रूप में आभासित होता है। पर वस्तुतः जीवात्मा ब्रह्म से पृथक् नहीं है, वह ब्रह्म ही है, ठीक वैसे ही जैसे घटाकाश आकाश ही है, वह सर्वव्यापी आकाश से पृथक् नहीं है।

वेदान्त-सूत्रों पर रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य और वल्लभाचार्य ने भी भाष्य लिखे हैं। इनका मत शंकर से बहुत भिन्न है। रामानुज प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हुए भी उन्हें ब्रह्म पर आश्रित मानता है। ब्रह्म से पृथक् जीवात्मा और प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं। इसीलिये उसके मत को 'विशिष्टाद्वैत' नाम दिया गया है। माध्वाचार्य ब्रह्म, प्रकृति और जीवात्मा की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है। इसीलिए उसका मत द्वैतवाद कहाता है। एक ही ब्रह्मसूत्र की विविध आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से व्याख्या की है। पर ब्रह्म की सर्वोपरि सत्ता को सब वेदान्ती समान रूप से स्वीकार करते है। इस दर्शन का विकास प्रधानतया उपनिषदों को प्रमाण मान कर किया गया है।

बौद्ध और जैन धर्मों के प्रारम्भ से पूर्व भारत के प्राचीन धर्म में जहां याज्ञिक कर्मकाण्ड का प्राधान्य था, वहां विविध तत्त्वज्ञानी ऋषि लोग सृष्टि और अध्यात्म के

सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए अनेक दर्शन-शास्त्रों का भी विकास कर रहे थे।

(८) ऐतिहासिक महाकाव्य

जिस प्रकार प्राचीन आर्यों की धार्मिक अनुश्रुति और परम्परा वेदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों और उपनिषदों में संगृहीत है, वैसे ही उनकी ऐतिहासिक गाथाएँ, आख्यान और अनुश्रुति रामायण, महाभारत और पुराणों में संकलित है। इन ग्रन्थों का निर्माण किसी एक समय में या किसी एक लेखक द्वारा नहीं हुआ। वस्तुतः, ये भी एक सुदीर्घ काल तक निरन्तर विकसित होते रहे। वैदिक युग के ऋषियों ने विविध देवताओं की स्तुति में जो सूक्तियाँ कहीं, या जीवन के आदर्शों और विचारों को सम्मुख रखकर जो प्रवचन किया, वे गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा 'श्रुति' के रूप में कायम रहीं। बाद में महर्षि वेदव्यास ने उन सब को संगृहीत कर 'संहिता' के रूप में संकलित कर दिया। इसी प्रकार प्राचीन आर्यों के विविध राजाओं, विजेताओं, वीर पुरुषों व अन्य नेताओं के वीर कृत्यों व आख्यानों का गान उस काल के सूत और मागध लोग निरन्तर करते रहे। ये आख्यान भी विविध सूत व मागध-परिवारों में पिता-पुत्र-परम्परा द्वारा कायम रहे। बाद में इन सब को एकत्र कर लिया गया। वैदिक संहिताओं के समान पुराणों और महाभारत का कर्ता व संकलयिता भी वेदव्यास को ही माना जाता है। वस्तुतः वेदव्यास इनके कर्ता व रचयिता नहीं थे। उन्होंने जैसे वैदिक श्रुति का संकलन किया, वैसे ही प्राचीन आख्यानों और राजकुलसम्बन्धी अनुश्रुति का भी संकलन किया था। महाभारत का वर्तमान रूप तो बहुत अधिक प्राचीन नहीं है। उसका वर्तमान रूप तो सम्भवतः ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पहले का ही है। पर उसमें जो गाथायें व आख्यान हैं, वे बहुत प्राचीन हैं। सम्भवतः, वे वैदिक युग से ही परम्परागत रूप से चले आते थे। इसीलिये उनसे भारत के प्राचीन राजवंशों व उनके समय के सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ सही चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

महाभारत—वेदव्यास द्वारा संकलित व प्रोक्त महाभारत बहुत विशाल ग्रन्थ है। इसे काव्य न कहकर ऐतिहासिक गाथाओं का संग्रह कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस समय महाभारत नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होता है, उसके श्लोकों की संख्या एक लाख के लगभग है। इसीलिये उसे 'शतसाहस्री संहिता' भी कहते हैं। पर महाभारत का मूल ग्रन्थ इतना विशाल नहीं था। समय-समय पर उसमें नये आख्यानों का समावेश होता रहा। प्रारम्भ में महर्षि व्यास ने अपने शिष्य वैशम्पायन के सम्मुख इस कथा का प्रवचन किया था। व्यास के इस मूल-ग्रन्थ का नाम 'जय' था। वैशम्पायन ने पान्डव अर्जुन के पोते जनमेजय के सम्मुख जिस महाभारत का प्रवचन किया, उसकी श्लोक-संख्या २४००० थी। इसे 'चतुर्विंशति-साहस्री भारत-संहिता' कहते थे। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गव वंशी कुलपति शौनक के समय में हुआ। उस समय उसमें बहुत-से नये आख्यान व उपाख्यान जोड़ दिये गये। साथ ही, शिव, विष्णु, सूर्य, देवी आदि के प्रति भक्ति के भी अनेक प्रकरण उसमें सम्मिलित कर दिये गये। अध्यात्म-धर्म और राजनीतिविषयक अनेक संवाद भी उसमें शामिल हुए। इन सब के कारण महाभारत का कलेवर बहुत बढ़ गया, और वह 'चतुर्विंशति-साहस्री-भारत संहिता' न रहकर 'शतसाहस्री-संहिता' बन गया। ईसवी सन् के प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व

ही महाभारत ग्रन्थ अपने वर्तमान रूप को प्राप्त कर चुका था।

महाभारत में कुल अठारह पर्व हैं। यद्यपि इस महाकाव्य का प्रधान विषय कौरवों व पाण्डवों के उस महायुद्ध का वर्णन करता है, जो कुरुक्षेत्र में लड़ा गया था, और जिसमें भारत के सैकड़ों राजा अपनी सेनाओं के साथ सम्मिलित हुए थे, तथापि प्रसंगवश उसमें भारत की प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र, राजधर्म और मोक्षशास्त्र का भी इतने विशद रूप से समावेश है, कि उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान का विश्वकोष समझना अधिक उपयुक्त होगा।

महाभारत का शान्तिपर्व भारतीय राजधर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र का अपूर्व ग्रन्थ है। शरशय्या पर पड़े हुए भीष्म विविध विषयों पर प्रवचन करते हैं, उनके शिष्य, भक्त और अनुयायी सब प्रकार के प्रश्न उनसे पूछते हैं, और तत्त्वज्ञानी भीष्म उनका उत्तर देते हैं।

भगवान् कृष्ण की 'भगवद्गीता' भी महाभारत का ही एक अंग है। कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पाण्डवों की सेनायें जब युद्ध के लिये एकत्र थीं, तो पाण्डवों के सेनापति अर्जुन के हृदय में वैराग्य उत्पन्न होने लगा। अर्जुन ने देखा कि उसके गुरुजन, निकट सम्बन्धी और मित्र शत्रु रूप से उसके सम्मुख उपस्थित हैं। उसने विचार किया कि इन गुरुजनों व प्रियजनों पर हथियार चलाना कितना अनुचित है। इस दशा में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्तव्य और अकर्तव्य के सम्बन्ध में जो उपदेश दिया, वही 'गीता' के रूप में संगृहीत है। तत्त्वज्ञान और धर्म की दृष्टि से गीता संसार की सबसे उत्कृष्ट और अद्भुत पुस्तक है। वैदिक युग में भारत में ज्ञान और तत्त्वचिन्तन की जो लहर प्रारम्भ हुई थी, श्रीकृष्ण ने उसे चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। गीता में कृष्ण का यही तत्त्वज्ञान संगृहीत है, और किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन के सदृश वर्तमान युग के भी करोड़ों नर-नारी उससे कर्तव्य और अकर्तव्य में विवेक कर सकते हैं।

रामायण—इक्ष्वाकुवंश के राजा रामचन्द्र का वृत्तान्त रामायण में बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इसकी रचना महर्षि वाल्मीकि ने की थी। वाल्मीकि संस्कृत-भाषा के आदि कवि माने जाते हैं, और उनके इस काव्य को संस्कृत का आदिकाव्य कहा गया है। रामायण की कथा को लेकर संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओं में हजारों पुस्तकें लिखी गई हैं। शायद ही कोई ऐसा भारतीय हो, जो राम की कथा से अपरिचित हो। राम का चरित्र ही ऐसा था, कि आर्य-जाति उसे कभी भुला नहीं सकती। राम आदर्श पुत्र, आदर्श भाई और आदर्श पति थे। रामायण का प्रत्येक चरित्र आदर्श है। कौसल्या-जैसी माता, लक्ष्मण-जैसा भाई, सीता-जैसी पत्नी, हनुमान-जैसा सेवक और राम-जैसा प्रजा-पालक राजा संसार के साहित्य में अन्यत्र ढूँढ सकना कठिन है।

रामायण-महाकाव्य जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, वह अविकल रूप से महर्षि वाल्मीकि की रचना नहीं है। इसमें सन्देह नहीं, कि प्रारम्भ में वाल्मीकि ने राम के चरित्र को काव्यरूप में लिखा था। बाद में इसी के आधार पर रामायण की रचना हुई। सम्भवतः, रामायण का [illegible] [illegible]०० ई० पू० के लगभग में बना था। वह महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व निर्मित हो

चुका था, और उसमें आर्यों के जिस जीवन व संस्कृति का वर्णन है, वह प्राग्-बौद्धकालीन भारत के साथ सम्बन्ध रखती है। पाँचवीं सदी ई० पू० के बाद भी वाल्मीकि-रामायण में अनेक नये आख्यान जुड़ते गये, और यह महाकाव्य जिस रूप में आजकल उपलब्ध होता है, उसे उसने दूसरी सदी ई० पू० तक ग्रहण कर लिया था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि महाभारत के समान रामायण भी बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व के युग की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालती है।

रामायण की कथा—ऐक्ष्वाकव-वंश के राजा रामचन्द्र की कथा को उल्लिखित करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यह कथा भारत में सर्वविदित है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों के मत में रामायण की कथा इतिहास की वास्तविक घटना न होकर एक रूपकमात्र है। उसमें आर्य-जाति द्वारा दक्षिण-भारत की विजय का रूपक-रूप से वर्णन किया गया है। कुछ विद्वानों ने यह कल्पना भी प्रस्तुत की है कि राम और रावण का युद्ध वैदिक साहित्य के इन्द्र और वृत्र के युद्ध का ही एक नया रूप है। राम इन्द्र है, और रावण वृत्र। पर पाश्चात्य विद्वानों का यह मत अब पुराना पड़ गया है। अयोध्या के ऐक्ष्वाकव-वंश के राजाओं की सत्ता के सम्बन्ध में अब ऐतिहासिकों में मतभेद नहीं रहा है, और प्रायः सभी ऐतिहासिक अब राम की कथा की सत्यता को स्वीकृत करने लग गये हैं। कवि ने अपनी कल्पना द्वारा राम की कथा में चाहे कतिपय कल्पित बातों का समावेश क्यों न कर दिया हो, पर यह कथा एक सच्ची ऐतिहासिक घटना को अवश्य सूचित करती है।

महाभारत की कथा—जिस प्रकार रामायण में अयोध्या के राजा रामचन्द्र का चरित्र वर्णित है, वैसे ही महाभारत में कुरु-वंश के कौरव-पाण्डवों की कथा लिखी गई है। इस कथा का भी इस इतिहास में उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। पर महाभारत का महत्त्व केवल कौरवों और पाण्डवों की कथा के कारण ही नहीं है। इस महाकाव्य से जहाँ राजा युधिष्ठिर के समकालीन भारत के अन्य राज्यों और राजकुलों का परिचय मिलता है, वहाँ साथ ही भारत के प्राचीन इतिहास पर भी इससे बहुत प्रकाश पड़ता है। प्राचीन आर्यों की प्रायः सम्पूर्ण ऐतिहासिक अनुश्रुति इस महाकाव्य में संगृहीत है। यही कारण है, कि भारतीयों की दृष्टि में इसका महत्त्व बहुत अधिक रहा है। प्राचीन अनुश्रुति के अतिरिक्त भारतीयों का सम्पूर्ण ज्ञान भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट कर दिया गया है, और इसीलिए इसके विषय में यह दावा किया जाता है, कि 'जो इस ग्रन्थ में है, वही अन्यत्र भी है; और जो इसमें नहीं है, वह अन्यत्र भी कहीं नहीं है।'

रामायण और महाभारत का काल एक नहीं है, और न ही ये दोनों महाकाव्य किसी एक युग की कथा को उल्लिखित करते हैं। रामायण और महाभारत की प्रधान कथाओं के काल में कई सदियों का अन्तर है। पर ये दोनों ग्रन्थ उस युग की दशा पर प्रकाश डालते हैं, जबकि आर्य लोग भारत में भली-भाँति बस चुके थे, और जब कि उनके धर्म, सभ्यता और समाज ने एक स्थिर रूप धारण कर लिया था। वैदिक युग के बाद की और बौद्ध-युग के पूर्व की भारतीय संस्कृति के स्वरूप

को समझने के लिये इन दो महाकाव्यों से बढ़कर कोई अन्य साधन हमारे पास नहीं है। अतः अब हम इनके आधार पर इस युग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक दशा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। पर इस प्रसंग में हमें यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इन ऐतिहासिक महाकाव्यों और विशेषतया महाभारत के अनुशीलन द्वारा सभ्यता और संस्कृति का जो चित्र उपस्थित होता है, वह किसी एक समाज को चित्रित नहीं करता। इस युग तक भारत में बहुत-से छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो चुके थे। वैदिक युग के आर्य भारत के विविध प्रदेशों में बस गये थे, और इस देश के आदि-निवासियों के सम्पर्क में आकर उनकी विविध शाखाओं ने अपनी पृथक्-पृथक् सामाजिक दशाओं व संस्कृतियों का विकास प्रारम्भ कर दिया था। यही कारण है, कि महाभारत-जैसे विशाल महाकाव्य के विविध प्रसंगों में विविध प्रकार के जीवन व विचारों की उपलब्धि होती है।

(६) धर्म का विकास

याज्ञिक कर्मकाण्ड—वैदिक-युग के समान रामायण और महाभारत के काल में भी भारत के धर्म में यज्ञों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। जिस प्रकार मनुष्य के वैयक्तिक जीवन में विविध संस्कारों का महत्त्व था जो बड़े अनुष्ठान के साथ किये जाते थे, वैसे ही मनुष्य के पारिवारिक व सामाजिक जीवन में भी अनेक यज्ञों की व्यवस्था थी। जो पारिवारिक संस्कार व अनुष्ठान इस काल में स्थिर हुए, वे भारत में बहुत समय तक कायम रहे, और वर्तमान समय में भी वे हिन्दुओं के जीवन में महत्त्व-पूर्ण स्थान रखते हैं। यह निर्विवाद है, कि ब्राह्मण-ग्रन्थों द्वारा यज्ञों की और गृह्य-सूत्रों द्वारा पारिवारिक अनुष्ठानों की जिन विधियों का विकास हुआ था, वे रामायण और महाभारत के युग में भी विद्यमान थीं। रामायण की कथा के अनुसार राजा दशरथ ने अपने पुत्र राम और लक्ष्मण को इस उद्देश्य से ऋषि विश्वामित्र के साथ वन में भेज दिया था, ताकि वे ऋषियों के याज्ञिक अनुष्ठानों में राक्षसों द्वारा डाले जाने वाले विघ्नों का निवारण कर सकें। महाभारत के अनुसार पाण्डव लोगों ने राजसूय-यज्ञ का आयोजन किया था, और इस अवसर पर जिन याज्ञिक विधियों का अनुसरण किया गया था, उनका हमें इस महाकाव्य के अनुशीलन से भली-भांति ज्ञान हो जाता है।

नये देवी-देवता—वैदिक युग में आर्य लोग जिन देवी-देवताओं की उपासना करते थे, उनमें इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, उषा आदि प्रधान थे। ये देवता प्राकृतिक शक्तियों के मूर्तरूप थे, और आर्य लोग इन्हीं की पूजा कर इन्हें सन्तुष्ट व तृप्त करने का प्रयत्न करते थे। पर रामायण और महाभारत के युग में अनेक ऐसे देवताओं की पूजा प्रारम्भ हो गई थी, जो कि वैदिक युग में या तो सर्वथा अज्ञात थे और या गौण स्थान रखते थे। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति और स्कन्द, विशाख, वैश्रवण आदि देवताओं ने इस युग के भारतीय धर्म में प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। यह विचार भी इस युग में जोर पकड़ने लगा, कि धर्म के संस्थापन और दुष्टों के दलन के लिये भगवान् विष्णु समय-समय पर मानव-रूप में अवतरित होते हैं। रामायण

की कथा के नायक राम को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था। यद्यपि रामायण के मूल अंश में राम का स्वरूप मनुष्य का ही था, पर बाद में उन्हें विष्णु का अवतार मान लिया गया। कृष्ण के सम्बन्ध में भी यही बात मान्य हो गई।

आर्य-भिन्न जातियों के सम्पर्क से भी भारत के धर्म में अनेक नये देवताओं का प्रवेश हुआ। बौद्ध-ग्रन्थ खुद्दक-निकाय के अन्तर्गत निद्देश नामक पुस्तक में महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व जिन विविध देवताओं की पूजा प्रचलित थी, उनका उल्लेख किया गया है। इन पूजनीय सत्ताओं में नाग, सुपर्ण (गरुड़), यक्ष, असुर, गन्धर्व, महाराज, दिशा आदि के साथ-साथ घोड़े, गाय और कौए तक का उल्लेख आता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग के भारत में कतिपय ऐसे लोग भी थे, जो इन सबको उपास्य मानते थे।

भागवत धर्म—हिंसा-प्रधान यज्ञों और तप के विरुद्ध जिस लहर का प्रारम्भ वसु चैद्योपरिचर के समय में हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। उपनिषदों में यज्ञों की तुलना एक फूटी हुई नाव से की गई है, जिसमें बैठकर मनुष्य कभी संसार-सागर के पार नहीं उतर सकता। यज्ञों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध जो यह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, उसे कृष्ण द्वारा बहुत बल मिला। कृष्ण द्वारा जिस नई विचार-सरणी का जन्म हुआ, उसी से भागवत-धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। इस धर्म के उपाख्यान महाभारत में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। भागवत-धर्म का सर्वोत्कृष्ट रूप भगवद्-गीता में मिलता है। पुरानी परम्परा के अनुसार यह माना जाता है, कि गीता का उपदेश कृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अर्जुन को किया था। वर्तमान हिन्दू-धर्म पर गीता का बहुत अधिक प्रभाव है, अतः गीता की शिक्षाओं को संक्षिप्त रूप से उल्लिखित करना उपयोगी होगा।

गीता के अनुसार आत्मा नित्य और अनश्वर है। शरीर के नाश के साथ आत्मा का विनाश नहीं हो जाता। मनुष्य को चाहिये कि वह मन को कामनाओं व वासनाओं से हटाकर अपने कर्त्तव्य-कर्म में लगा रहे। उसे कर्त्तव्यपालन करते हुए फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिये। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि का खयाल न करके मनुष्य को जीवन-संघर्ष में तत्पर रहना चाहिये। यह आवश्यक है, कि मनुष्य मन और इन्द्रियों को वश में करके स्थितप्रज्ञ होने का प्रयत्न करे। कर्म मनुष्य के बन्धन का कारण नहीं होता, बशर्ते कि उसे निष्काम-रूप से किया जाय। ज्ञानपूर्वक और त्याग-भावना द्वारा जो कर्म किया जाता है, उससे मनुष्य लिप्त नहीं होता। यदि सब मनुष्य निष्काम-भाव से अपने-अपने स्वधर्म के पालन में तत्पर रहें, तभी मानव-समाज का कल्याण है। योग-साधन का अभिप्राय यह नहीं है, कि मनुष्य अपने शरीर को व्यर्थ कष्ट दे, या सांसारिक व्यापार को छोड़कर कर्मविहीन हो जाय। कर्म में कुशलता का नाम ही योग है। अपने आहार-विहार, कर्म, चेष्टा, निष्ठा आदि को सुनियन्त्रित और मर्यादित करके ही मनुष्य दुःखों से बच सकता है।

गीता में जहाँ निष्काम-कर्म और स्वधर्म पर जोर दिया गया है, वहाँ साथ ही भक्ति की भी बहुत महिमा बतायी गई है। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने को भगवान् के अर्पित कर दे। वह जो कुछ भी करे, उसे भगवान् के अर्पण करके करे।

भगवदर्पण द्वारा मनुष्य के लिये निष्काम-कर्म कर सकना बहुत सुगम हो जाता है।

याज्ञिक कर्मकाण्ड का विरोध करते हुए गीता में यज्ञ का एक नया स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। गीता की सम्मति में तपोयज्ञ, स्वाध्याय-यज्ञ, ज्ञान-यज्ञ आदि ही वास्तविक यज्ञ हैं। इनके अनुष्ठान के लिये विधि-विधान की आवश्यकता नहीं। ज्ञानप्राप्ति, स्वाध्याय, चरित्र-शुद्धि और संयम द्वारा ही इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है।

उपनिषदों द्वारा धर्म के जिस स्वरूप को प्रतिपादित किया गया था, कृष्ण के भागवत-धर्म ने उसी को और अधिक विकसित किया। वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध ने प्राच्य भारत में धार्मिक सुधारणा के सम्बन्ध में जो कार्य किया, वही कृष्ण ने भारत के पाश्चात्य क्षेत्रों में किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि कृष्ण का समय बुद्ध व महावीर से बहुत पहले था। उसके धार्मिक आन्दोलन की यह भी विशेषता थी, कि वह प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल था। वह वेदों की प्रामाणिकता पर विश्वास रखता था। यज्ञों का भी वह सर्वथा विरोधी नहीं था, और भारतीय वर्णाश्रम धर्म का भी वह समर्थक था। याज्ञिक भावना को महत्त्व देते हुए भी यज्ञों के अनुष्ठान में वह पशु-हिंसा व बलिदान को कोई स्थान नहीं देता था। इस प्रकार कृष्ण का यह भागवत-धर्म वेदों के प्रति श्रद्धा और प्राचीन आर्य-परम्परा को कायम रखते हुए सुधार के लिये प्रयत्नशील था। आगे चलकर इस धर्म ने बहुत जोर पकड़ा, और वह भारत का प्रधान धर्म बन गया।

संस्कार—इस युग में भारत के सामाजिक व पारिवारिक जीवन में संस्कारों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। मुख्य संस्कार निम्नलिखित थे—(१) गर्भाधान संस्कार—जिसे सन्तान के लिए किया जाता था। (२) पुंसवन संस्कार—पुरुष सन्तान के लिए। (३) सीमन्तोन्नयन संस्कार—गर्भ की रक्षा के लिए (४) जातकर्म संस्कार—सन्तान के उत्पन्न होने पर। (५) नामकरण संस्कार—सन्तान का नाम रखने के लिए। (६) अन्न प्राशन संस्कार—बच्चे को अन्न देना प्रारम्भ करने पर। (७) चूडाकर्म संस्कार—बच्चे के बाल काटने के लिए। (८) उपनयन संस्कार—शिक्षा प्रारम्भ करते समय यज्ञोपवीत धारण कराने के लिए। (९) समावर्तन संस्कार—शिक्षा की समाप्ति पर। (१०) मृतक संस्कार—शव के दाह के लिए।

गृहस्थ के जीवन में पांच यज्ञों का विशेष महत्त्व था, ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ और पितृयज्ञ।

आठवाँ अध्याय

प्राचीन आर्यों की भारतीय संस्कृति को देन

भारत की वर्तमान संस्कृति अनेक संस्कृतियों के सम्मिश्रण का परिणाम है। इसे न केवल प्राचीन युग की विविध जातियों ने प्रभावित किया है, अपितु अरब, अफगान, मुगल और इंगलिश लोगों ने भी इस पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि इस बीसवीं सदी में भी भारतीय संस्कृति का स्थूल ढाँचा प्राय: वही है, जिसकी नींव वैदिक युग में प्राचीन आर्यो ने डाली थी। आर्यों की विचारधारा और जीवन के आदर्श एक नद के समान हैं, जिसमें अन्य अनेक छोटी-छोटी नदियाँ आकर मिलती रहती हैं। गंगा के प्रवाह में बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियाँ आकर मिल जाती हैं, वे स्वयं गंगा का अंग बन जाती हैं, उसके प्रवाह को अधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनाकर अपनी सत्ता को उसमें विलीन कर देती हैं। यही बात भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में कही जा सकती है। वैदिक युग में प्राचीन आर्यों ने संस्कृति के जिस प्रवाह को प्रारम्भ किया था, शक, युइशि, यवन, हूण, आभीर, अफगान, मुगल, अंग्रेज आदि कितने ही लोगों ने उसको प्रभावित किया। पर इनसे उस प्रवाह की धारा अवरुद्ध नही हुई, इससे उसकी शक्ति और अधिक बढ़ती गयी। यही कारण है कि आज भी भारत के निवासी उन्हीं आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करते हैं, जिन्हें आर्य ऋषियों ने वैदिक सूक्तों द्वारा प्रतिपादित किया था। वेद ने उपदेश दिया था—'हम सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें।' महाभारत ने इसे और अधिक स्पष्ट किया—'दूसरों का उपकार करने से पुण्य होता है, और दूसरों को पीड़ा देने की अपेक्षा अधिक बड़ा पाप कोई नहीं।' मध्य-काल में तुलसीदास ने इसी विचार को इस ढंग से कहा—'अभिमान पाप की जड़ है, जब तक शरीर में प्राण रहे, प्राणियों के प्रति दया भाव का परित्याग न कीजिए।' आज भी लाखों भारतीय यह गाते हैं 'जो दूसरों की पीड़ा का अनुभव करता है, वही सच्चे अर्थों में वैष्णवजन है।' महात्मा गांधी जैसे सन्तों ने अहिंसा और परोपकार के इसी भाव को बीसवीं सदी में प्रबल रूप से भारतीयों के सम्मुख उपस्थित किया है।

वैदिक साहित्य की सर्वमान्यता—भारतीय संस्कृति का आदिस्रोत वेद है, इसीलिए भारत में इस साहित्य को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। सब हिन्दू इसे ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। सांख्य-दर्शन ईश्वर की सत्ता से इन्कार करता है, पर वेद को अनादि और स्वत:प्रमाण मानता है। नास्तिक का लक्षण यह नहीं है, कि वह ईश्वर को न माने। नास्तिक वह है, 'जो वेद का निन्दक हो।' ईश्वर को न मानने वाला हिन्दू या आस्तिक हो सकता है, पर वेद के प्रति श्रद्धा न रखने वाला हिन्दू

या आस्तिक नहीं माना जा सकता। आर्यों ने जिस किसी विचार का विकास किया, जिस किसी विज्ञान या तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भ किया, उस सब का स्रोत उन्होंने वेद को माना। वेदान्त, न्याय, सांख्य आदि आस्तिक दर्शनों के सिद्धान्तों में बहुत विरोध है पर वे सब समान रूप से यह दावा करते हैं कि उनके मन्तव्य वेदों पर आश्रित हैं। आयुर्वेद, धनुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र आदि जितने भी विज्ञान इस देश में प्राचीन समय में विकसित हुए, वे सब भी अपने को वेद पर आधारित मानते हैं, और वेदाग कहाते हैं। इसीलिए वैदिक संहिताओं ने आर्य जाति के जीवन और संस्कृति को जितना अधिक प्रभावित किया है, उतना किसी अन्य साहित्य या विचार-सरणी ने नहीं किया। वेद की जिन शिक्षाओं ने भारत की संस्कृति को विशेष रूप से प्रभावित किया है, उन पर हम यहाँ संक्षेप के साथ प्रकाश डालेंगे।

ऋत या सत्य—इस संसार में सर्वत्र कुछ निश्चित नियम कार्य कर रहे हैं, यह विचार वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। सृष्टि की इस नियम-बद्धता को वेदों में 'ऋत' कहा गया है। जो तत्त्व 'पृथ्वी' या संसार को धारण किए हुए हैं, उनमें 'ऋत' सर्वप्रधान है। 'ऋत' वे नियम हैं, जो नित्य और अनादि हैं, जिनका कोई भी शक्ति उल्लंघन नहीं कर सकती। सूर्य जो नियम से उदित होता है, नियम से अस्त होता है, तारा-नक्षत्र जो अपने-अपने स्थान पर रहते हुए संचारी दशा में रहते हैं, समय पर जो फल और वनस्पति परिपक्व होते हैं—यह सब ऋत के कारण ही है। केवल प्रकृति का ही नहीं, प्राणियों और मनुष्यों के जीवन का आधार भी यह ऋत ही है। मनुष्य का हित और कल्याण इसी बात में है कि वह ऋत के इन नियमों का परिज्ञान प्राप्त कर अपने जीवन की उनके साथ अनुकूलता स्थापित कर ले। इसी ऋत द्वारा 'सत्य' का विचार प्रादुर्भूत हुआ, और भारत के विचारकों ने यह प्रतिपादित किया, कि सत्य ही धर्म का मूल है, और सत्य का अनुसरण करने में ही मनुष्य का कल्याण है। संसार में जो नियम और व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है, वह सत्य के कारण ही है। धर्म उस अवस्था का नाम है, जिसका पालन कर मनुष्य ने इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष या निःश्रेयस को प्राप्त करना है। पर यह धर्म मनुष्यकृत नहीं हो सकता। मनुष्य अपनी इच्छा या विवेक का प्रयोग कर इसका निर्माण नहीं कर सकता, क्योंकि धर्म 'सत्य' पर आश्रित होता है, और यह सत्य वे प्राकृतिक व अनादि नियम हैं, जो मनुष्यकृत नहीं हैं। ऋत और सत्य के विचार भारत के लोगों को सदा अनुप्राणित करते रहे। तुलसीदास ने 'सांच बराबर तप नहीं' कहकर इसी विचार को बल दिया। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने सत्य की महिमा को और अधिक बढ़ा दिया। सत्य और परमेश्वर एक ही बात है, यह विचार प्रतिपादित कर गांधी जी ने वैदिक युग के इस तथ्य को ही प्रकट किया, कि ऋत और सत्य ही ऐसे तत्त्व है, जो संसार का संचालन करते हैं। भारतीय संस्कृति की यह अनुपम विशेषता है कि उसमें जो विचार आज के भारतीयों को अनुप्राणित करते हैं, वे वैदिक युग से निरन्तर अबाधित रूप में इस देश में चले आ रहे हैं, उनका प्रवाह कभी अवरुद्ध नहीं हुआ।

अध्यात्म-भावना—वैदिक संस्कृति की एक विशेषता उसकी अध्यात्म-भावना है। इसका प्रादुर्भाव भी वैदिक युग में ही हुआ था। यह जो आँखों से दिखाई देने वाला

इन्द्रियगोचर संसार है, इस भौतिक जगत् से परे भी कोई सत्ता है, यह विचार वैदिक युग से भारत में निरन्तर चला आ रहा है। इस शरीर की अधिष्ठाता जीवात्मा है, जो शरीर के नष्ट होने के साथ नष्ट नहीं हो जाती। जो अनश्वर, अनादि और अनन्त है, उसको जानना और उसके स्वरूप को समझ लेना ही मनुष्य का कर्तव्य है। जिस प्रकार शरीर का स्वामी जीवात्मा है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व का स्वामी परमात्मा है, जो सर्वत्र व्यापक है, जो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है। प्रकृति की सब शक्तियाँ इस परमात्मा से ही जीवन और बल प्राप्त करती हैं। शरीर और संसार नश्वर हैं, पर आत्मा और परमात्मा नित्य और अनन्त हैं। यह जो आत्मा है, वह भी वस्तुतः सर्वव्यापक परमेश्वर व ब्रह्म का ही अंश है। जिस प्रकार विश्वव्यापी आकाश घट या मठ में घटाकाश या मठाकाश के रूप में पृथक् प्रतीत होता है, उसी प्रकार विश्वव्यापी चितिशक्ति प्राणियों में पृथक् जीवात्मा के रूप में प्रगट होती है। घट के नष्ट हो जाने पर घटाकाश विशाल आकाश में लीन हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा भी अन्त में ब्रह्म में ही लीन हो जाती है। शरीर और सृष्टि सान्त हैं, उनका अन्त हो जाता है, अतः वे परम सत्य नहीं हैं। संसार के भोग क्षणिक हैं, वास्तविक सुख आध्यात्मिक है, जो आत्मा और ब्रह्म के ज्ञान से प्राप्त होता है। मनुष्य का अन्तिम ध्येय सांसारिक सुखों से ऊपर उठकर मोक्ष या निःश्रेयस को प्राप्त करना है क्योंकि सब मनुष्यों और प्राणियों में जो जीवन-शक्ति है, उसका मूलस्रोत एक ही है, अतः सब में आत्मभावना रखना आवश्यक है। इन विचारों का सूत्रपात वैदिक युग में हुआ था, और वे आज तक भी भारत की सब जातियों व सम्प्रदायों में विद्यमान हैं। 'इस जगत् में जो कुछ भी है, उस सब में ईश्वर व्याप्त है, अतः इस संसार में लिप्त न होकर त्याग की भावना के साथ इसका उपभोग करो।' वेद के इस उपदेश ने भारतीयों के दृष्टिकोण को सदा प्रभावित किया है।

उत्थान—अध्यात्म-भावना प्राचीन आर्यों के जीवन-लक्ष्य को ऊँचा उठाने में समर्थ हुई, पर उसने इस संसार के प्रति उन्हें विमुख नहीं किया। उन्होंने धर्म का लक्षण यह किया, "जिससे इस संसार में अभ्युदय (समृद्धि व उन्नति) और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो, वही धर्म है।" वह धर्म अपूर्ण है, जो केवल निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक होता है। साथ ही वह धर्म भी अपूर्ण है, जिससे मनुष्य केवल सांसारिक समृद्धि प्राप्त करता है। इहलोक में सुख और परलोक का साधन—दोनों पर मनुष्य को ध्यान देना चाहिये। इसलिये वैदिक युग के आर्यों ने संसार के सुखों की प्राप्ति और भौतिक उन्नति की उपेक्षा नहीं की। वैदिक ऋषियों ने कहा, देखो यह सूर्य निरन्तर चलता रहता है, तुम भी निरन्तर गतिशील रहो। निरन्तर गतिशील रहने से ही तुम 'स्वादु उदुम्बर' (संसार के सुस्वादु फल) को प्राप्त कर सकोगे। इसी विचार को उपनिषदों ने और अधिक विकसित किया। उन्होंने कहा—'चरैवेति चरैवेति', निरन्तर आगे बढ़े चलो। बाद में दण्डनीति के पण्डितों ने इसी विचार को यह कहकर प्रकट किया कि मनुष्य का यह परम कर्तव्य है, कि वह सदा उत्थानशील रहे।

संसार की अनेक अन्य संस्कृतियों में भौतिकवाद पर बहुत जोर देकर अध्यात्म की उपेक्षा की गयी है। पर भारत में भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में समन्वय स्थापित किया गया। वैदिक ऋषियों की भारत को यह अद्भुत देन है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था—सांसारिक अभ्युदय (समृद्धि) और अध्यात्म-भावना के इस समन्वय का परिणाम उस सामाजिक व्यवस्था का विकास था, जिसकी विशेषता वर्ण-भेद और आश्रम-व्यवस्था हैं। प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुसार मानव-जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया गया है, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह २५ वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करे। इस काल में वह अपना सब ध्यान शरीर और मन की उन्नति में लगाए। स्वस्थ शरीर और विकसित मन को प्राप्त कर वह गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करे, और इस काल का उपयोग संसार के सुख व वैभव को प्राप्त करने के लिये करे। पर वह यह दृष्टि में रखे, कि सांसारिक भोग ही उसका चरम लक्ष्य नहीं है। पचास वर्ष की आयु में उसे गृहस्थ जीवन का अन्त कर वानप्रस्थी बनना है, जब वह अपनी सब शक्ति और समय तत्त्व-चिन्तन और आत्मिक उन्नति में लगायेगा, क्योंकि मनुष्य को केवल ऐहलौकिक अभ्युदय से ही संतुष्ट नहीं होना है, उसे निःश्रेयस को भी प्राप्त करना है। वानप्रस्थ के बाद मनुष्य संन्यासी बने, और अपना सब समय लोकोपकार में व्यतीत करे। संन्यास आश्रम में मनुष्य परिव्राजक बनकर संसार में भ्रमण करता है, और प्राणिमात्र का हित और कल्याण करता है।

जिस प्रकार मनुष्य के जीवन को चार विभागों (आश्रमों) में विभक्त किया गया है, वैसे ही मानव-समाज भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभक्त है। समाज में सबसे ऊँचा स्थान ब्राह्मणों का है, जो त्याग और अकिंचनता को ही अपनी सम्पत्ति मानते हैं। क्षत्रिय लोग सांसारिक सुखों का उपभोग अवश्य करते हैं, पर उनका कार्य धनोपार्जन करना न होकर जनता की बाह्य और आभ्यन्तर विपत्तियों से रक्षा करना है। समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का स्थान वैश्यों की अपेक्षा ऊँचा है, क्योंकि मानव-जीवन का ध्येय धन-सम्पत्ति की अपेक्षा अधिक उच्च है। वैश्यों को कृषि, पशुपालन और वाणिज्य द्वारा समाज की भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना है, और शूद्र का कार्य अन्य वर्णों की सेवा द्वारा अपनी आजीविका कमाना है। जिस प्रकार मानव-जीवन तभी पूर्ण हो सकता है, जबकि उसमें भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति को भी स्थान प्राप्त हो, उसी प्रकार मानव-समाज की पूर्णता के लिये भी यह आवश्यक है, कि उसके विविध वर्ग भौतिक सुखों व साधनों के साथ-साथ परोपकार व अध्यात्म-सुख के लिये भी प्रयत्नशील हों। सब मनुष्यों की योग्यता, शक्ति और बुद्धि एक सदृश नहीं होती, सब कोई वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण नहीं बन सकते। ब्राह्मण का आदर्श बहुत ऊँचा है, उस तक पहुँचने के लिये बहुत कम व्यक्ति समर्थ होंगे। बहुसंख्यक मनुष्य वैश्य ही होंगे, और कृषि, व्यवसाय आदि द्वारा अपनी वैयक्तिक व सामाजिक समृद्धि के लिये प्रयत्न करेंगे। पर यदि सभी लोग धनोपार्जन के लिए प्रवृत्त हो जाएं, तो समाज अपूर्ण रह जायगा। उसमें ऐसे मनुष्य भी चाहियें, जो धन को हेय मानकर ज्ञानोपार्जन और तत्त्वचिन्तन में प्रवृत्त हों। इसी में समाज की पूर्णता है। वैदिक युग में वर्णों का यह विभाग जन्म पर आश्रित नहीं था। कोई भी व्यक्ति ज्ञान उपार्जन कर ब्राह्मण-पद को प्राप्त कर सकता था। बाद में वर्ण जन्म पर आश्रित हो गये, क्योंकि ब्राह्मण की सन्तान के लिये ब्राह्मण हो सकना और वैश्य

की सन्तान के लिये व्यापार और शिल्प में कुशल हो सकना अधिक सुगम था। पर यह विचार भारत में निरन्तर बना रहा, कि 'शूद्र ब्राह्मणता को प्राप्त कर सकता है, और ब्राह्मण शूद्र बन सकता है। धर्मचर्या द्वारा निचले वर्ण के व्यक्ति ऊँचे वर्ण को प्राप्त कर सकते हैं, और धर्म के विरुद्ध आचरण करने से ऊँचे वर्ण के लोग निचले वर्ण को प्राप्त हो सकते हैं।' भारत के मध्यकालीन इतिहास तक में कितने ही मनुष्य, जो नीच कुल में उत्पन्न हुए थे, अपने ज्ञान व तत्त्वचिन्तन के कारण सन्त-पद को प्राप्त कर गए। प्राचीनकाल में तो इस प्रकार के उदाहरणों की कोई कमी ही नहीं है।

यद्यपि वर्तमान युग में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप बहुत विकृत हो गया है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि जातिभेद के आधार में जो भावना आज तक भी कार्य कर रही है, वह वैदिक युग की वर्ण-व्यवस्था पर ही आश्रित है। समाजरूपी विराट्-पुरुष का मुख-स्थानीय ब्राह्मण है, बाहुस्थानीय क्षत्रिय है, उदर और ऊरु स्थानीय वैश्य है, और पादस्थानीय शूद्र है—वेदों के इस विचार ने ही भारत में जाति-भेद को मूर्तरूप प्रदान किया। उसके विकृत रूप को सुधार कर असली प्राचीन आर्य-भावना को पुनरुज्जीवित करने के लिए इस देश के कितने ही विचारक व सुधारक प्रयत्न करते रहे हैं, और यह प्रयत्न वर्तमान समय में बहुत अधिक जोर पकड़ गया है।

अभय की भावना—जिस प्रकार प्राचीन आर्यों द्वारा भारतीय संस्कृति में अध्यात्म भावना का प्रवेश हुआ, वैसे ही अभय की भावना भी उन्हीं से उसे प्राप्त हुई। जब मनुष्य सब में अपने को और अपने में सबको देखने लगता है, जब वह सर्वत्र 'एकत्व' की अनुभूति रखने लगता है, तो वह 'अभय' हो जाता है। मोह, शोक, आदि से वह ऊपर उठ जाता है। वैदिक ऋषि ने गान किया है—"मित्र से मैं अभय होऊँ, अमित्र (शत्रु) से मैं अभय होऊँ, ज्ञात वस्तु से और परोक्ष (अज्ञात) वस्तु से मैं अभय होऊँ, रात और दिन सब समय मैं अभय होऊँ, और सब दिशायें मेरे प्रति मित्र भावना रखें।" यह अभय-भावना तभी सम्भव है, जब मनुष्य सब में एक ही विश्वात्मा को व्याप्त समझे और सब के प्रति एकत्व का अनुभव करता रहे।

विचार-स्वातन्त्र्य और सहिष्णुता—आर्यों के आध्यात्मवाद ने ही इस देश की संस्कृति में सहिष्णुता और विचार-स्वातन्त्र्य को उत्पन्न किया। इस देश में धार्मिक व साम्प्रदायिक द्वेष के कारण उस ढंग के युद्ध नहीं हुए, जैसे कि पाश्चात्य देशों में हुए थे। मध्य काल में यूरोप के लोग बहुत असहिष्णु थे। एक ही ईसाई धर्म के विवध सम्प्रदाय एक-दूसरे को सहन नहीं कर सकते थे। सोलहवीं सदी में चार्ल्स पंचम के शासन-काल में अकेले नीदरलेण्ड जैसे छोटे-से राज्य में पचास हजार के लगभग प्रोटेस्टन्ट लोगों को केवल इसलिए अग्नि के अर्पण कर दिया गया, क्योंकि उनका धर्म चार्ल्स के रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय से भिन्न था। यूरोप के लोग अमेरिका और अफ्रीका में जिन लोगों के सम्पर्क में आए, उन्हें उन्होंने समूल नष्ट करने का प्रयत्न किया, क्योंकि अन्य लोगों के धर्म व सभ्यता को वे सहन करने के लिए उद्यत नहीं थे। पर इस प्रकार की उग्र वृत्ति भारतवासियों ने अपने सुदीर्घ इतिहास में कभी प्रकट नही की। आर्य लोग यह समझते थे, कि विविध प्रकार के विधि-विधान व पूजा द्वारा मनुष्य एक ही ईश्वर की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है। कृष्ण ने गीता में कहा था—"जिस किसी ढंग से जो मेरी उपा-

सना करता है, वह उसी ढंग से मुझे प्राप्त कर लेता है।" मनुष्यों में पूजा आदि का प्रकार पृथक्-पृथक् हो सकता है, पर उनका उपास्य देवता तो एक ही होता है। अशोक ने भी आगे चलकर सब सम्प्रदायों में मेलजोल (समवाय) की नीति का उपदेश कर इसी तत्व को प्रतिपादित किया। विविध जातियों और सम्प्रदायों के प्रति भारत की यह मनोवृत्ति अध्यात्म भावना और सब में अपने को व अपने में सब को देखने की प्रवृत्ति का ही परिणाम थी। इसी कारण भारत में यवन, शक आदि जिन विदेशी व विधर्मी जातियों ने प्रवेश किया, वे सब विशाल हिन्दू व आर्य-धर्म की अंग बनती गयीं। इस्लाम जैसा उग्र धर्म भी इस प्रवृत्ति के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। हिन्दू लोग मुसलमानों को अपने समाज का अंग नहीं बना सके, पर उन्होंने उनके प्रति एक ऐसे रुख को अपनाया, जिसके कारण दोनों धर्मों के अनुयायियों के लिए एक देश में साथ-साथ रह सकना सम्भव हो गया। स्वयं हिन्दू धर्म में तो परस्पर-विरोधी विचारों के मानने वाले लोग एक समाज का अंग बन कर रहते ही रहे। चींटी तक की हत्या को पाप मानने वाले और भैंसे की बलि देकर अपने आराध्य देवता को सन्तुष्ट करने वाले लोग जो एक साथ हिन्दू धर्म में रह सके, उसका कारण यह सहिष्णुता ही थी, जो वैदिक युग से इस देश में बल पकड़ने लग गयी थी। ईश्वर पर विश्वास करने वाले और ईश्वर की सत्ता से ही इन्कार करने वाले सब प्रकार के लोगों को हिन्दू धर्म में स्थान मिला, यह उस विचार-स्वातन्त्र्य का ही परिणाम था, जो भारतीय संस्कृति की अनुपम विशेषता है।

पुनर्जन्म और कर्म फल—प्राचीन आर्यों का यह विश्वास था कि मनुष्य पुनर्जन्म लेता है। जिसे मृत्यु कहा जाता है, वह वस्तुतः चोले को बदलना मात्र है। जैसे मैले कपड़े उतार कर मनुष्य नए कपड़े पहनता है, वैसे ही वृद्ध या रोगग्रस्त शरीर को त्याग कर जीवात्मा नया शरीर धारण कर लेता है। मृत्यु के बाद जीव किस कुल में जन्म ले, किस योनि में प्रवेश करे, यह बात उसके कर्मों पर निर्भर करती है। अच्छे कर्म करने वाला मनुष्य यदि इस जन्म में अपने सुकृत्यों का फल नहीं पाता, तो अगले जन्म में उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। वर्ण-व्यवस्था और जातिभेद के साथ यह विचार बहुत मेल खाता था। प्राचीन आर्य यह मानते थे कि मनुष्य को 'स्वधर्म' के पालन में तत्पर रहना चाहिए। शूद्र को इससे सन्तुष्ट रहना चाहिए, कि वह अन्य वर्णों की सेवा करे। शूद्र अपनी हीन दशा से इसी लिए असन्तोष अनुभव नहीं करता था, क्योंकि वह यह जानता था कि हीन कुल में जन्म का हेतु उसके पूर्वजन्म के कुकर्म ही हैं। वह यह भी विश्वास रखता था, कि यदि वह अपने कर्तव्यों का पालन करेगा, अच्छे कर्म करेगा, तो अगले जन्म में वह किसी श्रीमन्त व उच्च कुल में पैदा होने का अवसर प्राप्त कर लेगा। पुनर्जन्म और कर्मफल के सिद्धान्तों के कारण भारत के निवासी अपनी स्थिति से असन्तोष अनुभव नहीं करते थे। वर्तमान समय में भी ये सिद्धान्त भारतीयों में बद्धमूल हैं। हिन्दू धर्म के अनुयायी तो पूर्वजन्म और कर्मफल दोनों में विश्वास करते हैं। पर अन्य सम्प्रदायों के लोग पूर्वजन्म को न मानते हुए भी अपने क्रियात्मक जीवन में 'कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा' को अपनी आंखों से ओझल नहीं कर पाते। भारत में गरीब से गरीब लोग जो अपनी स्थिति के विरुद्ध सुगमता से विद्रोह कर देने के लिए तैयार नहीं हो जाते, उनमें आर्यों के ये प्राचीन सिद्धान्त ही प्रधान हेतु

हैं। इन सिद्धान्तों ने भारतीयों को कुछ अंश तक भाग्यवादी भी बना दिया है।

यज्ञ और अनुष्ठान—वैदिक युग में जिन याज्ञिक विधियों और धार्मिक अनुष्ठानों का प्रारम्भ हुआ था, कुछ परिवर्तनों के साथ वे अब तक भी भारत में विद्यमान हैं। शुभ अवसरों पर या संस्कार के समय अब भी बहुसंख्यक हिन्दू यज्ञ-कुण्ड में अग्नि का आधान कर वैदिक मन्त्रों से आहुति देते हैं। इस देश के अनेक धार्मिक अनुष्ठानों का स्वरूप अब भी वही है, जिसका विकास सूत्र ग्रन्थों द्वारा किया गया था। इन्द्र, मित्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा, शिव व विष्णु के अवतार राम और कृष्ण ने चाहे ले लिया हो, पर इनकी पूजा करते हुए अभी तक भी प्राचीन आर्यों की अनेक विधियों का अनुसरण किया जाता है। अन्य जातियों के सम्पर्क से भारतीय धर्म में अनेक परिवर्तन हुए। भारत के आदिवासियों के संसर्ग से आर्यों ने मूर्तिपूजा को भी अपना लिया। पर वैदिक आर्यों ने जिन याज्ञिक विधियों और अनुष्ठानों का प्रारम्भ किया था, वे हजारों साल बीत जाने पर भी अब तक कायम हैं।

भारत भूमि के प्रति पवित्रता की भावना—आर्य लोग चाहे भारत में कहीं बाहर से आकर बसे हों, पर उन्होंने शीघ्र ही इस देश को अपनी पवित्र भूमि समझना शुरू कर दिया था। वेद के पृथ्वी सूक्त में उन्होंने इसे भूमि के प्रति अपनी भक्ति को प्रगट किया, और इस देश की नदियों और पर्वतों को वे पवित्र मानने लगे। भारत के बहुसंख्यक निवासियों के लिए यह देश न केवल मातृभूमि है, अपितु धर्मभूमि भी है। भारत के प्रति पवित्रता की यह भावना भी प्राचीन आर्यों की ही देन है।

भाषा में एकसादृश्य—प्राचीन आर्यों ने केवल भारत के निवासियों में विचार व चिन्तन की एकता को ही विकसित नहीं किया, अपितु साथ ही इस देश की भाषा में सादृश्य का भी प्रादुर्भाव किया। प्राचीन आर्यों की भाषा वह थी, जिसका रूप हमें वैदिक साहित्य में देखने को मिलता है। यही भाषा आगे चल कर संस्कृत के रूप में विकसित हुई। भारत की बहुसंख्यक वर्तमान भाषाएँ संस्कृत से उद्‌बुद्ध हुई हैं, और यहाँ की द्राविड़ भाषाओं पर भी संस्कृति का बहुत अधिक प्रभाव है। वर्णमाला, व्याकरण और शब्द-कोश की दृष्टि से भारत में भाषा-सम्बन्धी एकरूपता व समानता विद्यमान है। वर्तमान समय से पूर्व, जब कि भारत में अंग्रेजी भाषा का प्रवेश नहीं हुआ था, संस्कृत ही एक ऐसी भाषा थी, जिसने इस देश के विविध प्रदेशों में घनिष्ठ संबंध स्थापित किया हुआ था, और जिसका साहित्य सब स्थानों के विद्वानों में समान रूप से पढ़ा जाता था।

इस अध्याय में हमने इस प्रश्न पर संक्षेप के साथ विचार किया है, कि भारतीय संस्कृति को प्राचीन आर्यों की क्या देन है। पर इस विवेचन को पूर्ण नहीं समझा जा सकता। भारत के धर्म सामाजिक आदर्श, समाज संगठन, विचार, तत्त्वचिन्तन आदि सब विषयों में प्राचीन आर्यों की देन बहुत महत्त्व की है। अन्य लोगों ने आर्यों की इस देन को अपनाकर इसे समृद्ध अवश्य किया, पर इसका मूल रूप आर्यों द्वारा ही प्रदत्त है।

नवां अध्याय

बौद्ध और जैन धर्म

(१) बौद्ध युग

महाभारत के युद्ध के बाद सातवीं और छठी सदी ई० पू० के भारतीय इतिहास की दो बातें विशेष महत्त्व की हैं :—

(१) **मागध साम्राज्य का विकास**—प्राचीन समय में भारत में जो बहुत से छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, उनका स्थान अब मगध के शक्तिशाली व सुविस्तृत साम्राज्य ने लेना शुरू कर दिया था। मागध साम्राज्य का विकास इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। प्राचीन भारत के ऐक्ष्वाकव, ऐल, पौरव, यादव आदि विविध आर्यवंशों द्वारा स्थापित राज्यों को जीतकर मगध के राजा अपना विशाल चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए। महापद्म नन्द, चन्द्रगुप्त मौर्य और प्रियदर्शी अशोक जैसे सम्राट् जो भारत के बहुत बड़े भाग को एक चक्रवर्ती-क्षेत्र बनाने में समर्थ हुए, उसके लिए इसी समय (सातवीं और छठी सदी ई० पू०) में प्रयत्न प्रारम्भ हो गया था। मगध के इन सम्राटों को 'शूद्र', 'शूद्रप्राय', 'नयवर्जित' आदि कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि इनका साम्राज्यवाद प्राचीन आर्य-मर्यादा के अनुकूल नहीं था। मगध के बार्हद्रथ, नन्द आदि राजवंशों के राजा न केवल 'नयवर्जित' थे, अपितु स्वेच्छाचारी और निरंकुश भी थे। उनके राजपुत्र भी 'नय' और 'अनय' का विचार छोड़कर अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर राजसिंहासन की प्राप्ति के लिए यत्नशील रहते थे।

(२) **धार्मिक सुधारणा**—बौद्ध, जैन, आजीवक आदि सम्प्रदायों के रूप में अनेक नये धार्मिक आन्दोलन इस युग में शुरू हुए। यज्ञप्रधान प्राचीन वैदिक धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति शुरू हुई, और बहुत-से भारतीय वैदिक संहिताओं के प्रामाण्य से इन्कार कर बुद्धि और तर्क पर आश्रित नये धर्मों के अनुसरण में प्रवृत्त हुए। बौद्ध, जैन आदि नये सम्प्रदायों का प्रचार न केवल भारत में हुआ, अपितु भारत के बाहर भी दूर-दूर तक इन धर्मों का प्रसार हुआ। जिस प्रकार इस युग के राजा सार्वभौम चक्रवर्ती साम्राज्यों के निर्माण के लिए तत्पर थे, वैसे ही अनेक धार्मिक नेता 'धर्म-चक्र' के 'प्रवर्तन' द्वारा धर्म-चक्रवर्ती बनने के उद्योग में लगे थे। बौद्ध धर्म को अपना 'धर्म-साम्राज्य' स्थापित करने में विशेष रूप से सफलता मिली। भारत में बौद्धों का धर्म-साम्राज्य अनेक सदियों तक कायम रहा। गुप्तवंश के शासन काल से पूर्व ही भारत में बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। पर मौर्य वंश के शासन-काल के अन्त तक भारत में बौद्ध-धर्म का स्थान बहुत महत्त्व का रहा। जिस समय में बौद्ध-धर्म के प्रचारक भारत में अपने मत के प्रसार के लिए सफलतापूर्वक यत्न कर रहे थे, उसे भारतीय इतिहास में 'बौद्ध-युग' कहा जाता है। इस युग के इतिहास पर बौद्ध-साहित्य द्वारा बहुत प्रकाश पड़ता है।

(२) धार्मिक सुधारणा

उत्तरी बिहार में प्राचीन समय में जो अनेक गणराज्य थे, इस नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ उन्हीं से हुआ। महात्मा बुद्ध शाक्य गण में उत्पन्न हुए थे, और वर्धमान महावीर ज्ञातृक गण में। मगध के साम्राज्यवाद ने बाद में इन गणराज्यों का अन्त कर दिया था। राजनीतिक और सैनिक क्षेत्र में ये मगध से परास्त हो गए थे। पर धार्मिक क्षेत्र में शाक्य गण और वज्जि संघ के भिक्षुओं के सम्मुख मगध ने सिर झुका दिया। जब मगध की राजगद्दी के लिए विविध सैनिक नेता एक दूसरे के साथ संघर्ष कर रहे थे, और राजपुत्र कर्कट के समान अपने जनक (पिता) के प्रति व्यवहार करने में तत्पर थे, उसी समय ये भिक्षु लोग शान्ति, प्रेम और सेवा द्वारा एक नये प्रकार के चातुरन्त साम्राज्य की स्थापना में संलग्न थे।

भारत बहुत बड़ा देश है। आर्य जाति की विविध शाखाओं ने भारत के विविध प्रदेशों में बस कर अनेक जनपदों का निर्माण किया था। शुरू में इनमें एक ही प्रकार का धर्म प्रचलित था। प्राचीन आर्य ईश्वर के रूप में एक सर्वोच्च शक्ति की पूजा किया करते थे। प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों में ईश्वर के विभिन्न रूपों की कल्पना कर वे देवताओं के रूप में उनकी भी उपासना करते थे। यज्ञ इन देवताओं की पूजा का क्रियात्मक रूप था। धीरे-धीरे यज्ञों का कर्मकाण्ड अधिकाधिक जटिल होता गया। याज्ञिक लोग विधि-विधानों और कर्मकाण्ड को ही स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति का एकमात्र साधन समझने लगे। प्राचीन काल में यज्ञों का स्वरूप बहुत सरल था। बाद में बहुत बड़ी संख्या में पशुओं की बलि भी अग्निकुण्ड में दी जाने लगी। पशुओं की बलि पाकर अग्नि व अन्य देवता प्रसन्न व सन्तुष्ट होते हैं, और उससे मनुष्य स्वर्गलोक को प्राप्त कर सकता है, यह विश्वास प्रबल हो गया। इसके विरुद्ध अनेक विचारकों ने आवाज उठाई। यज्ञ एक ऐसी नौका के समान है, जो अदृढ़ है और जिसपर भरोसा नहीं किया जा सकता, यह विचार जोर पकड़ने लगा। शूरसेन देश के सात्वत लोगों में जो भागवत-सम्प्रदाय महाभारत के समय से प्रचलित था, वह यज्ञों को विशेष महत्त्व नहीं देता था। वासुदेव कृष्ण इस मत के अन्यतम आचार्य थे। इस सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। भागवत लोग वैदिक मर्यादाओं में विश्वास रखते थे, और यज्ञों को सर्वथा हेय नहीं मानते थे। पर याज्ञिक अनुष्ठानों का जो विकृत व जटिल रूप भारत के बहुसंख्यक जनपदों में प्रचलित था, उसके विरुद्ध अधिक उग्र आन्दोलनों का प्रारम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक था। आर्यों में स्वतन्त्र विचार की प्रवृत्ति विद्यमान थी, और इसी का यह परिणाम हुआ, कि छठी सदी ई० पू० में उत्तरी बिहार के गणराज्यों में अनेक ऐसे सुधारक उत्पन्न हुए, जिन्होंने यज्ञप्रधान वैदिक धर्म के विरुद्ध अधिक बल के साथ आन्दोलन किया, और धर्म का एक नया स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया।

इन सुधारकों ने केवल याज्ञिक अनुष्ठानों के खिलाफ ही आवाज नहीं उठाई, अपितु वर्ण-भेद का भी विरोध किया, जो छठी ई० पू० तक आर्यों में भली-भाँति विकसित हो गया था। आर्य-भिन्न जातियों के सम्पर्क में आने से आर्यों ने अपनी रक्तशुद्धता को कायम रखने के लिए जो अनेक व्यवस्थाएँ की थीं, उनके कारण आर्य और दास (शूद्र)

का भेद तो वैदिक युग से ही विद्यमान था। धीरे-धीरे आर्यों में भी वर्ण या जाति-भेद का विकास हो गया था। याज्ञिक अनुष्ठानों के विशेषज्ञ होने के कारण ब्राह्मण लोग सर्वसाधारण 'आर्य विश:' से अपने को ऊंचा समझने लगे थे। निरन्तर युद्धों में व्यापृत रहने के कारण क्षत्रिय सैनिकों का भी एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया था, जो अपने को सर्वसाधारण जनता से पृथक् समझता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय न केवल अन्य आर्यों से ऊंचे माने जाते थे, अपितु उन दोनों में भी कौन अधिक ऊंचा है, इस सम्बन्ध में भी उनमें मतभेद था। इस दशा में छठी सदी ई०पू० के इन सुधारकों ने जाति-भेद और सामाजिक ऊंच-नीच के विरुद्ध भी आवाज उठाई, और यह प्रतिपादित किया कि कोई भी व्यक्ति अपने गुणों व कर्मों के कारण ही ऊंचा व सम्मानयोग्य होता है, किसी कुल-विशेष में उत्पन्न होने के कारण नहीं।

यहां यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उत्तरी बिहार के जिन गणराज्यों में इस धार्मिक सुधार का प्रारम्भ हुआ, उनके निवासियों में आर्यभिन्न जातियों के लोग बड़ी संख्या में विद्यमान थे। वहाँ के क्षत्रिय भी शुद्ध आर्य-रक्त के न होकर व्रात्य क्षत्रिय थे। सम्भवतः, छठी सदी ई० पू० से पहले भी उनमें वैदिक मर्यादा का सर्वांश में पालन नहीं होता था। ज्ञातृक गण में उत्पन्न हुए वर्धमान महावीर ने जिस नये जैन धर्म का प्रतिपादन किया, उनसे पूर्व भी इस धर्म के अनेक तीर्थंकर व आचार्य हो चुके थे। इन जैन तीर्थंकरों के धर्म में न याज्ञिक अनुष्ठानों का स्थान था, और न ही वेदों के प्रामाण्य का। वसु चैद्योपरिचर के समय में प्राच्य भारत में याज्ञिक कर्मकांड के सम्बन्ध में स्वतन्त्र विचार की जो प्रवृत्ति शुरू हुई थी, शायद उसी के कारण उत्तरी बिहार के इस धर्म ने वैदिक मर्यादा की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी।

(३) जैन-धर्म का प्रादुर्भाव

छठी सदी ई०पू० के लगभग भारत में जो नये धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उनमें दो प्रधान हैं—(१) जैन धर्म, और (२) बौद्ध धर्म। हम इन दोनों पर संक्षेप के साथ विचार करेंगे।

जैन लोगों के अनुसार उनके धर्म का प्रारम्भ बौद्ध-काल में महावीर स्वामी द्वारा नहीं हुआ था। वे अपने धर्म को सृष्टि के समान ही अनादि मानते हैं। उनके मतानुसार वर्धमान महावीर जैन धर्म का अन्तिम तीर्थंकर था। उनसे पहले २३ अन्य तीर्थंकर हो चुके थे। पहला तीर्थंकर राजा ऋषभ था। वह जम्बूद्वीप का प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् था, और वृद्धावस्था में अपने पुत्र भरत को राज्य देकर स्वयं तीर्थंकर हो गया था। यहां यह सम्भव नहीं है, कि हम सब तीर्थंकरों के सम्बन्ध में लिख सकें, यद्यपि जैन ग्रन्थों में उनके विषय में अनेक कथाएं उल्लिखित हैं। पर तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व का कुछ विवरण इस इतिहास के लिए उपयोगी होगा।

तीर्थंकर पार्श्व—महावीर स्वामी के प्रादुर्भाव से २५० वर्ष पूर्व तीर्थंकर पार्श्व का समय है। वह बनारस के राजा अश्वसेन का पुत्र था। उसका प्रारम्भिक जीवन एक राजकुमार के रूप में व्यतीत हुआ। युवावस्था में उसका विवाह कुशस्थल देश की राजकुमारी प्रभावती के साथ हुआ। तीस वर्ष की आयु में राजा पार्श्वनाथ को वैराग्य

हुआ, और उसने राजपाट छोड़कर तापस का जीवन स्वीकृत किया। तिरासी दिन तक वह घोर तपस्या करता रहा। घोर तपस्या के अनन्तर चौरासीवें दिन पार्श्वनाथ को ज्ञान प्राप्त हुआ, और उसने अपने ज्ञान का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उसकी माता और धर्मपत्नी सबसे पहले उसके धर्म में दीक्षित हुईं। सत्तर वर्ष तक पार्श्वनाथ निरंतर अपने धर्म का प्रचार करता रहा। अन्त में पूरे सौ साल की आयु में एक पर्वत की चोटी पर, जो कि अब पार्श्वनाथ-पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है, उसने मोक्ष-पद को प्राप्त किया। पार्श्वनाथ के जीवन की ये ही थोड़ी-सी बातें हैं, जो जैन ग्रंथों के अनुशीलन से एकत्रित की जा सकती हैं।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायी बौद्ध-काल की धार्मिक सुधारणा में विद्यमान थे। उसकी तथा महावीर स्वामी की शिक्षाओं में क्या भेद था, इसका परिचय जैन-धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ उत्तराध्ययन-सूत्र के एक संवाद द्वारा प्राप्त होता है। हम इस संवाद को यहाँ उद्घृत करते हैं। पार्श्वनाथ का एक शिष्य था, जिसका नाम केशी था। इसी प्रकार महावीर स्वामी का एक शिष्य था, जिसका नाम गौतम था। दोनों अपने-अपने गुरु की शिक्षाओं के पूर्ण पण्डित थे, और सैकड़ों शिष्यों के साथ परिभ्रमण करते हुए श्रावस्ती नगरी में आये हुए थे। "दोनों आचार्यों के शिष्य, जो कि विविध तप तथा गुणों से सम्पन्न थे, इस प्रकार विचार करने लगे—क्या हमारा धर्म सत्य है या दूसरे आचार्य का ? क्या हमारे आचार-विचार और सिद्धान्त सत्य हैं या दूसरे आचार्य के ? तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने जिस धर्म का उपदेश किया था, जिसमें कि चार व्रत लेने होते हैं वह सत्य है, या वर्धमान महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म जिसमें कि पांच व्रत लेने होते हैं ? क्या वह धर्म सत्य है, जिसमें भिक्षु के लिए वस्त्रों का सर्वथा निषेध है; या वह धर्म सत्य है, जिसमें निचले और उपरले दोनों वस्त्रों का विधान है ? जब दोनों आचार्यों का एक ही उद्देश्य था, तो उनमें मतभेद क्यों है ? अपने शिष्यों के विचारों का पता लगने पर केशी और गौतम दोनों ने परस्पर भेंट करने का निश्चय किया।" गौतम अपने शिष्यों के साथ तिन्दुक उद्यान में (जहां केशी ठहरा हुआ था) गया, और केशी ने बड़े आदर के साथ उसका स्वागत किया। दोनों आचार्य पास-पास बैठ गये। उत्सुकतावश बहुत से नास्तिक तथा सर्वसाधारण लोग भी वहाँ एकत्रित हो गए।

केशी ने गौतम से कहा—"भगवन् ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूं।" केशी के इन शब्दों का उत्तर गौतम ने इस प्रकार दिया—"श्रीमन्, आप जो चाहें पूछिये।" तब गौतम की अनुमति से केशी ने इस प्रकार कहा—'तीर्थंकर पार्श्व ने जिस धर्म का उपदेश दिया था, उसमें केवल चार व्रत हैं, पर वर्धमान द्वारा उपदिष्ट धर्म में पांच व्रत हैं। जब दोनों धर्मों का उद्देश्य एक ही है, तो उनमें भेद का क्या कारण है ? हे भगवन् ! आपका इस विषय में क्या विचार है ?" केशी के इन प्रश्नों का गौतम ने इस प्रकार उत्तर दिया—'प्रारम्भ में जो भिक्षु लोग थे, वे सीधे-सादे तथा सरल होते थे। अब के भिक्षु सत्य से बचने की प्रवृत्ति रखते हैं। पर बीच के भिक्षु ऐसे नहीं थे। वे बहुत सीधे तथा बुद्धिमान् थे। धर्म में भेद का यही कारण है। प्रारम्भ के भिक्षु धर्म के सिद्धान्तों को कठिनता से समझ सकते थे। अब के भिक्षु धर्म का पालन बड़ी कठिनता से करते हैं। पर बीच के भिक्षु धर्म

को समझते भी सुगमता से थे, और उसका पालन भी आसानी से करते थे।"

"गौतम ! तुम बुद्धिमान हो, तुमने मेरे सन्देह को निवृत्त कर दिया है। पर मुझे एक अन्य सन्देह है, जिसे तुम्हें दूर करना चाहिए। वर्धमान महावीर ने जिस धर्म का उपदेश किया है, उसके अनुसार वस्त्र धारण करना निषिद्ध है, पर पार्श्व के धर्मानुसार निचले तथा उपरले वस्त्र का विधान किया गया है, जबकि दोनों धर्मों का उद्देश्य एक ही है, तो यह भेद क्यों है ?"

इस प्रश्न का गौतम ने निम्नलिखित उत्तर दिया—"अपने उच्च ज्ञान से प्रत्येक पदार्थ का निश्चय करते हुए तीर्थंकरों ने यह निर्णय किया है, कि धर्मपालन के लिए क्या कुछ आवश्यक है। धार्मिक पुरुषों के जो विविध बाह्य लिंग निश्चित किये गए हैं, उनका उद्देश्य यह है कि लोग उन्हें सुगमता से पहचान सकें, और जो खास बाह्य चिन्ह निश्चित किये गये हैं, उन्हें निश्चित करने का कारण उनका धार्मिक जीवन के लिए उपयोगी होना है। तीर्थंकरों की अपनी सम्मति यह है, कि मोक्ष के साधन ये बाह्य लिंग नहीं है, अपितु ज्ञान, श्रद्धा और सदाचार ही मोक्ष के वास्तविक हेतु है।"

"गौतम ! तुम बुद्धिमान् हो, तुमने मेरे सन्देह को दूर कर दिया है।"

आचार्य केशी और गौतम का यह संवाद दो दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रथम, इससे यह स्पष्ट होता है कि पार्श्व के अनुयायी जो कि महावीर द्वारा किये गये सुधारों को नहीं मानते थे, वे महावीर के बाद भी विद्यमान थे, और उनमें अपने मतभेदों पर बहस भी होती रहती थी। दूसरी बात हमें इस संवाद से यह ज्ञान होती है, कि महावीर ने पार्श्व द्वारा प्रतिपादित जैन-धर्म में कौन-कौन से मुख्य सुधार किये थे। पार्श्व के अनुसार जैन भिक्षु के लिए निम्नलिखित चार व्रत लेने आवश्यक थे—(१) मैं जीवित प्राणियों की हिंसा नहीं करूंगा। (२) मैं सदा सत्य भाषण करूंगा। (३) मैं चोरी नहीं करूँगा। (४) मैं कोई सम्पत्ति नहीं रखूंगा।

पार्श्व द्वारा प्रतिपादित इन चार व्रतों के साथ महावीर ने एक और व्रत बढ़ा दिया जो यह था कि—"मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूंगा।" इसके अतिरिक्त महावीर ने भिक्षुओं के लिए यह व्यवस्था भी की थी, कि वे कोई वस्त्र धारण न करें, जबकि पार्श्व के अनुसार भिक्षु लोग वस्त्र धारण कर सकते थे।

वर्धमान महावीर—वज्जिराज्य-संघ के अन्तर्गत ज्ञातृक गण में महावीर उत्पन्न हुए थे। ज्ञातृक लोगों के प्रमुख राजा का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का विवाह वैशालिक राजकुमारी त्रिशला के साथ हुआ था। त्रिशला लिच्छवि राजकुमारी थी, और लिच्छवियों के प्रमुख राजा चेटक की बहन थी। इसी चेटक की कन्या का मगध के प्रसिद्ध सम्राट् बिम्बिसार के साथ विवाह हुआ था, जिससे कि अजातशत्रु उत्पन्न हुआ था। ज्ञातृक राजा सिद्धार्थ और लिच्छवि कुमारी त्रिशला के तीन सन्तानें हुई, एक कन्या और दो पुत्र। छोटे लड़के का नाम वर्धमान रखा गया। यही आगे चलकर महावीर बना।

बालक का जन्म-नाम वर्धमान था। वीर, महावीर, जिन, अर्हन्, भगवन् आदि भी उसके नाम के रूप में जैन-ग्रन्थों में आते है, पर ये उसके विशेषण मात्र हैं।

वर्धमान का बाल्य-जीवन राजकुमारों की तरह व्यतीत हुआ। वह एक समृद्ध

क्षत्रिय सरदार का पुत्र था। वज्जि राज्य-संघ में कोई वंशक्रमानुगत राजा नहीं होता था, वहां गणतन्त्र शासन प्रचलित था। परन्तु विविध क्षत्रिय घरानों के वड़े-वड़े कुलीन सरदारों का—जो कि 'राजा' कहलाते थे—स्वाभाविक रूप से इस गणराज्य में प्रभुत्व था। वर्धमान का पिता सिद्धार्थ भी इन्हीं 'राजाओं' में से एक था। वर्धमान को छोटी आयु से ही शिक्षा देनी प्रारम्भ की गई। शीघ्र ही वह सब विद्याओं और शिल्पों में निपुण हो गया। अपने पूर्वजन्म के संस्कारों की प्रबलता के कारण उसे विद्या-प्राप्ति में जरा भी परिश्रम नहीं करना पड़ा। वर्धमान की बाल्यावस्था के सम्बन्ध में बहुत-सी कथाएँ जैन-ग्रन्थों में लिखी हैं। ये कथाएं उसके अद्भुत पराक्रम, बुद्धि तथा बल को सूचित करती हैं। उचित आयु में वर्धमान का विवाह यशोदा नामक कुमारी के साथ किया गया। उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। आगे चलकर जमालि नामक क्षत्रिय के साथ इसका विवाह हुआ, जो कि वर्धमान महावीर के प्रधान शिष्यों में से एक था।

यद्यपि वर्धमान का प्रारम्भिक जीवन साधारण गृहस्थ के समान व्यतीत हुआ, पर उसकी प्रवृत्ति सांसारिक जीवन की ओर नहीं थी। वह 'प्रेय' मार्ग को छोड़कर 'श्रेय' मार्ग की ओर जाना चाहता था। जब वर्धमान तीस वर्ष की आयु के थे, तो उनके पिता की मृत्यु हो गई। ज्ञातृक लोगों का राजा अब सिद्धार्थ का ज्येष्ठ पुत्र नन्दिवर्धन बना। वर्धमान की प्रवृत्ति पहले ही वैराग्य की ओर थी। अब पिता की मृत्यु के अनन्तर उन्होंने सांसारिक जीवन को त्यागकर भिक्षु बनना निश्चित किया। नन्दिवर्धन तथा अन्य निकट सम्बन्धियों से अनुमति ले वर्धमान ने घर का परित्याग कर दिया। उसके परिवार के लोग पहले से ही पार्श्वनाथ द्वारा प्रतिपादित जैन धर्म के अनुयायी थे, अतः वर्धमान स्वाभाविक रूप से जैन-भिक्षु बना। जैन-भिक्षुओं की तरह उसने अपने केश-श्मश्रु का परित्याग कर तपस्या करनी आरम्भ कर दी। आचारांग-सूत्र में इस तपस्या का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। हम उसमें से कुछ बातें यहाँ उद्धृत करेंगे :—

वर्धमान ने भिक्षु बनते समय जो कपड़े पहने हुए थे, वे तेरह मास में बिलकुल जर्जरित हो गये, और फटकर स्वयं शरीर से उतर गये। उसके बाद उसने फिर वस्त्रों को धारण नहीं किया। वह छोटे बच्चे के समान नग्न ही विचरण करने लगा। जब वह समाधि लगाकर बैठा हुआ था, तो नानाविध जीव-जन्तु उसके शरीर पर चलने-फिरने लगे। उन्होंने उसे अनेक प्रकार से काट दिया, परन्तु वर्धमान ने इसकी ज़रा भी परवाह नहीं की। जब वह ध्यान-मग्न हुआ इधर-उधर परिभ्रमण करता था, तो लोग उसे चारों ओर से घेर लेते थे। वे उसको मारते थे, शोर मचाते थे, पर वर्धमान इसका जरा भी ख्याल नहीं करता था। जब कोई उससे पूछता था, तो वह जवाब नहीं देता था। जब लोग उसे प्रणाम करते थे, तब वह प्रणाम का भी उत्तर नहीं देता था। बहुत-से दुष्ट उसे डण्डों से पीटते थे, परन्तु उसे इसकी जरा भी परवाह नहीं थी। बारह वर्ष तक घोर तपस्या कर अन्त में तेरहवें वर्ष में वर्धमान महावीर को अपनी तपस्या का फल प्राप्त हुआ। उन्हें पूर्ण सत्य-ज्ञान की उपलब्धि हुई, और उन्होंने 'केवलिन्' पद प्राप्त कर लिया।

जिस समय मनुष्य संसार के संसर्ग से सर्वथा मुक्त हो जाता है, सुख-दुःख के अनुभव से वह ऊपर उठ जाता है, वह अपने को अन्य सब वस्तुओं से पृथक् 'केवलरूप'

समझने लगता है, तब यह 'केवलिन्' की दशा आती है। वर्धमान महावीर ने इस दशा को पहुँच कर बारह वर्ष के तपस्याकाल में जो सत्य-ज्ञान प्राप्त किया था, उसका प्रचार करना प्रारम्भ किया। महावीर की ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक पहुँच गई। अनेक लोग उनके शिष्य होने लगे। महावीर ने इस समय जिस सम्प्रदाय की स्थापना की, उसे 'निर्ग्रन्थ' नाम से कहा जाता है, जिसका अभिप्राय 'बन्धनों से मुक्त' लोगों के सम्प्रदाय से है। महावीर के शिष्य भिक्षु लोग 'निर्ग्रन्थ' या 'निगन्थ' कहलाते थे। इन्हें 'जैन' भी कहा जाता था, क्योंकि ये 'जिन' (वर्धमान को केवलिन्-पद प्राप्त करने के पश्चात् वीर, महावीर, जिन, अर्हत् आदि सम्मानसूचक शब्दों से कहा जाता था) के अनुयायी होते थे। निर्ग्रन्थ महावीर के विरोधी इन्हें प्रायः 'निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र' (निगन्थ नाटपुत्त) के नाम से पुकारते थे। ज्ञातपुत्र उन्हें इसलिए कहा जाता था, क्योंकि वे ज्ञातृक-जाति के क्षत्रिय थे।

वर्धमान महावीर ने किस प्रकार अपने धर्म का प्रचार किया, इस सम्बन्ध में भी अनेक बातें प्राचीन जैन-ग्रन्थों से ज्ञात होती हैं। महावीर का शिष्य गौतम इन्द्रभूति था। जैन-धर्म के इतिहास में इस गौतम इन्द्रभूति का भी बड़ा महत्त्व है। आगे चलकर इसने भी 'केवलिन्' पद को प्राप्त किया। महावीर का यह ढंग था, कि वह किसी एक स्थान को केन्द्र बनाकर अपना कार्य नहीं करते थे, अपितु अपनी शिष्य-मंडली के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते हुए अपने धर्म-सन्देश को जनता तक पहुँचाने का उद्योग करते थे। स्वाभाविक रूप से सबसे पूर्व उन्होंने अपनी जाति के लोगों—ज्ञातृक क्षत्रियों में ही अपनी शिक्षाओं का प्रचार किया। वे शीघ्र ही उनके अनुयायी हो गये। उसके बाद लिच्छवि तथा विदेह-राज्यों में प्रचार कर महावीर ने राजगृह (मगध की राजधानी) की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उस समय प्रसिद्ध सम्राट् श्रेणिक राज्य करता था। जैन-ग्रन्थों के अनुसार श्रेणिक महावीर के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुआ, और उसने अपनी सम्पूर्ण सेना के साथ महावीर का बड़े समारोह से स्वागत किया।

अपनी आयु के ७२वें वर्ष में महावीर स्वामी की मृत्यु हुई। मृत्यु के समय महावीर राजगृह के समीप पावा नामक नगर में विराजमान थे। यह स्थान इस समय भी जैन लोगों का बड़ा तीर्थ है। वर्तमान समय में इसका दूसरा नाम पोखरपुर है, और यह स्थान बिहार शरीफ स्टेशन से ६ मील की दूरी पर स्थित है।

(४) जैनों का धार्मिक साहित्य

जैन लोगों के धार्मिक साहित्य को हम प्रधानतया छः भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) द्वादश अंग, (२) द्वादश उपांग, (३) दस प्रकीर्ण, (४) षट् छेद-सूत्र, (५) चार मूल सूत्र, (६) विविध।

१. द्वादश अंग—(१) पहला अंग आयारंग सुत्त (आचारांग सूत्र) है। इसमें उन नियमों का वर्णन है, जिन्हें जैन-भिक्षुओं को अनुसरण करना चाहिए। जैन-भिक्षु को किस प्रकार तपस्या करनी चाहिए, किस प्रकार जीव-रक्षा के लिए तत्पर रहना चाहिए—इत्यादि विविध बातों का इनमें विशद रूप से उल्लेख है।

२. दूसरा अंग सूत्रकृदंग है। इसमें जैन-भिन्न मतों की समीक्षा की गई है, और जैन धर्म पर जो आक्षेप किये जा सकते हैं, उनका उत्थान कर उनका उत्तर दिया गया है, ताकि जैन भिक्षु अपने मत का भली-भाँति पक्ष पोषण कर सकें।

३. स्थानांग—इसमें जैन-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है।

४. समवायांग—इसमें भी जैन-धर्म के सिद्धान्तों का वर्णन है।

५. भगवती सूत्र—यह जैन-धर्म के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में से एक है। इसमें जैन-धर्म के सिद्धान्तों के अतिरिक्त स्वर्ग और नरक का भी विशद रूप से वर्णन किया गया है। जैन लोग स्वर्ग और नरक की कल्पना किस ढंग से करते हैं, नरक में मनुष्य को किस प्रकार भयंकर रूप से कष्ट उठाने पड़ते हैं, और स्वर्ग में क्या आनन्द है—इन सबका बहुत ही सुन्दर तथा आकर्षक वर्णन भगवती-सूत्र मे मिलता है। इसके अतिरिक्त महावीर तथा उसके समकालीन अन्य लोगों के सम्बन्ध में भी इसमें बहुत-सी महत्त्वपूर्ण गाथाएँ संकलित की गई हैं।

६. ज्ञान धर्म कथा—इसमें कथा, आख्यायिका, पहेली आदि द्वारा जैन-धर्म के सिद्धान्तों का उपदेश किया गया है।

७. उवासगदसाओ—इसमें दस समृद्ध व्यापारियों का वर्णन है, जिन्होंने जैन धर्म को स्वीकार कर मोक्ष-पद प्राप्त किया था।

८. अन्तःकृद्दशा—इसमें उन जैन भिक्षुओं का वर्णन है, जिन्होंने विविध प्रकार की तपस्याओं द्वारा अपने शरीर का अन्त कर दिया, और इस प्रकार मोक्ष-पद को प्राप्त किया।

९. अनुत्तरोपपातिक दशा—इसमें भी तपस्या द्वारा अपने शरीर का अन्त कर मोक्ष प्राप्त करने वाले जैन-मुनियों का वर्णन है।

१०. प्रश्न-व्याकरण—इसमें जैन धर्म की दस शिक्षाओं, दस निषेधों आदि का वर्णन है।

११. विपाकश्रुतम्—इस जन्म में किए गये अच्छे व बुरे कर्मों का मृत्यु के बाद किस प्रकार फल मिलता है, इस बात को इस अंग में कथाओं द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

१२. दृष्टिवाद—यह अंग इस समय उपलब्ध नहीं होता। जैन लोग दृष्टिवाद में चौदह 'पूर्वाः' का परिगणन करते हैं। ये ग्रन्थ हिन्दुओं के 'पुराणों' की तरह बहुत प्राचीन समय से प्रथम तीर्थंकर के समय से ही विकसित हो रहे थे। इन चौदह 'पूर्वाः' से मिलकर जैन लोगों का बारहवाँ अंग बनता था। ये 'पूर्वाः' महावीर स्वामी के बाद आठवें आचार्य 'स्थूल भद्र' तक ज्ञात थे। उसके बाद ये नष्ट हो गये।

२. **द्वादश उपांग**—प्रत्येक अंग का एक-एक उपांग है। इनके नाम निम्नलिखित हैं:—(१) औपपातिक, (२) राजप्रश्नीय, (३) जीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (६) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (७) सूर्यप्रज्ञप्ति, (८) निरयावली, (९) कल्पावतंसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूलिका, (१२) वृष्णिदशाः।

३. **दस प्रकीर्ण**—इनमें जैन धर्म सम्बन्धी विविध विषयों का वर्णन है। इनके नाम निम्नलिखित हैं—(१) चतुःशरण, (२) संस्तारक, (३) आतुरप्रत्याख्यानम्

भक्तापरिज्ञा, (४) तन्दुलवैचारिका, (५) चन्द्रवैध्यक, (६) गणिविद्या, (७) देवेन्द्र-स्तव, (८) वीरस्तव, (९) महाप्रख्यान।

४. षट् छेदसूत्र—इन सूत्रों में जैन-भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए विविध नियमों का वर्णन कर उन्हें दृष्टांतों द्वारा प्रदर्शित किया गया है। छेदसूत्रों के नाम निम्नलिखित हैं—(१) व्यवसाय सूत्र, (२) बृहत्कल्प सूत्र, (३) दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, (४) निशीथ सूत्र, (५) महानिशीथ सूत्र, (६) जितकल्प सूत्र।

५. चार मूलसूत्र—इनके नाम निम्नलिखित हैं :—(१) उत्तराध्ययन सूत्र, (२) दशवैकालिक सूत्र, (३) आवश्यक सूत्र, (४) ओकनिर्यूति सूत्र।

६. विविध—इस वर्ग में बहुत से ग्रन्थ अन्तर्गत हैं, परन्तु उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण नन्दिसूत्र और अनुयोगद्वार हैं। इनमें बहुत प्रकार के विषयों का समावेश है। जैन-शिक्षुओं को जिन भी विषयों का परिज्ञान था, वे प्रायः सभी इनमें आ गये हैं। ये विश्वकोश के ढंग के ग्रंथ हैं। इन धर्म-ग्रन्थों पर बहुत-सी टीकाएँ भी हैं। सबसे पुरानी टीकाएँ निर्युक्ति कहलाती हैं। इनका समय भद्रबाहु श्रुतिकेवलि का कहा जाता है। जैन टीकाकारों में सबसे प्रसिद्ध हरिभद्र स्वामी हुए हैं। इन्होंने बहुत-से धर्म-ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त शान्ति सूरी, देवेन्द्रगणी और अभयदेव नाम के टीकाकारों ने भी बड़े महत्त्वपूर्ण भाष्य और टीकायें लिखी हैं। इन टीकाओं का भी जैन-धर्म में बहुत महत्त्व है। प्रायः सभी जैन धर्म-ग्रंथ प्राकृत-भाषा में हैं। जैन-प्राकृत आर्ष या अर्धमागधी नाम से भी प्रसिद्ध है।

जैनों के जिस धार्मिक साहित्य का हमने वर्णन किया है, वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय का है। जैनों में दो मुख्य सम्प्रदाय हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन सम्प्रदायों का भेद किस प्रकार हुआ, इसपर प्रकाश डालने की यहाँ आवश्यकता नहीं। दिगम्बर सम्प्रदाय के जैन इस धार्मिक साहित्य को नहीं मानते। उनके धार्मिक ग्रंथ अभी तक बहुत कम संख्या में मुद्रित हुए हैं। इसीलिए उनका परिचय दे सकना सम्भव नहीं है।

(५) जैन-धर्म की शिक्षाएँ

वर्धमान महावीर ने स्वयं जिस धर्म का उपदेश किया था, उसका निश्चित रूप से पता लगा सकना वर्तमान समय में बहुत कठिन है। कारण यह है कि आजकल जो जैन साहित्य उपलब्ध होता है, वह महावीर के समय से बहुत पीछे संकलित हुआ था। महावीर की मृत्यु के कई सदियों बाद वल्लभि की महासभा में इस साहित्य ने अपना वर्तमान रूप प्राप्त किया था। इस बीच में महावीर की वास्तविक शिक्षाओं में निरन्तर परिवर्तन आता गया। दार्शनिक विचार निरन्तर विकसित होते रहे, और जैन-धर्म के प्रवर्तक की वास्तविक शिक्षाएँ क्या थीं, यह निश्चित करना भी सुगम नहीं रहा। फिर भी हम आवश्यक समझते हैं, कि जैन-धर्म के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों को यहाँ संक्षेप में उपस्थित करें, ताकि बौद्ध-काल की धार्मिक सुधारणा को भली-भांति समझने में सहायता मिल सके।

जैन-धर्म के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष

प्राप्ति के लिए मनुष्य क्या प्रयत्न करे, इसके लिए साधारण गृहस्थों और भिक्षुओं (मुनियों) में भेद किया गया है। जिन नियमों का पालन एक मुनि कर सकता है, साधारण गृहस्थ (श्रावक) उनका पालन नहीं कर सकेगा। इसीलिए जीवन की इन दोनों स्थितियों में मुमुक्षु के लिए जो भिन्न-भिन्न धर्म हैं, उनका पृथक् रूप से प्रतिपादन करना आवश्यक है।

पांच अणुव्रत—पहले सामान्य गृहस्थ (श्रावक) के धर्म को लीजिए। गृहस्थ के लिए पांच अणुव्रतों का पालन करना आवश्यक है। गृहस्थों के लिए यह संभव नहीं, कि वे समस्त पापों का त्याग कर सकें। संसार के कृत्यों में फंसे रहने से उन्हें कुछ-न-कुछ अनुचित कृत्य करने हा पड़ेंगे, अतः उनके लिए अणुव्रतों का विधान किया गया है। अणुव्रत निम्नलिखित हैं :—

(१) अहिंसाणुव्रत—जैन-धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है, कि वह अहिंसाव्रत का पालन करे। मन, वचन और शरीर से किसी भी प्रकार की हिंसा करना अत्यन्त अनुचित है। परन्तु सांसारिक मनुष्यों के लिए पूर्ण अहिंसाव्रत धारण करना कठिन है। इसलिए श्रावकों के लिए 'स्थूल अहिंसा' का विधान किया गया है। 'स्थूल अहिंसा' का अभिप्राय यह है, कि निरपराधियों की हिंसा न की जाए। जैन-ग्रन्थों के अनुसार अनेक राजा लोग अहिंसाणुव्रत का पालन करते हुए भी अपराधियों को दंड देते रहे हैं, और अहिंसक जन्तुओं का घात करते रहे हैं, अतः इस व्रत को स्थूल अर्थों में ही लेना चाहिए।

(२) सत्याणुव्रत—मनुष्यों में असत्य भाषण करने की प्रवृत्ति अनेक कारणों से होती है। द्वेष, स्नेह तथा मोह का उद्वेग इसमें प्रधान कारण है। इन सब प्रवृत्तियों को दबाकर सर्वदा सत्य बोलना सत्याणुव्रत कहाता है।

(३) अचौर्याणुव्रत या अस्तेय—किसी भी प्रकार से दूसरों की सम्पत्ति चोरी न करना, और गिरी हुई, पड़ी हुई, व रक्खी हुई वस्तु को स्वयं ग्रहण न कर उसके स्वामी को दे देना अचौर्याणुव्रत कहाता है।

(४) ब्रह्मचर्याणुव्रत—मन, वचन तथा कर्म द्वारा पर-स्त्री का समागम न कर अपनी पत्नी में ही सन्तोष तथा स्त्री के लिये मन, वचन व कर्म द्वारा पर-पुरुष का समागम न कर अपने पति में ही सन्तोष रखना ब्रह्मचर्याणुव्रत कहाता है।

(५) परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत—आवश्यकता के बिना बहुत-से धन-धान्य को संग्रह न करना 'परिग्रह-परिमाण-अणुव्रत' कहलाता है। गृहस्थों के लिए यह तो आवश्यक है, कि वे धन-उपार्जन करें, पर उसी में लिप्त हो जाना और अर्थ-संग्रह के पीछे भागना पाप है।

तीन गुणव्रत—इन अणुव्रतों का पालन तो गृहस्थों को सदा करना ही चाहिये। पर इनके अतिरिक्त समय-समय पर अधिक कठोर व्रतों का ग्रहण करना भी उपयोगी है। सामान्य सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थों को चाहिए कि वे कभी-कभी अधिक कठोर व्रतों की भी दीक्षा लें। ये कठोर व्रत जैन-धर्म-ग्रन्थों में 'गुणव्रत' के नाम से कहे गये हैं। इनका संक्षिप्त रूप से प्रदर्शन करना उपयोगी है—

(१) दिग्विरति—गृहस्थ को चाहिए कि कभी-कभी यह व्रत ले ले, कि मैं

इस दिशा में इससे अधिक दूर नहीं जाऊँगा। यह व्रत लेकर निश्चित किये गये प्रदेश में ही निवास करे, कभी उस परिमाण का उल्लंघन न करे।

(२) अनर्थ दण्ड विरति—मनुष्य बहुत-से ऐसे कार्य करता है, जिनसे उस का कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए।

(३) उपभोग-परिभोग परिमाण—गृहस्थी को यह व्रत ले लेना चाहिए कि मैं परिमाण में इतना भोजन करूँगा, भोजन में इतने से अधिक वस्तुएँ नहीं खाऊँगा, इससे अधिक भोग नहीं करूँगा—इत्यादि। इस प्रकार के व्रत लेने से मनुष्य अपनी इन्द्रियों का संयम सुगमता से कर सकता है।

इन तीन गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रत हैं, जिनका पालन भी गृहस्थों को करना चाहिए।

(१) देशविरति—एक देश व क्षेत्र निश्चित कर लेना, जिससे आगे गृहस्थ न जाए, और न अपना कोई व्यवहार करे।

(२) सामयिक व्रत—निश्चित समय पर (यह निश्चित समय जैन-धर्म के अनुसार प्रातः, सायं और मध्याह्न, ये तीन संध्याकाल हैं) सब सांसारिक कृत्यों से विरत होकर, सब राग-द्वेष छोड़ साम्य भाव धारणकर शुद्ध आत्म-स्वरूप में लीन होने की क्रिया को सामयिक व्रत कहते हैं।

(३) पौषधोपवास-व्रत—प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी के दिन सांसारिक कार्यों का परित्याग कर 'मुनियों' के समान जीवन व्यतीत करने के प्रयत्न को 'पौषधोपवास-व्रत' कहते हैं। इस दिन गृहस्थ को सब प्रकार का भोजन त्यागकर धर्मकथा श्रवण करने में ही अपना समय व्यतीत करना चाहिए।

(४) अतिथि-संविभाग-व्रत—विद्वान् अतिथियों का और विशेषतया मुनि लोगों का सम्मानपूर्वक स्वागत करना अतिथि-संविभाग-व्रत कहलाता है।

इन गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों का पालन गृहस्थों के लिए बहुत लाभदायक है। वे इनसे अपना जीवन उन्नत कर सकते हैं, और 'मुनि' बनने के लिए उचित तैयारी कर सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य 'मुनि' नहीं बन सकता। संसार का व्यवहार चलाने के लिए गृहस्थ धर्म का पालन करना भी आवश्यक है। अतः जैन-धर्म के अनुसार गृहस्थ-जीवन को व्यतीत करना बुरी बात नहीं है। पर गृहस्थ होते हुए भी मनुष्य को अपना जीवन इस ढंग से व्यतीत करना चाहिए, कि पाप में लिप्त न हो और मोक्ष साधन में तत्पर रहे।

पांच महाव्रत—जैन मुनियों के लिए आवश्यक है, कि वे पांच महाव्रतों का पूर्णरूप से पालन करें। सर्वसाधारण गृहस्थ लोगों के लिए यह सम्भव नहीं है कि वे पापों से सर्वथा मुक्त हो सकें, इस कारण उनके लिए अणुव्रतों का विधान किया गया है। पर मुनि लोगों के लिए, जो कि मोक्ष-पद को प्राप्त करने के लिए ही संसार त्यागकर साधना में तत्पर हुए हैं, पापों का सर्वथा परित्याग अनिवार्य है। इसलिए उन्हें निम्नलिखित पांच महाव्रतों का पालन करना चाहिए।

(१) अहिंसा महाव्रत—जैन मुनि के लिए अहिंसाव्रत बहुत महत्त्व रखता है। किसी भी प्रकार के प्राणी की, जानबूझकर या बिना जाने-बूझे हिंसा करना महा-पाप है। अहिंसाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करने के लिए निम्नलिखित व्रत

उपयोगी माने जाते हैं। १. ईर्यासमिति–चलते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कहीं हिंसा न हो जाय। इसके लिए उन्हीं स्थानों पर चलना चाहिए, जहां भली भांति अच्छे मार्ग बने हुए हों, क्योंकि वहां जीव-जन्तुओं के पैर से कुचले जाने की सम्भावना बहुत कम होगी। २. भाषा-समिति–भाषण करते हुए सदा मधुर तथा प्रिय भाषा बोलनी चाहिए। कठोर वाणी से वाचिक हिंसा होती है, और साथ ही इस बात की भी सम्भावना रहती है कि शाब्दिक लड़ाई प्रारम्भ न हो जाए। ३. एषणा-समिति–भिक्षा ग्रहण करते हुए मुनि को यह ध्यान में रखना चाहिए कि भोजन में किसी प्राणी की हिंसा तो नहीं की गई है, अथवा भोजन में किसी प्रकार के कृमि तो नहीं हैं। ४. आदान-क्षेपणा-समिति–मुनि को अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए जिन वस्तुओं का अपने पास रखना आवश्यक है, उनमें यह निरन्तर देखते रहना चाहिए कि कहीं कीड़े तो नहीं हैं। ५. व्युत्सर्ग-समिति–पेशाब व मल त्याग करते समय भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिस स्थान पर वे यह कार्य कर रहे हैं, वहां कोई जीव-जन्तु तो नहीं है।

जैन-मुनि के लिए अहिंसा का व्रत पालन करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रमाद व अज्ञान से तुच्छ से तुच्छ जीव का वध भी उसके लिए पाप का कारण बनता है। इसीलिए इस व्रत का पालन करने के लिए इतनी सावधानी से कार्य करने का उपदेश दिया गया है।

(२) असत्य-त्याग-महाव्रत—सत्य परन्तु प्रिय भाषण करना 'असत्य-त्याग महाव्रत' कहलाता है। यदि कोई बात सत्य भी हो, परन्तु कटु हो, तो उसे नहीं बोलना चाहिए। इस व्रत के पालन में पांच भावनाएँ बहुत उपयोगी हैं—१. अनुविम-भाषी-भली-भांति विचार किये बिना भाषण नहीं करना चाहिए। २. कोहं परिजानाति–जब क्रोध व अहंकार का वेग हो, तो भाषण नहीं करना चाहिए। ३. लोभ परिजानाति—लोभ का भाव जब प्रबल हो, तो भाषण नहीं करना चाहिए। ४. भयं परिजानाति–डर के कारण असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। ५. हासं परिजानाति–हंसी में भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिए।

सत्य का पालन करने के लिए सम्यक् प्रकार से विचार करके भाषण करना, तथा लोभ, मोह, भय, हास तथा अहंकार से असत्य भाषण न करना अत्यन्त आवश्यक है।

(३) अस्तेय महाव्रत—किसी दूसरे की किसी भी वस्तु को उसकी अनुमति के बिना ग्रहण न करना तथा जो वस्तु अपने को नहीं दी गई है, उसको ग्रहण न करना तथा ग्रहण करने की इच्छा भी न करना अस्तेय महाव्रत कहाता है।

इस महाव्रत का पालन करने के लिए मुनि लोगों को निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए। १. जैन मुनि को किसी घर में तब तक प्रवेश नहीं करना चाहिए, जब तक कि गृहपति की अनुमति अन्दर आने के लिए न ले ली जाए। २. भिक्षा में जो कुछ भी भोजन प्राप्त हो, उसे तब तक ग्रहण न करे, जब तक कि गुरु को दिखलाकर उससे अनुमति न ले ली जाए। ३. जब मुनि को किसी घर में निवास करने की आवश्यकता हो, तो पहले गृहपति से अनुमति प्राप्त कर ले और यह निश्चित रूप से पूछ ले कि घर के कितने हिस्से में और कितने समय तक वह रह

सकता है। ४. गृहपति की अनुमति के बिना घर में विद्यमान किसी आसन, शय्या व अन्य वस्तु का उपयोग न करे। ५. जब कोई मुनि किसी घर में निवास कर रहा हो, तो दूसरा मुनि भी उस घर में गृहपति की अनुमति के बिना निवास न कर सके।

(४) ब्रह्मचर्य महाव्रत—जैन मुनियों के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत का भी महत्त्व है। अपने विपरीत लिंग के व्यक्ति से किसी प्रकार का संसर्ग रखना मुनियों के लिए निषिद्ध है। ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने के लिए निम्नलिखित भावनाओं का विधान किया गया है। १. किसी स्त्री से वार्तालाप न किया जाए। २. किसी स्त्री की तरफ दृष्टि-पात भी न किया जाए। ३. गृहस्थ-जीवन में स्त्री-संसर्ग से जो सुख प्राप्त होता था, उसका मन में भी चिन्तन न किया जाए। ४. अधिक भोजन न किया जाए। मसाले, तिक्त पदार्थ आदि ब्रह्मचर्य-नाशक भोजनों का परित्याग किया जाए। जिस घर में कोई स्त्री रहती हो, वहां निवास न किया जाए।

साधुनियों के लिए नियम इनसे सर्वथा विपरीत हैं। किसी पुरुष के साथ बात-चीत करना, पुरुष का अवलोकन करना और पुरुष का चिन्तन करना—उनके लिए निषिद्ध है।

(५) अपरिग्रह महाव्रत—किसी भी वस्तु, रस व व्यक्ति के साथ अपना सम्बन्ध न रखना तथा सबसे निर्लिप्त रहकर जीवन व्यतीत करना 'अपरिग्रह-व्रत' का पालन कहलाता है। जैन मुनियों के लिए 'अपरिग्रह-व्रत' का अभिप्राय बहुत विस्तृत तथा गम्भीर है। सम्पत्ति का संचय न करना तो साधारण बात है, पर किसी भी वस्तु के साथ किसी भी प्रकार का ममत्व न रखना जैन-मुनियों के लिए आवश्यक है। मनुष्य इन्द्रियों द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द का जो अनुभव प्राप्त करता है—उस सबसे विरत हो जाना 'अपरिग्रह-व्रत' के पालन के लिए परमावश्यक है। इस व्रत के सम्यक् प्रकार पालन से मनुष्य अपने जीवन के चरम उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करने के योग्य बनता है। सब विषयों तथा वस्तुओं से निर्लिप्त तथा विरक्त होकर वह इस जीवन में ही सिद्ध अथवा 'केवली' बन जाता है।

साधु का आदर्श—जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर 'साधु' का आदर्श वर्णित है। हम कुछ श्लोकों का अनुवाद यहां प्रस्तुत करते हैं:—

"जिन वस्तुओं के साथ तुम्हारा पहले स्नेह रहा हो, उनसे स्नेह तोड़ दो। अब किसी नई वस्तु से स्नेह न करो। जो तुमसे स्नेह करते हैं, उनसे भी स्नेह न करो। तभी तुम पाप और घृणा से मुक्त हो सकोगे।

"साधु को चाहिए कि आत्मा के सब बन्धनों को काट दे। किसी वस्तु से घृणा न करे। किसी से स्नेह न करे। किसी प्रकार की मौज में अपने को न लगाए।"

"जीवन के आनन्दों पर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है। निर्बल लोग उन्हें सुगमता से नहीं छोड़ सकते। पर जिस प्रकार व्यापारी लोग दुर्गम समुद्र के पार उतर जाते हैं, उसी प्रकार साधुजन 'संसार' के पार उतर जाते हैं।"

"स्थावर व जंगम—किसी भी प्राणी को मन, वचन व कर्म से किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए।"

"साधु को केवल अपनी जीवन यात्रा के निर्वाह के लिए ही भोजन की भिक्षा

माँगनी चाहिए। उसका भोजन सुस्वादु नहीं होना चाहिए।"

"यदि सारी पृथिवी भी किसी एक आदमी की हो जाए, तो भी उसे सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता। संतोष प्राप्त कर सकना तो बहुत कठिन है।"

"जितना तुम प्राप्त करोगे, उतनी ही तुम्हारी कामना बढ़ती जायगी। तुम्हारी सम्पत्ति के साथ-साथ तुम्हारी आकांक्षाएँ भी बढ़ती जाएँगी। तुम्हारी आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए दो 'माश' भी काफी हैं, पर सन्तोष तो तुम्हारा (यदि तुम सम्पत्ति को बढ़ाते जाओ तो) एक करोड़ से भी नहीं हो सकता।"

(६) महात्मा बुद्ध

उत्तरी विहार में एक जनपद था, जिसका नाम शाक्यगण था। इसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। वहां के गणराजा का नाम शुद्धोदन था। इनकी पत्नी का नाम था माया। इन्हीं के घर कुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ, जो आगे चलकर महात्मा बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुए। सिद्धार्थ का दूसरा नाम गौतम था, यह नाम सम्भवतः गौतम गोत्र के कारण था। जन्म के एक सप्ताह बाद ही कुमार सिद्धार्थ की माता का देहान्त हो गया। माया की बहिन महाप्रजावती थी। सिद्धार्थ का उसी ने पालन किया।

कपिलवस्तु का शाक्यगण वज्जिसंघ के समान शक्तिशाली नहीं था। पर क्षत्रियों के लिए उचित वीरता की उसमें कमी नहीं थी। शाक्य कुमारों की शिक्षा में उस समय शारीरिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। सिद्धार्थ को भी इसी प्रकार की शिक्षा दी गई। तीरन्दाजी, घुड़सवारी और मल्लविद्या में उसे बहुत प्रवीण बनाया गया। उस युग में पड़ौस के राजा गणराज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने में लगे हुए थे। कोशल राज्य के कई हमले शाक्यों पर हो चुके थे। अतः यह स्वाभाविक था, कि शाक्य-कुमारों को वीर और पराक्रमी बनने की शिक्षा दी जाए। सिद्धार्थ का बाल्यकाल बड़े सुख और ऐश्वर्य से व्यतीत हुआ। सरदी, गरमी और वर्षा इन ऋतुओं में उसके निवास के लिए अलग-अलग महल बने हुए थे। इनमें ऋतु के अनुसार ऐश्वर्य तथा भोग-विलास के सब सामान एकत्र किए गये थे। सिद्धार्थ एक सम्पन्न शाक्य राजा का पुत्र था। उसके पिता की इच्छा थी, कि सिद्धार्थ भी शाक्यगण में खूब प्रतिष्ठित तथा उन्नत स्थान प्राप्त करे।

युवा होने पर सिद्धार्थ का विवाह यशोधरा नाम की कुमारी के साथ किया गया। विवाह के अनन्तर सिद्धार्थ का जीवन बड़े आनन्द के साथ व्यतीत होने लगा। सुख-ऐश्वर्य की उन्हें कमी ही क्या थी? कुछ समय बाद उन्हें एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम राहुल रखा गया।

एक बार की बात है कि कुमार सिद्धार्थ कपिलवस्तु का अवलोकन करने के लिए निकले। उस दिन नगर को खूब सजाया गया था। कुमार सिद्धार्थ नगर की शोभा को देखता हुआ चला जा रहा था, कि उसका ध्यान सड़क के एक ओर लेटकर अन्तिम श्वास लेते हुए एक बीमार की ओर गया। सारथि ने पूछने पर बताया कि यह एक बीमार है, जो कष्ट के कारण भूमि पर पड़ा हुआ तड़प रहा है, और थोड़ी देर में इसका देहान्त हो जायगा। ऐसी घटना सभी आदमी देखते हैं, पर सिद्धार्थ पर

इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके बाद उसे क्रमशः लाठी टेककर जाता हुआ एक बूढ़ा, श्मशान की ओर जाती हुई एक अरथी और एक शान्तमुख संन्यासी दिखाई दिये। पहले तीनों दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का दबा हुआ वैराग्य एकदम प्रबल हो गया। उसे भोग-विलासमय जीवन अत्यन्त तुच्छ और क्षणिक जान पड़ने लगा। संन्यासी को देखकर उसे उमंग आई, कि मैं भी इसी प्रकार संसार से विरक्त हो जाऊँ।

सिद्धार्थ को वैरागी-सा होता देखकर शुद्धोदन को बड़ी चिन्ता हुई। उसने संसार के तीव्र विलासों द्वारा सिद्धार्थ का वैराग्य दबाने का प्रयत्न किया। एक रात सिद्धार्थ को सुन्दरी वेश्याओं के बीच में अकेला छोड़ दिया गया। नवयुवती वेश्याएं नाना-प्रकार के हाव-भाव, नाच व गान द्वारा उसे रिझाने का प्रयत्न करने लगी। सिद्धार्थ उदासीन भाव से स्थिर दृष्टि होकर वहां बैठा रहा। कुछ समय में उसे नींद आ गई। रंग न जमने के कारण वेश्याओं को भी नींद सताने लगी। वे सब वहीं सो गई। जब आधी रात को सिद्धार्थ की नींद अचानक टूटी, तब उसने देखा कि कुछ समय पूर्व जो नवयुवतियाँ सचमुच सौन्दर्य का अवतार-सी प्रतीत हो रही थीं, उनकी ओर अब आंख उठाने से भी ग्लानि होती है। किसी के बाल अस्तव्यस्त हैं, कोई किसी भयंकर स्वप्न को देखने के कारण मुख को विकृत कर रही है। किसी के शरीर से वस्त्र उतर गया है। थोड़ी देर तक इस दृश्य को देखकर सिद्धार्थ वहाँ से अपने शयनागार में चला गया। इस दृश्य ने सिद्धार्थ के कोमल हृदय को वैराग्य की तरफ और भी प्रेरित कर दिया। उसने संसार का परित्याग कर संन्यास ले लेने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

एक दिन अंधेरी रात को कुमार सिद्धार्थ घर से निकल गया। शयनागार से बाहर आकर जब वह सदा के लिए अपने छोटे से परिवार से विदा होने लगा, तो उसे अपने प्रिय अबोध बालक राहुल और प्रियतमा यशोधरा की स्मृति सताने लगी। वह पुनः अपने शयनागार में प्रविष्ट हुआ। यशोधरा सुख की नींद सो रही थी। राहुल माता की छाती से सटा सो रहा था। कुछ देर तक सिद्धार्थ इस अनुपम दृश्य को एकटक देखता रहा। उसके हृदय पर दुर्बलता प्रभाव करने लगी। पर अगले ही क्षण अपने हृदय के निर्बल भावों को एक साथ परे ढकेलकर वह बाहर चला गया। गृह-त्याग के समय उसकी आयु २९ वर्ष की थी।

प्रातःकाल हो जाने पर सिद्धार्थ ने अपने घोड़े को भी छोड़ दिया। घोड़ा स्वयं अपने घर लौट आया। सिद्धार्थ ने अपने राजसी कपड़े एक साधारण किसान के साथ बदल लिये थे। प्रातःकाल शुद्धोदन ने सिद्धार्थ को ढूंढने के लिये अपने अनुचरों को भेजा, पर साधारण किसान के वस्त्र पहने हुए कुमार को वे नहीं पहचान सके। सिद्धार्थ निश्चिन्त होकर अपने मार्ग पर अग्रसर हुआ।

इसके बाद लगभग सात साल तक सिद्धार्थ ज्ञान और सत्य की खोज में इधर-उधर भटकता रहा। शुरू-शुरू में उसने दो तपस्वियों को अपना गुरु धारण किया। इन्होंने उसे मोक्ष प्राप्ति के लिए खूब तपस्या करवाई। शरीर की सब क्रियाओं को बन्द कर घोर तपस्या करना ही इनकी दृष्टि में मोक्ष का उपाय था। सिद्धार्थ ने घोर तपस्याएँ कीं। शरीर को तरह-तरह से कष्ट दिये। पर इन साधनों से उसे आत्मिक शान्ति नहीं मिली। उसने यह मार्ग छोड़ दिया।

मगध का भ्रमण करता हुआ सिद्धार्थ उरुवेला पहुँचा। यहाँ के मनोहर प्राकृतिक दृश्यों ने उसके हृदय पर बड़ा प्रभाव डाला। इस प्रदेश के निस्तब्ध और सुन्दर जंगलों और मधुर शब्द करने वाले स्वच्छ जल के झरनों को देखकर उसका चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। उरुवेला के इन जंगलों में सिद्धार्थ ने फिर तपस्या प्रारम्भ की। यहाँ पाँच अन्य तपस्वियों से भी उसकी भेंट हुई। ये भी कठोर तप द्वारा मोक्ष प्राप्ति में विश्वास रखते थे। सिद्धार्थ लगातार पद्मासन लगाकर बैठा रहता। भोजन तथा जल का उसने सर्वथा परित्याग कर दिया। इस कठोर तपस्या से उसका शरीर निर्जीव-सा हो गया। पर फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। उसने अनुभव किया कि उसकी आत्मा वहीं पर हैं, जहाँ पहले थी। इतनी घोर तपस्या के बाद भी उसे आत्मिक उन्नति के कोई चिह्न दिखाई नहीं दिये। उसे विश्वास हो गया, कि शरीर को जान-बूझकर कष्ट देने से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। सिद्धार्थ ने तपस्या के मार्ग का परित्याग कर फिर से अन्न ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। उसके साथी तपस्वियों ने समझा, कि सिद्धार्थ मार्ग-भ्रष्ट हो गया है, और अपने उद्देश्य से च्युत हो गया है। उन्होंने उसका साथ छोड़ दिया और अब सिद्धार्थ फिर अकेला ही रह गया। तपस्या के मार्ग से निराश होकर सिद्धार्थ उस स्थान पर पहुँचा, जहाँ वर्तमान समय में बोधगया है। वहाँ एक विशाल पीपल का वृक्ष था। थक कर सिद्धार्थ उसकी छाया में बैठ गया। इतने दिनों तक वह सत्य को ढूंढ़ने के लिए अनेक मार्गों का ग्रहण कर चुका था। अब उसने अपने अनुभवों पर विचार करना प्रारम्भ किया। सात दिन और सात रात वह एक ही जगह पर ध्यानमग्न दशा में बैठा रहा। अन्त में उसे बोध हुआ। उसे अपने हृदय में एक प्रकार का प्रकाश-सा जान पड़ा। उसकी आत्मा में एक दिव्य ज्योति का आविर्भाव हुआ। उसकी साधना सफल हुई। वह अज्ञान से ज्ञान की दशा को प्राप्त हो गया। इस बोध या सत्य ज्ञान के कारण वह सिद्धार्थ से 'बुद्ध' बन गया। बौद्धों की दृष्टि में इस पीपल के वृक्ष का बड़ा महत्त्व है। यही बोधिवृक्ष कहलाता है। इसी के कारण समीपवर्ती नगरी गया भी 'बोधगया' कहाती है। इस वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न दशा में जो बोध कुमार सिद्धार्थ को हुआ था, वही 'बौद्ध-धर्म' है। महात्मा बुद्ध उसे आर्यमार्ग व मध्यमार्ग कहते थे। इसके बाद सिद्धार्थ व बुद्ध ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी आर्यमार्ग का प्रचार करने में लगा दिया।

बौद्ध-साहित्य में सिद्धार्थ की इस ज्ञान-प्राप्ति की दशा का बड़ा विस्तृत और अतिरंजित वर्णन किया गया है। इसके अनुसार ज्ञान-प्राप्ति के अवसर पर मार (कामदेव) आदि राक्षसों ने अपनी सेना सहित सिद्धार्थ पर चढ़ाई की। उसके सामने नाना प्रकार के प्रलोभन व कंपा देने वाले भय उपस्थित किये गये। पर सिद्धार्थ ने इन सब पर विजय पाई। सम्भवतः, ये वर्णन महात्मा बुद्ध के हृदय के अच्छे-बुरे भावों के संघर्ष को चित्रित करने के लिए किये गये थे। बुद्ध ने अपने हृदय में विद्यमान बुरे भावों पर विजय प्राप्त की, और सत्य ज्ञान द्वारा धर्म के आर्य मार्ग का ग्रहण किया।

महात्मा बुद्ध को जो बोध हुआ था, उसके अनुसार मनुष्यमात्र का कल्याण करना और सब प्राणियों का हित सम्पादन करना उनका परम लक्ष्य था। इसीलिए बुद्ध होकर वे शान्त होकर नहीं नैठ गये। उन्होंने सब जगह घूम-घूमकर अपना

सन्देश जनता तक पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया।

बुद्ध का प्रचार-कार्य—गया से महात्मा बुद्ध काशी की ओर चले। काशी के समीप, जहाँ आजकल सारनाथ है, उन्हें वे पाँचों तपस्वी मिले, जिनसे उनकी उरुवेला में भेंट हुई थी। जब इन तपस्वियों ने बुद्ध को दूर से आते देखा, तब उन्होंने सोचा, यह वही सिद्धार्थ है, जिसने अपनी तपस्या बीच में ही भंग कर दी थी। वह अपने प्रयत्न में असफल हो निराश होकर फिर यहाँ आ रहा है। हम उसका स्वागत व सम्मान नहीं करेंगे। परन्तु जब महात्मा बुद्ध और समीप आये. तो उनके चेहरे पर एक अनुपम ज्योति देखकर ये तपस्वी आश्चर्य में आ गये, और उन्होंने खड़े होकर उनका स्वागत किया। बुद्ध ने उन्हें उपदेश दिया। गया में बोधि वृक्ष के नीचे ध्यान मग्न होकर जो सत्यज्ञान उन्होंने प्राप्त किया था, उसका सबसे पहले उपदेश इन तपस्वियों को ही दिया गया। ये पाँचों बुद्ध के शिष्य हो गये। बौद्धधर्म में सारनाथ के इस उपदेश का बहुत महत्त्व है। इसी के कारण बौद्ध-संसार में बोध गया के बाद सारनाथ का तीर्थस्थान के रूप में सबसे अधिक माहात्म्य है।

सारनाथ से बुद्ध उरुवेला गये। यह स्थान उस समय याज्ञिक कर्मकाण्ड में व्यस्त ब्राह्मण पुरोहितों का गढ़ था। वहाँ एक हजार ब्राह्मण इस प्रकार के रहते थे, जो हर समय अग्निकुण्ड में अग्नि को प्रदीप्त रखकर वेदमन्त्रों द्वारा आहुतियां देने में व्यस्त रहते थे। बुद्ध के उपदेशों से वे उनके अनुयायी हो गये। कश्यप इनका नेता था। आगे चलकर वह बुद्ध के प्रधान शिष्यों में गिना जाने लगा।

कश्यप के बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने के कारण बुद्ध की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। उरुवेला से वह अपने शिष्यों के साथ राजगृह गये। उन्होंने नगर के बाहर एक उपवन में डेरा लगाया। उन दिनों मगध के राजसिंहासन पर श्रेणिय बिम्बिसार विराजमान थे। उन्होंने बहुत-से अनुचरों के साथ बुद्ध के दर्शन किए, और उनके उपदेशों का श्रवण किया। राजगृह में बुद्ध को दो ऐसे शिष्य प्राप्त हुए, जो आगे चलकर बौद्ध धर्म के बड़े स्तम्भ साबित हुए। इनके नाम सारिपुत्त और मोग्गलान थे। ये दोनों प्रतिभाशाली ब्राह्मण कुमार एक दूसरे के अभिन्न मित्र थे, और सदा एक साथ रहते थे। एक बार जब वे मार्ग पर बैठे हुए किसी विषय की चर्चा कर रहे थे, तो एक बौद्ध-भिक्षु भिक्षापात्र हाथ में लिये उस रास्ते से गुजरा। इन ब्राह्मण कुमारों की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसकी चाल, वस्त्र, मुखमुद्रा और शान्त तथा वैराग्यपूर्ण दृष्टि से ये दोनों इतने प्रभावित हुए कि उसके सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो उठे। जब वह बौद्ध-भिक्षु भिक्षाकार्य समाप्त कर वापस लौट रहा था, तो ये उसके साथ महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिये गए। इनको देखते ही बुद्ध समझ गये, कि ये दोनों ब्राह्मण कुमार उनके प्रधान शिष्य बनने योग्य हैं। बुद्ध का उपदेश सुनकर सारिपुत्त और मोग्गलान भी भिक्षु-वर्ग में सम्मिलित हो गये। बाद में ये दोनों बड़े प्रसिद्ध हुए, और बौद्ध धर्म के प्रसार के लिए इन्होंने बहुत कार्य किया।

जब मगध के बहुत-से कुलीन लोग बड़ी संख्या में भिक्षु बनने लगे, तो जनता में असन्तोष बढ़ने लगा। लोगों ने कहना शुरु किया—यह साधु प्रजा की संख्या घटाने, स्त्रियों को विधवाओं के सदृश बनाने और कुलों का नाश करने के लिए आया है, इससे

वचो। बुद्ध के शिष्यों ने जाकर उनसे कहा, कि आजकल मगध की जनता इस भाव के गीत बनाकर गा रही है—सैर करता हुआ एक साधु मगध की राजधानी में आया है, और पहाड़ की चोटी पर डेरा डाले बैठा है। उसने संजय के सब शिष्यों को अपना चेला बना लिया है। आज न जाने वह किसे अपने पीछे लगायगा। इसपर बुद्ध ने उत्तर दिया—इस बात से घबराओ नहीं। यह असन्तोष क्षणिक है। जब तुमसे लोग पूछें, कि बुद्ध आज किसे अपने पीछे लगायगा, तो तुम उत्तर दिया करो—वीर और विवेकशाली पुरुष उसके अनुयायी बनेंगे। वह तो सत्य के बल पर ही अपने अनुयायी बनाता है।

महात्मा बुद्ध का प्रधान कार्यक्षेत्र मगध था। वे कई बार मगध गये, और सर्वत्र घूम-घूमकर उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बिम्बिसार और अजातशत्रु उनके समकालीन थे। इन मागध सम्राटों के हृदय में बुद्ध के प्रति अपार श्रद्धा थी। बुद्ध अपने बहुत-से शिष्यों को साथ लेकर भ्रमण किया करते थे। उनकी मण्डली में कई सौ भिक्षु एक साथ रहते थे। वे जिस शहर में पहुँचते, शहर के बाहर किसी उपवन में डेरा डाल देते। लोग बड़ी संख्या में उनके दर्शनों के लिए आते, और उपदेश श्रवण करते। नगर के श्रद्धालु लोग उन्हें भोजन के लिए आमन्त्रित किया करते थे। भोजन के अनन्तर बुद्ध अपने यजमान को उपदेश भी देते थे। यही उनके प्रचार का ढंग था।

मगध के अतिरिक्त महात्मा बुद्ध काशी, कोशल और वज्जि जनपदों में गये। अवन्ति जैसे दूरवर्ती जनपदों के लोगों ने उन्हें अनेक बार आमन्त्रित किया, पर इच्छा होते हुए भी वे स्वयं वहाँ नहीं जा सके। उन्होंने अपने कुछ शिष्यों की टोली को वहाँ भेज दिया था, और अवन्ति की जनता ने बड़े प्रेम और उत्साह से उसका स्वागत किया था। भिक्षुओं की इस प्रकार की टोलियाँ अन्यत्र भी बहुत-से स्थानों पर आर्यमार्ग का प्रचार करने के लिए भेजी गई थीं। इन प्रचारक-मण्डलों का ही यह परिणाम हुआ, कि बुद्ध के जीवनकाल में ही उनका सन्देश प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में दूर-दूर तक फैल गया था।

महापरिनिर्वाण—महात्मा बुद्ध ने चालीस वर्ष के लगभग आर्यमार्ग का प्रचार किया। जब वे अस्सी वर्ष की आयु के थे, तो उन्होंने राजगृह से कुशीनगर के लिए एक लम्बी यात्रा का प्रारम्भ किया। इस यात्रा में वैशाली के समीप वेणुवन में उनका स्वास्थ्य बहुत गिर गया। कुछ दिन वहां विश्राम करके उन्होंने स्वास्थ्य लाभ किया। पर वे बहुत निर्बल हो चुके थे। वैशाली से कुशीनगर जाते हुए वे फिर बीमार पड़े। बीमारी की दशा में ही वे कुशीनगर पहुँचे, और हिरण्यवती नदी के तट पर अपना डेरा डाला। यहाँ उनकी दशा और बिगड़ गई। बुद्ध की बीमारी की खबर कुशीनगर में वायुवेग से फैल गई। नगर के कुलीन मल्ल (कुशीनगर में मल्लगण की स्थिति थी) क्षत्रिय बड़े-बड़े झुण्ड बनाकर हिरण्यवती के तट पर महात्मा बुद्ध के अन्तिम दर्शन के लिए आने लगे।

महात्मा बुद्ध की अन्तिम दशा की कल्पना कर भिक्खु लोग बहुत चिन्तित हुए। उन्हें उदास देखकर बुद्ध ने कहा—तुम सोचते होगे, तुम्हारा आचार्य तुम से जुदा हो

रहा है। पर ऐसा मत सोचो। जो सिद्धान्त और नियम मैंने तुम्हें बताये हैं, जिनका मैंने प्रचार किया है, वही तुम्हारे आचार्य रहेंगे और वे सदा जीवित रहेंगे। फिर उन्होंने सब भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—पुत्रो ! सुनो, मैं तुमसे कहता हूं, जो आता है, वह जाता भी अवश्य है। बिना रुके प्रयत्न किये जाओ।

महात्मा बुद्ध के ये ही अन्तिम शब्द थे। इसके बाद उनका देह प्राण-शून्य हो गया। कुशीनगर के समीप उस स्थान पर जहां महात्मा बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था, अब भी उनकी एक विशाल मूर्ति विद्यमान है।

(७) बुद्ध की शिक्षाएं

बुद्ध सच्चे अर्थों में सुधारक थे। प्राचीन आर्य-धर्म में जो बहुत-सी खराबियां आ गई थीं, उन्हें दूर कर उन्होंने सच्चे आर्य-धर्म का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों के विषय में उन्होंने बार-बार कहा है—'एष धम्मो सनातनः', यही सनातन धर्म है। वे यह दावा नहीं करते थे, कि वे किसी नये धर्म का प्रतिपादन कर रहे हैं। उनका यही कथन था, कि मैं सनातन काल से चले आ रहे धर्म का ही स्थापन कर रहा हूं।

मध्य-मार्ग—बुद्ध ने अपने धर्म को मध्य-मार्ग कहा है। वे उपदेश करते थे—भिक्षुओ ! इन दो चरम कोटियों (अतियों) का सेवन नहीं करना चाहिए, भोग-विलास में लिप्त रहना और शरीर को कष्ट देना। इन दो अतियों का त्याग कर मैंने मध्य-मार्ग निकाला है, जो कि आंख देने वाला, ज्ञान कराने वाला और शान्ति प्रदान करने वाला है।

अष्टांगिक आर्य-मार्ग—इस मध्य-मार्ग के आठ आर्य (श्रेष्ठ) अंग हैं—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्म, (५) सम्यक् आजीविका, (६) सम्यक् प्रयत्न, (७) सम्यक् विचार, और (८) सम्यक् ध्यान या समाधि। इसमें सन्देह नहीं, कि इन आठ बातों का पूर्ण रूप से आचरण कर मनुष्य अपने जीवन को आदर्श और कल्याणमय बना सकता है। अत्यन्त भोग-विलास और अत्यन्त तप—दोनों को हेय मानकर बुद्ध ने जिस मध्य मार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) का उपदेश किया था, ये आठ बातें ही उसके अन्तर्गत थी। संयम और सदाचारमय जीवन ही इस धर्म का सार है।

चार आर्य सत्य—बुद्ध के अनुसार चार आर्य-सत्य हैं—(१) दुःख, (२) दुःख-समुदय या दुख का हेतु, (३) दुःख निरोध और (४) दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा अर्थात् दुःख को दूर करने का मार्ग। दुःख सत्य की व्याख्या करते हुए बुद्ध ने कहा—जन्म भी दुःख है, बुढ़ापा भी दुःख है, मरण-शोक-रुदन और मन की खिन्नता भी दुःख हैं। अप्रिय से संयोग और प्रिय से वियोग भी दुःख है। दुःख के रूप को इस प्रकार स्पष्ट कर बुद्ध ने प्रतिपादित किया, कि दुःख का समुदय या हेतु तृष्णा है। इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय है, उनके साथ सम्पर्क तृष्णा को उत्पन्न करता है। राजा राजा से लड़ते हैं, ब्राह्मण ब्राह्मणों से, गृहपति गृहपति से, पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, भाई भाई से जो लड़ते है, उसका कारण यह तृष्णा ही है। इस तृष्णा का त्याग कर

देने से, इसका विनाश कर देने से दु:ख का निरोध होता है। जब तृष्णा छूट जाती है, तभी दु:ख का निरोध सम्भव है। इस दु:ख-निरोध का उपाय अष्टांगिक आर्य-मार्ग ही है। इसी मार्ग का अनुसरण कर मनुष्य अपने जीवन की साधना इस ढंग से कर सकता है, कि वह तृष्णा से मुक्त होकर दु:खों से बच सके।

मनुष्यमात्र की समानता--महात्मा बुद्ध समाज में ऊँच-नीच के कट्टर विरोधी थे। उनकी दृष्टि में कोई मनुष्य नीच व अछूत नहीं था। उनके शिष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, श्रेष्ठी, शूद्र, वेश्या, नीच समझी जाने वाली जातियों के मनुष्य—सब एक समान स्थान रखते थे। बौद्ध साहित्य में कथा आती है, कि वासत्थ और भारद्वाज नामक दो ब्राह्मण बुद्ध के पास आये, और उनसे पूछा—हम दोनों में इस प्रश्न पर विवाद हो गया है कि कोई व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण होता है या कर्म से। इसपर बुद्ध ने उत्तर दिया—हे वासत्थ ! मनुष्यों में जो गौवें चराता है, उसे हम चरवाहा कहेंगे ब्राह्मण नहीं। जो मनुष्य कला-सम्बन्धी बातों से अपनी आजीविका चलाता है, उसे हम कलाजीवी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी व्यापार करता है, उसे हम व्यापारी कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी दूसरों की नौकरी करता है, वह अनुचर कहलायगा, ब्राह्मण नहीं। जो चोरी करता है, वह चोर कहलायगा, ब्राह्मण नहीं। जो आदमी शस्त्र धारण करके अपना निर्वाह करता है, उसे हम सैनिक कहेंगे, ब्राह्मण नहीं। किसी विशेष माता के पेट से जन्म होने के कारण मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहूँगा। वह व्यक्ति जिसका किसी भी वस्तु पर ममत्व नहीं है, जिसके पास कुछ भी नहीं है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जिसने अपने सब बन्धन काट दिये हैं, अपने को सब लगावों से पृथक् करके भी जो विचलित नहीं होता, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। जो भी व्यक्ति क्रोधरहित है, अच्छे काम करता है, सत्याभिलाषी है, जिसने अपनी इच्छाओं का दमन कर लिया है, मैं तो उसी को ब्राह्मण कहूँगा। वास्तव में न कोई ब्राह्मण के घर में जन्म लेने से ब्राह्मण होता है, और न कोई ब्राह्मण के घर जन्म न लेने से अब्राह्मण होता है, अपने कर्मो से ही एक आदमी ब्राह्मण बन जाता है और दूसरा अब्राह्मण। अपने काम से ही कोई किसान है, कोई शिल्पी है, कोई व्यापारी है, और कोई सेवक है।

अहिंसा और यज्ञ—महात्मा बुद्ध पशुहिंसा के घोर विरोधी थे। अहिंसा उनके सिद्धान्तों में प्रमुख थी। वे न केवल यज्ञों में पशुबलि के विरोधी थे, पर जीवों को मारना व किसी प्रकार से कष्ट देना भी वे अनुचित समझते थे। उस समय भारत में यज्ञों का कर्मकाण्ड बड़ा जटिल रूप धारण कर चुका था। लोगों का विश्वास था, कि यज्ञ द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ईश्वर के ज्ञान के लिए, मोक्ष की साधना के लिए और अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए ब्राह्मण लोग यज्ञ का अनुष्ठान किया करते थे। पर महात्मा बुद्ध का यज्ञों में विश्वास नहीं था। एक जगह उन्होंने उपदेश करते हुए कहा है—वासत्थ ! एक उदाहरण लो। कल्पना करो, कि यह अचिरावती नदी किनारे तक भर कर जा रही है। इसके दूसरे किनारे पर एक मनुष्य आता है, और वह किसी आवश्यक कार्य से इस पार आना चाहता है। वह मनुष्य उसी किनारे पर खड़ा हुआ यह प्रार्थना करना आरम्भ करे, कि ओ दूसरे किनारे, इस पार आ जाओ। क्या उसके इस प्रकार स्तुति करने से यह किनारा उसके पास चला जायगा ? हे वासत्थ ! ठीक इसी

प्रकार एक त्रयी विद्या में निष्णात ब्राह्मण यदि उन गुणों को क्रियान्वित नहीं करता जो किसी मनुष्य को ब्राह्मण बनाते हैं, अब्राह्मणों का आचरण करता है, पर मुख से प्रार्थना करता है—मैं इन्द्र को बुलाता हूँ, मैं वरुण को बुलाता हूँ, मैं प्रजापति, ब्रह्मा, महेश और यम को बुलाता हूँ, तो क्या ये उसके पास चले आएंगे ? क्या इन की प्रार्थना से कोई लाभ होगा ?

सदाचार—यज्ञों में विविध देवताओं का आह्वान कर ब्राह्मण लोग जो उनकी स्तुति करते थे, महात्मा बुद्ध उसे निरर्थक समझते थे। उनका विचार था, कि सद्-आचरण और सद्गुणों से ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। व्यर्थ के कर्मकाण्ड से कोई लाभ नहीं। बुद्ध और वासत्थ का एक अन्य संवाद इस विषय पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालता है—

"क्या ईश्वर के पास धन व स्त्रियाँ हैं ?"

"नहीं।"

"वह क्रोधपूर्ण है या क्रोधरहित ?"

"क्रोधरहित।"

"उसका अन्तःकरण मलिन है या पवित्र ?"

"पवित्र।"

"वह स्वयं अपना स्वामी है या नहीं ?"

"है।"

"अच्छा, वासत्थ ! क्या इन ब्राह्मणों के पास धन व स्त्रियां नहीं है।"

"है।"

"ये क्रोधी हैं या क्रोधरहित।"

"क्रोधी है।"

"ये ईर्ष्यालु हैं या ईर्ष्यारहित।"

"ये ईर्ष्यालु है।"

"इनका अन्तःकरण क्या पवित्र है।"

"नहीं, अपवित्र है।"

"वे स्वयं अपने स्वामी है या नहीं ?"

"नहीं।"

"अच्छा, वासत्थ ! तुम स्वयं ही ईश्वर और ब्राह्मणों में इतना स्वभाववैषम्य बतला रहे हो। अब बताओ, इनमें कोई एकता और साम्य भी हो सकता है ?

"कोई नहीं।"

"इसका अभिप्राय यह हुआ कि ये ब्राह्मण मलिन हृदय के हैं, वासनाओं से शून्य नहीं हैं, और वह ब्रह्म पवित्र और वासनारहित है, अतः ये ब्राह्मण मृत्यु के अनन्तर उसके साथ नहीं मिल सकते। जब ये आचार-हीन ब्राह्मण बैठकर वेदपाठ करते हैं, या उनके अनुसार कोई कर्मकाण्ड करते हैं, तब उनके हृदय में तो यह होता है, कि इस वेदपाठ से या कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी। पर यह उनका अज्ञान है। त्रिविद्या के उन पण्डितों की बात वस्तुतः जलरहित मरुभूमि के और मार्गरहित बीहड़

वन के समान है। उससे उन्हें कोई लाभ नहीं हो सकता।"

अभिप्राय यह है, कि महात्मा बुद्ध केवल वेदपाठ और यज्ञों के अनुष्ठानों को सर्वथा लाभहीन समझते थे। उनका विचार था, कि जब तक चरित्र शुद्ध नहीं होगा, धन की इच्छा दूर नहीं होगी, काम, क्रोध, मोह आदि पर विजय नहीं की जायगी, तब तक यज्ञों के अनुष्ठानमात्र से कोई लाभ नहीं होगा।

निर्वाण—बुद्ध के अनुसार जीवन का लक्ष्य निर्वाण पद को प्राप्त करना है। निर्वाण किसी पृथक् लोक का नाम नहीं है, न ही निर्वाण कोई ऐसा पद है जिसे मनुष्य मृत्यु के बाद प्राप्त करता है। बुद्ध के अनुसार निर्वाण उस अवस्था का नाम है जिसमें ज्ञान द्वारा अविद्या रूपी अन्धकार दूर हो जाता है। यह अवस्था इसी जन्म में, इसी लोक में प्राप्त की जा सकती है। सत्यबोध के अनन्तर महात्मा बुद्ध ने निर्वाण की यह दशा इसी जन्म में प्राप्त कर ली थी। एक स्थान पर बुद्ध ने कहा है—जो धर्मात्मा लोग किसी की हिंसा नहीं करते, शरीर की प्रवृत्तियों का संयम कर पापों से बचे रहते है, वे उस अच्युत निर्वाण पद को प्राप्त करते है; जहाँ शोक और संताप का नाम भी नहीं।

महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशों में सूक्ष्म और जटिल दार्शनिक विचारों को अधिक स्थान नहीं दिया। इन विवादों की उन्होंने उपेक्षा की। जीव का क्या स्वरूप है, सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई है या किसी अन्य सत्ता से, अनादि तत्त्व कितने और कौन-से हैं, सृष्टि का कर्त्ता कोई ईश्वर है या नहीं—इस प्रकार के दार्शनिक विवादों से वे सदा बचे रहे। उनका विचार था, कि जीवन की पवित्रता और आत्मकल्याण के लिए इन सब प्रश्नों पर विचार करना विशेष लाभकारी नहीं है। पर मनुष्य में इन प्रश्नों के लिए एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। यही कारण है, कि आगे चलकर बौद्धों में बहुत-से दार्शनिक सम्प्रदायों का विकास हुआ। इन सम्प्रदायों के सिद्धान्त एक-दूसरे से बहुत भिन्न हैं। पर बुद्ध के उपदेशों व संवादों से इन दार्शनिक तत्त्वों पर विशेष प्रकाश नहीं डाला गया।

(८) बौद्ध-संघ

महात्मा बुद्ध ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिए संघ की स्थापना की। जो लोग सामान्य गृहस्थ जीवन का परित्याग कर धर्म-प्रचार और मनुष्य-मात्र की सेवा में ही अपने जीवन को खपा देना चाहते थे, वे भिक्षुव्रत लेकर संघ में सम्मिलित होते थे।

महात्मा बुद्ध का जन्म एक गणराज्य में हुआ था। अपनी आयु के २९ वर्ष उन्होंने गणों के वातावरण में ही व्यतीत किये थे। वे गणों व संघों की कार्य-प्रणाली से भली-भांति परिचित थे। यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नवीन धार्मिक सम्प्रदाय का संगठन किया, तो उसे भिक्षु संघ नाम दिया। अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय के संघराज्यों का अनुकरण किया और उन्हीं के नियमों तथा कार्यविधि को अपनाया। सब जगह भिक्षुओं के अलग-अलग संघ थे। प्रत्येक स्थान का संघ अपने-आप में एक पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। भिक्षु लोग संघसभा में एकत्र होकर अपने कार्य का सम्पादन करते थे। वज्जिसंघ को जिस प्रकार के सात अपरिहार्य धर्मों का महात्मा बुद्ध ने उपदेश

किया था, वैसे ही सात अपरिहार्य धर्म बौद्धसंघ के लिए भी उपदिष्ट किये गए थे:—

(१) एक साथ एकत्र होकर बहुधा अपनी सभाएँ करते रहना।

(२) एक ही बैठक करना, एक ही उत्थान करना, और एक ही संघ के सब कार्यों को सम्पादित करना।

(३) जो संघ द्वारा विहित है, उसका कभी उल्लंघन नहीं करना। जो संघ में विहित नहीं है, उसका अनुसरण नहीं करना। जो भिक्षुओं के पुराने नियम चले आ रहे हैं, उनका सदा पालन करना।

(४) जो अपने में बड़े, धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघ के नायक स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करना उन्हें बड़ा मानकर उनका पूजन करना, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझना।

(५) पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं आना।

(६) वन की कुटियों में निवास करना।

(७) सदा यह स्मरण रखना कि भविष्य में केवल ब्रह्मचारी ही संघ में सम्मिलित हों, और सम्मिलित हुए लोग पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ रहें।

संघ-सभा में जब भिक्षु लोग एकत्रित होते थे, तो प्रत्येक भिक्षु के बैठने के लिए आसन नियत होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिए एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे आसनप्रज्ञापक कहते थे। संघ में जिस विषय पर विचार होना होता था, उसे पहले प्रस्ताव के रूप में पेश किया जाता था। प्रत्येक प्रस्ताव तीन बार दोहराया जाता था, उसपर बहस होती थी, और निर्णय के लिए मत (वोट) लिए जाते थे। संघ के लिए कोरम का भी नियम था। संघ की बैठक के लिए कम से कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक होती थी। यदि कोई निर्णय पूरे कोरम के अभाव में किया गया हो, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

प्रत्येक भिक्षु के लिए यह आवश्यक था, कि वह संघ के सब नियमों का पालन करे, संघ के प्रति भक्ति रखे। इसलिए भिक्षु बनते समय जो तीन प्रतिज्ञाएँ लेनी होती थीं, उनके अनुसार प्रत्येक भिक्षु को बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में आने का वचन देना होता था। संघ में शामिल हुए भिक्षु कठोर संयम का जीवन व्यतीत करते थे। मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए और सब प्राणियों के हित के लिए ही भिक्षु संघ की स्थापना हुई थी। यह कार्य सम्पादित करने के लिए भिक्षुओं से वैयक्तिक जीवन की पवित्रता और त्याग की भावना की पूरी आशा रखी जाती थी।

बौद्ध-धर्म के अपूर्व संघटन ने बुद्ध के आर्यमार्ग के सर्वत्र प्रचारित होने में बड़ी सहायता दी। जिस समय मगध के साम्राज्यवाद ने प्राचीन गणराज्यों का अन्त कर दिया, तब भी बौद्ध संघों के रूप में भारत की प्राचीन जनतन्त्र-प्रणाली जीवित रही। राजनीतिक शक्ति यदि मागध-सम्राटों के हाथ में थी, तो धार्मिक और सामाजिक शक्ति संघों में निहित थी। संघों में एकत्र होकर हजारों-लाखों भिक्खु लोग पुरातन गण-प्रणाली से उन विषयों का निर्णय किया करते थे, जिनका मनुष्यों के दैनिक जीवन से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। बौद्ध संघ की इस विशेष स्थिति का यह परिणाम हुआ, कि भारत में समानान्तर रूप से दो प्रबल शक्तियां कायम रहीं, एक मागध साम्राज्य और दूसरा

चातुरन्त संघ। एक समय ऐसा भी आया, जब इन दोनों शक्तियों में परस्पर संघर्ष का भी सूत्रपात हो गया।

(६) आजीवक सम्प्रदाय

भारतीय इतिहास में वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध का समय एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक सुधारणा का काल था। इस समय में अनेक नवीन धार्मिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था। इनमें बौद्ध और जैन धर्मों के नाम तो सब कोई जानते हैं, पर जो अन्य सम्प्रदाय इस समय में प्रारम्भ हुए थे, उनका परिचय प्राय: लोगों को नहीं है। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय आजीवक था। इसका प्रवर्त्तक मक्खलिपुत्त गोसाल था। आजीवकों के कोई अपने ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते। उनके सम्बन्ध में जो कुछ भी परिचय मिलता है, वह बौद्ध और जैन साहित्य पर ही आश्रित है। मक्खलिपुत्त गोसाल छोटी आयु में ही भिक्खु हो गया था। शीघ्र ही वर्धमान महावीर से उसका परिचय हुआ, जो 'केवलिन्' पद पाकर अपने विचारों का जनता में प्रसार करने में संलग्न थे। महावीर और गोसाल साथ-साथ रहने लगे। पर इन दोनों की तबियत, स्वभाव, आचार-विचार और चरित्र एक-दूसरे से इतने भिन्न थे, कि छः साल वाद उनका साथ छूट गया, और गोसाल ने महावीर से अलग होकर अपने पृथक् सम्प्रदाय की स्थापना की, जो आगे चलकर आजीवक नाम से विख्यात हुआ। गोसाल ने अपने कार्य का मुख्य केन्द्र श्रावस्ती को बनाया। श्रावस्ती के बाहर एक कुम्भकार स्त्री का अतिथि होकर उसने निवास प्रारम्भ किया, और धीरे-धीरे बहुत-से लोग उसके अनुयायी हो गये।

आजीवक सम्प्रदाय के मन्तव्यों के सम्बन्ध में जो कुछ भी हमें ज्ञात है, उसका आधार उसका विरोधी साहित्य ही है। पर उसके कुछ मन्तव्यों के विषय में निश्चित रूप से कहा जा सकता है। आजीवक लोग मानते थे, कि संसार में सब बातें पहले से ही नियत हैं। "जो नहीं होना है, वह नहीं होगा। जो होना है, वह कोशिश के विना भी हो जाएगा। अगर भाग्य न हो, तो आई हुई चीज भी नष्ट हो जाती है। नियति के बल से जो कुछ होना है, वह चाहे शुभ हो या अशुभ, अवश्य होकर रहेगा। मनुष्य चाहे कितना भी यत्न करे, पर जो होनहार है, उसे वह बदल नहीं सकता।" इसीलिए आजीवक लोग पौरुष, कर्म और उत्थान की अपेक्षा भाग्य या नियति को अधिक बलवान् मानते थे। आजीवकों के अनुसार वस्तुओं में जो विकार व परिवर्तन होते हैं, उनका कोई कारण नहीं होता। संसार में कोई कार्य-कारण भाव काम कर रहा है, सो बात नहीं है। पर जो कुछ हो रहा है या होना है, वह सब नियत है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से उसे बदल सके, यह सम्भव नहीं।

वर्धमान महावीर के साथ गोसाल का जिन बातों पर मतभेद हुआ, उनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) शीतल जल का उपयोग करना, (२) अपने लिए विशेष रूप से तैयार किये गए अन्न व भोजन को ग्रहण करना, और (३) स्त्रियों के साथ सहवास करना। मक्खलिपुत्त गोसाल की प्रवृत्ति भोग की ओर अधिक थी। वह आराम से जीवन व्यतीत करने के पक्ष में था। महावीर का घोर तपस्यामय जीवन उसे पसन्द

नहीं था। यही कारण है, कि महात्मा बुद्ध ने भी एक स्थल पर आजीवकों को ऐसे सम्प्रदायों में गिना है, जो ब्रह्मचर्य को महत्त्व नहीं देते।

पर आजीवक भिक्खु का जीवन बड़ा सादा होता था। वे प्रायः हथेली पर रखकर भोजन किया करते थे। मांस मछली और मदिरा का सेवन उनके लिए वर्जित था। वे दिन में केवल एक बार भिक्षा मांगकर भोजन करते थे।

आजीवक सम्प्रदाय का भी पर्याप्त विस्तार हुआ। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में उल्लेख आता है, कि उसने अनेक गुहा-निवास आजीविकों को प्रदान किये थे। अशोक के पौत्र सम्राट् दशरथ ने भी गया के समीप नागार्जुनी पहाड़ियों में अनेक गुहाएँ आजीवकों के निवास के लिए दान में दी थीं, और इस दान को सूचित करने वाले शिलालेख अब तक उपलब्ध होते हैं। अशोक ने विविध धार्मिक सम्प्रदायों में अविरोध उत्पन्न करने के लिए जो 'धर्ममहामात्र' नियत किये थे, उन्हें जिन अनेक सम्प्रदायों पर दृष्टि रखने का आदेश दिया गया था, उनमें बौद्ध, ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ (जैन) सम्प्रदायों के साथ आजीवकों का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है, कि धीरे-धीरे आजीवकों ने भी पर्याप्त महत्त्व प्राप्त कर लिया था, और यह सम्प्रदाय कई सदियों तक जीवित रहा था। इस समय इसके कोई अनुयायी शेष नहीं हैं।

(१०) धार्मिक सुधारणा का प्रभाव

वर्धमान महावीर और गौतम बुद्ध के नेतृत्व में प्राचीन भारत को इस धार्मिक सुधारणा ने जनता के हृदय और दैनिक जीवन पर बड़ा प्रभाव डाला। लोगों ने अपने प्राचीन धार्मिक विश्वासों को छोड़कर किसी नये धर्म की दीक्षा ले ली हो, यह नहीं हुआ। पहले धर्म का नेतृत्व ब्राह्मणों के हाथ में था, जो कर्मकाण्ड, विधि-विधान और विविध अनुष्ठानों द्वारा जनता को धर्म-मार्ग का प्रदर्शन करते थे। सर्वसाधारण गृहस्थ जनता सांसारिक धन्धों में संलग्न थी। वह कृषि, शिल्प, व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करती थी, और ब्राह्मणों द्वारा बताये धर्म-मार्ग पर चलकर इहलोक और परलोक में सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करती थी। अब ब्राह्मणों का स्थान श्रमणों, मुनियों और भिक्खुओं ने ले लिया। इन श्रमणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी वर्णों और जातियों के लोग सम्मिलित थे। अपने गुणों के कारण ही समाज में इनकी प्रतिष्ठा थी। धर्म का नेतृत्व ब्राह्मण जाति के हाथ से निकलकर अब ऐसे लोगों के समुदायों के हाथ में आ गया था, जो घर-गृहस्थी को छोड़कर मनुष्य-मात्र की सेवा का व्रत ग्रहण करते थे। निःसन्देह, यह एक बहुत बड़ी सामाजिक क्रान्ति थी।

भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ सदा से अपने कुलक्रमानुगत धर्म का पालन करते रहे हैं। प्रत्येक कुल के अपने देवता, रीति-रिवाज और अपनी परम्पराएं थीं, जिनका अनुसरण सब लोग मर्यादा के अनुसार करते थे। ब्राह्मणों का वे आदर करते थे, उनका उपदेश सुनते थे, और उनके बताए कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करते थे। ब्राह्मण एक ऐसी श्रेणी थी, जो सांसारिक धन्धों से पृथक् रहकर धर्म-चिन्तन में संलग्न रहती थी। पर समय की गति से इस समय बहुत से ब्राह्मण त्याग, तपस्या और निरीह जीवन का त्याग कर चुके थे। अब उनके मुकाबिले में श्रमणों की जो नई श्रेणी

संगठित हो गई थी, वह त्याग और तपस्या से जीवन व्यतीत करती थी, और मनुष्य-मात्र का कल्याण करने में रत रहती थी। जनता ने ब्राह्मणों की जगह अब इनको आदर देना और इनके उपदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करना शुरू किया। बौद्ध धर्म के प्रचार का यही अभिप्राय है। जनता ने पुराने धर्म का सर्वथा परित्याग कर कोई सर्वथा नया धर्म अपना लिया हो, सो बात भारत के इतिहास में नहीं हुई।

बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायी, महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य—जैसे मागध सम्राट् जैन-मुनियों, बौद्ध-भिक्खुओं और ब्राह्मणों का समान रूप से आदर करते थे। जैन-साहित्य के अनुसार ये जैन थे, इन्होंने जैन मुनियों का आदर किया और उन्हें बहुत-सा दान दिया। बौद्ध-ग्रंथों के अनुसार ये बौद्ध थे, भिक्षुओं का ये बहुत आदर करते थे, और इनकी सहायता पाकर बौद्ध-संघ ने बड़ी उन्नति की थी। बौद्ध और जैन साहित्य इन सम्राटों के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाओं से भरे पड़े हैं, और इन सम्राटों का उल्लेख उसी प्रसंग में किया गया है, जब इन्होंने जैन या बौद्ध-धर्म का आदर किया और उनसे शिक्षा ग्रहण की। पौराणिक साहित्य में इनका अनेक ब्राह्मणों के सम्पर्क में उल्लेख किया गया है। वास्तविक बात यह है, कि इन राजाओं ने किसी एक धर्म को निश्चित रूप से स्वीकार कर लिया हो, किसी का विशेष रूप से पक्ष लिया हो, यह बात नहीं थी। प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार ये ब्राह्मणों, श्रमणों और मुनियों का समान रूप से आदर करते थे। क्योंकि इस काल में भिक्खु लोग अधिक संगठित और क्रियाशील थे, इसलिए उनका महत्त्व अधिक था। जो वृत्ति राजाओं की थी, वही जनता की भी थी।

इस धार्मिक सुधारणा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि भारत में यज्ञों के कर्मकाण्ड का जोर कम हो गया। यज्ञों के बन्द होने के साथ-साथ पशुबलि की प्रथा कम होने लगी। यज्ञों द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति की आकांक्षा के निर्बल हो जाने से राजा और गृहस्थ लोग श्रावक या उपासक के रूप में भिक्षुओं द्वारा बताये गए मार्ग का अनुसरण करने लगे, और उनमें जो अधिक श्रद्धालु थे, वे मुनियों और श्रमणों का-सा सादा व तपस्यामय जीवन व्यतीत करने के लिए तत्पर हुए।

बौद्ध और जैन-सम्प्रदायों से भारत में एक नई धार्मिक चेतना उत्पन्न हो गई थी। शक्तिशाली संघों में संगठित होने के कारण इनके पास धन, मनुष्य व अन्य साधन प्रचुर परिमाण में विद्यमान थे। परिणाम यह हुआ, कि मगध के साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ संघ की चातुरन्त सत्ता की स्थापना का विचार भी बल पकड़ने लगा। इसीलिए आगे चलकर भारतीय धर्म व संस्कृति का न केवल भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों में, अपितु भारत से बाहर भी दूर-दूर तक प्रसार हुआ।

(११) बौद्ध साहित्य

जिस प्रकार प्राचीन वैदिक साहित्य में तीन संहिताएँ हैं, वैसे ही बौद्ध-साहित्य में तीन पिटक (त्रिपिटक) हैं। ये त्रिपिटक निम्नलिखित हैं—(१) विनय पिटक, (२) सुत्तपिटक, और (३) अभिधम्म पिटक। इन तीन पिटकों के अन्तर्गत जो बहुत-से ग्रंथ हैं, उनपर संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

विनय पिटक—इस पिटक में आचार-सम्बन्धी वे नियम प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक बौद्ध भिक्खु के लिए आवश्यक है। विनय पिटक के तीन भाग हैं—(१) सुत्त विभंग, (२) खन्धक और (३) परिवार। सुत्तविभंग दो भागों में विभक्त है, भिक्खुविभंग और भिक्खुनीविभंग। इनमें वे नियम विशद रूप से प्रतिपादित हैं, जिनका पालन प्रत्येक भिक्खु और भिक्खुनी को आवश्यक रूप से करना चाहिए। कतिपय अपराध ऐसे हैं, जिनके करने से भिक्खु व भिक्खुनी पतित हो जाते हैं। ऐसे अपराधों की कुल संख्या २२७ है। प्रत्येक पूर्णिमा को इन अपराधों का पाठ भिक्खुओं के संघ के सम्मुख किया जाता था, और यदि किसी भिक्खु व भिक्खुनी ने इनमें से कोई अपराध किया हो, तो उसे उसके लिए प्रायश्चित्त करना पड़ता था। सुत्तविभंग में इन अपराधों और भिक्खुओं द्वारा पालनीय नियम वर्णित हैं। खन्धक में दो ग्रन्थ अन्तर्गत हैं—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इन ग्रन्थों में भिक्षुसंघ के साथ सम्बन्ध रखने वाली प्रत्येक बात विस्तृत रूप से प्रतिपादित है। संघ में प्रवेश किस प्रकार हो, विविध समयों पर कौन-कौन से व्रत रखे जाएं, चातुर्मास किस प्रकार व्यतीत किया जाए, भिक्षु लोग कैसे कपड़े पहनें, भोजन के लिए किन नियमों का अनुसरण करें, किस प्रकार की शैया प्रयुक्त करें, संघ में किसी प्रश्न के निर्णय करने का क्या ढंग हो, इस प्रकार की सब बातों का महावग्ग और चुल्लवग्ग में प्रतिपादन है। इन ग्रन्थों की प्रतिपादन-शैली कथात्मक है। भगवान् बुद्ध जब उस अवसर पर और उस स्थान पर थे, तब एक समस्या उत्पन्न हुई, और तब उन्होंने यह नियम बनाया—इस ढंग से भिक्षुओं के लिए उपयुक्त नियमों व धर्मों का उपदेश किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विनय-पिटक के ये अंश बहुत महत्त्व के हैं। इनसे न केवल बुद्ध की जीवनी पर प्रकाश पड़ता है, अपितु उस युग की राजनीतिक व सामाजिक दशा के सम्बन्ध में भी अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। विनय पिटक का भाग 'परिवार' है, और उसमें प्रश्नोत्तर रूप से बौद्ध-भिक्खुओं के नियम व कर्त्तव्य दिये गए हैं।

सुत्त-पिटक—इस पिटक के अन्तर्गत पांच निकाय हैं—(१) दीघनिकाय, (२) मज्झिमनिकाय, (३) अंगुत्तरनिकाय, (४) संयुक्तनिकाय और (५) खुद्दक निकाय। दीघनिकाय के तीन खंड हैं, और उसमें कुल मिलाकर ३४ दीर्घाकार सुत्त या सूक्त हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध महापरिनिब्बानसुत्त है। दीघनिकाय के प्रत्येक सुत्त में महात्मा बुद्ध के संवाद संकलित हैं। इन संवादों के विषय अनेक प्रकार के हैं। यज्ञों की उपयोगिता है या नहीं, कोई व्यक्ति जन्म से ऊंचा या नीचा होता है या अपने गुण-कर्म से, पुनर्जन्म, निर्वाण आदि सब महत्त्वपूर्ण विषयों पर बुद्ध के संवाद इसमें दिए हैं। मज्झिमनिकाय में कुल मिलाकर मध्य आकार के १२५ सुत्त हैं। ये सुत्त दीघनिकाय के सुत्तों की अपेक्षा छोटे आकार के हैं, यद्यपि इनके प्रतिपाद्य विषय प्रायः वे ही हैं, जो दीघनिकाय के सुत्तों के हैं। अंगुत्तरनिकाय के कुल सुत्तों की संख्या २३०० है, जिन्हें ११ खण्डों में विभक्त किया गया है। संयुक्त निकाय में ५६ सुत्त हैं, जिन्हें पांच (वग्गों) वर्गों में बांटा गया है। एक विषय के साथ सम्बन्ध रखने वाले सुत्त एक वग्ग (वर्ग) में एकत्र कर दिये गये हैं। खुद्दक निकाय के अन्तर्गत १५ विविध पुस्तकें हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात,

विमानवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस पटिसंभिदा, अपदान, बुद्धवंस, और चरियापिटक। खुद्दक निकाय नाम से ऐसा सूचित है, कि इसके अन्तर्गत सुत्त छोटे आकार के हैं, पर वस्तुतः इस निकाय की सब पुस्तकें अपने-आपमें स्वतन्त्र व पृथक् ग्रंथों के समान हैं, जिनमें धम्मपद और सुत्तनिपात सबसे प्रसिद्ध हैं। बौद्ध-साहित्य में धम्मपद का प्रायः वही स्थान है, जो कि हिन्दू-साहित्य में गीता का है। ऐतिहासिक दृष्टि से जातक-ग्रंथ विशेष रूप से उपयोगी है। इनमें ५५० के लगभग कथाएँ दी गई हैं, जिन्हें महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की कथाओं के रूप में लिखा गया है। बौद्ध-धर्म के अनुसार निर्वाण पदकी प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य सत्कर्मों का निरन्तर अनुष्ठान करें, निरन्तर सदाचरण करें। भगवान् बुद्ध को भी बुद्ध-पद प्राप्त करने से पूर्व बहुत-सी योनियों में से गुजरना पड़ा था। इन योनियों में रहते हुए उन्होंने निरन्तर सत्कर्म किये थे, इसीलिए अन्त में उन्हें बुद्ध-पद प्राप्त हो सका था। जातकों में गौतम-बुद्ध के इन्हीं पूर्वजन्मों की कथाएँ संकलित हैं। सम्भवतः, इनमें से बहुसंख्यक कथाएँ भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थीं। बौद्ध विद्वानों ने उनमें थोड़ा-बहुत अन्तर करके उन्हें बुद्ध के पूर्वजन्मों के साथ जोड़ दिया।

अभिधम्म पिटक—इस पिटक में बौद्ध धर्म का दार्शनिक विवेचन और अध्यात्म-चिन्तन सम्मिलित है। इसके अन्तर्गत सात ग्रंथ हैं—(१) धम्म संगनि (२) विभंग, (३) धातु कथा, (४) पुल पंजति, (५) कथावत्थु, (६) यमक और (७) पट्ठान। इस पिटक के प्रतिपाद्य विषय सुत्तपिटक के विषयों से बहुत भिन्न नहीं हैं, पर इनमें उनका विवेचन गम्भीर दार्शनिक पद्धति से किया गया है। अभिधम्म पिटक के सात ग्रंथों में सबसे अधिक महत्त्व कथावत्थु का है, जिसकी रचना अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त ने की थी। अशोक का इतिहास लिखते हुए इस आचार्य के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार से लिखेंगे। आत्मा क्या है, उसकी कोई पृथक् सत्ता है या नहीं, निर्वाण का क्या स्वरूप है, क्या गृहपति भी अर्हत् पद को प्राप्त कर सकता है—इस प्रकार के दार्शनिक प्रश्नों पर कथावत्थु में विशद रूप से विचार किया गया है।

त्रिपिटक काल—बौद्ध-धर्म के जिन त्रिपिटक-ग्रन्थों का हमने ऊपर वर्णन किया है, वे पालि भाषा में हैं। उनका निर्माण बुद्ध के समय में नहीं हुआ था। यद्यपि उनकी रचना के ढंग से यह प्रतीत होता है, कि उनमें महात्मा बुद्ध के मुख से निकले हुए वचन संकलित हैं, पर वस्तुतः उनका निर्माण बुद्ध की मृत्यु के पर्याप्त समय पीछे हुआ था। त्रिपिटक के कतिपय अंश (यथा कथावत्थु) बुद्ध के निर्वाण के कई सदी बाद के (अशोक-युग के) हैं। पर इसमें सन्देह नहीं, कि त्रिपिटक का बहुत-सा भाग बुद्ध के निर्वाण के एक सदी बाद बौद्ध-धर्म की द्वितीय महासभा तक संकलित हो चुका था।

अन्य पालिग्रन्थ—पालि-भाषा में बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य भी अनेक ग्रंथ हैं, जिन्हें त्रिपिटक के अन्तर्गत नहीं किया जाता। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध मिलिन्द-पन्हो है। इसमें राजा मिलिन्द और बौद्ध-आचार्य नागसेन के प्रश्नोत्तर संकलित हैं। राजा मिलिन्द बैक्ट्रियन यवन था, पर उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था। मिलिन्द-पन्हो का निर्माण सम्भवतः प्रथम व द्वितीय सदी ई० पू० में उत्तर-पश्चिमी भारत में हुआ था। मिलिन्द-पन्हो के अतिरिक्त अट्ठकथा नामक ग्रंथ पालि भाषा

में है, जिसकी रचना त्रिपिटक के भाष्य व व्याख्या रूप में की गई है। पाँचवीं सदी में बुद्ध-घोष नाम का बौद्ध आचार्य हुआ जो मगध का रहने वाला था। बाद में वह सिंहलदेश (लंका) चला गया, और वहाँ जाकर उसने पालि भाषा में अट्ठकथाओं की रचना की। वह त्रिपिटक के भाष्य को पूरा नहीं कर सका और उसके अवशिष्ट कार्य को बुद्धदत्त, धम्मपाल, महानाम, नवमोग्गलान और चुल्लघोष नामक आचार्यों ने पूर्ण किया। बुद्धघोष द्वारा विरचित अन्य ग्रंथों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ विसुद्दमग्ग (विशुद्ध-मार्ग है), जो बौद्ध-सिद्धान्तों पर अत्यन्त प्रामाणिक दार्शनिक ग्रंथ माना जाता है।

संस्कृत त्रिपिटक—बौद्ध-धर्म के जिस साहित्य का हमने ऊपर परिचय दिया है, वह पालि भाषा में है। बौद्ध-धर्म के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें थेरवाद बहुत महत्त्वपूर्ण है। लंका और बरमा में इस थेरवाद का ही प्रचार है, और इस सम्प्रदाय का त्रिपिटक पालि भाषा में विद्यमान है। पर बौद्ध-धर्म के अन्य अनेक सम्प्रदायों (यथा महायान, सर्वास्तिवाद आदि) का त्रिपिटक पालि भाषा में न होकर संस्कृत भाषा में है। खेद है कि संस्कृत का त्रिपिटक अविकल रूप में इस समय उपलब्ध नहीं होता।

दसवां अध्याय

प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास

(१) मागध-साम्राज्य का विकास

भारत की संस्कृति का इतिहास लिखते हुए उसके राजनीतिक इतिहास का भी संक्षेप के साथ निर्देश करना उपयोगी होगा। सांस्कृतिक दृष्टि से भारत के इतिहास का जो काल-विभाग किया जाता है, वह इस देश के राजनीतिक इतिहास पर ही आश्रित है। इस इतिहास के पाठक भारत के इतिहास की रूपरेखा से अवश्य ही परिचित होंगे, पर तो भी यह आवश्यक है, कि हम अत्यन्त संक्षिप्त रूप से इस विषय में भी कुछ परिचय दे दें।

वैदिक युग के राज्य—भारत में जिन आर्यों ने प्रवेश कर अपने विविध राज्यों की स्थापना की थी, वे विविध जनों (कबीलों या ट्राइब) में विभक्त थे। इस देश के मूल निवासियों को जीतकर उन्होंने अपनी बहुत-सी बस्तियाँ बसाई। जब विविध 'जन' किसी प्रदेश पर स्थिर रूप से बस गये, तो उसे वे 'जनपद' (जन का प्रदेश) कहने लगे। आर्यों के प्रारम्भिक राज्य इसी ढंग के जनपद थे। कोशल, पंचाल आदि आर्यों के विविध जनों के ही नाम थे, और इन्हीं के नाम से इनसे आबाद प्रदेश भी कोशल, पांचाल आदि कहाये। इन जनपदों में जिन विविध राजवंशों का शासन था, उनके राजाओं के सम्बन्ध में बहुत सी गाथायें पौराणिक अनुश्रुति और रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में विद्यमान हैं। वैदिक साहित्य के अनुशीलन से हमें इसी युग की संस्कृति के सम्बन्ध में परिचय मिलता है।

बौद्ध-काल के सोलह महाजनपद—आर्यों के विविध जनपद जहाँ आर्यभिन्न जातियों को जीतकर अपनी अधीनता में लाने में तत्पर थे, वहाँ साथ ही वे आपस में भी संघर्ष करते रहते थे। प्रत्येक महत्त्वाकांक्षी आर्य-राजा का यह प्रयत्न रहता था, कि वह अन्य जनपदों को जीतकर चक्रवर्ती-पद को प्राप्त करे। इस उद्देश्य से अनेक प्राचीन राजाओं ने अश्वमेध-यज्ञ किये, और अन्य जनपदों से अपनी अधीनता स्वीकृत कराई।

छठी सदी ई० पू० तक भारत के बहुत-से प्राचीन राज्य अपनी स्वतन्त्रता खो चुके थे, और इस देश में सोलह महाजनपदों का विकास हो गया था। बौद्ध-साहित्य में इन सोलह महाजनपदों का बार-बार उल्लेख आता है। इनके नाम निम्नलिखित थे—अंग, मगध, काशी, कोशल, वृजि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्मक, अवन्ति, गान्धार और कम्बोज। इन सोलह महाजनपदों में वृजि, मल्ल और शूरसेन में गणतन्त्र-शासनों की सत्ता थी, और अन्यों में राजतन्त्र शासन की। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक जनपद बौद्ध-युग में विद्यमान थे, यद्यपि उनका महत्त्व इन सोलह महाजनपदों की अपेक्षा बहुत कम था।

मगध का साम्राज्यवाद—भारत के प्राचीन राज्यों में मगध के सम्राट् बहुत शक्तिशाली थे। प्रारम्भ से ही उनका यह प्रयत्न रहा था, कि अन्य राज्यों को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार करें। महाभारत के समय में मगधराज जरासन्ध ने बहुत-से राजाओं को जीतकर अपने अधीन किया हुआ था। उसने शूरसेन जनपद के अन्धक-वृष्णि गण पर अनेक बार आक्रमण किये, और उसी के आक्रमणों से दुःखी होकर अन्धक-वृष्णि लोग सुदूर द्वारिका में जा बसे। बौद्ध-युग में मगध के राजा बिम्बिसार और अजातशत्रु बड़े प्रतापी थे, और उन्होंने उत्तरी बिहार के विविध गणराज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। शैशुनाक-वंश के मागध-राजाओं के शासन-काल में मगध की शक्ति का बहुत उत्कर्ष हुआ। बाद में महापद्म नन्द ने उत्तरी भारत के बड़े भाग को जीतकर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। पुराणों में उसे 'सर्वक्षत्रान्तकृत्' (सब क्षत्रियों का अन्त करने वाला), एकच्छत्र और एकराट् कहा गया है। पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार उसने ऐक्ष्वाकव, पांचाल, कौरव्य, हैहय आदि अनेक प्राचीन राज-वंशों और मैथिल व शूरसेन जनपदों को जीतकर अपने अधीन किया था। उसका राज्य पूर्व में बंगाल की खाड़ी से शुरू होकर पश्चिम के गंगा तक विस्तृत था। हिमालय और विन्ध्याचल के मध्यवर्ती आर्यावर्त पर उसका एकच्छत्र शासन विद्यमान था।

मौर्य वंश—जिस समय यवनराज सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, भारत में प्रधान राजशक्ति मगध की ही थी। उसका राजा उस समय धननन्द था, जो महा-पद्म नन्द का ही वंशज था। गंगा के पूर्व के प्रदेश में इस काल में मगध का एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो चुका था, पर पंजाब और उत्तर-पश्चिमी भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य अभी विद्यमान थे, जो प्रायः आपस में संघर्ष करते रहते थे। वाहीक (पंजाब) देश के अनेक राज्यों में इस समय गणतन्त्र-शासन थे। सिकन्दर ने इस क्षेत्र के विविध राज्यों को जीत लिया, पर मगध की शक्ति का सामना करने का साहस उसकी यवन-सेनाओं को नहीं हुआ।

सिकन्दर के भारत से वापस लौट जाने के बाद आचार्य चाणक्य और चन्द्र-गुप्त के नेतृत्व में वाहीक देश में विद्रोह हुआ, और सिकन्दर द्वारा नियुक्त क्षत्रप उसका शमन कर सकने में असमर्थ रहे। चन्द्रगुप्त मौर्य ने न केवल पंजाब को यवनों की अधीनता से स्वतन्त्र किया, अपितु उसके विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित कर मगध से नन्द वंश के शासन का भी अन्त कर दिया। धननन्द के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, और उसने सम्पूर्ण उत्तरी भारत को मागध-साम्राज्य में सम्मिलित किया। सिकन्दर के साम्राज्य के एशियन प्रदेशों के स्वामी सैल्युकस ने जब उत्तर-पश्चिमी भारत और पंजाब को जीतने के लिये आक्रमण किया, तो चन्द्रगुप्त मौर्य से वह पराजित हो गया। सन्धि के परिणामस्वरूप हिन्दूकुश पर्वत के पश्चिम के भी कुछ प्रदेश मौर्य-शासन में आ गये, और इस प्रकार भारत में एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसकी उत्तरी-पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश पर्वत से भी परे तक थी। चन्द्रगुप्त मौर्य ३२२ ई० पू० के लगभग मगध का स्वामी बना था, और उसने २९८ ई० पू० तक राज्य किया।

चन्द्रगुप्त मौर्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र बिन्दुसार (२९८-२७२ ई०

पू०) था। उसने दक्षिणी भारत में भी मौर्य-वंश के शासन का विस्तार किया।

अशोक—बिन्दुसार के पुत्र अशोक ने कलिंग की विजय कर मौर्य-साम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। पर इस युद्ध में उसने यह अनुभव किया, कि शस्त्रों द्वारा जो विजय की जाती है, उससे लाखों नर-नारियों की व्यर्थ में हत्या होती है। उसने शस्त्र-विजय का परित्याग कर धर्म-विजय की नीति को अपनाया, और विविध देशों में धर्म-विजय की स्थापना के लिये प्रक्रम किया। न केवल सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र-राज्यों में, अपितु पश्चिम के यवन राज्यों में भी अशोक ने अपने बहुत-से महामात्र इस उद्देश्य से नियत किये, कि वे वहाँ चिकित्सालय खुलवाकर, सड़कें कुएँ व धर्मशालाएँ बनवा कर व अन्य विविध प्रकार के लोकोपकारी कार्य करके जनता के हृदय को जीतने का प्रयत्न करें।

जिस समय अशोक धर्म-विजय की नीति का प्रयोग कर अन्य देशों को अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न कर रहा था, अशोक के गुरु मौद्गलि-पुत्र तिष्य के नेतृत्व में बौद्ध-धर्म के प्रचार का महान् आयोजन किया गया। अशोक और तिष्य के प्रयत्नों से भारत के धर्म और संस्कृति का विदेशों में प्रचार हुआ, और भारत वस्तुतः एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना में सफल हुआ, जिसका विस्तार धर्म द्वारा किया गया था।

अशोक के उत्तराधिकारियों ने भी उसकी नीति का अनुसरण किया। शस्त्र-बल की उपेक्षा करने के कारण मौर्य-राजा अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहे। शीघ्र ही भारत पर विदेशी आक्रान्ताओं ने आक्रमण प्रारम्भ कर दिये, और महापद्म नन्द व चन्द्रगुप्त मौर्य जैसे प्रतापी राजाओं द्वारा स्थापित साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में मागध-साम्राज्य के विकास के इस युग का बहुत अधिक महत्त्व है। इस युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के लिये ऐतिहासिक सामग्री का अभाव नहीं है। बौद्ध और जैन साहित्य, कौटलीय अर्थशास्त्र, मैगस्थनीज का यात्रा-विवरण, अशोक के शिला-लेख आदि कितने ही ऐसे साधन हैं, जिनसे हम इस युग के सांस्कृतिक जीवन के विषय में महत्त्वपूर्ण बातें जान सकते हैं।

(२) विदेशी आक्रमणों का युग

कलिंग और सातवाहन राज्य—अशोक के बाद मौर्य-वंश की शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गई, और विशाल मागध-साम्राज्य की एकता कायम नहीं रह सकी। २१० ई० पू० के लगभग दो राज्य मौर्य-सम्राटों की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गये। चैत्रराज नामक प्रतापी व्यक्ति ने कलिंग में अपना स्वतन्त्र राज्य कायम किया, और सीमुक ने प्रतिष्ठान को राजधानी बनाकर सातवाहन-राज्य की नींव डाली। मौर्य-वंश के पतन-काल में कलिंग और सातवाहन-राज्य मगध के मुख्य प्रति-स्पर्धी बन गये। १८५ ई० पू० के लगभग मगध से भी मौर्य-वंश का अन्त हो गया, और अन्तिम मौर्य-राजा बृहद्रथ को मारकर सेनानी पुष्यमित्र ने शुंगवंश का प्रारम्भ किया। पुष्यमित्र शुंग के नेतृत्व में एक बार फिर मगध में शक्ति का संचार हुआ, पर

शुंग-वंश के शासन-काल में मागध-साम्राज्य का पुराना गौरव अविकल रूप से पुनः स्थापित नहीं हो सका।

यवन आक्रमण—चन्द्रगुप्त मौर्य ने यवन-आक्रान्ता सैल्युकस को परास्त किया था। पर उसके वंशज एण्टिगोनस ने २०० ई० पू० के लगभग फिर भारत पर आक्रमण किया। इस समय तक मौर्य-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई थी, अतः मागध सेनाएँ यवनों को परास्त करने में असमर्थ रहीं। सैल्युकस द्वारा स्थापित सीरियन साम्राज्य की अधीनता से जो अनेक देश स्वतन्त्र हुए थे, उनमें बैक्ट्रिया भी एक था। बैक्ट्रिया के यवन-राजा डेमट्रियस (दिमित्र) ने भी भारत पर आक्रमण किया। यवनों के ये आक्रमण बहुत समय तक भारत पर होते रहे। एक बार तो यवन लोग मथुरा और साकेत (अयोध्या) की विजय करते हुए पाटलिपुत्र तक भी चले आये। सिकन्दर और सैल्युकस भारत में अपना शासन स्थापित करते में असमर्थ रहे थे, पर उनके उत्तराधिकारी यवन लोग उत्तर-पश्चिमी भारत में अपने अनेक राज्य स्थापित करने में सफल हुए, और दूसरी सदी ई० पू० में उत्तर-पश्चिमी भारत और पश्चिमी पंजाब यवनों की अधीनता में आ गये।

शकों के आक्रमण—मध्य-एशिया में सीर नदी की घाटी में शक-जाति का निवास था। इस जाति ने दक्षिण की ओर आक्रमण करके बैक्ट्रिया के यवन राज्य को जीत लिया, और इसकी एक शाखा ने पार्थिया (यह राज्य ईरान में था) के पूर्व में होते हुए सीस्तान के मार्ग से सिन्ध पर आक्रमण किया। सिन्ध नदी के तट पर मीन नगर को राजधानी बनाकर इन्होंने भारत में अपनी शक्ति का विस्तार किया, और मथुरा, गांधार व उज्जैन में विविध शक क्षत्रप-वंश शासन करने लगे। ये शक क्षत्रप मीन नगर के शक महाराजा की अधीनता स्वीकार करते थे, यद्यपि इनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं के सदृश थी। शक-आक्रान्ता सिन्ध, दक्षिणापथ और उत्तर-पश्चिमी भारत को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए।

पार्थियन आक्रमण—यवनों और शकों के समान पार्थियन (पल्हव) लोगों ने भी इस युग में भारत पर आक्रमण किया, और पहली सदी ई० पू० के मध्य-भाग में पश्चिमी गान्धार में अपना एक पृथक् राज्य कायम कर लिया।

कुशाण आक्रमण—तिब्बत के उत्तर में तकलामकान मरुस्थल के सीमान्त पर युइशि जाति का निवास था। इसी के आक्रमणों के कारण शक जाति अपने अभिजन को छोड़कर बैक्ट्रिया और पार्थिया की ओर और आगे बढ़ने के लिये विवश हुई थी। युइशि लोग शकों को सीर की घाटी से धकेल कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने बैक्ट्रिया पर भी आक्रमण किया और उसे जीतकर मध्य एशिया के क्षेत्र में अपने अनेक राज्य कायम किये। कुजुल कुषाण नामक वीर राजा ने इन सब युइशि राज्यों को मिलाकर एक किया, और फिर हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर भारत पर आक्रमण किया। कुजुल कुषाण के बाद राजा विम और कनिष्क ने युइशि या कुशाण-साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया, और कनिष्क (७८ से १०० ई० के लगभग) के समय में कुशाण-साम्राज्य उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त कर गया। भारत में कनिष्क ने पंजाब और उत्तर प्रदेश को जीतकर मगध पर भी आक्रमण किया, और पाटलिपुत्र पर अपना अधि-

कार स्थापित कर लिया। उत्तरी भारत के प्रायः सब प्रदेश उसकी अधीनता में थे। उत्तर-पश्चिम में कनिष्क के साम्राज्य की सीमा चीन तक थी, और प्रायः सम्पूर्ण मध्य-एशिया उसके अधीन था। कनिष्क ने पुष्पपुर (पेशावर) की स्थापना कर उसे अपनी राजधानी बनाया, और भारत के विविध प्रदेशों का शासन करने के लिये अनेक क्षत्रपों की नियुक्ति की।

विदेशी आक्रान्ताओं की पराजय—यवन, शक पार्थियन और कुशाण लोग भारत के अनेक प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित करने में समर्थ अवश्य हुए थे, पर इस देश की अनेक राजनीतिक शक्तियाँ उनके साथ निरन्तर संघर्ष करती रहीं, और अन्त में उन्हें परास्त कर एक बार फिर विशाल मागध-साम्राज्य की स्थापना करने में सफल हुईं। कलिंगराज खारवेल ने उन यवन-आक्रान्ताओं को उत्तरापथ से निकाल दिया था, जो कि मथुरा और साकेत की विजय करते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गये थे। पुष्यमित्र शुंग के समय में उसके पौत्र वसुमित्र ने सिंध नदी के तट पर यवनों को परास्त किया था, और इस विजय के उपलक्ष्य में मुनि पतंजलि के पौरोहित्य में सम्राट् पुष्यमित्र ने अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान किया था। शक-आक्रान्ताओं की शक्ति को नष्ट करने का प्रधान श्रेय सातवाहन-वंश के प्रतापी राजाओं और मालव आदि गणराज्यों को है। सातवाहन-वंश के राजा गौतमीपुत्र सातकर्णि (लगभग १०० ई० पू० से ४४ ई० पू० तक) ने दक्षिणापथ, सौराष्ट्र और गुजरात के शक महाक्षत्रपों का उन्मूलन कर 'शकारि' और 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की। मागध-साम्राज्य की निर्बलता और विदेशी आक्रमणों की परिस्थिति से लाभ उठाकर पूर्वी पंजाब और राजपूताना में अनेक गणराज्य फिर से स्वतन्त्र हो गये थे। इनमें से अन्यतम गण मालव-राज्य ने शकों की पराजय में बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया, और अपने गण की प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित कर नये संवत् को (५७ ई० पू० से) प्रारम्भ किया, जो विक्रम संवत् के रूप में अब तक प्रचलित है।

पार्थियन लोगों का शासन केन्द्र पश्चिमी गान्धार में था, अतः उसका विनाश कुशाण आक्रान्ताओं द्वारा हुआ। भारत में कुशाणों का साम्राज्य एक सदी के लगभग (प्रथम सदी ई० प० के मध्य से दूसरी सदी ई० प० के मध्य तक) कायम रहा। पर शीघ्र ही भारत की राजशक्तियों ने उसके विरुद्ध भी संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। नाग भारशिव वंश के प्रतापी राजाओं ने उन्हें परास्त कर दस अश्वमेध-यज्ञों का अनुष्ठान किया, जिनकी स्मृति काशी के दशाश्वमेध घाट के रूप में अब तक भी सुरक्षित है। सातवाहन-वंश के राजा भी कुषाणों के विरुद्ध संघर्ष में निरन्तर तत्पर रहे। कुशाणों की शक्ति का अन्त करने में यौधेय, कुनिन्द, आर्जुनायन, मालव, शिवि आदि गणराज्यों ने भी बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इन विविध भारतीय राजशक्तियों के मुकाबले में कुषाणों का साम्राज्य नहीं टिक सका, और दूसरी सदी में उसका अन्त हो गया।

विदेशियों का भारतीय संस्कृति को अपनाना—तीसरी सदी ई० पू० के उत्तरार्ध में भारत पर विदेशियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए थे। चार सदी से कुछ अधिक समय तक भारत के बहुत से प्रदेशों पर यवन, शक, पार्थियन व कुशाण लोगों का शासन रहा। पर भारत के सम्पर्क में आकर इन विदेशी जातियों ने इस देश के धर्म, भाषा,

सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया था। इन्होंने बौद्ध, वैष्णव, शैव, आदि भारतीय धर्मों की दीक्षा ले प्राकृत व संस्कृत-भाषा का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था, और भारत में आकर वे पूर्णरूप से भारतीय संस्कृति के रंग में रंग गये थे। उनके सिक्के व शिलालेख इस बात को भलीभांति सूचित करते हैं। बहुत-से विदेशी लोगों ने तो इस समय अपने नाम भी भारतीय ही रखने शुरू कर दिये थे।

(३) गुप्त साम्राज्य

नाग भारशिववंशी राजाओं ने कुशाणों को परास्त कर भारतीय राजशक्ति के उद्धार का जो प्रयत्न प्रारम्भ किया था, वह गुप्त सम्राटों के समय में चरम सीमा को पहुँच गया था। श्री गुप्त नामक प्रतापी राजा द्वारा स्थापित इस राजवंश ने चौथी सदी ईस्वी में बहुत उन्नति की, और चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में गुप्तों का यह साम्राज्य सम्पूर्ण उत्तरी भारत में विस्तृत हो गया। दक्षिणी भारत के विविध राजा भी गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकृत करते थे, और कर आदि देकर उन्हें सन्तुष्ट रखते थे। गुप्त-वंश के उत्कर्ष के कारण मागध साम्राज्य एक बार फिर उस गौरवपूर्ण स्थिति को प्राप्त कर गया था, जिसमें कि वह मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त और अशोक के समय में था।

समुद्रगुप्त—गुप्त-वंश के गौरव की स्थापना का प्रधान श्रेय सम्राट् समुद्रगुप्त (लगभग ३२५ से ३७५ ईस्वी तक) को है। उसने दिग्विजय कर अश्वमेध-यज्ञ किया। उसकी दिग्विजय का वृत्तान्त प्रयाग के किले में उपलब्ध अशोक के प्राचीन प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्कीर्ण है। समुद्रगुप्त की यह प्रशस्ति गुप्त-वंश की कीर्ति का अनुपम स्मारक है। कुशाणों के साम्राज्य के पतनकाल में उत्तरी भारत में बहुत-से स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये थे, जिनमें अनेक गणराज्य भी थे। समुद्रगुप्त ने इन सबको अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। दक्षिण की विजय करते हुए उसने सुदूर चोलमण्डल तक को अपने अधीन किया। दक्षिण भारत में जो राजा समुद्रगुप्त की अधीनता को स्वीकृत करते थे, उसमें कांची (कांजीवरम्) के राजा विष्णुगुप्त, पिष्टपुर (पीठापुरम्) के राजा महेन्द्र और वेंगी के राजा हस्तिवर्मन् के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन विजयों के कारण दक्षिणी भारत के प्रायः सभी राजा गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त को अपना अधिपति स्वीकार करने लग गये थे। कामरूप (आसाम), नेपाल, कर्तृपुर (कुमाऊँ और गढ़वाल) और समतट (दक्षिण-पूर्वी बंगाल) के राज्य गुप्त-साम्राज्य के सीमान्तवर्ती थे, और उनके राजाओं की स्थिति समुद्रगुप्त के सामन्तों के सदृश थी। कुशाणों का शासन यद्यपि उत्तरी भारत से नष्ट हो गया था, पर भारत के उत्तर-पश्चिमी कोने में इस युग में भी उनका आधिपत्य विद्यमान था। पर कुशाण-वंश के ये "दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि" राजा भी समुद्रगुप्त को भेंट-उपहार आदि द्वारा संतुष्ट रखने का प्रयत्न करते थे, और उसके शासन (राजाज्ञा) को सिर झुकाकर स्वीकार करते थे। यही स्थिति सिंहल (लंका) के राजवंश की थी।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य—समुद्रगुप्त के बाद चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५ से ४१४ ई० तक) गुप्त-साम्राज्य का अधिपति बना। ऐसा प्रतीत होता है, कि कुछ समय

के लिये उसके बड़े भाई रामगुप्त ने भी शासन किया था, और उसकी निर्बलता से लाभ उठाकर शक-कुशाण लोग एक बार फिर प्रबल हो गये थे। अपने भाई के सेवक (बन्धुभृत्य) के रूप में चन्द्रगुप्त ने शकों को परास्त किया और गुप्त-वंश के गौरव की प्रतिष्ठा की। बाद में वह स्वयं पाटलिपुत्र के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। शकों को परास्त करने के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय भी 'शकारि' और विक्रमादित्य कहा जाता था। यह प्रतापी सम्राट् केवल शकों के आक्रमणों को विफल करके ही संतुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने पंजाब की सातों नदियों (यमुना, सतलज, व्यास, रावी, चनाब, जेहलम और सिन्धु) को पारकर बाल्हीक (बलख) देश पर भी आक्रमण किया, और उसे परास्त कर वंक्षु नदी के तट पर गुप्त वंश की विजय पताका स्थापित की। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के प्रताप के कारण शक और कुशाण लोगों की शक्ति निर्मूल हो गई थी, और प्रायः सम्पूर्ण भारत एक शासनसूत्र में संगठित हो गया था। चन्द्रगुप्त की कीर्ति दिल्ली के समीप महरौली में एक विशाल लौहस्तम्भ पर उत्कीर्ण है, जिसे उसने भगवान् विष्णु के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिये 'विष्णुध्वज' के रूप में स्थापित कराया था। इस राजा के समय में प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत की यात्रा के लिये आया था। उसके यात्रा-विवरण से इस युग के भारतीय समाज, सभ्यता व संस्कृति का अच्छा परिचय मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा में बहुत-से विद्वानों और कवियों ने आश्रय प्राप्त किया हुआ था, जिनमें धन्वन्तरि, कालिदास, अमरसिंह, घटकर्पर आदि नवरत्न प्रमुख थे।

स्कन्दगुप्त—चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद कुमारगुप्त (४१४-४५५) सम्राट् बना। उसके शासन-काल में गुप्त साम्राज्य की शक्ति अक्षुण्ण रूप में कायम रही। कुमारगुप्त के उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त (४५५–४६७) के समय में हूणों के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ हो गये। हूण लोग शुरू में चीन के उत्तरी प्रदेशों में निवास करते थे। इन्हीं के आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिये चीनी सम्राट् शी-हुआंग ती (२४६–२१० ई० पू०) ने चीन की विशाल दीवार का निर्माण कराया था। उत्तर की ओर से चीन के सभ्य प्रदेशों पर आक्रमण करने में असमर्थ होकर हूण लोग पश्चिम की ओर बढ़े, और युइशि जाति को उनके प्रदेश से निकाल कर बाहर किया। हूण लोग असभ्य और बर्बर थे। इन्हीं के आक्रमणों के कारण सुदूर-पश्चिम में रोमन साम्राज्य खंड खंड हो गया था। दक्षिण-पूर्व में इन्होंने गुप्त साम्राज्य पर भी आक्रमण किये, और स्कन्दगुप्त ने इनके साथ युद्ध करने में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। यद्यपि स्कन्दगुप्त अपने जीवन काल में हूणों की बाढ़ को रोक सकने में समर्थ हुआ, पर उसके उत्तराधिकारी इस बर्बर जाति का सामना नहीं कर सके। हूणों के निरन्तर आक्रमणों से गुप्त-साम्राज्य की जड़ें हिल गईं, और न केवल उत्तर-पश्चिमी भारत गुप्त-वंश की अधीनता से निकल गया, अपितु भारत के विविध प्रदेशों में अनेक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य भी कायम हो गये। इन राज्यों के अनेक प्रतापी राजाओं ने हूणों का मुकाबला करने में अनुपम वीरता प्रदर्शित की। इस सम्बन्ध में राजा यशोवर्मा का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसने हूणों को परास्त कर उनके राजा मिहिरगुल को अपनी चरणपूजा के लिये विवश किया। यशोवर्मा छठी सदी ईस्वी के मध्य भाग में हुआ था।

यद्यपि भारत के अनेक वीर राजा हूणों का मुकाबला करने में अद्भुत शौर्य प्रदर्शित कर रहे थे, पर छठी सदी ईस्वी में भारत में कोई ऐसी राजशक्ति नहीं रह गयी थी, जो इस देश की राजनीतिक एकता को कायम रख सकती। विविध प्रदेशों में विविध राजवंशों का शासन स्थापित हो गया था, और प्रतापी गुप्त सम्राटों द्वारा स्थापित साम्राज्य खंड-खंड हो गया था। गुप्त वंश के निर्बल राजा आठवीं सदी के प्रारम्भिक भाग तक मगध व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर शासन करते रहे, पर अब उनकी स्थिति सम्राटों की न होकर स्थानीय राजाओं के सदृश रह गई थी। समुद्रगुप्त और विक्रमादित्य के समय के साम्राज्य का अब अन्त हो चुका था।

गुप्त सम्राटों के शासन काल को भारतीय इतिहास में सुवर्णीय युग कहा गया है। निःसन्देह, यह काल सभ्यता, संस्कृति और कला के क्षेत्र में उत्कर्ष का युग था। ज्ञान, विज्ञान, साहित्य आदि सभी दृष्टियों से यह युग अत्यन्त महत्त्व का था। पुष्यमित्र शुंग के समय में ही भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान प्रारम्भ हो गया था। प्रायः सभी गुप्त-सम्राट् (कुछ अपवादों को छोड़कर) भागवत वैष्णव-धर्म के अनुयायी थे। उनके शासन-काल में न केवल भारत में अपितु पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी भागवत वैष्णव व शैव धर्मों का प्रसार हुआ, और बहुत से साहसी भारतीयों ने इस क्षेत्र में अपने उपनिवेशों की स्थापना की। धर्म प्रचारकों और उपनिवेश बसाने वालों के प्रयत्न से 'बृहत्तर भारत' का निर्माण हुआ, जो भारत के प्राचीन इतिहास में बड़े गौरव की बात है। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से गुप्त युग का महत्त्व बहुत अधिक है।

(४) मध्य युग

स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का ह्रास प्रारम्भ हो गया था, और विविध प्रदेशों में अनेक राजवंशों ने अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करनी शुरू कर दी थी। छठी सदी के इन राज्यों में दो बहुत महत्त्वपूर्ण थे—कन्नौज के मौखरी और स्थानेश्वर (थानेसर) के वर्धन। कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मा का विवाह थानेसर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था। गुप्त-वंश के अन्यतम राजा के साथ युद्ध करते हुए ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गयी, और प्रभाकर वर्धन का पुत्र हर्षवर्धन थानेसर और कन्नौज दोनों का स्वामी बन गया। राजा हर्षवर्धन का भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। वह बौद्ध-धर्म का संरक्षक था, और प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग उसी के शासन काल में भारत की यात्रा के लिये आया था। इस चीनी विद्वान् के यात्रा विवरण से हर्षकालीन भारत की सभ्यता और संस्कृति के विषय में बहुत-कुछ परिचय प्राप्त होता है। हर्षवर्धन न केवल बौद्ध धर्म का संरक्षक था, अपितु अन्य धर्मों के प्रति भी आदर का भाव रखता था। उसने अपने राज्य को विस्तृत करने के लिये अनेक युद्ध भी किये। उसका शासन-काल सातवीं सदी के पूर्वार्ध में था।

हर्ष के बाद भारत के प्राचीन इतिहास में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो उत्तरी भारत के बड़े भाग को अपनी अधीनता में ला सकने में सफल हुआ हो। वस्तुतः इस युग में (सातवीं सदी के मध्य से बारहवीं सदी के अन्त तक) भारत के विविध प्रदेशों

में विविध राजवंशों का शासन रहा, उनके राजा परस्पर युद्ध में व्यापृत रहे और अन्य राज्यों को जीतकर अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करते रहे। इसी युग को भारतीय इतिहास का मध्य युग भी कहा जाता है। इस युग में जिन विविध राजवंशों का शासन था, उनमें पाल, सेन, चालुक्य, राष्ट्रकूट, गुर्जर-प्रतिहार, चन्देल, परमार, यादव काकतीय, कदम्ब, होयसल, गंग, पल्लव, चोल और पाण्ड्य मुख्य हैं। इन राजवंशों के शासन-वृत्तान्त का यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह युग अव्यवस्था का था। किसी एक शक्तिशाली केन्द्रीय राजशक्ति के अभाव में इन विविध राजवंशों के राजा आपस में युद्ध करने और अपनें शासन-क्षेत्र की वृद्धि करने में तत्पर रहते थे।

मध्ययुग में भी भारत में अनेक प्रतापी राजा हुए, जिन्होंने अपने राज्यों को विस्तृत करने में अच्छी सफलता प्राप्त की। इनमें पालवंशी राजा देवपाल (८०९-८५५), गुर्जर-प्रतिहार वंश के राजा मिहिर भोज (८३६-८९०) और परमार वंश के राजा मुञ्ज (९७४) विशेष महत्त्व के हैं। यद्यपि इन व कतिपय अन्य राजाओं ने दूर-दूर तक विजय-यात्राएँ कीं, पर ये उस ढंग के स्थायी-साम्राज्य स्थापित नहीं कर सके, जैसे कि प्राचीनकाल में चन्द्रगुप्त मौर्य व गुप्तवंशी समुद्रगुप्त ने किये थे। दक्षिणापथ के मध्यकालीन राजाओं में चालुक्यवंशी पुलकेशी द्वितीय (हर्षवर्धन का समकालीन), राष्ट्रकूट वंश का गोविन्द तृतीय (७९४-८१४) और कल्याणी के चालुक्य राजा सोमेश्वर आहवमल्ल (१०४७-१०६८) बड़े प्रतापी हुए और ये प्रायः सम्पूर्ण दक्षिणा-पथ को अपनी अधीनता में ला सकने में समर्थ हुए। सुदूर दक्षिण के मध्यकालीन राजाओं में राजराज प्रथम (९८५-१०१२) और राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४) ने अपनी शक्ति का बहुत विस्तार किया, और समुद्र पार के प्रदेशों में भी अपने शासन की स्थापना की। पर ये सब शक्तिशाली राजा भारत में एक स्थायी व विशाल साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सके।

पर सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से यह युग कम महत्त्व का नहीं है। गुप्तवंश के शासन-काल में साहित्य, कला और धर्म के क्षेत्र में जो उन्नति प्रारम्भ हुई थी, वह इस युग में जारी रही, और शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट व रामानुज जैसे धर्माचार्य और भवभूति व बाणभट्ट जैसे साहित्यिक इसी युग में हुए। विविध राजवंशों के प्रतापी राजाओं के संरक्षण में अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण इस युग की विशेषता है।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास को लिखते हुए हम राजनीतिक इतिहास के इसी युग-विभाग का स्थूल-रूप से अनुसरण करेंगे।

ग्यारहवां अध्याय

बौद्ध-युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) गणराज्यों की कार्यविधि

मगध के सम्राटों ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए जिन अनेक जनपदों को विजय किया था, उनमें से बहुत-से ऐसे थे, जिनमें गणतन्त्र-शासन स्थापित था। वज्जि-संघ, मल्ल, शाक्य, भग्ग, मोरिय आदि जनपद गणराज्य ही थे। महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव एक गण व संघराज्य में ही हुआ था, और उनका जीवन संघ के वातावरण में ही व्यतीत हुआ था। यही कारण है, कि जब उन्होंने अपने नये धार्मिक सम्प्रदाय की स्थापना की, तो उसे 'भिक्षु-संघ' नाम दिया। अपने धार्मिक संघ की स्थापना करते हुए स्वाभाविक रूप से उन्होंने अपने समय में विद्यमान राजनीतिक संघों को दृष्टि में रखा, और उन्हीं के नियमों व कार्यविधि को अपनाया। बौद्ध-साहित्य द्वारा यह बात भली-भाँति स्पष्ट है। जिस समय मगधराज अजातशत्रु का प्रधान मन्त्री वस्सकार बुद्ध के पास वज्जि-राज्यसंघ पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में परामर्श करने के लिये गया, तब बुद्ध ने सात अपरिहाणीय धर्मों का उपदेश दिया, जिनका पालन करते हुए वज्जियों को जीत सकना उनकी सम्मति में सम्भव नहीं था। वर्षकार के लौट जाने के कुछ देर बाद बुद्ध ने भिक्षुओं को एकत्रित कर उन्हीं सात अपरिहाणीय धर्मों का कुछ परिवर्तन के साथ उपदेश किया। इस प्रसंग में महापरिनिब्बान सुत्तान्त में लिखा है:—

"तब भगवान् ने वस्सकार ब्राह्मण के जाने के थोड़ी ही देर बाद आयुष्मान् आनन्द को आमन्त्रित किया।

'जाओ, आनन्द ! तुम जितने भिक्षु राजगृह के आसपास विचरते हैं, उन सबको उपस्थानशाला में एकत्र करो।'

'अच्छा, भगवन् !'

'भगवन् ! भिक्षुसंघ को एकत्र कर दिया। अब आप आज्ञा करें।'

'तब भगवान् आसन से उठकर जहाँ उपस्थानशाला थी, वहाँ गये और बिछे हुए आसन पर बैठ गये। बैठकर भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—

'भिक्षुओ ! तुम्हें सात अपरिहाणीय धर्मों का उपदेश करता हूँ। उनको ध्यान से श्रवण करो।

'भिक्षुओ, जब तक भिक्षु लोग एक साथ एकत्रित होकर बहुधा अपनी सभाएं करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओ ! भिक्षुओं की वृद्धि समझना, हानि नहीं।

'जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग एक हो बैठक करते रहेंगे, एक हो उत्थान करते रहेंगे और एक हो संघ के कार्यों को सम्पन्न करते रहेंगे, तब तक भिक्षुओं की वृद्धि ही समझना, हानि नहीं।

'जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग जो अपने संघ में विहित है उसका उल्लंघन नहीं करेंगे, जो विहित नहीं है उसका अनुसरण नहीं करेंगे, जो पुराने भिक्षुओं के नियम चले आ रहे हैं उनका पालन करते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

'जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग जो अपने में बड़े धर्मानुरागी, चिरप्रव्रजित, संघ के पिता, संघ के नायक, स्थविर भिक्षु हैं, उनका सत्कार करते रहेंगे, उन्हें वे बड़ा मानकर उनकी पूजा करते रहेंगे, उनकी बात को सुनने तथा ध्यान देने योग्य समझते रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

'जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग पुनः-पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वश में नहीं पड़ेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

'जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग वन की कुटियों में निवास करने की इच्छा वाले रहेंगे, तब तक उनकी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

'जब तक भिक्षुओ ! भिक्षु लोग यह स्मरण रखेंगे, कि भविष्य में सुन्दर, ब्रह्मचारी संघ में सम्मिलित हों और सम्मिलित हुए लोग ब्रह्मचारी रहते हुए सुख से निवास करें, तब तक भिक्षु-संघ की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।

"भिक्षुओ ! जब तक ये सात अपरिहाणीय धर्म भिक्षुओं में रहेंगे, जब तक भिक्षु इन सात अपरिहाणीय धर्मों में दिखायी देंगे, तब तक भिक्षु-संघ की वृद्धि ही होगी, हानि नहीं।' "

इस उद्धरण से स्पष्ट है, कि अपने संघ के लिये महात्मा बुद्ध ने जिन सात अनुल्लंघनीय धर्मों का प्रतिपादन किया है, वे प्रायः वही हैं, जिनका महत्त्व वज्जिसंघ में विद्यमान था। इनमें से पहले चार धर्म तो बिलकुल वे ही हैं।

यह सर्वथा स्पष्ट तथा स्वाभाविक था, कि महात्मा बुद्ध अपने धार्मिक संघ का निर्माण करते हुए अपने समय के प्रचलित राजनीतिक संघों का अनुसरण करते। इसमें कोई सन्देह नहीं कि महात्मा बुद्ध ने अपने धार्मिक संघ की विशेष परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार अनेक नवीन नियमों का भी निर्माण किया होगा। पर उनके स्वरूप, कार्यविधि आदि में राजनीतिक संघों से बहुत-कुछ सादृश्य होगा, यह बात सर्वथा स्पष्ट और स्वाभाविक है। राजनीतिक संघों की कार्यविधि से हमें विशेष परिचय नहीं है, पर सौभाग्यवश भिक्षुसंघ की कार्यविधि का वर्णन बड़े विस्तार के साथ बौद्ध-ग्रन्थों में किया गया है। उसी को दृष्टि में रखकर हम यहाँ संघराज्यों की कार्यविधि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

भिक्षु-संघ के सदस्यों के बैठने के लिये पृथक्-पृथक् आसन होते थे। आसनों की व्यवस्था करने के लिये एक पृथक् कर्मचारी होता था, जिसे 'आसनप्रज्ञापक' कहते थे। वैशाली की महासभा में अजित नाम के भिक्षु को इस पद पर नियुक्त किया गया था। चुल्लवग्ग में लिखा है:—

"उस समय अजित नाम का दसवर्षीय (जिसकी उपसंपदा हुए दस वर्ष व्यतीत हो गये हों) भिक्षु भिक्षु-संघ का प्रतिमोक्षोद्देशक (उपोसथ के दिन भिक्षु नियमों की आवृत्ति करनेवाला) था। संघ ने आयुष्मान् अजित को ही स्थविर भिक्षुओं का

आसनप्रज्ञापक नियत किया।"

संघ में जिस विषय पर विचार होना हो, उसे पहले प्रस्ताव के रूप में पेश किया जाता था। पर प्रस्ताव को उपस्थित करने से पूर्व पहले उसकी सूचना देनी होती थी। इस सूचना को 'ज्ञप्ति' कहते थे। ज्ञप्ति के बाद प्रस्ताव को बाकायदा उपस्थित किया जाता था। प्रस्ताव के लिए बौद्ध-साहित्य में पारिभाषिक शब्द 'प्रतिज्ञा' है। जो प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) के पक्ष में होते थे, वे चुप रहते थे। जो विरोध में होते थे, वे अपना विरोध प्रगट करते थे। यदि प्रस्ताव उपस्थित होने पर संघ चुप रहे, तो उसे तीन बार पेश किया जाता था। तीनों बार संघ के चुप रहने पर उस प्रस्ताव को स्वीकृत मान लिया जाता था। विरोध होने पर बहुसम्मति द्वारा निर्णय करने की प्रथा थी। हम इस प्रक्रिया को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करते हैं। राजगृह की महासभा में आयुष्मान् महाकाश्यप ने सभा को सम्बोधन करके कहा :—

"भिक्षुओ, संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ को पसंद हो, तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिए नियुक्त करे। इस काल में अन्य भिक्षु-लोग राजगृह में न जाएं। यह ज्ञप्ति (सूचना) है।

"भिक्षुओ, संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करे। इस काल में अन्य भिक्षु लोग राजगृह में न जाएं। जिस आयुष्मान् को पाँच सौ भिक्षुओं का राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करना और इस काल में अन्य भिक्षुओं का राजगृह में न जाना पसन्द हो, वह चुप रहे। जिसको पसन्द न हो, वह बोले।"

दूसरी बार फिर इसी वाक्य को दुहराया गया। तीसरी बार फिर इसी वाक्य को दुहराया गया। उसके बाद महाकाश्यप ने कहा :—

"संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास के समय धर्म और विनय का संगायन करने के लिये नियुक्त करने तथा इस काल में अन्य भिक्षुओं के राजगृह में न जाने के प्रस्ताव से सहमत है। संघ को यह पसन्द है, इसलिये वह चुप है। यह मेरी धारणा है।"

महात्मा बुद्ध के समय में उन्हीं के आदेश से निम्नलिखित प्रस्ताव संघ के सम्मुख उपस्थित किया गया था :—

"संघ मेरी बात को सुने। इस भिक्षु उवाल से संघ के बीच में एक अपराध के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। कभी यह अपराध को स्वीकार करता है। कभी उसका निषेध करता है। कभी परस्पर-विरोधी बातें कहता है। कभी दूसरों पर आक्षेप करता है। कभी जानता हुआ भी झूठ बोलता है। यदि संघ पसन्द करे, तो भिक्षु उवाल को 'तस्सपापीयसिका कम्म' का दण्ड दिया जाए। यह ज्ञप्ति (सूचना) है।

"संघ मेरी बात को सुने। इस भिक्षु उवाल से संघ के बीच में एक अपराध के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये। कभी यह अपराध को स्वीकार करता है। कभी निषेध करता है। कभी परस्पर विरोधी बातें करता है। कभी दूसरों पर आक्षेप करता है। कभी जानता हुआ भी झूठ बोलता है। संघ निश्चय करता है, कि इस भिक्षु उवाल को

'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड दिया जाए। जो भिक्षु इस भिक्षु उवाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड देने के पक्ष में हों, वे कृपया चुप रहें। जो इसके पक्ष में न हों, वे बोलें।

"फिर मैं इसी प्रस्ताव को दोहराता हूं—

"फिर तीसरी बार मैं इसी प्रस्ताव को दोहराता हूँ।

"यह निश्चय हो गया कि इस भिक्षु उवाल को 'तस्सपापीय्यसिका कम्म' का दण्ड किया जाए। इसीलिये संघ चुप है। यह मेरी धारणा है।"

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है, कि भिक्षुसंघ में कार्य-विधि किस प्रकार की थी, और किस ढंग से ज्ञप्ति तथा प्रतिज्ञा (प्रस्ताव) पेश किये जाते थे।

भिक्षु संघ के लिये 'कोरम' (quorum) का भी नियम था। संघ की बैठक के लिये कम-से-कम बीस भिक्षुओं की उपस्थिति आवश्यक थी। यदि कोई कार्य पूरे कोरम के बिना किया जाए, तो उसे मान्य नहीं समझा जाता था।

गणपूरक नाम के एक भिक्षुकर्मचारी का कार्य ही यह होता था, कि वह कोरम को पूरा करने का प्रयत्न करे। यह संघ के अधिवेशन के लिये जितने भिक्षुओं की आवश्यकता हो, उन्हें एकत्रित करता था। आजकल की व्यवस्थापिका-सभाओं में जो कार्य ह्विप (Whip) करते हैं, यह गणपूरक पुराने भिक्षुसंघों में वही कार्य किया करता था।

जिन प्रस्तावों पर किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होती थी, वे सर्वसम्मति से स्वीकृत समझे जाते थे। उनपर वोट लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। उनपर विवाद नहीं होता था। परन्तु यदि किसी प्रश्न पर मतभेद हो, तब उसके पक्ष और विपक्ष में भाषण होते थे और बहुसम्मति द्वारा उसका निर्णय किया जाता था। बहुसम्मति द्वारा निर्णय होने को 'ये भूयस्सिकम्' या 'ये भूयसीयम्' कहते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में वोट के लिये 'छन्द' शब्द है। छन्द का दूसरा अर्थ स्वतन्त्र होता है। इससे यह ध्वनि निकलती है, कि वोट के लिये स्वतन्त्रता को बहुत महत्त्व दिया जाता था।

वोट के लिये प्रयोग में आने वाली पर्चियों को 'शलाका' कहते थे। वोट लेने के लिये एक भिक्षु कर्मचारी होता था, जिसे 'शलाकाग्राहक' कहते थे, यह 'शलाका-ग्रहण' (वोट एकत्रित करना) का काम किया करता था।

शलाका-ग्राहक नियुक्त करते हुए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाता था :—

(१) जो अपनी रुचि के रास्ते न जाये।
(२) जो द्वेष के रास्ते न जाए।
(३) जो मोह के रास्ते न जाए।
(४) जो भय के रास्ते न जाए।
(५) जो पहले से पकड़े रास्ते न जाए।

वर्तमान शब्दों में हम इन पाँच बातों को इस प्रकार कह सकते हैं:—

(१) जो नियमों के अनुसार कार्य करे, वोट लेते समय स्वच्छन्द आचरण न करे।
(२) जो निष्पक्षपात हो, किसी पक्ष से द्वेष न करता हो।

(३) जो किसी से पक्षपात न करे, किसी पक्ष से मोह न रखता हो।

(४) जो किसी शक्तिशाली दल या व्यक्ति के भय में न आ सकता हो।

(५) जिसकी सम्मति पहले से ही बनी हुई न हो।

शलाका-ग्राहक को नियुक्त करने के लिये निम्नलिखित पद्धति का अनुसरण किया जाता था :—

जिस व्यक्ति का नाम शलाका-ग्राहक के पद के लिये पेश किया जाना हो, पहले उससे यह स्वीकृति ले ली जाती थी कि यदि संघ उसे नियुक्त करे, तो वह पद को स्वीकृत कर लेगा। इसके पश्चात् कोई योग्य भिक्षु निम्नलिखित प्रस्ताव संघ के सम्मुख उपस्थित करता था—

"संघ मेरी बात को सुने। यदि संघ पसन्द करे, तो अमुक व्यक्ति को शलाका-ग्राहक पद के लिये नियुक्त किया जाए। यह ज्ञप्ति है।"

इसके पश्चात् नियमानुसार प्रस्ताव (प्रतिज्ञा) उपस्थित किया जाता था।

वोट लेने के तीन ढंग थे—(१) गूढ़क, (२) सकर्णजल्पक, (३) विवृतक। चुल्लवग्ग में इन तीनों पद्धतियों को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है :—

(१) गूढ़क—शलाका-ग्राहक जितने पक्ष हों उतने रंगों की शलाकाएं बनाता था। क्रम से भिक्षु उसके पास वोट देने के लिये आते थे। प्रत्येक भिक्षु को शलाका-ग्राहक बताता था, कि इस रंग की शलाका इस पक्ष की है, उन्हें जो पक्ष अभिमत हो, उसकी शलाका उठा लो। वोट देने वाले के शलाका उठा लेने पर वह उसे कहता था, तुमने कौन-सी शलाका उठायी है, यह किसी दूसरे से न कहना।

(२) सकर्णजल्पक—जब वोट देनेवाला भिक्षु शलाका-ग्राहक के कान में कह-कर अपने मत को प्रगट करे, तो उसे 'सकर्णजल्पक' विधि कहा जाता था।

(३) विवृतक—जब वोट खुले रूप से लिये जाएं, तो विवृतक विधि होती थी।

जिन प्रश्नों पर भिक्षुसंघ में मतभेद होता था, उन पर अनेक बार बहुत गरमा-गरम बहस हो जाती थी और निर्णय पर पहुँच सकना कठिन हो जाता था। उस दशा में संघ की एक उपसमिति बना दी जाती थी, जिसे 'उद्वाहिका' या 'उद्वहिका' कहते थे। यह 'उद्वाहिका' विवादग्रस्त विषय पर भली-भांति विचार कर उसका निर्णय करने में समर्थ होती थी। पर यदि इससे भी परस्पर-विरोध शान्त न हो, तो 'ये भूयसीयम्' के अतिरिक्त निर्णय का अन्य कोई उपाय नहीं रहता था।

उद्वाहिका द्वारा किस प्रकार कार्य होता था, इसे स्पष्ट करने के लिये हम बौद्ध साहित्य से एक उद्धरण उपस्थित करते हैं :—

"तब उस विवाद के निर्णय करने के लिये संघ का अधिवेशन किया गया। पर उस विषय का निर्णय करते समय अनर्गल बहस होने लगी। किसी भी कथन का अर्थ स्पष्ट प्रतीत नहीं होता था। तब आयुष्मान् रेवत ने संघ के सम्मुख यह प्रस्ताव प्रस्तुत किया—

'भगवन्, संघ मेरी बात को सुने। हमारे इस विषय को निर्णय करते समय अनर्गल विवाद उत्पन्न हो रहे हैं, किसी बात का भी अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो रहा है, यदि संघ को पसन्द हो तो संघ इस विषय को उद्वाहिका (उपसमिति) के सुपुर्द करे।"

आयुष्मान् रैवत के प्रस्तावानुसार चार प्राचीनक भिक्षु और चार पावेयक भिक्षु चुने गये। प्राचीनक भिक्षुओं में आयुष्मान् सर्वकामी, आयुष्मान् साढ़, आयुष्मान् क्षुद्र-शोभित और आयुष्मान् वार्षभग्रामिक को लिया गया। पावेयक भिक्षुओं में आयुष्मान् रैवत, आयुष्मान् संभूत साणवासी, आयुष्मान् यश काकंडपुत्त और आयुष्मान् सुमन लिये गये। तब आयुष्मान् रैवत ने संघ के सम्मुख प्रस्ताव उपस्थित किया—

"भगवन्! संघ मेरी बात को सुने। हमारे इस विषय का निर्णय करते समय अनर्गल विवाद उत्पन्न हो रहे हैं, किसी बात का भी अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो रहा है, यदि संघ को पसन्द हो, तो संघ चार प्राचीनक और चार पावेयक भिक्षुओं की उद्-वाहिका को इस विवाद को शमन करने के लिये नियुक्त करे। यह ज्ञप्ति है।"

इसके बाद तीन बार प्रस्ताव उपस्थित किया गया, और सबके सहमत होने के कारण उस विवादग्रस्त विषय को उद्वाहिका के सुपुर्द कर दिया गया।

संघ की वक्तृताओं तथा अन्य कार्य को उल्लिखित करने के लिये लेखक भी हुआ करते थे। महागोविन्द सुत्तान्त (दीर्घ निकाय) के अनुसार "तातविंशदेव सुधम्म-सभा में एकत्रित हुए, और अपने-अपने आसनों पर विराजमान हो गये। वहाँ उस सभा में चार महाराज इस कार्य के लिये विराजमान थे, कि भाषणों तथा प्रस्तावों को उल्लिखित करें।" तातविंशदेवों की सभा में 'महाराज' की उपाधि से युक्त लेखकों के उपस्थित होने की कल्पना में आश्चर्य की कोई बात नहीं है। मनुष्यों में जो संस्थाएँ होती हैं, देवों में भी उन्हीं की कल्पना कर ली जाती है। उस समय बौद्ध-संघ तथा राज-नीतिक संघों में इस प्रकार के सम्मानास्पद लेखक प्रस्तावों तथा भाषणों को उल्लिखित करने के लिये नियुक्त होते थे। इसीलिये देवसभा में भी उनकी सत्ता कल्पित की गयी थी।

यदि कोई वक्ता संघ में भाषण करते हुए वक्तृता के नियमों का ठीक प्रकार से पालन न करे, परस्पर-विरोधी बात बोले, पहले कही हुई बात को दोहराये, कटु भाषण करे या इसी प्रकार कोई अन्य अनुचित कार्य करे, तो उसे दोषी समझा जाता था और इसके लिये उसे उत्तरदायी होना पड़ता था।

जो भिक्षु संघ के अधिवेशन में किसी कारण उपस्थित न हो सकें, उनकी सम्मति लिखितरूप से माँग ली जाती थी। यह आवश्यक नहीं होता था, कि इन अनु-पस्थित भिक्षुओं की सम्मति का निर्णय के लिये परिगणन अवश्य किया जाय, पर उनकी सम्मति लेना आवश्यक समझा जाता था। उनकी सम्मति से उपस्थित भिक्षुओं को अपनी सम्मति बनाने में सहायता मिल सके, इसीलिये यह व्यवस्था की गयी थी।

बौद्ध-संघ की इस कार्यविधि का अनुशीलन करने से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि संघ एक अत्यन्त उन्नत तथा विकसित संस्था थी। कार्यविधि के नियमों की बारीकियों पर उसमें ध्यान दिया जाता था। यह हम पहले बता चुके हैं, कि बौद्धसंघ का निर्माण राजनीतिक संघों को सम्मुख रखकर किया गया था। कार्य-विधि की ये सब बातें राजनीतिक संघों से ही ली गई थीं। बौद्ध-संघ की कार्यविधि के अनुशीलन से यह कल्पना सुगमता के साथ की जा सकती है, कि यही विधि राज-नीतिक संघों में भी विद्यमान थी। उनमें भी इसी के अनुसार कार्य होता था।

(२) शासन का स्वरूप

बौद्ध-युग के सब राज्यों में एक ही प्रकार का शासन प्रचलित नहीं था। भिन्न-भिन्न राजतन्त्र-राज्यों में राजा की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। यही कारण है, कि जातक-साहित्य तथा अन्य बौद्ध-ग्रन्थों में इस विषय में विविध तथा परस्पर-विरोधी विचार उपलब्ध होते है। हम यहाँ इन विचारों को प्रदर्शित करने का यत्न करेंगे।

राजा की स्थिति—बौद्ध-साहित्य के अनुसार राजा को राज्य का स्वामी नहीं माना जाता था, उसका कार्य केवल प्रजा का पालन तथा अपराधियों को दण्ड देना ही समझा जाता था। वह व्यक्तियों पर कोई अधिकार नहीं रखता था। एक जातक-कथा के अनुसार एक बार एक राजा की प्रिय रानी ने अपने पति से यह वर माँगा कि मुझे राज्य पर अमर्यादित अधिकार प्रदान कर दिया जाय। इसपर राजा ने अपनी प्रिय रानी से कहा—'भद्रे! राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियों पर मेरा कोई भी अधिकार नहीं है, मैं उनका स्वामी नहीं हूँ। मैं तो केवल उनका स्वामी हूँ, जो राजकीय नियमों का उल्लंघन कर अकर्त्तव्य कार्य को करते है। अतः मै तुम्हें राष्ट्र के सम्पूर्ण निवासियों का स्वामित्व प्रदान करने में असमर्थ हूँ।' इससे स्पष्ट है, कि जातक-साहित्य के समय में राजा का अधिकार मर्यादित माना जाता था, और वे सम्पूर्ण जनता पर अबाधित रूप से शासन नहीं कर सकते थे।

राज्य व राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो मन्तव्य बौद्ध-साहित्य मे पाये जाते हैं, वे इसी विचार की पुष्टि करने वाले है। बौद्ध-साहित्य के अनुसार पहले राज्य-संस्था नहीं थी, अराजक दशा थी। जब लोगो में लोभ और मोह उत्पन्न हो जाने के कारण 'धर्म' नष्ट हो गया, तो उन्हे राज्यसंस्था के निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके लिये वे एक स्थान पर एकत्रित हुए और अपने मे जो सबसे अधिक योग्य, बलवान्, बुद्धिमान् और सुन्दर व्यक्ति था, उसे राजा बनाया गया। उस योग्यतम व्यक्ति को राजा बनाकर सबने उसके साथ निम्न प्रकार से 'समय' (संविदा या करार) किया—"अबसे तुम उस व्यक्ति को दण्ड दिया करो, जो दण्ड देने योग्य हो और उसे पुरस्कृत किया करो, जो पुरस्कृत होने योग्य हो। इसके बदले मे हम तुम्हे अपने क्षेत्रो की उपज का एक भाग प्रदान किया करेंगे।" इसके आगे लिखा गया है—"क्योंकि यह व्यक्ति सब द्वारा सम्मत होकर अपने पद पर अधिष्ठित होता है, इसलिये इसे 'महासम्मत' कहते हैं। क्योंकि यह क्षेत्रों का रक्षक है, और क्षति से जनता की रक्षा करता है, अतः 'क्षत्रिय' कहाता है। क्योंकि यह प्रजा का रञ्जन करता है, इस कारण उसे 'राजा' कहा जाता है।" राजा के सम्बन्ध मे ये विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसी ढंग के विचार महाभारत, शुक्रनीति आदि प्राचीन नीति-ग्रन्थो में भी उपलब्ध होते है। पर यहाँ हम यही प्रदर्शित करना चाहते है, कि बौद्ध-काल मे भी राजा के सम्बन्ध मे जो विचार प्रचलित थे, वे उसे जनता व राज्य का अमर्यादित स्वामी नहीं बनने दे सकते थे। वे उसकी शक्ति को मर्यादित रखने का ही प्रयत्न करते थे।

पर बौद्ध-काल के सभी राजा शासन मे इन उदात्त सिद्धान्तो का अनुसरण नहीं करते थे। जातक-कथाओं में अनेक इस प्रकार के राजाओं का भी उल्लेख आता है, जो अत्याचारी, क्रूर और प्रजापीड़क थे। महापिंगल-जातक मे बनारस के एक

राजा का उल्लेख आया है, जिसका नाम महापिंगल था। वह अधर्म से प्रजा का शासन करता था; दण्ड, कर आदि द्वारा वह जनता को इस प्रकार पीसता था, जैसे कोल्हू में गन्ना पीसा जाता है। वह बड़ा क्रूर, अत्याचारी और भयंकर राजा था। दूसरों के प्रति उसके हृदय में दया का लवलेश भी न था। अपने कुटुम्ब में भी वह अपनी धर्मपत्नी, सन्तान आदि पर तरह-तरह के अत्याचार करता रहता था।

इसी प्रकार केशिशील-जातक में वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का वर्णन करते हुए लिखा है, कि वह बड़ा स्वेच्छाचारी तथा क्रूर राजा था। उसे पुरानी वस्तुओं से बड़ा द्वेष था। वह न केवल पुरानी चीजों को ही नष्ट करने में व्यापृत रहता था, पर साथ ही वृद्ध-स्त्री पुरुषों को तरह-तरह के कष्ट देकर उन्हें मारने में उसे बड़ा आनन्द प्रतीत होता था। जब वह किसी बूढ़ी स्त्री को देखता, तो उसे बुलाकर पिटवाता था। बूढ़े पुरुषों को वह इस ढंग से जमीन पर लुढ़काता था, मानो वे धातु के बरतन हों।

इसी प्रकार अन्यत्र भी जातक-कथाओं में अत्याचारी और क्रूर राजाओं का वर्णन आया है। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि बहुसंख्यक राजा धार्मिक और प्रजा-पालक होते थे। ऊपर जिन राजाओं का जिक्र हमने किया है, वैसे राजा जातक-कथाओं में बहुत कम हैं। बौद्ध-काल के राजा प्रायः अपनी 'प्रतिज्ञा' पर दृढ़ रहनेवाले होते थे। जो राजा प्रजा पर अत्याचार करते थे, उनके विरुद्ध विद्रोह भी होते रहते थे। जातक-कथाओं में अनेक राजाओं के विरुद्ध किये गये विद्रोहों तथा राजाओं के पद-च्युत किये जाने के उल्लेख मिलते हैं। कुछ उदाहरण हम यहाँ उपस्थित करते हैं:—

सच्चंकिर जातक में एक राजा की कथा आती है, जो बड़ा क्रूर और अत्याचारी था। आखिर, लोग उसके शासन से तंग आ गये और ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य सब देशवासियों ने मिलकर निश्चय किया कि इस राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया जाए। इसी के अनुसार एक बार जब वह अत्याचारी राजा हाथी पर जा रहा था, उसपर आक्रमण किया गया और उसे वहीं कतल कर दिया गया। राजा को मारकर जनता ने स्वयं बोधिसत्व को अपना राजा निर्वाचित किया। इसी प्रकार पदकुशलमाणव-जातक में एक अत्याचारी राजा के विरुद्ध जनता के विद्रोह का वर्णन आया है। इस राजा के विरुद्ध भड़काते हुए जनता को निम्नलिखित बात कही गयी थी—'जनपद और निगम में एकत्रित जनता मेरी बात पर ध्यान दे। जल में अग्नि प्रज्वलित हो उठी है। जहाँ से हमारी रक्षा होनी चाहिये, वहीं से अब रक्षा के स्थान पर भय हो गया है; राजा और उसका ब्राह्मण पुरोहित राष्ट्र पर अत्याचार कर रहे हैं। अब तुम लोग अपनी रक्षा स्वयं करो। जहाँ तुम्हें शरण मिलनी चाहिये, वही स्थान अब भयंकर हो गया है।'

जनता को यह बात समझ में आ गयी। उन्होंने मिलकर राजा का घात कर दिया, और इस प्रकार उस अत्याचारी शासन का अन्त हुआ। खण्डहाल जातक में पुष्पवती नगरी के राजा की कथा आती है, जिसका पुरोहित खण्डहाल नाम का ब्राह्मण था। इस खण्डहाल के प्रभाव में आकर राजा बहुत पथभ्रष्ट हो गया, और उसने स्वर्ग-प्राप्ति की अभिलाषा से अपनी स्त्रियों, बच्चों और प्रजा के मुख्य व्यक्तियों को बलि देने का विचार करना प्रारम्भ किया। उसने सब तैयारी भी कर ली। पर जब इस महान् हत्याकाण्ड का अवसर उपस्थित हुआ, तो जनता इसे नहीं सह सकी और उसने विद्रोह

कर दिया । पुरोहित खण्डहाल कतल कर दिया गया, और जनता ने राजा पर भी आक्रमण किया । पर गवक के हस्तक्षेप करने पर जनता उसे प्राणदान देने के लिये उद्यत हो गयी । राजा की जान बच गयी, पर उसके सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गयी कि उसे राज्य से च्युत किया जाए और पुष्पवती से बहिष्कृत कर बाहर चाण्डालों के साथ बसने की अनुमति दी जाए । ऐसा ही किया गया, और जनता के विरोध से पुष्पवती के इस अत्याचारी और पथभ्रष्ट राजा के शासन का अन्त हुआ । इन उदाहरणों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है, कि बौद्ध-काल में अत्याचारी राजाओं के शासन को जनता सहन नहीं कर सकती थी, और अवसर पाकर उन्हें पदच्युत करने में कभी नहीं चूकती थी ।

बौद्ध-काल के राजतन्त्र राज्यों में राजा प्रायः वंशक्रमानुगत होते थे । पर राज-सिंहासन पर विराजमान होने के लिए उन्हें यह सिद्ध करना आवश्यक होता था, कि वे राज्यकार्य का संचालन करने के लिए उपयुक्त योग्यता रखते हैं । गामणिचण्ड जातक में कथा आती है, कि जब बनारस के राजा जनसन्ध की मृत्यु हो गयी, तो अमात्यों ने विचार किया कि राजकुमार की आयु बहुत कम है, अतः उसे राजा नहीं बनाना चाहिए । फिर विचार के अनन्तर उन्होंने यह निर्णय किया कि राजगद्दी पर बिठाने से पूर्व कुमार की परीक्षा करना आवश्यक है । कुमार को न्यायालय (विनिश्चयस्थान) में ले जाया गया, और वहाँ उसकी अनेक प्रकार से परीक्षा ली गयी । जब उसने यह सिद्ध कर दिया, कि राजा के लिए आवश्यक सब गुण उसमें विद्यमान है, तभी उसे वह पद दिया गया।

पादंजलि जातक की कथा इस सम्बन्ध में बहुत महत्त्वपूर्ण है । बनारस के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था । उसने अपने 'अर्थधर्मानुशासक अमात्य' के पद पर बोधिसत्त्व को नियत किया हुआ था । राजा का एक लड़का था, जिसका नाम पादंजलि था । वह बहुत आलसी और सुस्त था। कुछ समय पश्चात् राजा ब्रह्मदत्त की मृत्यु हो गयी और अमात्यों ने पादंजलि को राजा बनाने के लिए विचार करना प्रारम्भ किया । पर 'अर्थधर्मानुशासक अमात्य' बोधिसत्व ने उन्हें कहा—'यह पादंजलि अत्यन्त आलसी और सुस्त आदमी है । क्या यह उचित है कि हम इसे राजा बनाएं ?' अमात्यों ने निश्चय किया, कि उसकी परीक्षा लेकर इस बात का निर्णय किया जाएगा । वे उसे विनिश्चयस्थान (न्यायालय) में ले गये और एक अभियुक्त के मुकदमे का अशुद्ध फैसला कर पादंजलि से बोले—'कुमार ! क्या हमने ठीक निर्णय किया है ?' पादंजलि ने कुछ उत्तर नहीं दिया । वह अपने ओठों को चलाता रहा । बोधिसत्व ने सोचा—यह एक बुद्धिमान् लड़का है, उसने यह बात भांप ली है, कि हमने अशुद्ध निर्णय किया है । इसीलिए वह अपने ओंठ इस प्रकार चला रहा है । अगले दिन फिर पादंजलि को न्यायालय में लाया गया । फिर एक अभियुक्त का मुकदमा पेश किया गया । पर इस दिन उसका निर्णय ठीक-ठीक किया गया। मुकदमे की समाप्ति पर फिर कुमार से पूछा गया, कि 'कुमार क्या हमने ठीक फैसला किया है ?' पादंजलि फिर इसी तरह चुप बैठा रहा, और अपने ओठों को चलाता रहा । अब बोधिसत्व को ज्ञात हो गया, कि पादंजलि वज्रमूर्ख है । उसमें सच व झूठ का विवेक करने की शक्ति ही नहीं है । अंत में अमात्यों ने यही निश्चय किया कि उसे राजा न बनाया जाए । उन्होंने राजकुल के

हुए भी पादंजलि को राजगद्दी नहीं दी और बोधिसत्व को राजा बनाने का निश्चय किया। इस कथा से स्पष्ट हो जाता है, कि राजा बनने की योग्यता का निर्णय अमात्य लोग किया करते थे। सामान्य दशा में राजा का लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। पर यदि वह योग्य न हो, या उसकी योग्यता के सम्बन्ध में विवाद हो, तो अमात्य लोग उसकी परीक्षा लेते थे और परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने पर किसी अन्य को राज्य प्रदान कर सकते थे।

शासन करने की योग्यता के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी राजा के लिए ध्यान में रखी जाती थीं। अन्धे व विकलांग व्यक्ति को राजा नहीं बनाया जाता था। शिवि-जातक में अरिट्ठपुर के राजा शिवि की कथा आती है, जो बड़ा दानी था। उसके दान की कीर्ति सब ओर फैली हुई थी। एक बार एक अन्धे भिक्षुक ब्राह्मण ने उससे आँखों की भिक्षा मांगी। राजा शिवि तैयार हो गया और उसने अपनी आँखें उस भिक्षुक को प्रदान कर दीं। स्वयं अन्धा हो जाने पर राजा शिवि ने सोचा, कि अन्धे आदमी के राजसिंहासन पर बैठने से क्या लाभ है। वह अपने अमात्यों के हाथ में राज्य को सुपुर्द कर स्वयं वन में चला गया, और वहाँ तापस के रूप में जीवन व्यतीत करने लगा। इसी प्रकार सम्बुल जातक में बनारस के राजकुमार सोट्ठसेन की कथा आती है, जो कोढ़ से पीड़ित था और इसी रोग से ग्रस्त होने के कारण राजप्रासाद को छोड़कर जंगल में चला गया था। वह तब तक अपने राज्य में वापस नहीं लौटा, जब तक कि उसकी धर्मपत्नी सम्बुला की सेवा से उसका रोग पूर्णतया दूर नहीं हो गया। कोढ़ से पीड़ित होने के कारण वह अपने को राजसिंहासन के योग्य नहीं समझता था।

सामान्यतया, राजतन्त्र-राज्यों में राजा का बड़ा लड़का ही राजगद्दी पर बैठता था। इसीलिए राजा लोग सन्तान के लिए बहुत उत्सुक रहते थे। सन्तान की इच्छा से वे बहुविवाह में भी संकोच नहीं करते थे। पर यदि राजा के कोई सन्तान न हो, तो राजगद्दी राजा के भाई को प्राप्त हो सकती थी। अनेक बार राजा के जामाता को भी राजगद्दी दे दी जाती थी। कुछ दशाओं में राजा की विधवा रानी भी अमात्यवर्ग की सहायता से राज्य का संचालन करती थी। उदय जातक में कथा आती है, कि राजा उदय के पश्चात् उसकी रानी उदयभद्दा ने शासन किया और अमात्यों की सहायता से वह सफलतापूर्वक शासन करती रही। घट जातक में भी एक स्त्री के शासन का उल्लेख है।

यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, कि यदि राजकुमार शासन करने के अयोग्य हो, तो अमात्य लोग उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को राजगद्दी पर बिठा सकते थे। पर कई बार राजगद्दी का प्रश्न बहुत विवादग्रस्त हो जाता था, और लोग इस बात पर एकमत नहीं हो सकते थे कि राजा किसे बनाया जाय। इस दशा में एक बड़े अद्भुत उपाय का अवलम्बन किया जाता था। अमात्य लोग एक पुष्प-रथ निकालते थे, जिसके साथ राजत्व के पांचों चिह्न रहते थे। ये पांच राजचिह्न निम्नलिखित होते थे—हाथी, घोड़ा, छत्र, चामर और कुम्भ। यह रथ चलते-चलते जिस व्यक्ति के समीप ठहर जाता था, उसे राजा बना दिया जाता था। जातक-साहित्य में अनेक राजाओं के इसी पद्धति से राज्याभिषिक्त होने की कथा आयी है। दरीमुख जातक के अनुसार बनारस का राजा सन्तानहीन था। जब उसकी मृत्यु हो गयी, तो अमात्यों के सम्मुख यह समस्या उत्पन्न हुई, कि राजा किसे बनाया जाए। अन्त में

पुष्परथ की पद्धति का आश्रय लिया गया, और उससे बोधिसत्व को राजा बनाया जाना निश्चित हुआ। निग्रोध जातक में कुमार निग्रोध की कथा आती है, जो बहुत गरीब घर का था। वह तक्षशिला से शिक्षा समाप्त कर कुछ साथियों के साथ अपने घर को वापस आ रहा था। मार्ग में वह काशी में ठहर गया। वहाँ राजा कौन हो, इस समस्या का हल करने के लिए पुष्परथ निकाला गया था। पुष्परथ कुमार निग्रोध के पास आकर ठहर गया, और उसे ही काशी का राजा बना दिया गया।

बौद्ध-काल के अनेक राज्यों में राजकुमार लोग अपने पिता के जीवित होते हुए भी स्वयं राज्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर देते थे। मगध के अनेक सम्राट् पितृघाती थे। उन्होंने अपने पिता को मारकर राज्य प्राप्त किया था। प्रसिद्ध सम्राट् अजातशत्रु ने राज्य प्राप्त करने के लिये अपने पिता बिम्बिसार का घात किया था। जातक-कथाओं में भी अनेक कुमारों का उल्लेख है, जिन्होंने अपने पिता के जीवन-काल में ही स्वयं राज्य प्राप्त करने का प्रयत्न किया। संकिच्च-जातक के अनुसार बनारस के राजा का नाम ब्रह्मदत्त था। उसका एक लड़का था, उसका नाम भी ब्रह्मदत्त रखा गया। जब कुमार ब्रह्मदत्त तक्षशिला से अपनी शिक्षा समाप्त कर वापस आया, तो उसने सोचा—'मेरे पिता की आयु अभी बहुत कम है, वह तो मेरे बड़े भाई के समान है। यदि मैं उसकी मृत्यु तक राज्य के लिये प्रतीक्षा करूँगा, तो राजा बनने तक मैं बूढ़ा हो जाऊँगा। बूढ़ा होकर राजा बनने से क्या लाभ होगा? मैं अपने पिता का घात कर दूँगा और इस प्रकार राजगद्दी पर अधिकार प्राप्त कर लूँगा।" उसने यही किया और एक षड्यन्त्र द्वारा अपने पिता को मारकर स्वयं राजा बन गया।

इसी प्रकार की अनेक अन्य कथाएँ जातक-साहित्य में उपलब्ध होती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि भारत के अनेक राज्यों में उस समय यह प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हो चुकी थी। पर दूसरी ओर ऐसे राज्य भी थे, जिनमें राजाओं के लिये 'वार्धके मुनिवृत्तीनां' का प्राचीन आदर्श प्रयोग में आ रहा था, और राजा लोग वृद्धावस्था के आते ही अपना राज्य-कार्य लड़के को सौंप कर स्वयं मुनिवृत्ति धारण कर लेते थे। शंखपाल जातक में राजगृह के एक राजा का उल्लेख है, जिसने वृद्धावस्था में पदार्पण करते ही अपना राज्य राजकुमार दुर्योधन को प्रदान कर दिया था और स्वयं नगर से बाहर तापस का जीवन बिताना प्रारम्भ किया था। इसी प्रकार निमि जातक में मिथिला के राजा मखादेव की कथा आती है। उसने अपने नाई को कहा हुआ था, कि जब वह उसके सिर पर सफेद बाल देखे, तो उसे सूचना दे। शुरू-शुरू में जब नाई ने राजा को सफेद बालों की सूचना दी, तो राजा ने आज्ञा दी कि उन्हें उखाड़ कर मेरे हाथ में देते जाओ। कुछ समय तक नाई यही करता रहा, पर जब राजा ने अनुभव किया कि बाल निरन्तर श्वेत होते जा रहे हैं, और पूर्णतया वृद्धावस्था आ गयी है, तो उसने अपने बड़े लड़के को बुलाया और राज्य-संचालन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण निर्देश देकर स्वयं तापस-जीवन स्वीकृत कर लिया। न केवल राजा मखादेव, अपितु उसके पुत्र-पौत्र आदि ने भी इसी प्रकार स्वयं वृद्धावस्था में राज्य का परित्याग किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि भारत की प्राचीन परम्परा बौद्ध-काल में भी अवशिष्ट थी।

यद्यपि बौद्ध-काल में अच्छे और बुरे सब प्रकार के राजा विद्यमान थे, पर प्रायः

इसी बात का रहता था, कि उन्हें सन्मार्ग पर लाया जाए। एकपण्ण जातक में एक राजकुमार की कथा आती है, जो बहुत पथभ्रष्ट तथा भयंकर प्रकृति का था। अमात्यों, ब्राह्मणों और जनपदवासियों ने प्रयत्न किया कि उसे सन्मार्ग पर लायें, पर वह किसी के काबू में नहीं आया। आखिर, बोधिसत्व ने उसे शिक्षा दी। वह उसे एक नीम के छोटे-से पौदे के पास ले गया और उसे कहा—'कुमार, इस पौदे के एक पत्ते को चखकर तो देखो, यह कैसा लगता है ?' कुमार ने ऐसा ही किया। ज्यों ही उसने उस पत्ते को मुँह में डाला कड़वाहट से उसका सारा मुँह भर गया और उसने उसे थूककर बाहर फेंक दिया। इतना ही नहीं, उसने उस छोटे-से पौदे को भी उखाड़ लिया और तोड़-मोड़कर हाथ से मसल कर फेंक दिया। बोधिसत्व ने पूछा—'कुमार, यह क्या करते हो ?' कुमार ने उत्तर दिया—'अभी तो यह पौदा इतना छोटा है, जब यह अभी से इतनी कड़वाहट उत्पन्न करता है, तो आगे चलकर तो पता नहीं कितना जहर उगलेगा।' यह सुनकर बोधिसत्व ने कहा—'कुमार, यह सोचकर कि यह कड़वा पौदा आगे चलकर कितना जहर उगलेगा, तुमने इसे उखाड़कर और मसलकर फेंक दिया है। तुमने जो व्यवहार इस पौदे के साथ किया है, वही इस राज्य के निवासी तुम्हारे साथ करेंगे। यह सोचकर कि यह पथभ्रष्ट, भयंकर प्रकृति का कुमार आगे चलकर कितना अनर्थ करेगा, वे तुम्हें भी राजगद्दी पर बिठाने के बजाय उखाड़ कर फेंक देंगे। इसलिये इस पौदे से शिक्षा ग्रहण करो और आगे से दया और स्नेह का बरताव करो।' इसमें सन्देह नहीं, कि जनता के विद्रोह का भय बौद्ध-काल के राजाओं को सदा बना रहता था, और इस डर से कि कहीं जनता हमें पदच्युत न कर दे, वे सन्मार्ग पर कायम रहते थे।

बौद्ध-साहित्य में राजा के दस धर्मों का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया गया है। ये दस धर्म निम्नलिखित हैं—दान, शील, परित्याग, आर्जव, मार्दव, तप, अक्रोध, अविहिंसा, शान्ति और अविरोधन। राजाओं में इन गुणों की सत्ता बहुत आवश्यक और लाभकर मानी जाती थी। राजाओं से दानशीलता की आशा उस समय बहुत अधिक की जाती थी। जातक-साहित्य में अनेक राजाओं की दानशक्ति का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया। चुल्लपद्म जातक में वाराणसी के राजा पद्म की कथा आती है, जो अत्यन्त दानी था। उसने वहाँ छः दानगृह बनवाये हुए थे। चार दानगृह वाराणसी के चारों द्वारों पर बने हुए थे, एक नगर के ठीक बीच में और छठा राजप्रासाद के सामने। इन दानगृहों से प्रतिदिन छः लाख मुद्राएँ दान दी जाती थीं। इसी प्रकार का वर्णन अन्य अनेक राजाओं के सम्बन्ध में भी आता है।

बौद्ध-काल के राजा बड़े वैभव और शान-शौकत के साथ निवास करते थे। जातक-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर उनके जुलूसों, सवारियों तथा राज-प्रासादों का वर्णन आता है। राजा लोग तमाशों, खेलों और संगीत आदि का भी बहुत शौक रखते थे। शिकार उनके आमोद-प्रमोद का महत्त्वपूर्ण साधन होता था। राजाओं के अन्तःपुर भी बहुत बड़े होते थे। अन्तःपुर में प्रचुर संख्या में स्त्रियों को रखना एक शान की बात समझी जाती थी। सुरुचि जातक के अनुसार बनारस के राजा ने निश्चय किया, कि वह अपनी कन्या का विवाह ऐसे कुमार के साथ ही करेगा, जो एकपत्नीव्रत रहने का प्रण करे। मिथिला के कुमार सुरुचि के साथ उस कुमारी, जिसका नाम सुमेधा था, के विवाह

की बात चल रही थी। मिथिला के राजदूतों ने एकपत्नीव्रत होने की शर्त को सुना, तो वे कहने लगे—"हमारा राज्य बहुत बड़ा है। मिथिला नगरी का सात योजन विस्तार है। हमारे राज्य का विस्तार ३०० योजन है। ऐसे राज्य के राजा के अन्तःपुर में कम-से-कम सोलह हजार रानियाँ अवश्य होनी चाहिएँ।' जातक-कथाओं में बहुत-से ऐसे राजाओं का वर्णन आता भी है, जिनके अन्तःपुर में हजारों स्त्रियाँ रहती थीं।

राजा के अमात्य—राजतन्त्र-राज्यों में राजा के अतिरिक्त अमात्यों का शासन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। जातक-साहित्य में स्थान-स्थान पर अमात्यों का जिक्र आता है। ये अमात्य संख्या में बहुत होते थे, और राजा को शासन-सम्बन्धी सब विषयों में परामर्श देने का कार्य करते थे। अमात्यों के लिये सब विद्याओं व शिल्पों में निष्णात होना आवश्यक माना जाता था। राजा की मृत्यु के अनन्तर राज्य का संचालन अमात्य लोग ही करते थे। सात दिन के पश्चात् जब स्वर्गीय राजा की और्ध्वदैहिक क्रियाएँ समाप्त हो जाती थीं, तब वे ही इस बात का निश्चय करते थे, कि राजगद्दी पर कौन विराजमान हो। राजा की अनुपस्थिति या शासन-कार्य में असमर्थता की दशा में भी वे शासन-सूत्र को अपने हाथों में कर लेते थे। प्राचीन भारत में राजतन्त्र-राज्यों में मन्त्रि-परिषद् का बड़ा महत्त्व होता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जातक-कथाओं में जिन 'अमात्यों' का उल्लेख आता है, वे इसी प्राचीन मन्त्रिपरिषद् को सूचित करते हैं। अमात्यों में सबसे प्रधान स्थान पुरोहित का होता था। पुरोहित राजा के 'धर्म और अर्थ' दोनों का अनुशासक होता था। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार प्रथम राजा, जिसे 'महासम्मत' कहा गया है, को भी पुरोहित नियुक्त करने की आवश्यकता हुई थी। पुरोहित का पद प्रायः वंशक्रमानुगत होता था। एक ही परिवार के व्यक्तियों को वंशक्रमानुगत रूप से पुरोहित के महत्त्वपूर्ण पद पर नियत किया जाता था। पर राजा की तरह पुरोहित का पद भी पूर्ण रूप से एक वंश में नहीं रह पाता था। अनेक बार पुरोहित की नियुक्ति पर वाद-विवाद भी होते थे, और नये व्यक्तियों को इस पद पर नियत कर दिया जाता था।

पुरोहित के सम्बन्ध में जो विचार प्राचीन नीति-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं, उनकी पुष्टि जातक-साहित्य द्वारा भी होती है। पुरोहित का अनुसरण राजा को उसी प्रकार करना चाहिये, जैसे पुत्र पिता का या शिष्य गुरु का करता है। जातक-कथाओं के अनुसार भी पुरोहित राजा को पथभ्रष्ट होने की दशा में सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करता था, और इसके लिए डाँटता-डपटता भी था। लितमुट्ठि जातक के अनुसार बनारस के राजा ब्रह्मदत्त ने तक्षशिला के अपने आचार्य को पुरोहित के पद पर नियत किया था और वह उसका उसी प्रकार अनुसरण करता था, जैसे पुत्र अपने पिता का करता है।

पुरोहित के अतिरिक्त अन्य भी अनेक अमात्यों के नाम जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं। इनमें सेनापति, भाण्डागारिक, विनिश्चयामात्य और रज्जुक के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। सेनापति का कार्य जहाँ सैन्य का संचालन करना होता था, वहाँ साथ ही वह एक मन्त्री के रूप में भी कार्य करता था। एक कथा से यह भी सूचित होता है, कि वह मुकदमों का निर्णय करने का भी कार्य करता था। एक स्थान पर सेनापति को अमात्यों का प्रमुख भी लिखा गया है। विनिश्चयामात्य न्यायमन्त्री को कहते थे। वह जहाँ मुकदमों का फैसला करता था, वहाँ राजा को धर्म तथा कानून-

सम्बन्धी मामलों में परामर्श भी देता था। भाण्डागारिक कोषाध्यक्ष को कहते थे। भाण्डागारिक प्रायः किसी अत्यन्त सम्पत्तिशाली व्यक्ति को बनाया जाता था। एक भाण्डागारिक की संपत्ति ८० करोड़ लिखी गयी है। रज्जुक सम्भवतः भूमि की पैमाइश आदि करके मालगुजारी वसूल करने वाले अमात्य को कहते थे। इनके अतिरिक्त दोणमापक, हिरण्यक, सारथी, दौवारिक आदि अन्य अनेक राजकर्मचारियों के नाम भी जातक-साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध-काल में शहर के कोतवाल को नगरगुत्तिक कहते थे। यह नगर की शान्तिरक्षा का उत्तरदायी होता था। इसे एक स्थान पर 'रात्रि का राजा' भी कहा गया है। पर पुलिस के ये कर्मचारी बौद्ध-काल में भी रिश्वतों से मुक्त नहीं थे। सुलसा जातक में कथा आती है, कि सुलसा नामक वेश्या ने सत्तक नामक डाकू के रूप पर मुग्ध होकर उसे छुड़ाने के लिये पुलिस के कर्मचारी को एक हजार मुद्राएँ रिश्वत के रूप में दी थीं, और इस धनराशि से वह सत्तक को छुड़वाने में सफल भी हो गयी थी।

जातक-कथाओं से बौद्ध-काल की सेनाओं के सम्बन्ध में भी कुछ निर्देश मिलते हैं। सेना में प्रायः अपने राज्य के निवासियों को ही भरती किया जाता था। विदेशी व नये सैनिकों को पसन्द नहीं किया जाता था। स्वदेशी और पितृ-पैतामह सैनिकों को उत्तम माना जाता था। धूमकारि जातक में कथा आती है, कि कुरुदेश के इन्द्रपत्तन नगर के राजा धनञ्जय ने अपने पुराने सैनिकों की उपेक्षा कर नवीन सैनिकों को सेना में भर्ती करना प्रारम्भ कर दिया। जब उसके सीमाप्रान्त पर युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो उसे इन नये सैनिकों के कारण परास्त होना पड़ा। परिणाम यह हुआ, कि उसे अपने कार्य पर पश्चाताप हुआ, और उसने फिर पुरानी सेनाओं के बल पर विजय प्राप्त की। बौद्ध कालीन राज्यों में सीमा-प्रदेशों पर सदा कुछ न कुछ अव्यवस्था बनी रहती थी। जातक-कथाओं में स्थान-स्थान पर सीमावर्ती विद्रोहों व युद्धों का उल्लेख आता है।

पुर और जनपद—बौद्ध-काल में भी राज्य पुर और जनपद इन दो विभागों में विभक्त किये जाते थे। पुर राजधानी को कहते थे, और राजधानी के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण राज्य को जनपद कहा जाता था। जनपद में विद्यमान विविध ग्रामों का शासन किस प्रकार होता था, इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-साहित्य में उपलब्ध नहीं होते। ग्राम के शासक को ग्रामभोजक कहते थे। ग्रामभोजक बहुत महत्त्वपूर्ण पद समझा जाता था, इसीलिये उसके साथ अमात्य विशेषण भी आता है। ग्रामभोजक ग्राम-सम्बन्धी सब विषयों का संचालन करता था। उसे न्याय-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। शराबखोरी को नियन्त्रित करना तथा शराब की दूकान के लिये लाइसेन्स देना भी उसी के अधिकार में था। दुर्भिक्ष पड़ने पर गरीब जनता की सहायता करना ग्रामभोजक का ही कार्य था। एक स्थान पर यह भी जिक्र आता है, कि ग्रामभोजक ने पशुहिंसा और शराब का सर्वथा निषेध कर दिया था। ग्रामभोजक की स्थिति राजा के अधीन होती थी। उसके शासन के विरुद्ध राजा के पास अपील की जा सकती थी, और राजा उसे पदच्युत कर किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर नियुक्त कर सकता था। पानीय जातक में कथा आती है, कि काशीराज्य के दो ग्रामभोजकों ने अपने-अपने ग्रामों में पशुहिंसा तथा शराब पीने का सर्वथा निषेध कर दिया था। इसपर उन ग्रामों के

निवासियों ने राजा से प्रार्थना की, कि हमारे ग्रामों में यह प्रथा देर से चली आ रही है, और इन्हें इस प्रकार निषिद्ध नहीं करना चाहिये। राजा ने ग्रामवासियों की प्रार्थना को स्वीकृत कर लिया और ग्रामभोजकों की वे आज्ञाएँ रद्द कर दी। इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रामभोजकों के शासन पर राजा का नियन्त्रण पूर्णरूप से विद्यमान था।

न्याय-व्यवस्था—बौद्ध-काल में न्याय-व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में मिलते हैं। उस काल में न्याय इतनी पूर्णता को पहुँचा हुआ था, कि बहुत कम मुकदमे न्यायालयों के सम्मुख पेश होते थे। राजोवाद जातक में लिखा है, कि बनारस के राज्य में न्यायुक्त शासन के कारण एक भी अभियोग न्यायालय के सम्मुख उपस्थित नहीं होता था। इसी प्रकार की बात अन्यत्र भी जातकों में लिखी गयी है। उस काल में न्याय कितना पूर्ण तथा निष्पक्षपात होता था, इसका एक दृष्टान्त चुल्लवग्ग में मिलता है। श्रावस्ती में एक गृहपति निवास करता था, जिसका नाम सुदत्त था। वह अनाथों का बड़ा सहायक था, इसीलिये उसे 'अनाथ-पिण्डक' भी कहते थे। श्रावस्ती के राजकुमार का नाम जेत था। कुमार जेत के पास एक उद्यान था, जो शहर के न बहुत समीप था, न बहुत दूर। वहाँ आने-जाने की बहुत सुविधा थी, और वह एकान्तवास के लिये बहुत उपयुक्त था। अनाथपिण्डक ने महात्मा बुद्ध को श्रावस्ती पधारने के लिये निमन्त्रित किया हुआ था। उसके सम्मुख यह समस्या थी, कि महात्मा बुद्ध के ठहरने के लिये किस स्थान पर प्रबन्ध किया जाए। उसने सोचा, कुमार जेत का उपवन इस कार्य के लिये बहुत उपयुक्त है। वह कुमार के पास गया और उससे कहा—कुमार, यह उद्यान मुझे दे दो, मैं इसमें आराम का निर्माण करूँगा। कुमार जेत ने उत्तर दिया—'गृहपति! यह उद्यान तब तक नहीं बिक सकता, जब तक इसके लिये सौ करोड़ मुद्रा प्रदान न की जाए।'

'मैं इस कीमत पर इस उद्यान को खरीदता हूँ।'

'नहीं गृहपति, यह उद्यान नहीं बिक सकता।'

अनाथपिण्डक सुदत्त का मत था, कि जब मैं कुमार जेत द्वारा मांगी हुई कीमत को देने के लिये तैयार हूँ, तो उद्यान मेरा हो गया है। पर कुमार जेत इसे स्वीकृत नहीं करता था। आखिर, इस बात का फैसला कराने के लिये वे व्यावहारिक महामात्रों के पास गये। उन्होंने मुकदमे को सुनकर यह निर्णय किया—'कुमार ने जो मूल्य निश्चित किया था वह गृहपति देने को तैयार है, अतः उद्यान बिक गया है।'

इस मुकदमे में यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इसमें एक राजकुमार और एक सामान्य गृहपति वादी और प्रतिवादी थे। पर न्यायाधीशों ने राजकुमार का पक्ष न लेकर निष्पक्ष रूप से निर्णय करने का प्रयत्न किया और गृहपति सुदत्त के पक्ष में फैसला दिया। इससे स्पष्ट है, कि बौद्ध-काल के न्यायाधीश अपना कार्य करते हुए व्यक्तियों का ख्याल नहीं करते थे। निष्पक्ष न्याय ही उनकी दृष्टि में सबसे महत्त्वपूर्ण विचार होता था।

में डाल दिया जाय और नौका को गंगा में वहा दिया जाय। एक डाकू को दी गयी सजा के अनुसार उसे काँटेदार कोड़ों से बुरी तरह पीटा गया, कुल मिलाकर एक हजार कोड़े मारे गये। हाथी द्वारा कुचलवाकर मारने का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर आता है।

(३) आर्थिक दशा

वर्तमान समय में हमें जो बौद्ध-साहित्य उपलब्ध होता है, वह प्रायः सभी धार्मिक है। उसमें महात्मा बुद्ध के जीवन, उपदेशों तथा शिक्षाओं का ही विशेष रूप से वर्णन है। उसका प्रयोजन अपने समय की स्थिति पर प्रकाश डालना नहीं है। पर प्रसंगवश उसमें कहीं-कहीं ऐसे निर्देश उपलब्ध हो जाते हैं, जिनसे कि उस समय की राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक दशा पर उत्तम प्रकाश पड़ता है। आर्थिक स्थिति का अनुशीलन करने के लिये जातक-कथाओं का विशेष महत्त्व है। जब इन कथाओं का निर्माण हुआ था, उस समय में भारत की आर्थिक व सामाजिक स्थिति क्या थी, इसका विवेचन इनसे बहुत अच्छी प्रकार किया जा सकता है। हम इस प्रकरण में बौद्ध-काल की आर्थिक दशा को प्रदर्शित करते हुए मुख्यतया इन जातक-ग्रन्थों का ही आश्रय लेंगे। अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में भी आर्थिक दशा के जो निर्देश मिलते हैं, उनका भी यथास्थान उल्लेख किया जायगा।

व्यवसाय—बौद्धकालीन भारत में कौन-कौन-से मुख्य व्यवसाय प्रचलित थे, इसका परिचय दीर्घनिकाय के एक संदर्भ से वहुत अच्छी तरह मिलता है। जब महात्मा बुद्ध धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पहुँचे, तो मागध-सम्राट् अजातशत्रु ने उनसे प्रश्न किया—

"हे भगवान्! ये जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय हैं, जैसे हस्ति-आरोहण, अश्वारोहण, रथिक, धनुर्धर, चेलक (युद्ध-ध्वज धारण), चलक (व्यूह-रचन), पिंडदायिक (पिंड काटनेवाले), उग्र राजपुत्र (वीर राजपुत्र), महानाग (हाथी से युद्ध करनेवाले), शूर, चर्मयोधी (ढाल से युद्ध करनेवाले), दासपुत्र, आलारिक (वावर्ची), कल्पक (हजाम), नहापक (स्नान करानेवाले), सूद (पाचक), मालाकार, रजक (रंगरेज), नलकार (टोकरे वनानेवाले), कुम्भकार (कुम्हार), गणक, मुद्रक (गिननेवाले) और जो दूसरे इसी प्रकार के भिन्न-भिन्न शिल्प (व्यवसाय) हैं, उनसे लोग इसी शरीर में प्रत्यक्ष जीविका करते हैं, उनसे अपने को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। पुत्र-स्त्री को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। मित्र अमात्यों को सुखी करते हैं, तृप्त करते हैं। ऊपर ले जानेवाला, स्वर्ग को ले जाने वाला, सुखविपाकवाला, स्वर्गमार्गीय, श्रमणब्राह्मणों के लिये दान स्थापित करते हैं। क्या भगवन्! इसी प्रकार श्रामण्य (भिक्षुपन) का फल भी इसी जन्म में प्रत्यक्ष वतलाया जा सकता है?"

सम्राट् अजातशत्रु ने इस प्रश्न में वहुत-से व्यवसायियों का नाम लिया है। एक राजा के लिये यह प्रश्न कितना स्वाभाविक है। उसके चारों तरफ जो सांसारिक जन निवास करते हैं, वे अपने-अपने कार्यों का इसी जन्म में फल प्राप्त करते हैं, वे स्वयं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए दानद्वारा परलोक के लिये भी प्रयत्न करते हैं। हमारे लिये इस सन्दर्भ में आये हुए व्यवसाय विशेषरूप से उपयोगी हैं। इसमें निम्नलिखित व्यवसायों का नाम आया है :—

(१) हस्तिसेना के हाथी पर सवारी करनेवाले योद्धा लोग, (२) घुड़सवार

लोग, (३) रथ पर चढ़कर लड़ने वाले रथारोही लोग, (४) धनुर्धर योद्धा, (५) युद्ध की ध्वजा का धारण करनेवाले 'चेलक' लोग, (६) व्यूह-रचना में प्रवीण 'चलक' लोग, (७) पिंड काटनेवाले पिंडायिक लोग, (८) वीर योद्धा 'उग्र राजपुत्र' लोग, (९) हाथी से युद्ध करने में प्रवीण 'महानाग' लोग, (१०) सामान्य शूरवीर सैनिक, और (११) ढाल से लड़ने वाले 'चर्मयोधी' लोग।

ये ग्यारह तो सेना व युद्ध-सम्बन्धी पेशे करने वाले लोगों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त जिन अन्य व्यवसायियों के नाम अजातशत्रु ने दिये हैं, वे निम्नलिखित हैं—(१२) दासपुत्र—सामान्य दास लोग, (१३) आलारिक—बावर्ची, (१४) कल्पक—हजाम, या नाई, (१५) नहापक—स्नान करानेवाले, (१६) सूद—पाचक वा हलवाई, (१७) मालाकार—माला बेचने वाले, (१८) रजक—कपड़े धोने वाले धोबी, (१९) रंगरेज, (२०) नलकार—टोकरे बनाने वाले, (२१) कुम्भकार—कुम्हार, (२२) गणक—हिसाब-किताब रखनेवाले और (२३) मुद्रिक—गिननेवाले।

ध्यान में रखना चाहिये, कि अजातशत्रु द्वारा दी हुई व्यवसायों की यह सूची पूर्ण नहीं है। इसमें स्वाभाविक रूप से उन व्यवसायों का परिगणन है, जो कि किसी राजपुरुष के विचार में एकदम आ सकते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य व्यवसाय, जिनका उल्लेख अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में आया है, निम्नलिखित हैं:—

(१) वर्धकि या बढ़ई—बौद्ध-साहित्य मे वर्धकि व कम्मार शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थों में हुआ है। इससे केवल सामान्य बढ़ई का ही ग्रहण नहीं होता, अपितु जहाज बनाने वाले, गाड़ी बनानेवाले, भवनों का निर्माण करनेवाले आदि विविध प्रकार के मिस्त्रियों का भी ग्रहण होता है। वर्धकि के अतिरिक्त विविध प्रकार के अन्य मिस्त्रियों के लिए थपति, तच्छक, भमकार आदि शब्द भी जातक-ग्रंथों में आते हैं। वर्धकि लोगों के बड़े-बड़े गांवों का भी वर्णन मिलता है।

(२) धातु का काम करने वाले—सोना, चांदी, लोहा आदि विविध धातुओं की विभिन्न वस्तुएं बनाने वाले कारीगरों का उल्लेख बौद्ध-साहित्य में आया है। लोहे के अनेक प्रकार के औजार बनाये जाते थे—युद्ध के विविध हथियार, हल-फाल, कुल्हाड़े, आरे, चाकू, फावड़े आदि विविध उपकरण जातकों में उल्लिखित हैं। इसी प्रकार सोना-चांदी के विविध कीमती आभूषणों का भी वर्णन मिलता है। सूचि जातक में सुइयां बनाने का जिक्र है। कुस जातक में एक शिल्पी का वर्णन है, जो सोने की मूर्तियां बनाया करता था।

(३) पत्थर का काम करनेवाले—ये लोग पत्थरों को काटकर उनकी शिलाएँ, स्तम्भ, मूर्ति आदि बनाते थे। यह शिल्प बौद्ध-काल में बहुत उन्नति कर चुका था। पत्थरों पर तरह-तरह से चित्रकारी करना, उन्हें खोदकर उनपर बेल-बूटे व चित्र बनाना उस समय एक महत्त्वपूर्ण शिल्प माना जाता था। इसी प्रकार पत्थर के प्याले,

विकटिक, उड्डलोमि, एकन्तलोमि, कोसेय्य और कुट्टकम् । इन विविध शब्दों से किन वस्त्रों का ग्रहण होता था, यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। पर इससे यह सहज में अनुमान किया जा सकता है, कि उस समय वस्त्र व्यवसाय पर्याप्त उन्नत था। थेरीगाथा से ज्ञात होता है, कि रेशम और महीन मलमल के लिये बनारस उन दिनों में भी बहुत प्रसिद्ध था। जातक-ग्रन्थों में बनारस के समीप में कपास की प्रभूत मात्रा में उत्पत्ति और वहाँ के सूती वस्त्रों का उल्लेख है। इसी प्रकार महावग्ग से ज्ञात होता है, कि शिवि देश के सूती कपड़े भी बहुत प्रसिद्ध थे।

(५) चमड़े का काम करनेवाले—ये लोग चमड़े को साफ कर उससे अनेक प्रकार के जूते, चप्पल तथा अन्य वस्तुएं बनाते थे।

(६) कुम्हार—ये लोग अनेक प्रकार की मिट्टियों के भाँति-भाँति के वर्तन बनाते थे। बौद्ध-काल के अनेक बर्तनों के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध भी हुए हैं।

(७) हाथी-दाँत का काम करनेवाले—आधुनिक समय में भी भारतवर्ष हाथी-दाँत की कारीगरी के काम के लिये प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में हाथी-दाँत को रत्नों में गिना जाता था और उससे अनेक प्रकार की वस्तुएँ बनाई जाती थीं। उन पर बहुत सुन्दर चित्रकारी भी की जाती थी।

(८) रंगरेज—कपड़ों को रंगने का काम करते थे।

(९) जौहरी—ये कीमती धातुओं व रत्नों से विविध प्रकार के आभूषण बनाते थे। बौद्ध-काल के कुछ आभूषण वर्तमान समय में भी उपलब्ध हुए हैं।

(१०) मछियारे—नदियों में मछली पकड़ने का काम करते थे।

(११) बूचड़—बूचड़खानों तथा माँस की दूकानों का अनेक स्थानों पर बौद्ध-साहित्य में उल्लेख मिलता है।

(१२) शिकारी—बौद्धकाल में शिकारी दो प्रकार के होते थे। एक वे लोग जो जंगलों में रहते थे, और वहाँ जीवजन्तुओं का शिकार कर तथा जंगल की कीमती वस्तुओं को एकत्रित कर बाजार में बेचते थे। दूसरे शिकारी वे होते थे, जो नगरों में बसनेवाले कुलीन लोग होते थे, परन्तु जिन्होंने शिकार को एक पेशे के रूप में स्वीकृत किया हुआ था।

(१३) हलवाई और रसोइये।

(१४) नाई तथा प्रसाधक।

(१५) मालाकार और पुष्प-विक्रेता।

(१६) मल्लाह तथा जहाज चलानेवाले—बौद्ध-साहित्य में नदी, समुद्र तथा महासमुद्र में चलनेवाले जहाजों तथा उनके विविध कर्मचारियों का उल्लेख आता है। यह व्यवसाय उस काल में बहुत उन्नत था।

(१७) रस्सी तथा टोकरे बनानेवाले।

(१८) चित्रकार।

व्यवसायियों के संगठन—बौद्ध-काल के व्यवसायी लोग 'श्रेणियों' (Guilds) में संगठित थे, इस बात के अनेक प्रमाण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। प्राचीन भारत में श्रेणियों की सत्ता के प्रमाणों की कमी नहीं है। 'श्रेणियों' द्वारा बनाए गये कानून

प्राचीन भारत में राज्यद्वारा स्वीकृत किए जाते थे। श्रेणियों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मुकदमों का फैसला उन्हीं के अपने कानूनों के अनुसार होता था। उन्हें अपने मामलों का स्वयं फैसला करने का भी अधिकार था। श्रेणियों के न्यायालय राज्य द्वारा स्वीकृत थे, यद्यपि उनके फैसलों के विरुद्ध अपील की जा सकती थी। बौद्ध-साहित्य में व्यवसायी लोग श्रेणियों में संगठित थे, इसके प्रमाणों का निर्देश करना यहाँ उपयोगी होगा। निग्रोध जातक में एक भाण्डागारिक का वर्णन है, जिसे सब 'श्रेणियों' के आदर के योग्य बताया गया है। उरग जातक में 'श्रेणी प्रमुख' और दो राजकीय अमात्यों के झगड़ों का उल्लेख है। इससे सूचित होता है कि 'श्रेणी' के मुखिया को 'प्रमुख' कहते थे। अन्य स्थानों पर 'श्रेणी' के मुखिया को 'जेट्ठक' शब्द से कहा गया है। डा० फिक ने व्यवसायियों के संगठन पर बड़े विस्तार से विचार किया है। वे लिखते हैं, कि तीन कारणों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं, कि बौद्ध-काल में भी व्यवसायियों के संगठन बन चुके थे। हम इन कारणों को यहाँ उपस्थित करते हैं।

(१) बौद्ध-काल में विविध व्यवसाय वंशक्रमानुगत हो चुके थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र उसी व्यवसाय को करता था। अपनी किशोरावस्था से ही लोग अपने क्रमानुगत व्यवसाय को सीखना प्रारम्भ कर देते थे। ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जाता था, अपने पिता तथा अन्य गुरुजन की देख-रेख में वे उस व्यवसाय में अधिक-अधिक प्रवीणता प्राप्त करते जाते थे। अपने व्यवसाय की बारीकियों से उनका अच्छा परिचय हो जाता था। इसीलिये जब पिता की मृत्यु होती थी, तो उसकी सन्तान उसके व्यवसाय को बड़ी सुगमता से सम्भाल लेती थी। उसे किसी प्रकार की दिक्कत अनुभव न होती थी। बौद्ध साहित्य में कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं मिलता, जिससे यह सूचित होता हो, कि किसी व्यक्ति ने अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय को छोड़कर किसी अन्य व्यवसाय को अपनाया हो। इसके विपरीत इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं है, कि लोग अपने वंशक्रमानुगत व्यवसाय का ही अनुसरण करते थे।

(२) बौद्ध-काल में विविध व्यवसायों का अनुसरण करनेवाले लोग एक निश्चित स्थान पर बसकर अपने व्यवसाय का अनुसरण करने की प्रवृत्ति रखते थे। नगरों में भिन्न-भिन्न गलियों में भिन्न-भिन्न व्यवसायी केन्द्रित थे। उदाहरण के लिये दन्तकारों (हाथीदाँत का काम करने वालों) की अपनी गली होती थी, जिसे 'दन्तकार-वीथी' कहते थे। इसी प्रकार कुम्हारों, लुहारों आदि की भी अपनी-अपनी पृथक् वीथियाँ होती थीं। नगरों के अन्दर की गलियों के अतिरिक्त विविध व्यवसायी नगरों के बाहर उपनगरों में भी निवास करते थे। कुलीनचित्त जातक में लिखा है, कि बनारस के समीप ही एक वर्धकि-गाम था, जिसमें ५०० वर्धकि-परिवार निवास करते थे। इसी प्रकार एक अन्य महावर्धकि-गाम का उल्लेख है, जिसमें एक हजार वर्धकि-परिवारों व कुलों का निवास था। इसी प्रकार बनारस के ही समीप एक अन्य ग्राम या उपनगर का उल्लेख है, जिसमें केवल कुम्हारों के ही कुल रहते थे। केवल बड़े नगरों के समीप ही नहीं, अपितु देहात में भी इस प्रकार के ग्राम विद्यमान थे, जिनमें किसी एक व्यवसाय का ही अनुसरण करनेवाले लोग बसते थे। सूचि-जातक में कुम्हारों के दो गांवों का वर्णन है, जिनमें से एक में एक हजार कुम्हार-परिवारों का निवास था। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक निर्देश जातक

कथाओं से संगृहीत किये जा सकते हैं।

(३) व्यवसायियों की श्रेणियों के मुखियाओं का, जिन्हें 'प्रमुख' या 'जेट्ठक' कहते थे, अनेक स्थानों पर उल्लेख आता है। इससे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि व्यवसायियों के सुदृढ़ संगठन बौद्ध-काल में विद्यमान थे। जातक-कथाओं में कम्मार-जेट्ठक, मालाकार-जेट्ठक आदि शब्दों की सत्ता इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर देती है। जेट्ठक के अधीन संगठित श्रेणियों में अधिक-से-अधिक कितने व्यवसायी सम्मिलित हो सकते थे, इस सम्बन्ध में भी एक निर्देश मिलता है। समुद्धवणिजजातक में लिखा है, कि एक गाँव में एक हजार वड्ढकि-परिवार निवास करते थे, जिनमें पाँच-पाँच सौ परिवारों का एक-एक जेट्ठक था। इस प्रकार इस गाँव में दो वड्ढकि-जेट्ठक विद्यमान थे। इन जेट्ठकों की समाज में बड़ी प्रतिष्ठा थी। राज-दरबार में भी इन्हें सम्मान प्राप्त होता था। सूचि जातक में लिखा है, कि एक सौ कम्मार-कुलों का जेट्ठक राजदरबार में बड़ा सम्मानित था, और वह बहुत समृद्ध तथा ऐश्वर्य-शाली था। एक अन्य जातक में लिखा है कि एक राजा ने कम्मार जेट्ठक को अपने पास बुलाया और उसे स्वर्ण की एक स्त्री-प्रतिमा बनाने के लिये नियुक्त किया।

इन बातों से डा० फिक ने यह परिणाम निकाला है, कि बौद्ध-काल के व्यवसायी श्रेणियों में प्रायः उसी ढंग से संगठित थे, जैसे कि मध्यकालीन यूरोप के व्यवसायी 'गिल्ड' में संगठित होते थे। यदि हम प्राचीन भारतीय साहित्य का अनुशीलन करें, तो व्यव-सायियों के संगठनों (श्रेणियों) की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने इस विषय पर बहुत विस्तार से विचार किया है, और सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य में श्रेणियों के सम्बन्ध में जो निर्देश मिलते हैं, उन्हें एकत्रित कर इनके स्वरूप को भी प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। बौद्ध-साहित्य में श्रेणियों के स्वरूप पर विस्तार से कुछ नहीं लिखा गया है, पर जो थोड़े-बहुत निर्देश उसमें मिलते हैं, उनसे इनकी सत्ता के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता।

नगर और ग्राम—बौद्धकालीन भारत में नागरिक जीवन का समुचित विकास हो चुका था। यद्यपि जनता का अधिक भाग ग्रामों में निवास करता था, तथापि अनेक छोटे-बड़े नगर इस काल में विकसित हो चुके थे। बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से अनेक नगरों का परिचय मिलता है। हम यहाँ पर इनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं :—

(१) अयोध्या—यह कोशलदेश में सरयू नदी के तट पर स्थित थी। प्राचीन समय में इसका महत्त्व बहुत अधिक था। रामायण के समय में यह कोशल की राजधानी थी। पर बौद्धकाल में इसकी महत्ता कम हो चुकी थी। इसका स्थान श्रावस्ती ने ले लिया था, जो अब कोशलदेश की राजधानी थी। सरयू के तट पर स्थित प्रसिद्ध अयोध्या के अतिरिक्त दो अन्य अयोध्याओं का निर्देश भी बौद्ध-ग्रन्थों में आया है। एक गंगा के तट पर और दूसरी पश्चिमी भारत में। एक नाम के अनेक नगरों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(२) वाराणसी या बनारस—यह गंगा नदी के तट पर स्थित था। बौद्ध-काल में यह बहुत ही उन्नत तथा समृद्ध नगर था। मगध और कोशल के साम्राज्यवाद

से पूर्व महाजनपद-काल में भी काशी एक स्वतन्त्र राज्य था। उस समय में इसकी राजधानी वाराणसी का महत्त्व बहुत अधिक था। बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार इस नगर का विस्तार ८५ वर्ग मीलों में लिखा गया है। यह कोई असम्भव बात नहीं है। यदि उपपुरों सहित वाराणसी का विस्तार ८५ वर्ग मीलों में हो, तो आश्चर्य नहीं। बौद्ध-काल में वाराणसी न केवल विद्या का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, पर साथ ही व्यापारिक दृष्टि से भी बहुत उन्नत था। वाराणसी के व्यापारियों का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है।

(३) चम्पा—यह अंग देश की राजधानी थी, और चम्पा नदी के तट पर स्थित थी। भागलपुर से २४ मील पूर्व इस नगरी की स्थिति थी। वर्तमान समय में यह नष्ट हो चुकी है, और इसके भग्नावशेषों पर कुछ ऐसे ग्राम विद्यमान हैं, जिनके नाम चम्पा का स्मरण दिलाते हैं।

(४) काम्पिल्य—यह पाञ्चाल राज्य की राजधानी थी।

(५) कौशाम्बी—यह वत्स व वंश-राज्य की राजधानी थी। यह यमुना के तट पर बनारस से २३० मील की दूरी पर स्थित थी।

(६) मधुरा या मथुरा—यह शूरसेन देश की राजधानी थी, और यमुना के तट पर स्थित थी। यमुना के तट पर विद्यमान मथुरा के अतिरिक्त दो अन्य मधुराएँ या मथुराएँ भी उस काल में विद्यमान थीं, एक टिनेवली के समीप, जिसे आजकल 'मदुरा' कहते है, और दूसरी अत्यन्त उत्तर में। उत्तर में विद्यमान मथुरा का उल्लेख भी जातक-कथाओं में आता है।

(७) मिथिला—यह विदेह राज्य की राजधानी थी। बौद्ध-साहित्य में इसका विस्तार पचास मीलों में लिखा गया है।

(८) राजगृह—यह बौद्ध-काल में मगध की राजधानी था। महात्मा बुद्ध के समय में यह अत्यन्त समृद्ध और उन्नत नगर था। साम्राज्यवाद के संघर्ष में मगध को असाधारण सफलता प्राप्त हो रही थी, अतः यह सर्वथा स्वाभाविक था कि इसकी राजधानी राजगृह भी विशेष रूप से उन्नति को प्राप्त हो। शैशुनाग-वंश के शासन-काल में ही राजगृह के स्थान पर पाटलिपुत्र को मगध की राजधानी बना लिया गया था। इसके बाद से राजगृह का पतन प्रारम्भ हो गया, और यह एक साधारण नगर ही रह गया। राजगृह के प्राचीन दुर्ग की दीवारों के अवशेष वर्तमान समय में भी उपलब्ध होते हैं। इनकी परिधि तीन मील के लगभग है।

(९) रोरुक या रोरुव—यह सौवीर देश की राजधानी था। यह भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर विद्यमान था, और बौद्ध-काल में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह माना जाता था। भारत के सभी प्रधान नगरों से काफिले व्यापार के लिये यहाँ आते थे, और भारत का माल जहाजों द्वारा यहाँ से ही विदेशों में पहुँचाया जाता था।

(१०) साकल या सागल—यह मद्रदेश की राजधानी थी। अनेक विद्वान् इसे आधुनिक सियालकोट के साथ मिलाते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि बौद्ध-काल में यह उत्तर-पश्चिमी भारत का एक अत्यन्त प्रसिद्ध नगर था।

(११) साकेत—यह कोसल-राज्य में स्थित था, और कुछ समय के लिये इसकी राजधानी भी रहा था। बौद्ध-सूत्रों में इसे भारत के सबसे बड़े नगरों में से एक माना

गया है। यह श्रावस्ती से ४५ मील के लगभग दूर था। अनेक विद्वानों ने इसे उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में सई नदी के तट पर स्थित सुजानकोट के साथ मिलाया है।

(१२) श्रावस्ती या सावट्ठी—यह उत्तर-कोशल राज्य की राजधानी थी। इसे भी बौद्ध-काल के सबसे बड़े छः राज्यों में गिना जाता था। बौद्ध-काल में कोशल का राज्य अत्यन्त उन्नतिशील था, अतः श्रावस्ती भी समृद्ध और उन्नत थी।

(१३) उज्जयिनी—यह अवन्ति की राजधानी थी। बौद्ध-काल में इसका भी बहुत महत्त्व था।

(१४) माहिष्मती—बौद्ध-काल में कुछ समय के लिये माहिष्मती भी अवन्ति की राजधानी रही थी।

(१५) वैशाली—यह प्रसिद्ध वज्जि-राज्य संघ की राजधानी थी।

(१६) पाटलिपुत्र—इसकी स्थापना शैशुनाग-वंश के सम्राट् उदायी के समय में हुई थी, और आगे चलकर यह मगध की राजधानी बन गया था।

(१७) प्रतिष्ठान या पैठन—यह दक्षिण का एक प्रसिद्ध नगर था।

इन प्रसिद्ध नगरों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक पत्तनों, निगमों व ग्रामों के नाम बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। इनमें उक्कट्ठ, अट्टक, अस्सपुर, कीटगिरि, हलिद्दवंश, भारुकच्छ और सुप्पारक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जैन-ग्रन्थों में भी अनेक नगरों के नाम आये हैं। प्रसिद्ध जैन ग्रन्थ उदवासगदसाओ में निम्नलिखित नगरों के नाम उपलब्ध होते हैं—वनिअग्राम, चम्पा, वाराणसी, पोलसपुर, राजगिह, सेतव्य, काम्पिल्लपुर, सावट्ठी, वैशाली, मिथिला, अलवी, कौशाम्बी, उज्जयिनी, तक्षशिला, सगुल, सुँसुमार, कपिलवस्तु, साकेत, इन्द्रपत्त, उक्कट्ठ, पाटलिपुत्तक और कुशीनारा।

बौद्ध और जैन-साहित्य के आधार पर हमने जिन नगरों के नाम यहाँ लिखे हैं, वे उस समय में बहुत प्रसिद्ध थे। पर उनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से नगरों की सत्ता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। बौद्ध और जैन-ग्रन्थों का उद्देश्य धार्मिक है। उनमें प्रसंगवश ही उस समय के कुछ नगरों के नाम भी आ गये हैं।

बौद्ध-काल में नगरों का निर्माण किस ढंग से होता था, और उनके विविध मकान किस प्रकार के बने होते थे, इस सम्बन्ध में बौद्ध-साहित्य से बहुत कम निर्देश प्राप्त होते हैं। रीज डेविड्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'बुद्धिस्ट इण्डिया' से बौद्ध-साहित्य के आधार पर इस विषय पर जो प्रकाश डाला है, उसकी कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को यहाँ उल्लिखित करना अप्रासंगिक न होगा।

उस समय के नगर प्रायः दुर्गरूप से बनाये जाते थे। नगरों के चारों ओर प्राकार होती थी। दुर्ग में राजप्रासाद, राज्य-सम्बन्धी इमारतें, बाजार तथा प्रमुख मनुष्यों के निवास-स्थान रहते थे। दुर्ग से बाहर बहुत-से उपनगर होते थे, जिनमें सर्वसाधारण जनता निवास करती थी।

मकान बनाने के लिये पत्थर, ईंट और लकड़ी—तीनों का प्रयोग होता था। तीनों प्रकार की सामग्री से बनाये गये मकानों का बौद्ध-साहित्य में उल्लेख है। मकान बनानेवाले राजों की कला इस काल में पर्याप्त उन्नति कर चुकी थी। विनयपिटक में

उस मसाले का जिक्र आता है, जिससे बौद्ध-काल के मकानों की दीवारों पर प्लास्तर किया जाता था। पानी तथा अन्य गन्दगी को निकालने के लिये किस प्रकार का प्रबन्ध किया जाए, इसका उल्लेख भी इन ग्रन्थों में आया है। जातक कथाओं में अनेक स्थानों पर सात मञ्जिलों वाले मकानों (सत्तभूमक प्रासाद) का वर्णन आता है। सात मञ्जिल-वाले मकानों का बनना यह सूचित करता है, कि उस समय भवननिर्माण-कला पर्याप्त उन्नत हो चुकी थी। बौद्ध-काल में स्नान-शालाओं का विशेष महत्त्व था। अनेक प्रकार की स्नानशालाओं का वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में आया है। पर सर्वसाधारण जनता इन 'सत्त-भूमक प्रासादों' या स्नानशालाओं का उपयोग नहीं कर सकती थी। वह एकमंजिले सामान्य मकानों में रहकर ही जीवन व्यतीत करती थी। बौद्ध-काल की (मौर्य-काल से पूर्व की) इमारतों के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध नहीं हुए हैं, अतः उनके सम्बन्ध में हम साहित्यिक वर्णनों से ही कल्पना कर सकते हैं।

बौद्ध-काल में ग्राम दो प्रकार के होते थे—सामान्य ग्राम और व्यावसायिक ग्राम, जिनमें कि किसी एक ही व्यवसाय को करनेवाले कारीगर लोग बसे होते थे। इनके अति-रिक्त इस प्रकार के भी ग्राम थे, जिनमें किसी एक ही वर्ण व जाति के लोग निवास करते थे। बौद्ध-ग्रन्थों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों व शूद्रों के ग्रामों का वर्णन आया है। इसी प्रकार किसी एक प्रकार के व्यवसायियों यथा बढ़ई, कुम्हार आदि से ही बसे हुए ग्रामों का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर है। अलीनचित्त-जातक में एक ग्राम का वर्णन है, जिसमें केवल वर्धकि लोग बसते थे और उनके घरों की संख्या ५०० थी। इसी प्रकार कुम्हारों, मछियारों, शिकारियों, चाण्डालों, डाकुओं आदि के ग्रामों का भी विविध स्थानों पर उल्लेख आया है।

सामान्य ग्रामों में सब प्रकार के लोग बसते थे, पर अधिक संख्या किसानों की होती थी। किसान लोग खेती करते थे, और अन्य लोग अपना-अपना पेशा करते थे। विविध पेशेवाले लोगों के अपने-अपने संगठन होते थे, जिन्हें 'श्रेणी' कहा जाता था।

बौद्धकालीन ग्रामों के स्वरूप को भी रीज डेविड्स ने प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार ग्राम के मध्य में ग्राम-निवासियों के घर होते थे, जिनके चारों ओर की भूमि कृषि के लिये प्रयोग में आती थी। ग्राम के निवासी अपनी भूमि पर स्वयं खेती करते थे, इसके लिये दास आदि का प्रयोग नहीं किया जाता था। कृषि के काम में आनेवाली भूमि के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम में चरागाह भी होते थे। इनमें सबके पशु स्वच्छन्दतापूर्वक चर सकते थे। चरागाह की भूमि पर ग्राम का सम्मिलित अधिकार माना जाता था। गांवभर के पशुओं को ग्वाले लोग चराने के लिये इन चरागाहों में ले जाते थे। ये ग्वाले सम्पूर्ण ग्राम की ओर से नियुक्त होते थे। ग्वालों के लिये निम्नलिखित गुणों की आवश्यकता बौद्ध-ग्रन्थों में बतायी गयी है—इनमें प्रत्येक पशु को पहचानने की क्षमता होनी चाहिये। किस पशु पर कौन-से निशान हैं, इसका भी उसे परिज्ञान होना चाहिये। पशुओं की खाल पर मक्खियां अण्डा न दे सकें, इसका उसे ध्यान रखना चाहिये। पशुओं की बीमारियों तथा उनके घावों का इलाज भी उसे आना चाहिये। पशुओं को मक्खी, मच्छर आदि से बचाने के लिये धुएं आदि का प्रयोग करना चाहिये। उसे यह भी ज्ञात होना चाहिये, कि नदी को किस स्थान से

पार किया जा सकता है, पीने का पानी कहाँ मिल सकता है, और कौन-से चरागाह उत्तम हैं। निस्सन्देह, इस प्रकार के कुशल ग्वालों के संरक्षण में बौद्धकालीन ग्रामों के पशु अच्छी हालत में रहते होंगे।

चरागाह के अतिरिक्त प्रत्येक ग्राम की सीमा पर जंगल भी होते थे। जंगलों की उस समय में कमी न थी। इन जंगलों से ग्राम के निवासी लकड़ी, बाँस, फूँस, काना आदि पदार्थों को बिना किसी बाधा के स्वच्छन्दता के साथ ले सकते थे। इनपर किसी प्रकार का कर नहीं लगता था।

ग्राम के निवासियों में सामूहिक जीवन की कमी नहीं थी। वे अनेक प्रकार के कार्यों को सम्मिलित रूप से करते थे। कुआँ खोदना, सड़कें बनाना, बाँध बाँधना, आदि अनेक कार्य वे सम्मिलित रूप से ही करते थे। कुलावक जातक में एक ग्राम का उल्लेख है, जिसमें तीस परिवार निवास करते थे। इस ग्राम के निवासी अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले सामूहिक कार्यों का सम्पादन स्वयं करते थे। इसके निवासियों द्वारा सम्मिलित रूप से बनाये जाने वाले कूप, बाँध तथा मन्दिर का उल्लेख भी इस जातक में मिलता है। इसी प्रकार के वर्णन लोशक जातक, तक्क जातक और महा-उक्ग जातक में भी मिलते हैं।

अनेक ग्रामों के चारों ओर भी मिट्टी की दीवार व काँटों का घेरा आदि रहता था। इसी लिये अनेक स्थानों पर जातकों में ग्रामद्वारों का उल्लेख किया गया है। खेती की रक्षा करने के लिये रखवाले नियुक्त किये जाते थे, जो सम्पूर्ण ग्राम की तरफ से नियत होते थे। खेतों के आकार प्रायः बड़े नहीं होते थे। एक परिवार जितनी जमीन को सुगमता के साथ स्वयं जोत सके, उतने ही खेत प्रायः होते थे। पर अनेक बड़े खेतों का वर्णन भी बौद्ध-साहित्य में आता है। जातक-कथाओं में एक इस प्रकार के खेत का उल्लेख है, जिसका विस्तार १,००० करीष था। एक अन्य स्थान पर ब्राह्मण काशीभारद्वाज का वर्णन है, जिसके पास ५०० हलों की खेती थी। इन खेतों में भृति पर काम करने-वाले मजदूरों का भी उपयोग होता था।

व्यापार और नौकानयन—बौद्ध-साहित्य के अनुशीलन से उस समय के व्यापार तथा नौकानयन के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण और मनोरञ्जक बातें ज्ञात होती हैं। उस समय में भारत के व्यापारी महासमुद्र को पार कर दूर-दूर देशों में व्यापार के लिये जाया करते थे। समुद्र को पार करने के लिये जहाज बहुत बड़ी संख्या में बनते थे, और उस समय में जहाज बनाने का व्यवसाय अत्यन्त उन्नत दशा में था। समुद्दवणिज जातक में एक जहाज का उल्लेख है, जिसमें वर्धकियों के सहस्र परिवार बड़ी सुगमता के साथ बैठकर सुदूरवर्ती किसी द्वीप को चले गये थे। वर्धकियों के ये एक सहस्र परिवार ऋण के बोझ से बहुत दबे हुए थे, और अपनी दशा से असन्तुष्ट होने के कारण इन्होंने यह निश्चय किया था कि किसी सुदूर प्रदेश में जाकर बस जाएं। सचमुच वह जहाज बहुत विशाल होगा, जिसमें एक हजार परिवार सुगमता के साथ यात्रा कर सकें। वलाहस्स जातक में पाँच सौ व्यापारियों का उल्लेख है, जो जहाज के टूट जाने के कारण लंका के समुद्रतट पर आ लगे थे, और जिन्हें पथभ्रष्ट करने के लिये वहाँ के निवासियों ने अनेक प्रकार के प्रयत्न किये थे। सुप्पारक जातक में ७०० व्यापारियों का उल्लेख है, जिन्होंने एक साथ

एक जहाज पर समुद्रयात्रा के लिये प्रस्थान किया था । महाजनक जातक में चम्पा से सुवर्ण-भूमि को प्रस्थान करनेवाले एक जहाज का वर्णन आता है, जिसमें बहुत-से व्यापारी अपना माल लादकर व्यापार के लिये जा रहे थे । इस जहाज में सात सार्थवाहों का माल लदा हुआ था, और इसने सात दिन में सात सौ योजन की दूरी तय की थी । संख जातक में संख नामक ब्राह्मण की कथा आती है, जो बहुत दान करता था । उसने दान के लिये छः दानशालाएँ बनायी हुई थी । इनमें वह प्रति दिन छः लाख मुद्राओं का दान करता था । एक बार उसके मन में आया, कि धीरे-धीरे मेरी सम्पत्ति का भण्डार समाप्त होता जाता है, और जब सम्पत्ति समाप्त हो जायगी, तो मैं क्या दान करूँगा ? यह सोचकर उसने एक जहाज द्वारा व्यापार के लिये सुवर्णभूमि को प्रस्थान करने का विचार किया । उसने एक जहाज व्यापारी माल से भरकर सुवर्णभूमि की तरफ प्रस्थान किया । मार्ग में किस प्रकार इस जहाज पर विपत्तियाँ आयी और किस तरह उनसे इसकी रक्षा हुई, इस सबका विस्तृत वर्णन संख जातक में मिलता है । जहाज बहुत बड़ी संख्या में बनाये जाते थे । महा-उम्मग्ग-जातक में भगवान् ने आनन्द को ३०० जहाज बनाने की आज्ञा दी थी । ३०० जहाजों को एक साथ बनाने की आज्ञा देना सूचित करता है, कि उस समय इस प्रकार के अनेक केन्द्र विद्यमान थे, जहाँ बड़ी संख्या में जहाजों का निर्माण किया जाता था । इसी प्रकार बौद्ध-साहित्य में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर जहाजों और उन द्वारा होने वाले व्यापार का उल्लेख है, पर इन सबको यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं । इन थोड़े-से निर्देशों से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि समुद्र में जहाजों द्वारा व्यापार करना उस समय में एक सामान्य बात थी ।

इन जहाजों द्वारा भारत का लंका, सुवर्णभूमि, पारस और बैबिलोन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था । सुवर्णभूमि के साथ व्यापार का और वहाँ जाने वाले जहाजों का जातकों में स्थान-स्थान पर उल्लेख आता है । इसी प्रकार लंका और वहाँ जाने वाले जहाजों के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश पाये जाते हैं । बैबिलोन के साथ व्यापार का उल्लेख बावेरु जातक में आया है । इसकी कथा संक्षेप से इस प्रकार है—पुराने समय की बात है, जब राजा ब्रह्मदत्त बनारस में राज्य करता था, कुछ व्यापारी व्यापार करने के लिए बावेरु देश में गये और अपने साथ जहाज पर एक कौवे को भी लेते गये । बावेरु देश में कोई पक्षी नहीं होता था, इसलिये जब वहाँ के निवासियों ने इस पक्षी को देखा, तो उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । उन्होंने भारत के इन व्यापारियों से प्रार्थना की, कि इस उड़नेवाले अद्भुत जन्तु को उन्हें बेच जाएं । वह कौवा एक सौ मुद्राओं में बिका । दूसरी बार जब ये व्यापारी फिर व्यापार करते हुए बावेरु देश पहुँचे, तो जहाज पर अपने साथ एक मोर को ले गये । मोर को देखकर बावेरु के निवासियों को और भी अधिक आश्चर्य हुआ, और वह वहाँ एक सहस्र मुद्राओं में बिका । इस विषय के सब विद्वान् सहमत हैं, कि बावेरु का अभिप्राय बैबिलोन से है, और इस जातक से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध-काल में भारतीय व्यापारी सुदूरवर्ती बैबिलोनिया [illegible] में भी व्यापार के लिये जाया करते थे । बैबिलोन के मार्ग में [illegible] और पारस के समुद्रतट इनके जहाजों द्वारा भली-भाँति [illegible] हुए थे, इस बात में भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता ।

भारत से इन देशों तक पहुँचने के लिये अनेक जलमार्ग विद्यमान थे। भारत की नदियाँ उस समय जलमार्ग के रूप में भी व्यवहृत होती थीं। चम्पा और बनारस उस समय में अच्छे बन्दरगाह माने जाते थे, जहाँ से जहाज पहले नदी में और फिर समुद्र में जाते थे। कुमार महाजनक ने सुवर्ण-भूमि के लिये चलते हुए चम्पा से प्रस्थान किया था। इसी प्रकार सीलानिसंस जातक में समुद्र में एक जहाज के टूट जाने पर जलमार्ग-द्वारा उसके यात्रियों के बनारस पहुँचने का उल्लेख है। पर सुदूरवर्ती देशों में जाने के लिये चम्पा और बनारस जैसे नदी-तटवर्ती नगर विशेष उपयुक्त नहीं हो सकते थे। इसके लिए उस समय में समुद्र-तट पर भी अनेक प्रसिद्ध बन्दरगाह विद्यमान थे। इन बन्दरगाहों के सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं, जिन्हें यहाँ निर्दिष्ट करना उपयोगी है।

लोसक जातक में समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह का वर्णन है, जिसका नाम गम्भीरपत्तन था। यहाँ पर जहाज किराये पर मिल सकते थे। गम्भीरपत्तन से जहाजों के चलने और उनके महासमुद्र में जाने का वर्णन इस जातक में उपलब्ध होता है। सुस्सोन्दि जातक में भारुकच्छ नाम के बन्दरगाह का उल्लेख है, और वहाँ से जहाज द्वारा जानेवाले व्यापारियों का विशद रूप से वर्णन इस जातक में किया गया है। इसी प्रकार सुप्पारक जातक में भी भारुकच्छ-पत्तन का उल्लेख है, और वहाँ यह भी लिखा है कि यह समुद्रतट पर विद्यमान एक बन्दरगाह था। इसी प्रकार अन्यत्र बौद्ध-साहित्य में ताम्रलिप्ति, सुप्पारक, रोरुक, कावेरपत्तन आदि बन्दरगाहों का भी उल्लेख है।

समुद्र मे जहाजों द्वारा होनेवाले विदेशी व्यापार के अतिरिक्त बौद्धकालीन भारत में आन्तरिक व्यापार की भी कमी न थी। भारत एक बहुत बड़ा देश है। उसके विविध प्रदेशों का पारस्परिक व्यापार उस समय महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। यह आन्तरिक व्यापार स्थल और जल दोनों मार्गों द्वारा होता था। भारत में व्यापार के प्रमुख स्थल-मार्ग कौन कौन-से थे, इसपर हम अभी आगे प्रकाश डालेंगे। पर यहाँ यह बताना आवश्यक है, कि स्थलमार्गों द्वारा होने वाले व्यापार का स्वरूप क्या था। यह आन्तरिक व्यापार सार्थों (काफिलों) द्वारा होता था। बहुत-से व्यापारी परस्पर साथ मिलकर काफिलों में व्यापार किया करते थे। उस समय भारत में जंगलों की अधिकता थी। रास्ते बहुत सुरक्षित नहीं थे। इस कारण व्यापारियों के लिये यह सम्भव नही होता था, कि वे अकेले सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार के लिये जा सकें। अतः वे बड़े-बड़े काफिले बना कर एक साथ व्यापार के लिये जाया करते थे। जातक-साहित्य में बहुत-से काफिलों और उनकी यात्राओं के वर्णन संगृहीत हैं। अनेक काफिलों में तो ५०० से लेकर १,००० तक गाड़ियाँ होती थीं। जातक-कथाओं में जिन काफिलों (सार्थों) का वर्णन है, वे बैल-गाड़ियों द्वारा व्यापार करते थे। सार्थ के नेता को सार्थवाह कहते थे। काफिलों की यात्रा निरापद नही होती थी। उन्हें लूटने के लिये डाकुओं के विविध दल हमेशा प्रयत्नशील रहते थे। सत्तिगुम्ब जातक में डाकुओं के एक ग्राम का उल्लेख है, जिसमें ५०० डाकू निवास करते थे। सार्थो को इन डाकुओं का सामना करने तथा उनसे अपने माल की रक्षा करने की उचित व्यवस्था करनी पड़ती थी। इसके लिये वे अपने साथ शस्त्रयुक्त पहरेदारों को रखते थे। ये पहरेदार व योद्धा सार्थ पर होने वाले हमलों का वीरता के

साथ मुकाबला करते थे। सार्थों की रक्षार्थ साथ चलनेवाले पहरेदारों का जगह-जगह पर जातक-कथाओं में वर्णन है। डाकुओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रकार की आपत्तियों का मुकाबला इन सार्थों को करना होता था। अपण्णक जातक में इन विपत्तियों का विशद रूप से वर्णन है। डाकुओं के अतिरिक्त जंगली जानवर, पानी की कमी, भूत-पिशाच आदि की सत्ता और आहार का अभाव—ये सब आपत्तियाँ थीं, जिनका समुचित प्रबन्ध किये बिना कोई सार्थ सफलता के साथ अपनी यात्रा नहीं कर सकता था।

स्थल-मार्ग से व्यापार करनेवाले ये सार्थ बड़ी लम्बी-लम्बी यात्राएं किया करते थे। गान्धार जातक में एक सार्थ का वर्णन है, जिसने विदेह से गान्धार तक की यात्रा की थी। इन दोनों नगरों का अन्तर १,२०० मील के लगभग है। बनारस उस समय व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। बनारस के साथ बहुत-से नगरों और देशों के व्यापार का उल्लेख जातकों में मिलता है। काम्बोज, काम्पिल्य, कपिलवस्तु, कोशल, कुरुक्षेत्र, कुरु, कुशीनारा, कौशाम्बी, मिथिला, मथुरा, पाञ्चाल, सिन्ध, उज्जयिनी, विदेह आदि के साथ बनारस के व्यापार का वर्णन इस बात को सूचित करता है, कि उस समय में बनारस व्यापार का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहां से सार्थ विविध देशों में व्यापार के लिए जाया करते थे। बनारस से काम्बोज, सिन्ध और उज्जयिनी बहुत दूर हैं। इतनी दूर व्यापार के लिये जानेवाले सार्थों की सत्ता इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि बौद्ध-काल में भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत दशा में था।

स्थल-मार्ग के अतिरिक्त आन्तरिक व्यापार के लिये नदियों का भी प्रयोग होता था। उस समय में गंगा नदी का जहाजों के आने-जाने के लिये बहुत उपयोग था। जातक-कथाओं में बनारस आनेवाले जहाजों का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। [illegible] जातक से सूचित होता है, कि बौद्ध-काल में गंगा में बहुत-से जहाज आते-जाते थे। गंगा के अतिरिक्त अन्य भी अनेक नदियां व्यापारिक मार्ग के रूप में प्रयुक्त होती थी।

बौद्ध-काल में स्थलमार्ग से व्यापार करनेवाले व्यापारी किन मार्गों से आया-जाया करते थे, इस सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण निर्देश जातक-कथाओं में मिलते हैं। रीज डेविड्स ने बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर इन मार्गों को इस प्रकार निश्चित किया है :—

(१) उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को—यह मार्ग सावट्ठी से पतिट्ठान जाता था। इसमें मुख्यतया निम्नलिखित पड़ाव आते थे—पतिट्ठान से चलकर माहिस्सती, उज्जयिनी, गोनद्ध, विदिशा, कोशाम्बी और साकेत होते हुए फिर सावट्ठी पहुँचते थे।

(२) उत्तर से दक्षिण-पूर्व को—यह मार्ग सावट्ठी से राजगृह जाता था। यह रास्ता सीधा नहीं था, अपितु सावट्ठी से हिमालय के समीप-समीप होता हुआ वैशाली के उत्तर में हिमालय की उपत्यका में पहुंचता था, और वहां से दक्षिण की तरफ मुड़ता था। इसका कारण शायद यह था, कि हिमालय से निकलनेवाली नदियों को ऐसे स्थान से पार किया जा सके, जहां कि उनका विस्तार अधिक न हो। नदियां पहाड़ के समीप बहुत छोटी होती हैं, वहां वे अधिक गहरी भी नहीं होतीं। इस मार्ग में सावट्ठी से चलकर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हत्थिगाम, भण्डगाम, वैशाली, पाटलिपुत्र और नालन्दा रास्ते में आते थे। राजगृह से मार्ग गया की तरफ मुड़ जाता था। वहां पर एक अन्य मार्ग से आकर मिल जाता था, जो कि बनारस

से ताम्रलिप्ति (समुद्रतट पर) की तरफ गया था।

(३) पूर्व से पश्चिम को—यह मार्ग भारत की प्रसिद्ध नदी गंगा और यमुना के साथ-साथ जाता था। इन नदियों में नौकाएँ और जहाज भी चलते थे, यह हम पहले लिख चुके हैं। बौद्ध-काल में गंगा नदी में सहजाती नामक नगर तक तथा यमुना में कौशाम्बी तक जहाज आया-जाया करते थे। इस मार्ग में कौशाम्बी का बहुत महत्त्व था। यहाँ पर उत्तर से दक्षिण-पश्चिम को जानेवाला मार्ग भी मिल जाता था, और नौकाओं तथा जहाजों से आनेवाला माल यहाँ उतार दिया जाता था, और उसे गाड़ियों पर लादकर उत्तर या दक्षिण में पहुँचाया जाता था।

इन तीन प्रसिद्ध मार्गों के अतिरिक्त व्यापार के अन्य महत्त्वपूर्ण मार्ग भी बौद्ध-काल में विद्यमान थे, इसमें सन्देह नहीं। जातकों में विदेह से गान्धार, मगध से सौवीर और भारुकच्छ से समुद्रतट के साथ-साथ सुवर्णभूमि जानेवाले व्यापारियों का वर्णन है। विदेह से गान्धार तथा मगध से सौवीर जानेवाले व्यापारी किन मार्गों का अनुसरण करते थे, यह हमें ज्ञात नहीं है। पर यह निश्चित है, कि इन सुदूरवर्ती यात्राओं के कारण उस समय में व्यापारीय मार्ग बहुत उन्नत हो चुके थे।

बौद्ध-काल के व्यापारी ऐसे सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी व्यापार के लिये जाया करते थे, जहाँ निश्चित मार्ग नहीं थे, या जिनके मार्ग सर्वसाधारण को ज्ञात न थे। ऐसे सार्थों (काफिलों) के साथ इस प्रकार के लोग रहते थे, जो मार्गों का भली-भाँति परिज्ञान रखते हों। इन लोगों को 'थलनियामक' कहा जाता था। ये थलनियामक नक्षत्रों तथा ज्योतिष के अन्य तत्त्वों के अनुसार मार्ग का निश्चय करते थे। थलनियामकों से सघन जंगलों, विस्तीर्ण मरुस्थलों तथा महासमुद्रों में मार्ग का पता लगाने में सहायता मिलती थी। जातक-कथाओं में लिखा है, कि विस्तीर्ण मरुस्थलों में यात्रा करना उसी प्रकार का है, जैसे महासमुद्र में यात्रा करना। अतः उनके लिये भी मार्गप्रदर्शकों की आवश्यकता अनिवार्य होती थी। उस समय में दिग्दर्शक-यन्त्रों का आविष्कार नहीं हुआ था। इस प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख कहीं बौद्ध-साहित्य में नहीं है। इसलिये मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिये नक्षत्रों से ही सहायता ली जाती थी। समुद्र में दिशा जानने के लिये एक अन्य भी उपाय बौद्ध-काल में प्रयुक्त किया जाता था। उस समय के नाविक लोग अपने साथ एक विशेष प्रकार के कौवे रखते थे, जिन्हें 'दिशाकाक' कहते थे। जब नाविक लोग रास्ता भूल जाते थे और स्थल का कहीं पता न चलता था, तो इन 'दिशाकाकों' को उड़ा दिया जाता था। ये 'दिशाकाक' जिधर जमीन देखते थे, उधर की तरफ उड़ते थे, और उधर ही नाविक लोग अपने जहाजों को भी ले चलते थे। महासमुद्र के बीच में तो इन दिशाकाकों का विशेष उपयोग नहीं हो सकता था, पर सामान्य समुद्र-यात्राओं में इनसे बहुत सहायता मिलती थी।

दिग्दर्शक-यन्त्र के अभाव में महासमुद्र की यात्रा बहुत संकटमय होती थी। अनेक बार नाविक लोग मार्गभ्रष्ट होकर नष्ट हो जाते थे। जातक-ग्रन्थों में रास्ते से भटककर नष्ट होनेवाले अनेक जहाजों की कथाएँ लिखी हैं। पण्डर जातक में कथा आती है, कि पाँच सौ व्यापारी महासमुद्र में जहाज लेकर गये। अपनी यात्रा के सत्रहवें दिन वे मार्ग भूल गये। स्थल का चिह्न कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। परिणाम

यह हुआ, कि वे सब नष्ट हो गये और मछलियों के ग्रास बन गये।

जल और स्थल के इन मार्गों से किन वस्तुओं का व्यापार किया जाता था, इस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण निर्देश बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होते। जातक-कथाओं के लेखक इतना लिखकर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, कि व्यापारियों ने ५०० व १,००० गाड़ियाँ बहुमूल्य भाण्ड (व्यापारी पदार्थ) से भरीं और व्यापार के लिये चल पड़े। पर इन गाड़ियों में कौन-से बहुमूल्य भाण्ड को भरा गया, यह बताने का वे कष्ट नहीं करते। जो दो-चार निर्देश इस विषय में मिलते हैं, उनका जिक्र करना उपयोगी है। बौद्ध-काल में वस्त्र-व्यवसाय के लिये बनारस और शिवि देश सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। महापरिनिब्बान सुत्तान्त में बनारस के वस्त्रों की बहुत प्रशंसा की गयी है, और लिखा है कि वे अत्यन्त महीन होते हैं। महावग्ग में शिविदेश के वस्त्रों को बहुमूल्य बताया गया है। सिन्ध के घोड़े उस समय में बहुत प्रसिद्ध थे। जातकों के अनुसार प्राच्य देश के राजा लोग उत्तर या पश्चिम के घोड़ों को पसन्द करते थे, और उन्हीं को अपने पास रखते थे। अनेक स्थानों पर घोड़ों के सौदागरों का वर्णन है, जो उत्तरा-पथ से आकर बनारस में घोड़े बेचते थे।

मुद्रा-पद्धति तथा वस्तुओं के मूल्य—बौद्ध-काल की मुद्रा-पद्धति के सम्बन्ध में बौद्ध-ग्रन्थों से अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। उस समय का प्रधान सिक्का 'काहा-पन' या 'कार्षापण' होता था। जातक-कथाओं में बार-बार इसका उल्लेख आया है। परन्तु इसके अतिरिक्त निष्क, सुवर्ण और धरण नाम के सिक्कों का भी उस काल में प्रचलन था।

निष्क या निक्ख एक सोने का सिक्का था, जिसका भार ४०० रत्ती होता था। 'सुवर्ण' भी सोने का ही सिक्का था, जो भार में ८० रत्ती होता था। बौद्ध-साहित्य में सामान्य सोने के लिये हिरण्य शब्द आता है, और सोने के सिक्के के लिये 'सुवर्ण' या 'सुवर्णमाषक'। उदय जातक में कथा आती है, कि उदयभद्दा को 'सुवर्णमाषक' देकर प्रलुब्ध करने का प्रयत्न किया गया। इसी प्रकार महावग्ग में भी 'सुवर्णमाषक' का उल्लेख आया है।

बौद्ध-काल का प्रधान सिक्का कार्षापण होता था। यद्यपि मुख्यतया कार्षापण तांबे के होते थे, पर इस प्रकार के निर्देश मिलते हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि कार्षापण सोने और चांदी के भी बने होते थे। डाक्टर भाण्डारकर ने भारतीय मुद्रा-पद्धति-विषयक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में इन निर्देशों का विशद रूप से विवेचन किया है।

इन विविध सिक्कों का भार कितना होता था, और वर्तमान सिक्कों में इनका मूल्य कितना था, इस सम्बन्ध में विचार कर श्रीमती रीज डेविड्स निम्नलिखित परि-णाम पर पहुँची हैं :—

सोने के १४६ ग्रेन = १६ सोने के माषक = १ सुवर्ण

चांदी के १४६ ग्रेन = १६ चांदी के माषक = १ धरण

तांबे के १४६ ग्रेन = १६ तांबे के माषक = १ कार्षापण

इसके अनुसार इन सिक्कों के मूल्यों का हिसाब इस प्रकार लगाया गया है—

१ सुवर्ण = १ पौ० ५ शि०

१ धरण=९ पेंस
१ कार्षापण=१ पेंस

विनिमय की सुगमता के लिये बौद्ध-काल में वर्तमान अठन्नी, चवन्नी, इकन्नी आदि की तरह अर्धकार्षापण, पादकार्षापण आदि अन्य सिक्के भी होते थे। बहुत छोटी कीमतों के लिये माषक और काकणिका का प्रयोग किया जाता था।

विविध वस्तुओं की कीमतों के सम्बन्ध में भी कुछ मनोरंजक निर्देश बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। उनका उल्लेख करना भी यहाँ उपयोगी होगा। विनय-पिटक के अनुसार एक मनुष्य के एक बार के आहार के लिये उपयुक्त भोजन-सामग्री एक कार्षापण द्वारा प्राप्त की जा सकती थी। बौद्ध-भिक्षुओं के लिये उपयुक्त चीवर भी एक कार्षापण द्वारा प्राप्त किया जा सकता था। परन्तु भिक्षुणी के लिये उपयुक्त वस्त्र १६ कार्षापणों में बनता था। बहुमूल्य वस्त्रों की कीमत बहुत अधिक होती थी। बौद्ध-ग्रन्थों में एक हजार तथा एक लाख कार्षापणों में बिकनेवाले वस्त्रों का भी उल्लेख है।

पशुओं की कीमतें भिन्न-भिन्न होती थीं। महाउम्मग जातक के अनुसार गधे की कीमत ८ कार्षापण होती थी। गामणिचण्ड जातक और कन्ह जातक के अनुसार बैलों की एक जोड़ी २४ कार्षापणों में खरीदी जा सकती थी। दास-दासियों की कीमत उनके गुणों के अनुसार कम-अधिक होती थी। वेस्सन्तर जातक में एक दासी का वर्णन है, जिसकी कीमत १०० निष्क से भी अधिक थी। दुर्गन जातक और नन्द जातक में ऐसे दास-दासियों का उल्लेख है, जो केवल १०० कार्षापणों से ही प्राप्त किये जा सकते थे।

घोड़े उस समय में महंगे थे। जातकों में घोड़ों की कीमत १,००० कार्षापण से लेकर ६,००० कार्षापण तक लिखी गयी है। मेमने की कीमत एक स्थान पर १०० कार्षापण लिखी गयी है, गधे और बैल के मुकाबले में मेमने का इतना महंगा होना समझ में नहीं आता।

उस समय में वेतन तथा भृति किस दर से दी जाती थी, इस विषय में भी कुछ निर्देश मिलते हैं। राजकीय सेवक की न्यूनतम भृति १ कार्षापण दैनिक होती थी। नाई को बाल काटने के बदले में ८ कार्षापण तक दिये जाते थे। गणिका की फीस ५० से १०० कार्षापण तक होती थी। अत्यन्त कुशल धनुर्धारी को १,००० कार्षापण तक मिलता था। रथ किराये पर लेने के लिये ८ कार्षापण प्रति घण्टा दिया जाता था। एक मछली की कीमत ७ माषक तथा शराब के एक गिलास की कीमत १ माषक लिखी गयी है।

तक्षशिला में अध्ययन के लिये जानेवाले विद्यार्थी अपने आचार्य को १,००० कार्षापण दक्षिणा के रूप में प्रदान करते थे। इन थोड़े-से निर्देशों से हम बौद्ध-काल की कीमतों के सम्बन्ध में कुछ अनुमान कर सकते हैं।

(४) विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति

विवाह तथा गृहस्थ-जीवन—बौद्ध-साहित्य में तीन प्रकार के विवाहों का उल्लेख है—प्राजापत्य, स्वयंवर और **गान्धर्व। सामान्यत**या विवाह प्राजापत्य पद्धति से होता था। परम्परागत प्रथा के अनुसार समान जाति के कुलों में माता-पिता की इच्छानुसार

विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। परन्तु स्वयंवर तथा गान्धर्व-विवाहों के भी अनेक उदाहरण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं, और इन्हें भी धर्मानुकूल माना जाता था। कुणाल जातक में कुमारी कण्हा के स्वयंवर का उल्लेख है, जिसने कि अपनी इच्छा के अनुसार पांच कुमारों के साथ विवाह किया था। नच्च जातक में एक कुमारी का वर्णन है, जिसने अपने पिता से यह वर मांगा था, कि उसे अपनी इच्छानुसार पति वरण करने का अवसर दिया जाए। पिता ने उसकी यह इच्छा पूर्ण कर दी और उसके लिये एक स्वयंवर सभा बुलाई गयी, जिसमें दूर-दूर से कुमार एकत्रित हुए। धम्मपदटीका में भी एक असुर राजा वेपचित्ति की कन्या के स्वयंवर-विवाह का वर्णन है। गान्धर्व-विवाह के भी अनेक दृष्टान्त बौद्ध-ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। कट्ठहारि जातक में बनारस के राजा ब्रह्मदत्त की कथा आती है, जो एक बार जंगल में भ्रमण कर रहा था। उसने देखा कि कोई अनिन्द्य सुन्दरी बालिका बड़ी सुरीली तान में गा रही थी। राजा ब्रह्मदत्त उसे देखते ही मुग्ध हो गया और उन दोनों ने वहीं वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। इसी प्रकार अवन्ती के राजा चण्डप्रद्योत की कन्या वासवदत्ता (वासुलदत्ता) का उदयन के साथ विवाह भी गान्धर्व-विवाह का प्रसिद्ध उदाहरण है। धम्मपदटीका में कुमारी पाटच्चरा का वर्णन आया है, जिसने अपने माता-पिता द्वारा निश्चित सम्बन्ध को ठुकराकर अपनी इच्छा से विवाह किया था। इसी प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी मिलते हैं। इनसे स्पष्ट है, कि बौद्ध-काल में सामान्य प्राजापत्य-विवाह के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वैवाहिक सम्बन्ध भी प्रचलित थे, और उन्हें धर्मानुकूल भी माना जाता था।

सामान्यतया, विवाह समान जाति और कुल में होते थे। पर बौद्ध-ग्रन्थों में इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है, जबकि विवाह करते हुए अपनी जाति व कुल का कोई ध्यान नहीं रखा गया। कोशल राज्य के प्रसिद्ध राजा पसेनदी (प्रसेनजित्) ने श्रावस्ती के मालाकार की कन्या मल्लिका के साथ विवाह किया था। वंकहार देश के शिकारियों के सरदार की कन्या चापा का विवाह उपक नामक एक वैरागी के साथ कर दिया गया था। दिव्यावदान में एक ब्राह्मण कुमारी का उल्लेख आता है, जिसने शार्दूलकर्ण नाम के शूद्र-कुमार के साथ विवाह किया था। इसी प्रकार धम्मपद-टीका में कुण्डलकेशी नामक एक कुलीन महिला की कथा आती है, जिसने एक डाकू के साथ विवाह करने में कोई संकोच नहीं किया था। इन उदाहरणों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है, कि जाति का बन्धन बौद्ध-काल तक भी बहुत दृढ़ नहीं हुआ था। जाति के बाहर विवाह भी उस समय में प्रचलित थे।

कन्याओं का विवाह सामान्यतया सोलह वर्ष की आयु में किया जाता था। बाल-विवाह की प्रथा उस समय प्रचलित नहीं थी। धम्मपदटीका में राजगृह के श्रेष्ठी की कन्या कुण्डलकेशी का उल्लेख आया है, जो सोलह वर्ष की आयु तक अविवाहित रही थी। वहाँ यह भी लिखा है कि यही आयु है, जिसमें कि स्त्रियाँ विवाह के लिये उत्सुक होती हैं।

बौद्ध-काल में विवाहों में दहेज की प्रथा भी प्रचलित थी। धम्मपदटीका में श्रावस्ती के श्रेष्ठी मिगार की कथा आती है, जिसने अपनी कन्या विशाखा के विवाह में निम्नलिखित वस्तुएं दहेज में दी थी—धन से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां, सुवर्ण-पात्रों से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां, रजत के पात्रों से पूर्ण पांच सौ गाड़ियां, तांबे के पात्रों से पूर्ण पांच सौ

गाड़ियाँ, विविध प्रकार के रेशमी वस्त्रों से पूर्ण पाँच सौ गाड़ियाँ और इसी प्रकार घी, चावल तथा खेती के उपकरणों से पूर्ण पाँच-पाँच सौ गाड़ियाँ, साठ हजार वृषभ तथा साठ हजार गौवें। नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में कुछ सम्पत्ति प्रदान करने की बात तो स्थान-स्थान पर बौद्ध-साहित्य में मिलती है। कोशल के राजा महाकोशल ने मगधराज बिम्बिसार के साथ अपनी कन्या कोशलदेवी का विवाह करते हुए काशी का एक ग्राम, जिसकी आमदनी एक लाख वार्षिक थी, नहान-चुन्न-मूल्य के रूप मे प्रदान किया था। यही ग्राम फिर कुमारी वजिरा के विवाह के अवसर पर अजातशत्रु को प्रदान किया गया था। इसी प्रकार श्रावस्ती के धनकुवेर श्रेष्ठी निगार ने ५४ कोटि धनराशि अपनी कन्या के विवाह के अवसर पर नहान-चुन्न-मूल्य के रूप में दी थी।

बौद्ध-काल में पारिवारिक जीवन का क्या आदर्श था, इसका बड़ा सुन्दर परिचय उन शिक्षाओं से मिलता है, जो उस समय की वधुओं को दी जाती थीं। ये शिक्षाएँ निम्नलिखित हैं:—

(१) अन्दर की अग्नि को बाहर न ले जाओ।
(२) बाहर की अग्नि को अन्दर न लाओ।
(३) जो दे, उसी को प्रदान करो।
(४) जो नहीं देता, उसको प्रदान न करो।
(५) जो देता है, और जो नहीं देता है, उन दोनों को प्रदान करो।
(६) सुख के साथ बैठो।
(७) सुख के साथ भोग करो।
(८) सुख के साथ शयन करो।
(९) अग्नि की परिचर्या करो।
(१०) कुल देवता का सम्मान करो।

सूत्र रूप से उपदिष्ट की गयी इन शिक्षाओं का क्या अभिप्राय है, इसका विवेचन भी बौद्ध-साहित्य में किया गया है। हम उसे संक्षेप के साथ यहाँ प्रस्तुत करते हैं:—

(१) अपने घर की अन्दरूनी बातचीत को बाहर न कहो। घर में जो बातें होती हैं, जो समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, उनका जिक्र दूसरों से यहाँ तक कि घर के नौकरों से भी न करो।
(२) बाहर के झगड़ों को घर में प्रविष्ट न होने दो।
(३) घर की वस्तु उसी को उधार दो, जो उसे वापिस कर दे।
(४) घर की वस्तु उसे कभी उधार न दो, जो उसे वापिस न लौटाए।
(५) जो भिखमंगे तथा कंगाल भिखारी हैं, उन्हें इस बात की अपेक्षा किये बिना कि वे वापस देते हैं या नहीं, दान करो।
(६) जिसके सम्मुख बैठना मुनासिब है, उसके सम्मुख बैठी रहो। जिसके आने पर खड़ा रहना आवश्यक है, उसके सम्मुख मत बैठो। सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करो।
(७) पति से पूर्व भोजन न करो। इसी प्रकार अपनी सास तथा श्वशुर को भली-भाँति भोजन कराने के अनन्तर ही स्वयं भोजन करो।

मानती जाती हैं।

अंगुत्तरनिकाय के अनुसार प्रत्येक सफल पत्नी में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) उसे पति की आज्ञा में रहना चाहिये।

(२) उसे पति के प्रति सदा मधुरता के साथ बोलना चाहिये।

(३) उसे पति की इच्छानुसार कार्य करना चाहिये।

(४) उसे अपने पति के गुरुजनों का सम्मान करना चाहिये।

(५) उसे अतिथियों की सेवा में जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिये।

(६) उसे कातने और बुनने में प्रवीण होना चाहिये।

(७) गृहस्थी को सम्भालने के लिये और घर के सब कर्तव्यों को पूर्ण करने की योग्यता उसमें होनी चाहिये।

(८) घर के नौकरों के आराम का उसे खयाल रखना चाहिये। जब वे बीमार पड़ें, तब उनकी चिकित्सा का भी प्रबन्ध करना चाहिये।

(९) पति की कमाई को भली-भाँति सम्भालना चाहिये।

(१०) शराब, नशा आदि व्यसनों में धन के विनाश को रोकना चाहिये।

(११) उसमें उदारता होनी चाहिये, कंजूसी नहीं।

अंगुत्तरनिकाय में ही एक अन्य स्थान पर प्रत्येक स्त्री के लिये चार गुणों का प्रतिपादन किया है। वे गुण निम्नलिखित हैं :—

(१) गृहकार्य में प्रवीणता—स्त्री को गृहकार्य में जरा भी प्रमाद न करना चाहिये।

(२) घर के विविध सदस्यों की परवाह करना—घर के जितने भी सदस्य हैं, उनकी क्या-क्या आवश्यकताएँ हैं, इस बात की चिन्ता सदा स्त्री को रहनी चाहिये। नौकर अपना कार्य ठीक प्रकार करते हैं या नहीं, इसका भी उसे ध्यान रखना चाहिये।

(३) पति की इच्छानुसार कार्य करना।

(४) मितव्ययिता।

अंगुत्तरनिकाय का कहना है कि जो स्त्री इन गुणों से युक्त होकर साथ ही बुद्ध, धर्म और संघ—इन तीनों रत्नों पर श्रद्धा रखती है वह इस लोक और परलोक—दोनों में सुख प्राप्त करती है।

बारहवां अध्याय

धर्म-विजय के लिये अशोक का उपक्रम

(१) अशोक के शिलालेख

भारतीय संस्कृति के इतिहास में अशोक का महत्त्व बहुत अधिक है। वह न केवल एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था, अपितु उसके प्रयत्न से भारतीय धर्म और संस्कृति का देश-विदेश में प्रचार होने में भी बहुत सहायता मिली। इस सम्बन्ध में हमें उसके शिलालेखों, स्तम्भलेखों व गुहालेखों से परिचय मिलता है, अशोक ने इन्हें 'धम्म-लिपि' कहा है। ये लेख निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किये जाते हैं—

(१) चतुर्दश शिलालेख—इनकी प्रतियां पेशावर के शाहबाज गढ़ी नामक स्थान पर, हजारा जिले में मानसेरा नामक स्थान पर, देहरादून जिले में कालसी में, गिरनार (काठियावड़ में), सोपारा (बम्बई के थाना जिले में), धौली (उड़ीसा), जौगड़ (गंजाम जिले में) और कुर्नूल में मिली हैं।

(२) लघु शिलालेख—ये रूपनाथ (मध्य प्रदेश), सहसराम (बिहार), बैराट (राजस्थान), सिद्दपुर, जतिङ्ग रामेश्वर, ब्रह्मगिरि (मैसूर) और मास्की, (हैदराबाद) में मिले है।

(३) सप्त स्तम्भलेख—ये दिल्ली, इलाहाबाद, चम्पारन जिले आदि में अनेक स्थान पर मिले हैं।

(४) लघु स्तम्भलेख—ये सारनाथ, साञ्ची व इलाहाबाद में मिले हैं। इनके अतिरिक्त अन्य भी कतिपय लेख स्तम्भों व गुहाओं में उपलब्ध हैं।

(२) धर्म-विजय का उपक्रम

इतिहास में अशोक के महत्त्व का मुख्य कारण धर्म-विजय की नीति है। मागध-साम्राज्य की विश्वविजयिनी शक्ति को सिकंदर और सीजर की तरह अन्य देशों पर आक्रमण करने में न लगाकर उसने धर्म-विजय के लिये लगाया। कलिङ्ग को जीतने में लाखों आदमी मारे गये थे या कैद हुए थे, और लाखों स्त्रियां विधवा तथा बच्चे अनाथ हुए थे। यह देखकर अशोक के हृदय में विचार आया, कि जिसमें लोगों का इस प्रकार वध हो, वह विजय निरर्थक है। इस प्रकार की विजय को देखकर उसे बहुत दुःख और अनुताप हुआ। उसने निश्चय किया, कि अब वह किसी देश पर आक्रमण कर इस तरह से विजय नहीं करेगा। अपने पुत्रों और पौत्रों के लिये भी उसने यही आदेश दिया, कि वे शस्त्रों द्वारा नये प्रदेशों की विजय न करें, और जो धर्म द्वारा विजय हो, उसी को वास्तविक विजय समझें।

इसी विचार से अशोक ने सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल, सातियपुत्र और

ताम्रपर्णी के राज्यों में तथा साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्थित यवन अन्तियोक आदि द्वारा शासित प्रदेशों में शस्त्र-विजय की जगह धर्म-विजय का उपक्रम किया। मागध-साम्राज्य की जो सैनिक शक्ति उस समय थी, यदि अशोक चाहता तो उससे इन सब प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर सकता था। पर कलिंग-विजय के बाद जो अनुताप की भावना उसके हृदय में उत्पन्न हुई थी, उससे उसने अपनी नीति को बदल दिया। इसीलिये उसने अपने महामात्यों (उच्च राजपदाधिकारियों) को यह आज्ञा दी—"शायद आप लोग यह जानना चाहेंगे, कि जो अंत (सीमावर्ती राज्य) अभी तक जीते नहीं गये हैं उनके संबंध में राजा की क्या आज्ञा है। अंतों के बारे में मेरी यही इच्छा है, कि वे मुझसे डरें नहीं, और मुझपर विश्वास रखें। वे मुझसे सुख ही पायेंगे, दुःख नहीं। वे यह विश्वास रखें, कि जहाँ तक क्षमा का वर्ताव हो सकेगा, राजा हम से क्षमा का वर्ताव ही करेगा।" (दूसरा कलिंग-लेख)।

यही भाव उन आटविक जातियों के प्रति प्रगट किया गया, जो उस समय के महाकांतारों में निवास करती थीं, और जिन्हें शासन में रखने के लिये राजाओं को सदा शस्त्र का प्रयोग करने की आवश्यकता रहती थी। शस्त्रों द्वारा विजय की नीति को छोड़कर अशोक ने धर्म द्वारा विजय की नीति को अपनाया था।

अशोक का धर्म से क्या अभिप्राय था? जिस धर्म से वह अपने साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर विजय प्राप्त करने का उद्योग कर रहा था, क्या वह कोई सम्प्रदाय-विशेष था, या धर्म के सर्वसम्मत सिद्धान्त? अशोक के शिलालेखों से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। वह लिखता है—"धर्म यह है कि दास और सेवकों के प्रति उचित व्यवहार किया जाय, माता-पिता की सेवा की जाय, मित्र-परिचित, रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय और प्राणियों की हिंसा न की जाय।"

एक अन्य लेख में अशोक ने 'धम्म' को इस प्रकार समझाया है—"माता और पिता की सेवा करनी चाहिये। (प्राणियों के) प्राणों का आदर दृढ़ता के साथ करना चाहिये, (अर्थात् जीवहिंसा नहीं करनी चाहिये)। सत्य बोलना चाहिये. धम्म के इन गुणों का प्रचार करना चाहिये, विद्यार्थी को आचार्य की सेवा करनी चाहिये और सबको अपने जाति-भाइयों के प्रति उचित वर्ताव करना चाहिये। यही प्राचीन (धर्म की) रीति है। इससे आयु बढ़ती है, और इसी के अनुसार मनुष्यों को चलना चाहिये।"

इसी प्रकार अन्यत्र लिखा है—"माता-पिता की सेवा करना तथा मित्र, परिचित, स्वजातीय, ब्राह्मण और श्रमण को दान करना अच्छा है। थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संचय करना अच्छा है।" फिर एक अन्य स्थान पर लिखा है—"धर्म करना अच्छा है। पर धर्म क्या है? धर्म यही है कि पाप से दूर रहे, बहुत-से अच्छे काम करे, दया, दान, सत्य और शौच (पवित्रता) का पालन करे।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है, कि अशोक का धम्म से अभिप्राय आचार के सर्वसम्मत नियमों से था। दया, दान, सत्य, मार्दव, गुरुजन तथा माता-पिता की सेवा, अहिंसा आदि गुण ही अशोक के धम्म थे। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अशोक अपने धम्म के सन्देश को ले जाने के लिये उत्सुक था। इसीलिये उसने बार-बार जनता के साधारण व्यवहारों और धम्म-व्यवहार में तुलना की है। यहाँ कुछ ऐसी तुलनाओं को उद्धृत करना

ऊपर के उद्धरणों से यह स्पष्ट है, कि यद्यपि अशोक स्वयं बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, पर उसने जिस धर्म-विजय के लिये उद्योग किया, वह किसी सम्प्रदाय-विशेष की न होकर सब धर्मों के सर्वसम्मत सिद्धान्तों का प्रचार ही थी।

(३) धर्म-विजय के उपाय

अशोक ने जिन उपायों से धर्म-विजय को सम्पन्न करने का प्रयत्न किया, उनपर संक्षेप से प्रकाश डालना आवश्यक है। सबसे पूर्व उसने अपने और अपनी प्रजा के जीवन में सुधार करने का उद्योग किया। भारत में जो क्रूरता व अकारण हिंसा प्रचलित थी, उसे अशोक ने रोकने का प्रयत्न किया। "जहाँ किसी प्राणी की हत्या होती हो, ऐसा होम नहीं करना चाहिये, और न 'समाज' करना चाहिये। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा समाज में बहुत दोष देखता है। किन्तु एक प्रकार के समाज हैं, जिन्हें देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा अच्छा मानता है। पहले देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा के रसोई-घर में शोरबे के लिये प्रतिदिन सैकड़ों-हजारों प्राणी मारे जाते थे। पर अब जब यह धर्मलिपि लिखी गयी, केवल तीन प्राणी, दो मोर और एक मृग मारे जाते हैं, वह मृग भी सदा नहीं। भविष्य में वे तीन प्राणी भी न मारे जायेंगे।"

प्राचीन भारत में 'समाज' का अभिप्राय उन मेलों से था, जिनमें रथों की दौड़ और पशुओं की लड़ाई होती थी, और उनपर बाजी लगायी जाती थी। इनमें पशुओं पर अकारण क्रूरता होती थी। ऐसे 'समाज' अशोक को पसंद नहीं थे। परन्तु कुछ ऐसे समाज भी थे, जिनमें गाना-बजाना और अन्य निर्दोष बातें होती थीं। इनमें विमान, हाथी, अग्निस्कंध आदि के दृश्य दिखाये जाते थे। अशोक को ऐसे समाजों से कोई एतराज नहीं था। अशोक ने उन प्राणियों का वध सर्वथा रोक दिया, जो न खाये जाते हैं, और न किसी अन्य उपयोग में ही आते हैं। ऐसे प्राणी निम्नलिखित थे—सुग्गा, मैना, अरुण, चकोर, हंस, नांदीमुख, गेलाड, जतुका (चमगीदड़), अंबाक-पीलिका, कछुआ, बिना हड्डी की मछली, जीवजीवक, गंगापुटक, संकुजमत्स्य, साही, पर्णशश, बारह-सिंगा, सांड, ओकपिंड, मृग, सफेद कबूतर और ग्राम के कबूतर। ये सब प्राणी केवल शौक के कारण मारे जाते थे। इन्हें खाने का रिवाज उस समय में नहीं था। अशोक ने इस प्रकार की व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध अपने शिलालेखों द्वारा आदेश जारी किया था। भोजन के लिये अथवा अन्य उपयोग के लिये जो पशुवध किया जाता है, उसे भी कम करने के लिये अशोक ने प्रयत्न किया था। वह लिखता है—'गाभिन या दूध पिलाती हुई बकरी, भेड़ी और सुअरी तथा इनके बच्चों को, जो छः महीने तक के हों, नहीं मारना चाहिये। मुर्गों को बधिया नहीं करना चाहिये। जीवित प्राणियों को भूसी के साथ नहीं जलाना चाहिये। अनर्थ करने या प्राणियों की हिंसा के लिये वन में आग नहीं लगानी चाहिये। प्रति चार-चार महीनों की, तीन ऋतुओं की तीन पूर्णमासियों के दिन, पौष मास की पूर्णमासी के दिन, चतुर्दशी, अमावस्या और प्रतिपदा के दिन तथा प्रत्येक उपवास के दिन मछली नहीं मारनी चाहिये। इन सब दिनों में हाथियों के वन में तथा तालाबों में दूसरे प्रकार के प्राणी भी नहीं मारे जाने चाहिएँ।'

पशुओं को कष्ट से बचाने के लिये अशोक ने यह भी प्रयत्न किया, कि उन्हें दागा

में होऊँ, चाहे शयनागार में होऊँ, प्रतिवेदक हर समय प्रजा के कार्य मुझे बताएं। मैं सब जगह प्रजा का कार्य करूँगा।'

धर्म-विजय के मार्ग को निष्कण्टक करने के लिये भी यह परम आवश्यक था, कि विविध सम्प्रदायों में मेल-जोल पैदा किया जाय। उस समय भारत में अनेक मतों और सम्प्रदायों की सत्ता थी। इनमें परस्पर विरोध का रहना स्वाभाविक था। अशोक ने इस ओर भी ध्यान दिया। उसने लिखा है—'देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा विविध दान व पूजा से गृहस्थ व संन्यासी, सब सम्प्रदायवालों का सत्कार करते हैं। किन्तु देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते, जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उसकी जड़ वाणी का संयम है, अर्थात् लोग केवल अपने ही संप्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निंदा न करें। केवल विशेष-विशेष कारणों के होने पर ही निंदा होनी चाहिये। क्योंकि किसी न किसी कारण से सब सम्प्रदायों का आदर करना लोगों का कर्त्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होता है। इसके विपरीत जो करता है, वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुँचाता है, और दूसरे सम्प्रदायों का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर, इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदाय की निंदा करता है, वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुँचाता है। समवाय (मेल-जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक-दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है, कि सब सम्प्रदायवाले बहुत विद्वान् और कल्याण का कार्य करने वाले हों, इसलिये जहाँ-जहाँ जो सम्प्रदायवाले हों, उनसे कहना चाहिये कि देवताओं के प्रिय दान या पूजा को इतना बड़ा नहीं मानते, जितना इस बात को कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो।'

जनता को यह बात समझाने के लिये कि वे केवल अपने सम्प्रदाय का आदर न करें, अपितु अन्य मतमतांतरों को भी सम्मान की दृष्टि से देखें, सब मतवाले वाणी के संयम से काम लें, और परस्पर मेल-जोल से रहें, अशोक ने धर्म महामात्रों की नियुक्ति की। उनके साथ ही स्त्री-महामात्र, व्रजभूमिक तथा अन्य राजकर्मचारीगण यही बात लोगों को समझाने के लिये नियत किये गये।

इन्हीं धर्म-महामात्रों की नियुक्ति के प्रयोजन को एक अन्य लेख में भली-भाँति स्पष्ट किया गया है—'बीते जमानों में धर्ममहामात्र कभी नियुक्त नहीं हुए। इसलिये मैंने राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में धर्म-महामात्र नियुक्त किये। वे सब पाषण्डों (सम्प्रदायों) के बीच नियत हैं। वे धर्म के अधिष्ठान के लिये, धर्म की वृद्धि के लिये तथा धर्मयुक्त लोगों के सुख के लिये हैं।...वे भृत्यों, ब्राह्मणों, धनी गृहपतियों, अनाथों व बूढ़ों के बीच हित-सुख के लिये, धर्मयुक्त प्रजा की अपरिबाधा (बाधा से बचाने) के लिये संलग्न हैं। बंधन और वध को रोकने के लिये, बाधा से बचाने के लिये, कैद से छुड़ाने के लिये, जो बहुत संतानवाले हैं व बूढ़े हैं, उनके बीच में वे व्यापृत हैं। वे यहाँ पाटलिपुत्र में, बाहर के नगरों में, सब अंतःपुरों में, (मेरे) भाइयों के, बहनों के और अन्य जातियों के

दूत नहीं जाते, वहाँ भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण, धर्म-विधान और धर्मानुशासन सुनकर धर्म के अनुसार आचरण करते हैं, और भविष्य में करेंगे।"

विदेशों में धर्मविजय के लिये जो महामात्र नियत किये गये थे, वे अंतमहामात्र कहलाते थे। इनका कार्य उन देशों में सड़कें बनवाना, सड़कों पर वृक्ष लगवाना, कुएँ खुदवाना, सराय बनवाना, प्याऊ बिठाना, पशुओं और मनुष्यों की चिकित्सा के लिये चिकित्सालय खुलवाना और इसी प्रकार के अन्य उपायों से जनता का हित और कल्याण सम्पादित करना था। जहाँ ये अंतमहामात्र इन उपायों से लोगों का हित और सुख करते, वहाँ साथ ही अशोक का धर्मसंदेश भी सुनाते। यह धर्मसंदेश यह था—सब सम्प्रदायों में मेल-मिलाप, सब धर्माचार्यों—ब्राह्मणों और श्रमणों—का आदर, सेवक, दास आदि से उचित व्यवहार, व्यर्थ-हिंसा का त्याग, माता-पिता व गुरुजनों की सेवा और प्राणीमात्र की हितसाधना। अशोक की ओर से सुदूरवर्ती विदेशी राज्यों में धर्म द्वारा विजय करने के लिये जो अंतमहामात्र अपने कर्मचारियों की फौज के साथ नियुक्त हुए, वे उन देशों में चिकित्सालय खोलकर, मुफ्त दवा देकर, धर्मशालाएं और कुएँ बनवाकर, सड़कें, प्याऊ और वाटिकाएँ तैयार कराके जनता की सेवा करते थे। उस समय के राजा लोग प्रायः पारस्परिक युद्धों में व्यस्त रहते थे। उन्हें अपनी शक्ति और वैभव के अतिरिक्त अन्य किसी बात का खयाल नहीं था। जनता के हित और सुख की बात पर वे कोई ध्यान नहीं देते थे। ऐसी दशा में अशोक के इन लोकोपकारी कार्यों का यह परिणाम हुआ, कि लोग अपने इन महामात्रों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। जिस धर्म के अनुयायी इस प्रकार परोपकार के लिये अपने तन, मन और धन को निछावर कर सकते हैं, उसके लिये लोगों में स्वाभाविक रूप से श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ। साधारण जनता के लिये वही राजा है, वही स्वामी है, जो उनके हित-अहित और सुख-दुःख का ध्यान रखे, और उनके आराम के लिये चिकित्सालय, कूप, धर्मशाला आदि का प्रबंध करे। इसी का परिणाम हुआ, कि इन सब विदेशी राज्यों में खून की एक भी बूंद गिराये बिना केवल परोपकार और प्रेम द्वारा अशोक ने अपना धर्म-साम्राज्य स्थापित कर लिया।

अशोक की इस धर्म-विजय की नीति के कारण ही अन्य देशों में बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये रास्ता साफ हो गया। जिन देशों में अशोक के अंतमहामात्र लोक-कल्याण के कार्यों में लगे थे, वहाँ जब बौद्ध-प्रचारक गये, तो उन्हें अपने कार्य में बहुत सुगमता हुई।

(४) अशोक और बौद्ध-धर्म

सम्राट् अशोक पहले बौद्ध-धर्म का अनुयायी नहीं था। प्रसिद्ध बौद्ध-ग्रंथ दिव्यावदान की एक कथा के अनुसार जब अशोक ने राजगद्दी प्राप्त की, तो वह बहुत क्रूर और अत्याचारी था। एक बार अमात्यों ने उसकी आज्ञा का पालन नहीं किया, तो अशोक को बहुत क्रोध आया। क्रोध में अपनी तलवार को म्यान से खींचकर उसने पांच सौ अमात्यों के सिरों को धड़ से अलग कर दिया। एक और दिन की बात है, कि अन्तःपुर की स्त्रियों ने, जो अशोक के कुरूप होने के कारण हँसा करती थीं, एक अशोक-वृक्ष के पत्तों को तोड़ दिया। नाम के साम्य के कारण अशोक इस वृक्ष को बहुत चाहता था।

उसे बहुत क्रोध आया और उसने पांच सौ स्त्रियों को जीते-जी आग में जला दिया।

जब अमात्यों ने देखा कि राजा इस प्रकार अत्याचार कर रहा है, तो उन्होंने उससे प्रार्थना की कि आप अपने हाथों को इस प्रकार अपवित्र न कीजिये। क्यों नहीं आप अपराधियों को दंड देने के लिये किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त कर देते ? राजा को यह बात समझ में आ गयी। उसने चंडगिरिक नाम का एक आदमी इस काम के लिये नियत कर दिया, जो बहुत ही क्रूर था। प्राणियों को कष्ट देने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह इतना क्रूर था, कि अपने माता-पिता को उसने स्वयं अपने हाथ से मारा था। इस भयानक आदमी को प्रधान 'वध्यघातक' के पद पर नियत करके एक भयंकर जेलखाना बनवाया गया। इसका बाह्य रूप बड़ा सुन्दर और दर्शनीय था। लोग उसे देखते ही मोहित हो जाते और सोचते कि अंदर जाकर भी इस रमणीक स्थान को देखें। पर अंदर जाते ही उनपर घोर संकट आ पड़ते थे। राजा की आज्ञा थी, कि जो आदमी इस कारागार में पहुँच जाए, उसे जीता न छोड़ा जाय, अपितु नानाविध कष्ट देकर उसकी हत्या कर दी जाय।

जो कोई भी इस जेलखाने में जाता, बचकर न लौट पाता। एक बार बाल-पंडित नाम का एक भिक्षु वहां चला गया। उसे भी चंडगिरिक ने जलती हुई भट्टी में डाल दिया। परन्तु भट्टी में डालकर जब वध्यघातक नीचे देखने लगा, तो उसने एक बहुत ही विचित्र दृश्य देखा। बालपंडित एक कमल पर निश्चिन्त बैठा हुआ था, चारों ओर ज्वालाएं उठ रही थीं, परन्तु वे भिक्षु का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती थीं। इस चमत्कार की सूचना राजा को मिली, तो वह स्वयं देखने के लिये आया और अपनी आंखों से बाल-पंडित के प्रताप को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। भिक्षु ने उसे उपदेश दिया। अशोक पर उस उपदेश का बड़ा प्रभाव पड़ा और वह क्रूरता का परित्याग कर बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया।

दिव्यावदान की यही कथा कुछ परिवर्तनों के साथ अन्य बौद्ध-ग्रन्थों में भी पायी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है, कि बौद्ध-धर्म के उत्तम प्रभाव को प्रदर्शित करने के लिये इन ग्रंथों में अशोक को अत्यंत क्रूर और अत्याचारी दिखाया गया है। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि अशोक पहले बौद्ध नहीं था। बाद में उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार किया। कलिंग-विजय के बाद उसके जीवन में जो परिवर्तन आया था, हम उसका उल्लेख कर चुके हैं। पर बौद्ध-धर्म के प्रति उसका झुकाव पहले ही हो चुका था। क्रूरता और अत्याचारमय जीवन से ऊब कर उसने बौद्ध-भिक्षुओं के धार्मिक उपदेशों में संतोष अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था। कलिंग-विजय में उसे जो अनुभव हुए, उन्होंने उसकी वृत्ति को बिलकुल बदल दिया। अशोक ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा सम्भवतः राजगद्दी पर बैठने के आठ वर्ष बाद ली थी।

कहा कि हाथी-घोड़े-रथ आदि तैयार करा दो, मैं उरुमुण्ड शैल जाऊँगा और भिक्षु उपगुप्त के दर्शन करूँगा। यह सुनकर मंत्रियों ने कहा—देव ! यान आदि भेज दीजिये, उपगुप्त ही यहाँ चला आयगा, आपको उसके पास जाने की आवश्यकता नहीं। राजा ने उत्तर दिया—हम इस योग्य नहीं हैं, कि उपगुप्त यहाँ आएं, हमी को वहाँ जाना चाहिये। पर जब उपगुप्त को मालूम हुआ, कि राजा बहुत-से लोगों के साथ मेरे पास आ रहा है, तो उसने सोचा कि राजा के मेरे पास आने से बहुत-से मनुष्यों और पशुओं को व्यर्थ कष्ट होगा। उसने अशोक को कहला भेजा, कि मैं स्वयं ही पाटिलपुत्र आ जाऊँगा। यह जानकर अशोक ने स्थविर उपगुप्त तथा उसके अनुयायियों के पाटिलपुत्र आने का समुचित प्रबंध कर दिया। बहुत-सी नौकाएँ यमुना के तट पर एकत्र की गयीं। इनमें उपगुप्त और अठारह हजार भिक्षु सवार हुए। मथुरा से प्रयाग तक यमुना में नौकाओं पर यात्रा करते हुए भिक्षुओं की यह विशाल मंडली फिर गंगा द्वारा पाटिलपुत्र पहुँच गयी। जिस आदमी ने पहले-पहल अशोक को उपगुप्त के आगमन का समाचार दिया, प्रसन्न होकर अशोक ने उसे अपने शरीर से उतारकर चार हजार का एक हार इनाम में दे दिया। फिर 'घांटिक' को बुलाकर आज्ञा दी—सारे शहर में एक साथ घंटे बजाये जाएं, ताकि जनता को मालूम हो जाय कि आचार्य उपगुप्त पधार गये हैं।

उपगुप्त के स्वागत के लिये सारे पाटिलपुत्र को सजाया गया। अशोक स्वयं आचार्य को लिवाने के लिये ३½ कोस आगे तक गये। सम्पूर्ण 'पौर' और अमात्य उनके साथ थे। ज्योंही अठारह हजार भिक्षुओं से घिरे हुए स्थविर उपगुप्त को अशोक ने देखा, वह हाथी से नीचे उतर पड़ा। कुछ कदम पैदल चलकर वह उपगुप्त के पास पहुँचा और एक पैर नदी के तीर पर और दूसरा नाव पर रखकर उसने उपगुप्त को नाव से नीचे उतारा और फिर इस तरह उनके पैरों पर गिर पड़ा, जैसे जड़ से कटा हुआ वृक्ष। फिर हाथ जोड़कर अशोक ने कहा—'जब मैंने शत्रुगण का नाश कर शैलों समेत यह पृथिवी प्राप्त की, जिसके समुद्र ही आवरण हैं, और जिसपर राज्य करनेवाला अन्य कोई नहीं है, तब भी मुझे वह सुख नहीं मिला, जो आज आपको देखकर मिला है।' स्थविर उपगुप्त ने अशोक के सिर पर अपना दायाँ हाथ फेरते हुए आशीर्वाद दिया—'राज्य के सब कार्य को बिना प्रमाद के भली-भाँति करते रहो और तीनों दुर्लभ रत्नों (बुद्ध, धम्म और संघ) की सदा पूजा करते रहो।' सम्राट् और स्थविर में देर तक बात होती रही। बाद में अशोक ने उनसे कहा—'हे स्थविर ! मेरी इच्छा है, कि मैं उन सब स्थानों का दर्शन करूँ, जहाँ भगवान् बुद्ध ठहरे थे। उन स्थानों का मैं सम्मान करूँ, और वहाँ ऐसे स्थिर निशान छोड़ जाऊँ, जिससे भविष्य में आनेवाली संतति को शिक्षा मिलती रहे।'

स्थविर ने उत्तर दिया—'साधु-साधु ! तुम्हारे हृदय में बहुत ही उत्तम विचार उत्पन्न हुआ है। मैं तुम्हें मार्ग दिखाने का काम बड़ी प्रसन्नता से करूँगा।'

इस प्रकार आचार्य उपगुप्त के मार्गप्रदर्शन में अशोक ने तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। पाटिलपुत्र से ये पहले चम्पारन जिले के उन स्थानों पर गये, जहाँ अशोक के पाँच विशाल प्रस्तरस्तम्भ प्राप्त हुए हैं। वहाँ से हिमालय की तराई के प्रदेश में से होते हुए ये पश्चिम की ओर मुड़ गये और लुम्बिनीवन जा पहुँचे। यहीं पर भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था। इस जगह पहुँचकर उपगुप्त ने अपना दायाँ हाथ फैलाकर कहा—'महाराज, इसी

प्रदेश में भगवान् का जन्म हुआ था।' ये शब्द अब तक इस स्थान पर स्थित एक प्रस्तर-स्तम्भ पर उत्कीर्ण हैं। इस स्तम्भ पर जो लेख है, वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है—"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के बीस वर्ष बाद स्वयं आकर इस स्थान की पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था। इसलिये यहाँ पत्थर का एक विशाल स्तम्भ और एक बृहत् दीवार खड़ी की गयी। यहाँ भगवान् का जन्म हुआ था, इसलिये लुम्बिनी ग्राम का धार्मिक कर उठा दिया गया और (भूमि-कर के रूप में केवल) आठवाँ भाग लेना निश्चित किया गया।" लुम्बिनीवन में अशोक ने बहुत दान-पुण्य किया। फिर वह कपिलवस्तु गया, वहाँ उपगुप्त ने फिर अपना दायाँ हाथ फैलाकर कहा—'महाराज, इस स्थान पर बोधिसत्व ने राजा शुद्धोदन के घर में अपना बाल्यकाल व्यतीत किया था।'

दिव्यावदान के अनुसार कपिलवस्तु के बाद राजा अशोक बोधिवृक्ष के दर्शनों को गये। यहाँ भगवान् को बोध हुआ था। अशोक ने यहाँ आकर एक लाख सुवर्ण-मुद्राएँ दान कीं। एक चैत्य भी इस जगह पर बनवाया गया। बोधिवृक्ष के बाद स्थविर उपगुप्त अशोक को सारनाथ ले गया, जहाँ भगवान् ने पहले-पहल धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। सारनाथ के बाद अशोक कुशीनगर गया, जहाँ भगवान् ने निर्वाणपद प्राप्त किया था। उपगुप्त अशोक को श्रावस्ती और जेतवन भी ले गया। इन स्थानों पर मौद्गल्यायन, महाकश्यप आदि प्राचीन बौद्ध-आचार्यों के स्थानों के भी दर्शन किये गये, और वहाँ भी बहुत कुछ दान-पुण्य हुआ। बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्य आनंद के स्तूप पर अशोक ने साठ लाख सुवर्ण-मुद्राएँ अर्पित कीं।

बौद्ध होकर अशोक ने कुछ ऐसे आदेश भी दिये, जो केवल बौद्ध लोगों के ही काम के थे। एक शिलालेख में उसने लिखवाया है—'मगध के प्रियदर्शी राजा संघ को अभिवादन (पूर्वक सम्बोधन करके) कहते हैं, कि वे विघ्नहीन और सुख से रहें। हे भदंतगण! आपको मालूम है, कि बुद्ध, धम्म और संघ में हमारी कितनी भक्ति और आस्था है। हे भदंतगण! जो कुछ भगवान् बुद्ध ने कहा है, सो सब अच्छा कहा है। पर भदंतगण! मैं अपनी ओर से (कुछ ऐसे ग्रंथों के नाम लिखता हूँ, जिन्हें मैं अवश्य पढ़ने योग्य समझता हूँ)। हे भदंतगण! (इस विचार से कि) इस प्रकार सद्धर्म चिरस्थायी रहेगा, मैं इन धर्मग्रंथों (के नाम लिखता हूँ); यथा—विनयसमुकसे (विनयसमुत्कर्षः), अलियवसानि (आर्यवंशः), अनागतभयानि, मुनिगाथा, मोनेयसूते (मौनेयसूत्रम्), उपतिसपसिने (उपतिष्यप्रश्नाः), राहुलवाद, जिसे भगवान् बुद्ध ने झूठ बोलने के बारे में कहा है। इन धर्मग्रन्थों को, हे भदंतगण! मैं चाहता हूँ, कि बहुत-से भिक्षुक और भिक्षुणी बार-बार श्रवण करें और धारण करें और इसी प्रकार उपासक और उपासिका भी (सुनें और धारण करें)। हे भदंतगण! मैं इसलिये यह लेख लिखवाता हूँ, कि लोग मेरा अभिप्राय जानें।'

यह शिलालेख बड़े महत्त्व का है। इससे यह ज्ञात होता है, कि अशोक को किन बौद्ध-ग्रन्थों से विशेष प्रेम था। इन ग्रन्थों में बौद्ध-धर्म के विधि-विधानों और पारलौकिक विषयों का वर्णन न होकर सदाचार और जीवन को ऊँचा करने के सामान्य नियमों का उल्लेख है। अशोक की दृष्टि यही थी, कि बौद्ध लोग (भिक्षु और उपासक)

भी धर्म के तत्त्व (सार) पर विशेष ध्यान दें।

बौद्ध-धर्म के संबंध में अशोक का एक अन्य कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। बौद्ध-संघ में फूट न पड़े, इसके लिये भी उसने उद्योग किया। इस विषय में अशोक के तीन लेख उपलब्ध हुए हैं :—

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं, कि पाटलिपुत्र में तथा प्रांतों में कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई, चाहे वह भिक्षु हो या भिक्षुणी, संघ में फूट डालेगा, उसे सफेद कपड़े पहनाकर उस स्थान पर रख दिया जायेगा, जो भिक्षुओं या भिक्षुणियों के लिये उपयुक्त नहीं है। (अर्थात् उसे भिक्षुसंघ से बहिष्कृत कर दिया जायगा, हमारी यह आज्ञा भिक्षुसंघ और भिक्षुणीसंघ को बता दी जाय)। देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं, इस तरह का एक और लेख आप लोगों के पास भेजा गया है, जिससे कि आप लोग उसे याद रखें। ऐसा ही एक लेख आप उपासकों के लिये भी लिख दें, जिससे कि वे हर उपवास के दिन इस आज्ञा के मर्म को समझें। साल भर प्रत्येक उपवास के दिन हर एक महामात्र उपवास-व्रत का पालन करने के लिये इस आज्ञा के मर्म को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिये जायगा। जहाँ-जहाँ आप लोगों का अधिकार हो, वहाँ-वहाँ आप सर्वत्र इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आप लोग सब कोटों (दुर्गों) और विषयों (प्रांतों) में भी इस आज्ञा को भेजें।"

"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा कौशाम्बी के महामात्रों को इस प्रकार आज्ञा देते हैं—संघ के नियम का उल्लंघन न किया जाय। जो कोई संघ में फूट डालेगा, उसे श्वेत वस्त्र पहनाकर उस स्थान से हटा दिया जायगा, जहाँ भिक्षु या भिक्षुणियाँ रहती हैं।"

"भिक्षु और भिक्षुणी, दोनों के लिये (संघ का) मार्ग नियत किया गया है। जो कोई भिक्षु या भिक्षुणी संघ में फूट डालेगा, उसे उस स्थान से हटा दिया जायगा, जो भिक्षुओं और भिक्षुणियों के लिये नियत है। मेरी इच्छा है, कि संघ का मार्ग स्थिर रहे।"

सारनाथ, प्रयाग और साञ्ची में प्राप्त ये तीन शिलालेख संघ में एकता कायम रखने के लिये अशोक द्वारा किये गये प्रयत्नों का वर्णन करते हैं। संघ में फूट न हो, इसके लिये अशोक तुला हुआ था। बुद्ध की मृत्यु के बाद ही संघ में मतभेद शुरू हो गये थे। अशोक से पूर्व इन्हीं मतभेदों को दूर कर एकता स्थापित करने के लिये बौद्धों की दो महासभाएँ हो चुकी थीं। पर मतभेद अभी तक विद्यमान थे। अशोक की यह इच्छा थी, कि यह फूट अधिक न बढ़े। इस आदेश के पालन का उत्तरदायित्व धर्ममहामात्रों पर रखा गया था। जहाँ उनका काम यह था, कि विविध सम्प्रदायों में समवाय (मेलजोल) कायम करें, वहाँ बौद्ध-संघ में फूट को रोकने का कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द किया गया था। बौद्ध होने के नाते अशोक अपनी राज्यशक्ति का प्रयोग इस उद्देश्य से भी कर रहा था, कि बौद्ध-संघ में एकता बनी रहे।

अशोक स्वयं बौद्ध था, पर सब धर्मों के प्रति उसके हृदय में आदर था। उसने जहाँ विविध सम्प्रदायों में समवाय स्थापित करने का उद्योग किया, वहाँ अन्य सम्प्रदायों को दान भी दिया। गया के समीप बराबर पहाड़ियों में तीन गुहामंदिर उपलब्ध हुए हैं, जिन्हें अशोक ने आजीवक सम्प्रदाय को दिया था। इस सम्बन्ध में वहाँ तीन लेख भी उत्कीर्ण हैं।

उन्नीसवां अध्याय

बौद्ध-धर्म का विकास और विस्तार

(१) बौद्ध-धर्म का विकास

गया में बोधिवृक्ष के नीचे सिद्धार्थ ने जो बोध (ज्ञान) प्राप्त किया था, उसका उपदेश उन्होंने पहले-पहल सारनाथ में किया। इस उपदेश में बुद्ध ने अपने शिष्यों से कहा था—'भिक्षुओ ! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये, देवों और मनुष्यों के प्रयोजन-हित-सुख के लिये विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ।" इस उपदेश के बाद बुद्ध के अनेक शिष्य भारत के विविध प्रदेशों में धर्म के प्रचार के लिये गये। बुद्ध स्वयं प्रधानतया भारत के मध्य देश में ही धर्म प्रचार के लिये परिभ्रमण करते रहे। उनका अपना विचरण-क्षेत्र उत्तर में हिमालय से दक्षिण में विन्ध्याचल तक और पूर्व में कोशी से पश्चिम में कुरुक्षेत्र तक सीमित रहा, पर उनके अनेक शिष्य उनके जीवन-काल में ही दूर-दूर के प्रदेशों में गये।

बौद्धों की प्रथम महासभा—बुद्ध के उपदेशों का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिये उनके प्रधान शिष्यों की एक सभा उनके निर्वाण के दो मास बाद राजगृह में हुई थी। इसे पालि-साहित्य में प्रथम संगीति कहा गया है। इस सभा में बुद्ध के प्रधान शिष्यों ने यह निर्णय किया, कि बुद्ध की वास्तविक शिक्षाएँ क्या थीं। बुद्ध ने समय-समय पर जो उपदेश दिये थे, जो प्रवचन किये थे, उन सबका इस सभा में पाठ किया गया। बुद्ध के उपदेशों और मन्तव्यों को शुद्ध रूप में संकलित करने में इस सभा ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। बुद्ध के शिष्यों में उपालि को विनय या संघ के नियमों के विषय में प्रमाण माना गया; और आनन्द को धम्म (धर्म) के विषय में। उन्होंने जिस रूप में बुद्ध की शिक्षाओं का प्रवचन किया, अन्य भिक्षुओं ने उसे ही प्रमाण-रूप से स्वीकृत किया। इस महासभा में कुल मिलाकर पांच सौ भिक्षु एकत्र हुए थे, और उनकी यह संगीति सात मास के लगभग तक चलती रही थी।

बौद्ध-सम्प्रदायों का प्रारम्भ—महात्मा बुद्ध के धर्म का प्रचार जिस प्रकार भारत के विविध जनपदों और विभिन्न जातियों में हो रहा था, उसमें यह स्वभाविक था कि धर्म के मन्तव्यों और आचरण के सम्बन्ध में मतभेद उत्पन्न होने लगें। किसी नये धर्म को स्वीकृत कर लेने मात्र से मनुष्यों के जीवन व विश्वासों में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं हो जाता। उनके अपने विश्वास व परम्परागत अभ्यास नये धर्म पर भी प्रभाव डालते हैं, और विभिन्न देशों में एक ही धर्म विभिन्न रूप धारण कर लेता है। यही कारण है, कि बुद्ध की शिक्षाओं को अपनाने वाले विभिन्न प्रकृति के मनुष्यों ने उनको विभिन्न रूपों में देखा, और इससे बौद्ध-धर्म के विविध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद उनके धर्म के दो सम्प्रदाय (निकाय) स्पष्ट रूप से विकसित हो गये थे।

इन निकायों के नाम थे, स्थविरवादी और महासांघिक। इन सम्प्रदायों में महासांघिक बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने में तत्पर थे, और स्थविरवादी बुद्ध की मानवता पर विश्वास रखते थे। इस सम्प्रदायभेद का मूल आधार यही था। आगे चलकर महासांघिक सम्प्रदाय ही महायान के रूप में परिवर्तित हुआ।

बौद्धों की दूसरी महासभा—बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद वैशाली नगरी में बौद्धों की दूसरी संगीति (महासभा) हुई। इसका आयोजन स्थविर यश नाम के आचार्य द्वारा किया गया था। इसका मुख्य प्रयोजन यही था, कि बौद्धों में जो अनेक सम्प्रदाय विकसित हो रहे थे, उनपर विचार कर सत्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय। पर इस उद्देश्य में वैशाली की संगीति को सफलता नहीं हुई। बौद्ध-भिक्षुओं के मत-भेद और विवाद निरन्तर बढ़ते गये, और बाद में उनमें अनेक नये सम्प्रदायों का विकास हुआ।

अठारह सम्प्रदाय—वैशाली की महासभा के बाद सम्राट् अशोक के समय तक लगभग १२० वर्षों में बौद्ध-धर्म अठारह सम्प्रदायों (निकायों) में विभक्त हो गया था। इन निकायों के नाम निम्नलिखित थे—स्थविरवाद, हैमवत, वृजिपुत्रक, धर्मोत्तरीय, भद्रयाणीय, सम्मितीय, पाण्णागरिक, सर्वास्तिवादी, महीशासक, धर्मगुप्त, काश्यपीय, सौत्रन्तिक, महासांघिक, प्रज्ञप्तिवादी, चैतीय, लोकोत्तरवादी, एकव्यावहारिक और गोकुलिक। इनमें से पहले बारह निकाय स्थविरवाद से उदभूत हुए थे, और पिछले छः महासांघिक सम्प्रदाय से। इनमें से कतिपय सम्प्रदायों के नाम विविध प्रदेशों के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह सूचित होता है, कि उनका विकास विशेष रूप से उन प्रदेशों में ही हुआ था।

बौद्धों की तीसरी महासभा—बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति सम्राट् अशोक मौर्य के समय में पाटलिपुत्र के 'अशोकाराम' में हुई। इसका अध्यक्ष अशोक का गुरु आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (मोग्दलिपुत्र तिष्य) था। कुछ ग्रन्थों में इसी को उपगुप्त भी लिखा गया है। इस महासभा द्वारा भी यह प्रयत्न किया गया, कि विविध बौद्ध-सम्प्रदायों के मतभेदों को दूर कर सत्य सिद्धान्तों का निर्णय किया जाय। इस कार्य के लिये आचार्य तिष्य ने एक हजार ऐसे भिक्षुओं को चुन लिया, जो परम विद्वान् और अनुभवी थे। इन भिक्षुओं की सभा आचार्य तिष्य की अध्यक्षता में नौ मास तक होती रही। धर्मसम्बन्धी सब विवादग्रस्त विषयों पर इसमें विचार हुआ। अन्त में मौद्गलिपुत्र तिष्य का रचा हुआ 'कथावत्थु' नाम का ग्रन्थ प्रमाणस्वरूप से सबने स्वीकार किया। इस प्रकार अशोक के राज्याभिषेकके सत्रह साल बाद ७२ वर्ष के वृद्ध आचार्य मौद्गलिपुत्र तिष्य (उपगुप्त) ने बौद्ध-धर्म की तृतीय महासभा की समाप्ति की। साथ ही पृथिवी काँपकर कह उठी, 'साधु'।

(२) विदेशों में धर्म-प्रचार का आयोजन

बौद्ध-धर्म के आंतरिक झगड़ों के समाप्त हो जाने और संघ में एकता स्थापित हो जाने परआचार्य तिष्य ने देश-विदेश में बौद्ध-धम का प्रचार करने के लिये एक महान् योजना तैयार की। इसके अनुसार यह निश्चय हुआ, कि भिक्षुओं की मण्डलियाँ विविध

देशों में प्रचार के लिये भेजी जायँ। लंका की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इन मण्डलियों के नेताओं और उन्हें सुपुर्द किये गये देशों की सूची इस प्रकार है :—

देश	प्रधान भिक्षु
काश्मीर और गान्धार	मज्झन्तिक (मध्यान्तिक)
महिश मण्डल	महादेव
वनवास	थेर रक्खित (रक्षित)
अपरान्तक	योनक धम्म-रक्खित
महाराष्ट्र	महा धम्मरक्खित (महाधर्मरक्षित)
योन लोक (यवन देश)	महारक्खित (महारक्षित)
हिमवंत	थेर मज्झिम और कस्सप
सुवर्ण भूमि	थेर सोण और उत्तर
लंका	महामहिंद्र (महेन्द्र)

आचार्य तिष्य की योजना के अनुसार ये भिक्षु विविध देशों में गये, और वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध-धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया। भारत के पुराने राजा चातुर्मास्य के बाद शरद् ऋतु के प्रारम्भ में विजय-यात्रा के लिये जाया करते थे। इन भिक्षुओं ने भी शरद् के शुरू में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया।

बौद्ध-अनुश्रुति में प्रचार-मण्डलों के जिन नेताओं के नाम दिये गये हैं, उनके अस्तित्व की सूचना कुछ प्राचीन उत्कीर्ण लेखों द्वारा भी प्राप्त होती है। साञ्ची के दूसरे स्तूप के भीतर से पाये गए पत्थर के सन्दूक में एक धातुमंजूषा (वह संदूकड़ी, जिसमें अस्थि व फूल रखे गए हों) ऐसी मिली है, जिस पर 'मोग्गलिपुत्त' उत्कीर्ण है। एक दूसरी धातुमंजूषा के तले पर तथा ढक्कन के ऊपर और अन्दर हारितीपुत्त, मझिम तथा सवहिमवतचरिय (सम्पूर्ण हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम खुदे हैं। इन मंजूषाओं में इन्हीं प्रचारकों के धातु (फूल) रखे गए थे, और वह स्तूप इन्हीं के ऊपर बनाया गया था। साञ्ची से पाँच मील की दूरी पर एक अन्य स्तूप में भी धातुमंजूषाएँ पायी गयी हैं, जिसमें से एक पर कासपगोत का और दूसरी पर हिमालय के दुन्दुभिसर के दामाद गोतीपुत्त का नाम उत्कीर्ण है। कासपगोत और दुन्दुभिसर थेर मज्झिम के साथी थे, जो हिमालय के प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए गये थे। स्तूपों में प्राप्त ये धातुमंजूषाएँ इस बात का ठोस प्रमाण हैं, कि बौद्ध-अनुश्रुति की प्रचार-मण्डलियों की बात यथार्थ सत्य है। बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रसार करने के कारण इन भिक्षुओं का भी बड़ा आदर हुआ और इनकी धातुओं पर भी वैसे ही स्तूप खड़े किये गए, जैसे कि भगवान् बुद्ध के अवशेषों पर। उस युग में सर्वसाधारण लोग इन महाप्रतापी व साहसी भिक्षु-प्रचारकों को कितने आदर की दृष्टि से देखते थे, इसका इससे अच्छा प्रमाण नहीं मिल सकता। अशोक के समय में पाटलिपुत्र में हुई इस महासभा और आचार्य मोग्गलिपुत्त तिष्य (उपगुप्त) के पुरुषार्थ का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्ध-धर्म भारत से बहुत दूर-दूर तक के देशों में फैल गया।

(३) लंका में प्रचार

जो प्रचारकमंडल लंका में कार्य करने के लिए गया, उसका नेता महेन्द्र था।

यह सम्राट् अशोक का पुत्र था। उसके साथ कम से कम चार भिक्षु और थे। महेन्द्र की माता का नाम असंधिमित्रा था। वह विदिशा के एक श्रेष्ठी की कन्या थी। राजा बिंदुसार के शासनकाल में जब अशोक उज्जयिनी का शासक था, उसका विवाह असंधिमित्रा के साथ हुआ था। इस विवाह से अशोक की दो संतानें हुईं, महेन्द्र और संघमित्रा। कुमारी संघमित्रा महेन्द्र से आयु में दो साल छोटी थी। अशोक के धर्मगुरु आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने महेन्द्र और संघमित्रा, दोनों को भिक्षुव्रत में दीक्षित किया। भिक्षु बनते समय महेन्द्र की आयु बीस साल की थी।

इस समय में लंका का राजा 'देवताओं का प्रिय' तिष्य था। उसकी अशोक से बड़ी मित्रता थी। राजगद्दी पर बैठने पर तिष्य ने अपना एक दूतमण्डल अशोक के पास भेजा, जो बहुत से मणि, रत्न आदि मागध सम्राट् की सेवा में भेंट करने के लिये लाया। इस दूतमंडल का नेता राजा तिष्य का भानजा महाअरिट्ठ था। लंका का दूतमण्डल सात दिन में जहाज द्वारा ताम्रलिप्ति के बंदरगाह पर पहुँचा और उसके बाद सात दिन में पाटलिपुत्र आया। अशोक ने इस दूतमण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। पाँच मास तक लंका का दूतमण्डल पाटलिपुत्र में रहा। इसके बाद जिस मार्ग से वह आया था, उसी से लंका वापस चला गया। दूतमंडल को विदा करते हुए अशोक ने तिष्य के नाम यह संदेश भेजा—"मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ। मैं धम्म की शरण में चला गया हूँ। मैं संघ की शरण में चला गया हूँ। मैंने शाक्य-मुनि के धर्म का उपासक होने का व्रत ले लिया है। तुम भी इसी बुद्ध, धर्म और संघरूपी त्रिरत्न का आश्रय लेने के लिये अपने मन को तैयार करो। 'जिन' के उच्चतम धर्म का आश्रय लो। बुद्ध की शरण में आने का निश्चय करो।"

इधर तो अशोक का यह संदेश लेकर महाअरिट्ठ लंका वापस जा रहा था, उधर आचार्य उपगुप्त के आदेशानुसार भिक्षु महेन्द्र लंका में धर्मप्रचार के लिये अपने साथियों के साथ जाने को कटिबद्ध था। महेन्द्र ने अशोक की अनुमति से लंका जाने से पूर्व अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों से मिलने का विचार किया। इस कार्य में उसे छः मास लग गये। महेन्द्र की माता देवी असंधिमित्रा उन दिनों विदिशा में रहती थी। वह अपने पुत्र से मिलकर बड़ी प्रसन्न हुई। महेन्द्र विदिशा में अपनी माता के बनवाये हुए विहार में ही ठहरा। सम्भवतः, यह साञ्ची के बड़े स्तूप के साथ का ही विहार था, जिसे रानी असंधिमित्रा ने बनवाया था। विदिशा में रहते हुए भी महेन्द्र धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न रहा। यहाँ उसने अपनी माता के भतीजे के पुत्र भन्दु को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया।

विदिशा से महेन्द्र सीधा लंका गया। अनुराधपुर से आठ मील पूर्व जिस जगह वह उतरा, उसका नाम महिदतल पड़ गया। अब भी वह महिदनले कहलाता है। अशोक के संदेश के कारण देवताओं का प्रिय राजा तिष्य पहले ही बौद्ध-धर्म के प्रति अनुराग रखता था। अब उसने महेन्द्र और उसके साथियों का समारोह के साथ स्वागत किया। महेन्द्र का उपदेश सुनकर अपने चालीस हजार साथियों के साथ राजा तिष्य ने बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी ५०० सहचरियों के साथ बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने की इच्छा प्रगट की, पर उसे निराश होना पड़ा। उसे

बताया गया, कि भिक्षुओं को यह अधिकार नहीं है, कि स्त्रियों को दीक्षा दे सकें। स्त्री को दीक्षा भिक्षुणी ही दे सकती है। इसपर राजा तिष्य ने महाअरिट्ठ के नेतृत्व में फिर एक प्रतिनिधिमण्डल पाटलिपुत्र भेजा। इसे दो कार्य सुपुर्द किये गये थे। पहला यह कि संघमित्रा (महेन्द्र की बहन) को लंका आने के लिये निमन्त्रण दे, ताकि कुमारी अनुला और लंकावासिनी अन्य महिलाएं बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले सकें। दूसरा यह कि बोधिवृक्ष की एक शाखा को लंका ले आएं, ताकि वहां उसका आरोपण किया जा सके। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से वियुक्त नहीं होना चाहता था, पर बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये उसने संघमित्रा को लंका जाने की अनुमति दे दी। बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का उपक्रम बड़े समारोह के साथ किया गया। बड़े अनुष्ठानों के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की एक शाखा काटी गयी, और उसे बड़े प्रयत्न से लंका तक सुरक्षित पहुँचाने का आयोजन किया गया। इस शाखा के लंका तक पहुँचने का वर्णन बौद्ध-ग्रन्थों में विशदरूप से किया गया है। वहां उसका स्वागत करने के लिये पहले से ही सब तैयारी हो चुकी थी। बड़े सम्मान के साथ लंका में बोधिवृक्ष का आरोपण किया गया। अनुराधपुर के महाविहार में यह विशाल वृक्ष अब तक भी विद्यमान है, और संसार के सबसे पुराने वृक्षों में से एक है।

राजा तिष्य ने संघमित्रा के निवास के लिये एक भिक्षुणी-विहार बनवा दिया। वहां राजकुमारी अनुला ने अपनी ५०० सहेलियों के साथ भिक्षुणीव्रत की दीक्षा ली। संघमित्रा की मृत्यु लंका में ही हुई। २० वर्ष की आयु में वह भिक्षुणी बनी थी। ५९ वर्ष तक भिक्षुणीव्रत का पालन कर ७९ वर्ष की आयु में लंका में उसकी मृत्यु हुई। इस समय तक राजा तिष्य की भी मृत्यु हो चुकी थी। उसका उत्तराधिकारी राजा उत्तिय था। महेन्द्र की मृत्यु भी लंका में ही ८० वर्ष की आयु में हुई। लंका में बौद्ध-धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय महेन्द्र और संघमित्रा को ही है। समयान्तर में सब लंकावासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गये।

(४) दक्षिण भारत में बौद्ध-धर्म

आचार्य उपगुप्त (मोद्गलिपुत्र तिष्य) की योजना के अनुसार जो विविध प्रचारक-मण्डल विभिन्न देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे, उनमें से चार को दक्षिण भारत में भेजा गया था। अशोक से पूर्व बौद्ध-धर्म का प्रचार मुख्यतया विंध्याचल के उत्तर में, उत्तर भारत में ही था। लंका के समान दक्षिण भारत में भी अशोक के समय में ही पहले-पहल बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का प्रचार हुआ। अशोक ने अपनी धर्म-विजय की नीति का अनुसरण करते हुए चोल, पांड्य, केरल, सातियपुत्र और ताम्रपर्णी के पड़ोसी राज्यों में जहां अंतमहामात्र नियत किये थे, वहां अपने साम्राज्य में भी रठिक-पेतनिक, आंध्र और पुलिद प्रदेशों में धर्ममहामात्रों की नियुक्ति की थी। ये सब प्रदेश दक्षिण भारत में ही थे। अशोक द्वारा नियुक्त धर्ममहामात्रों और अंतमहामात्रों के अतिरिक्त, अब आचार्य उपगुप्त के चार प्रचारकमण्डल भी वहां गये। इनमें भिक्षु महादेव महिशमण्डल गया। यह उस प्रदेश को सूचित करता है, जहां अब मैसूर का राज्य है। वनवास उत्तर कर्नाटक का पुराना नाम है। वहां आचार्य रक्षित धर्मप्रचार

के लिये गया। अपरान्तक का अभिप्राय कोंकण से है, वहाँ का कार्य योनक धम्म-रक्खित के सुपुर्द किया गया था। संभवतः, यह आचार्य यवन-देश का निवासी था, इसीलिये इसे योनक कहा गया है। महारठ्ठ (महाराष्ट्र) में कार्य करने के लिये थेर महाधम्मरक्खित की नियुक्ति हुई थी। दक्षिण भारत में बौद्ध-प्रचारकों के कार्य का वर्णन लंका के बौद्ध-ग्रन्थ महावंश में इस प्रकार किया गया है—आचार्य रक्खित वनवास देश में आकाश-मार्ग से उड़कर गया। वहाँ उसने जनता के बीच में 'अनमतग्ग' का प्रचार किया। साठ सहस्र मनुष्य बौद्ध-धर्म के अनुयायी हुए। सैंतीस हजार मनुष्यों ने भिक्षु बनना स्वीकार किया। इस आचार्य ने वनवास देश में पाँच सौ विहारों का निर्माण कराया, और बौद्ध-धर्म की भली-भाँति स्थापना की।

'थेर योनक धम्मरक्खित अपरांतक देश में गया। वहाँ जाकर उसने 'अग्गि-क्खन्धोपमसुत्त' का उपदेश किया। यह आचार्य धर्म और अधर्म के भेद को खूब अच्छी तरह समझता था। इसका उपदेश सुनने के लिये सत्ताईस हजार मनुष्य एकत्र हुए। इनमें से एक हजार पुरुष और इससे भी अधिक स्त्रियाँ जो कि विशुद्ध क्षत्रिय-जाति की थीं, भिक्षु संघ में प्रविष्ट होने के लिये तैयार हो गयीं।

'थेर महाधम्मरक्खित महाराष्ट्र में प्रचार के लिये गया। वहाँ उसने 'महा-नारदकस्सपह्व जातक' का उपदेश किया। चौरासी हजार मनुष्यों ने सत्य बौद्ध-मार्ग का अनुसरण किया, और तेरह हजार ने भिक्खुव्रत की दीक्षा ली।

"आचार्य महादेव बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये महिशमण्डल में गया। वहाँ उसने 'देवदत्त सुत्तन्त' का उपदेश किया। परिणाम यह हुआ, कि चालीस हजार मनुष्यों ने प्रव्रज्या लेकर भिक्षुओं के पीत वस्त्रों को धारण किया।

आंध्र देश और पांड्य आदि तामिल राज्यों में आचार्य उपगुप्त ने प्रचार का कार्य किन भिक्षुओं को दिया था, यह बौद्ध-अनुश्रुति हमें नहीं बताती। पर प्रतीत होता है, कि सुदूर दक्षिण के इन प्रदेशों में महेन्द्र और उसके साथियों ने ही कार्य किया था। सातवीं सदी में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूनत्सांग जब भारत की यात्रा करते हुए दक्षिण में गया, तो उसने द्रविड़ देश में महेन्द्र के नाम का एक विहार देखा था। यह विहार सम्भवतः, महेन्द्र द्वारा दक्षिण भारत में किये गये प्रचार-कार्य की स्मृति में ही बनवाया गया था।

(५) खोतन में कुमार कुस्तन

पुराने समय में खोतन भारत का ही एक समृद्ध उपनिवेश था। वहाँ बौद्ध-धर्म, भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रचार था। पिछले दिनों में तुर्किस्तान और विशेषतया खोतन में जो खुदाई हुई है, उससे इस प्रदेश में बौद्ध-मूर्तियों, स्तूपों तथा विहारों के अवशेष प्रभूत मात्रा में उपलब्ध हुए हैं। संस्कृत के लेख भी इस प्रदेश से मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय यह सारा प्रदेश बृहत्तर भारत का ही अंग था। पाँचवीं सदी में चीनी यात्री फाइयान और सातवीं सदी में ह्यूनत्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है, कि उस प्राचीन युग में सारा खोतन बौद्ध-धर्म का अनु-यायी था। सारा देश बौद्ध-विहारों और स्तूपों से भरा हुआ था, और वहाँ के अनेक नगर बौद्ध-शिक्षा और सभ्यता के केन्द्र थे।

खोतन में बौद्ध-धर्म और भारतीय सभ्यता का प्रवेश राजा अशोक के समय में ही हुआ। इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रन्थों में उल्लिखित है। सम्भवतः, ये तिब्बती ग्रन्थ खोतन की प्राचीन अनुश्रुति के आधार पर ही लिखे गये थे। हम यहाँ बहुत संक्षेप में इस कथा को लिखते हैं :—

राज्याभिषेक के तीन साल बाद राजा अशोक के एक पुत्र हुआ। ज्योतिषियों ने बताया, कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिह्न विद्यमान हैं, और यह पिता के जीवन-काल में ही राजा बन जायगा। यह सुनकर अशोक को बड़ी चिन्ता हुई। उसने आज्ञा दी, कि इस बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग करने के बाद भी भूमि माता द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसीलिये उसका नाम कुस्तन (कु—भूमि है स्तन जिसकी) पड़ गया।

उस समय चीन के एक प्रदेश में बोधिसत्व का शासन था। उसके ९९९ पुत्र थे। इसपर बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की, कि उसके एक पुत्र और हो जाय, ताकि संख्या पूरी १००० हो जाय। वैश्रवण ने देखा, कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। वह उसे चीन ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। एक दिन जब कुस्तन का बोधिसत्व के अन्य पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था, तो उन्होंने उससे कहा—'तू सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह जानकर कुस्तन को बड़ा कष्ट हुआ। इस बात की सचाई का निश्चय करके उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहाँ जाने की अनुमति माँगी। इसपर राजा ने कहा—'तू मेरा ही पुत्र है। यह तो तेरा अपना देश है। तुझे दुःखी नहीं होना चाहिये'। पर कुस्तन का इससे भी संतोष नहीं हुआ। कुस्तन ने पक्का इरादा कर लिया था, कि उसका भी अपना पृथक् राज्य हो। अतः उसने अपने दस हजार साथियों को एकत्र किया, और पश्चिम की तरफ चल पड़ा। इस तरह चलते-चलते वह खोतन के मेस्कर नामक स्थान पर जा पहुँचा।

सम्राट् अशोक के एक मन्त्री का नाम यश था। वह बहुत प्रभावशाली था। धीरे-धीरे वह राजा की आंखों में खटकने लगा। यश को जब यह बात मालूम हुई, तो उसने भी यही निश्चय किया कि भारत छोड़कर अपने लिये नया क्षेत्र ढूंढ़ ले। उसने अपने सात हजार साथियों के साथ भारत छोड़कर सुदूर पश्चिम में नये प्रदेशों का अनुसन्धान प्रारम्भ किया। इस प्रकार वह खोतन में उथेन नदी के दक्षिण-तट पर जा पहुँचा।

अब ऐसा हुआ, कि कुस्तन के अनुयायियों में से दो व्यापारी घूमते-फिरते तो-ला नाम के प्रदेश में आये। यह प्रदेश उस समय बिल्कुल गैर-आबाद था। इसकी रमणीयता को देखकर उन्होंने विचार किया, कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के द्वारा आबाद किये जाने के योग्य है। मन्त्री यश को कुस्तन के बारे में जब पता लगा, तो उसने यह सन्देश उसके पास भेजा—'तुम राजघराने के हो और मैं भी कुलीन घराने का हूँ। अच्छा हो कि हम परस्पर मिल जायँ और इस उथेन प्रदेश में मिलकर बस जायँ। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मन्त्री।' यह विचार कुस्तन को बहुत पसन्द आया। कुस्तन ने अपने चीनी अनुयायियों के साथ और यश ने अपने भारतीय साथियों के साथ परस्पर सहयोग से इस प्रदेश को आबाद किया। इसीलिए तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार "खोतन देश आधा चीनी है,

और आधा भारतीय। लोगों की भाषा न तो पूरी तरह भारतीय ही है, और न चीनी। वह दोनों का सम्मिश्रण है। अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते-जुलते हैं, लोगों की आदतें चीन से बहुत कुछ मिलती हैं। धर्म और भाषा भारत से मिलती हैं। खोतन में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध-प्रचारकों) द्वारा हुआ है।" जिस समय कुस्तन बोधिसत्व को छोड़कर नये राज्य के अन्वेषण के लिये चला था, उसकी आयु केवल बारह साल की थी। जब उसने खोतन में अपने राज्य की स्थापना की, तो वह १६ साल का हो चुका था। ज्योतिषियों की यह भविष्यवाणी सत्य हुई, कि कुमार कुस्तन अशोक के जीवनकाल में ही राजा बन जाएगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस प्राचीन तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतन के प्रदेश में राजा अशोक के समय में भारतीयों ने अपना एक उपनिवेश बसाया, जिसमें चीनी लोगों का सहयोग उन्हें प्राप्त था। इसी समय में इस सुदूरवर्ती प्रदेश में भारतीय सभ्यता और धर्म का प्रवेश हुआ। तिब्बती अनुश्रुति की प्रत्येक बात पर विश्वास करने की हमें आवश्यकता नहीं है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक के समय में खोतन में भारतीयों ने अपना उपनिवेश बसाया और वहाँ उनके धर्म, भाषा व सभ्यता का प्रवेश हुआ। इस कार्य का श्रेय कुस्तन और यश को ही है।

(६) हिमवन्त देशों में प्रचार

हिमालय के क्षेत्र में आचार्य मज्झिम को प्रचार-कार्य करने के लिये नियत किया गया था। महावंश ने केवल उसी का नाम इस प्रदेश में प्रचार करने वाले भिक्षु के रूप में दिया है, पर उसकी टीका में उसके चार साथियों के भी नाम दिये गये हैं। ये साथी निम्नलिखित थे, कस्सपगोत, दुन्दुभिसर, सहदेव और मूलकदेव। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि साञ्ची के समीप उपलब्ध हुई धातुमंजूषाओं पर हिमवताचार्य के रूप में मज्झिम, कस्सप और दुन्दुभिसर के नाम उत्कीर्ण मिले हैं। हिमालय के सम्पूर्ण प्रदेश में अशोक के समय बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। महावंश के अनुसार बहुत-से गन्धर्व, यक्ष और कुम्भण्डकों ने बौद्धधर्म को स्वीकृत किया। एक यक्ष ने, जिसका नाम पञ्चक था, अपनी पत्नी हारीत के साथ धर्म के प्रथम फल की प्राप्ति की, और अपने ५०० पुत्रों को यह उपदेश दिया, "जैसे तुम अब तक क्रोध करते आये हो, वैसे अब भविष्य में न करो, क्योंकि सब प्राणी सुख की कामना करने वाले हैं, अतः अब कभी किसी प्राणी का घात न करो। जीवमात्र का कल्याण करो। सब मनुष्य सुख के साथ रहें।' पञ्चक से यह उपदेश पाकर उसके पुत्रों ने भी इसी का आचरण किया। तदनन्तर नाग राजा ने मज्झन्तिक को रत्नजटित आसन पर बिठाया, और स्वयं खड़ा होकर पंखा झलने लगा। उस दिन काश्मीर और गान्धार के कुछ निवासी नागराजा को विविध उपहार अर्पण करने के लिये आये हुए थे। जब उन्होंने थेर की अलौकिक शक्तियों और प्रभाव के विषय में सुना तो वे भी उसके समीप आये और अभिवादन करके खड़े हो गये। थेर ने उन्हें 'आमीविसोपम धम्म' का उपदेश दिया। इसपर अस्सी हजार मनुष्यों ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया और एक लाख मनुष्यों ने थेर द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण की।

काश्मीर और गान्धार में आचार्य मज्झन्तिक पृथक् रूप से भी कार्य कर रहा था।

उसके कार्य का भी महावंश में बड़े विस्तार के साथ वर्णन है। हिमवन्त के प्रदेश के समान काश्मीर और गान्धार में भी बौद्ध-धर्म का अशोक के युग में प्रचार हुआ।

हिमवन्त प्रदेश में नेपाल की पुरानी राजधानी पाटन या ललितपत्तन राजा अशोक ने ही बसायी थी। यह काठमांडू से दो मील की दूरी पर स्थित थी। पाटन के मध्य व चारों तरफ अशोक ने बहुत-से स्तूप बनवाये थे, जिनमें से पांच अब तक भी विद्यमान हैं। अशोक की पुत्री चारुमती नेपाल जाकर बस गयी थी। उसने अपने पति देवपाल के नाम से वहाँ देवपत्तन नाम की नगरी भी बसाई थी। उसी के समीप एक विशाल बौद्ध-विहार का भी निर्माण कराया गया था, जिसके अवशेष पशुपतिनाथ के मन्दिर के उत्तर में अब तक भी विद्यमान हैं।

काश्मीर में अशोक के समय में बहुत-से स्तूप और विहारों का निर्माण हुआ। कल्हणकृत राजतरंगिणी के अनुसार काश्मीर की राजधानी श्रीनगरी को अशोक ने ही बसाया था। 'श्रीविजयेश के टूटे-फूटे किले को हटाकर उसके स्थान पर इस राजा ने सब दोषों से रहित विशुद्ध पत्थरों का एक विशाल किला बनवाया। अशोक ने जेहलम के सारे तट को स्तूपों द्वारा आच्छादित करा दिया था।"

हिमालय के प्रदेशों में गांधर्व, यक्ष आदि जिन जातियों को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का उल्लेख किया गया है, वे सब वहाँ के मूल निवासियों के नाम हैं। ये कोई लोकोत्तर व दैवी सत्ताएँ नहीं थीं।

(७) यवन-देशों में प्रचार

भारत के पश्चिम में अंतियोक आदि जिन यवन-राजाओं के राज्य थे, उनमें भी अशोक ने अपनी धर्मविजय की स्थापना का उद्योग किया था। अंतमहामात्र उन सब देशों में चिकित्सालय, धर्मशाला, कूप, प्याऊ आदि खुलवाकर भारत और उसके धर्म के लिये विशेष आदर का भाव उत्पन्न कर रहे थे। इस दशा में जब आचार्य महारक्खित अपने प्रचारकमंडल के साथ वहाँ कार्य करने के लिये गया, तो उसने अपने लिये मैदान तैयार पाया। इस प्रसंग में महावंश ने लिखा है कि "आचार्य महारक्खित योन देश में गया। वहाँ उसने 'कालकारामसुत्त' का उपदेश दिया। एक लाख सत्तर हजार मनुष्यों ने बुद्धमार्ग के फल को प्राप्त किया और दस हजार स्त्री-पुरुष भिक्खु बने।" इसमें संदेह नहीं, कि अशोक के बाद बहुत समय तक इन पश्चिमी यवन-देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा। मिस्र के यूनानी राजा टाल्मी (तुरमय) ने अलेक्जेण्ड्रिया के प्रसिद्ध पुस्तकालय में भारतीय ग्रन्थों के भी अनुवाद की व्यवस्था की थी। जब पैलेस्टाइन में अशोक से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद महात्मा ईसा का प्रादुर्भाव हुआ, तो इस पश्चिमी दुनिया में ईसीन तथा थेराथून नाम के विरक्त लोग रहते थे। ये लोग पूर्व की तरफ से पैलेस्टाइन और ईजिप्ट में जाकर बसे थे, और धर्मोपदेश के साथ-साथ चिकित्सा का कार्य भी करते थे। ईसा की शिक्षाओं पर इनका बड़ा प्रभाव था, और स्वयं ईसा इनके सत्संग में रहा था। सम्भवतः, ये लोग आचार्य महारक्खित के ही उत्तराधिकारी थे, जो ईसा के प्रादुर्भाव के समय में इन विदेशी यवन-राज्यों में बौद्ध-भिक्षुओं (थेरों) का जीवन व्यतीत करते थे। बाद में ईसाई धर्म और इस्लाम के प्रभाव के कारण इन

पश्चिमी देशों से बौद्ध-धर्म का सर्वथा लोप हो गया। पर यह निश्चत है, कि उनसे पूर्व इन देशों में बौद्ध-धर्म अपना काफी प्रभाव जमा चुका था। बाद में बौद्ध-धर्म के सदृश शैव और वैष्णव लोग भी यवन-देशों में गये, और वहां उन्होंने अपनी अनेक बस्तियां कायम कीं।

(८) सुवर्णभूमि में प्रचार

महावंश के अनुसार आचार्य उत्तर के साथ थेर सोण सुवर्णभूमि में प्रचार के लिये गया था। उस समय सुवर्णभूमि के राजकुल की यह दशा थी, कि ज्यों ही कोई कुमार उत्पन्न होता, एक राक्षसी उसे खा जाती। जिस समय ये थेर सुवर्णभूमि पहुँचे, तभी रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। लोगों ने समझा, कि ये थेर राक्षसी के सहायक है। अतः वे उन्हें घेरकर मारने के लिये तैयार हो गये। थेरों ने उनके अभिप्राय को समझ लिया, और इस प्रकार कहा—"हम तो शील से युक्त श्रमण हैं, राक्षसी के सहायक नहीं है।" उसी समय राक्षसी अपने सम्पूर्ण साथियों के साथ समुद्र से निकली, और सब लोग भयभीत होकर हाहाकार करने लगे। पर थेरों ने अपने अलौकिक प्रभाव से राजकुमार का भक्षण करने वाले राक्षसों को वश में कर लिया। इस प्रकार सर्वत्र अभय की स्थापना कर इन थेरों ने एकत्रित लोगों को 'ब्रह्मजालसुत्त' का उपदेश दिया। इससे प्रभावित हो बहुत-से लोगों ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। एक हजार पाँच सौ पुरुषों और इतनी ही स्त्रियों ने भिक्षु बनकर संघ में प्रवेश किया। क्योंकि राजकुमार का जीवन इन भिक्षुओं के प्रयत्न से बचा था, अतः वह और उसके बाद के सब राजकुमार सोणुत्तर कहाये।" सम्भवतः, महावंश के इस वर्णन में आलंकारिक रूप से यह उल्लेख है, कि रोगरूपी राक्षसों के आक्रमण के कारण सुवर्णभूमि का कोई राजकुमार जीवित नहीं रह पाता था। थेर सोण और उत्तर कुशल चिकित्सक भी थे। जब वे सुवर्णभूमि गये, तो इस रोगरूपी राक्षस ने पुनः आक्रमण किया, पर इस बार इन थेर चिकित्सकों के प्रयत्न से राजकुमार की जान बच गई, और सुवर्णभूमि के निवासियों की बौद्ध-धर्म पर बहुत श्रद्धा हो गई।

सुवर्णभूमि का अभिप्राय दक्षिणी बरमा से है। आधुनिक बरमा के पेगू-मालमीन के प्रदेशों में अशोक के समय में बौद्ध-प्रचारक गये, और उन्होंने उस प्रक्रम का प्रारम्भ किया, जिससे कुछ ही समय में न केवल सम्पूर्ण बरमा, पर उसके भी पूर्व के बहुत-से देश बौद्ध-धर्म के अनुयायी हो गये।

अशोक के समय में आचार्य उपगुप्त के आयोजन के अनुसार बौद्ध-धर्म का विदेशों में प्रचार करने के लिये जो भारी प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, उसका केवल भारतवर्ष के इतिहास में ही नहीं, अपितु संसार के इतिहास में भी बहुत महत्त्व है। बौद्ध-भिक्षु जो उद्योग कर रहे थे, उसे वे 'बुद्ध के शासन' का प्रसार कहते थे। इस कार्य में वे मगध के सम्राटों से भी बहुत आगे बढ़ गये। मागध-साम्राज्य की अपेक्षा बहुत बड़ा ऐसा धर्म-साम्राज्य उपगुप्त ने बनाया, जो कुछ सदियों तक ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों तक कायम रहा। दो हजार साल से अधिक समय बीत जाने पर भी यह साम्राज्य अब तक भी आंशिक रूप से कायम है।

चौदहवां अध्याय

मौर्य काल की सभ्यता और संस्कृति

(१) मौर्य युग की कला

भारत के सांस्कृतिक इतिहास में मौर्य युग का बहुत महत्त्व है। इस काल में प्राय: सम्पूर्ण भारत एक शासन के अधीन था। देश की राजनीतिक एकता भली भाँति स्थापित थी, और भारत के धार्मिक नेता दूर-दूर तक 'धर्मविजय' स्थापित करने में तत्पर थे। केवल राजनीति और धर्म के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु कला, शासन, शिक्षा, समाज और आर्थिक जीवन आदि सभी क्षेत्रों में इस काल मे भारतीयों ने असाधारण उन्नति की, और इस उन्नति का दिग्दर्शन भारत के सांस्कृतिक विकास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

मौर्य युग के अनेक अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। उनके अनुशीलन से इस युग की नगर-रचना, मूर्ति-निर्माण कला आदि के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का परिचय मिलता है।

पाटलिपुत्र नगर—मौर्य सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र एक बहुत ही विशाल नगरी थी। सीरिया के राजा सैल्युकस निकेटर का राजदूत मैगस्थनीज ३०३ ई० पू० में पाटलिपुत्र आया था और कई साल तक वहां रहा था। उसने अपने यात्रा-विवरण में इस नगरी का जो वर्णन किया है, उसमें कुछ बातें उल्लेखनीय है। उनके अनुसार "भारतवर्ष में जो सबसे बड़ा नगर है, वह प्रेसिआई (प्राच्य देश) में पालिब्रोथा (पाटलिपुत्र) कहलाता है। वह गंगा और ऐरन्नावोअस (सोन) नदियों के तटपर स्थित है। गंगा सब नदियों में बड़ी है, पर ऐरन्नाबोअस संभवत: भारत में तीसरे नम्बर की नदी है। भारत की नदियों में यद्यपि इसका नम्बर तीसरा है, पर अन्य देशों की बड़ी से बड़ी नदी से भी यह बड़ी है। इस नगरी की वस्ती लम्बाई में ८० स्टेडिया और चौड़ाई में १५ स्टेडिया तक फैली हुई है। (एक मील=सवा पांच स्टेडिया)। यह नगरी समानान्तर चतुर्भज की शक्ल में बनी है। इसके चारों ओर लकड़ी की एक प्राचीर (दीवार) है, जिसके बीच में तीर छोड़ने के लिए बहुत से छेद बने हैं। दीवार के साथ चारों तरफ एक खाई है, जो रण के निमित्त और शहर का मैला बहाने के काम आती है। यह खाई गहराई में ४५ फीट और चौड़ाई में ६०० फीट है। शहर के चारों ओर की प्राचीर ५७० बुर्जो से सुशोभित है, और उसमें ६४ द्वार बने हैं।"

हजारों वर्ष बीत जाने पर अब इस वैभवशाली पाटलिपुत्र की कोई इमारत शेष नहीं है। पर पिछले दिनों जो खुदाई पटना के क्षेत्र में हुई है, उससे मौर्यकाल के अनेक अवशेष उपलब्ध हुए हैं। प्राचीन पाटलिपुत्र नगर वर्तमान समय में गंगा और सोन नदियों के सुविस्तृत पाट के नीचे दब गया है। बांकीपुर रेलवे स्टेशन, ईस्टर्न रेलवे तथा आस-पास की वस्तियों ने भी इस प्राचीन नगरी के बहुत से भाग को अपने नीचे

छिपा रखा है। ईस्टर्न रेलवे की लाइन के दक्षिण में कुमराहार नाम के गाँव के समीप प्राचीन पाटलिपुत्र के बहुत-से अवशेष प्राप्त हुए हैं। जनश्रुति के अनुसार इस स्थान के नीचे पुराने जमाने के अनेक राजप्रासाद दबे हुए हैं। कुमराहार गाँव के उत्तर में कल्लू और चमन नाम के तालाबों के बीच में एक अशोककालीन स्तम्भ के कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह स्तम्भ बलुए पत्थर का बना हुआ है, और इस पर बड़ा सुन्दर वज्रलेप किया गया है। मूल दशा में इसका व्यास तीन फीट था। इसी स्थान पर लकड़ी की बनी हुई एक पुरानी दीवार के भी अवशेष मिले हैं। अनुमान किया गया है, कि ये पाटलिपुत्र की उसी प्राचीर के अवशेष हैं, जिसका उल्लेख मैगस्थनीज ने अपने यात्रा-वर्णन में किया था। लकड़ी की दीवार के कुछ अवशेष मौर्य महलों के भी माने जाते हैं।

अशोक के स्तूप—प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक ने बहुत-से स्तूपों व विहारों का निर्माण कराया था। विविध ग्रन्थों में इनकी संख्या चौरासी लाख लिखी गई है। समय के प्रभाव से अब अशोक की प्राय: सभी कृतियाँ नष्ट हो चुकी हैं। पर अब से बहुत समय पूर्व चीनी यात्रियों ने इनका अवलोकन कर इनका वर्णन लिखा था। पाँचवीं सदी के शुरू में चीनी यात्री फाइयान भारत आया था। उसने अपनी आँखों से अशोक की अनेक कृतियों को देखा था। यद्यपि उसके समय में अशोक को मरे सात सौ साल के लगभग हो चुके थे, पर इतने समय बाद भी उसकी कृतियाँ अच्छी दशा में विद्यमान थीं। फाइयान ने लिखा है—'पुष्पपुर (पाटलिपुत्र) राजा अशोक की राजधानी थी। नगर में अभी तक अशोक का राजप्रासाद और सभा-भवन है। सब असुरों के बनाये हुए हैं। पत्थर चुनकर दीवारें और द्वार बनाये गये हैं। उनपर सुन्दर खुदाई और पच्चीकारी है। इस लोक के लोग उन्हें नहीं बना सकते। अब तक नये के समान हैं।'

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्य ुएनत्सांग सातवीं सदी में भारत आया था। उसने अपने यात्राविवरण में अशोक के बनवाये हुए बहुत-से स्तूपों का वर्णन किया है, जिन्हें उसने अपनी आँखों से देखा था। तक्षशिला में उसने अशोक के बनवाये हुए तीन स्तूप देखे; जिनमें से प्रत्येक सौ-सौ फुट ऊँचा था। नगर-द्वार के स्तूप की ऊँचाई ३०० फीट थी। इसी तरह मथुरा, थानेसर, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, श्रीनगर, कपिलवस्तु, कुशीनगर, बनारस, वैशाली, गया, ताम्रलिप्ति आदि नगरों में उसने बहुत-से स्तूप देखे, जो अशोक ने बनवाये थे, और जो ऊंचाई में ७०, १००, २०० या ३०० फीट तक के थे। पाटलिपुत्र में उसने अशोक का राजमहल भी देखा, पर तब तक वह भग्न दशा में आ चुका था। ह्य ुनत्सांग फाइयान के प्राय: दो सौ वर्ष बाद पाटलिपुत्र गया था। इस अरसे में अशोक का महल खण्डहर हो चुका था। गुप्त साम्राज्य के क्षीण होने पर पाटलिपुत्र की जो दुर्दशा हो गई थी, उसमें सम्भवत: प्राचीन इमारतों की रक्षा का यथोचित प्रबन्ध न रहा हो, और इसीलिये ह्य ुनत्सांग के समय तक नौ सौ साल पुराना अशोक का राजप्रासाद खण्डहर हो गया हो। इस चीनी यात्री ने पाटलिपुत्र में अशोक के समय का एक बहुत ऊंचा स्तम्भ भी देखा, जहाँ अशोक ने चण्डगिरिक की अध्यक्षता में नरकगृह का निर्माण कराया था। काश्मीर में ह्य ुनत्सांग ने अशोक के बनवाये हुए बहुत से स्तूपों और संघारामों को देखा था, जिनका उल्लेख कल्हण की राजतरंगिणी में भी किया गया है।

सारनाथ—अशोक की अनेक कृतियां बनारस के समीप सारनाथ में उपलब्ध हुई हैं। इनमें मुख्य निम्नलिखित हैं :—

(क) प्रस्तर-स्तम्भ—इसपर अशोक की एक धम्मलिपि उत्कीर्ण है। यह स्तम्भ बहुत ही सुन्दर है। इसके सिर पर चार सिंह-मूर्तियाँ हैं, जो मूर्ति-निर्माण-कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। किसी प्राणी की इतनी सजीव मूर्तियाँ अन्यत्र कहीं भी नहीं बनीं। मूर्तिकला की दृष्टि से इनमें कोई भी न्यूनता व दोष नहीं है। पहले इन मूर्तियों की आँखें मणियुक्त थीं, अब उनमें मणियां नहीं हैं। पर पहले वहाँ मणि होने के चिह्न अभी तक विद्यमान हैं। सिंह की चार मूर्तियों के नीचे चार चक्र हैं। चक्रों के बीच में हाथी, सांड, अश्व और शेर अंकित हैं। इन चक्रों तथा प्राणियों को चलती हुई दशा में बनाया गया है। इनके नीचे का अंश एक विशाल घण्टे की तरह है। स्तम्भ तथा उसका शीर्ष भाग बलुए पत्थर का है, जिसके ऊपर सुन्दर वज्रलेप है। यह लेप बहुत ही चिकना, चमकदार तथा सुन्दर है। यह वज्रलेप दो हजार से भी अधिक साल बीत जाने पर भी अब तक स्थिर रह सका, यह सचमुच बड़े आश्चर्य की बात है। अनेक ऐतिहासिकों के मत में यह स्तम्भ भारतीय शिल्प का सबसे उत्तम उदाहरण है। इससे बढ़िया शिल्प का अन्य कोई नमूना अब तक भारत में उपलब्ध नहीं हुआ।

(ख) पाषाण वेष्टनी—सारनाथ में ही अशोक के समय की बनी हुई एक पाषाणवेष्टनी (रेलिंग) उपलब्ध हुई है। यह सारनाथ के बौद्ध-विहार के प्रधान मन्दिर के दक्षिण भाग वाले गृह में ईंट के एक छोटे स्तूप के चारों ओर लगी हुई निकली है। यह सारी की सारी एक ही पत्थर की बनी हुई है। बीच में कहीं भी जोड़ नहीं है। सारी पाषाणवेष्टनी बहुत ही सुन्दर तथा चिकनी है। इसे बनाने का खर्च 'सवहिका' नाम के किसी व्यक्ति ने दिया था। उनका नाम वेष्टनी पर उत्कीर्ण है।

(ग) स्तूप—अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप के कुछ चिह्न सारनाथ की खुदाई में प्राप्त हुए हैं। ये अशोक के प्रस्तर-स्तम्भ के समीप ही हैं। अब से कुछ साल पूर्व तक यह स्तूप विद्यमान था, पर सन् १७९३–९४ में काशी के राजा चेतसिंह ने अपने दीवान बाबू जगतसिंह के नाम से जगतगंज मुहल्ला बनवाने के लिए इस स्तूप को तुड़वाकर इसके ईंट, पत्थर आदि मंगवा लिये थे। बाबू जगतसिंह के नाम से इस स्तूप के पुराने स्थान को जगतसिंह स्तूप कहा जाता है। इसकी खुदाई के समय में प्राचीन समय की अनेक वस्तुएँ प्राप्त हुई थीं।

सांची—मौर्य-काल की कृतियों में सांची का स्तूप बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहां का मुख्य स्तूप मौर्य-काल का या उससे भी पहले का है। यह स्तूप बहुत बड़ा है। आधार के समीप इसका व्यास १०० फीट है। पूर्णावस्था में इसकी ऊँचाई ७७ फीट के लगभग थी। वर्तमान समय में इसका ऊपर का कुछ भाग टूट गया प्रतीत होता है। स्तूप लाल रंग के बलुए पत्थर का बना है। यह अर्धमंडलाकार (अंड) रूप से बना हुआ है, और इसके चारों तरफ एक ऊँची मेधि है, जो प्राचीन समय में प्रदक्षिणापथ का काम देती थी। इस प्रदक्षिणापथ तक पहुँचने के लिए स्तूप के दक्षिणी भाग में एक दोहरी सोपान है। सम्पूर्ण स्तूप के चारों ओर भूमि के समतल के साथ एक अन्य प्रदक्षिणापथ है, जो कि पत्थर से बनी हुई पाषाणवेष्टनियों से परिवेष्टित है। यह वेष्टनी बहुत ही सादे

ढंग की है, और किसी तरह की पच्चीकारी आदि से खचित नहीं है। यह चार चतुष्कोण प्रकोष्ठों में विभक्त है, जिन्हें चार सुन्दर द्वार एक दूसरे से पृथक् करते हैं। चारों द्वारों पर नानाविध मूर्तियों और उत्कीर्ण चित्रों तथा खचित पच्चीकारी से युक्त तोरण हैं। इनसे बौद्ध-धर्म की अनेक गाथाओं को व्यक्त किया गया है।

अनेक ऐतिहासिकों का विचार है, कि सांची का यह विशाल स्तूप अशोक के समय का बना हुआ नहीं है। यह उससे लगभग एक सदी पीछे बना था। अशोक के समय में ईंटों का एक सादा स्तूप था, जिसे बढ़ाकर बाद में वर्तमान रूप दिया गया।

सांची के भग्नावशेषों में सम्राट् अशोक के समय की एक अन्य भी कृति उपलब्ध हुई है। स्तूप के दक्षिण द्वार पर एक प्रस्तर-स्तम्भ के अवशेष मिले हैं। विश्वास किया जाता है, कि शुरू में यह स्तम्भ ४२ फीट ऊंचा था। इसके शीर्ष भाग पर भी सारनाथ के स्तम्भ के सदृश सिंहों की मूर्तियाँ हैं। वर्तमान समय में ये मूर्तियां भग्नप्राय हो गई हैं। पर अपनी भग्नावस्था में भी ये अशोक के काल की कला की उत्कृष्टता का स्मरण दिलाती हैं। इस स्तम्भ पर अशोक का एक लेख भी उत्कीर्ण है। संभवतः, सांची का यह स्तंभ भी अपने असली रूप में सारनाथ के स्तम्भ के ही सदृश था।

भरहुत—यह स्थान इलाहाबाद से १५ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर बुन्देलखण्ड की नागौद रियासत में है। यहाँ पर भी अशोक के समय की अनेक कृतियां उपलब्ध हुई हैं। सर एलेकजेंडर कनिंघम ने सन् १८७३ में इस स्थान का पहले-पहल पता लगाया था। उस समय यहाँ एक विशाल स्तूप के अवशेष विद्यमान थे, जो कि ईंटों का बना हुआ था, और जिसका व्यास ६८ फीट था। स्तूप के चारों ओर एक पाषाण-वेष्टनी थी, जिस पर विविध बौद्ध-गाथाएं चित्रों के रूप में खचित की गई थीं। पाषाण-वेष्टनी की ऊंचाई सात फीट से भी अधिक थी। साँची-स्तूप के समान यह पाषाण-वेष्टनी भी चार चतुष्कोण-प्रकोष्ठों में विभक्त थी, और प्रकोष्ठों के बीच में सुन्दर तोरणों से युक्त द्वार थे। पाषाणवेष्टनी के ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण हैं, उनमें जातक ग्रन्थों की गाथाओं की प्रधानता है, और ये उत्कीर्ण चित्र मौर्य-काल की कला के अत्युत्कृष्ट उदाहरण हैं।

भरहुत के स्तूप में सैकड़ों की संख्या में छोटे-छोटे आले बने हुए थे। उत्सव के अवसरों पर इनमें दीप जलाये जाते थे। वर्तमान समय में यह स्तूप नष्ट हो चुका है, और इसकी पाषाणवेष्टनी के बहुत-से खण्ड कलकत्ता-म्यूजियम की शोभा बढ़ा रहे हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि भरहुत के सब अवशेष मौर्यकाल के नहीं हैं। उनमें से कुछ शुंग काल के तथा उसके भी बाद के हैं।

सारनाथ, सांची और भरहुत की पाषाण-वेष्टनियों के सदृश ही अन्य अनेक वेष्टनियां और भी कई स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। बोध गया में प्राप्त एक वेष्टनी के अवशेषों को अशोक के समय का समझा जाता है। प्राचीन पाटलिपुत्र के अवशेषों में भी कम से कम तीन इस प्रकार की पाषाण-वेष्टनियों के खण्ड प्राप्त हुए हैं, जो मौर्य-काल के हैं। सांची के समीप ही भिलसा के पास बेसनगर नामक स्थान पर इसी प्रकार की पाषाण-वेष्टनी प्राप्त हुई है, जिस पर नानाविध चित्र उत्कीर्ण हैं। इसे भी मौर्य काल का माना जाता है। ये पाषण-वेष्टनियां कला की दृष्टि से बड़े महत्त्व की हैं। ये प्रायः

एक पत्थर की ही बनी हुई हैं, और इनमें कहीं भी जोड़ नहीं है।

तक्षशिला—उत्तरापथ की इस प्राचीन राजधानी के स्थान पर जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें बहुत-सी पुरानी कृतियां उपलब्ध हुई हैं। इनमें से केवल दो कृतियां मौर्य-काल की हैं। ये दोनों आभूषण हैं। तक्षशिला के क्षेत्र के अन्तर्गत भिड़ नामक स्थान से ये आभूषण प्राप्त हुए थे। मौर्य-काल के ये आभूषण बहुत ही सुन्दर हैं। ये प्रशस्त रत्नों से जटित हैं, और सोने के बने हुए हैं।

चीनी यात्री ह्यु नत्सांग ने तक्षशिला में जिस कुनाल-स्तूप का अवलोकन किया था, वह भी वहाँ खुदाई में मिल गया है। पर अनेक ऐतिहासिकों का मत है, कि यह स्तूप मौर्य-काल के बाद का है। जिस स्थान पर अशोक की दन्तमुद्रा से अंकित कपट-लेख के अनुसार कुनाल को अंधा किया गया था, वहाँ के पुराने स्तूप को बढ़ाकर बाद में अत्यन्त विशाल स्तूप का निर्माण किया गया। ह्यु नत्सांग ने उसी स्तूप को देखा था, और तक्षशिला में अब जिस स्तूप के अवशेष मिले हैं, वह भी बाद का ही बना हुआ है।

मौर्यकालीन मूर्तियां—मौर्य-काल की सबसे प्रसिद्ध मूर्ति आगरा और मथुरा के बीच में परखम नामक गाँव से मिली है। यह सात फीट ऊँची है, और भूरे बलुए पत्थर की बनी है। ऊपर बहुत ही सुन्दर वज्रलेप है। दुर्भाग्य से मूर्ति का मुंह टूट गया है, और भुजाएं भग्न हो गई हैं। मूर्ति के व्यक्ति की जो पोशाक बनायी गई है, उससे मौर्यकालीन पहरावे का भली-भांति अनुमान किया जा सकता है। यह मूर्ति अब मथुरा के म्यूजियम में विद्यमान है।

मौर्यकाल की एक अन्य मूर्ति बेसनगर से मिली है। यह मूर्ति किसी स्त्री की है। इसकी भी भुजाएं टूटी हुई और मुख बिगड़ा हुआ है। मूर्ति की ऊंचाई ६ फीट ७ इञ्च है।

पटना और दीदारगंज से भी दो अन्य मूर्तियां मिली हैं, जो मौर्यकाल की मानी जाती हैं। ये परखम से प्राप्त मूर्ति से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं।

अशोक के शिलालेख—सम्राट् अशोक के बहुत-से उत्कीर्ण लेख आजकल उपलब्ध हैं। अशोक ने अपने इन शिलालेखों को 'धम्मलिपि' कहा है। उनकी जो दो प्रतियां उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त के पेशावर और हजारा जिलों में मिली हैं, वे खरोष्ठी लिपि में हैं, शेष सब ब्राह्मी लिपि में हैं। उसके लेख शिलाओं, पत्थर की ऊंची लाटों और गुफाओं में उत्कीर्ण किये गए हैं। इनका संक्षेप में वर्णन देना बहुत उपयोगी है।

(क) **चतुर्दश शिलालेख**—अशोक के लेखों में ये सबसे प्रधान हैं, और एक के नीचे दूसरा करके सब इकट्ठे खुदे हुए हैं। इनकी आठ प्रतियां आठ विभिन्न स्थानों पर अविकल या अपूर्ण रूप में मिली हैं। जिन स्थानों पर यह चौदह लेख मिले हैं, वे निम्नलिखित हैं :—

१. पेशावर जिले में शाहबाजगढ़ी—पेशावर से चालीस मील उत्तर-पूर्व की ओर युसुफजाई ताल्लुके में शाहबाजगढ़ी नाम का गांव है। उससे आध मील की दूरी पर एक विशाल शिला है, जो २४ फीट लम्बी, दस फीट ऊंची और दस फीट मोटी है। इस शिला पर बारहवें लेख को छोड़कर अन्य सब लेख खुदे हुए हैं। बारहवां लेख पचास गज की दूरी पर एक पृथक् शिला पर उत्कीर्ण है। शाहबाजगढ़ी गांव नया है,

पर इसी जगह पुराने समय में एक विशाल नगर था, जिसके खण्डहर अब तक पाये जाते हैं। एक ऐतिहासिक के अनुसार अशोक के अधीन यवनराज्य की राजधानी सम्भवतः यहीं पर थी।

२. मानसेरा—उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के हजारा जिले में यह स्थान है। यहां केवल पहले बारह लेख ही उपलब्ध हुए हैं। तेरहवें और चौदहवें लेख अभी इस स्थान के समीप कहीं नहीं मिले। मानसेरा का शिलालेख जहाँ उत्कीर्ण है, उसके समीप से होकर सम्भवतः प्राचीनकाल में वह सड़क जाती थी, जिसके द्वारा तीर्थ-यात्री लोग भट्टारिका देवी के दर्शनों को जाया करते थे। अब भी उधर ब्रेरी नामक तीर्थस्थान है।

३. कालसी—देहरादून जिले में यमुना के तट पर एक विशाल शिला पर अशोक के चौदहों लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान हिमालय की उपत्यका के प्रदेश जौनसार-भावर के द्वार पर है। इस प्रदेश की सभ्यता, धर्म व चरित्र शेष भारत से बहुत कुछ भिन्न हैं। एक स्त्री के अनेक पति होने की बात अभी तक यहाँ जारी है। इनके देवी-देवता भी अन्य हिन्दुओं से भिन्न हैं। सम्भवतः, मौर्ययुग में भी यह प्रदेश सभ्यता की दृष्टि से पृथक् था, और इसीलिए इसमें अपने धर्म-सन्देश को पहुँचाने के लिए अशोक ने उसके द्वार पर अपने लेख उत्कीर्ण कराये थे। प्राचीन समय का श्रुघ्न नगर भी इसी के समीप था।

४. गिरनार—काठियावाड़ की प्राचीन राजधानी गिरनार के समीप ही एक विशाल शिला पर ये चौदह लेख उत्कीर्ण हैं।

५. सोपारा—यह स्थान बम्बई प्रान्त के थाना जिले में है। प्राचीन शूर्पारक नगरी सम्भवतः यहीं पर थी। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने भी इसे सुपारा और सुपारा नामों से लिखा है। वहाँ आठवें शिलालेख का केवल तिहाई हिस्सा ही भग्नावस्था में मिला है। पर इससे यह सहज ही में अनुमान किया जा सकता है, कि किसी समय में यहाँ पूरे चौदह लेख विद्यमान थे।

६. धौली—उड़ीसा में भुवनेश्वर (जिला पुरी) से सात मील की दूरी पर यह स्थान है। मौर्य युग में सम्भवतः यहीं तोसाली नगरी थी, जो कलिंग की राजधानी थी। वर्तमान धौली गाँव के पास अश्वस्तम्भ नाम की एक शिला है, जिस पर अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं। चतुर्दश लेखों में नं० ११, १२ और १३ यहाँ नहीं मिलते, उनके स्थान पर दो अन्य लेख मिलते हैं, जिन्हें कि अशोक ने कलिंग के लिए विशेष रूप से उत्कीर्ण कराया था।

७. जौगढ़—मद्रास प्रान्त के गंजाम जिले में यह स्थान है। यह भी प्राचीन कलिंग देश के ही अन्तर्गत था, यहाँ भी ११, १२ और १३ संख्या के लेख नहीं मिलते। उनकी जगह पर धौली वाले वे दो विशेष लेख मिलते हैं, जो खासकर कलिंग के लिए उत्कीर्ण कराये गए थे।

८. अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की आठवीं प्रति आंध्र प्रदेश के कर्नूल जिले से पिछले दिनों में ही मिली है।

(ख) लघु शिलालेख—चतुर्दश शिलालेखों की भाँति ये साम्राज्य के दूर-दूर के प्रदेशों से उपलब्ध हुए हैं। इनकी विविध प्रतियाँ निम्नलिखित स्थानों पर मिली हैं:—

१. रूपनाथ—मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में कैमोर पर्वत की उपत्यका में एक शिला पर ये लेख उत्कीर्ण हैं। यह स्थान दुर्गम चट्टानों और जंगलों से पूर्ण है। पर यह एक प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ प्रति वर्ष हजारों यात्री शिव की उपासना के लिए एकत्र होते हैं।

२. सहसराम—बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले में सहसराम नाम का नगर है। उसके पूर्व में चन्दनपीर पर्वत की एक कृत्रिम गुफा में ये लेख उत्कीर्ण हैं। अशोक के समय में यहाँ भी एक तीर्थस्थान था। वर्तमान समय में यहाँ एक मुसलमान फकीर की दरगाह है।

३. बैराट—यह स्थान राजपूताने की जयपुर रियासत में है। इसके समीप ही हिमगीर नामक पहाड़ी के नीचे लघु शिलालेखों की एक प्रति उपलब्ध हुई है। पुरानी अनुश्रुति के अनुसार पाण्डव लोग बनवास के अन्त में इसी स्थान पर आ कर रहे थे।

४. सिद्दपुर—यह स्थान मैसूर के चीतलद्रुग जिले में है।

५. जतिंग रामेश्वर—यह भी चीतलद्रुग जिले में ही है।

६. ब्रह्मगिरि—यह भी चीतलद्रुग में सिद्दपुर और जतिंग रामेश्वर के समीप में ही है।

७. मास्की—यह आन्ध्र प्रदेश के रायचूर जिले में है। इस स्थान पर जो लेख मिले है, वे बहुत भग्नावस्था में हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बड़ा महत्त्व है। इन्हीं से यह बात प्रामाणिक रूप से ज्ञात हो सकी है, कि राजा प्रियदर्शी के नाम से जो विविध शिलालेख भारत भर में उपलब्ध हुए हैं, वे वस्तुतः मौर्य-सम्राट् अशोक के ही हैं। इनमें स्पष्ट रूप से राजा अशोक का नाम दिया गया है। यह नहीं समझना चाहिए कि इन सातों स्थानों पर एक ही लेख की भिन्न-भिन्न प्रतियां मिलती हैं, जैसा कि चतुर्दश शिलालेखों के विषय में कहा जा सकता है। पर चीतलद्रुग के तीनों स्थानों—सिद्दपुर, जतिंगरामेश्वर और ब्रह्मगिरि में थोड़े से पाठ-भेद के साथ एक ही लेख उत्कीर्ण है। यह लेख दो भागों में विभक्त है। पहला भाग थोड़े-से पाठ-भेद के साथ सहसराम, रूपनाथ, बैराट और मास्की में भी मिलता है। पर दूसरा भाग चीतलद्रुग के इन तीन स्थानों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

(ग) भाब्रू का लेख—जयपुर रियासत में बैराटनगर के पास ही एक चट्टान पर यह लेख उत्कीर्ण है। प्राचीन समय में यह एक बौद्ध-विहार था, और अशोक ने इस लेख को इसलिए खुदवाया था, ताकि विहार में निवास करने वाले भिक्षुओं को यथोचित आदेश दिये जा सकें। इस लेख में अशोक ने उन बौद्ध-ग्रन्थों के नाम विज्ञापित कराये थे, जिन्हें वह इस योग्य समझता था, कि भिक्खु लोग उनका विशेष रूप से अनुशीलन करें। सम्भवतः, इसी प्रकार के लेख अन्य बौद्ध-विहारों में भी उत्कीर्ण कराये गये थे।

(घ) सप्त स्तम्भ लेख—शिलाओं के समान स्तम्भों पर भी अशोक ने लेख उत्कीर्ण कराये थे। ये स्तम्भ-लेख निम्नलिखित स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं :—

१. दिल्ली में टोपरा स्तम्भ—यह स्तम्भ फीरोजशाह की लाट के नाम से मशहूर है। पहले यह स्तम्भ दिल्ली से ६० मील की दूरी पर यमुना के किनारे टोपरा (अम्बाला जिले में सढौरा के पास) में था। सुलतान फीरोजशाह तुगलक इसे दिल्ली ले आया।

था, और वहाँ उस स्थान पर स्थापित कर दिया था, जो अब दिल्ली-दरवाजे के बाहर 'फीरोजशाह का कोटला' कहलाता है।

२. दिल्ली में मेरठ स्तम्भ—यह पहले मेरठ में था। फीरोजशाह तुगलक इसे भी दिल्ली ले आया था, और काश्मीरी दरवाजे के उत्तर-पश्चिम में पहाड़ी पर स्थापित करा दिया था। बादशाह फर्रुखसियर(१७१३ से १७१६ तक) के समय में बारूदखाने के फट जाने से इसे बहुत नुकसान पहुँचा। गिर कर इसके अनेक टुकड़े हो गये। बाद में इसे यथापूर्व खड़ा किया गया।

३. इलाहाबाद स्तम्भ—यह वही प्रसिद्ध स्तम्भ है, जिसपर गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति भी उत्कीर्ण है। यह अब प्रयाग के पुराने किले में विद्यमान है। इसपर अशोक के दो लेख हैं, जो कोशाम्बी के शासनाधिकारियों को आदेश के रूप में सम्बोधन किये गये हैं।

४. लौरिया अरराज स्तम्भ—बिहार प्रान्त के चम्पारन जिले में राधिया नामक गाँव है। उससे ढाई मील पूर्व-दक्षिण में अरराज महादेव का मन्दिर है। वहाँ से मील भर दूर लौरिया नामक स्थान पर यह स्तम्भ विद्यमान है। इसपर भी अशोक के लेख उत्कीर्ण हैं।

५. लौरिया नन्दन गढ़—यह भी बिहार के चम्पारन जिले में है। पूर्वलिखित लौरिया के उत्तर-पश्चिम में नैपाल राज्य की ओर जाते हुए लौरिया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ दिखायी पड़ता है। इसी स्थान पर पिप्पलिवन का प्रसिद्ध स्तूप प्राप्त हुआ है। पिप्पलिवन का मोरिय-गण, जिसके एक प्रतापी कुमार ने मौर्य वंश की स्थापना की थी, सम्भवत: यहीं पर स्थित था।

६. रामपुरवा स्तम्भ—यह भी चम्पारन जिले में ही है। एक ऐतिहासिक के अनुसार ये तीनों स्तम्भ उस प्राचीन राजमार्ग को सूचित करते हैं, जो गंगा के उत्तर में पाटलिपुत्र से नैपाल की ओर जाता था। इस राजमार्ग पर आने जाने वाले यात्रियों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ही अशोक ने इन स्तम्भों पर अपने धर्म्म के संदेश को उत्कीर्ण कराया था। चम्पारन जिले की इन लाटों में से पहली दो पर सप्त स्तम्भलेखों में से पहले छ: लेख उत्कीर्ण हैं। रामपुरवा की लाट पर पहले चार लेख ही मिलते हैं। पूरे सातों लेख केवल दिल्ली के टोपरा स्तम्भ पर हैं। इलाहाबाद स्तम्भ पर पहले छ: लेख हैं, यद्यपि इनमें से केवल दो ही अविकल अवस्था में हैं। दिल्ली-मेरठ स्तम्भ पर पहले पाँच लेख ही मिलते हैं, और वे भी भग्न दशा में हैं।

(घ) लघु स्तम्भ लेख—ये तीन स्थानों पर उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। ये स्थान निम्नलिखित हैं :—

१. सारनाथ—बनारस के उत्तर में साढ़े तीन मील की दूरी पर यह अत्यन्त प्राचीन स्थान है। यहाँ प्राचीनकाल के बहुत से भग्नावशेष मिलते हैं। इन्हीं अवशेषों में एक स्तम्भ पर अशोक का यह लघु लेख उत्कीर्ण है। इसमें बौद्ध-संघ में फूट डालने वालों को कड़ा दण्ड देने का विधान किया गया है।

२. साँची—मध्य प्रदेश में भूपाल के क्षेत्र में साँची बहुत प्राचीन स्थान है। यहाँ के विशाल स्तूप के दक्षिणी द्वार पर एक टूटे हुए प्राचीन स्तम्भ पर यह लेख

उत्कीर्ण है। यह सारनाथ के लेख का ही अपूर्ण और परिवर्तित रूप है।

३. इलाहाबाद स्तम्भ—प्रयाग के दुर्ग के जिस स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की प्रशस्ति और अशोक के सप्त स्तम्भलेख उत्कीर्ण हैं, उसी पर यह लेख भी पृथक् रूप से उत्कीर्ण है। साँची के लेख के समान यह भी अपूर्ण और परिवर्तित है।

(च) अन्य स्तम्भ लेख—सप्त स्तम्भ लेखों और लघु स्तम्भ लेखों के अतिरिक्त अशोक के कुछ अन्य स्तम्भ लेख भी निम्नलिखित स्थानों पर मिले हैं :—

१. रुम्मिनदेई स्तम्भ—नैपाल राज्य की भगवानपुर तहसील में पडेरिया नाम का गाँव है। उससे एक मील उत्तर की तरफ रुम्मिनदेई का मन्दिर है। वहाँ एक प्राचीन स्तम्भ पर अशोक का लेख उत्कीर्ण है। यद्यपि यह लेख बहुत छोटा है, पर बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसमें लिखा है—'यहाँ भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था।' बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनीवन की स्थिति का निश्चय इसी लेख द्वारा हुआ है।

२. निग्लीव स्तम्भ—रुम्मिनदेई स्तम्भ के उत्तर-पश्चिम में तेरह मील दूर निग्लीव स्तम्भ है। यह निग्लीव नाम के गाँव के पास इसी नाम की झील के पश्चिमी तट पर स्थित है। इस स्तम्भ को भी तीर्थ यात्रा के सम्बन्ध में ही स्थापित किया गया था। इस स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख में अशोक द्वारा कनकमुनि बुद्ध के स्तूप की मरम्मत किये जाने का उल्लेख है।

३. रानी का लेख—यह लेख इलाहाबाद के स्तम्भ पर ही उत्कीर्ण है। इसमें सम्राट् अशोक ने अपनी दूसरी रानी कारुवाकी के दान का उल्लेख किया है।

(छ) गुहा लेख—शिलाओं और स्तम्भों के अतिरिक्त गुहा मन्दिरों में भी अशोक ने कुछ लेख उत्कीर्ण कराये थे। इस प्रकार के तीन लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं। इनमें अशोक द्वारा आजीवक संप्रदाय के भिक्षुओं को दिये गये दान का उल्लेख है। अशोक के लेखों से युक्त ये गुहाएं गया से सोलह मील दूर उत्तर में बराबर नाम की पहाड़ियों में विद्यमान हैं।

इनके अतिरिक्त अशोक के अन्य भी अनेक शिलालेख, स्तम्भलेख आदि नई खोज द्वारा उपलब्ध हुए हैं—जिनमें दिल्ली से प्राप्त लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(२) मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था

कौटलीय अर्थशास्त्र—बीसवीं सदी के प्रारम्भ में मैसूर के प्रसिद्ध विद्वान् श्री शाम शास्त्री ने आचार्य चाणक्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र को प्रकाशित किया। प्राचीन भारत में क्या शासन-व्यवस्था थी, पुराने समय में भारतीयों के राजनीतिशास्त्र-सम्बधी क्या विचार थे, उस समय में कौन से कानून, व्यवहार व रिवाज थे, आर्थिक दशा क्या थी—इत्यादि सब बातों का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए यह ग्रंथ एक अमूल्य भंडार के समान है। इस ग्रंथ-रत्न की रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधान मंत्री और गुरु चाणक्य ने की थी। इसीलिए इस ग्रन्थ में लिखा है—"जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र का, शस्त्र का और नन्दराज के हाथ में गयी हुई पृथिवी का उद्धार किया, उसी ने इस शास्त्र की रचना की।" एक अन्य जगह लिखा गया है—"सब शास्त्रों का अनुक्रम करके और प्रयोग समझकर कौटल्य ने नरेन्द्र के लिए यह शासन की विधि (व्यवस्था) बनाई।"

पाटलिपुत्र के नन्दराजाओं का विनाश कर चाणक्य ने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजा बनाया था। उसी चाणक्य ने नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के लिए शासन-विधि का प्रतिपादन करने के निमित्त इस ग्रन्थ की रचना की थी। चाणक्य के अनेक नाम थे। एक पुरानी पुस्तक के अनुसार वात्स्यायन, मल्लनाग, कुटल, चाणक्य, द्रमिल, पक्षिलस्वामी, विष्णुगुप्त और अंगुल—ये आठ नाम इस आचार्य के थे। पुरानी अनेक पुस्तकों में अर्थशास्त्र के कर्त्तारूप में चाणक्य का उल्लेख किया गया है। कामंदकनीति-सार में चाणक्य द्वारा विरचित अर्थशास्त्र की चर्चा है। दंडी कवि ने दशकुमारचरित में आचार्य विष्णुगुप्त (चाणक्य) द्वारा बनाये गये ६००० श्लोकों वाले अर्थशास्त्र की बात लिखी है। पञ्चतन्त्र, नीतिवाक्यामृत आदि पुस्तकों में भी अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध पंडित आचार्य चाणक्य या कौटल्य का उल्लेख आता है। टीकाकार मल्लिनाथ ने अपनी टीकाओं में 'इति कौटल्यः' लिखकर अर्थशास्त्र से उद्धरण दिये हैं।

ऐतिहासिकों में इस बात पर बहुत विवाद रहा है, कि अर्थशास्त्र की रचना किसी एक विद्वान् द्वारा हुई या वह किसी सम्प्रदाय में धीरे-धीरे चिरकाल तक विकसित होता रहा। क्या उसे मौर्य-युग में चाणक्य द्वारा बनाया गया, या बाद में चाणक्य के मन्तव्यों के अनुसार किसी अन्य व्यक्ति ने उसकी रचना की? हमें इस विवाद में यहाँ पड़ने की आवश्यकता नहीं। अब अनेक विद्वानों ने यह स्वीकृत कर लिया है, कि कौटलीय अर्थशास्त्र मौर्य-काल की रचना है, और उसका निर्माण आचार्य चाणक्य द्वारा नरेन्द्र चन्द्रगुप्त के शासन की 'विधि' के रूप में ही हुआ था। यदि इसके कुछ अंशों को बाद का भी बना हुआ माना जाय, तो भी इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ से मौर्य-काल की शासन-व्यवस्था, आर्थिक दशा और सामाजिक व्यवहार के सम्बन्ध में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें मालूम हो जाती हैं। अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम मौर्यकालीन भारत के विषय में जो जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, वह प्राचीन भारत के किसी काल के सम्बन्ध में किसी भी अन्य साधन से प्राप्त नहीं की जा सकती।

साम्राज्य का शासन—मौर्यों के समय में मगध का साम्राज्य बहुत विस्तृत हो चुका था। यद्यपि सम्पूर्ण साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, पर वहाँ से कंबोज, वंग और आंध्र तक विस्तृत मौर्य-साम्राज्य का शासन सुचारु रूप से नहीं किया जा सकता था। अतः शासन की दृष्टि से मौर्यों के अधीन संपूर्ण 'विजित' को पाँच भागों में बाँटा गया था, जिनकी राजधानियाँ क्रमशः पाटलिपुत्र, तोसाली, उज्जयिनी, तक्षशिला और सुवर्णगिरि थीं। इन राजधानियों को दृष्टि में रखकर हम यह सहज में अनुमान कर सकते हैं, कि विशाल मौर्य-साम्राज्य पाँच चक्रों में विभक्त था। ये चक्र (प्रान्त या सूबे) निम्नलिखित थे—(१) उत्तरापथ—जिसमें कम्बोज, गांधार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश अन्तर्गत थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी। (२) पश्चिमचक्र—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना, मालवा आदि के सब प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। (३) दक्षिणापथ—विन्ध्याचल के दक्षिण का सारा प्रदेश इस चक्र में था, और इसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। (४) कलिंग—अशोक ने अपने नये जीते हुए प्रदेश का एक पृथक् चक्र बनाया था, जिसकी राजधानी तोसाली थी। (५) मध्य देश—इसमें वर्तमान बिहार, उत्तर-प्रदेश और बंगाल सम्मिलित थे।

इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी। इन पाँचों चक्रों का शासन करने के लिये प्राय: राजकुल के व्यक्तियों को नियत किया जाता था, जिन्हें कुमार कहते थे। कुमार अनेक महामात्यों की सहायता से अपने-अपने चक्र का शासन करते थे। अशोक और कुणाल राजा बनने से पूर्व उज्जयिनी, तक्षशिला आदि में 'कुमार' रह चुके थे।

इन पाँच चक्रों के अन्तर्गत फिर अनेक छोटे शासन केन्द्र भी थे, जिनमें 'कुमार' के अधीन महामात्य शासन करते थे। उदाहरण के लिए तोसाली के अधीन समापा में, पाटलिपुत्र के अधीन कौशाम्बी में और सुवर्णगिरि के अधीन इसिला में महामात्य रहते थे। उज्जयिनी के अधीन सुराष्ट्र का एक पृथक् प्रदेश था, जिसका शासक चंद्रगुप्त के समय में वैश्य पुष्यगुप्त था। अशोक के समय में वहाँ का शासन यवन तुषाष्प के अधीन था। मागध सम्राट् की ओर से जो आज्ञाएँ प्रचारित की जाती थीं, वे चक्रों के 'कुमारों' के महामात्यों के नाम ही होती थीं। यही कारण है, कि दक्षिणापथ में इसिला के महामात्यों के नाम अशोक ने जो आदेश भेजे, वे सुवर्णगिरि के कुमार व आर्यपुत्र के द्वारा भेजे गये। इसी प्रकार कलिंग में समापा के महामात्यों को तोसली के कुमार की मार्फत ही आज्ञा भेजी गई। पर मध्यदेश (राजधानी-पाटलिपुत्र) के चक्र पर किसी कुमार की नियुक्ति नहीं होती थी, उसका शासन सीधा सम्राट् के अधीन था। अत: उसके अन्तर्गत कौशाम्बी के महामात्यों को अशोक ने सीधे ही अपने आदेश दिये थे।

चक्रों के शासन के लिये कुमार की सहायतार्थ जो महामात्य नियुक्त होते थे, उन्हें शासन-सम्बन्धी बहुत अधिकार रहते थे। अतएव अशोक ने चक्रों के शासकों के नाम जो आज्ञाएँ प्रकाशित कीं, उन्हें केवल कुमार या आर्यपुत्र के नाम से नहीं भेजा गया, अपितु कुमार और महामात्य—दोनों के नाम से प्रेषित किया गया। इसी प्रकार जब कुमार भी अपने अधीनस्थ महामात्यों को कोई आज्ञा भेजते थे, तो उन्हें वे अपने नाम से नहीं, अपितु महामात्य-सहित कुमार के नाम से भेजते थे।

जनपद और ग्राम—मौर्य-साम्राज्य के मुख्य पाँच चक्र या विभाग थे, और फिर ये चक्र अनेक मंडलों में विभक्त थे। प्रत्येक मंडल में बहुत-से जनपद होते थे। सम्भवत: ये जनपद प्राचीन युग के जनपदों के ही प्रतिनिधि थे। शासन की दृष्टि से जनपदों के विविध विभाग होते थे, जिन्हें कौटलीय अर्थशास्त्र में स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक, संग्रहण और ग्राम कहा गया है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम थी। दस ग्रामों के समूह को संग्रहण कहते थे। बीस संग्रहणों (या २०० ग्रामों) से एक खार्वटिक बनता था। दो खार्वटिकों (या ४०० ग्रामों) से एक द्रोणमुख और २ द्रोणमुखों (८०० ग्रामों) से एक स्थानीय बनता था। संभवत: स्थानीय, द्रोणमुख, और खार्वटिक शासन की दृष्टि से एक ही विभाग को सूचित करते हैं। जनपद शासन के लिये जिन विभागों में विभक्त होता था, उन्हें स्थानीय (संभवत:, वर्तमान समय का थाना) कहते थे। स्थानीय के छोटे विभागों को संग्रहण कहते थे। एक संग्रहण में प्राय: दस ग्राम रहते थे। स्थानीय में लगभग ८०० ग्राम हुआ करते थे। पर कुछ स्थानीय आकार में छोटे होते थे, या कुछ प्रदेशों में आबादी घनी न होने के कारण 'स्थानीय' में गाँवों की संख्या कम रहती थी। ऐसे ही स्थानीयों को द्रोणमुख या खार्वटिक कहा गया था।

ग्राम का शासक ग्रामिक, संग्रहण का गोप और स्थानीय का स्थानिक कहलाता

था। संपूर्ण जनपद के शासक को समाहर्ता कहते थे। समाहर्ता के ऊपर महामात्य होते थे, जो चक्रों के अन्तर्गत विविध मंडलों का शासन करने के लिये केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त किये जाते थे। इन मंडल-महामात्यों के ऊपर कुमार और उसके सहायक अन्य महामात्य रहते थे। सबसे ऊपर पाटलिपुत्र का मौर्य-सम्राट् था।

शासक वर्ग—शासनकार्य में सम्राट् की सहायता करने के लिए एक मंत्रि-परिषद् होती थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस मंत्रिपरिषद् का विस्तार से वर्णन किया गया है। अशोक के शिलालेखों में भी उसकी परिषद् का बार-बार उल्लेख है। चक्रों के शासक कुमार भी जिन महामात्यों की सहायता से शासन कार्य करते थे, उनकी भी एक परिषद् होती थी। केन्द्रीय सरकार की ओर से जो राज-कर्मचारी साम्राज्य में शासन के विविध पदों पर नियुक्त थे, उन्हें 'पुरुष' कहते थे। ये पुरुष उत्तम, मध्यम और हीन—इन तीन दर्जों के होते थे। जनपदों के समूहों (मंडलों) के ऊपर शासन करने वाले महामात्यों की संज्ञा संभवत: प्रादेशिक या प्रदेष्टा थी। उनके अधीन जनपदों के शासक समाहर्त्ता कहलाते थे। नि:संदेह, ये उत्तम 'पुरुष' होते थे। इनके अधीन 'युक्त' आदि विविध कर्मचारी मध्यम व हीन दर्जे में रखे जाते थे।

स्थानीय स्वशासन—जनपदों के शासन का संचालन करने के लिए जहाँ केन्द्रीय सरकार की ओर से समाहर्त्ता नियत थे, वहाँ जनपदों की अपनी आंतरिक स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण रूप से कायम थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में बार-बार इस बात पर जोर दिया गया है कि जनपदों, नगरों व ग्रामों के धर्म, चरित्र और व्यवहार को अक्षुण्ण रखा जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि इनमें अपना स्थानीय स्वशासन पुरानी परम्परा के अनुसार जारी था। सब जनपदों में एक ही प्रकार की स्थानीय स्वतन्त्रता नहीं थी। हम जानते हैं, कि मागध-साम्राज्य के विकास से पूर्व कुछ जनपदों में गणशासन और कुछ में राजाओं का शासन था। उनके व्यवहार और धर्म अलग-अलग थे। जब वे मगध के साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, तो भी उनमें अपनी पुरानी परम्परा के अनुसार स्थानीय शासन जारी रहा, और ग्रामों में पुरानी ग्रामसभाओं और नगरों में नगर-सभाओं (पौरसभा) के अधिकार कायम रहे। ग्रामों के समूहों व जनपदों में भी जनपद-सभाओं की सत्ता विद्यमान रही। पर साथ ही केन्द्रीय सरकार की ओर से भी विविध करों को एकत्र करने तथा शासन का संचालन करने के लिए 'पुरुष' नियुक्त होते रहे।

मौर्य-साम्राज्य के शासन का यही स्थूल ढाँचा है। अब हम इसका अधिक विस्तार से वर्णन करेंगे।

विजिगीषु राजर्षि सम्राट्—विविध जनपदों और गणराज्यों को जीतकर जिस विशाल मागध साम्राज्य का निर्माण हुआ था, उसका केन्द्र राजा या सम्राट् था। चाणक्य के अनुसार राज्य के सात अंगों में केवल दो की मुख्यता है, राजा की और देश की। प्राचीन परम्परा के अनुसार राज्य के सात अंग होते थे—राजा, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र। पुराने युग में जब छोटे-छोटे जनपद होते थे, और उनमें एक ही 'जन' का निवास होता था, तो राजा की उनमें विशेष महत्ता नहीं होती थी। इसी लिए आचार्य भारद्वाज की दृष्टि में राजा की अपेक्षा अमात्य की अधिक महत्ता थी। अन्य आचार्यों की दृष्टि में अमात्य की अपेक्षा भी जनपद, दुर्ग या कोष आदि का महत्त्व अधिक

था। एक जन के द्वारा निर्मित प्राचीन काल के जनपदों में राजा की अपेक्षा अन्य अंगों व तत्त्वों की प्रमुखता सर्वथा स्वाभाविक थी। पर जनपदों को जीतकर जिन साम्राज्यों का निर्माण हुआ, उसका केन्द्र राजा ही हो सकता था, क्योंकि वे एक महाप्रतापी व्यक्ति की ही कृति थे। उसी ने कोष, सेना, दुर्ग आदि का संगठन कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। कौटल्य के शब्दों में "मंत्री, पुरोहित आदि भृत्यवर्ग की और राज्य के विविध अध्यक्षों व अमात्यों की नियुक्ति राजा ही करता है। राजपुरुषों पर, कोष में या जनता पर यदि कोई विपत्ति आ जाय, तो उसका प्रतीकार राजा द्वारा ही होता है। इनकी उन्नति भी राजा के ही हाथ में है। यदि अमात्य ठीक न हों, तो राजा उन्हें हटाकर नये अमात्यों की नियुक्ति करता है। पूज्य लोगों की पूजा कर व दुष्ट लोगों का दमन कर राजा ही सबका कल्याण करता है। यदि राजा सम्पन्न हो, तो उसकी समृद्धि से प्रजा भी सम्पन्न होती है। राजा का जो शील हो, वही शील प्रजा का भी होता है। यदि राजा उद्यमी व उत्थान-शील हो, तो प्रजा भी उत्थानशील होती है। यदि राजा प्रमादी हो, तो प्रजा भी वैसी ही हो जाती है। अतः राज्य में कूटस्थानीय (केन्द्रीभूत) राजा ही है।"

चाणक्य भली-भाँति समझता था, कि राजा के पद के लिए आदर्श पुरुष सुगमता से नहीं मिल सकता। पर शिक्षा और विनय से गुण विकसित किये जा सकते है। यदि एक कुलीन और होनहार व्यक्ति को बचपन से ही उचित शिक्षा दी जाय, तो उसे एक आदर्श राजा बनने के लिये तैयार किया जा सकता है। चाणक्य ने उस शिक्षा और विनय का विस्तार से वर्णन किया है, जो बचपन और युवावस्था में राजा को दी जानी चाहिए। राजा के लिये आवश्यक है, कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और हर्ष—इन छः शत्रुओं को परास्त कर अपनी इन्द्रियों पर पूर्णतया विजय करे। उसके समय का एक-एक क्षण काम में लगा हो। दिन में तो उसे बिलकुल भी विश्राम नहीं करना चाहिए। रात को भी उसे तीन घंटे से अधिक सोने की आवश्यकता नहीं। रात और दिन में उसमें सारे समय का पूरा कार्यक्रम चाणक्य ने दिया है। भोग-विलास, नाच-रंग आदि के लिये कोई भी समय इसमें नहीं रखा गया। चाणक्य का राजा एक राजर्षि है, जो सर्वगुणसम्पन्न आदर्श पुरुष है, जिसका एकमात्र लक्ष्य विजिगीषा है। वह सम्पूर्ण जनपदों को विजय कर अपने अधीन करने के लिये प्रयत्नशील है। चातुरंग साम्राज्य की कल्पना को उसे कार्यरूप में परिणत करना है। उसका मंतव्य है, कि 'सारी पृथिवी एक देश है। उसमें हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त सीधी रेखा खींचने से जो एक हजार योजन विस्तीर्ण प्रदेश है, वह एक चक्रवर्ती राज्य का क्षेत्र है।' हिमालय से समुद्र तक फैली हुई एक हजार योजन विस्तीर्ण जो यह भारत भूमि (देश) है, वह सब एक चक्रवर्ती राजा के अधीन होनी चाहिए। इस स्वप्न को जिस व्यक्ति को 'कूटस्थानीय' होकर पूरा करना हो, वह यदि सर्वगुणसम्पन्न न हो, राजर्षि का जीवन न व्यतीत करे, और काम, क्रोध आदि शत्रुओं का शिकार हो, तो वह कैसे सफलता प्राप्त कर सकता है? अतः कौटलीय अर्थशास्त्र के विजिगीषु राजा को पूर्ण पुरुष होकर राजर्षि का जीवन व्यतीत करते हुए अपना कार्य करना चाहिए।

मंत्रिपरिषद्—आचार्य चाणक्य के अनुसार राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय। जो अपने सामने हो, वह प्रत्यक्ष है। जो दूसरे बतायें वह

परोक्ष है। किये हुए कर्म से बिना किये कर्म का अन्दाज करना अनुमेय कहलाता है। सब काम एक साथ नहीं होते। राजकर्म बहुत-से होते हैं, और बहुत-से स्थानों पर होते हैं। अतः एक राजा सारे राजकर्म अपने आप नहीं कर सकता। इसलिए उसे अमात्यों की नियुक्ति करने की आवश्यकता होती है। इसीलिए यह भी आवश्यक है, कि मंत्री नियत किये जाएँ, जो परोक्ष और अनुमेय राजकर्मों के सम्बन्ध में राजा को परामर्श देते रहें। राज्य-कार्य सहायता के बिना सिद्ध नहीं हो सकता। एक पहिये से राज्य की गाड़ी नहीं चल सकती, इसलिए राजा सचिवों की नियुक्ति करे, और उनकी सम्मति को सुने। अच्छी बड़ी मंत्रिपरिषद् को रखना राजा के अपने लाभ के लिये है, इससे उसकी अपनी 'मंत्रशक्ति' बढ़ती है। परिषद् में कितने मंत्री हों, इस विषय में विविध आचार्यों के विविध मत थे। मानव, बार्हस्पत्य, औशनस आदि सम्प्रदायों के मत में मंत्रिपरिषद् में क्रमशः बारह, सोलह और बीस मंत्री होने चाहिएँ। पर चाणक्य किसी निश्चित संख्या के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था कि जितनी सामर्थ्य हो, जितनी आवश्यकता हो, उतने ही मंत्री परिषद् में रख लिये जाएँ।

मंत्रिपरिषद् का कार्य सर्वथा गुप्त हो, इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था। चाणक्य के अनुसार इसके लिये ऐसा स्थान चुनना चाहिए, जहाँ पक्षियों तक की भी दृष्टि न पड़े, जहाँ से कोई भी बात बाहर का आदमी न सुन सके। सुनते हैं, कि शुक, सारिका, कुत्ते आदि जीव-जन्तुओं तक से मंत्र का भेद खुल गया। इसलिए मंत्ररक्षा का पूरा प्रबन्ध किये बिना इस कार्य में कभी प्रवृत्त न हो। यदि कोई मंत्र का भेद खोले, तो उसे जान से मार दिया जाय।

अत्यधिक गुप्त बातों पर राजा मंत्रिपरिषद् में सलाह नहीं करते थे। वे एक-एक मंत्री से अलग-अलग परामर्श करते थे, और इस सम्बन्ध में चाणक्य को यह अभिप्रेत था, कि जिस बात पर सलाह लेनी हो, उससे उलटी बात इशारे से पूछी जाय, ताकि किसी मंत्री को यह न मालूम पड़े कि राजा के मन में क्या योजना है, और वह वस्तुतः किस बात पर सलाह लेना चाहते हैं।

बड़ी मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त एक छोटी उप-समिति भी होती थी, जिसमें तीन या चार खास मंत्री रहते थे। इसे 'मंत्रिणः' कहा जाता था। जरूरी मामलों पर इससे सलाह ली जाती थी। राजा प्रायः अपने 'मंत्रिणः' और 'मंत्रिपरिषद्' के परामर्श से ही राज्यकार्य का संचालन करता था। वह भली-भाँति समझता था, कि मंत्रसिद्धि अकेले कभी नहीं हो सकती। जो बात मालूम नहीं है उसे मालूम करना, जो मालूम है उसका निश्चय करना ; जिस बात में दुविधा है उसके संशय को नष्ट करना; और जो बात केवल आंशिक रूप से मालूम है, उसे पूर्णांश में जानना, यह सब मंत्रिपरिपद के मंत्र द्वारा ही हो सकता है। अतः जो लोग बुद्धिवृद्ध हों, उन्हें सचिव या मंत्री बनाकर उनसे सलाह लेनी चाहिए। मंत्रिपरिपद् में जो बात भूयिष्ठ (अधिक संख्या के) कहें, उसी के अनुसार कार्य करना उचित है। पर यदि राजा को भूयिष्ठ की बात 'कार्यसिद्धिकर' प्रतीत न हो, तो उसे उचित है, कि वह उसी सलाह को माने, जो उसकी दृष्टि में कार्यसिद्धिकर हो। यदि कोई मंत्री उपस्थित न हों, तो उनकी सम्मति पत्र द्वारा भी ली जाय। मंत्रिपरिषद् में केवल ऐसे ही व्यक्तियों को नियत किया जाय, जो 'सर्वोपधाशुद्ध'

हों, अर्थात् सब प्रकार से परीक्षा करके जिनके विषय में यह निश्चित हो जाय, कि वे सब प्रकार के दोषों व निर्बलताओं से विरहित हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में राज्यकार्य में परामर्श देने के लिए मन्त्रिपरिषद् की सत्ता थी। अशोक के शिलालेखों में जिसे 'परिषा' कहा है, वही कौटलीय अर्थशास्त्र की मन्त्रिपरिषद् है। पर इस परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति न तो निर्वाचन से होती थी, और न इसके कोई कुलक्रमानुगत सदस्य ही होते थे। परिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति राजा अपनी स्वेच्छा से करता था। जिन अमात्यों व अन्य व्यक्तियों को वह 'सर्वोपधाशुद्ध' पाता था, उनमें से कुछ को आवश्यकतानुसार मंत्रिपरिषद् में नियुक्त कर देता था। प्रायः राजा मन्त्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करता था, पर यदि वह उनके मत को कार्यसिद्धिकर न समझे, तो अपनी इच्छानुसार भी कार्य कर सकता था। मागध-साम्राज्य में केन्द्रीभूत कूटस्थानीय स्थिति राजा की ही थी। देश और प्रजा की उन्नति या अवनति उसी के हाथ में थी, अतः उसके मार्ग में मन्त्रिपरिषद् बाधा नहीं डाल सकती थी। पर यदि राजा कुपथगामी हो जाय, राजा कार्य की सर्वथा उपेक्षा कर ऐसे कार्यों में लग जाय, जिनसे प्रजा का अहित हो, तो प्रकृतियों (मंत्रियों और अमात्यों) को यह अधिकार अवश्य था, कि वे उसके विरुद्ध उठ खड़े हों, और उसे बलात् ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। भारत की यही प्राचीन परम्परा थी। पुराने जनपदों में सभा समिति या पौर जानपद राजा को सन्मार्ग पर स्थिर रखने में सदा प्रयत्नशील रहते थे। मागध-साम्राज्य की मन्त्रिपरिषद् यद्यपि राजा की अपनी कृति थी, तथापि वह प्राचीन परिपाटी के अनुसार राजा को सुपथ पर लाने के कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करती थी। यही कारण है, कि जब अशोक ने बौद्ध-संघ को अनुचित रूप से राज्यकोष से दान देने का विचार किया, तो युवराज सम्प्रति द्वारा अमात्यों ने उसे रुकवा दिया।

जनता का शासन—पर यदि मागध साम्राज्य के शासन में 'कूटस्थानीय' राजा का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था, और उसकी मंत्रिपरिषद् उसकी अपनी नियत की हुई सभा होती थी, तो क्या मागध-राजाओं का शासन सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी था? क्या उस समय की जनता शासन में जरा भी हाथ नहीं रखती थी? यह ठीक है, कि अपने बाहुबल और सैन्यशक्ति से विशाल साम्राज्य का निर्माण करने वाले मागध सम्राटों पर अंकुश रखने वाली कोई अन्य सर्वोच्च सत्ता नहीं थी, और ये राजा ठीक प्रकार से प्रजा का पालन करें, इस बात की प्रेरणा देने वाली शक्ति उनकी अपनी योग्यता, अपनी महानुभावता और अपनी सर्वगुणसम्पन्नता के अतिरिक्त और कोई नहीं थी, पर मौर्यकाल में देश के शासन में जनता का बहुत बड़ा हाथ था। मागध-साम्राज्य ने जिन विविध जनपदों को अपने अधीन किया था, उनके व्यवहार, धर्म और चरित्र अभी अक्षुण्ण थे। वे अपना शासन बहुत कुछ स्वयं ही करते थे। उस युग के शिल्पी और व्यवसायी जिन श्रेणियों में संगठित थे, वे भी अपना शासन स्वयं ही करती थीं। नगरों की पौर सभाएँ, व्यापारियों के पूग और निगम, तथा ग्रामों की ग्रामसभाएँ अपने आंतरिक मामलों में अब भी पूर्ण स्वतन्त्र थीं। राजा लोग देश के प्राचीन परम्परागत धर्म का पालन कराते थे, और अपने 'व्यवहार' का निश्चय उन्हीं के अनुसार करते थे। यह धर्म और व्यवहार सनातन थे, राजा की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं थे।

इन्हीं सबका परिणाम था, कि पाटलिपुत्र में विजिगीषु राजर्षि राजाओं के रहते हुए भी जनता अपना शासन अपने आप करती थी। इन सब बातों पर जरा अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

मगध के साम्राज्यवाद ने धीरे-धीरे भारत के सभी पुराने जनपदों को अपने अधीन कर लिया था। पर इन जनपदों की पहले अपनी सभाएँ होती थीं, जिन्हें पौर-जानपद कहते थे। जनपद की राजधानी या पुर की सभा को 'पौर' और शेष प्रदेश की सभा को जानपद कहा जाता था। प्रत्येक जनपद के अपने धर्म, व्यवहार और चरित्र भी होते थे। मगध के सम्राटों ने इन विविध जनपदों को जीतकर इनकी आंतरिक स्वतन्त्रता को कायम रखा। कौटलीय अर्थशास्त्र में एक प्रकरण है, जिसका शीर्षक 'लब्धप्रशमनम्' है। इसमें यह वर्णन किया गया है, कि नये जीते हुए प्रदेश के प्रति क्या व्यवहार किया जाय, और उसमें किस प्रकार शान्ति स्थापित की जाय। इसके अनुसार नये जीते हुए प्रदेश में राजा को चाहिए, कि अपने को जनता का प्रिय बनाने का प्रयत्न करे। जनता के विरुद्ध आचरण करने वाले का विश्वास नहीं जम सकता, अतः राजा उनके समान ही अपना शील, वेश, भाषा और आचार बना ले। देश के देवताओं, समाजों, उत्सवों और विहारों का आदर करे। उनके धर्म, व्यवहार आदि का उल्लंघन न करे।

पर सब जनपदों के प्रति एक-सा बरताव नहीं किया जाता था। पुराने गणराज्य मगध के साम्राज्य-विस्तार के मार्ग में रुकावट थे। आचार्य चाणक्य की इनके सम्बन्ध में नीति यह थी, कि इन सबको दमन करके 'एकराज' की स्थापना की जाय। संघों या गणराज्यों को वश में करने के लिए चाणक्य ने साम, दाम, दंड, भेद—सब प्रकार के उपायों का बड़े विस्तार से वर्णन किया है। इन उपायों में से बहुत से ऐसे भी हैं, जिन्हें नैतिक दृष्टि से शायद उचित न समझा जाय। शराब, द्यूत, फूट आदि सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करके संघराज्यों का सर्वथा अन्त कर दिया जाय, यही चाणक्य को अभिप्रेत था। पुराने वज्जि, शाक्य आदि गणों ने मगध के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद के मार्ग में जिस प्रकार रुकावटें उपस्थित की थीं, उसी को दृष्टि में रखते हुए चाणक्य को गण-राज्यों की सत्ता बिलकुल भी पसन्द नहीं थी और उसने उनके सम्बन्ध में 'एकराज' नीति का उपदेश किया था। पर इस प्रकार के उपायों से संघों को नष्ट करने के बाद भी उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र का आदर किया जाता था, और उनमें अपने पृथक् होने की अनुभूति विद्यमान रहती थी। इसी कारण मगध के साम्राज्यवादी सम्राट् गणों या संघों का कभी पूर्णतया विनाश नहीं कर सके, और उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये गणराज्य फिर से स्वतन्त्र हो गये।

जनपदों का शासन करने के लिये सम्राट् की ओर से समाहर्त्ता नामक राज-पुरुष की नियुक्ति की जाती थी। पर यह जनपद के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करता था। स्वशासन की दृष्टि से सब जनपदों की स्थिति एक समान नहीं थी। मौर्यों से पहले भी अवन्ति, कोशल, वत्स आदि के राजाओं ने बहुत-से जनपदों को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। शैशुनाग, नन्द आदि मागध-राजा भी अपने साम्राज्य का विस्तार करने में सफल हुए थे। इनमें से अनेक राजा 'अधार्मिक' भी थे, और उन्होंने प्राचीन आर्य-मर्यादा के विपरीत अपने जीते हुए अनेक जनपदों की आंतरिक स्वतन्त्रता का

भी विनाश किया था। जो जनपद देर से मागध-साम्राज्य के अधीन थे, उनकी अपेक्षा नये जीते हुए जनपदों का पृथक् व्यक्तित्व अधिक सुरक्षित था।

नगरों का शासन—मौर्यकाल के नगरों मे स्थानीय स्वशासन की क्या दशा थी, इसका सबसे अच्छा परिचय मैगस्थनीज के यात्रा-विवरण से मिलता है। मैगस्थनीज ने पाटलिपुत्र के नगरशासन का विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसके अनुसार पाटलिपुत्र की नगर-सभा छः उपसमितियों में विभक्त थी। प्रत्येक उपसमिति के पाँच-पाँच सदस्य होते थे। इन उपसमितियों के कार्य निम्नलिखित थे :—

पहली उपसमिति का कार्य औद्योगिक तथा शिल्प-सम्बन्धी कार्यों का निरीक्षण करना था। मजदूरी की दर निश्चित करना तथा इस बात पर विशेष ध्यान देना कि शिल्पी लोग शुद्ध तथा पक्का माल काम में लाते है, और मजदूरों के कार्य का समय तय करना इसी उपसमिति का कार्य था। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में शिल्पी लोगों का समाज में बड़ा आदर था। प्रत्येक शिल्पी राष्ट्र की सेवा में नियुक्त माना जाता था। यही कारण है, कि यदि कोई मनुष्य किसी शिल्पी के ऐसे अंग को विकल कर दे, जिससे कि उसके हस्तकौशल में न्यूनता आ जाए, तो उसके लिये मृत्युदंड की व्यवस्था थी।

दूसरी उपसमिति का कार्य विदेशियों का सत्कार करना था। इस समय जो काम विदेशों के दूतमंडल करते हैं, उनमें से अनेक कार्य यह समिति किया करती थी। जो विदेशी पाटलिपुत्र मे आएँ, उनपर यह उपसमिति निगाह रखती थी। साथ ही, विदेशियों के निवास, सुरक्षा और समय-समय पर औषधोपचार का कार्य भी इस उपसमिति के ही सुपुर्द था। यदि किसी विदेशी की पाटलिपुत्र में मृत्यु हो जाय, तो उसके देश के रिवाज के अनुसार उसे दफनाने का प्रबन्ध भी इसी की तरफ से होता था। मृत परदेशी की जायदाद व सम्पत्ति का प्रबन्ध भी यही उपसमिति करती थी।

तीसरी उपसमिति का काम मर्दुमशुमारी करना होता था। मृत्यु और जन्म की सूची रखना इसी उपसमिति का कार्य था। कर लगाने के लिए यह सूची बड़ी उपयोगी होती थी।

चौथी उपसमिति क्रय-विक्रय के नियमों का निर्धारण करती थी। भार और माप के परिमाणों को निश्चित करना, व्यापारी लोग उनका शुद्धता के साथ और सही-सही उपयोग करते हैं, इसका निरीक्षण करना इस उपसमिति का कार्य था। व्यापारी लोग जब किसी खास वस्तु को बेचने की अनुमति प्राप्त करना चाहते थे, तो इसी उपसमिति के पास आवेदन-पत्र भेजते थे। ऐसी अनुमति देते समय यह उपसमिति अतिरिक्त-कर भी वसूल करती थी।

पाँचवीं उपसमिति व्यापारियों पर इस बात के लिए कड़ा निरीक्षण रखती थी, कि वे लोग नई और पुरानी वस्तुओं को मिलाकर तो नहीं बेचते। नई और पुरानी चीजों को मिलाकर बेचना कानून के विरुद्ध था। इसको भंग करने पर सजा दी जाती थी। यह कानून इसलिए बनाया गया था, क्योंकि पुरानी वस्तुओं का बाजार में बेचना कुछ विशेष अवस्थाओं को छोड़कर सर्वथा निषिद्ध था।

छठी उपसमिति का कार्य क्रय-विक्रय पर टैक्स वसूल करना होता था। उस समय में यह नियम था, कि कोई वस्तु जिस कीमत पर बेची जाय, उसका दसवाँ

भाग कर-रूप में नगरसभा को दिया जाय। इस कर को न देने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

इस प्रकार छः उपसमितियों के पृथक्-पृथक् कार्यों का उल्लेख कर मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "ये कार्य हैं, जो उपसमितियाँ पृथक् रूप से करती हैं। पर सामूहिक रूप में जहाँ उपसमितियों को अपने-अपने विशेष कार्यों को सम्पन्न करना होता है, वहाँ वे सब मिलकर सार्वजनिक या सर्वसामान्य हित के कार्यों पर भी ध्यान देती हैं, यथा सार्वजनिक इमारतों को सुरक्षित रखना, उनकी मरम्मत करना, कीमतों को नियंत्रित करना, बाजार, बंदरगाह और मन्दिरों पर ध्यान देना।"

मैगस्थनीज के इस विवरण से स्पष्ट है, कि मौर्य चन्द्रगुप्त के शासन में पाटलिपुत्र का शासन तीस नागरिकों की एक सभा के हाथ में था। संभवतः, यही प्राचीन पौरसभा थी। इस प्रकार की पौरसभाएँ तक्षशिला, उज्जयिनी आदि अन्य नगरियों में भी विद्यमान थीं। जब उत्तरापथ के विद्रोह को शान्त करने के लिये कुमार कुणाल तक्षशिला गया था, तो वहाँ के 'पौर' ने उसका स्वागत किया था। अशोक के शिलालेखों में भी ऐसे निर्देश विद्यमान हैं, जिनसे सूचित होता है कि उस समय के बड़े नगरों में पौरसभाओं की सत्ता थी। जिस प्रकार मागध-साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जनपदों में अपने परम्परागत धर्म, व्यवहार और चरित्र विद्यमान थे, उसी प्रकार पुरों व नगरों में भी थे। यही कारण है, कि नगरों के निवासी अपने नगर के शासन में पर्याप्त अधिकार रखते थे।

ग्रामों का शासन—जनपदों में बहुत-से ग्राम सम्मिलित होते थे, और प्रत्येक ग्राम शासन की दृष्टि से अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखता था। कौटलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से इन ग्राम-संस्थाओं के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। प्रत्येक ग्राम का अपना पृथक् शासक होता था, जिसे ग्रामिक कहते थे। ग्रामिक ग्राम के अन्य निवासियों के साथ मिलकर अपराधियों को दंड देता था, और किसी व्यक्ति को ग्राम से बहिष्कृत भी कर सकता था। ग्राम की अपनी सार्वजनिक निधि भी होती थी। जो जुर्माने ग्रामिक द्वारा वसूल किये जाते थे, वे इसी निधि में जमा होते थे। ग्राम की ओर से सार्वजनिक हित के कार्यों की व्यवस्था भी की जाती थी। लोगों के मनोरंजन के लिए विविध तमाशों (प्रेक्षाओं) की व्यवस्था की जाती थी, जिसमें सब ग्रामवासियों को हिस्सा बटाना होता था। जो लोग अपने सार्वजनिक कर्त्तव्य की उपेक्षा करते थे, उनपर जुर्माना किया जाता था। इससे सूचित होता है, कि ग्राम का अपना एक पृथक् संगठन भी उस युग में विद्यमान था। यह ग्रामसंस्था न्याय का भी कार्य करती थी। ग्रामसभाओं द्वारा बनाये गए नियम साम्राज्य के न्यायालयों में मान्य होते थे। 'अक्षपटल के अध्यक्ष' के कार्यों में एक यह भी था, कि वह ग्राम-संघों के धर्म, व्यवहार, चरित्र आदि को निबन्धपुस्तकस्थ (रजिस्टर्ड) करे।

भारत की इन्हीं ग्राम-संस्थाओं के कारण यहाँ के निवासियों की वास्तविक स्वतन्त्रता सदा सुरक्षित रही है। इस देश की सर्वसाधारण जनता का बड़ा भाग सदा से ग्रामों में बसता आया है। ग्राम के निवासी अपने सुख व हित की अपने संघ में स्वयं व्यवस्था करते थे। अपने लिए वे स्वयं नियम बनाते थे, और अपने मनोरंजन का भी स्वयं ही प्रबन्ध करते थे। इस दशा में साम्राज्य के अधिपति की निरंकुशता या एकसत्ता का उनपर

विशेष असर नहीं होता था।

व्यवसायियों की श्रेणियां—मौर्यकाल के व्यवसायी और शिल्पी श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे। ये श्रेणियाँ अपने नियम स्वयं बनाती थीं, और अपने संघ में सम्मिलित शिल्पियों के जीवन व कार्य पर पूरा नियन्त्रण रखती थीं। इनके नियम, व्यवहार और चरित्र आदि को भी राजा द्वारा स्वीकृत किया जाता था।

धर्म और व्यवहार—मौर्य-सम्राट् अपने साम्राज्य पर स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता से शासन न कर धर्म और व्यवहार के अनुसार शासन करते थे। चाणक्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है, कि जो राजा धर्म, व्यवहार, संस्था और न्याय के अनुसार शासन करता है, वह चातुरन्त पृथिवी को विजय कर लेता है। चाणक्य के विजिगीषु राजा के लिये यह आवश्यक है, कि वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी न हो, अपितु धर्म, व्यवहार आदि के अनुसार ही शासन करे। अर्थशास्त्र में यह विचार विद्यमान है, कि राजा जनता से जो छठा भाग कर के रूप में लेता है, वह उसका एक प्रकार का वेतन है। इसके बदले में वह प्रजा के योग-क्षेम का संपादन करता है। राजा को धर्म और न्याय के अनुसार शासन करना है, यह विचार प्राचीन समय में इतना प्रबल था, कि आचार्य चाणक्य ने यह व्यवस्था की है कि यदि राजा किसी निरपराधी को दण्ड दे, तो राजा को उससे तीन गुना दण्ड दिया जाय। इस प्रकार स्पष्ट है, कि मौर्यकाल का राजा देश के कानून के अनुसार चलता था, और उसका शासन स्वेच्छाचारी न होकर मर्यादित होता था।

जिस कानून के अनुसार राजा शासन करता था, उसके चार अंग होते थे—धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन। इनमें से पिछला पहले का बाधक माना जाता था। यदि व्यवहार और चरित्र का राजशासन (राजा की आज्ञा) से विरोध हो, तो राजाज्ञा व्यवहार या चरित्र से अधिक महत्त्व की होगी। धर्म वे कानून थे, जो सत्य पर आश्रित शाश्वत नियम हैं। व्यवहार का निश्चय साक्षियों द्वारा किया जाता था। जो कानून पुराने समय से चले आते थे, उन्हें व्यवहार कहते थे। कौन-से नियम पुराने समय से चले आते हैं, इसका निर्णय साक्षियों द्वारा ही हो सकता था। चरित्र वे कानून थे, जो ग्राम, श्रेणी आदि विविध समूहों में प्रचलित थे। इन सब से ऊपर राजा की आज्ञा थी। पर मौर्य-काल के कानून में धर्म, व्यवहार और चरित्र की सुनिश्चित स्थिति का होना इस बात का प्रमाण है, कि राजा लोग शासन में उन्हें पर्याप्त महत्त्व देते थे, और जनता की इच्छा और चरित्र की वे सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

मगध के एकराट् राजाओं की अपार शक्ति के बावजूद जनता की स्वतन्त्रता इन विविध कारणों से सुरक्षित थी, और मौर्य-युग के भारतीय अनेक प्रकार से अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले विषयों का स्वयं शासन व निर्धारण करते थे।

न्याय-व्यवस्था—विशाल मागध-साम्राज्य में न्याय के लिए अनेकविध न्याया-लय थे। सबसे छोटा न्यायालय ग्राम-संस्था (ग्रामसंघ) का होता था, जिसमें ग्राम के निवासी अपने मामलों का स्वयं निबटारा करते थे। इसके ऊपर संग्रहण के, फिर द्रोणमुख के और फिर जनपद-संधि के न्यायालय होते थे। इनके ऊपर पाटलिपुत्र में विद्यमान धर्मस्थीय और कंटकशोधन न्यायालय थे। सबसे ऊपर राजा होता था,

जो अनेक न्यायाधीशों की सहायता से किसी भी मामले का अन्तिम निर्णय करने का अधिकार रखता था। ग्राम-सघ और राजा के न्यायालय के अतिरिक्त बीच के सब न्यायालय धर्मस्थीय और कंटकशोधन, इन दो भागों में विभक्त रहते थे। धर्मस्थीय न्यायालयों के न्यायाधीश धर्मस्थ या व्यावहारिक कहलाते थे, और कंटकशोधन के प्रदेष्टा।

धर्मस्थीय—इन दोनों प्रकार के न्यायालयों में किन-किन बातों के मामलों का फैसला होता था, इसकी विस्तृत सूची कौटलीय अर्थशास्त्र में दी गई है। धर्मस्थीय में प्रधानतया निम्नलिखित मामले पेश होते थे—दो व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहों के आपस के व्यवहार के मामले; आपस में जो 'समय' (कंट्रैक्ट) हुआ हो उसके मामले; स्वामी और भृत्य के झगड़े; दासों के झगड़े, ऋण को चुकाने के मामले; धन को अमानत पर रखने से पैदा हुए झगड़े; क्रय-विक्रय सम्बन्धी मामल; दिये हुए दान को फिर लौटाने या प्रतिज्ञात दान को न देने का मामला; डाका, चोरी या लूट के मुकदमे; किसी पर हमला करने का मामला; गाली, कुवचन या मानहानि के मामले; जुए सम्बन्धी झगड़े; मिल्कियत के बिना ही किसी सम्पत्ति को बेच देना; मिल्कियत सम्बन्धी विवाद; सीमा सम्बन्धी झगड़े; इमारतों के बनाने के कारण उत्पन्न मामले; चरागाहों, खेतों, और मार्गों को क्षति पहुंचाने के मामले; पति-पत्नी सम्बन्धी मुकदमे; स्त्री-धन सम्बन्धी विवाद; संपत्ति के बँटवारे और उत्तराधिकार-सम्बन्धी झगड़े; सहोद्योग, कम्पनी तथा साझे के मामले; विविध रुकावटें पैदा करने के मामले; न्यायालय में स्वीकृत निर्णयविधि में रुकावट पैदा करने के मामले; न्यायालय में स्वीकृत निर्णयविधि-सम्बन्धी विवाद और विविध मामले।

कण्टकशोधन न्यायालय—कण्टकशोधन न्यायालयों में निम्नलिखित मामले पेश होते थे—शिल्पियों व कारीगरों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा, व्यापारियों की रक्षा तथा उनसे दूसरों की रक्षा, राष्ट्रीय व सार्वजिक आपत्तियों के निराकरण-सम्बन्धी मामले; नियम-विरुद्ध उपायों से आजीविका चलाने वाले लोगों की गिरफ्तारी; अपने गुप्तचरों द्वारा अपराधियों को पकड़ना; सन्देह होने पर या वस्तुतः अपराध करने पर गिरफ्तारी; मृतदेह की परीक्षा कर मृत्यु के कारण का पता लगाना; अपराध का पता करने के लिए विविध भाँति के प्रश्नों तथा शारीरिक कष्टों का प्रयोग; सरकार के सम्पूर्ण विभागों की रक्षा, अंग काटने की सजा मिलने पर उसके बदले में जुर्माना देने के आवेदन-पत्र; शारीरिक कष्ट के साथ या उसके बिना मृत्यु दण्ड देने का निर्णय, कन्या पर बलात्कार, और न्याय का उल्लंघन करने पर दण्ड देना।

ऊपर की सूचियों से स्पष्ट है, कि धर्मस्थीय न्यायालयों में व्यक्तियों के आपस के मुकदमे पेश होते थे। इसके विपरीत कण्टकशोधन न्यायालयों में वे मुकदमे उपस्थित किये जाते थे, जिनका सम्बन्ध राज्य से होता था। कण्टकशोधन का अभिप्राय ही यह है, कि राज्य के कण्टकों (काँटों) को दूर करना।

न्यायालय में मुकदमे किस प्रकार किये जाते थे, इस विषय पर भी अर्थशास्त्र में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। जब निर्णय के लिए कोई मुकदमा पेश होता था, तो निम्नलिखित बातें दर्ज की जाती थीं—(१) ठीक तारीख, (२) अपराध का स्वरूप। (३) घटनास्थल। (४) यदि ऋण का मुकदमा है, तो ऋण की मात्रा।

(५) वादी और प्रतिवादी दोनों का देश, ग्राम, जाति, गोत्र, नाम और पेशा। (६) दोनों पक्षों की युक्तियों तथा प्रतियुक्तियों का पूरा-पूरा विवरण। इस सम्बन्ध में साक्षी, जिरह आदि सब बातों का चाणक्य ने विस्तार से उल्लेख किया है।

राजकीय आय-व्यय—कौटलीय अर्थशास्त्र में राजकीय आय के निम्नलिखित साधनों का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसके अनुसार राजकीय आय के मुख्य साधन निम्नलिखित थे :—

१. **भूमिकर**—जमीन से राज्य को आमदनी दो प्रकार से होती थी, सीता और भाग। राज्य की अपनी जमीनों से जो आमदनी होती थी, उसे सीता कहते थे। जो जमीनें राज्य की अपनी सम्पत्ति नहीं थीं, उनसे 'भाग' वसूल किया जाता था। जो किसान सर्वथा स्वतन्त्रता से खेती करते थे, जो सिंचाई का प्रबन्ध भी अपने आप करते थे, उनसे जमीन के उत्तम या निकृष्ट होने के अनुसार कुल उपज का १/३ या १/५ भाग भूमि-कर के रूप में लिया जाता था। जो किसान सिंचाई के लिए सरकार से जल लेते थे, उनसे भूमिकर की दर और थी। जिन जमीनों की सिंचाई कूप आदि से हाथ द्वारा पानी खींच कर होती थी, उनसे उपज का १/५ भाग लिया जाता था। जिसको चरस, रहट आदि द्वारा पानी खींचकर सींचने के लिए दिया जाता था, उनसे उपज का १/३ भाग लिया जाता था। जहाँ सिंचाई पम्प, वातयंत्र आदि द्वारा होती थी, उनसे भी १/३ भाग लेने का नियम था। नदी या नहर से सिंचाई होने की दशा में भूमिकर की मात्रा उपज के चौथाई भाग के बराबर होती थी।

यदि कोई किसान तालाब या पक्के मकान को नये सिरे से बनाये, तो उसे पाँच साल के लिए भूमिकर से मुक्त कर दिया जाता था। टूटे-फूटे तालाब या मकान का सुधार करने पर चार वर्ष तक और बने हुए को बढ़ाने पर तीन साल तक भूमिकर नहीं लिया जाता था।

२. **तटकर**—मौर्यकाल में तटकर दो प्रकार के होते थे, निष्क्राम्य (निर्यात-कर) और प्रवेश्य (आयात-कर)। आयात माल पर कर की मात्रा प्रायः २० फीसदी थी। सन के कपड़े, मलमल, रेशम, लोहा, पारा, आदि अनेक पदार्थों पर कर की दर १० फीसदी थी। कुछ पदार्थों पर कर की मात्रा ५, ६ १/३, ७ १/२ और १६ १/३ फीसदी भी होती थी, पर साधारण नियम २० फीसदी का ही था। कुछ देशों के साथ आयात-कर के सम्बन्ध में रियायत भी की जाती थी। इसे 'देशोपकार' कहते थे। चाणक्य ने लिखा है—'देश और जाति के चरित्र के अनुसार नये और पुराने माल पर कर स्थापित करे'। जिन व्यवसायों पर राज्य का एकाधिकार था, उनके माल के बाहर से आने पर अतिरिक्त कर (वैधरण) भी लिया जाता था। उदाहरण के लिए यदि नमक को विदेश से मंगाना हो, तो १६ १/३ फीसदी आयात कर लिया जाता था, और उसके अतिरिक्त उतना वैधरण (हरजाना या अतिरिक्त-कर) भी वसूल किया जाता था, जितना कि विदेशी नमक के आने से नमक के राजकीय व्यवसाय को हानि पहुँची हो। इसी तरह तेल, शराब आदि राज्याधिकृत वस्तुओं के आयात पर भी हरजाना लिया जाता था। इस आयात-कर का उद्देश्य राजकीय आमदनी को बढ़ाना ही था। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में आचार्य चाणक्य की नीति यह थी—'विदेशी माल को अनुग्रह से स्वदेश में

प्रवेश कराया जाय। इसके लिये नाविकों तथा विदेशी माल के व्यापारियों से लाभ के ऊपर लिया जाने वाला कर माफ कर दिया जाय।'

निर्यात माल पर भी कर लिया जाता था, यह तो कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होता है। पर इस कर की दर क्या थी, इस सम्बन्ध में कोई सूचना चाणक्य ने नहीं दी। अपने माल को अन्य देशों में भेजने के सम्बन्ध में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित वाक्य महत्त्व के हैं—'जल-मार्ग से विदेश में माल को बाहर भेजने से पहले मार्गव्यय, भोजनव्यय, विनिमय में आने वाले विदेशी माल की कीमत तथा परिमाण, यात्रा काल, भयप्रतिकार के उपाय में हुआ व्यय, बन्दरगाहों के रिवाज, नियम आदि का पता लगाए। भिन्न-भिन्न देशों के नियमों को जानकर जिन देशों में माल भेजने से लाभ समझे, वहाँ माल भेजा जाए। जहाँ हानि की संभावना हो, वहाँ से दूर रहे।' इसी प्रकार परदेश में व्यापार के लिये पण्य एवं प्रतिपण्य (निर्यात माल और उसके बदले में आने वाला माल) के मूल्य से चुंगी, सड़क-कर, गाड़ी का खर्च, दुर्ग का कर, नौका के भाड़े का खर्च आदि घटाकर शुद्ध लाभ का अनुमान करे। यदि इस ढंग से लाभ न मालूम पड़े, तो यह देखे कि अपने देश की चीज के बदले में कोई ऐसी वस्तु विदेश से मँगायी जा सकती है या नहीं, जिसमें लाभ रहे। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य चाणक्य विदेशी व्यापार को उत्तम मानते थे, और उसकी वृद्धि से देश का लाभ समझते थे।

३. **बिक्री पर कर**—मौर्यकाल में बिक्री पर चुंगी लेने की व्यवस्था थी। चाणक्य ने लिखा है, कि उत्पत्तिस्थान पर कोई भी पदार्थ बेचा नहीं जा सकता। कोई भी वस्तु विक्रय-कर से न बच सके, इसलिए यह नियम बनाया गया था। जो इस नियम का उल्लंघन करते थे, उनपर भारी जुरमाना किया जाता था। इन जुरमानों की मात्रा बहुत अधिक होती थी। खानों से खनिज पदार्थ खरीदने पर ६०० पण, और खेत से अनाज मोल लेने पर ५३ पण जुरमाने की व्यवस्था थी। सब माल पहले शुल्काध्यक्ष के पास लाया जाता था। कर दे देने के बाद उस पर 'अभिज्ञानमुद्रा' लगायी जाती थी। उसके बाद ही माल की बिक्री हो सकती थी, पहले नहीं।

विक्रय-कर की मात्रा के सम्बन्ध में यह विवरण उद्धृत करने योग्य है—'नाप कर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ६$\frac{1}{4}$ फीसदी, तोल कर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ५ फीसदी और गिन कर बेचे जाने वाले पदार्थों पर ९$\frac{1}{11}$ प्रतिशत शुल्क लिया जाए।'

४. **प्रत्यक्ष कर**—मौर्य युग में जो विविध प्रत्यक्ष-कर लगाये जाते थे, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

(क) तोल और नाप के परिमाणों पर—इनपर चार माषक कर लिया जाता था। प्रामाणिक बट्टों या माप के साधनों को काम में न लाने पर दण्ड के रूप २७$\frac{1}{4}$ पण जुरमाना लिया जाता था।

(ख) जुआरियों पर—जुआ खेलने की अनुमति लेने पर कर देना पड़ता था, और जो धन जुए में जीता जाए, उसका ५ फीसदी राज्य ले लेता था।

(ग) रूप से आजीविका चलाने वाली वेश्याओं से दैनिक आमदनी का दुगना प्रतिमास कर रूप में लिया जाता था। इसी प्रकार के कर नटों, नाटक करने वालों, रस्सी पर नाचने वालों, गायकों, वादकों, नर्तकों व अन्य तमाशा करने वालों से भी वसूल

करने का नियम था, पर यदि ये लोग विदेशी हों, तो इनसे पाँच पण अतिरिक्त-कर भी लिया जाता था।

(घ) धोबी, सुनार व इसी तरह के अन्य शिल्पियों पर अनेक कर लगाये जाते थे। इन्हें अपना व्यवसाय चलाने के लिए एक प्रकार का लाइसेंस लेना होता था।

५. राज्य द्वारा अधिकृत व्यवसायों से आय—राज्य का जिन व्यवसायों पर पूरा आधिपत्य था, उनमें खानें, जंगल, नमक की उत्पत्ति और अस्त्र-शस्त्र का कारोबार मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त शराब का निर्माण भी राज्य के ही अधीन था। इन सबसे राज्य को अच्छी आमदनी होती थी। अनेक व्यापारों पर भी राज्य का स्वत्व उस युग में होता था। राज्य की ओर से जो पदार्थ बिक्री के लिए तैयार होते थे, उनकी बिक्री भी वह स्वयं करता था।

६. जुरमानों से आय—मौर्यकाल में अनेक अपराधों के लिए दण्ड के रूप में जुरमाना लिया जाता था। इनका बड़े विस्तार से वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र से उपलब्ध होता है।

७. विविध—मुद्रापद्धति पूर्णतया राज्य के हाथ में होती थी। रूप्य, पण आदि सिक्के टकसाल में बनते थे। जो व्यक्ति चाहे अपनी धातु ले जाकर टकसाल में सिक्के ढलवा सकता था। पर इसके लिए १३½ फीसदी प्रीमियम देना पड़ता था। जो कोई सरकारी टकसाल में नियमानुसार सिक्के न बनवाकर स्वयं बनाता था, उसपर २५ पण जुरमाना किया जाता था। गरीब और अशक्त व्यक्तियों के गुजारे का प्रबन्ध राज्य करता था। पर इस तरह के लोगों से सूत कातने, कपड़ा बुनने, रस्सी बटने आदि के काम भी लिये जाते थे। राज्य को इनसे भी कुछ आमदनी हो जाती थी।

इन सब के अतिरिक्त आपत्काल में सम्पत्ति पर अन्य भी अनेक प्रकार के कर लगाये जाते थे। अर्थशास्त्र में इनका विस्तार से वर्णन किया गया है। सोना-चाँदी, मणि-मुक्ता का व्यापार करने वाले धनी लोगों से ऐसे अवसरों पर उनकी आमदनी का ६० फीसदी कर में ले लिया जाता था। अन्य प्रकार के व्यापारियों व व्यवसायियों से भी ऐसे अवसरों पर विशेष कर की व्यवस्था थी, जिसकी मात्रा ५० फीसदी से ५ फीसदी तक होती थी। मन्दिरों और धार्मिक संस्थाओं से भी ऐसे अवसरों पर उपहार और दान लिये जाते थे। जनता से अनुरोध किया जाता था, कि ऐसे अवसर पर उदारता के साथ राज्य को धन प्रदान करें। इसके लिए दानियों का अनेक प्रकार से सम्मान भी किया जाता था।

राजकीय-व्यय—राज्य को विविध करों से जो आमदनी होती थी, उनके व्यय के सम्बन्ध में भी बहुत-सी उपयोगी बातें कौटलीय अर्थशास्त्र से ज्ञात होती हैं। यहां इनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी है।

१. राजकर्मचारियों के वेतन—अर्थशास्त्र में विविध राज-कर्मचारियों के वेतनों की दरें दी गई हैं। इनमें मंत्री, पुरोहित, सेनापति जैसे बड़े पदाधिकारियों का वेतन ४००० पण मासिक दिया गया है। प्रशास्ता, समाहर्ता और अन्तर्वंशिक सदृश कर्मचारियों को २००० पण मासिक; नायक, व्यावहारिक, अन्तपाल आदि को १००० पण मासिक; श्रेणीमुख्य, रथमुख्य आदि को ६६० पण मासिक; विविध अध्यक्षों को

३३० पण मासिक; पदाति सैनिक, लेखक, संख्यापक आदि को ४२ पण मासिक और अन्य छोटे-छोटे कर्मचारियों को ५ पण मासिक वेतन मिलता था। यदि किसी राजसेवक की राजसेवा करते हुए मृत्यु हो जाती थी, तो उसके पुत्र और स्त्री को कुछ वेतन मिलता रहता था। साथ ही, उसके बालक, वृद्ध तथा व्याधिपीड़ित सम्बन्धियों के प्रति अनेक प्रकार के अनुग्रह भी प्रदर्शित किये जाते थे।

२. सैनिक व्यय—सेना के विविध सिपाहियों व आफिसरों को किस दर से वेतन मिलता था, इसका भी पूरा विवरण अर्थशास्त्र में दिया गया है। मैगस्थनीज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में ६ लाख पदाति, तीस हजार अश्वारोही, ९००० हाथी और ८००० रथ थे। यदि अर्थशास्त्र में लिखे दर से इन्हें वेतन दिया जाता हो, तो केवल वेतनों में ही ३६$\frac{3}{5}$ करोड़ पण प्रतिवर्ष खर्च हो जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि मागध-साम्राज्य में सैनिक व्यय की मात्रा बहुत अधिक थी।

३. शिक्षा—मौर्यकाल में जो व्यय राज्य की ओर से शिक्षा के लिए किया जाता था, उसे देवपूजा कहते थे। अर्थशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है, कि अनेक शिक्षणालयों का संचालन राज्य की ओर से भी होता था, और इनके शिक्षकों को राजा की ओर से वेतन मिलता था। इसे भृति या वृत्ति न कहकर 'पूजावेतन' (आनरेरयिम) कहते थे।

४. दान—बालक, वृद्ध, व्याधिपीड़ित, आपत्तिग्रस्त और इसी तरह के अन्य व्यक्तियों का भरण-पोषण राज्य की ओर से होता था। इस खर्च को दान कहते थे।

५. सहायता—सरकार की ओर से अनेकविध लोगों की सहायता भी की जाती थी। मैगस्थनीज के अनुसार शिल्पी लोगों को राज्य कोष से अनेक प्रकार से सहायता दी जाती थी। इसी तरह, कृषकों को भी विशेष दशाओं में राज्य की ओर से सहायता प्राप्त होती थी। उन्हें समय-समय पर न केवल करों से मुक्त किया जाता था, अपितु राज्यकोष से धन भी दिया जाता था।

६. सार्वजनिक आमोद-प्रमोद—इस विभाग में वे पुण्यस्थान, उद्यान, चिड़िया-घर आदि अन्तर्गत हैं, जिनका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था। राज्य की ओर से पशु, पक्षी आदि जन्तुओं के बहुत-से 'वाट' बनाये जाते थे, जिनका प्रयोजन जनता का मनोरंजन था।

७. सार्वजनिक हित के कार्य—मौर्यकाल में जनता की स्वास्थ्यरक्षा, चिकित्सालय आदि का राज्य की ओर से प्रबन्ध किया जाता था। दुर्भिक्ष, आग, महामारी आदि आपत्तियों से भी जनता की रक्षा की जाती थी। जहाँ जल की कमी हो, वहाँ कूप, तड़ाग आदि बनवाने का विशेष ध्यान रखा जाता था।

इन सब में राज्य को बहुत खर्च करना पड़ता था और आमदनी का पर्याप्त अंश इन कार्यों में व्यय हो जाता था।

८. राजा का वैयक्तिक खर्च—मौर्यकाल में राजा का वैयक्तिक खर्च भी कम नहीं था। अन्तःपुर बहुत शानदार और विशाल बनाये जाते थे। सैकड़ों दौवारिक और हजारों आंतर्वंशिक सैनिक हमेशा राजमहल में विद्यमान रहते थे। राजा बहुत शान के साथ रहता था। उसके निजी ठाट-बाट में भी बहुत अधिक व्यय होता था।

केवल महानस (रसोई) का खर्च इतना अधिक था, कि चाणक्य ने व्यय के विभागों में इसका पृथक् रूप से उल्लेख किया है। राजप्रासाद की अपनी सूना (बूचड़खाना) पृथक् होती थी। राजमहल और अन्त:पुर के निवासी स्त्री-पुरुषों की संख्या हजारों में पहुँचती थी।

राजा के परिवार के विविध व्यक्तियों को राजकोष से बाकायदा वेतन दिया जाता था। इसकी दर भी बहुत अधिक होती थी। युवराज, राजमाता और राजमहिषी को चार-चार हजार पण मासिक और कुमारमाता को एक हजार पण मासिक वेतन मिलता था। यह उनकी अपनी निजी आमदनी थी, जिसे वे स्वेच्छा से खर्च कर सकते थे।

मर्दमशुमारी—मौर्ययुग में मनुष्य गणना प्रतिवर्ष होती थी। इसके लिए सरकार का एक स्थिर विभाग होता था, जो मनुष्यों की संख्या को अपनी निबन्धपुस्तकों में दर्ज रखता था। केवल मनुष्यों की ही गणना नहीं होती थी, अपितु पशु व जन्तु भी गिने जाते थे। समाहर्ता और नागरिक की ओर से यह कार्य गोप नाम के राजपुरुष (जो प्राय: दस ग्रामों के शासक होते थे) किया करते थे। ये राजपुरुष प्रत्येक ग्राम की निबन्ध-पुस्तक में निम्नलिखित बातें दर्ज करते थे :—

(१) गाँवों में चारों वर्णों के कितने-कितने आदमी हैं। (२) कितने किसान हैं। (३) कितने गोरक्षक या ग्वाले हैं। (४) कितने सौदागर हैं। (५) कितने कारीगर हैं। (६) कितने नौकर हैं। (७) कितने दास हैं। (८) कितने दो पैरों वाले जन्तु हैं। (९) कितने चौपाये हैं। (१०) गांव में कुल धन कितना है। (११) गांव से कितनी बेगार मिल सकती है। (१२) गांव की चुंगी की आमदनी कितनी है। (१३) गांव को जुर्मानों द्वारा कितनी आमदनी होती है। (१४) कितने मकान हैं, जिनसे कर मिलता है। (१५) ग्राम के निवासियों में कितने पुरुष, कितनी स्त्रियां, कितने वृद्ध और कितने बालक हैं। (१६) कितने घर हैं, जिनसे कर नहीं मिलता। (१७) निवासियों के चरित्र किस तरह के हैं। (१८) उनके पेशे क्या-क्या हैं। (१९) आमदनी कितनी है। (२०) उनका खर्च कितना है।

मर्दुमशुमारी के रजिस्टर में दर्ज होने वाली इन बीस बातों को पढ़कर यह भली-भांति समझा जा सकता है, कि मौर्यकाल में मनुष्यगणना कितनी पूर्णता के साथ होती थी। मैगस्थनीज ने भी मनुष्य-गणना के सम्बन्ध में इस प्रकार निर्देश किया है—'तीसरा वर्ग उन लोगों का है, जो जन्म और मृत्यु का पता लगाने तथा उसका हिसाब रखते हैं। ऐसा करने का उद्देश्य केवल यही नहीं है, कि इससे कर वसूल करने में सहायता मिलती है। पर असली अभीष्ट यह बात है, कि चाहे कोई छोटा हो या बड़ा, किसी के जन्म या मृत्यु की बात राज्य की दृष्टि से बच न सके।'

गुप्तचर विभाग—विजिगीषु मौर्य सम्राटों के लिए गुप्तचर विभाग को उन्नत करना परम आवश्यक था। चाणक्य ने इस विभाग का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। मुख्यतया निम्नलिखित प्रयोजनों से गुप्तचरों का प्रयोग होता था :—

१. अमात्यों पर निरीक्षण रखने के लिए—अमात्य पद पर केवल वे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जिनकी पहले गुप्तचरों द्वारा पूरी परीक्षा ले ली जाती थी। पुरोहित, सेनापति आदि सब महामात्यों की परीक्षा के लिए अनेकविध उपाय

कौटलीय अर्थशास्त्र में लिखे हैं। नियुक्ति के बाद भी अमात्यों के 'शौच' और 'अशौच' का पता गुप्तचर लोग लगाते रहते थे। बड़े-बड़े अमात्यों के अतिरिक्त राज्य के सब छोटे-बड़े कर्मचारियों पर गुप्तचरों की निगाह रहती थी।

२. पौर और जानपद लोगों की भावनाओं का पता लगाने के लिए भी गुप्तचर नियत किये जाते थे। जनता में किस बात से असन्तोष है, लोग राजा को पसन्द करते हैं या नहीं, देश के धनी-मानी प्रभावशाली लोगों के क्या विचार हैं, अधीनस्थ सामन्तों का क्या रुख है, इन सब बातों का पता लेकर गुप्तचर लोग राजा को सूचना भेजते रहते थे।

३. गुप्तचर लोग विदेशों में भी काम करते थे। पड़ोसी शत्रुदेश व विदेशी राज्यों की गति, विचार, भाव आदि का पता करने के लिए गुप्तचर सदा सचेष्ट रहते थे। जिस देश को अपने अधीन करना होता था, उसमें बहुत से गुप्तचर नानाविध भेस बनाकर भेज दिये जाते थे। ये शत्रुओं में फूट डालने तथा वहाँ के गुप्त भेदों का पता लगाने के कार्य में तत्पर रहते थे।

गुप्तचर-विभाग के केन्द्र अनेक स्थानों पर होते थे। इन केन्द्रों को 'संस्था' कहते थे। गुप्तचर लोग जिस किसी रहस्य का पता लगाते थे, उसे अपने साथ सम्बद्ध 'संस्था' में पहुँचा देते थे। वहाँ से वह बात उपयुक्त राजकर्मचारी के पास पहुँच जाती थी। इसके लिए गुप्त लिपि का प्रयोग किया जाता था। विविध बातों को सूचित करने के लिए प्रथक्-पृथक् संज्ञाएँ बनी हुई थीं। गुप्त लिपि में लिखकर सन्देश को यथास्थान पहुँचा दिया जाता था। विविध संस्थाओं को आपस में एक-दूसरे का हाल मालूम नहीं हो सकता था। गुप्तचर लोग भी स्वयं 'संस्था' को नहीं जानते थे। संस्था और गुप्तचरों के बीच मध्यस्थ का कार्य गुप्त वेश वाली स्त्रियाँ करती थीं। ये स्त्रियाँ दासी, कुशीलवा, शिल्पकारिका, भिक्षुकी आदि के नानाविध रूप बनाकर गुप्तचरों के भेद को 'संस्था' तक पहुँचाती थीं। सन्देश को पहुँचाने के लिए केवल गुप्त लिपि का ही प्रयोग नहीं होता था, अपितु अन्य अनेक साधन भी काम में लाये जाते थे। इस काम के लिए बाजे, गीत आदि के संकेत बनाये हुए थे। साथ ही शंख-दुन्दुभि आदि की संज्ञाएँ बनी हुई थीं। खास तरह से गाने या बजाने से खास अभिप्राय का ग्रहण होता था। धुएँ, आग आदि के संकेतों से भी सन्देश भेजे जाते थे।

साम्राज्यवाद के उस युग में गुप्तचर-विभाग की बहुत ही महत्ता थी।

डाक प्रबन्ध—कौटलीय अर्थशास्त्र में कुछ निर्देश ऐसे आते हैं, जिनसे उस समय के डाक प्रबन्ध पर प्रकाश पड़ता है। उस समय सन्देश भेजने के लिए कबूतरों का प्रयोग किया जाता था। कपोतों के गले आदि में पत्र बाँधकर उन्हें उड़ा दिया जाता था। खूब सधे हुए कबूतर ठीक स्थान पर पहुँचने में समर्थ होते थे।

जिस मौर्य-साम्राज्य में सड़कों, सरायों आदि का समुचित प्रबन्ध था, वहाँ मुगल काल के समान इन सरायों का उपयोग डाक पहुँचाने के लिए भी किया जाता था या नहीं, इस विषय में कोई निर्देश कौटलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता।

राजशक्ति पर जनता का प्रभाव—मौर्यकाल की शासन-व्यवस्था के प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व राजशक्ति पर कुछ ऐसे प्रभावों का उल्लेख करना आवश्यक

है, जिनकी उपेक्षा शक्तिशाली से शक्तिशाली सम्राट् भी नहीं कर सकता था। इस प्रकार का एक प्रभाव ब्राह्मण-श्रमणों का था। यद्यपि ये लोग नगर से बाहर जंगलों में निवास करते थे, पर देश की घटनाओं और नीति पर उनकी सदा दृष्टि रहती थी। जब वे देखते थे कि राजा कुमार्ग में प्रवृत्त हो रहा है, तो उसका विरोध करना उनका कर्त्तव्य हो जाता था। इसीलिए चाणक्य ने लिखा है 'यदि ठीक तरह शासन न किया जाय या राजनीति में काम, क्रोध, और अज्ञान आ जाय, तो वानप्रस्थ और परिव्राजक लोग भी कुपित हो जाते हैं।' ये वानप्रस्थ ब्राह्मण बहुत सादगी और गरीबी के साथ जंगलों में निवास किया करते थे। राज्य पर इनका प्रभाव बहुत अधिक होता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन से कुछ पूर्व ही जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उसकी भेंट ऐसे अनेक नीतिज्ञ ब्राह्मणों से हुई थी। ये ब्राह्मण सिकन्दर के विरुद्ध भारतीय राजाओं को उभार रहे थे। एक ऐसे ब्राह्मण से सिकन्दर ने पूछा—'तुम क्यों इस राजा को मेरे विरुद्ध भड़काते हो।' ब्राह्मण ने उत्तर दिया—'मैं चाहता हूँ, कि यदि वह जीए, तो सम्मानपूर्वक जीए, नहीं तो सम्मानपूर्वक मर जाए।' कहा जाता है कि एक अन्य ब्राह्मण सन्यासी सिकन्दर के पास आया और बोला—'तुम्हारा राज्य एक सूखी हुई खाल की तरह है, जिसका कोई गुरुता-केन्द्र नहीं होता। जब सिकन्दर राज्य के एक पार्श्व पर खड़ा होता है, तो दूसरा पार्श्व विद्रोह कर देता है।' तक्षशिला के एक वृद्ध दंडी को सिकन्दर के सम्मुख यह डर दिखाकर बुलाने की कोशिश की गई कि 'सिकन्दर तो दुनिया के मालिक द्यौः का पुत्र है, यदि तुम उसके सामने नहीं आओगे, तो वह तुम्हारा सिर धड़ से अलग कर देगा।' यह सुनकर दंडी ने उपेक्षाजनक हँसी हँसकर उत्तर दिया—'मैं भी द्यौः का उसी तरह पुत्र हूँ, जिस तरह सिकन्दर। मैं अपने देश भारत से पूर्णतया सन्तुष्ट हूँ, जो माता की तरह मेरा पालन करता है।' उस दंडी ने व्यंग्य से यह भी कहा 'यदि सिकन्दर गंगा के पार के प्रदेश में जायगा, तो (नन्द की सेना) उसे विश्वास दिला देगी, कि वह अभी सारे संसार का स्वामी नहीं बना है।'

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे ब्राह्मणों की निर्भीक वृत्ति का राज्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। राजा की अनीति को रोकने में ये बहुत सहायक होते थे। राजाओं के कुमार्गगामी हो जाने पर जब तपस्वी ब्राह्मण कुपित हो जाते थे, तब स्थिति को संभालना कठिन हो जाता था। नन्द के शक्तिशाली वंश का पतन आचार्य चाणक्य के कोप से ही हुआ था। वह नन्द की अनीति को देखकर उसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था।

ब्राह्मण तपस्वियों के कोप की अपेक्षा भी जनता का कोप अधिक भयंकर माना जाता था। आचार्य चाणक्य ने लिखा है—'जनता का कोप सब कोपों से बढ़कर है।' चाणक्य भलीभांति समझता था, कि 'चाहे राजा न भी हो, पर यदि जनता की व्यवस्था उत्तम हो, तो राज्य अच्छी तरह चल सकता है।' राज्य के सम्बन्ध में यह परम्परागत सिद्धान्त मौर्यकाल में भी मान्य समझा जाता था कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है। हितकर बात वह नहीं है, जो राजा को अच्छी लगती है। हितकर बात तो वह है, जो प्रजा को प्रिय लगती है।'

(३) मौर्य-काल का आर्थिक जीवन

कृषि—मौर्यकाल में भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि ही था। मैगस्थनीज

ने लिखा है, दूसरी जाति में किसान लोग हैं, जो संख्या में सबसे अधिक हैं। युद्ध करने तथा अन्य राजकीय कर्त्तव्यों से मुक्त होने के कारण वे अपना सारा समय खेती में लगाते हैं।' किसानों की अवस्था उस समय बहुत सन्तोषजनक थी। वर्षा की प्रचुरता के कारण दो फसलें साल में हो जाती थीं, और किसान लोग नानाविध अन्नों तथा अन्य पदार्थों को उत्पन्न कर सकते थे। इस विषय में मैगस्थनीज के निम्नलिखित उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं :—

"भूमि का अधिक भाग सिंचाई में है। अतएव उसमें एक साल के भीतर ही दो फसलें पैदा होती हैं।

"यहाँ के लोग निर्वाह की सब सामग्री बहुतायत से पाकर प्रायः मामूली डील-डौल से अधिक होते हैं, और अपने गर्वीले हाव-भाव के लिए प्रसिद्ध हैं।

"भूमि पशुओं के निर्वाह योग्य चारा तथा अन्य खाद्य पदार्थ भी प्रदान करती है। अतः यह माना जाता है कि भारतवर्ष में अकाल कभी नहीं पड़ा, और खाने की वस्तुओं की महँगाई भी साधारणतया कभी नहीं हुई है। चूँकि यहाँ साल में दो बार वर्षा होती है; एक जाड़े में, जबकि गेहूँ की बुआयी होती है, और दूसरी गर्मी के दौरान में, जबकि तिल और ज्वार के बोने का उपयुक्त समय होता है, अतः भारत के किसान प्रायः सदा साल में दो फसलें काटते हैं। यदि उनमें से एक फसल कुछ बिगड़ भी जाती हैं, तो लोगों को दूसरी फसल का पूरा विश्वास रहता है। इसके अतिरिक्त, एक साथ होने वाले फल और मूल जो दलदलों में उगते हैं, और भिन्न-भिन्न मिठास के होते हैं, मनुष्यों को प्रचुर खाद्य-सामग्री प्रदान करते हैं। बात यह है, कि देश के प्रायः समस्त मैदानों में ऐसी नमी रहती है, जो समभाव से जमीन को उपजाऊ बना देती है, चाहे यह नमी नदियों द्वारा प्राप्त हुई हो, चाहे ग्रीष्म ऋतु की वर्षा के जल द्वारा। यह वर्षा प्रत्येक साल एक नियत समय पर आश्चर्यजनक नियमितता के साथ बरसा करती है। कड़ी गरमी फलों और मूलों को विशेषतथा कसेरू को पकाती है।

"इतने पर भी भारतवासियों में बहुत-सी ऐसी प्रथाएँ हैं, जो वहाँ अकाल पड़ने की संभावना को रोकने में सहायता देती हैं। दूसरी जातियों में युद्ध के समय भूमि को नष्ट करने और इस प्रकार उसे परती व ऊसर कर डालने की चाल है। पर इसके विरुद्ध भारतवासियों में जो कृषक समाज को पवित्र व अवध्य मानते हैं, भूमि जोतने वाले किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते, चाहे उनके पड़ोस में ही युद्ध क्यों न हो रहा हो। दोनों पक्ष के लड़ने वाले युद्ध के समय एक-दूसरे का संहार करते हैं, परन्तु जो लोग खेती में लगे हुए हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना काम करने देते हैं। साथ ही न वे शत्रु देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उसके पेड़ काटते हैं।"

मौर्यकाल में भी खेती के लिए हल और बैलों का प्रयोग होता था। भूमि को खूब अच्छी तरह हल चलाकर तैयार किया जाता था। फिर उसमें नानाविध खादों को डालकर भूमि की उपज शक्ति को बढ़ाया जाता था। खाद के लिए गोबर, हड्डी और राख का प्रयोग होता था। बोने से पहले बीज को अनेक अवस्थाओं में रखा जाता था। चाणक्य ने लिखा है—"बोने से पहले धान को सात रात तक ओस तथा धूप में रखना चाहिए। दाल आदि कोशीधानों (फलियों) को तीन रात तक पाले तथा घाम में रखना

चाहिए। गन्ना आदि के (जिनकी शाखा को बीज के रूप में बोया जाता है) बीज को, जहाँ से काटा गया हो, उस स्थान पर घी, मधु, सूअर की चरबी और गोबर को मिलाकर लगाना चाहिए। कंदों के छेदों पर मधु और घी को मिलाकर लगाना चाहिए। बिनौलों को गोबर में मिला लेना चाहिए।" खाद के विषय में चाणक्य ने लिखा है—"जब अंकुर निकल आएँ, तो उनपर कड़वी मछलियों के खूब बारीक कुटे हुए चूर्ण को डालना चाहिए तथा स्नुही (थूअर) के दूध से सींचना चाहिए।

सिंचाई के लिए जो विविध साधन मौर्यकाल में प्रयुक्त होते थे, उनका भी संक्षेप से उल्लेख करना उपयोगी होगा। (१) हस्तप्रावर्तिमम्—पानी को किसी गढ़े में एकत्र कर फिर हाथ द्वारा सिंचाई करना; या डोल, चरस आदि की सहायता से कुएं से पानी निकालकर सिंचाई करना। (२) स्कंधप्रावर्त्तिमम्—कंधों की सहायता से पानी निकालकर सिंचाई करना। रहट या चरस को जब बैल खींचते हों, तो उनके कंधों से पानी निकालने के कारण इस प्रकार की सिंचाई को 'स्कंधप्रावर्तिमम्' कहते थे। (३) स्रोतयंत्रप्रावर्त्तिमम्—वायु द्वारा (पवन-चक्की) खींचे हुए पानी को 'स्रोतयंत्रप्रावर्त्तिमम्' कहते थे। (४) नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम्—नदी, सर तटाक और कूप द्वारा सिंचाई करना। (५) सेतुबन्ध—बाँध (डाम) बनाकर उससे नहरें व नालियाँ निकालकर उनसे सिंचाई करना।

वर्षा के अतिरिक्त इन विविध साधनों से सिंचाई का प्रबन्ध होने का परिणाम यह था, कि मौर्यकाल में जमीन बहुत उपजाऊ रहती थी, और प्रभूत परिमाण में अन्न उत्पन्न होता था।

व्यवसाय—मैगस्थनीज ने भारत के विविध व्यवसायों और कारीगरों के सम्बन्ध में वर्णन करते हुए लिखा है, कि 'वे कला-कौशल में बड़े निपुण हैं, जैसा कि ऐसे मनुष्यों से आशा की जा सकती है, जो स्वच्छ वायु से सांस लेते है, और उत्तम जल का पान करते हैं।'....'अधिक सुसभ्य भारतीयों में भिन्न-भिन्न व्यवसायों से आजीविका कमाने वाले लोग हैं। कई जमीन जोतते है, कई व्यापारी हैं, कई सिपाही हैं।'

कौटलीय अर्थशास्त्र में मौर्य युग के व्यवसायों का विस्तार से उल्लेख किया गया है, जो निम्नलिखित थे :—

१. **तंतुवाय**—मौर्यकाल में सबसे मुख्य व्यवसायी तंतुवाय या जुलाहे थे। ये रुई, रेशम, सन, ऊन, आदि के अनेकविध कपड़े तैयार करते थे। सूत चरखों पर काता जाता था, खड्डी पर उसकी बुनाई होती थी। सूत बढ़िया, मध्यम या घटिया है, इसे जांचकर उसकी कीमत दी जाती थी। कपड़े बुनने के लिये कारखाने (कर्मान्त) होते थे। इनमें बहुत-से जुलाहे एक साथ खड्डियों पर काम करते थे। राज्य की ओर से इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता था। चाणक्य ने लिखा है, कि गंध और माल्य के दान तथा अन्य प्रकार के अनुग्रहों से इन्हें प्रोत्साहित करे। जुलाहे वस्त्र बनाते समय यदि सूत को चुरा लें, तो इन्हें दंड दिया जाता था।

ऊनी कपड़ों में कम्बलों का वर्णन अर्थशास्त्र में बड़े विस्तार के साथ किया गया है। वहां लिखा है—'भेड़ की ऊन के बने हुए कम्बल श्वेत, शुद्ध लाल तथा कमल

की तरह लाल—इन तीन रंगों के होते हैं।

भेड़ के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बालों के भी विविध वस्त्र बनते थे। अर्थशास्त्र में ऐसे छ: प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख किया गया है, संपुटिका, लंबरा, कटवानक, प्रावरक और सत्तलिका। किस देश में कौन-सा कपड़ा अच्छा बनता है, इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्र का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—'जो कपड़ा बंगदेश में बनता है, वह श्वेत और चिकना होता है। पुण्ड्र देश का कपड़ा काला और मणि की तरह चिकना होता है। सुवर्णकुड्य देश का कपड़ा सूर्य की तरह रंग वाला और मणि के समान चिकना होता है, उसे एक समान सीधा रखकर और उलटा-टेढ़ा रखकर, दोनों तरह से बुना जाता है। काशी तथा पुण्ड्र देश के बने हुए सन के कपड़े भी बहुत उत्तम होते हैं। मगध, पुण्ड्र और सुवर्णकुड्य देशों में विविध वृक्षों के पत्तों व छाल के रेशों से भी कपड़े बनाये जाते हैं।' बंगाल की मलमल मौर्यकाल में भी प्रसिद्ध थी। मैगस्थनीज ने भी लिखा है, कि भारतीय लोग बारीक मलमल के कपड़े पहनते हैं। इस देश के पहरावे के विषय में ग्रीक यात्री का यह वाक्य उल्लेखनीय है—'वे मलमल के फूलदार कपड़े पहनते हैं, सिर पर पगड़ी बाँधते हैं, और चमकीले रंगों में रंगे हुए वस्त्रों का प्रयोग करते हैं।'

वस्त्र-व्यवसाय के साथ सम्बन्ध रखने वाले धोबी, रंगरेज और दरजियों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में हुआ है। साथ ही रस्सी और कवच बनाने वाले व्यवसायियों का भी वर्णन है।

२. **खानों में काम करने वाले व्यवसायी**—मैगस्थनीज ने भारत की खानों के विषय में लिखा है कि 'भारत की भूमि तो अपने ऊपर हर प्रकार के फल तथा कृषिजन्य पदार्थ उपजाती ही है, पर उसके गर्भ में भी सब प्रकार की धातुओं की अनगिनत खानें हैं। इस देश में सोना और चाँदी बहुत होता है। ताँबा और लोहा भी कम नहीं होता। जस्ता और अन्य धातुएँ भी होती हैं। इनका व्यवहार आभूषण और लड़ाई के हथियार तथा साज आदि बनाने के निमित्त होता है।' चाणक्य ने अर्थशास्त्र में खानों के व्यवसायों का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इस विभाग के अध्यक्ष को 'आकराध्यक्ष' कहते थे। इस पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक था, कि वह ताम्र आदि धातुओं की विद्या में पूर्णतया दक्ष हो, पारा निकालने की विधि को जानता हो, और मणि-माणिक्य आदि रत्नों की पहचान रखता हो। आकराध्यक्ष के अधीन कर्मचारी पहले विविध धातुओं की खानों का पता लगाते थे। कच्ची धातु की परीक्षा, उसके भार, रंग, तेज, गंध और स्वाद द्वारा की जाती थी। खान का पता लगाने के सम्बन्ध में चाणक्य ने लिखा है, कि पहाड़ों के गड्ढों, गुफाओं, तराइयों तथा छिपे हुए छेदों से नानाविध द्रव बहते रहते हैं। यदि इस द्रव का रंग जामुन, आम, तालफल, पकी हुई हरिद्रा, हड़ताल, शहद, सिंगरफ, तोता या मोर के पंख के समान हो, उसमें काई के सदृश चिकनाहट हो, वह पारदर्शक और भारी हो, तो समझना चाहिए कि वह सोने की कच्ची धातु के साथ मिलकर निकल रहा है। यदि द्रव को पानी में डालते ही वह तेल की तरह सम्पूर्ण सतह को व्याप्त कर ले, सब गर्द और मैल को इकट्ठा कर ले, तो समझना चाहिए, कि वह ताम्र और चाँदी की कच्ची धातु से मिश्रित है। इसी तरह से अन्य धातुओं की खानों की भी पहचान बतायी गयी है।

कच्ची धातु से शुद्ध धातु कैसे तैयार की जाय, धातु को कैसे नरम और लचकदार बनाया जाय, और उसमें विशेष-विशेष प्रकार के गुण कैसे उत्पन्न किये जाएँ, इन सब बातों का विवरण कौटलीय अर्थशास्त्र में दिया गया है। विविध धातुओं के व्यवसाय के लिए पृथक्-पृथक् अध्यक्ष होते थे, जो 'आकराध्यक्ष' के अधीन अपना कार्य करते थे।

खानों पर राज्य का स्वत्व माना जाता था। उनका संचालन राज्य की ओर से ही होता था। पर लोगों को किराये पर भी खानें दे दी जाती थीं। जितनी कुल उत्पत्ति हो, उसमें से अपना हिस्सा भी राज्य तय कर लेता था। खानों को बेच भी दिया जाता था।

३. **नमक का व्यवसाय**—'लवणाध्यक्ष' की अधीनता में नमक के व्यवसाय का संचालन होता था। नमक बनाने और बेचने के लिए राज्य की अनुमति आवश्यक थी। नमक बनाने में मुख्यतया समुद्र के जल का ही प्रयोग होता था।

४. **समुद्र से रत्न आदि निकालने का व्यवसाय**—इस व्यवसाय के अध्यक्ष को 'खन्यध्यक्ष' कहते थे। समुद्र से शंख, मणि, मुक्ता आदि विविध पदार्थों को निकलवाने तथा उन्हें शुद्ध करवाने तथा उनकी विविध वस्तुएँ बनवाने का कार्य खन्यध्यक्ष के अधीन होता था। अर्थशास्त्र में अनेकविध मणि, मुक्ता आदि के भेद तथा उनकी पहचानें लिखी गयी हैं।

५. **सुवर्णकार**—सोना, चाँदी आदि बहुमूल्य धातुओं को शुद्ध कर उनसे आभूषण बनाने का कार्य सुनार लोग करते थे। सुनारों की सहायता के लिए ध्मायक (भट्टी में हवा देने वाले), पांसुधावक (गर्द साफ करने वाले) आदि अनेक कारीगर होते थे। अर्थशास्त्र में बहुत प्रकार के हारों व अन्य आभूषणों का उल्लेख किया गया है।

६. **वैद्य**—चिकित्सा का काम करने वाले भिषक् (साधारण वैद्य), जगन्दीविद् (विष-चिकित्सक), गर्भव्याधिसंस्थाः (गर्भ की बीमारियों को ठीक करने वाले) और सूतिका-चिकित्सक (सन्तान उत्पन्न कराने वाले) चार प्रकार के वैद्य होते थे। वैद्यों के व्यवसाय पर भी राज्य का पूरा नियंत्रण था। इस सम्बन्ध में चाणक्य के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं—(क) सरकार को सूचना दिये बिना ही यदि चिकित्सक लोग ऐसे रोगी का इलाज करने लगें, जिसकी मृत्यु की सम्भावना हो, तो उन्हें 'पूर्व-साहस दण्ड' दिया जाय। (ख) यदि किसी विपत्ति के कारण इलाज भली-भाँति न किया जा सके, तो चिकित्सक को 'मध्यदण्ड' दिया जाय। (ग) यदि इलाज के प्रति चिकित्सक उपेक्षा करे, रोगी पर समुचित ध्यान न दे और इस कारण रोग बढ़ जाय, तो चिकित्सक पर 'दण्डपारुष्य' का अपराध लगाया जाय।

७. **शराब का व्यवसाय**—यद्यपि मैगस्थनीज ने लिखा है, कि भारतीय लोग यज्ञों के अतिरिक्त कभी मदिरा नहीं पीते थे, पर अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में शराब का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। राज्य का इसके लिए भी एक पृथक् विभाग था, जिसके अध्यक्ष को 'सुराध्यक्ष' कहते थे। अर्थशास्त्र में मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु—छः प्रकार की शराबों का उल्लेख कर इनके निर्माण की विधि भी लिखी है।

८. **बूचड़खाने**—मांसभक्षण का बहुत प्रचार होने के कारण मौर्यकाल में बूचड़

का व्यवसाय भी बहुत उन्नत था। यह 'सूनाध्यक्ष' नामक अधिकारी द्वारा नियन्त्रित होता था।

९. चमड़े का व्यवसाय—बूचड़खानों में मारे गये तथा जंगल, खेत आदि में स्वयं मरे हुए पशुओं की खालों का उपयोग अनेक प्रकार से किया जाता था। खाल को अनेक प्रकार के मुलायम चमड़ों में परिवर्तित करने का शिल्प उस समय बहुत उन्नत दशा में था। अर्थशास्त्र में बहुत तरह के चमड़ों का वर्णन है, जिनमें से कुछ तो इतने उत्कृष्ट होते थे, कि उनकी गणना रत्नों में की गई है।

१०. बर्तनों का व्यवसाय—अर्थशास्त्र में चार प्रकार के बर्तनों का उल्लेख है—धातु, मिट्टी, बेंत और छाल के बने हुए। चारों प्रकार के बर्तनों को बनाने वाले अलग-अलग शिल्पी होते थे, जो अनेक प्रकार के बर्तन तैयार करते थे।

११. जंगलों के साथ सम्बन्ध रखने वाले व्यवसाय—अर्थशास्त्र में जंगलों में होने वाले उन वृक्षों का विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है, जिनकी लकड़ी विविध प्रकार के कामों में आती है। इनमें सारदारु (ठोस पक्की लकड़ी वाले), बांस, लताएं, रेशेदार पौधे, कागज बनाने के काम में आने वाले वृक्ष आदि अनेक प्रकार के वृक्षों का वर्णन है। जंगल के विविध प्रकार के वृक्षों को काटना, और उन्हें फिर विविध प्रयोगों में लाना—यह सब व्यवसाय उस समय भली-भाँति उन्नत था। लकड़हारे, बढ़ई आदि अनेक शिल्पी इन कार्यों में लगे हुए थे।

१२. लोहार—लोहे से जहाँ खेती व अन्य शिल्पों के नानाविध उपकरण तैयार किये जाते थे, वहां अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण भी प्रधानतया लोहे से ही होता था। 'आयुधागाराध्यक्ष' की अधीनता में हथियार बनाने का बहुत बड़ा महकमा उस समय होता था, जिसमें सैकड़ों प्रकार के छोटे-बड़े हथियार तैयार किये जाते थे। यह शिल्प उस समय बहुत ही उन्नत था।

१३. जहाज और नौकाएँ बनाने वाले—मौर्य-काल में भारत के जलमार्गों व समुद्र में अनेक प्रकार के छोटे-बड़े जहाज चलते थे। उन सबको भारत में ही बनाया जाता था।

१४. मनोरंजन करने वाले—इनमें नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव आदि अनेक प्रकार के शिल्पी सम्मिलित थे।

१५. खाना पकाने वाले—इनके भी अनेक भेद थे। चावल पकाने वाले, मांस बनाने वाले, रोटी सेंकने वाले, हलवाई आदि अनेक प्रकार के पाचकों का उल्लेख चाणक्य ने किया है।

१६. शौण्डिक—शराब बेचने वाले।

१७. वेश्याएँ—इनके दो मुख्य भेद थे, गणिका और रूपाजीवा। गणिकाएँ प्रायः राजा व अन्य धनी व्यक्तियों की सेवा का कार्य करती थीं। इनका कार्य राजा के छत्र, चामर, इतरदान, पंखा, पालकी, पीठिका, रथ आदि के साथ रहकर राजा की शोभा को बढ़ाना होता था। रूपाजीवा वेश्याएँ स्वतन्त्र पेशा करती थीं।

इनके अतिरिक्त गन्धपण्याः (सुगंधियाँ बनाने और बेचने वाले), माल्यपण्याः (मालाएं बनाने और बेचने वाले), गोरक्षक (ग्वाले), कर्मकर (मजदूर),

तालापचाराः (बाजे बनाने वाले), राज (मकान बनाने वाले), मणिकार (विविध रत्नों, मणियों व हीरे आदि को काट व तराश कर उनसे आभूषण बनाने वाले) और देवताकारु (विविध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बनाने वाले) शिल्पियों का उल्लेख भी अर्थशास्त्र में किया गया है।

व्यापार—कृषि और व्यवसाय के समान व्यापार भी मौर्यकाल में बहुत उन्नत था। ग्राम के छोटे-छोटे सौदागरों से लेकर बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ तक उस काल में विद्यमान थीं। गाँवों के सौदागर व्यापार के साथ-साथ खेती व अन्य छोटे-छोटे काम भी अपनी आजीविका के लिए किया करते थे। देहात में माल की बिक्री के लिए मंडियाँ भी लगती थीं। ये मंडियाँ जल और स्थल मार्गों के नाकों पर लगायी जाती थीं। शहरों के व्यापारियों के सम्बन्ध में अनेकविध नियमों का उल्लेख आचार्य चाणक्य ने किया है। इन नियमों का मुख्य प्रयोजन यह था, कि माल में मिलावट न हो सके। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम उल्लेखनीय हैं :—

'जो घटिया माल को बढ़िया बताकर बेचता हो, जिस स्थान का वह माल हो उससे भिन्न किसी अन्य स्थान का बताकर बेचता हो, मिलावटी माल को असली बताता हो, जिस माल का सौदा किया गया हो देते समय उसे बदलकर दूसरा माल रख देता हो, तो उस व्यापारी पर न केवल ५४ पण जुर्माना किया जाय, अपितु उससे क्षतिपूर्ति भी करायी जाय।'

यदि कोई दूकानदार तराजू और बट्टों को ठीक न रखकर जनता को ठगता था, तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। पर थोड़े से फरक पर ध्यान नहीं दिया जाता था। परिमाणी और द्रोण भर चीज के तोलने पर यदि आधे पल का फरक हो, तो उसे उपेक्षणीय समझा जाता था। पर इससे अधिक फरक होने पर दूकानदार को १२ पण दण्ड मिलता था। यदि कमी अधिक हो, तो दण्ड अधिक बढ़ाया जा सकता था। यदि तराजू के दोष के कारण तोलने में एक कर्ष का फरक पड़े, तो उसे माफ कर दिया जाता था। पर इससे अधिक कमी होने पर दंड मिलता था। २ कर्ष से अधिक कमी होने पर दण्ड की मात्रा ६ पण होती थी। अधिक कमी होने पर इसी अनुपात से जुर्माना बढ़ता जाता था।

शहरों में भिन्न-भिन्न वस्तुओं के बाजार अलग-अलग होते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में जिस आदर्श नगर का चित्र उपस्थित किया गया है, उसमें मांस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोज्य पदार्थ की दूकानों के लिए पृथक् व्यवस्था की गयी है, और सुगन्धित तेल, माला, फूल, वस्त्र आदि की दूकानों के लिये अलग जगह रखी गयी है। शहरों में जहाँ बड़ी-बड़ी दूकानें होती थीं, वहाँ फेरी वालों की भी कमी न थी। फेरी वाले घूम-घूम कर माल बेचते थे।

मौर्यकाल में भी व्यापारी लोग मुनाफा उठाने के लिए अनेक अनुचित उपायों का प्रयोग किया करते थे। कभी-कभी वे माल को रोककर दाम बढ़ा देते थे, और परस्पर एका करके माल को अधिक कीमत पर बेचने का निश्चय कर लेते थे। आचार्य चाणक्य की सम्मति में ये बातें अनुचित थीं, इसीलिए उन्होंने ऐसा करने वालों के लिए १००० पण जुर्माने की व्यवस्था की थी।

दूकानदार लोग कितना मुनाफा लें, इसपर भी राज्य की ओर से नियंत्रण होता था। आम चीज़ों पर लागत से पांच फीसदी अधिक मुनाफा लिया जा सकता था। विदेशी माल पर १० फीसदी मुनाफा लेने की अनुमति थी। इससे $\frac{1}{2}$ फी सदी अधिक मुनाफा लेने पर १०० पण से २०० पण तक के क्रय-विक्रय पर ५ पण जुर्माना किया जा सकता था। $\frac{1}{2}$ फीसदी से अधिक अनुचित मुनाफा लेने पर जुर्माने की मात्रा इसी अनुपात से बढ़ा दी जाती थी।

जब बाजार में माल बहुत आ जाता था, और इस कारण कीमत गिरनी शुरू हो जाती थी, तो उसे एक स्थान पर एकत्र कर, या मुकाबला रोककर कृत्रिम उपायों से कीमत का क्षय रोक दिया जाता था। चाणक्य को यह अभीष्ट नहीं था, कि व्यापार में लाभ न हो। उनका सिद्धान्त तो यह था, कि लाभ तो अवश्य हो, पर यदि वह प्रजा के लिए हानिकारक है, तो उसे रोक दिया जाय।

व्यापारियों की दूकानों पर माल को तोलने या मापने के लिए अनेक व्यक्ति होते थे। अर्थशास्त्र में इन्हें क्रमशः 'धरक' और 'मापक' लिखा गया है। यदि तोलते व मापते हुए ये लोग बेईमानी करते थे, तो इन्हें भी कठोर दण्ड दिया जाता था।

मौर्यकाल में भारत का आन्तरिक व्यापार बहुत उन्नत था। यह व्यापार जल और स्थल दोनों प्रकार के मार्गों द्वारा होता था। भिन्न-भिन्न स्थानों की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रसिद्ध थीं। स्वाभाविक रूप से व्यापारी लोग इन प्रसिद्ध वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर बेचते थे। हिमालय के अतिरिक्त 'द्वादशग्राम', 'आरोह', 'वाहलव' आदि स्थानों के अनेकविध चमड़े बहुत प्रसिद्ध थे। इसी तरह कोशल, काश्मीर, विदर्भ, कलिंग आदि के हीरे, ताम्रपर्णी, पांड्य, केरल आदि के मोती, मालेयकूट आदि पर्वतों की मणियाँ उस समय सारे भारत में प्रसिद्ध थीं। नैपाल के कंबल, वंग देश के श्वेत और महीन कपड़े (मलमल), काशी तथा पुण्ड्रदेश के सनिया कपड़े और मगध तथा सुवर्णकुड्य के रेशेदार वृक्षों के रेशों से बने वस्त्र उस समय सारे भारत में प्रसिद्ध थे। मौर्यकाल के सौदागर व्यापार के लिये बड़े-बड़े काफिले (सार्थ) बनाकर सब जगह आया जाया करते थे। जब कोई काफिला माल लेकर किसी शहर में पहुँचता था, तो शुल्कशाला (चुङ्गीघर) के चार-पाँच आदमी सार्थवाह (काफिले का नेता) के पास जाकर पूछते थे—"तुम कौन हो? कहाँ के हो? तुम्हारे पास कितना और क्या माल है? पहली मुहर तुम्हारे माल पर कहाँ लगी थी?" इन काफिलों की रक्षा का भार राज्य पर होता था। उस समय के मार्ग भयंकर जंगलों में से होकर गुजरते थे, जिनमें जंगली हिंस्र पशुओं के अतिरिक्त चोर, डाकू व आटविक लोग भी रहते थे। मौर्यकाल का शासन इतना व्यवस्थित था, कि काफिलों को अपनी रक्षा के लिये सशस्त्र प्रहरी साथ रखने की आवश्यकता नहीं रह गयी थी। राज्य सार्थ में चलने वाले प्रत्येक व्यापारी से मार्गकर (वर्तनी) लेता था। इसके बदले में उसकी जान-माल की रक्षा का उत्तरदायित्व राज्य ले लेता था। एक खुरवाले पशु पर लदे माल पर एक पण, अन्य पशुओं के लिये आधा पण, छोटे पशुओं पर चौथाई पण और सिर पर उठाये हुए माल पर एक माष कर लिया जाता था। इन करों के बदले में सरकार का यह कर्त्तव्य था, कि यदि व्यापारी का माल मार्ग में लुट जाय, तो उसे राज्य की तरफ से हर्जाना दिया जाय।

मौर्यकाल में विदेशी व्यापार भी बहुत उन्नत था। भारत की पश्चिमोत्तर, उत्तर तथा उत्तरपूर्वी सीमाएँ अनेक देशों के साथ छूती थीं। उनके साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। स्थल मार्ग से जाने वाले बड़े-बड़े काफिले इन पड़ोसी राज्यों में व्यापार के लिए आया-जाया करते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में विदेशी काफिलों का भी उल्लेख किया गया है, जो व्यापार के लिए भारत में आया करते थे।

विदेशी व्यापार जहाँ खुश्की के रास्ते से होता था, वहाँ समुद्र द्वारा भी बड़ी-बड़ी नौकाएँ व्यापार की वस्तुओं को ढोने का काम करती थीं। महासमुद्रों में जाने वाले जहाजों को 'संयात्य: नाव' और 'प्रवहरण' कहते थे। कौटलीय अर्थशास्त्र में चीन तथा ईरान की व्यापारी वस्तुओं का उल्लेख है। चाणक्य ने लिखा है—'रेशम और चीनपट्ट, जो चीन देश में उत्पन्न होते हैं, श्रेष्ठ समझे जाते हैं।' इसी तरह मुक्ताओं की विविध किस्मों का उल्लेख करते हुए चाणक्य ने मुक्ताओं का एक भेद 'कार्दमिक' भी बताया है। ईरान की कर्दम नदी में उत्पन्न हुए मोतियों को कार्दमिक कहते थे।

मौर्यकाल में भारत का पश्चिमी देशों से भी समुद्र के मार्ग द्वारा व्यापार प्रारम्भ हो चुका था। यह व्यापार मुख्यतया मिस्र के साथ था। सिकन्दर के साम्राज्य के पतन के बाद मिस्र का राजा टालमी हुआ, जो चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। उस समय में मिस्र की राजधानी अलेक्जेण्ड्रिया विदेशी व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र थी। अलेक्जेण्ड्रिया से कुछ दूर फेरास नामी द्वीप में टालमी ने एक विशाल प्रकाशस्तम्भ का निर्माण कराया था, जो संसार के सात आश्चर्यों में गिना जाता था। अशोक के सम-कालीन मिस्र के राजा टालमी फिलेडेलफस ने भारत आदि पूर्वी देशों के साथ मिस्र के व्यापार को बढ़ाने के लिये आर्सीनोए से लाल सागर तक एक नहर बनवाने का प्रयत्न किया था। इस नहर को १५० फीट चौड़ा और ४५ फीट गहरा बनाया जा रहा था। इस नहर का उद्देश्य यही था, कि भारतीय माल को अलेक्जेण्ड्रिया पहुँचाने के लिए स्थल पर न उतारना पड़े, और जहाज लाल सागर से इस कृत्रिम नहर के रास्ते नील नदी पहुँच जाए, और वहां से सीधे अलेक्जेण्ड्रिया चला जाए। दुर्भाग्यवश यह नहर पूरी न हो सकी। पर मिस्र के साथ भारत का व्यापार जारी रहा। इसी प्रयोजन से टाल्मी ने लालसागर के तट पर एक नये बन्दरगाह की स्थापना की, जिसका नाम बर्निस था। यहां से खुश्की के रास्ते अलेक्जेण्ड्रिया केवल तीन मील दूर था। इस रास्ते पर माल को ढोने का काम काफिलों द्वारा होता था।

किया गया है :—

(१) संयात्य: नाव—बड़े-बड़े जहाज, जो महासागरों में व्यापार के लिये जाया करते थे। जिस समय ये जहाज किसी बन्दरगाह (क्षेत्र) पर पहुँचते थे, तो इनसे शुल्क लिया जाता था।

(२) प्रवहण—समुद्रों में जाने वाले व्यापारी जहाजों को प्रवहण कहते थे। प्रवहणों का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक् अमात्य का उल्लेख अर्थशास्त्रने किया है।

(३) शंख-मुक्ताग्राहिण: नाव:—समुद्र से शंख, मोती आदि एकत्र करने वाली नौकाएँ।

(४) महानाव—बड़ी नदियों में चलने वाली बड़ी-बड़ी नौकाएं।

(५) आप्रनाविकाधिष्ठिता नौ:—निपुण नाविकों द्वारा अधिष्ठित राजकीय नौकाएँ। ये नौकाएँ राजा की सैर के लिये काम आती थीं।

(६) क्षुद्रका: नाव:—नदियों में चलने वाली छोटी-छोटी नौकाएँ।

(७) स्वतरणानि—लोगों की निजी नौकाएं।

(८) हिंस्रिका:—सामुद्रिक डाकुओं के जहाज। मौर्यकाल में भी सामुद्रिक डाकुओं की सत्ता थी, जो व्यापारी जहाजों पर हमले कर उन्हें लूट लिया करते थे। चाणक्य ने इनके सम्बन्ध में एक ही नीति बतायी है, वह यह कि इन्हें नष्ट कर दिया जाय।

जहाजों और नौकाओं की सुरक्षा के लिए राज्य की ओर से बहुत ध्यान दिया जाता था। जलमार्ग में अनेक प्रकार के खतरे होते हैं, इसलिये उनसे बचने के लिये राज्य की ओर से अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ कीजाती थीं। आषाढ़ से कार्तिक तक चौमासे में केवल वे ही नौकाएँ प्रयुक्त हो सकती थीं, जिनके पास राज्य की ओर से प्रमाणपत्र होता था। चाणक्य ने लिखा है—'इस काल में केवल उन्हीं नौकाओं को चलने दिया जाय, जिनमें शासक, नियामक, दात्ररश्मिग्राहक उत्सेचक आदि सब कर्मचारी सुचारु रूप से व्यवस्थित हों, और जो आकार में काफी बड़ी हों।'

नौकाओं व जहाजों की सुरक्षा का भली-भाँति प्रबन्ध होते हुए भी जब कोई जहाज विपत्ति में फँस जाता था, तो उसके साथ बहुत अनुग्रह का बरताव किया जाता था। चाणक्य ने लिखा है, 'तूफान के कारण आहत हुआ कोई जहाज जब बन्दरगाह पर पहुँचे, तो उसपर बन्दरगाह का अध्यक्ष पिता के समान अनुग्रह करे।' यदि जहाज का माल पानी के कारण खराब हो गया हो, तो उसको शुल्क से मुक्त कर दिया जाता था, या उस से केवल आधा शुल्क लिया जाता था।

विशाल मागध साम्राज्य में स्थल मार्गों (सड़कों) का एक जाल-सा बिछा हुआ था। पाटलिपुत्र को केन्द्र बनाकर उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम—सब दिशाओं में सड़कें जाती थीं। मार्गों का प्रबन्ध राज्य के एक पृथक् विभाग के अधीन था। प्रति आध कोस के बाद सड़कों पर दूरी-सूचक प्रस्तर लगे रहते थे। जहाँ एक से अधिक मार्ग विभक्त होते थे, वहाँ प्रत्येक मार्ग की दिशा का प्रदर्शन करने वाले चिह्न लगे रहते थे। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रदेश की राजधानी को पाटलिपुत्र से मिलाने वाली १५०० कोस लम्बी सड़क थी। उस समय का कोस २२५० गज का होता था।

व्यापार के चार मार्ग पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर—चारों दिशाओं में गये थे। चाणक्य ने इन व्यापारिक मार्गों की व्यापार की दृष्टि से तुलना की है। उसने लिखा है—"पुराने आचार्यों के अनुसार स्थलमार्गों में हैमवतपथ (उत्तर दिशा में हिमालय की तरफ जाने वाली सड़क), दक्षिण पथ (दक्षिण दिशा में जाने वाली सड़क) से अच्छा है, क्योंकि उसी के द्वारा हाथी, घोड़े, गन्धद्रव्य, हाथी दाँत, चमड़ा, चाँदी, सोने आदि बहुमूल्य पदार्थों का व्यापार होता है। पर कौटल्य इस सम्मति से सहमत नहीं है। कम्बल, चमड़ा, घोड़ा तथा इसी तरह के कुछ व्यापारिक पदार्थों के अतिरिक्त शंख, वज्र, मणि, मोती, सोना आदि दक्षिणापथ से ही आते हैं। दक्षिणापथ में भी वह मार्ग सबसे महत्त्व का है, जो खानों से गुजरता है, जिस पर आना जाना बहुत रहता है, और जिसपर परिश्रम कम पड़ता है।" निःसन्देह, इस विषय में चाणक्य की सम्मति ही ठीक थी। पुराने छोटे जनपदों के युग में उत्तर की तरफ जाने वाले हैमवत पथों का चाहे कितना ही महत्त्व रहा हो, पर आसमुद्र-क्षितीश मागध साम्राज्य के समय में दक्षिण की तरफ जाने वाले वणिक्पथों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। सोने, चाँदी, मोती आदि के अतिरिक्त विदेशी सामुद्रिक व्यापार भी इन्हीं मार्गों द्वारा होता था। व्यापार के अतिरिक्त इन मार्गों का राजनीतिक महत्त्व भी था। चाणक्य ने लिखा है—'शत्रु पर आक्रमण करने के आधार वणिक्पथ ही हैं। वणिक्पथों से ही गुप्तचरों का आना जाना और शस्त्र, कवच, घोड़े, गाड़ी आदि का क्रय-विक्रय किया जाता है।' दक्षिण की ओर मागध साम्राज्य का विस्तार करने वाले मौर्य-सम्राटों के समय में दक्षिण के मार्गों का महत्त्व अवश्य ही बहुत अधिक बढ़ गया था।

तोल और माप के परिमाण—तोल और माप आदि के परिमाणों की शुद्धता के लिये मौर्यकाल में बहुत ध्यान दिया जाता था। तोल के लिये निम्नलिखित बट्टे काम आते थे।

५ रत्ती=एक माषक (सुवर्णमाष)=वर्तमान समय का $\frac{5}{8}$ माशा।

१६ माषक=एक कर्ष (सुवर्ण)=वर्तमान समय का $\frac{5}{6}$ तोला।

४ कर्ष=एक पल=वर्तमान समय का ढाई तोला या आधी छटांक।

४ सुवर्ण (½ छटांक), ८ सुवर्ण (१ छटांक), २० सुवर्ण (२½ छटांक), ४० सुवर्ण (५ छटांक), और १०० सुवर्ण (१२½ छटांक) के बट्टे उस समय में प्रचलित थे। इसी तरह, १ पल (½ तोला), १० पल (५ छटांक), २० पल (१० छटांक), ४० पल (२० छटांक) और १०० पल (३ सेर २ छटांक) के बट्टे भी मौर्य युग में प्रयुक्त होते थे।

अधिक वजन के माल को तोलने के लिये ये बट्टे प्रचलित थे—

१२½ कर्ष (२०० माषक)	=१ कुडुम्ब	=वर्तमान समय का लगभग २ छटांक
३ कुडुम्ब	=१ प्रस्थ	=८ छटांक
४ प्रस्थ	=१ आढक	=२ सेर
४ आढक	=१ द्रोण	=८ सेर
१६ द्रोण	=१ खारी	=३ मन ८ सेर
१० द्रोण	=१ वह	=२ मन
२० द्रोण	=१ कुम्भ	=४ मन

बट्टे लोहे या पत्थर के होते थे। चाणक्य के अनुसार बट्टे बनाने में ऐसी धातु या अन्य पदार्थ इस्तेमाल करने चाहिएँ, जो गीले होने से खराब न हों, और गरमी से भी जिनपर असर न पड़े।

माप के लिये निम्नलिखित परिमाण अर्थशास्त्र में लिखे गये हैं :—

आठ परमाणु =एक विप्रुट्
आठ विप्रुट् =एक लिक्षा
आठ लिक्षा =एक यूकामध्य
आठ यूकामध्य=एक यवमध्य
आठ यवमध्य=एक अंगुल
चार अंगुल =एक धनुर्ग्रह
आठ अंगुल =एक धनुर्मुष्टि
बारह अंगुल =एक वितस्ति
दो वितस्ति =एक अरत्नि
४२ अंगुल =एक किष्कु
८४ अंगुल =एक व्याम
१०८ अंगुल =एक गार्हपत्य या धनु
१९२ अंगुल =एक दण्ड
१० दण्ड =एक रज्जु
१००० धनु =एक गोरुत या क्रोश
४ गोरुत =एक योजन।

इस परिमाण में एक अंगुल वर्तमान समय के $\frac{3}{4}$ इंच के बराबर है, और इस हिसाब से १ गोरुत या क्रोश २२५० गज के और एक योजन ५$\frac{5}{44}$ मील के बराबर है।

मुद्रापद्धति—मौर्यकाल के कोई सिक्के अभी तक उपलब्ध नहीं हुए। पर कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से उस समय की मुद्रापद्धति के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी निर्देश प्राप्त होते हैं। मौर्यकाल में मुद्रा पद्धति के संचालन के लिये एक पृथक् अमात्य होता था, जिसे 'लक्षणाध्यक्ष' कहते थे। टकसाल का प्रधान अधिकारी 'सौवर्णिक' कहलाता था। अर्थशास्त्र में दो प्रकार के सिक्के लिखे हैं :—

१. कोशप्रवेश्य—ये मुख्य सिक्के होते थे, जिन्हें वर्तमान परिभाषा में 'लीगल टेंडर' कहा जा सकता है। राजकीय कर तथा क्रय-विक्रय के लिये इन्हीं को प्रामाणिक माना जाता था।

२. व्यावहारिक—इनकी कीमत कोशप्रवेश्य सिक्कों पर ही आश्रित थी। ये साधारण लेन-देन के काम में आते थे। वर्तमान परिभाषा में इन्हें 'टोकन मनी' कह सकते हैं।

सिक्के अनेक मूल्यों के होते थे। चाँदी के सिक्कों में चार भाग ताँबा, एक भाग त्रपु, सीसा या अन्य धातु और नौ भाग शुद्ध चाँदी रहती थी। इस सिक्के को पण या रूप्यरूप कहते थे। पण के अतिरिक्त वर्तमान अठन्नी, चवन्नी व दुवन्नी के समान अर्धपण, पादपण और अष्टभागपण सिक्के भी प्रयोग में आते थे। चाँदी के पणों व अर्धपणों

आदि के अतिरिक्त ताँबे के सिक्के भी प्रचलित थे, जिन्हें 'ताम्ररूप' या 'माषक' कहते थे। इनके भाग अर्धमाषक, काकणी (¼ माषक) और अर्धकाकणी (⅛ माषक) होते थे। ताँबे और चाँदी के अतिरिक्त सम्भवतः सोने का भी एक सिक्का उस युग में प्रचलित था। इसे 'सुवर्ण' कहते थे और इसका भार ⅘ तोले होता था।

जो नागरिक चाहे धातु ले जाकर सौवर्णिक से सिक्के बनवा सकता था। प्रत्येक सिक्के पर बनवाई के तौर पर एक काकणी ली जाती थी। सिक्कों के बदले में सोने-चाँदी भी खुले तौर पर लिया जा सकता था। "पर ये सिक्के क्षीण और परिजीर्ण नहीं होने चाहिएँ, इनका भार ठीक हो, काल द्वारा या अन्य किसी कारण से ये हलके न हो गये हों।"

सिक्कों के अतिरिक्त कीमत चुकाने के कुछ अन्य साधन भी मौर्यकाल में प्रचलित थे। ऐसे एक साधन 'आदेश' का उल्लेख चाणक्य ने किया है। शब्दार्थ की दृष्टि से किसी व्यक्ति को अन्य किसी व्यक्ति की कीमत चुकाने की आज्ञा का नाम 'आदेश' है। वर्तमान समय में इसी को हुंडी कहते हैं।

सूद के नियम—मौर्यकाल में सूद पर रुपया देने की प्रथा विद्यमान थी। उधार व ऋण को बहुत महत्त्व की बात माना जाता था। इसीलिये चाणक्य ने लिखा है, कि धनिक (उत्तमर्ण) और धारणिक (अधमर्ण) के सम्बन्धों पर राज्य का कल्याण आश्रित है। अर्थशास्त्र में सूद की जो दरें लिखी गयी हैं, वे वर्तमान काल की दृष्टि से बहुत अधिक हैं। उस रुपए के लिए, जिसके डूबने का डर नहीं होता था, जिसे भली-भाँति सुरक्षित समझा जाता था, १५ रु० प्रतिवर्ष प्रतिशत सूद देना होता था। यह दर कम से कम थी। चाणक्य ने इसे कानून से अनुमत लिखा है। पर व्यवहार में सुरक्षितता की कमी के अनुसार सूद की दर इससे बहुत अधिक भी होती थी। साधारणतया ५ प्रतिशत प्रतिमास या ६० फीसदी वार्षिक की दर से रुपया उधार मिलता था। जहाँ खतरा अधिक था, वहाँ सूद की दर इससे भी अधिक होती थी। व्यापार के लिए जंगल में जाने वाले व्यापारियों को १० फीसदी प्रतिमास के हिसाब से सूद देना होता था। समुद्र पार जाने वाले व्यापारियों को २० फीसदी मासिक के हिसाब से सूद देने पर रुपया मिलता था, क्योंकि उसमें रुपये के डूबने का खतरा बहुत अधिक रहता था। इन व्यापारियों को जहाँ भयंकर खतरे का सामना करना होता था, वहाँ उन्हें मुनाफा भी बहुत होता था। इसीलिए वे इतना सूद दे सकते थे। इससे अधिक सूद की दर नहीं बढ़ सकती थी। इससे अधिक सूद लेने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था थी।

कर्जदार या धारणिक के मर जाने पर उसका लड़का कर्ज के लिए उत्तरदायी माना जाता था। यदि मृत धारणिक के कोई सन्तान न हो, तो जो भी उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी हो, वही उसकी देनदारी को अदा करता था। यदि ऋण किसी अमानत के आधार पर लिया गया हो, तो उस अमानत के माल को बेचकर रुपया वसूल कर लिया जाता था।

दासप्रथा—मैगस्थनीज ने लिखा है, कि "भारतवर्ष के विषय में यह ध्यान देने योग्य बात है, कि समस्त भारतीय स्वतन्त्र हैं, उनमें एक भी दास नहीं है। लैसिडि-मोनियन्स और भारतवासी यहाँ तक तो एक-दूसरे से मिलते हैं, पर लैसिडिमोनियन्स

लोगों में हेलॉट लोगों को दासों की तरह रखा जाता है। ये हेलॉट लोग नीचे दरजे का श्रम करते हैं। पर भारतीय लोग विदेशियों तक को दास नहीं बनाते, अपने देश-वासियों की तो बात ही क्या है ?"

इस प्रकार स्पष्ट है, कि ग्रीक लेखकों के अनुसार भारत में दासप्रथा का सर्वथा अभाव था। पर कौटलीय अर्थशास्त्र से इस बात की पुष्टि नहीं होती। सम्भवतः, ग्रीक लोगों की दृष्टि में जो दासप्रथा थी, वह भारत में नहीं थी। यहाँ दासों के साथ उतना कड़ा तथा भयंकर व्यवहार नहीं किया जाता था, जैसा कि ग्रीस व रोम में होता था। पर इस देश में दासप्रथा का अभाव नहीं था। ग्रीक लेखकों में ही ग्रानिसिक्रिटस के अनुसार यह बात (दास प्रथा का अभाव) केवल उसी प्रदेश के सम्बन्ध में ठीक थी, जहाँ मूसिकेनस (मुचिकर्ण) राज्य था। यह राज्य सिकन्दर के आक्रमण के समय सिन्ध में था वहाँ यदि अनार्य दासों का सर्वथा अभाव हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से दासप्रथा के सम्बन्ध में जो बातें ज्ञात होती हैं, वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं।—१. उस समय में जो दास जन्म से होते थे, उन्हें खरीदा और बेचा जा सकता था। २. म्लेच्छ (आर्य-भिन्न) लोग अपने बच्चों व अन्य सम्बन्धियों को दास की भाँति बेच सकते थे। पर आर्यों में यह प्रथा नहीं थी, उन्हें अपने सम्बन्धियों को बेचने पर कठोर दण्ड मिलता था। ३. साधारणतया आर्य दास नहीं बन सकता था। पर कुछ अवस्थाओं में आर्य भी थोड़े समय के लिए दास हो सकता था—(क) अपने परिवार को आर्थिक संकट से बचाने के लिए यदि अपने को बेचना आवश्यक हो। (ख) जुरमानों का दण्ड अदा करने के लिए। (ग) यदि राजदण्ड दास बनने का मिला हो। (घ) यदि युद्ध में जीतकर दास बनाया गया हो। ४. दासों से बुरा व्यवहार नहीं किया जाता था। उनसे मुरदा उठवाना, मूत्र, विष्ठा व जूठा उठवाना निषिद्ध था। वे नंगे नहीं रखे जा सकते थे। उन्हें पीटना या गाली देना भी मना था। ५. दास लोग स्वामी के कार्य को नुकसान न पहुँचाते हुए अपनी अलग कमाई कर सकते थे। अपने माता-पिता से प्राप्त सम्पत्ति पर भी दासों का अधिकार होता था। ६. कीमत चुकाकर दास लोग फिर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकते थे। ७. बिना वारण्ट के दासों को कैद में नहीं डाला जा सकता था। ऐसा करने पर स्वामी को दण्ड मिलता था। ८. दास-स्त्रियों व लड़कियों के साथ अनाचार नहीं किया जा सकता था। यदि स्वामी किसी-दास स्त्री से अनाचार करे, तो फिर वह दास नहीं रह जाती थी, और स्वामी का उस पर अधिकार नहीं रहता था। ९. आर्य दास की सन्तान दास नहीं होती थी, वह आर्य ही मानी जाती थी। १०. कीमत चुकाने पर जन्म के दास भी स्वतन्त्र हो सकते थे। स्वतन्त्र होने के लिये दास लोग अलग कमाई करते थे। सम्बन्धी लोग भी कीमत चुका कर दास को स्वतन्त्र करा सकते थे।

इन विविध नियमों के कारण भारत में दास प्रथा का रूप ग्रीक व रोम की दास प्रथा से बहुत भिन्न था। इसी कारण मैगस्थनीज को यहाँ इस प्रथा का सर्वथा अभाव अनुभव हुआ था।

(४) मौर्यकालीन समाज और सभ्यता

भारतीय समाज के विविध वर्ग—मैगस्थनीज के अनुसार भारत की जनता

सात वर्गों में बंटी हुई थी। यवन यात्री का यह वर्णन उस समय के समाज पर बहुत अच्छा प्रकाश डालता है :—

'भारतवर्ष की सारी आबादी सात जातियों (वर्गों) में बंटी है। पहली जाति दार्शनिकों के समुदाय से बनी है, जो यद्यपि संख्या की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा कम है, तथापि प्रतिष्ठा में उन सबसे श्रेष्ठ है। दार्शनिक लोग सभी सार्वजनिक कर्त्तव्यों से मुक्त है, इसलिए न तो किसी के दास हैं, और न किसी के स्वामी। गृहस्थी लोगों के द्वारा ये बलि प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिए नियुक्त किये जाते हैं, क्योंकि लोगों का विश्वास है कि ये देवताओं के बहुत प्रिय हैं, और परलोक-सम्बन्धी बातों में बहुत निपुण हैं। इन क्रियाओं के बदले में ये बहुमूल्य दान पाते हैं। भारत के लोगों को इनसे बहुत लाभ पहुँचता है। साल के प्रारम्भ में जब ये लोग एकत्रित होते हैं, तो अनावृष्टि, शीत, आंधी, रोग आदि की पहले से ही सूचना दे देते है। इसी तरह की अन्य बहुत-सी बातों को भी ये पहले से ही बता देते है, जिनसे कि सर्वसाधारण को बहुत लाभ पहुंचता है। इस प्रकार राजा और प्रजा—दोनों भविष्य को पहले से ही जानकर उसका प्रबन्ध कर सकते हैं। जो वस्तु आवश्यकता के समय काम आवेगी, उसका पहले से ही प्रबन्ध करने में वे कभी नहीं चूकते। जो दार्शनिक अपनी भविष्यवाणी में भूल करता है, उसको निन्दा के सिवाय अन्य कोई दण्ड नहीं मिलता। भविष्यवाणी अशुद्ध होने की दशा में फिर दार्शनिक जीवन भर मौन अवलम्बन कर लेता है।

'दूसरी जाति में किसान लोग है, जो दूसरों से संख्या में बहुत अधिक है। वे राजा को भूमि-कर देते है। किसान लोग स्वयं अपनी स्त्रियों और बच्चों के साथ में रहते है, और नगरों में जाने-आने से बिलकुल बचते है।

'तीसरी जाति के अन्तर्गत अहीर, गडरिए तथा सब प्रकार के चरवाहे हैं, जो न नगरों में बसते हैं और न ग्रामों में, बल्कि डेरों में रहते है। शिकार तथा पशुओं को जाल आदि में फंसाकर ये देश को हानिकर पक्षियों और जंगली पशुओं से मुक्त करते हैं। ये अपने इस कार्य में बड़े उत्साह के साथ लगे रहते हैं। इसी लिए वे भारत को उन विपत्तियों से मुक्त करते है, जो कि यहां पर बड़ी मात्रा में विद्यमान है, जैसे सब प्रकार के जंगली जन्तु और किसानों के बोये हुए बीजों को खा जाने वाले पक्षी।

'चौथी जाति कारीगर लोगों की है। इनमें कुछ कवच बनाने वाले है, और कुछ उन विविध उपकरणों (औजारों) को बनाते है, जिनका किसान तथा अन्य व्यवसायी लोग उपयोग करते है।

'पांचवीं जाति सैनिकों की है। यह भली-भांति संगठित तथा युद्ध के लिए सुसज्जित रहती है। संख्या में इसका दूसरा स्थान है। शान्ति के समय यह आलस्य और आमोद-प्रमोद में मग्न रहती है। सेना, योद्धा, सैनिक, युद्ध के घोड़े-हाथी सबका राजकीय खर्च से पालन होता है।

'छठी जाति में निरीक्षक लोग है। इनका काम यह है कि जो कुछ भारतवर्ष में होता है, उसकी खोज तथा देख-भाल करते रहें और राजा को, तथा जहां राजा न हो वहां अन्य किसी राजकीय शासक को, उसकी सूचना देते रहें।

'सातवीं जाति सभासदों तथा अन्य शासनकर्ताओं की है। ये लोग राज्य-कार्य

की देखभाल करते हैं। संख्या की दृष्टि से यह जाति सबसे छोटी है, पर अपने चरित्र तथा बुद्धि के कारण सबसे प्रतिष्ठित है। इसी जाति से राजा के मन्त्रिगण, राज्य के कोषाध्यक्ष और न्यायकर्ता लिये जाते हैं। सेना के नायक व मुख्य शासक लोग प्रायः इसी जाति के होते हैं।"

मैगस्थनीज द्वारा वर्णित भारतीय समाज के इन सात वर्गों को हम क्रमशः ब्राह्मण-श्रमण, कृषक, गोपाल-श्वगणिक, कारु-शिल्पि-वैदेहक, भट, प्रतिवेदक-अध्यक्ष-सत्रिक और मन्त्रि-महामात्र-अमात्य कह सकते हैं। ये सात कोई पृथक् जातियाँ नहीं थीं। यवन यात्री मैगस्थनीज ने भारत के समाज की जो दशा देखी, उसके अनुसार उसने ये सात वर्ग यहाँ पाये।

विवाह तथा स्त्रियों की स्थिति—मौर्यकाल में बहुविवाह की प्रथा विद्यमान थी। मैगस्थनीज ने लिखा है—'वे बहुत-सी स्त्रियों से विवाह करते हैं।' विवाहित स्त्रियों के अतिरिक्त अनेक स्त्रियों को आमोद-प्रमोद के लिए भी घर में रखा जाता था। मैगस्थनीज के अनुसार 'कुछ को तो वे दत्तचित्त सहधर्मिणी बनाने के लिये विवाह करके लाते हैं, और कुछ को केवल आनन्द के हेतु तथा घर को लड़कों से भर देने के लिये।' कौटलीय अर्थशास्त्र से भी यह बात पुष्ट होती हैं। वहाँ लिखा है—'पुरुष कितनी ही स्त्रियों से विवाह कर सकता है, स्त्रियाँ सन्तान उत्पन्न करने के लिये ही हैं।'

मौर्ययुग में दहेज प्रथा की सत्ता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि दहेज (शुल्क) लेकर किये गये विवाह को आसुर नाम दिया गया है, पर उस समय में यह अच्छी तरह प्रचलित था। इसी लिये चाणक्य को दहेज के सम्बन्ध में बहुत-से नियम बनाने की आवश्यकता हुई थी। शुल्क (दहेज) पर वर के माता-पिता का अधिकार होता था। दोनों के अभाव में ही वधू दहेज की अधिकारिणी हो सकती थी। पति के मरने पर स्त्री को दहेज का बचा हुआ भाग मिल जाता था।

पुरुष और स्त्री दोनों को इस युग में पुनर्विवाह का अधिकार था। पुरुषों के पुनर्विवाह के सम्बन्ध में ये नियम दिये गये हैं—'यदि किसी स्त्री के आठ साल तक बच्चा न हो, या जिसके कोई पुरुष सन्तान न हो, या जो बन्ध्या हो, उसका पति पुनर्विवाह से पूर्व आठ वर्ष तक प्रतीक्षा करे। यदि स्त्री के मृत बच्चा पैदा हो, तो दस साल तक प्रतीक्षा करे। केवल लड़कियाँ ही उत्पन्न हों, तो बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे। इसके बाद पुत्र की इच्छा होने पर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है।' स्त्री के मर जाने पर तो पुनर्विवाह हो ही सकता था।

पुरुषों की तरह स्त्रियों को भी पुनर्विवाह का अधिकार था। पति के मरने पर यदि स्त्री दूसरा विवाह करना चाहे, तो उसे अपने श्वसुर तथा पतिपक्ष के अन्य सम्बन्धियों द्वारा प्राप्त धन वापस देना होता था। परन्तु यदि पुनर्विवाह श्वसुर की अनुमति से हो, तो स्त्री इस धन को अपने पास रख सकती थी। पति की मृत्यु के अतिरिक्त भी कुछ अवस्थाओं में स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार था। 'यदि किसी स्त्री के कोई सन्तान न हो और उसका पति विदेश गया हुआ हो, तो वह एक साल तक प्रतीक्षा करे। यदि उसके कोई सन्तान हो, तो अधिक समय तक प्रतीक्षा करे। यदि पति स्त्री के लिये भरण-पोषण का प्रबन्ध कर गया हो, तो दुगुने समय तक प्रतीक्षा की जाय। यदि पति

विद्याध्ययन के लिये विदेश गया हो, तो सन्तान-रहित स्त्री दस वर्ष और सन्तान-सहित स्त्री बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे', ये नियम उस समय प्रचलित थे।

मौर्यकाल में नियोग की प्रथा भी थी। यदि कोई राजपुरुष विदेश गया हुआ हो, तो उसकी स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं था। पर वह किसी अन्य पुरुष से बच्चा उत्पन्न कर सकती थी। चाणक्य ने लिखा है, कि इस प्रकार अपने वंश की रक्षा के लिये सन्तान उत्पन्न कर लेना बदनामी का कारण नहीं होना चाहिए।

मौर्यकाल में तलाक की प्रथा भी विद्यमान थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिये 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष दोनों को ही तलाक का अधिकार था। इस विषय में अर्थशास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं :—

'यदि कोई पति बुरे आचार का है, परदेश गया हुआ है, राज्य का द्वेषी है या यदि कोई पति खूनी है, पतित है, या नपुंसक है, तो स्त्री उसका त्याग कर सकती है।

'पति से घृणा करती हुई स्त्री उस (पति) की इच्छा के बिना तलाक नहीं दे सकती। इसी तरह से घृणा करता हुआ पति उस (स्त्री) की इच्छा के बिना तलाक नहीं दे सकता। पर पारस्परिक घृणा से तलाक हो सकता है।

'यदि स्त्री से तंग आकर पुरुष उसको तलाक देना चाहे, तो जो धन स्त्री की ओर से उसे मिला हो, वह उसे लौटा दिया जाय, परन्तु यदि स्त्री पति से तंग आकर तलाक चाहे, तो उसका धन उसे न लौटाया जाय।'

यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि ब्राह्म, प्राजापत्य आदि पहले प्रकार के चार 'धर्मानुकूल' विवाहों में तलाक नहीं हो सकता था। तलाक केवल आसुर, गान्धर्व आदि पिछले चार विवाहों मे ही विहित था।

मैगस्थनीज तथा कौटल्य दोनों के ग्रन्थों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्य-काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊँची नहीं थी। मैगस्थनीज ने स्त्रियों के खरीदने व बेचने की बात लिखी है। उसके अनुसार एक जोड़ा बैल देकर पुरुष स्त्रियों को खरीद लेते थे। इसी तरह राजा लोग अपने साथ रखने के लिये बहुत-सी स्त्रियों को उनके माता-पिता से क्रय कर लेते थे। वर्तमान अर्थ में स्त्रियों को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। उन्हें प्रायः पति की आज्ञा में और घर के भीतर ही रहना होता था। इस विषय में अर्थ-शास्त्र के निम्नलिखित नियम ध्यान देने योग्य हैं—'खतरे को छोड़कर यदि किसी अन्य कारण से कोई स्त्री अपने पति के घर से बाहर जाय, तो उसपर छः पण जुरमाना किया जाय। यदि वह पति की आज्ञा के विरुद्ध घर से बाहर जाय, तो बारह पण जुरमाना किया जाय, यदि स्त्री पड़ोसी के घर से परे चली जाय, तो उस पर छः पण जुरमाना किया जाय।' मौर्यकाल में स्त्रियाँ प्रायः परदे में रहती थी। अर्थशास्त्र में स्त्रियों को 'न निकलने वाली' कहा गया है।

धार्मिक विश्वास—चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में यज्ञों में पशुहिंसा, बलिदान तथा श्राद्ध प्रचलित थे। मैगस्थनीज ने लिखा है—'यज्ञ व श्राद्ध में कोई मुकुट धारण नहीं करता। वे बलि के पशु को छुरी घुसा कर नहीं मारते, अपितु गला घोंटकर मारते हैं, जिससे देवता को खण्डित वस्तु भेंट न करके पूरी वस्तु भेंट में दी जाय।'

'एक प्रयोजन जिसके लिये राजा अपना महल छोड़ता है, वलि प्रदान करना है। पर गृहस्थ लोगों द्वारा ये दार्शनिक वलि प्रदान करने तथा मृतकों का श्राद्ध करने के लिये नियत किये जाते हैं।''

मैगस्थनीज के उद्धरणों से स्पष्ट है, कि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में पशुवलि की प्रथा भली-भाँति प्रचलित थी। यद्यपि वौद्ध और जैन धर्मों का इस समय प्रचार हो चुका था, पर अभी यज्ञों में पशु बलि देने की प्रथा नष्ट नहीं हुई थी। आगे चलकर अशोक के समय में बौद्ध धर्म का प्रचार विशेष रूप से हुआ, और तव पशुहिंसा और 'समाजों' में पशुओं के द्वन्द्वयुद्धों को बन्द करने का प्रयत्न किया गया। कौटलीय अर्थ-शास्त्र में यज्ञों के विविध अनुष्ठानों तथा ऋत्विक् आदि यज्ञकर्त्ताओं का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है।

अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में अनेकविध सम्प्रदाय विद्यमान थे। वहाँ लिखा है—'नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त—इनके कोष्ठ और शिव, वैश्रवण, अश्विन् और श्रीमदिरा के गृह वनाये जाएं। इन कोष्ठों और गृहों में यथास्थान देवताओं (वास्तुदेवता=स्थावर रूप में वर्तमान देवता) की स्थापना की जाय। भिन्न-भिन्न दिशाओं में यथास्थान दिग्देवताओं (दिशा के देवताओं) की स्थापना की जाय।'

स्पष्ट है, कि मौर्यकाल में अनेक देवताओं की पूजा प्रचलित थी, और उनके लिये अलग-अलग मन्दिर बने होते थे। देवताओं की मूर्ति वनाने का शिल्प उस समय उन्नति पर था। यह कार्य करने वाले 'देवता-कारु' कहलाते थे। नगर के द्वारों के नाम ब्रह्मा, इन्द्र, यम आदि के नाम पर रखे जाते थे। तीर्थ यात्रा का भी उस समय रिवाज था। तीर्थों में यात्रा पर एकत्रित लोगों से 'तीर्थ-कर' लिया जाता था। विविध सम्प्रदायों के लिये 'पाषण्ड' शब्द व्यवहार में आता था। अशोक के शिलालेखों में भी सम्प्रदायों को 'पाषण्ड' कहा गया है। संभवतः, विविध धर्मों के अनुयायी भिक्षुओं के मठों या अखाड़ों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था। चाणक्य की इनसे जरा भी सहानुभूति नहीं थी। उनके विचार सांसारिक उत्कर्ष, समृद्धि और गृहस्थ की उच्चता के पक्षपाती थे। संसार से विरक्त होकर 'पापण्डों' में शामिल होना उनके आदर्शों के प्रतिकूल था। इसीलिये उन्होंने व्यवस्था की थी, कि पापण्डों को शहर से वाहर श्मशान से परे चाण्डालों की वस्ती के पास जगह दी जाय। शहरों से वाहर रहते हुए, सुवर्ण या सुवर्ण-मुद्रा न रखने के कारण ये निश्चिन्त होकर वस सकते थे। पर यह ध्यान रखा जाता था, कि एक पाषण्ड से दूसरे पाषण्ड को बाधा न पहुँचे।

देवताओं और धर्म मन्दिरों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। उनके प्रति किसी तरह का कुवाक्य बोलने पर कड़े दण्ड की व्यवस्था थी। लोग तन्त्र-मन्त्र में विश्वास रखते थे। मंत्र की साधना से अभिलषित फल की सिद्धि होती है, यह बात सर्वसाधारण में मान्य थी। उस युग में अनेक लोग धर्म के विविध ढोंग वना कर जनता को ठगा भी करते थे। इसीलिये आचार्य चाणक्य ने शत्रुओं पर काबू पाने के उपायों का वर्णन करते हुए लिखा है, कि मुण्ड या जटिल के वेश में गुप्तचर लोग बहुत-से चेलों को साथ लेकर नगर के समीप आकर बैठ जाएँ। पूछने पर बताएँ, कि हम पर्वत की

ा में रहने वाले हैं, और हमारी आयु ४०० वर्ष की है। शिष्य लोग मूल, फल आदि लेने
लिये शहर में जाकर अमात्यों और राजकुल के लोगों को महात्मा जी के दर्शनों के लिये
रित करें। जब राजा दर्शनों के लिये आये, तो उसे पुराने राजा और देश के सम्बन्ध में
धर-उधर की बातें बतलाए और कहे कि 'सौ-सौ साल बाद आग में प्रवेश कर मैं फिर
लक बन जाता हूँ। अब मैं आपके सम्मुख चौथी बार आग में प्रवेश करूँगा। आप
वश्य ही देखने आइए। जो इच्छा हो, तीन वर माँग लो', इस प्रकार अपना विश्वास
माकर गुप्तचर अपने कार्य की सिद्धि करते थे।

यह नहीं समझना चाहिये कि महात्मा बुद्ध के बाद भारत में अन्य धर्मों का लोप
कर केवल बौद्ध-धर्म का ही प्रचार हो गया था। प्राचीन यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्म, विविध
री देवताओं की पूजा, अनेक पाषण्ड आदि उस युग में भी विद्यमान थे। अशोक के
मय में बौद्ध धर्म का प्रचार भारत में बहुत बढ़ गया, पर अन्य सम्प्रदाय भी कायम रहे।
क्तिप्रधान वैष्णव या भागवत धर्म का अंकुर भी इस युग में भली-भाँति पल्लवित हो रहा
। आगे चलकर यह भारत का प्रमुख धर्म हो गया। मैगस्थनीज ने लिखा है, कि
रसेन देश में कृष्ण की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है। राजपूताना में चित्तौड़ के
मीप प्राचीन माध्यमिका नगरी के भग्नावशेषों के समीप घोसुंडी नामक गाँव में मौर्य
ाल का एक विशाल शिलालेख मिला है, जिसमें संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये
ान देने की बात उत्कीर्ण है। इससे सूचित होता है, कि मौर्यकाल में भागवत धर्म का प्रचार
रसेन देश से बाहर भी राजपूताना तक हो चुका था।

भारतीयों का भोजन और पान—मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब भारतीय
ोग भोजन के लिये बैठते हैं, तो प्रत्येक व्यक्ति के सामने मेज रखी है, जो कि तिपाई
ी शक्ल की होती है। इनके ऊपर एक सोने का प्याला रखा जाता है, जिसमें सबसे पहले
ावल परोसे जाते है। वे इस तरह उबले हुए होते है, जैसे जौ हों। इसके बाद बहुत
हुत-से पक्वान्न परोसे जाते है, जो भारतीय सामग्रियों के अनुसार तैयार किये जाते है।'
क अन्य स्थान पर यवन यात्री ने लिखा है—'वे सदैव अकेले में भोजन करते हैं। वे
ोई ऐसा नियत समय नहीं रखते, जबकि इकट्ठे मिलकर भोजन किया जाए। जिस
मय जिसकी इच्छा होती है, वह तभी भोजन कर लेता है।'

सोने के प्याले मे तो राजकुल के उच्च राजकर्मचारी ही भोजन करते होंगे,
जनसे मिलने का सैल्युकस सम्राट् के राजदूत को प्रायः अवसर मिलता रहता होगा,
र मैगस्थनीज के इस विवरण से भोजन के सम्बन्ध में भारतीयों की परिपाटी का अच्छा
रिचय मिल जाता है।

मौर्यकाल के भारतीय स्वादु भोजन बनाने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। राजा
ी जो महानस (रसोई) होती थी, उसके विषय में चाणक्य ने लिखा है कि तरह-तरह
 सुस्वादु भोजन तैयार कराये जाएं। भिन्न-भिन्न वस्तुओं को पकाने के लिये अलग-
अलग पाचक होते थे। साधारण बाजार में भी अनेकविध भोज्य पदार्थों के अलग-
अलग विक्रेता होते थे। मांस-भोजन का उस समय बहुत रिवाज था। इस युग में
हुत-से पशु-पक्षी, मछली आदि जन्तुओं को भोजन के लिये मारा व बेचा जाता था।
ांस को सुखाकर भी रखा जाता था। विविध भोज्य पदार्थों को बनवाने वालों के

कुछ के नाम निम्नलिखित हैं :—

१. पक्वान्नपणयः—पक्वान्न या पकवान बेचने वाले।

२. मांसपण्याः—मांस बेचने वाले।

३. पक्वमांसिका—मांस पकाकर बेचने वाले।

४. औदनिकाः—चावल-दाल पकाकर बेचने वाले।

५. शौण्डिकाः—शराब बेचने वाले।

६. आपूपिकाः—रोटी बनाकर बेचने वाले।

अशोक के प्रयत्नों से प्राचीन भारत में मांस का उपयोग कुछ कम अवश्य हुआ, पर बौद्ध-धर्म को स्वीकार करने के बाद भी अशोक के महानस में मांस बनना और उसके लिये पशु-हत्या जारी रही थी। यही दशा बौद्ध-धर्म के अन्य अनुयायियों की भी थी।

शराब का प्रचार भी मौर्ययुग में बहुत था। शराब के बेचने तथा पीने के लिये बड़ी-बड़ी दूकानें होती थीं, जिनमें अलग-अलग कमरे बने होते थे। प्रत्येक कमरे में सोने के लिये अलग-अलग बिस्तर बिछे होते थे। साथ ही, बैठने के लिये अनेकविध आसन, सुगन्धि, फूल, माला, जल तथा आराम की अन्य वस्तुएँ सुसज्जित रहती थीं। इन सुन्दर सुसज्जित कमरों में विदेशी तथा भारतीय लोग शराब का आनन्द उठाते थे। शराब गृहों में दूकानदार लोग केवल शराब ही नहीं देते थे, अपितु अपने ग्राहकों के भोग के लिये सुन्दर रूप वाली दासियाँ व वेश्याएँ भी पेश करते थे।

शराब केवल शराबखानों में ही पी जा सकती थी। बाहर ले जाकर उसे पीने की अनुमति नहीं मिलती थी। केवल वे ही लोग अपने घर में शराब ले जा सकते थे, जो भली-भांति सब के जाने बूझे हों, और जिनके चरित्र की पवित्रता भली-भांति ज्ञात हो। आचार्य चाणक्य अनुभव करते थे, कि शराब एक हानिकारक वस्तु है। उनकी सम्मति में शराब के सेवन से यह भय सदा बना रहता है, कि काम में लगे हुए श्रमी लोग प्रमाद में न फँस जाएँ, आर्य लोग मर्यादा का भंग न करने लगें, और तीक्ष्णप्रकृति के लोग अव्यवस्था न मचा दें। इसीलिये यह नियम बनाया गया था कि लोगों के चरित्र तथा आचार को देखकर $\frac{1}{4}$ कुडुम्ब, $\frac{1}{2}$ कुडुम्ब, १ कुडुम्ब, $\frac{1}{2}$ प्रस्थ तथा १ प्रस्थ से अधिक शराब किसी को न दी जाय। संभवतः, इसी नियम का यह परिणाम था, कि शराब का सेवन भारत में बहुत मर्यादित था, और मैगस्थनीज यह लिख सका था, कि भारतीय लोग मदिरा नहीं पीते। उसके अनुसार मदिरा का सेवन केवल यज्ञों में ही होता था।

आमोद-प्रमोद—अर्थशास्त्र के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि मौर्यकाल में बहुत-से ऐसे लोग भी थे, जिनका पेशा लोगों का आमोद-प्रमोद करना तथा तमाशे दिखाना होता था। ये लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर तमाशा दिखाते हुए घूमते रहते थे। अर्थशास्त्र में ऐसे नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक (तरह-तरह की बोलियाँ बोलकर आजीविका कमाने वाले), कुशीलव, प्लवक (रस्सी पर नाचने वाले), सौभिक (मदारी) और चारणों का उल्लेख किया गया है। ये सब शहर या गाँव के बाहर तमाशे दिखाया करते थे। प्रेक्षा (तमाशा) के लिये इन्हें लाइसेंस लेना पड़ता था, और इसके लिये राज्य को पाँच पण दिये जाते थे। अनेक बार तमाशे का प्रबन्ध ग्राम की तरफ से भी होता था। इस दशा में ग्राम के सब निवासी उसमें अपनी ओर से

हिस्सा डालते थे। जो हिस्सा न डाले, उसे प्रेक्षा में शामिल होने का अधिकार नहीं होता था। आचार्य चाणक्य की सम्मति में नट, नर्तक आदि तमाशाई लोग गाँव के कार्य में विघ्न डालने वाले होते हैं, अतः उन्हें वहाँ खुली छूट नहीं देनी चाहिए। प्रेक्षाएं उतनी ही होनी चाहिएँ, जिनसे कि ग्राम के लोगों को अपने कार्य में हानि न पहुँचे।

शिकार खेलने का उस समय बहुत रिवाज था। मैगस्थनीज ने लिखा है—'जब राजा शिकार के लिये राजप्रासाद से निकलता है, तो स्त्रियों की भीड़ उसे घेरे रहती है। उनके घेरे के बाहर बरछे वाले रहते हैं। मार्ग का चिह्न रस्सों से डाला जाता है। इन रस्सों के भीतर जाना स्त्री या पुरुष सब के लिये मृत्यु को निमन्त्रण देना है। ढोल और झांझ लेकर आदमी इस दल के आगे-आगे चलते हैं। राजा घेरों के भीतर से शिकार खेलता है, और चबूतरे से तीर चलाता है। उसके बगल में दो या तीन हथियारबन्द स्त्रियां खड़ी होती हैं। यदि वह खुले मैदान में शिकार करता है, तो वह हाथी की पीठ से तीर चलाता है। स्त्रियों में कुछ तो रथ के भीतर रहती है, कुछ घोड़ों पर और कुछ हाथियों पर। वे हर प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित रहती हैं, मानो वे किसी चढ़ाई पर जा रही हों।' केवल आमोद-प्रमोद के लिये मौर्य-सम्राट् जो शिकार-यात्रा करते थे, यह उसी का वर्णन है। उस युग में शिकार के लिये पृथक् रूप से वन सुरक्षित रखे जाते थे। राजा के विहार के लिये ऐसे जंगल भी होते थे, जिनके चारों ओर खाई खुदी रहती थी, और जिनमें प्रवेश के लिये केवल एक ही द्वार होता था। इनमें शिकार के लिये पशु पाले जाते थे, और राजा इनमें स्वच्छन्द रूप से शिकार खेल सकता था।

विविध 'समाजों' में पशुओं की लड़ाई और मल्लयुद्ध देखने का भी जनता को बड़ा शौक था। अशोक को ये समाज पसन्द नही थे, इन्हें उसने बन्द कर दिया था।

रीति-रिवाज और स्वभाव—मौर्यकालीन भारतीयों के रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में यूनानी लेखकों के कुछ विवरण उद्धृत करने योग्य है। हम उन्हें यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी समझते है :—

'भारतीय लोग किफायत के साथ रहते है, विशेषतः उस समय जब कि वे कैम्प में हों। वे अनियन्त्रित भीड़ को नापसन्द करते हैं। इसीलिये वे हमेशा व्यवस्था बनाये रखते हैं।'

'भारतीय लोग अपने चाल-चलन मे सीधे और मितव्ययी होने के कारण बड़े सुख से रहते हैं।'

'उनके कानून और व्यवहार की सरलता इससे अच्छी तरह प्रमाणित होती है, कि वे न्यायालय में बहुत कम जाते हैं। उनमें गिरवी और धरोहर के अभियोग नहीं होते, और न वे मुहर व गवाह की जरूरत रखते हैं। वे एक दूसरे के पास धरोहर रख कर आपस मे विश्वास करते हैं। अपने घर व सम्पत्ति को वे प्रायः अरक्षित अवस्था में भी छोड़ देते हैं। ये बातें सूचित करती हैं, कि उनके भाव उदार व उत्कृष्ट हैं।'

'उनमें व्यायाम करने की सर्वप्रिय रीति संघर्षण है। यह कई प्रकार से किया जाता है, पर संघर्षण प्रायः चिकने आबनूस के बेलनों को त्वचा पर फेरकर होता है।'

'उनके समाधिस्थल सादे होते हैं, मृतक के ऊपर उठाई हुई बेदी नीची होती है।'

'अपने चाल की साधारण सादगी के प्रतिकूल वे बारीकी और सजावट के प्रेमी

होते हैं। उनके वस्त्रों पर सोने का काम किया रहता है। वे (वस्त्र) मूल्यवान् रत्नों से विभूषित रहते हैं। वे लोग अत्यन्त सुन्दर मलमल के बने हुए फूलदार कपड़े पहनते हैं। सेवक लोग उनके पीछे-पीछे छाता लगाये चलते हैं। वे सौन्दर्य का बड़ा ध्यान रखते हैं, और अपने स्वरूप को संवारने में कोई उपाय उठा नहीं रखते।'

'सचाई और सदाचार दोनों की वे समान रूप से प्रतिष्ठा करते हैं।'

'भारतवासी मृतक के लिये कोई स्मारक नहीं उठाते, वरन् उस सत्यशीलता को, जिसे मनुष्यों ने अपने जीवन में दिखलाया है तथा उन गीतों को, जिनमें उनकी प्रशंसा वर्णित रहती है, मरने के बाद उनके स्मारक को बनाये रखने के लिये पर्याप्त समझते हैं।'

'चोरी बहुत कम होती है, मैगस्थनीज कहता है कि उन लोगों ने, जो चंद्रगुप्त के डेरे में थे जिसके भीतर चार लाख मनुष्य थे, देखा कि चोरी जिसकी इत्तला किसी एक दिन होती थी, वह २०० ड्राचमी के मूल्य से अधिक की नहीं होती थी, और यह ऐसे लोगों के बीच, जिनके पास लिपिबद्ध कानून नहीं, वरन् जो लिखने से अनभिज्ञ हैं, और जिन्हें जीवन के समस्त कार्यों में स्मृति ही पर भरोसा करना पड़ता है।'

'भारतीयों में विदेशियों तक के लिये कर्मचारी नियुक्त होते हैं, जिनका काम यह देखना होता है कि किसी विदेशी को हानि न पहुँचने पाये। यदि उन (विदेशियों) में से कोई रोगग्रस्त हो जाता है, तो वे उसकी चिकित्सा के निमित्त वैद्य भेजते हैं तथा और प्रकार से भी उसकी रक्षा करते हैं। यदि वह विदेशी मर जाता है, तो उसे दफना देते हैं और जो सम्पत्ति वह पीछे छोड़ता है, उसे उसके सम्बन्धियों को दे देते हैं। न्यायाधीश लोग भी उन मामलों का, जो विदेशियों से सम्बन्ध रखते हैं, बड़े ध्यान से फैसला करते हैं, और उन लोगों के साथ बड़ी कड़ाई का बरताव करते हैं, जो उनके साथ बुरा व्यवहार करते हैं।'

'भूमि जोतने वाले, चाहे उनके पड़ोस में युद्ध हो रहा हो, तो भी किसी प्रकार के भय की आशंका से विचलित नहीं होते। दोनों ओर के लड़ने वाले युद्ध के समय एक दूसरे का संहार करते हैं। परन्तु जो लोग खेती में लगे हुए रहते हैं, उन्हें पूर्णतया निर्विघ्न अपना कार्य करने देते हैं। इसके अतिरिक्त, न तो वे शत्रु के देश का अग्नि से सत्यानाश करते हैं, और न उनके पेड़ काटते हैं।'

'ब्राह्मण लोग दर्शन के ज्ञान को स्त्रियों को नहीं बताते। उन्हें भय रहता है, कहीं वे दुश्चरित्र न हो जायँ, निषेध किये गये रहस्यों में से किसी को खोल न दें, अथवा यदि वे कहीं उत्तम दार्शनिक हो जाएं, तो उन्हें छोड़ न दें।'

(५) शिक्षणालय

मौर्यकाल में शिक्षा का कार्य आचार्य, पुरोहित, श्रोत्रिय आदि करते थे। उन्हें राज्य की ओर से सहायता दी जाती थी। उन्हें इतनी भूमि दे दी जाती थी, कि वे निश्चिन्त होकर उसकी आमदनी से अपना निर्वाह करें और अध्यापन कार्य में व्यापृत रहें। इस तरह की भूमि को 'ब्रह्मदेय' कहते थे। इससे कोई कर आदि नहीं लिया जाता था। स्वतन्त्र रूप से अध्यापन करने वाले इन ब्राह्मणों के अतिरिक्त इस युग में अनेक

ऐसे शिक्षाकेन्द्र भी थे, जिनमें बहुत-से आचार्य शिक्षा का कार्य करते थे। मौर्यकाल का ऐसा सबसे प्रसिद्ध केन्द्र तक्षशिला था, जहाँ आचार्य चाणक्य नीतिशास्त्र का अध्यापन करते रहे थे।

तक्षशिला में शिक्षा का क्या ढंग था, इस विषय में एक जातक कथा को यहाँ उद्धृत करना बहुत उपयोगी है। "एक बार की बात है, कि बनारस के राजा के एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम कुमार ब्रह्मदत्त रखा गया। पुराने समय में राजा लोगों में यह प्रथा थी, कि चाहे उनके अपने शहर में कोई प्रसिद्ध अध्यापक विद्यमान हो, तो भी वे अपने कुमारों को दूर देशों में शिक्षा पूर्ण करने के लिये भेजना उपयोगी समझते थे। इससे वे यह लाभ समझते थे, कि कुमार निरभिमान और दर्प को वश में करना सीखेंगे, गरमी और सरदी को सहन करेंगे, साथ ही दुनिया के रीति-रिवाजों से भी जानकारी प्राप्त कर सकेंगे। राजा ने भी यही किया। उसने अपने कुमार को बुलाकर, जिसकी आयु अब सोलह वर्ष की हो चुकी थी, उसे एकतलिक जूते, पत्तों का छाता और एक हजार कार्षापण देकर कहा—'तात! तक्षशिला जाओ, और विद्या का अभ्यास करो।' कुमार ने उत्तर दिया—'बहुत अच्छा।' माता पिता से विदा लेकर वह समय पर तक्षशिला पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने आचार्य का घर पूछा। आचार्य विद्यार्थियों के सम्मुख अपना व्याख्यान समाप्त कर चुके थे और अपने घर के द्वार पर घूम रहे थे। आचार्य को देखते ही कुमार ने अपने जूते उतार दिये, छाता बन्द कर दिया और सम्मानपूर्वक वन्दना करके खड़ा हो गया। आचार्य ने देखा कि वह थका हुआ है, अतः उसके भोजन का प्रबन्ध कर उसे आराम करने का आदेश दिया। भोजन करके कुमार ने कुछ देर विश्राम किया और फिर आचार्य के सम्मुख सम्मानपूर्वक प्रणाम कर खड़ा हो गया। आचार्य ने पूछा—'तात! तुम कहाँ से आये हो?' 'वाराणसी से।' 'तुम किनके पुत्र हो?' 'मैं वाराणसी के राजा का पुत्र हूँ।' 'तुम यहाँ किसलिये आये हो?' 'विद्याध्ययन के लिये।' 'बहुत ठीक।' 'क्या तुम आचार्य के लिये उपयुक्त फीस लाये हो, या शिक्षा के बदले सेवा की इच्छा रखते हो?' 'मैं आचार्य के लिये उपयुक्त फीस लाया हूँ।' यह कहकर उसने एक हजार कार्षापणों की थैली आचार्य के चरणों में रख दी। दो तरह के अंतेवासी आचार्य से शिक्षा ग्रहण करते थे। पहले 'धम्मन्तेवासिक', जो दिन में आचार्य का काम करते थे, और रात को शिक्षा प्राप्त करते थे। दूसरे 'आचारिय भागदायक' जो आचार्य के घर में ज्येष्ठ पुत्र की तरह शिक्षा प्राप्त करते थे, और सारा समय विद्याध्ययन में व्यतीत करते थे। क्योंकि कुमार ब्रह्मदत्त आवश्यक फीस साथ लाया था, और वह आचार्य के घर पर ही रहता था, अतः उसे नियमपूर्वक शिक्षा दी गयी। इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने शिक्षा समाप्त की।"

तक्षशिला में अनेक संसारप्रसिद्ध आचार्य शिक्षादान का कार्य करते थे। एक आचार्य के पास प्रायः ५०० विद्यार्थी पढ़ते थे। सम्भवतः, यह कल्पना अनुचित नहीं है, कि तक्षशिला में अनेक कालिज थे, जिनमें से प्रत्येक में ५०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। इन कालिजों के प्रधान को आचार्य कहते थे, जो प्रायः [illegible] व्यक्ति होता था। एक जातक के अनुसार एक आचार्य के पास एक सौ एक राजकुमार शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अनेक राजकुमारों के तो नाम भी दिये गये हैं। न केवल

राजकुमार, पर ब्राह्मण और क्षत्रिय आदि सभी जातियों के छात्र भारत के दूरवर्ती जनपदों से विद्या प्राप्त करने के लिये तक्षशिला आते थे। केवल नीच जातियों के लोग तक्षशिला के 'संसार प्रसिद्ध' आचार्यों से लाभ नहीं उठा सकते थे। एक जातक-कथा के अनुसार एक चाण्डाल ने वेश बदल कर तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी।

तक्षशिला में तीनों वेद, अष्टादश विद्या, विविध शिल्प, धनुर्विद्या, हस्ति विद्या, मन्त्र विद्या, प्राणियों की बोलियों को समझने की विद्या और चिकित्सा शास्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। शैशुनाग, नन्द और मौर्य युगों के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों ने तक्षशिला में ही शिक्षा पायी थी। राजा बिम्बिसार का राजवैद्य जीवक तक्षशिला का ही आचार्य था। कोशलराज प्रसेनजित् तक्षशिला में विद्यार्थी के रूप में रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य भी कुछ समय तक तक्षशिला में आचार्य चाणक्य का शिष्य बनकर रहा था।

मौर्यकाल में काशी भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। तक्षशिला में विद्या प्राप्त कर अनेक आचार्यों ने वहाँ शिक्षण का कार्य शुरू किया, और धीरे-धीरे वह भी एक प्रसिद्ध विद्यापीठ बन गया।

पन्द्रहवां अध्याय

शुंग-सातवाहन-शक युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) शुंग-सातवाहन-शक युग

दूसरी सदी ई० पू० से तीसरी सदी ईस्वी तक भारत में कोई एक ऐसी प्रधान राजशक्ति नहीं थी, जो भारत के बड़े भाग को अपने शासन में रख सकने में समर्थ होती। बार्हद्रथ, शैशुनाग, नन्द और मौर्य वंशों ने जिस विशाल मागध-साम्राज्य का निर्माण किया था, उसकी शक्ति इस युग में क्षीण हो गयी थी। पुष्यमित्र शुंग यवनों को सिन्ध नदी के पार धकेलने में समर्थ हुआ, पर वह कलिंग के चेदि-वंश और प्रतिष्ठान के सातवाहन-वंश की शक्ति का दमन नहीं कर सका। जिस समय शुंग-वंश के राजा मगध और मध्यदेश पर शासन कर रहे थे, सातवाहन-वंश के राजा दक्षिणापथ में अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर थे, उत्तर-पश्चिमी भारत में यवन लोग अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे, और शक-आक्रान्ता सिन्ध व राजपूताना को अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील थे। बाद में पल्हवों (पार्थियन) और कुशाणों ने शकों का अनुसरण कर भारत में प्रवेश किया, और अपने-अपने राज्य स्थापित किये। भारत में किसी एक प्रबल राजशक्ति के अभाव में इस युग को हमने शुंग-सातवाहन-शक युग कहा है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि इस काल में भारत केवल इन तीन राजनीतिक शक्तियों में विभक्त था। शकों के समय में ही यवनों और पल्हवों के राज्य भी इस देश में विद्यमान थे, और बाद में कुशाणों ने मध्यदेश व मगध तक को अपनी अधीनता में कर लिया था।

इस युग की विशेषताएं—भारतीय इतिहास में शुंग-सातवाहन-शक युग का बहुत अधिक महत्त्व है। इस युग की विशेषताओं को हम संक्षेप में इस प्रकार लिख सकते हैं—(१) यवन, शक, पल्हव व कुशाण आक्रान्ता शीघ्र ही पूर्णरूप से भारतीय बन गये। उन्होंने भारत के बौद्ध, शैव व वैष्णव धर्मों को अपना लिया, और संस्कृत व प्राकृत भाषाओं का राज्यकार्य व अपने वैयक्तिक जीवन में प्रयोग प्रारम्भ कर दिया। भारत में उनकी स्थिति विदेशी शासकों की न रहकर अन्य भारतीयों के समान ही हो गयी। (२) इस युग में भारत के धर्म, सभ्यता व संस्कृति का विदेशों में प्रसार हुआ। सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध धर्म के अन्य देशों में प्रचार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, इस युग में उसे बहुत बल मिला। कुशाण राजा कनिष्क का साम्राज्य केवल भारत में ही नहीं था, हिन्दूकुश पर्वत के पश्चिम व उत्तर में चीन की सीमा तक उसका शासन था। कनिष्क के संरक्षण में बौद्ध-धर्म ने बहुत उन्नति की, और सम्पूर्ण मध्य एशिया भारत के सांस्कृतिक प्रभाव में आ गया। चीन आदि अन्य एशियन देशों में भी इस युग में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। केवल बौद्ध-धर्म ही नहीं, अपितु शैव और वैष्णव धर्मों ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। भारतीयों के अनेक नये उपनिवेश पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में इसी युग में स्थापित हुए, और इन

धर्मों ने वहाँ के मूल निवासियों को भी प्रभावित किया। (३) प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान इस युग की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है। बौद्ध और जैन धर्म न ईश्वर को मानते थे, और न ही वेदों की अपौरुषेयता में विश्वास रखते थे। ये धर्म भारत की प्राचीन आर्य-परम्परा के अनुकूल नहीं थे। इसीलिये इस युग में इनके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, और भागवत-धर्म के रूप में प्राचीन आर्य-धर्म का पुनरुद्धार हुआ। (४) यवन, शक, कुशाण आदि विदेशी जातियों के सम्पर्क से भारत के विज्ञान और कला आदि भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके, और उन्होंने एक ऐसा रूप धारण किया, जिसपर विदेशी प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। विदेशियों के आक्रमण से भारत के विदेशी व्यापार में भी सहायता मिली, और प्राचीन ग्रीस व रोम से उसका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ हो गया। (५) भारत में किसी एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के न रहने के कारण इस युग में गणराज्यों को अपनी स्वतंत्रता स्थापित करने का अवसर प्राप्त हुआ। मालव, यौधेय, कुणिन्द, आर्जुनायन, शिवि, लिच्छवि आदि पुराने गणराज्यों का पुनरुत्थान इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विदेशी आक्रान्ताओं का मुकाबला करने में इन्होंने अपूर्व कर्तृत्व प्रदर्शित किया। इसमें सन्देह नहीं, कि ये गणराज्य भी इस युग की भारतीय राजशक्तियों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे।

(२) विदेशियों का भारतीय बनना

दूसरी सदी ई० पू० में यवन, शक, पल्हव और कुशाण जातियों के रूप में जिन विदेशी लोगों ने भारत में अपने राज्य स्थापित किये, वे इस देश के सम्पर्क में आकर पूर्णतया भारतीय बन गये। उन्होंने न केवल भारत के धर्म को अपितु इस देश की भाषा को भी अपना लिया। सभ्यता की दृष्टि से शक लोग बहुत उन्नत नहीं थे, पर बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने भारत में प्रवेश किया था, वे प्राचीन ग्रीक (यवन) लोगों के समान ही सभ्य व सुसंस्कृत थे। इसी प्रकार पार्थिया के पार्थियन (पह्लव) लोग ग्रीस के सम्पर्क में आकर सभ्य बन चुके थे। इन उन्नत सभ्य लोगों का भारतीय धर्म और भाषा को अपना लेना भारत के लिये बहुत गौरव की बात थी, और इससे यह सूचित होता है कि इस युग के भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ग्रीक लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। जिस प्रकार जल की धारा ऊपर से नीचे की ओर बहती है, वैसे ही सभ्यता का बहाव भी ऊँचाई से निचाई की तरफ होता है। जब कोई दो जातियाँ एक दूसरे के सम्पर्क में आती हैं तो उनमें जो सभ्यता की दृष्टि से अधिक उन्नत होती है, वह अवनत जाति को अपने प्रभाव में ले आती है। यह इतिहास का एक सत्य सिद्धान्त है। यवन, शक, पह्लव व कुशाण लोग भारत के धर्म, भाषा व संस्कृति के किस प्रकार प्रभाव में आये, इसे स्पष्ट करने के लिये उनके कुछ उत्कीर्ण लेखों को उद्धृत करना पर्याप्त होगा।

यवन—नासिक की एक गुफा में एक यवन द्वारा उत्कीर्ण यह लेख विद्यमान है—"सिद्धि! ओतराह (उत्तरापथ के) दातामितियक (दिमित्र द्वारा स्थापित दात्तामित्री नगरी के निवासी) योनक (यवन) धम्मदेव के पुत्र इन्द्राग्निदत्त का (दान)। (उस) धर्मात्मा ने यह गुहा तिरण्ह पर्वत में खुदवाई, और गुहा के भीतर चैत्यगृह तथा पोढ़ियाँ।" इस लेख को लिखवाने वाले यवन ने न केवल बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया था, अपितु

उसका नाम भी इन्द्राग्निमित्र था। उसका पिता भी यवन धम्मदेव था।

तक्षशिला के यवन-राजा ने हेलिउदोर नाम के जिस यवन को अपना राजदूत बनाकर मगध के शुंग राजा की राजसभा में भेजा था, उसने भागवत धर्म को स्वीकार कर भगवान् विष्णु के एक गरुड़ध्वज (प्रस्तर का स्तम्भ जिसके शीर्ष भाग पर गरुड की मूर्ति थी) का निर्माण कराया था, जिसपर यह लेख उत्कीर्ण है—"देवों के देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज यहाँ बनवाया। महाराज अन्तलिकित के यहाँ से राजा कासीपुत भागभद्र त्राता के—जो कि अपने शासन के चौदहवें वर्ष में वर्तमान है—पास आये हुए तखशिला (तक्षशिला) के रहने वाले दिये के पुत्र योनदूत भागवत हेलिउदोर ने।"

यवनराजा मिनान्दर (मिलिन्द) ने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर इस धर्म के इतिहास में जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया था, उसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। नागसेन से दीक्षा लेकर मिनाण्डर ने न केवल बौद्ध-धर्म को अंगीकार किया, अपितु सियाम की अनुश्रुति के अनुसार अर्हत्-पद को भी प्राप्त कर लिया। इसीलिये उसके मरने पर लोग उसकी राख को अपने-अपने नगरों में ले गये और वहाँ उन्होंने आदरपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की। अपने गुरु नागसेन से बौद्ध-धर्म के विषय में जो प्रश्न यवनराज मिनान्दर ने पूछे थे, वे ही 'मिलिन्द-पन्हो' (मिलिन्दप्रश्ना:) नामक पुस्तक में संगृहीत हैं।

भारत में कितने ही ऐसे लेख मिले हैं, जो यवन-शासकों और यवन-नागरिकों के धर्मदान के साथ सम्बन्ध रखते हैं। इन सबको यहाँ उल्लिखित कर सकना सम्भव नहीं है, और न उसका कोई लाभ ही है। अनेक यवन-राजाओं के सिक्कों पर प्राकृत भाषा का प्रयोग, धर्मचक्र का चिह्न और 'ध्रमिक' (धार्मिक) विशेषण का प्रयोग भी इस तथ्य को सूचित करता है, कि यवन लोग भारत में आकर इस देश के धर्म व संस्कृति से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे, और उन्होंने इन्हें स्वीकार कर लिया था।

शक—शक-आक्रान्ता जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों धर्मों से प्रभावित हुए थे। उनमें कुछ ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था, कुछ ने जैन धर्म को और कुछ ने वैदिक धर्म को। इस सम्बन्ध में भी कतिपय लेखों को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी होगा :—

शक-महाक्षत्रप नहपान के जामाता उषावदात का यह लेख नासिक की एक गुहा में विद्यमान है—"सिद्धि हो ! राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता, दीनाक के पुत्र, तीन लाख गौओं का दान देनेवाले, वाणासा (नदी) पर सुवर्णदान करने और तीर्थ बनवाने वाले, देवताओं और ब्राह्मणों को सोलह ग्राम देने वाले, पूरे साल लाख ब्राह्मणों को खिलाने वाले····धर्मात्मा उषावदात ने गोवर्धन में त्रिरश्मि पर्वत पर यह गुहा बनवाई।" शक-क्षत्रप नहपान का जामाता प्राचीन वैदिक व हिन्दू धर्म का अनुयायी था, यह इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

मथुरा का शक-महाक्षत्रप रजुल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसकी पटरानी (अग्रमहिषी) का यह लेख मथुरा से उपलब्ध हुआ है—"महाक्षत्रप रजुल की अग्रमहिषी, युवराज खरओस्त्र की बेटी····की माँ अयसिअ अमुइज ने···शाक्य मुनि बुद्ध का शरीर-धातु प्रतिष्ठापित किया और स्तूप व संघाराम भी, सर्वास्तिवादियों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह के लिये।"

मथुरा के शक-महाक्षत्रप शोडास के समय का मथुरा में एक लेख मिला है, जिसमें लिखा है—"अर्हत् वर्धमान को नमस्कार! स्वामी महाक्षत्रप शोडास के ४२वें वर्ष में...हारिती के पुत्र पाल की भार्या श्रमणों की श्राविका कोछी अमोहिनी ने अपने पुत्रों...के साथ आर्यवती प्रतिष्ठापित की। आर्यवती अर्हत् की पूजा के लिये (है)।" जैन-मूर्ति को प्रतिष्ठापित कराने वाली कोछी अमोहिनी निःसन्देह शक-जाति की थी।

शकों के भारतीय धर्मों के स्वीकृत करने की बात की पुष्टि में कितने ही अन्य लेख भी उद्धृत किये जा सकते हैं, पर ये ही पर्याप्त हैं।

पार्थियन—पार्थियन लोगों के विषय में नासिक की अन्यतम गुहा में उत्कीर्ण यह लेख महत्त्वपूर्ण है—"सिद्धि! ...अनुलामा के निवासी सोवसक सेतफरण के पुत्र हरफरण का यह देयधर्म नवगर्भ मण्डप महासांघिकों के चातुर्दिश संघ के परिग्रह में दिया गया।" अनुलामा या अम्बुलिम सिन्ध नदी के तट पर एक नगरी थी, और सेतफरण व हरफरण पार्थियन नाम हैं।

कुशाण—कुशाण राजाओं ने भारत में आकर बौद्ध व वैदिक धर्मों को स्वीकृत कर लिया था। कुशाण-वंश की शक्ति के संस्थापक राजा कुजुल कुशाण के सिक्कों पर अन्य विशेषणों के साथ 'सचध्रमथितस' (सत्यधर्मस्थितस्य या सद्धर्मस्थितस्य) विशेषण भी विद्यमान है। उसके कुछ सिक्कों में 'देवपुत्रस' विशेषण भी आया है, जो उसके बौद्ध होने को सूचित करता है। कुजुल कुशाण का उत्तराधिकारी राजा विम 'माहेश्वर' था। राजा कनिष्क का तो बौद्ध-धर्म के इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसने न केवल स्वयं बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी, अपितु अन्य देशों में बौद्धधर्म के प्रचार करने व उसके संरक्षण के लिये भी बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। कनिष्क के उत्तराधिकारियों में वासुदेव शैव-धर्म का अनुयायी था और हुविष्क बौद्ध-धर्म का।

इसमें सन्देह नहीं, कि यवन, शक, पार्थियन और कुशाण राजा भारतीय धर्मों के अनुयायी थे। पर इन सबने भारत में आने के बाद ही यहाँ के धर्मों को अपनाया हो, यह निश्चित नहीं है। यह भी सम्भव है, कि शक, पार्थियन और कुशाण लोग उस समय से ही भारतीय धर्मों के प्रभाव में आने लग गये हों, जब कि वे सीस्तान, पार्थिया या मध्य एशिया में थे।

(३) साहित्य

इस मौर्योत्तर-युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में इस काल के साहित्य से हमें बहुत-कुछ परिचय मिलता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के बहुत-से ग्रंथों का इस काल में ही संकलन हुआ था। बौद्ध और जैन-साहित्य के भी बहुत-से ग्रंथ इसी समय में बने। इन सबके अनुशीलन से इस समय की जनता के जीवन पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। पर पहले इस साहित्य का संक्षेप से परिचय देना आवश्यक है।

पतञ्जलि—पतञ्जलि मुनि पुष्यमित्र शुंग के समकालीन थे। उन्होंने पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखा। इसमें शुंगकालीन भारत की दशा के सम्बन्ध में बड़े महत्त्व के निर्देश मिलते हैं। महाभाष्य एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें पाणिनीय व्याकरण की बड़ी विस्तृत व्याख्या की गयी है।

स्मृति-ग्रंथ—स्मृति-ग्रंथों का निर्माण शुंग-काल में आरम्भ हुआ। सबसे प्राचीन स्मृति मनुस्मृति है। उसका निर्माण १५० ई० पू० के लगभग हुआ था। इसके प्रवक्ता आचार्य भृगु थे। नारदस्मृति के अनुसार सुमति भार्गव ने इस स्मृति का प्रवचन किया था। प्राचीन भारत में विचारकों के अनेक सम्प्रदाय थे। किसी बड़े आचार्य द्वारा जो विचारधारा प्रारंभ होती थी, उसके शिष्य उसी का विकास करते जाते थे, और एक पृथक् सम्प्रदाय (नया धार्मिक मत नहीं अपितु, विचार-सम्प्रदाय) बन जाता था। इसी प्रकार का एक सम्प्रदाय मानव था। कौटलीय अर्थशास्त्र और कामन्द नीतिसार में मानव-सम्प्रदाय का उल्लेख है, और उसके अनेक मत उद्धृत किये गये हैं। इसी सम्प्रदाय में आगे चलकर मनु के एक परम्परागत शिष्य आचार्य सुमति भार्गव ने मनुस्मृति की रचना की, और उसमें मानव-सम्प्रदाय के विचारों को संकलित किया। अपने समय की परिस्थितियों का भी इन विचारों पर प्रभाव पड़ा, और इसीलिये मनुस्मृति के अनुशीलन से हमें शुंग-काल की सामाजिक दशा का भली-भाँति परिचय मिल जाता है।

मनुस्मृति के बाद विष्णुस्मृति की रचना हुई। फिर याज्ञवल्क्य स्मृति बनी, जिसका निर्माण-काल १५० ईस्वी के लगभग है। इसके बाद भी अनेक आचार्य नई स्मृतियाँ बनाते रहे। स्मृतियों के निर्माण की यह प्रक्रिया गुप्त सम्राटों के काल में और उसके बाद भी जारी रही। पर मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का भारतीय स्मृति-ग्रंथों में जो महत्त्व है, वह अन्य किसी स्मृति को प्राप्त नहीं हुआ। इन दोनों ग्रंथों के अनुशीलन से हम शुंग और सातवाहन-राजाओं के समय के भारतीय जीवन का परिचय उत्तम रीति से प्राप्त कर सकते हैं।

महाभारत—महाभारत और रामायण के वर्त्तमान रूप भी प्रधानतया इसी काल में संकलित हुए। महाभारत प्राचीन भारतीय साहित्य का सबसे विशाल और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्राचीन ऐतिहासिक अनुश्रुति, धर्म अर्थ काम और मोक्ष सम्बन्धी विचार, राजधर्म और पुरातन गाथाओं का जैसा उत्तम संग्रह इस ग्रन्थ में है, वह अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। महाभारत मौर्य-काल से भी पहले विद्यमान था, पर उसके नये-नये संस्करण निरन्तर होते रहते थे और विविध आचार्य उसमें लगातार वृद्धि करते जाते थे। शुंग और सातवाहन राजाओं के समय में उसमें बहुत कुछ वृद्धि हुई, और उसके बहुत-से संदर्भ निःसंदेह इस काल की दशा पर प्रकाश डालते हैं।

काव्य और नाटक—इस काल में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अनेक काव्यों और नाटकों का निर्माण हुआ। संस्कृत का सुप्रसिद्ध कवि भास कण्व-वंश के समय में हुआ था। वह मगध का रहने वाला था। उसके लिखे 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' आदि नाटक संस्कृत साहित्य में अद्वितीय स्थान रखते हैं। उन्हें कालिदास और भवभूति के नाटकों के समकक्ष माना जाता है। भास द्वारा विरचित नाटकों की संख्या १३ है। आचार्य अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था। उसने 'बुद्धचरितम्' नाम का महाकाव्य और अनेक नाटक लिखे। प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिक' का लेखक कवि शूद्रक भी सातवाहन-वंश के शासन-काल में हुआ। नाट्य-शास्त्र का लेखक भरतमुनि और कामसूत्र का रचयिता आचार्य वात्स्यायन भी इसी काल में हुए।

प्राकृत-साहित्य के भी अनेक ग्रन्थ इस समय में बने। सातवाहन-राजा प्राकृत-

भाषा के बड़े संरक्षक थे। राजा हाल स्वयं उत्तम कवि और लेखक था। गुणाढ्य जैसा प्राकृत का सर्वोत्कृष्ट कवि इसी काल में हुआ था। संस्कृत साहित्य के समान प्राकृत-साहित्य ने भी इस युग में बहुत उन्नति की।

बौद्ध और जैन साहित्य—बौद्ध और जैन साहित्य का भी इस काल में बहुत विकास हुआ। सम्राट् कनिष्क के संरक्षण में जिस महायान-सम्प्रदाय का विकास हुआ था, उसका बहुत-सा साहित्य इसी समय में बना। बौद्धत्रिपिटक पर महाविभाषा नाम का एक नया भाष्य इस युग में लिखा गया। बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अश्वघोष, पार्श्व और वसुमित्र इसी समय में हुए। आचार्य नागार्जुन ने महायान के अनेक सूत्रों (सुत्तों) की रचना की। जैन-साहित्य का भी इस काल में बहुत विकास हुआ। पहले छः श्रुतकेवली (पूर्णज्ञानी) आचार्यों के बाद सात दशपूर्वी आचार्य हुए, जिनमें से अंतिम वज्रस्वामी का समय ७० ई० के लगभग था। इन आचार्यों ने जैन-साहित्य में निरन्तर वृद्धि की। वज्रस्वामी के शिष्य का नाम आर्यरक्षित था। उसने जैन-सूत्रों को अंग, उपांग आदि चार भागों में विभक्त किया था।

षड्दर्शन—प्राचीन भारत के षड्दर्शनों का उनके वर्त्तमान रूप में संकलन भी इसी काल में हुआ। सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा—ये छः दर्शन भारतीय विचार तथा तत्त्वचिन्तन के स्तम्भ-रूप हैं। इन विचारधाराओं का प्रारम्भ तो इस युग से बहुत पहले हो चुका था। तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा जो विचार-सम्प्रदाय प्रारम्भ किये गये थे, उनमें शिष्य-परम्परा द्वारा बहुत पुराने समय से तत्त्व-चिन्तन चला आ रहा था। पर षड्दर्शनों का जो रूप वर्त्तमान समय में उपलब्ध है, उसका निर्माण इसी मौर्योत्तर युग में हुआ।

विज्ञान—वैद्यक और ज्योतिष-शास्त्र ने भी इस काल में बहुत उन्नति की। चरकसंहिता का लेखक आचार्य चरक कनिष्क का समकालीन था। नागार्जुन भी उत्कृष्ट चिकित्सक था। प्रसिद्ध वैद्यक ग्रंथ सुश्रुत जिस रूप में आजकल मिलता है, वह नागार्जुन द्वारा ही सम्पादित हुआ था। प्राचीन भारतीय इतिहास में नागार्जुन का बड़ा महत्त्व है। यह महापुरुष केवल वैद्य ही नहीं था, अपितु सिद्ध रसायनशास्त्र, लोहशास्त्र और रसायन-विज्ञान का भी पंडित था। उसने जननविज्ञान पर भी एक ग्रंथ लिखा। बाद में वह बौद्ध-संघ का प्रमुख बना। बौद्ध पण्डित के रूप में भी उसने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें माध्यमिकसूत्रवृत्ति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अश्वघोष के बाद महायान-सम्प्रदाय का वही नेता बना था।

ज्योतिष-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक गर्गसंहिता इसी समय में लिखी गयी। इसके रचयिता गर्गाचार्य थे। उन्होंने यवन लोगों के आक्रमणों का इस प्रकार उल्लेख किया है, जैसे कि ये घटनाएं उनके अपने समय में हुई हों। खेद यही है, कि इस ग्रंथ के कुछ अंश ही इस समय में प्राप्त होते हैं। पूरा ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। आचार्य वराहमिहिर द्वारा ज्योतिष-शास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों का संग्रह आगे चलकर गुप्तकाल में पंचसिद्धांतिका ग्रंथ में किया गया, उनका विकास व प्रति-पादन इस मौर्योत्तरकाल में ही प्रारम्भ हो गया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि यद्यपि यह काल राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था,

विद्रोह और अशांति का था, पर साहित्य, ज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में इस समय में भी निरन्तर उन्नति हो रही थी। इस युग के विशाल साहित्य द्वारा इस समय के सामाजिक जीवन, धर्म, सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक दशा के सम्बन्ध में जो अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, उनका अब हम संक्षेप से उल्लेख करेंगे।

(४) वैदिक धर्म का उत्थान

बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया—मौर्योत्तर काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास और सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान है। अशोक ने धम्मविजय की जिस जीवनपूर्ण नीति का अवलम्बन किया था, निर्बल हाथों में वह नाशकारिणी भी हो सकती थी। आखिर, विशाल मागध-साम्राज्य का आधार उसकी सैनिकशक्ति ही थी। सेना से ही अधीनस्थ जनपदों, नष्टीभूत गणराज्यों और विविध सामन्त सरदारों को एक साम्राज्य के अधीन रखा जा सकता था। अशोक के समय में यह मागध-सेना (मौल, भृत और श्रेणीबल) अक्षुण्ण रूप में विद्यमान थी। कलिंग के शक्तिशाली जनपद को इसीलिये वह अपने अधीन कर सका था। यद्यपि अशोक स्वयं अस्त्रों द्वारा विजय की अपेक्षा धर्म द्वारा स्थापित की गयी विजय को अधिक महत्त्व देने लगा था, पर उसके समय में मागध-सेना शक्तिहीन नहीं हुई थी। पर जब उसके उत्तराधिकारी भी इसी प्रकार शस्त्र-विजय की अपेक्षा धर्म-विजय को महत्त्व देते रहे, तो यह स्वाभाविक था, कि मागध-साम्राज्य की सेना शक्तिहीन होने लगती। इसीलिये अंतिम मौर्य सम्राटों के समय में यवनों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये, और मागध सेना उनकी बाढ़ को नहीं रोक सकी। अशोक की धर्म-विजय की नीति उसके निर्बल उत्तराधिकारियों के हाथों में असफल और बदनाम हो गयी। सर्वसाधारण जनता में उससे बहुत असन्तोष था। इसीलिये एक प्राचीन ग्रंथकार ने कहा था, कि राजाओं का काम शत्रुओं का दमन व प्रजा का पालन करना है, सिर मुंडाकर चैन से बैठना नहीं। यह स्वाभाविक था, कि मौर्य-राजाओं की इस असफल नीति से जनता में बौद्ध-धर्म के प्रति भी असंतोष का भाव उत्पन्न होने लगे। भिक्षुसंघ इस समय बड़ा ऐश्वर्यशाली हो गया था। सर्वत्र विशाल व वैभवपूर्ण विहारों की स्थापना हो गयी थी, जिनमें बौद्ध भिक्षु बड़े आराम के साथ निवास करते थे। मनुष्यमात्र की सेवा करने वाले, प्राणिमात्र का हित सम्पादन करने वाले, भिक्षावृत्ति से दैनिक भोजन प्राप्त करने वाले और निरन्तर घूम-घूमकर जनता को कल्याण-मार्ग का उपदेश करने वाले बौद्ध-भिक्षुओं का स्थान अब सम्राटों के आश्रय में सब प्रकार का सुख भोगने वाले भिक्षुओं ने ले लिया था। सर्वसाधारण जनता के हृदय में भिक्षुओं के प्रति जो आदर था, यदि अब उसमें न्यूनता आने लगी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी का परिणाम यह हुआ, कि भारत में बौद्ध-धर्म के प्रतिकूल एक प्रतिक्रिया का प्रारम्भ हुआ और लोगों की दृष्टि उस प्राचीन सनातन धर्म की ओर आकृष्ट हुई, जो शत्रुओं को परास्त कर और सर्वत्र दिग्विजय कर अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान का विधान करता था। यही कारण है, कि सेनानी पुष्यमित्र ने अंतिम मौर्य राजा बृहद्रथ को मार जब राजसिंहासन प्राप्त किया, तो मागध-साम्राज्य के विरुद्ध उसने तलवार उठाई और फिर से अश्वमेध-यज्ञ का आयोजन किया। सातवाहन

राजा सातकर्णि ने भी इसी काल में दो बार अश्वमेध-यज्ञ किये थे। इस समय अश्वमेध-यज्ञ करने की एक प्रवृत्ति-सी उत्पन्न हो गयी थी और इस प्रवृत्ति के पीछे प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करने की प्रबल भावना काम कर रही थी।

एक बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार शुंग सम्राट् पुष्यमित्र ने तलवार के बल से भी बौद्ध लोगों का दमन किया था। उसने बहुत-से बौद्ध भिक्षुओं का कत्ल करा दिया था, और अनेक स्तूपों व विहारों को गिरवा दिया था। इस वर्णन में चाहे अतिशयोक्ति से काम लिया गया हो, पर इसमें संदेह नहीं कि शुंगकालीन भारत में बौद्धों के विरुद्ध एक प्रबल प्रतिक्रिया हो रही थी।

पर बौद्ध धर्म का यह ह्रास केवल मगध और उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित था। सुदूर उत्तर-पश्चिम में बौद्ध-भिक्खु अब भी प्राचीन आदर्शों का पालन करते हुए प्राणीमात्र का कल्याण करने की आकांक्षा से हिन्दुकुश और पामीर की पर्वतमालाओं को लाँघते हुए आगे बढ़ रहे थे। शक, युइशि और हूण जातियों में अष्टांगिक आर्य-मार्ग का संदेश पहुँचाने के लिये वे भारी उद्योग कर रहे थे। इसी प्रकार लंका, बरमा और उससे भी परे के प्रदेशों में बौद्ध भिक्खुओं का आर्य-मार्ग के प्रसार का प्रयत्न जारी था। इन सब प्रदेशों में बौद्ध-भिक्खु एक नयी सभ्यता, एक ऊँचे धर्म और एक परिष्कृत संस्कृति के संदेशवाहक बनकर परिभ्रमण कर रहे थे। इन सब स्थानों में बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष इस काल में भी जारी रहा। पर वैभवशाली मौर्य सम्राटों का संरक्षण पाकर मगध तथा उत्तरी भारत के अन्य जनपदों में बौद्ध-भिक्खु कुछ निश्चेष्ट-से हो गये थे। उनके विहारों में अपार धन था। जब अशोक और अनाथपिंडक जैसे धनिकों ने अपना कोटि-कोटि धन इन बौद्ध-विहारों के अर्पण कर दिया हो, तो यदि उनमें पतन का प्रारम्भ हो जाए और वे सुख-समृद्धि के कारण अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाएँ, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। यही कारण है, कि पुष्यमित्र ने विहारों के धन-वैभव को अपना शिकार बनाया, और बौद्ध-भिक्षुओं की हत्या करने में भी संकोच नहीं किया।

वैदिक धर्म पर बौद्ध धर्म का प्रभाव—शुंग-काल में जिस वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, वह प्राचीन वैदिक धर्म से बहुत कुछ भिन्न था। बौद्ध और जैन धर्मों ने जिन विचारधाराओं का प्रसार किया था, वे अन्य धर्मावलम्बियों के विचारों पर प्रभाव न डालतीं, यह सम्भव नहीं था। बौद्ध-विचारों का असर इस काल के दर्शनों और धार्मिक विश्वासों पर स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध और जैन सृष्टि के कर्त्ता रूप में किसी ईश्वर को नहीं मानते थे। सांख्यदर्शन में भी किसी सृष्टि-कर्त्ता ईश्वर को स्थान नहीं है। योग-दर्शन भी सृष्टि के निर्माण के लिये किसी ईश्वर की आवश्यकता नहीं समझता। वेदान्त का ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है, निमित्त कारण नहीं। जैसे मिट्टी से घट बनता है, घट मिट्टी का ही एक रूप है, घट मिट्टी से भिन्न कुछ नहीं है, ऐसे ही सृष्टि ब्रह्म से बनी है, सृष्टि ब्रह्म का ही एक रूप है, और सृष्टि ब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं रखती। वैदिक षड्दर्शनों में से ही तीन के ईश्वर-सम्बन्धी विचार बौद्ध-विचारों के बहुत समीप हैं। वैदिक युग के ईश्वर के विचार से इनकी विचारप्रणाली में भारी भेद है। बौद्ध और जैन लोग लोकोत्तर-पुरुषों में विश्वास रखते थे। बोधिसत्व और तीर्थंकर परम पूर्ण पुरुष थे, जो सत्य-ज्ञान के भंडार, पूर्ण ज्ञानी और बुद्ध व जिन

कहलाते थे। सांख्यों ने इसी विचारसरणी का अनुसरण कर कपिल को लोकोत्तर ज्ञानी माना। योग ने जिस ईश्वर का प्रतिपादन किया, वह केवल 'सबसे बड़ा ज्ञानी' है। ईश्वर की सत्ता के लिये योगदर्शन की यह युक्ति है, 'निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्'। हमें ज्ञान के बारे में अतिशयता नजर आती है। एक व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक ज्ञान रखता है। कोई अन्य उससे भी अधिक ज्ञान रखता है। ऐसे ही विचार करते-करते एक ऐसी सत्ता की कल्पना की जा सकती है, जिससे अधिक ज्ञानवान् कोई नहीं होगा और जो सर्वज्ञ होगा, वही ईश्वर है। ऐसा व्यक्ति बुद्ध भी हो सकता है, वर्धमान महावीर भी, कपिल भी, श्रीकृष्ण भी या अन्य कोई भी। बौद्ध और जैन ऐसे ही भगवान् को मानते थे। सांख्य और योग शास्त्रों पर इन सम्प्रदायों के विचारों का असर कितना प्रत्यक्ष है।

वैदिक धर्म का नया रूप—प्राचीन वैदिक धर्म में प्रकृति की विविध शक्तियों के रूप में ईश्वर की पूजा की जाती थी। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि उस धर्म के प्रधान देवता थे। पर अब उनका स्थान उन महापुरुषों ने ले लिया, जिनका कि सर्वसाधारण में अपने लोकोत्तर गुणों के कारण अनुपम आदर था। शुंग-काल में जिस सनातन वैदिक धर्म का पुनरुद्धार हुआ, उसके उपास्य देव वसुदेव, संकर्षण और शिवि थे। बौद्ध और जैन धर्मों में जो स्थान बोधिसत्वों और तीर्थंकरों का था, वही इस सनातन धर्म में इन महापुरुषों का हुआ। बुद्ध और महावीर सर्वज्ञ थे, पूर्ण पुरुष थे। उनके गुणों को प्रत्येक मनुष्य जान सकता था, उनके चरित्र का अनुशीलन कर शिक्षा ग्रहण कर सकता था, और उनकी मूर्ति के सम्मुख बैठकर उनका साक्षात्कार कर सकता था। अब प्राचीन परिपाटी का अनुसरण कर अश्वमेध-यज्ञ का पुनरुद्धार करने वाले शुंगों और सातवाहनों के धर्म में संकर्षण और वासुदेव पूर्ण पुरुष थे, पूर्ण ज्ञानी थे और उनकी मूर्तियाँ दर्शनों के लिये विद्यमान थीं। इस काल के धार्मिक नेताओं ने प्राचीन महापुरुषों में देवत्व की कल्पना कर उनको बुद्ध और महावीर के समकक्ष बना दिया। निर्गुण और निराकार ईश्वर के स्थान पर सगुण और अवतार ग्रहण करने वाले ईश्वर की कल्पना हुई। इन अवतारों की मूर्तियाँ बनने लगीं, और उन्हें मन्दिरों में प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई। प्राचीन वैदिक धर्म में यज्ञों के कर्मकांड की प्रधानता थी। कुण्ड में अग्नि की प्रतिष्ठा कर विविध देवताओं का आवाहन किया जाता था, और पशु, अन्न, समिधा आदि की आहुति देकर इन देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता था। पर बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से जब एक बार यज्ञों की परिपाटी शिथिल पड़ गयी, तो उसका इस युग में भी पूर्णतया पुनरुत्थान नहीं हुआ। उपलक्षण के रूप में अश्वमेध-यज्ञ अब अवश्य किये जाने लगे, पर सर्वसाधारण जनता में यज्ञों का पुनः प्रचलन नहीं हुआ। यज्ञों का स्थान इस समय मूर्तिपूजा ने लिया। शुंग-युग में जिस प्राचीन सनातन धर्म का पुनरुद्धार हुआ, वह शुद्ध वैदिक नहीं था, उसे पौराणिक कहना अधिक उपयुक्त होगा।

भागवत-धर्म—इस नये पौराणिक धर्म की दो प्रधान शाखाएं थीं, भागवत और शैव। शूरसेन जनपद के सात्वत लोगों में देर से वासुदेव कृष्ण की पूजा चली आ रही थी। पुराने युग में कृष्ण शूरसेन देश के महापुरुष व वीर नेता हुए थे। कृष्ण जहाँ अंधक-वृष्णि-संघ के प्रमुख थे, वहाँ बड़े विचारक, दार्शनिक और धर्मोपदेशक भी थे। कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में अपने निकट सम्बन्धियों को युद्ध के लिये सम्मुख खड़ा देख जब अर्जुन

दुविधा में पड़ गया था, तो कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश दिया था। उन्हीं के उपदेश से अर्जुन में बल का संचार हुआ, और वह कर्त्तव्यपालन के लिये तत्पर हुआ। वृद्धावस्था में कृष्ण योगी हो गये थे, और अंधक-वृष्णि-संघ का नेतृत्व छोड़ उन्होंने मुनियों का जीवन व्यतीत किया था। जिस प्रकार वर्धमान महावीर ज्ञातृकगण में उत्पन्न हुए और गौतम बुद्ध शाक्यगण में, उसी प्रकार कृष्ण अन्धक-वृष्णि गण में प्रादुर्भूत हुए थे। उनके अपने गण में गीता की विचारधारा इसी समय से प्रचलित थी। शूरसेनवासी न केवल कृष्ण की शिक्षाओं को मानते थे, पर साथ ही उन्हें लोकोत्तर पुरुष के रूप में पूजते भी थे। अब जब कि बौद्ध और जैन धर्मों के प्रभाव से सनातन आर्य-धर्मावलम्बी लोग भी लोकोत्तर सर्वज्ञ पुरुषों में ईश्वरीय शक्ति का आभास देखने के लिये उद्यत थे, कृष्ण की पूजा का लोकप्रिय हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। सात्वतों का यह भागवत-धर्म अब सर्वत्र फैलने लगा। निःसंदेह, कृष्ण लोकोत्तर पुरुष थे। उनका जीवन आदर्श था, उनकी शिक्षाएं अपूर्व थीं। यदि उनमें ईश्वरीय भावना करके, उन्हें ईश्वर का अवतार मान के, उनके रूप में सगुण परमेश्वर की पूजा की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था। कृष्ण को बुद्ध और महावीर के समकक्ष रखा जा सकता था। बुद्ध और महावीर के रूप में जिस प्रकार के महा पुरुषों की पूजा का जनता को सदियों से अभ्यास था, कृष्ण का इस युग का रूप उसी के अनुकूल था। धीरे-धीरे कृष्ण को वैदिक विष्णु का अवतार माना जाने लगा, और उनके सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाओं का प्रारम्भ हुआ। श्रीमद्भगवद्गीता इस भागवत-सम्प्रदाय का मुख्य धर्मग्रंथ था। महाभारत और भागवतपुराण में कृष्ण के दैवी रूप और माहात्म्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली बहुत-सी कथाएं संगृहीत हैं।

बौद्ध-धर्म आचार-प्रधान था। याज्ञिक कर्मकाण्ड को उसमें कोई स्थान न था। वह अहिंसा का प्रतिपादक था। बुद्ध के अनुयायी यद्यपि ईश्वर को नहीं मानते थे, पर बुद्ध की उपासना उन्होंने पूर्णपुरुष के रूप में प्रारम्भ कर दी थी। चार सदियों तक निरन्तर बौद्ध-धर्म भारत का प्रधान धर्म रहा था। इस सुदीर्घ काल में भारत की जनता में जिन विचारों ने भली-भाँति घर कर लिया था, वे निम्नलिखित थे—(१) याज्ञिक कर्मकाण्ड उपयोगी नहीं है। (२) यज्ञ व धार्मिक अनुष्ठानों में पशुओं की हिंसा व बलिदान उचित नहीं है। (३) मनुष्य को अपनी उन्नति के लिये एक पूर्ण पुरुष को आदर्श के रूप में सम्मुख रखना चाहिये। निर्गुण, निराकार और अरूप ब्रह्म की पूजा से काम नहीं चल सकता। उन्नति के पथ पर आरूढ़ होने के लिये मनुष्य के सम्मुख बुद्ध या महावीर सदृश पूर्ण सगुण आदर्श के रूप मे रहने चाहियें, जिनके चरित्र व जीवन से मनुष्य लाभ उठा सके।

ये विचार भारतीय जनता में इतने दृढ़ हो चुके थे, कि दूसरी सदी ई० पू० में जब वैदिक धर्म का पुनरुद्धार होने लगा, तो पुराने याज्ञिक कर्मकाण्डों का उद्धार नहीं हुआ। भागवत-धर्म के रूप में पुरानी वैदिक मर्यादा का जो संस्करण अन्धक-वृष्णि लोगों में प्रचलित था, जनता ने उसे अपनाया। यह भागवत-धर्म उस समय के लोगों के विचारों के बहुत अनुकूल था। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं—(१) भागवत लोग यज्ञों में पशु-हिंसा को उचित नहीं मानते थे। कृष्ण ने यज्ञों का विरोध

नहीं किया। पर उनके जटिल अनुष्ठानों और हिंसात्मक विधानों का भी उसने समर्थन नहीं किया। (२) यदि बौद्धों और जैनों के पास बुद्ध और महावीर के रूप में आदर्श पुरुष थे, तो भागवतों के पास वासुदेव कृष्ण के रूप में एक ऐसा पूर्ण पुरुष था जो आदर्श बालक, आदर्श युवा, आदर्श राजनीतिज्ञ, आदर्श योगीराज और आदर्श तत्त्वज्ञानी था। अब वैदिक धर्म के अनुयायियों को निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना की आवश्यकता नहीं थी। उनके सम्मुख एक ऐसा देवता विद्यमान था, जो ब्रज में शरीर धारण कर ग्वाल-बालों के साथ खेलता है, जरासंध और कंस जैसे अत्याचारियों का वध करता है, कुरुक्षेत्र के मैदान में गीता का उपदेश करता है, और योगीराज होकर अपने शरीर का त्याग करता है। इस देवता के सुदर्शन चक्र में अपार शक्ति है। यह अपने भक्तों की सहायता व उद्धार के लिये सदा तत्पर रहता है। उसकी भक्ति व उपासना करने से मनुष्य अपना अभिलषित फल प्राप्त कर सकता है। (३) यह वासुदेव कृष्ण साधारण पुरुष नहीं था, वह विष्णु का अवतार था। यदि गौतम बुद्ध ने अनेक पूर्वजन्मों की साधना द्वारा पूर्णता को प्राप्त किया था, तो कृष्ण के रूप में साक्षात् विष्णु भगवान् ने अवतार लिया था। (४) पुराने वैदिक धर्म में ईश्वर व देवताओं की पूजा के लिये यज्ञों का अनुष्ठान होता था। इस भागवत-धर्म में उनकी पूजा के लिये मंदिर और मूर्तियाँ बनने लगीं। जिस प्रकार बौद्ध लोग बुद्ध की मूर्तियाँ बनाते थे, उसी प्रकार भागवतों ने कृष्ण, विष्णु व अन्य वैदिक देवताओं की मूर्तियाँ बनानी प्रारम्भ कीं। इन मूर्तियों की मंदिरों में प्रतिष्ठा की जाती थी। मंदिरों में पूजा की जो नयी पद्धति शुरू हुई, उसमें विधि-विधान या कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति का मुख्य स्थान था। भक्त लोग मंदिर में एकत्र होते थे, गीत गाकर, नैवेद्य चढ़ाकर, और पूजा करके वे अपने उपास्य देव को रिझाते थे। सर्वसाधारण जनता के लिये यज्ञों के अनुष्ठानों की अपेक्षा धर्म का यह रूप बहुत सरल और क्रियात्मक था।

पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि वैष्णव या भागवत-धर्म का जो रूप आजकल प्रचलित है, वह दूसरी सदी ई० पू० में नहीं था। उस समय तक भागवत-धर्म में कृष्ण की गोपी-लीलाओं की कहानियाँ नहीं जुड़ पायी थीं। कृष्ण के सम्बन्ध में जो बहुत-सी गाथाएँ आजकल प्रचलित हैं, जिनमें उसकी प्रेम-लीलाओं का वर्णन है, वे सब उस समय तक विकसित नहीं हुई थी। दूसरी सदी ई० पू० के कृष्ण एक आदर्श पुरुष थे, जिनमें विष्णु, नर-नारायण आदि वैदिक देवताओं के गुण अविकल रूप में प्रकट हुए थे। इसीलिये उनकी इन देवताओं के साथ अभिन्नता थी।

शैव धर्म—शैव-धर्म का प्रवर्त्तक लकुलीश नाम का आचार्य था। पुराणों के अनुसार वह शिव का अवतार था। वह गुजरात देश में भरुकच्छ के पास कारोहण या कायावरोहण नामक स्थान पर प्रगट हुआ था। लकुलीश ने जो ग्रंथ लिखा, उसका नाम पंचाध्यायी या पंचार्थविद्या था। दूसरी सदी ई० पू० तक शैव-धर्म भी भारत में भली-भाँति विकसित होने लगा था, और उसके अनुयायियों को 'शिवभागवत' या शैव कहा जाता था।

शिव भी वैदिक देवताओं में से एक है। अनेक वेदमंत्रों में उसका वर्णन व स्तुति की गयी है। उसी का एक अन्य नाम रुद्र था। जब वह दुष्टों का दमन व सृष्टि का

प्रलय करता है, तो रुद्र रूप धारण करता है। जब वही देव प्रसन्न होकर सृष्टि का पालन और धारण करता है, तो शिव व शंकर कहाता है। जिस प्रकार वासुदेव कृष्ण के अनुयायियों ने विष्णु को अपना उपास्य देव माना और कृष्ण से उसकी अभिन्नता स्थापित की, उसी प्रकार शिव भागवतों ने रुद्र या शिव को अपना उपास्य देव माना और लकुलीश से उसकी अभिन्नता स्थापित की। शुरू में शैव-धर्म को शिव-भागवत, लाकुल (लकुलीश के नाम पर), पाशुपत और माहेश्वर नामों से जाना जाता था। आगे चलकर इसके अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ, जिनमें कापालिक और कालमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

शैव लोग भी विधर्मियों को अपने धर्म में दीक्षित करते थे। अनेक विदेशी आक्रान्ता शैव-धर्म की ओर भी आकृष्ट हुए। इनमें कुशाण-राजा विम मुख्य है। उसके कुछ सिक्कों पर त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा है, जो अपने वाहन नन्दी के समीप खड़ा है। विम के समान अन्य भी अनेक विदेशियों ने शैव-धर्म की दीक्षा ली। वैष्णव भागवतों के समान शैव भागवत धर्म का भी बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद विशेष रूप से प्रचार होने लगा था।

शैव-मंदिरों में पहले शिव की मूर्ति स्थापित की जाती थी। शैव लोग उसकी भक्ति व उपासना करते थे। बाद में शिव का स्थान लिंग ने ले लिया। शैव लोग लिंग की पूजा करने लगे। इस परिवर्तन के दो कारण हुए। ऐसा प्रतीत होता है, कि शैव-धर्म को किसी ऐसी विदेशी जाति ने विशेष रूप से अपनाया, जिसमें लिंग की पूजा प्रचलित थी। जब कोई नया जन-समाज किसी नये धर्म को अपनाता है, तो उस जन-समाज के पुराने विश्वास व प्रथाएँ भी नये रूप में उस धर्म में समाविष्ट हो जाती हैं। जब इस्लाम का प्रचार ईरान में हुआ, तो वहाँ की अनेक बातें इस्लाम-धर्म में आ गयीं। इसी से शिया-सम्प्रदाय का विकास हुआ। इसी प्रकार किसी लिंग-पूजक जाति के शैव-सम्प्रदाय को अपना लेने पर वह पूजा शैव-धर्म में भी आ गयी, और लिंग को भगवान् शिव का चिह्न या लिंग मान लिया गया। साथ ही, संसार की जो सर्वोपरि उत्पादन शक्ति है, लिंग उसका प्रतीक है। भगवान् शिव सृष्टि का पालन व संहार करते हैं। उनका चिह्न सृष्टि की इस रहस्यमयी मूलशक्ति से बढ़कर कौन-सा हो सकता है?

शैव-धर्म को जिन लोगों ने अपनाया, उनमें यौधेयों का उल्लेख करना उपयोगी है। प्राचीन भारत के गणराज्यों में यौधेय गण का बहुत प्रमुख स्थान था। इन यौधेयों के सिक्कों पर भी नन्दी सहित शिव की प्रतिमा पायी जाती है। यौधेय लोग 'शिव भागवत' थे।

सूर्य की पूजा—विष्णु और शिव के समान सूर्य की पूजा भी इस समय भारत में प्रचलित हुई। सूर्य भी वैदिक देवताओं में से एक है। वैदिक काल में उसकी भी मान्यता भारत में विद्यमान थी। पर सूर्य की पूजा के लिये मंदिरों की स्थापना नहीं की जाती थी। अब इस युग में भारत में सूर्य के भी मंदिर बनाये गये और उनमें सूर्य की मूर्ति स्थापित की गयी। ऐसा प्रतीत होता है, कि सूर्य की इस नये रूप में पूजा का श्रेय भारत और प्राचीन ईरान (शाकद्वीप) के सम्बन्ध को है। भविष्यपुराण के अनुसार सूर्य की पूजा के लिये शाकद्वीप से मग ब्राह्मणों को बुलाया गया था। प्राचीन ईरान में सूर्य की पूजा देर से प्रचलित थी। ईरान के लोग भी आर्य-जाति के थे, और उनके धर्म व संस्कृति का

भारत के आर्यों से सन्निकट सम्बन्ध था। इन मग व ईरानी ब्राह्मणों ने भारत में सूर्य व मिहिर की पूजा की व्यवस्था की। कनिष्क के अनेक सिक्कों पर मिहिर की प्रतिमा भी विद्यमान है। भारत में जो सूर्य के मंदिर अब विद्यमान हैं, उनमें मुलतान (मूलस्थानपुर) का सूर्यमंदिर सबसे प्राचीन है। प्राचीन समय में अन्यत्र भी बहुत-से सूर्य-मंदिर विद्यमान थे। इनके बहुत-से खंडहर इस समय काश्मीर, अलमोड़ा आदि में मिलते हैं।

बौद्ध-धर्म के ह्रास के बाद भारत में जिस धर्म का प्रचार हुआ, वह वैदिक परम्परा के अनुकूल था, वह वेदों में विश्वास रखता था। पर उसका स्वरूप यज्ञ-प्रधान पुराने वैदिक धर्म से बहुत भिन्न था। उसमें कर्मकाण्ड का स्थान भक्ति व पूजा ने ले लिया था। वासुदेव कृष्ण, शिव और सूर्य के अतिरिक्त शक्ति, स्कन्द, गणपति आदि अन्य भी अनेक देवताओं की मूर्तियाँ इस समय बनीं, और उनके मंदिर भी स्थापित किये गये। इस सब प्रवृत्ति की तह में वही भक्ति-भावना काम कर रही थी, जिसका प्रतिपादन कृष्ण ने इन शब्दों में किया था, 'सब धार्मिक अनुष्ठानों को छोडकर एक मेरी शरण में आओ'। वैदिक देवताओं की पूजा का यह एक नया प्रकार इस समय भारत में प्रचलित हो गया था।

(५) बौद्ध धर्म की प्रगति

बौद्ध साहित्य के अनुसार पुष्यमित्र शुंग बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था। उसने बौद्धों पर अनेकविध अत्याचार किये, और शाकल (सियालकोट) में यह आदेश दिया कि जो कोई किसी बौद्ध भिक्षु का संहार करके उसका सिर प्रस्तुत करेगा, उसे १०० सुवर्ण मुद्राएं प्रदान की जाएँगी। इसमें सन्देह नहीं, कि पुष्यमित्र के समय में प्राचीन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ था, और शुंग, कण्व व सातवाहन राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी व संरक्षक नहीं थे। पर इससे यह परिणाम निकालना सही नहीं है, कि दूसरी सदी ई० पू० से भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया, और इस देश की जनता बुद्ध द्वारा प्रतिपादित अष्टांगिक आर्य मार्ग से विमुख हो गई। शुंग-कण्व-सातवाहन युग में न केवल सर्वसाधारण जनता में बौद्ध धर्म का भली-भाँति प्रचार था, अपितु इस काल के बहुसंख्यक विदेशी (यवन, शक और कुशाण) शासकों ने भी इस धर्म को अपना लिया था। यही कारण है कि इस युग के अनेक शिलालेखों में बौद्ध विहारों, स्तूपों और चैत्यों को दिये गये दान का उल्लेख पाया जाता है। अनेक प्रसिद्ध बौद्ध स्तूप शुंग-कण्व युग में ही बने थे। भर्हुत स्तूप, कार्ले के गुफागृह और सांची का प्रसिद्ध स्तूप प्रधानतया इसी युग की कृति हैं। यद्यपि उनका निर्माण मौर्य युग में प्रारम्भ हो चुका था, पर वे इसी काल में अपने वर्तमान रूप में आये थे। प्रसिद्ध यवन राजा मिनान्डर (मिलिन्द) ने न केवल बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली थी, अपितु उसके प्रचार व उत्कर्ष का भी उसने उद्योग किया था। उसके कतिपय सिक्कों पर धर्मचक्र अंकित है, और उसने अपने साथ 'त्रात' और 'ध्रमिअ' (धार्मिक) विशेषणों का प्रयोग किया है। मिनान्डर के अनुकरण में बहुत-से अन्य यवन राजाओं ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। अगथोक्लीज़ नामक यवन राजा ने अपने सिक्कों पर स्तूप और बोधि-वृक्ष को अंकित किया है। प्रसिद्ध कुशाण सम्राट् कनिष्क भी बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और उसने इस धर्म के प्रचार के लिये विशेष रूप

से उद्योग भी किया था।

बौद्ध धर्म के आन्तरिक विकास की दृष्टि से भी शुंग-कण्व-सातवाहन युग का बहुत महत्त्व है। विभिन्न प्रदेशों और राज्यों में बौद्ध धर्म के प्रसार का यह परिणाम स्वाभाविक था, कि उसमें विविध आचार-विचार और मन्तव्यों का भेद उत्पन्न होने लगे। विभिन्न मनुष्यों, जातियों व समाजों में जो आचार-विचार, विश्वास व संस्कार बद्धमूल होते हैं, किसी नये धर्म में दीक्षित हो जाने से वे पूर्णतया मिट नहीं जाते। उनके कारण एक ही धर्म में विभिन्न सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो जाता है। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के एक सदी पश्चात् जब वैशाली में बौद्ध धर्म की द्वितीय संगीति (महासभा) हुई, तो पारस्परिक मतभेद के कारण बौद्ध लोग दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये, जिन्हें महासांघिक और स्थविरवाद (थेरवाद) कहते हैं। स्थविरवाद के केन्द्र कौशाम्बी और उज्जैनी थे, और महासांघिक साम्प्रदाय वैशाली व पाटलिपुत्र में केन्द्रित था। अगली एक सदी में महासांघिक सम्प्रदाय आठ सम्प्रदायों में विभक्त हो गया, जिनमें एकव्यावहारिक और लोकोत्तर प्रमुख थे। इसी प्रकार बाद में स्थविरवाद में भी अनेक सम्प्रदायों का विकास हुआ, और सम्राट् अशोक के समय तक बौद्ध धर्म अठारह सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था। बौद्ध धर्म की तृतीय संगीति में अशोक ने इन भेदों को दूर करने का प्रयत्न किया, और उसमें सफल न होने पर उसने स्थविरवाद को बुद्ध की मूलशिक्षाओं के अनुरूप घोषित किया। अशोक ने जिस बौद्ध धर्म को देश-विदेश में प्रसारित करने के किये महान् उद्योग किया था, वह स्थविरवाद ही था। इसी के सिद्धान्तों को मोग्गलिपुत्त तिस्स ने 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ में युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया था।

महासांघिक सम्प्रदाय के अनुयायी बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप में विश्वास करते थे। बुद्ध के लौकिक रूप का उनके सिद्धान्त में कोई स्थान नहीं था। उनका विश्वास था, कि बुद्ध सर्वज्ञ थे और मानव निर्बलताओं से सर्वथा विमुक्त थे। उन्होंने दार्शनिक सिद्धान्तों का भी विकास किया, और यह प्रतिपादित किया 'मूलविज्ञान' एक ऐसा तत्त्व है जो प्राणीरूप से पुनर्जन्म लेता है। यह महासांघिक सम्प्रदाय ही था, जिससे कि आगे चलकर महायान का विकास हुआ। प्रारम्भ में इस सम्प्रदाय का केन्द्र वैशाली में था, पर बाद में यह भारत में अनेक प्रदेशों में फैल गया, और अमरावती और नागार्जुनकोण्ड इसके प्रधान केन्द्र हो गये। महासांघिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक महाकस्यप को माना जाता है।

स्थविरवाद का प्रवर्तक महाकच्छपायन था, जो उज्जैनी का निवासी था। क्योंकि राजा अशोक द्वारा संगठित तृतीय संगीति ने इसे ही बुद्ध की शिक्षाओं के अनुरूप स्वीकृत किया था, अतः अशोक के पुत्र महेन्द्र ने इसी का श्रीलंका में प्रचार किया, और मोग्गलिपुत्त तिस्स द्वारा प्रेषित अन्य प्रचारक भी इसी को विविध प्रदेशों में ले गये। मथुरा, गान्धार, काश्मीर आदि में इसी सम्प्रदाय का प्रचार हुआ।

स्थविरवाद के विभिन्न सम्प्रदायों में सर्वास्तिवाद सर्वप्रधान है। यह सम्प्रदाय तत्त्वों की अनित्यता में विश्वास न कर उन्हें उसी प्रकार से नित्य स्वीकार करता है, जैसे कि वैशेपिक दर्शन के अनुयायी परमाणुओं को नित्य मानते हैं। कुशाण सम्राट्

कनिष्क सर्वास्तिवाद में ही विश्वास रखता था, और उसके समय में इस सम्प्रदाय का मध्य एशिया और चीन में भी प्रवेश हुआ।

सम्राट् कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म की चौथी संगीति (महासभा) हुई। काश्मीर के कुण्डलवन विहार में ५०० बौद्ध विद्वान् एकत्र हुए, जिनमें आचार्य वसुमित्र और पार्श्व प्रधान थे। महासभा में एकत्र विद्वानों ने बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने और विविध सम्प्रदायों के मतभेद को दूर करने के लिये 'महाविभाषा' नाम का एक विशाल ग्रन्थ तैयार किया। यह ग्रन्थ बौद्ध त्रिपिटक के भाष्य के रूप में लिखा गया था।

महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव—यद्यपि बौद्ध धर्म में विभिन्न सम्प्रदायों का विकास बहुत पहले ही प्रारम्भ हो गया था, पर दूसरी सदी ई० पू० के लगभग बौद्धों में एक नवीन सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'महायान' कहते हैं। जैसा कि हमने अभी ऊपर लिखा है, महायान का विकास महासांघिक सम्प्रदाय से हुआ था, जिसके प्रधान केन्द्र अमरावती और नागार्जुन-कोण्ड (आन्ध्र में) थे। अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञा-पारमिता में लिखा है, कि महायान की उत्पत्ति दक्षिणापथ में हुई, जहाँ से वह प्राच्य देश में गया और फिर उत्तरापथ में जाकर भली-भांति विकसित हुआ। इसमें सन्देह नहीं, कि महायान का प्रादुर्भाव आन्ध्र प्रदेश में हुआ था, जो चिरकाल से महा-सांघिक सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र था। अन्यत्र उसका प्रसार वहीं से हुआ। जिन आचार्यों ने इसका विशेष रूप से प्रतिपादन किया, उनमें नागार्जुन, आर्यदेव, असंग और वसुबन्धु के नाम उल्लेखनीय हैं। नागार्जुन का जन्म विदर्भ के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था, और अपने ज्ञान व शील के कारण बौद्ध जगत् में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। असंग भी जन्म से ब्राह्मण था और पेशावर का निवासी था। वसुबन्धु उसी का भाई था।

महायान के अनुसार मनुष्य के जीवन का उद्देश्य बोधिसत्त्व के आदर्श को प्राप्त करना है। चाहे कोई भिक्षु हो या उपासक (गृहस्थ), प्रत्येक को बोधिसत्त्व का पद प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिये मनुष्यों को निम्नलिखित पार-मिताओं को अपने जीवन में क्रियान्वित करना चाहिये—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, उपायकौशल्य, प्रणिधान, बल और ज्ञान। इन पारमिताओं का अविकल रूप से पालन करने पर ही बोधिसत्त्व का पद प्राप्त किया जा सकता है, और बोधि-सत्त्व हुए बिना कोई बुद्धत्व को प्राप्त नहीं कर सकता। गौतम को भी बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व बहुत-से पूर्वजन्मों में इन पारमिताओं का पालन कर बोधिसत्त्व की स्थिति प्राप्त करनी पड़ी थी। जातक और अवदान साहित्य में गौतम द्वारा पूर्वजन्मों में किये गये उन सुकृतों का ही उल्लेख है, जिनके कारण उसने पहले बोधिसत्त्व पद प्राप्त किया और अन्त में बुद्धत्व।

महासांघिकों के समान महायान के अनुयायी भी बुद्ध के लोकोत्तर स्वरूप में विश्वास करते थे। इसी कारण समयान्तर में उन्होंने बुद्ध की मूर्तियां बनाना और उन्हें चैत्यों व मन्दिरों में प्रतिष्ठित कर उनकी पूजा प्रारम्भ की। बौद्धों में मूर्त्ति-पूजा का जो इतना अधिक प्रचार हुआ, उसका श्रेय महासांघिकों और महायान को

ही है। बुद्ध की मूर्त्ति की पूजा द्वारा अपनी धार्मिक भावना की संतुष्टि करना एक ऐसा साधन था, जिस के कारण यह धर्म सर्वसाधारण जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ, और धीरे-धीरे न केवल भारत में अपितु अन्य देशों में भी बहुत-से ऐसे बौद्ध विहार व चैत्य स्थापित हो गये, जिनमें एकत्र होकर सर्वसाधारण उपासक भी अपनी धार्मिक क्षुधा को शान्त कर सकते थे।

महायान के अनुयायी अपने से भिन्न सम्प्रदायों के लिये 'हीनयान' संज्ञा का प्रयोग करते थे। परिणाम यह हुआ, कि महायान के प्रादुर्भाव के अनन्तर बौद्ध धर्म दो प्रधान विभागों में विभक्त हो गया, महायान और हीनयान। अन्य सब सम्प्रदाय इन्हीं के अन्तर्गत हो गये।

क्योंकि महायान के विकास के साथ-साथ मूर्तिपूजा का विशेष रूप से प्रचार हुआ, अतः भारत में मूर्त्ति कला भी विशेष रूप से विकसित होने लगी। इस कला के विकास पर हम इसी अध्याय में आगे प्रकाश डालेंगे।

(६) जैन धर्म की प्रगति

वर्धमान महावीर की जीवनी, उनकी शिक्षाओं और जैन साहित्य के सम्बन्ध में इस इतिहास में पहले लिखा जा चुका है। बौद्ध धर्म के साथ-साथ जैन धर्म का भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचार होता रहा, और बहुत-से नरनारी उसके अनुयायी हो गये। जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य 'केवलित्त्व' प्राप्त करना है। वर्धमान महावीर 'केवली' पद को प्राप्त करने में समर्थ हुए थे, और उनके पश्चात गौतम इन्द्रभूति, सुधर्मा और जम्बूस्वामी आदि अन्य भी अनेक ऐसे मुनि हुए जिन्होंने कैवल्य पद को प्राप्त किया था। पर इनके पश्चात् कोई मनुष्य केवलित्त्व पद को प्राप्त नहीं कर सका। बाद के जैन मुनि या तो श्रुतकेवली हुए और या देशपूर्वी। श्रुतकेवली उन मुनियों को कहते थे जो शास्त्रों के तो पूर्ण पण्डित हों पर जो केवलित्त्व के चरम लक्ष्य को प्राप्त न कर सके हों। दशपूर्वी मुनि शास्त्रों के दश 'पूर्वों' में ही दक्ष होते थे। जैन अनुश्रुति में इन केवली, श्रुतकेवली और दशपूर्वी मुनियों का वृत्तान्त पर्याप्त विस्तार के साथ दिया गया है। पर इस इतिहास में उसका उल्लेख करना निरर्थक है।

जैन धर्म के इतिहास की प्रधान उल्लेखनीय घटना उसका दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त होना है। जैन अनुश्रुति के अनुसार आचार्य भद्रबाहु ने यह भविष्यवाणी की थी, कि शीघ्र ही उत्तरी भारत में एक घोर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है जो बारह वर्ष तक रहेगा। इस भावी विपत्ति को दृष्टि में रखकर उन्होंने यह निश्चय किया कि अपने अनुयायियों के साथ दक्षिण भारत में प्रवास कर लिया जाए, जहां दुर्भिक्ष की कोई सम्भावना नहीं थी। पर भद्रबाहु के सब अनुयायी उनके साथ सुदूर दक्षिण जाने के लिये तैयार नहीं हुए। ऐसे व्यक्तियों को मगध में ही छोड़कर आचार्य भद्रबाहु ने अपने १२,००० साथियों के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर दिया, और माइसूर राज्य में श्रवण बेलगोला नामक स्थान पर जाकर आश्रय लिया। यहां पहुंचकर भद्रबाहु ने अनुभव किया कि उनका अन्त समय समीप आ गया है

अतः मुनियों की परम्परा का अनुसरण कर उन्होंने अनशन व्रत द्वारा प्राणों का त्याग किया। भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य विशाख उनके स्थान पर जैनों के नेता बने। जैन अनुश्रुति के अनुसार जिन लोगों ने दुर्भिक्ष के इस अवसर पर मगध से दक्षिण के लिये प्रस्थान किया था, उनमें राजा चन्द्रगुप्त मौर्य भी थे। यह चन्द्रगुप्त अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त मौर्य थे, या अशोक के पौत्र सम्प्रति (चन्द्रगुप्त द्वितीय), इस प्रश्न पर मतभेद है। यहाँ जिस तथ्य की ओर हमें निर्देश करना है, वह यह है कि जो बहुत-से जैन इस समय दक्षिण की ओर न जाकर मगध व उत्तरापथ में ही रहते रहे थे, उनके आचरण व आचार-विचार में कुछ अन्तर आना प्रारम्भ हो गया। उनके मुनियों ने इस समय से श्वेत वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया, जब कि पुराने मुनि निर्वसन होकर ही रहा करते थे। उन्होंने एक विशेष परिधान द्वारा, जिसे अर्धफालक कहते थे, अपने सिर भी ढकने प्रारम्भ कर दिये। उत्तरापथ के इन जैन मुनियों के नेता आचार्य स्थूलभद्र थे। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर जब दक्षिण में प्रवासी हुए जैन उत्तरापथ वापस लौटे, तो उनके नेता विशाख ने मुनियों के उन मतभेदों को दूर करने का बहुत प्रयत्न किया, जो पिछले वर्षों में विकसित हो गये थे। पर उन्हें सफलता नहीं मिली। उनके मतभेदों में निरन्तर वृद्धि होती गई, जिसके कारण प्रथम सदी ई० पू० का अन्त होने से पूर्व ही जैनों में दो सम्प्रदाय स्पष्ट रूप से विकसित हो गये, जिन्हें श्वेताम्बर और दिगम्बर कहते हैं। भद्रबाहु का काल तीसरी सदी ई० पू० में है, और उसी समय से जैनों में उन मतभेदों का प्रादुर्भाव होने लग गया था, जिसके कारण आगे चलकर वे दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गये।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की अनुश्रुति के अनुसार वर्धमान महावीर के निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् (प्रथम सदी ई० पू० में) शिवभूति नाम का एक आचार्य हुआ, जिसे मुनि आर्यरक्षित ने जैन धर्म में दीक्षित किया था। एक बार रथवीरपुर (जहाँ का शिवभूति निवासी था) के राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य पोशाक भेंट रूप से प्रदान की। जब मुनि आर्यरक्षित ने अपने शिष्य को बहुमूल्य पोशाक पहने देखा, तो उन्होंने उस पोशाक को फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया। शिवभूति ने अपने गुरु के अभिप्राय को समझ कर तब से निर्वसन होकर रहना प्रारम्भ कर दिया। इसी से दिगम्बर सम्प्रदाय कर प्रादुर्भाव हुआ।

जैन ग्रन्थों में उन आचार्यों और मुनियों का विशद रूप से वर्णन मिलता है, जिन्होंने न केवल अपने मन्तव्यों व सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना की, अपितु अपने धर्म के प्रचार के लिये भी विशेष रूप से उद्योग किया। पर इस इतिहास में उनका उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन मुनि भी बौद्ध स्थविरों और भिक्षुओं के समान ही अपने धर्म के प्रचार के लिये प्रयत्नशील रहे, और भारत के बड़े भाग को वह अपने प्रभाव से लाने में भी समर्थ हुए।

(७) जातिभेद का विकास

प्राचीन आर्य बहुत-से जनों (कबीलों) में बँटे हुए थे। जन के सब लोगों को

'विश' कहा जाता था। शुरू में उसमें कोई वर्ण या जातियाँ नहीं थीं। सारे आर्यजन खेती, पशुपालन आदि से अपना निर्वाह करते थे। युद्ध के अवसर पर वे सब हथियार उठाकर लड़ने के लिये प्रवृत्त हो जाते और धार्मिक अनुष्ठान के अवसर पर सब लोग स्वयं कर्मकांड का अनुष्ठान करते। पर जब 'जन' एक निश्चित प्रदेश में बसकर 'जनपद' बन गये, तब उन्हें निरन्तर युद्धों में व्यापृत रहने की आवश्यकता हुई। आर्यों को उन अनार्य जातियों से निरन्तर युद्ध करना होता था, जिन्हें परास्त कर वे अपने जनपद बसा रहे थे। विविध जनपदों में आपस का भी संघर्ष जारी था। परिणाम यह हुआ, कि एक ऐसी विशेष श्रेणी बनने लगी, जिसका कार्य केवल युद्ध करना था, जो जनपद की 'क्षत' से रक्षा करती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे एक पृथक् वर्ण का विकास हुआ, जिसे क्षत्रिय कहते हैं। इसी तरह जब यज्ञों के कर्मकाण्ड ज्यादा जटिल होने लगे, ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख के लिये विविध अनुष्ठानों का प्रारम्भ हुआ, तो ऐसे लोगों का भी पृथक् विकास होने लगा, जो इन धार्मिक विधि-विधानों में अधिक निपुणता रखते थे। ये लोग ब्राह्मण कहलाये। साधारण 'विश:' से ब्राह्मणों और क्षत्रियों के वर्ण पृथक् होने लग गये। जो आर्य-भिन्न लोग आर्य-जनपदों में बसे रह गये थे, वे आर्यों की सेवा करके ही अपनी आजीविका चला सकते थे। कृषि, शिल्प, व्यापार आदि ऊँचे पेशे वे नहीं कर पाते थे। उनकी जमीन, उनकी पूंजी—सब आर्य विश: के हाथों में चली गयी थी। ये लोग शूद्र कहलाये। इस प्रकार प्रत्येक आर्य-जनपद की जनता को मोटे तौर पर चार वर्णों में बाँटा जा सकता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का यह विभाग गुण और कर्म के ही आधार पर था, और इसका विकास सामाजिक उन्नति की विशेष परिस्थितियों के कारण ही हुआ था।

पर आर्य लोग ज्यों-ज्यों पूर्व की ओर बढ़ते गये, उनके जनपदों में आर्य-भिन्न लोगों की संख्या अधिकाधिक होती गयी। पंजाब और गंगा-यमुना की घाटियों में विद्यमान आर्य-जनपदों में अनार्य लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र के रूप में उन्हें सुगमता से अपने समाज का ही एक अंग बनाया जा सकता था। पर पूर्व और दक्षिण में आगे बढ़ने पर आर्यों को एक नयी परिस्थिति का सामना करना पड़ा। मगध, अंग, बंग, कलिंग और अवंति जैसे जनपदों में अनार्य लोग बहुत बड़ी संख्या में थे। उनका न जड़ से उन्मूलन किया जा सकता था, और न उन्हें आगे-आगे खदेड़ा ही जा सकता था। उनकी सैनिक शक्ति भी कम नहीं थी। वे अच्छे वीर योद्धा थे, और संख्या में भी बहुत अधिक थे। पूर्व और दक्षिण में बहुत दूर तक आगे बढ़ आने वाले आर्य-विजेताओं ने विवश होकर इन अनार्यों की स्त्रियों से विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किये थे। आर्य-स्त्रियाँ पर्याप्त संख्या में आर्य-विजेताओं के साथ इतनी दूर तक नहीं आ सकती थीं। परिणाम यह हुआ, कि अनेक वर्णसंकर जातियों का विकास हुआ। मगध और उसके समीपवर्ती जनपदों में बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में जिन नवीन धार्मिक आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ था, उनके वर्णभेद और जातिभेद-सम्बन्धी विचार इसी नयी परिस्थिति के परिणाम थे। ब्राह्मण व किसी विशेष श्रेणी की उत्कृष्टता की बात उन्हें समझ में नहीं आती थी। वहाँ जो सैनिक लोग थे, वे भी शुद्ध आर्य क्षत्रिय न होकर व्रात्य थे। व्रात्यों को भी प्राचीन ग्रन्थों में वर्णसंकर गिना गया है। वज्जि, मल्ल, लिच्छवि आदि सब

व्रात्य ही थे। पूर्व और दक्षिण के इन जनपदों में न केवल क्षत्रिय अपितु ब्राह्मण भी वर्ण-संकर थे। सातवाहन-राजा जाति से ब्राह्मण समझे जाते थे, पर उनमें अनार्य रक्त विद्यमान था। जब मागध-साम्राज्य का विकास हुआ, और मगध की अनार्य-प्रधान सेनाओं ने सारे भारत को जीत लिया, तो प्राचीन आर्यजनों के शुद्ध ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उत्कृष्टता कैसे कायम रह सकती थी। बौद्ध और जैन ब्राह्मण व क्षत्रियों की उत्कृष्टता को नहीं मानते थे। उनकी दृष्टि में कोई व्यक्ति अपने गुणों व चरित्र से ही ऊँचा होता था, जन्म या जाति से नहीं। मागध-साम्राज्य के विकास की नयी परिस्थितियों में यह सिद्धान्त कितना समयानुकूल था।

बाद में शक, यवन और युइशि लोगों के आक्रमणों से एक और नयी परिस्थिति उत्पन्न हुई। इन विजेताओं ने भारत के बहुत बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। ये उत्कृष्ट योद्धा थे। बहुत बड़ी सख्या में ये लोग भारत के विविध जनपदों में विजेता के रूप में बस गये थे। इनकी राजनीतिक और सामाजिक स्थिति बहुत ऊँची थी। बौद्ध और जैन-विचारधारा के अनुसार इनके कारण सामाजिक जीवन में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होती थी। भारत में आकर इन्होंने बौद्ध या जैन धर्म को अपनाना शुरू कर दिया था। जाति-पाँति व वर्णभेद के विचारों से शून्य इन धर्मों के लिये इन म्लेच्छ विजेताओं को अपने समाज का अंग बना लेना विशेष कठिन नहीं था।

पर सनातन आर्य-धर्म के पुनरुत्थान के इस काल में इस नयी परिस्थिति का सामना चातुर्वर्ण्य में विश्वास रखने वाले पौराणिक धर्मावलम्बियों ने किस प्रकार किया? चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त प्राचीन आर्य-धर्म की एक विशेषता थी। बौद्धों के उत्कर्ष के काल में भी उसका सर्वथा परित्याग कर सकना सम्भव नहीं था। पर इन शक्तिशाली आर्य-भिन्न योद्धाओं, यवनों, शकों व अन्य बहुत-सी जातियों को चातुर्वर्ण्य में किस प्रकार स्थान दिया जाता? किस प्रकार ऐसी व्यवस्था की जाती, कि इस युग की नयी भावना से चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त पुनः अनुप्राणित हो जाता? वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के नेताओं ने इस सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया, वह बड़े महत्त्व की है। उन्होंने कहा—यवन, शक, पारद, पल्हव, कांबोज, द्रविड़, पौण्ड्रक आदि ये सब जातियाँ मूलतः क्षत्रिय थीं, पर ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने से ये वृषलत्व (म्लेच्छत्व) को प्राप्त हो गयीं। पर अब जब इन्हें फिर ब्राह्मणों का सम्पर्क मिला और इन्होंने वैदिक सम्प्रदायों को अपना लिया, तो इन्हें क्षत्रिय क्यों न समझ लिया जाय? भारत में जो शक, पल्हव, यवन आदि आये, वे सब इस समय क्षत्रियों में शामिल कर लिये गये। हमारे पुरखाओं की यह युक्ति कितनी सुन्दर थी! जो ये म्लेच्छ आक्रांता भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपनी राजनीतिक शक्ति को स्थापित करने में सफल हुए थे, वे सब मनु के इस सिद्धान्त के अनुसार क्षत्रियवर्ग में शामिल हो गये। ब्राह्मणों के पुनः सम्पर्क से अब उन्होंने वासुदेव कृष्ण और शिव की उपासना प्रारम्भ कर दी थी। उनमें वृषलत्व कुछ शेष नहीं रह गया था। इसी तरह इन विदेशी म्लेच्छों के पुरोहित ब्राह्मणवर्ग में सम्मिलित कर लिये गये, क्योंकि उन्होंने भी प्राचीन आर्य-विचारधारा को अपना लिया था। मुलतान के सूर्य-मंदिर में शाकद्वीप (शकस्थान) के 'ब्राह्मणों' को पुजारी के रूप में नियत करना इसका स्पष्ट उदाहरण है।

मगध, अवंति, अंग आदि जनपदों में आर्य अपनी रक्तशुद्धि को कायम रखने में

समर्थ नहीं हुए थे। उन्होंने आर्य-भिन्न जातियों के साथ रक्तसम्बन्ध स्थापित किये थे। इन्हें इस काल में व्रात्य और वर्णसंकर कहा गया। मनुस्मृति के अनुसार भूर्जकंटक और आवन्त्य व्रात्य ब्राह्मणों की सन्तान थे, और झल्ल, मल्ल व लिच्छवियों की उत्पत्ति व्रात्य क्षत्रियों से हुई थी। कारूप और सात्वत व्रात्य वैश्यों की संतति थे। वैश्यों और क्षत्रियों के सम्मिश्रण से मागध तथा वैश्यों और ब्राह्मणों के सम्मिश्रण से वैदेह लोगों का विकास हुआ था। मनु के इस मत में कोई सचाई हो या न हो, पर इस वैदिक पुनरुत्थान-युग के विचारक इस तथ्य को दृष्टि में ला रहे थे, कि मागध, वैदेह, आवन्त्य, लिच्छवि, सात्वत आदि लोग शुद्ध आर्य नहीं हैं, यद्यपि समाज में उनका महत्त्व है। उन्हें वे व्रात्य ब्राह्मण, व्रात्य क्षत्रिय, व्रात्य वैश्य व वर्णसंकर बताकर चातुर्वर्ण्य के दायरे में शामिल करने का प्रयत्न कर रहे थे।

इस समय के विचारकों ने एक और सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। अपने कर्म से शूद्र ब्राह्मण बन जाता है, और ब्राह्मण शूद्र। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी अपने कर्म से ही होते हैं। युग की परिस्थितियों के अनुसार यह सिद्धान्त कितना क्रियात्मक और समयानुकूल था। जब शक, यवन और कुशाण जैसी म्लेच्छ जातियाँ आर्य-क्षत्रियों को परास्त कर राज्य करने में व्यापृत थीं, शूद्र-जाति में उत्पन्न हुए बौद्ध-भिक्षु जनता के धर्मगुरु बने हुए थे, तब यदि कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य का प्रतिपादन किया जाए, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

पर यहाँ यह भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है, कि वर्ण और जाति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। किसी भी आर्य 'जन' में चारों वर्ण हो सकते थे। गुण और कर्म के अनुसार किसी भी मानवसमूह को इन चार वर्णों में बाँटा जा सकता है। जब प्राचीन विचारकों को एक छोटे-से आर्य-जनपद के क्षेत्र से निकलकर विशाल भारत के जनसमाज में इस चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त का प्रयोग करना पड़ा, तो उन्हें नयी परिस्थितियों के कारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं। पर इस युग के भारत में बहुत-सी जातियों का पृथक्-रूप में भी विकास हो रहा था। वर्त्तमान भारत में खत्री, अरोड़ा, रस्तोगी, कोली, मुरई आदि जो सैकड़ों जातियाँ पायी जाती हैं, उन्हें किसी वर्ण में सम्मिलित कर सकना सुगम नहीं है। कोली और मुरई शूद्रों में शामिल किये जाने से एतराज करते हैं। पर क्षत्रिय लोग उन्हें क्षत्रिय मानने को तैयार नहीं हैं। यही बात अन्य बहुत-सी जातियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

वास्तविकता यह है, कि प्राचीन भारत में जो सैकड़ों छोटे-बड़े गणराज्य थे, वे ही इस युग में धीरे-धीरे जातियों का रूप धारण करने लगे। प्राचीन गणराज्य दो प्रकार के थे—वार्ताशस्त्रोपजीवि और राजशब्दोपजीवि। 'वार्ता' का अभिप्राय कृषि, पशुपालन और वाणिज्य से है। कुछ गण जहाँ कृषि, पशुपालन और वाणिज्य करके अपना जीवननिर्वाह करते थे, वहाँ वे शस्त्र भी धारण करते थे। कम्बोज, क्षत्रिय और श्रेणी गण इसी प्रकार के थे। लिच्छवि, वज्जि, कुकुर, कुरु, पंचाल आदि गण राजशब्दोपजीवि थे। इनमें प्रत्येक कुल का नेता राजा कहलाता था, और अपने राजत्व का इन्हें बड़ा अभिमान था। प्रत्येक गण में एक-एक 'जन' (कबीले) का निवास था। इन जनों को अपने वंश की उच्चता और रक्त की शुद्धता का बड़ा गर्व था।

कोशलराज प्रसेनजित् के प्रयत्न करने पर भी शाक्य गण के राजा अपनी कुमारी का उसके साथ विवाह करने के लिये तैयार नहीं हुए थे। अब मगध के साम्राज्य-विस्तार के साथ इन गणों की राजनीतिक स्वतंत्रता का अन्त हो गया था। मागध-सम्राटों ने गणों को नष्ट करने तथा उनकी स्वतंत्रता को मिट्टी में मिला देने में कुछ भी उठा नहीं रखा था। परिणाम यह हुआ, कि गणराज्यों की स्वतंत्रता का अन्त हो गया। पर मागध-सम्राटों की नीति यह थी, कि वे गणों के अपने धर्मों को नष्ट न करें। इन गणराज्यों में जो अपने रीति-रिवाज व स्थानीय कानून प्रचलित थे, उन्हें मागध-सम्राटों ने न केवल स्वीकार ही किया था, अपितु उन्हें साम्राज्य के कानून का एक अंग भी मान लिया था। यही कारण है, कि इन विविध स्थानीय कानूनों को राजकीय रजिस्टरों में रजिस्टर्ड (निबन्धपुस्तकस्थ) करने की व्यवस्था की गयी थी। भारत के प्राचीन आचार्यों ने 'स्वधर्म' के सिद्धान्त पर बहुत जोर दिया है। जैसे प्रत्येक मनुष्य को 'स्वधर्म' का पालन करना चाहिये, वैसे ही साम्राज्य के प्रत्येक अंग—ग्राम कुल, गण और जनपद को भी 'स्वधर्म' में दृढ़ रहना चाहिये। जिसके जो अपने व्यवहार, रीति-रिवाज व कानून हों, उनका उसे उल्लंघन नहीं करना चाहिये। यदि कोई उनका उल्लंघन करे, तो राजा का कर्त्तव्य है, कि उसे दण्ड दे और उसे 'स्वधर्म' पर दृढ़ रहने के लिये बाधित करे।

प्राचीन सम्राटों की इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि राजनीतिक स्वाधीनता के नष्ट हो जाने पर भी गणों की सामाजिक व आर्थिक स्वाधीनता कायम रही। उनके लोग अपने स्थानीय धर्म, व्यवहार व कानून का पहले के समान ही पालन करते रहे। इसी से वे धीरे-धीरे जाति व बिरादरी के रूप में परिणत हो गये। प्राचीन यूरोप में भी भारत के ही समान गणराज्य थे। पर वहाँ जब रोम के साम्राज्यवाद का विकास हुआ, तो वहाँ के सम्राटों ने गणराज्यों की न केवल राजनीतिक सत्ता को ही नष्ट किया, पर साथ ही उनके धर्म, व्यवहार, कानून और रीति-रिवाज़ का भी अन्त किया। रोमन सम्राट् अपने सारे साम्राज्य में एक रोमन कानून जारी रखने के लिये उत्सुक रहते थे। भारतीय सम्राटों के समान वे सहिष्णुता की नीति के पक्षपाती नहीं थे। यही कारण है, कि यूरोप के गणराज्य भारत के सदृश जाति-बिरादरियों में परिवर्तित नहीं हो सके। भारत में गणराज्यों के जाति-बिरादरियों के रूप में परिवर्तित होने का परिणाम यह हुआ, कि इतिहास के उस युग में जब संसार में कहीं भी लोकसत्तात्मक शासन की सत्ता नहीं रही, सब जगह एकच्छत्र सम्राटों का राज्य हुआ, यहाँ भारत में साधारण जनता अपना शासन स्वयं करती रही, और अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों का निर्णय अपनी बिरादरी की पंचायत द्वारा करती रही। राजनीतिक दृष्टि से परतंत्र हो जाने के बाद भी सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र में उनका गण जीवित रहा।

वर्तमान समय की बहुत-सी जातियों की उत्पत्ति प्राचीन गणराज्यों में ढूँढी जा सकती है। पंजाब के आरट्ट और क्षत्रिय गण इस समय के अरोड़ा और खत्री जातियों में बदल गये। कौटलीय अर्थशास्त्र का श्रेणी-गण इस समय के सैनियों के रूप में अब भी जीवित है। बौद्ध-काल के पिप्पलिवन के मोरिय इस समय भी मोरई जाति के रूप में विद्यमान है। प्राचीन रोहितक गण इस समय के रस्तोगियों, रुस्तगियों व रोहतगियों के रूप में, आग्रेयगण अग्रवालों के रूप में, कम्बोज गण कम्बोह जाति के रूप में, कोलिय

गण कोरी जाति के रूप में, और आर्जुनायन गण अरायन जाति के रूप में इस समय भी स्वतंत्र रूप से विद्यमान हैं। इसी प्रकार के और भी बहुत-से उदाहरण पेश किये जा सकते हैं, पर इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिये ये ही पर्याप्त हैं।

भारत की बहुत-सी वर्त्तमान जातियों में यह किंवदंती चली आती है, कि उनका उद्भव किसी प्राचीन राजा से हुआ है, वे किसी राजा की संतान हैं, और किसी समय उनका भी पृथिवी पर अपना राज्य था। ये किंवदंतियाँ इसी सत्य पर आश्रित हैं, कि किसी समय ये जातियाँ स्वतंत्र गणराज्यों के रूप में विद्यमान थीं, और ये इन गणराज्यों की ही उत्तराधिकारी हैं। जो गण वार्ताशस्त्रोपजीवी थे, उनकी शस्त्रोपजीविता की इस युग में आवश्यकता नहीं रही थी, क्योंकि वे शक्तिशाली सम्राटों की अधीनता व संरक्षण में आ गये थे। अब वे केवल वार्त्तोपजीवी रह गये, और गुणकर्मानुसार वर्णविभाग करने पर उनकी गणना वैश्यों में की जाने लगी। अग्रवाल, रस्तोगी आदि सभी अब वैश्य जातियाँ ही हैं। किसी समय रोहितक और आग्रेय गणों ने सिकन्दर की सेनाओं का डट कर मुकाबला किया था, पर अब उनके उत्तराधिकारी केवल वार्त्तोपजीवी ही रह गये हैं।

गणों के जातियों के रूप में परिवर्त्तित होने की प्रक्रिया का प्रारम्भ होना इस युग की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है। सात्वतों और कारूपों के समान उस समय के स्मृतिकार चाहे इन्हें व्रात्य वैश्य कहें, और चाहे लिच्छवि और मल्लों की तरह व्रात्य क्षत्रिय, पर महत्त्व की बात यह है, कि प्राचीन समय के स्वतंत्र गण इस समय जातियों के रूप में परिवर्तित होने प्रारम्भ हो गये थे।

शुद्ध आर्य-जनपदों में चार वर्णों का जो भेद था, वह भी बहुत कुछ कर्म के ऊपर आश्रित था। वर्ण पूर्णतया जातिभेद को सूचित नहीं करते थे। अनुलोम और प्रतिलोम विवाह इस युग में जारी थे। ऊंचे वर्ण के लोग अपने से नीचे वर्ण की स्त्री के साथ विवाह कर सकते थे। इसी तरह ऊंचे वर्ण की स्त्री का निचले वर्ण के पुरुष के साथ विवाह भी असाधारण बात नहीं थी। इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न संतान को पिता की सम्पत्ति में हिस्सा भी मिल सकता था। पुराने समय के ब्राह्मणों के बहुत-से वंशज ऐसे कार्यों में भी लगे हुए थे, जो तुच्छ और नीच कर्म समझे जाते थे। मनुस्मृति में ऐसे ब्राह्मणों की सूची दी गयी है, जिन्हें श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिये। इस सूची में से कुछ को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी है। चिकित्सक, पुजारी, मांस बेचने वाले, बुरे प्रकार का व्यापार करने वाले, राजा के हरकारे का काम करने वाले, सूदखोर, पशुपालक, नट, नर्तक, तेली, शराबी, विष बेचने वाले, धनुष और बाण बनाने वाले, जुआरी, हाथी, बैल, घोड़े और ऊँटों को साधने वाले, मिस्त्री, माली, कुत्तों को पालने वाले, बाज पालने वाले, भिखारी, कृषिजीवी, मेढों और भैंसों का रोजगार करने वाले और मुर्दा ढोने वाले—ये तथा अन्य इसी प्रकार के कर्म करने वाले बहुत-से ब्राह्मण मनुस्मृति में ऐसे गिनाये गये है, जिन्हें श्राद्ध के अवसर पर नहीं बुलाना चाहिये। इससे प्रतीत होता है, कि इस मौर्योत्तर युग में ब्राह्मण वर्ण के लोग केवल विद्या पढ़ने-पढ़ाने और यज्ञ करने-कराने में ही व्यापृत नहीं रहते थे, अपितु अनेक प्रकार के तुच्छ तथा नीच कर्मों द्वारा भी आजीविका चलाते थे। आर्य-जनपदों में धार्मिक अनुष्ठानों तथा विधि-विधानों की विशिष्टता होने के कारण जिस पृथक् ब्राह्मण श्रेणी या वर्ण का विकास हुआ था, उसके

वंशज अब सब प्रकार के ऊँच-नीच कर्मों द्वारा अपना पेट पालने लगे थे। पर वे असली ब्राह्मण नहीं हैं, यह भावना इस काल में विद्यमान थी। शायद इसी लिये आगे चलकर भारत में नाई, माली, महाब्राह्मण, मिस्त्री, नट, वैद्य, योगी आदि जिन विविध जातियों का विकास हुआ, वे ब्राह्मणों का गौरवमय पद नहीं पा सकीं, यद्यपि वे अब तक भी अपने को ब्राह्मण ही समझती हैं और अपने को ब्राह्मण वर्ण का होने का दावा करती रहती हैं।

आर्यों के अधीन जो बहुत-से आर्य-भिन्न शूद्र व दास लोग थे, वे सेवा द्वारा ही अपना पेट पालते थे। पर सेवा का मतलब घरेलू नौकरी से ही नहीं था। आर्य गृहपतियों के अधीन चर्मकार, तंतुवाय, शिल्पी, लुहार आदि विविध प्रकार का कार्य करने वाले सब तरह के दास रहते थे। धीरे-धीरे इनकी भी पृथक् जातियाँ बनने लगीं। दासों व शूद्रों का अपना कोई स्वाधीन जीवन तो था ही नहीं। उनका कार्य ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य गृहपतियों की आवश्यकताओं को पूरा करना ही था। इनमें यदि कोई भेद था, तो केवल पेशे व कर्म का था। अन्यथा शूद्र-रूप में इन सबकी स्थिति एक थी। चमार, जुलाहे, लुहार, शिल्पकार आदि जो बहुत-सी छोटी समझी जानेवाली जातियाँ इस समय भारत में हैं, उनका विकास इसी प्रकार हुआ। ये जातियाँ पंजाब में बहुत कम संख्या में हैं, क्योंकि वहाँ के आर्य-जनपदों में आर्यभिन्न लोगों की संख्या बहुत कम थी। शूद्र व दास अधिक संख्या में वहाँ हो ही कैसे सकते थे? पर पूर्व व दक्षिण के आर्य-शासित जनपदों में ये जातियाँ बहुत अधिक थीं, इसी लिये उनमें नीच समझी जाने वाली जातियाँ अब भी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। वर्त्तमान समय की अछूत व नीच जातियाँ प्राचीन भारत के दासों की ही उत्तराधिकारी हैं।

खान-पान के सम्बन्ध में विशेष विचार इस युग में नहीं था। पतञ्जलि के महाभाष्य के अनुसार कुछ जातियाँ ऐसी थीं, जो पात्र से निरवसित थीं, अर्थात् उनके बरतनों में आर्य लोग भोजन नहीं करते थे, और न उन्हें अपने बरतनों में खिलाते ही थे। पर शकों और यवनों की गिनती इन पात्र-निरवसित लोगों में नहीं थी। केवल चांडाल, निषाद आदि बहुत नीची समझी जाने वाली जातियों से ही यह व्यवहार किया जाता था।

(८) भिक्खु-जीवन के विरुद्ध भावना

आश्रम-व्यवस्था आर्यों के जीवन और संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ अवश्य होना चाहिये। जो विद्वान् हों, ब्राह्मण हों, उन्हें वानप्रस्थ के बाद संन्यासी होकर जनता की सेवा भी करनी चाहिये। संन्यासी को अपने भरण-पोषण के लिये गृहस्थों पर निर्भर रहना होता है, इसी लिये केवल उन्हीं लोगों को इस आश्रम में प्रवेश करने का अधिकार है, जो सचमुच जनसेवा जैसे पवित्र और उच्च व्रत का पालन करने के योग्य हों। पर बौद्ध और जैन-सम्प्रदायों में भिक्खु बनने के लिये इस आदर्श का पालन नहीं किया जाता था। इसमें संदेह नहीं, कि शुरू में भिक्षुसंघ का संगठन मनुष्यमात्र के कल्याण और सब प्राणियों के हितसाधन के लिये किया गया था। अपने आर्य-मार्ग के प्रचार के लिये भी महात्मा बुद्ध ने लोगों को भिक्खु बनने की प्रेरणा की थी। पर इसका दुरुपयोग भी सुगमता से हो सकता था। धीरे-धीरे बहुत बड़ी संख्या में युवा और वृद्ध—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब प्रकार के

लोग भिक्षु बनने लगे। इन्हें अपनी आजीविका के लिये स्वयं परिश्रम करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। धनी और राजा लोग इनके पालन के लिये धन को पानी की तरह बहाते थे। समाज के लिये इस प्रकार के लोगों की एक बहुत बड़ी श्रेणी बड़े खतरे की बात थी। राजा अशोक से पहले भी आचार्य चाणक्य ने इस खतरे को अनुभव किया था। उसने व्यवस्था की थी, कि भिक्षु या परिव्राजक होने के लिये राज्य की अनुमति लेना आवश्यक होना चाहिये। जिन लोगों ने अपने परिवार के प्रति सब कर्त्तव्यों का पालन कर लिया हो, जो संतान की उत्पत्ति के अयोग्य हों, उन्हीं को विशेष दशा में भिक्षु बनने की अनुमति सरकार द्वारा मिलनी चाहिये, यह विचार चाणक्य ने प्रकट किया था।

अब इस मौर्योत्तर-काल के विचारकों ने भी इसी विचारधारा का अनुसरण किया। गृहस्थ-आश्रम सब आश्रमों में ऊँचा है, उसी से सब वर्णों व आश्रमों का पालन होता है, इस विचार पर इस समय बहुत जोर दिया जाने लगा। मनु ने कहा, जैसे वायु का आश्रय पाकर सब जंतु जीते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय पाकर सब आश्रमों का गुजारा चलता है। क्योंकि अन्य तीन आश्रमियों का गृहस्थ ही पोषण करता है, इसलिए यही आश्रम सब में ज्येष्ठ व श्रेष्ठ है। इसी विचार को महाभारत के शांति-पर्व में इस प्रकार प्रकट किया गया, कि जैसे नदी-नाले सब अन्त में समुद्र में ही जाकर मिल जाते हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों का आश्रय गृहस्थ ही है। मनु के अनुसार एक आश्रम से क्रमश: दूसरे में प्रवेश कर, यथासमय होम-हवन आदि अनुष्ठानों को सम्पादित कर पूर्ण जितेन्द्रिय हो बाद में परिव्राजक होना चाहिये। पितृऋण, ऋषिऋण, और देवऋण तीनों को चुकाकर तब मोक्ष की ओर मन लगाना चाहिये। तीन ऋणों को चुकाये बिना मोक्ष के लिये प्रयत्न करने वाले का पतन होता है। ब्रह्मचर्य में वेद पढ़े बिना, गृहस्थ में संतान उत्पन्न किये बिना और वानप्रस्थ में यज्ञानुष्ठान किये बिना जो सीधा मोक्ष के लिये दौड़ता है, वह नीचे की तरफ को ही गिरता है। हरेक मनुष्य को भिक्षु या मुनि बनकर निर्वाण या केवलीपद के लिये प्रयत्न करने लग जाने के विरुद्ध इससे बढ़कर युक्ति और क्या हो सकती है? यह स्पष्ट रूप से उस प्रतिक्रिया को सूचित करता है, जो इस युग में भिक्षु-जीवन के विरुद्ध बल पकड़ रही थी।

महाभारत के शांति-पर्व में कथा आती है, कि महाभारत-युद्ध के बाद अपने गुरुजनों तथा बन्धु-बान्धवों का क्षय देखकर युधिष्ठिर के मन में बड़ी ग्लानि हुई। उसे वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह राजपाट छोड़कर संन्यास के लिये तैयार हो गया। इस पर उसके भाई उसे समझाने लगे। इस प्रकरण में महाभारतकार ने भीम के मुख से भिक्षु जीवन के विरुद्ध अपने विचारों को मज़ाक के रूप में प्रकट किया है। वह कहता है, 'जब कोई आफत आ पड़े, मनुष्य बूढ़ा हो जाये, या शत्रुओं से उसकी दुर्गति हो जाय, तभी संन्यास ले लेना चाहिये। मौन धारण करके, केवल अपना पेट भरते हुए, धर्म का ढोंग रचकर मनुष्य नीचे ही गिर सकता है। अकेला आदमी, जिसे पुत्र-पौत्रों का भरण-पोषण न करना हो, देवताओं, ऋषियों, अतिथियों व पितरों का पालन न करना हो, जंगल में सुख से रह सकता है। जगलों में रहने वाले न तो मृग स्वर्ग को पाते हैं, न सुअर और न पक्षी। यदि संन्यास से कोई सिद्धि पा सके, तो पहाड़ और वृक्ष तुरन्त

ही सिद्धि पा लें।' भीम की ये युक्तियाँ उस समय के भिक्षुओं के जीवन का कितनी सुन्दरता से उपहास करती हैं।

फिर अर्जुन ने कुछ तापसों और पक्षी बने हुए इन्द्र का एक पुरातन इतिहास सुनाकर कहा—जंगलों में इस तरह सुख से जीवन बिताया जा सकता है, यह सोचकर कुछ अजातश्मश्रु (बिना दाढ़ी-मूँछ के) द्विज घर-बार छोड़कर संन्यासी हो गये थे।

स्त्रियों के भिक्षुणी बनने के तो ये विचारक और भी खिलाफ थे। अशोक से पहले ही नीतिकारों की भावना इस के विरुद्ध हो गयी थी। स्त्रियों का प्रधान कार्य संतानोत्पत्ति द्वारा समाज की जनसंख्या बढ़ाना है, नीतिकार इस बात पर बड़ा जोर देते थे। इसलिये उनका भिक्षुणी बनकर विहारों में बैठ जाना उन्हें सह्य नहीं था। भिक्षुणी व प्रव्रजिता स्त्रियों को इस युग में बहुत नीची दृष्टि से देखा जाने लगा था।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में धर्म का नेतृत्व जिन ब्राह्मणों के हाथ में आया था, वे संन्यासी व भिक्षु बने बिना ही और गृहस्थ रहते हुए अपने कर्त्तव्यों का सम्पादन करते थे। भिक्षु-जीवन सबसे उच्च है, गृहस्थ लोग सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए मोक्षसाधन नहीं कर सकते, यह विचार बौद्धों और जैनों में बहुत जोर पकड़े हुए था। इस समय इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। गृहस्थाश्रम सबसे उच्च और महत्त्व-पूर्ण है, गृहस्थ रहते हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण कर सकता है, इस भावना का इस युग में फिर उदय हुआ।

(६) विवाह-सम्बन्धी नियम

मौर्य-युग में तलाक की प्रथा प्रचलित थी। कौटलीय अर्थशास्त्र में तलाक के लिये 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया गया है। स्त्री और पुरुष, दोनों खास-खास अवस्थाओं में तलाक कर सकते थे। पर इस युग में यह प्रथा कमजोर पड़ गयी थी। मनुस्मृति के अनुसार पुरुष स्त्री का त्याग कर सकता है, पर त्यक्त हो जाने के बाद भी वह पति की भार्या बनी रहेगी। पति से त्यागी जाने पर स्त्री को यह अधिकार नहीं है, कि वह दूसरा विवाह कर सके। दूसरी तरफ स्त्री को यह अधिकार नहीं, कि वह पति का त्याग कर सके। स्त्री यदि रोगिणी हो, तो उससे अनुमति लेकर पुरुष दूसरा विवाह कर सकता था।

नियोग की प्रथा इस समय में भी जारी थी। संतान न होने की दशा में देवर या किसी अन्य सपिण्ड व्यक्ति के साथ नियोग किया जा सकता था। मनु को विधवा-विवाह पसन्द नहीं था। यद्यपि कुछ अवस्थाओं में स्त्रियों के पुनर्विवाह का विधान किया गया है, पर मनु का मंतव्य यही था कि स्त्री का दूसरा विवाह नहीं होना चाहिये।

यह स्पष्ट है, कि स्त्रियों की स्थिति इस युग में मौर्यकाल की अपेक्षा हीन थी। आगे चलकर स्मृतिकार स्त्रियों की स्थिति को और भी हीन करते गये। बौद्ध लोगों में भिक्षुणियों ने जो अपने पृथक् संघ बनाये थे, उनमें अनाचार की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी। स्वयं महात्मा बुद्ध को इस बात का भय था। भिक्षुणी-संघ के अनाचार को देखकर ही शायद इन स्मृतिकारों में यह प्रवृत्ति हुई थी, कि स्त्रियों की स्वाधीनता को कम करें और आर्य-स्त्रियों को उनके पतियों का अधिक वशवर्ती बनाएं।

(१०) अहिंसावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया

बौद्ध और जैन-धर्मों ने अहिंसा पर बहुत बल दिया था। किसी भी प्राणी को

हत्या नहीं करनी चाहिये, मांस भक्षण नहीं करना चाहिये, और प्राणीमात्र की रक्षा के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये—ये इन धर्मों के सिद्धान्त थे। यज्ञों में पशुबलि के विरुद्ध इन्होंने प्रबल आवाज उठायी थी। अशोक जैसे राजाओं ने अपने जीवन में अहिंसा के आदर्श का पालन कर अपनी प्रजा को भी इसी का उपदेश दिया था।

पर अश्वमेध-यज्ञ के पुनरुत्थान के इस युग में अहिंसा के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। महाभारत में एक संदर्भ आता है, जिसमें 'जीवो जीवस्य भोजनम्' के सिद्धान्त का बड़ी सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है। हम प्रकृति में देखते हैं, कि एक जीव को दूसरा जीव खाता है। उसे अन्य जीव खाता है। सैंकड़ों इस प्रकार के दृष्टांत देकर महाभारतकार कहता है, कि जीव ही जीव का भोजन है। निर्जीव पदार्थ को खाकर कोई जीव प्राणधारण नहीं कर सकता, अतः यह प्रकृति का ही नियम है, कि जीव जीव को खाकर जीवित रहे। फिर हिंसा में क्या दोष है ?

मनुस्मृति में मांस-भक्षण का भी विधान है। मनु महाराज ने कहा है कि ब्राह्मणों को यज्ञ के लिये प्रशस्त मृगों और पक्षियों को मारना चाहिये। पुराने समय में भी यह प्रथा थी। यज्ञशेष मांस को स्वयं खाना चाहिये। महाभारत की युक्ति को भी मनु ने दोहराया है। प्रजापति ने जो कुछ स्थावर और जंगम रचा है, सब प्राणियों का अन्न (भोजन) है। चरों के अन्न अचर हैं। दाढ़वालों के अन्न बिना दाढ़ के प्राणी हैं, हाथ वालों के अन्न हस्तहीन प्राणी हैं, और शूरों के अन्न भीरु हैं। खाने योग्य प्राणियों को खाने से खाने वाला दूषित नहीं होता। विधाता ने ही खाने वाले और खाने योग्य दोनों प्रकार के प्राणी बनाये हैं।

पर अहिंसा के सम्बन्ध में बौद्ध और जैन-धर्मों का इस युग के स्मृतिकारों व विचारकों पर कोई प्रभाव न हो, यह बात नहीं है। मनुस्मृति व इस युग के अन्य ग्रंथों में वृथा हिंसा का विरोध किया गया है। यज्ञ में हिंसा करने से पाप नहीं लगता, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' यह विचार इस समय में फिर प्रबल हुआ। पर यज्ञ के अतिरिक्त अकारण हिंसा बुरी बात है, यह मत स्मृतियों को भी अभिप्रेत था।

बौद्ध-विचारों का ही यह प्रभाव था, कि माँस-भक्षण सम्बन्धी अपने विचारों को मनु ने इस प्रकार प्रकट किया कि मांस-भक्षण में दोष तो कोई नहीं, आखिर यह जन्तुओं की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, पर यदि इसको न खाया जाय, तो बड़ा उत्तम फल होता है। मांस-भक्षण इस युग में बहुत अच्छा समझा जाता हो, सो बात नहीं थी। एक अन्य स्थान पर मनु ने लिखा है—प्राणियों की हिंसा किये बिना मांस प्राप्त नहीं होता, और प्राणियों का वध करना कोई अच्छी बात नहीं, अतः मांस नहीं खाना चाहिये। इसका अभिप्राय यही है, कि प्राचीन सनातन धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में यज्ञों में पशु-हिंसा करने, श्राद्ध आदि धार्मिक अनुष्ठानों में मांस का भक्षण करने और यज्ञशेष-रूप से मांस को खाने का तो स्मृतिकार प्रतिपादन कर रहे थे, पर व्यर्थ हिंसा के विरुद्ध जो भावना बौद्ध-काल में उत्पन्न हुई थी, उसका प्रभाव अभी शेष था। यह प्रभाव भारतीय आर्यधर्म पर सदा के लिये स्थिर-सा हो गया। भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी बौद्धों और जैनों के समान ही अहिंसावादी थे। प्राचीन परिपाटी के अनुसार यज्ञ के अवसर पर एक विशेष अनुष्ठान के रूप में हिंसा कर लेना अपवाद माना जाता था।

पर अन्यत्र पशुओं को मारना भारत में इस युग में भी अच्छा नहीं समझा गया।

बौद्धों के अहिंसावाद का ही यह प्रभाव था, कि मनु ने समाह्वय को रोकने का आदेश दिया। समाह्वय वे उत्सव थे, जिनमें पशुओं को लड़ाया जाता था। भारतीय लोग बहुत बड़ी संख्या में एक खुले मैदान में इकट्ठे होते थे, और वहाँ पशुओं की लड़ाई करायी जाती थी। भैंसें, भेड़ें और यहाँ तक कि मुर्गों और बटेरों की भी लड़ाई प्राचीन समय में प्रचलित थी। लोग ये लड़ाइयाँ देखकर बड़े प्रसन्न होते थे। वात्स्यायन के कामसूत्र में इनका उल्लेख आता है। पहले जमाने में इन्हीं को 'समाज' कहा जाता था। राजा अशोक ने इस प्रकार के समाजों के विरुद्ध आवाज उठायी थी। मनु को भी ये पसन्द नहीं थे, क्योंकि उनमें भी व्यर्थ हिंसा होती थी।

(११) राज्य-शासन

मौर्योत्तर-युग के राज्यों में शासन का प्रकार प्राय: वही रहा, जो मौर्यकाल में था। मागध-सम्राट् इस समय में भी एकतंत्र शासक थे। पर बंगाल की खाड़ी से लगाकर मथुरा तक विस्तीर्ण (पुष्यमित्र के बाद के शुंगकाल में) इस साम्राज्य में बहुत-से जनपद अन्तर्गत थे। अनेक जनपदों में अपने पृथक् राजा भी थे, जिनकी स्थिति शुंग-सम्राटों के अधीनस्थ राजाओं की थी। इस प्रकार के दो सामंतों, अहिच्छत्र के इन्द्रमित्र और मथुरा के ब्रह्ममित्र के सिक्के भी उपलब्ध हुए हैं। साम्राज्य के अन्तर्गत इन जनपदों का शासन प्राचीन परम्परा के अनुसार होता था। जनपद के धर्म, कानून, व्यवहार और आचार को मागध-सम्राट् न केवल अक्षुण्ण रखते थे, अपितु उनका भली-भाँति अनुसरण किया जाए, इस पर भी पूरा ध्यान रखते थे। पर इन जनपदों से मागध-सम्राट् कर या बलि वसूल किया करते थे। जनपदों का शासन बहुत पुराने समयों से पौर और जानपद-सभाओं द्वारा होता चला आता था। प्रत्येक जनपद का एक केन्द्रीय नगर होता था, जिसे पुर कहते थे। यह सारे जनपद के जीवन का केन्द्रस्वरूप होता था। इसके अग्रणियों की सभा को पौर कहते थे। जनपदों के अन्य निवासियों के अग्रणी जानपद-सभा में एकत्र होते थे। विविध जनपदों में ये सभाएँ अब तक भी जीवित थीं। यही कारण है, कि शक रुद्रदामा ने अपने शिलालेख में 'पौर जानपद' का उल्लेख किया है। इसी प्रकार कलिंग चक्रवर्ती खारवेल ने भी पौर जानपदों के साथ किये गये अनुग्रहों को अपने हाथीगुम्फा के शिलालेख में उत्कीर्ण कराया है। जनपदों के अतिरिक्त 'देशों' के संघों का भी उल्लेख स्मृति-ग्रन्थों में आया है। राजा को उनके भी चरित्र, व्यवहार और धर्म को स्वीकार करना चाहिये। अभिप्राय यह है, कि मागध-साम्राज्य शासन की दृष्टि से एक इकाई नहीं था, वह जनपदों और देशों के अनेक विभागों में विभक्त था। प्रत्येक विभाग के अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार होते थे, जिन्हें मागध-सम्राट् स्वीकार करते थे।

इस काल के सम्राट् एकतंत्र अवश्य थे, पर वे परम्परागत राजधर्म के अनुसार ही शासन करने का प्रयत्न करते थे। राजा के सम्बन्ध में मनुस्मृति का सिद्धान्त यह था, कि अराजक दशा में सब तरफ से पीड़ा होने के कारण जनता की रक्षा के लिये प्रभु ने राजा की सृष्टि की। उसके निर्माण के लिये इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण,

चन्द्रमा और धनेश—सब की मात्राएँ ली गयीं। क्योंकि राजा देवताओं की मात्रा से बना है, इसलिये उसका तेज सब मनुष्यों से अधिक है।

पर जिस प्रकार राजा ईश्वरीय है, देवताओं की मात्राओं से बना है, वैसे ही 'दंड' भी ईश्वरीय है। मनुस्मृति के अनुसार दंड ही असली राजा है, वही नेता है, और वही शासन करनेवाला है। दण्ड सब प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, सबके सोते हुए दण्ड ही जागता है, दण्ड को ही बुद्धिमान लोग धर्म मानते हैं। दण्ड का अभिप्राय राजधर्म से है। जो परम्परागत धर्म और व्यवहार चले आते हैं, वही दंड है, वही वस्तुत: दैवी है। इसीलिये यदि राजा भली-भाँति इस दण्ड का प्रणयन करे, तब तो वह उन्नति करता है, अन्यथा कामात्मा, विषयी और क्षुद्र राजा दण्ड से ही मारा जाता है। दण्ड का बड़ा तेज है। धर्म से विचलित राजा को वह बन्धु-बांधवसहित मार डालता है। इस प्रकार मनु के अनुसार वास्तविक शक्ति दण्ड की है, न कि राजा की। राजा के लिये उचित यही है, कि वह परम्परागत राजधर्म के अनुसार न्याययुक्त शासन करे। पर यह वही राजा कर सकता है, जो विषयासक्त न हो, जिसकी बुद्धि निश्चित और क्रियाशील हो, जो मूढ़ और लुब्ध न हो, और जिसको अच्छे सहायकों (मंत्रियों व अमात्यों) का साहाय्य प्राप्त हो।

मनु के विचार ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि आचार्य चाणक्य ने अपने राजर्षि राजा के सम्बन्ध में प्रकट किये हैं। मनु ने एक अन्य स्थान पर लिखा है, कि जो राजा मोह या बेपरवाही से अपने राष्ट्र को सताता है, वह शीघ्र ही राज्य से च्युत हो जाता है, और अपने बन्धु-बान्धवों सहित जीवन से हाथ धो बैठता है। जैसे शरीर के कर्षण से प्राणियों के प्राण क्षीण हो जाते हैं, उसी प्रकार राष्ट्र के कर्षण से राजाओं के प्राण भी क्षीण हो जाते हैं। जिस राजा के देखते हुए चीखती-पुकारती प्रजा को दस्यु लोग पकड़ते हैं, वह मरा हुआ है, जीवित नहीं है।

मनु के इन सन्दर्भों में मौर्यों के बाद के निर्बल राजाओं के समय की दशा का कैसा सुन्दर आभास है! अधार्मिक राजाओं के विरुद्ध क्रांति करके बार-बार उन्हें पदच्युत किया गया। शक और कुशाण सदृश दस्युओं के द्वारा चीखती-पुकारती भारतीय प्रजा विपद्ग्रस्त हो रही थी। उसकी रक्षा करने में असमर्थ पिछले शुंग व कण्व राजा मरे हुए थे, जीवित नहीं थे।

शासन-कार्य में राजा की सहायता करने के लिये 'मन्त्रिपरिषद्' इस युग में भी विद्यमान थी। मनु के अनुसार सात या आठ सचिव होने चाहिएं, जिनसे कि राज्य के प्रत्येक कार्य के विषय में परामर्श लेना चाहिये। मालविकाग्निमित्र के अनुसार राजा अग्नि-मित्र (शुंगवंशी) युद्ध और संधि की प्रत्येक बात में अमात्यपरिषद् से परामर्श करता था।

(१२) आर्थिक जीवन

मौर्य-युग के समान इस काल में भी आर्थिक जीवन का आधार 'श्रेणी' थी। शिल्पी-लोग श्रेणियों (Guilds) में संगठित थे, और इसी प्रकार व्यापारी भी। इस युग के अनेक शिलालेखों में इन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है, और उनसे श्रेणियों के आर्थिक जीवन पर बड़ा उत्तम प्रकाश पड़ता है। ऐसे लेखों में नासिक के

गुहामंदिर में उत्कीर्ण शक उषावदात का यह लेख विशेष महत्त्व का है—

"सिद्धि ! बयालीसवें वर्ष में, वैशाख मास में राजा क्षहरात क्षत्रप नहपान के जामाता दीनाकपुत्र उषावदात ने यह गुहामंदिर चातुर्दिश संघ के अर्पण किया, और उसने अक्षयनीवी तीन हजार पण चातुर्दिश संघ को दिये, जो इस गुहा में रहने वालों का कपड़े का खर्च और विशेष महीनों में मासिक वृत्ति के लिये होगा। और ये कार्षापण गोवर्धन में रहने वाली श्रेणियों के पास जमा किये गये। कोलिकों के निकाय में दो हजार, एक फीसदी सूद पर; दूसरे कोलिक निकाय के पास एक हजार, पौन फीसदी सूद पर। और ये कार्षापण लौटाये नहीं जावेंगे, केवल उनका सूद लिया जायगा। इनमें से जो एक फीसदी पर दो हजार कार्षापण रखाये गये हैं, उनसे गुहामंदिर में रहने वाले बीस भिक्षुओं में से प्रत्येक को बारह चीवर दिये जाएं। और जो पौन फीसदी पर एक हजार कार्षापण हैं, उनसे कुशनमूल्य का खर्च चलेगा। कापुर प्रदेश के गाँव चिखलपद्र को नारियल के ८००० पौद भी दिये गये। यह सब निगमसभा में सुनाया गया, और फलकवार (लेखा रखने के दफ्तर) में चरित्र के अनुसार निबद्ध किया गया।"

इस लेख से यह स्पष्ट है, कि कोलिक (जुलाहे) आदि व्यवसायियों के संगठन श्रेणियों के रूप में थे। ये श्रेणियां जहाँ अपने व्यवसाय का संगठित रूप में संचालन करती थीं, वहाँ दूसरे लोगों का रुपया भी धरोहर के रूप में रखकर उसपर सूद देती थीं। उनकी स्थिति समाज में इतनी ऊँची और सम्मानास्पद थी, कि उनके पास ऐसा रुपया भी जमा करा दिया जाता था, जिसे फिर लौटाया न जाए, जिसका केवल सूद ही सदा के लिये किसी धर्मकार्य में लगता रहे। यही कार्य आजकल ट्रस्टी रूप में बैंक करते हैं। सूद की दर एक फीसदी और पौन फीसदी (सम्भवतः, मासिक) होती थी, और नगरसभा (निगम) में इस प्रकार की धरोहर को बाकायदा निबद्ध (रजिस्टर्ड) कराया जाता था, यह भी इस लेख से स्पष्ट हो जाता है।

श्रेणियों का इसी प्रकार का उल्लेख अन्य अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है। श्रेणियों के पास केवल रुपया ही नहीं जमा किया जाता था, अपितु उनको भूमि भी धरोहर के रूप में दी जाती थी, जिसकी आय को वे आदिष्ट धर्मकार्य में प्रयुक्त करती थीं। शिल्पियों की श्रेणियों का वर्णन कौटलीय अर्थशास्त्र, मनुस्मृति व अन्य सभी प्राचीन राजशास्त्र-सम्बन्धी साहित्य में विद्यमान है, पर उनके कार्यों का ऐसा सजीव चित्र इन गुहा-लेखों से ही प्राप्त होता है।

शिल्पियों के समान व्यापारी भी पूगों व निकायों में संगठित होते थे। उनके धर्म, व्यवहार और चरित्र को भी राज्य द्वारा स्वीकार किया जाता था। स्मृतिग्रंथों में लेन-देन के नियमों का विस्तार से वर्णन है। किस प्रकार ऋणलेख तैयार किया जाय, कैसे उसके साक्षी हों, कैसे प्रतिभू (जामिन) बनें, कैसे कोई वस्तु आधि (रहन) रखी जाए, और कैसे इन सब के करण (कागज) तैयार किये जाएं, इन सब के नियमों का विवरण यह सूचित करता है, कि उस युग में वाणिज्य-व्यापार भली-भांति उन्नति कर चुका था। कौटलीय अर्थशास्त्र में जैसे 'सभूय-समुत्थान' का उल्लेख है, वैसे ही स्मृतियों में भी है। अधिक लाभ के लिये व्यापारी लोग मिलकर वस्तुओं को बाजार में रोक लिया करते थे, और इस उपाय से अधिक नफा उठाने में सफल होते थे।

एक स्मृति के अनुसार केवल व्यापारी ही नहीं, अपितु किसान, मजदूर और ऋत्विक् भी इस उपाय का आश्रय लिया करते थे।

विदेशी व्यापार की भी इस युग में खूब उन्नति हुई। मौर्यवंश के निर्बल होने पर जो यवन-राज्य उत्तर-पश्चिमी भारत में कायम हो गये थे, उनके कारण भारत का पश्चिमी संसार से सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हो गया था। भारत के पश्चिमी समुद्रतट के व्यापारी लोग अरब और मिस्र तक जाकर व्यापार किया करते थे। उन दिनों मिस्र की राजधानी अलक्जेण्ड्रिया विद्या, व्यापार और संस्कृति का बड़ी भारी केन्द्र थी। भारतीय व्यापारी वहाँ तक पहुँचते थे। लाल सागर और नील नदी के रास्ते पर एक भारतीय व्यापारी का ग्रीक भाषा में लिखा हुआ एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है। इस व्यापारी का नाम सोफोन था, जो शायद शोभन का ग्रीक रूपान्तर है।

दूसरी सदी ई० पू० में एक घटना ऐसी हुई, जिसके कारण मिस्र और भारत का व्यापारिक संबंध और भी अधिक बढ़ गया। भारत से एक व्यापारी अपने साथियों के साथ समुद्र-यात्रा को गया था। वह समुद्र का मार्ग भूल गया, और महीनों तक जहाज पर ही इधर-उधर भटकता रहा। उसके सब साथी एक-एक करके भूख से मर गये। वह भी लहरों के साथ बहता हुआ मिस्र के निकटवर्ती समुद्र में जा पहुँचा, जहाँ मिस्र के राजकर्मचारियों ने उसे आश्रय दिया। इस भारतीय व्यापारी की सहायता और मार्ग-प्रदर्शन से मिस्र के लोगों ने जहाज द्वारा सीधे भारत आना-जाना प्रारम्भ किया, और इन दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध और भी दृढ़ हो गया। इस युग के भारतीय व्यापारी मिस्र से भी बहुत आगे यूरोप में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। प्राचीन रोमन अनुश्रुति के अनुसार गॉल (वर्तमान फ्रांस) के प्रदेश में, एल्ब नदी के मुहाने पर कुछ भारतीय जहाज भटक जाने के कारण पहुँच गये थे। अटलांटिक महासमुद्र तक भारतीय व्यापारियों का पहुँच जाना बड़े महत्त्व की बात है। यह घटना पहली सदी ई० पू० की है। रोमन साम्राज्य के साथ इस व्यापारिक सम्बन्ध का ही यह परिणाम है, कि हजारा, रावलपिंडी, कन्नौज, इलाहाबाद, मिर्जापुर, चुनार आदि के बाजारों में वर्तमान समय में प्राचीन रोमन सिक्के उपलब्ध हुए हैं। अनेक स्तूपों की खुदाई में भारतीय राजाओं के सिक्कों के साथ-साथ रोमन सिक्के भी मिलते हैं, जो इस बात का उत्कृष्ट प्रमाण है, कि भारत और रोम का व्यापारिक सम्बन्ध इस युग में बड़ा घनिष्ठ था। भारत से समुद्र के रास्ते हाथीदाँत का सामान, मोती, वैदूर्य, कालीमिर्च, लौंग, अन्य मसाले, सुगन्धियाँ, औषधियाँ, रेशमी और सूती कपड़े बड़ी मात्रा में रोम भेजे जाते थे। रोम में मिर्च-मसालों के लिये एक गोदाम बना हुआ था, जिसमें भारत से यह माल लाकर जमा किया जाता था। रोम में काली मिर्च बहुत मंहगी बिकती थी। उसका मूल्य दो दीनारों का एक सेर था। एक रोमन लेखक ने लिखा है, कि भारतीय माल रोम में आकर सौगुनी कीमत पर बिकता है, और उसके द्वारा भारत रोम से हर साल छः लाख के लगभग सुवर्ण-मुद्राएँ खींच ले जाता है। एक अन्य रोमन लेखक ने लिखा है, कि रोमन स्त्रियाँ हवा की जाली की तरह बारीक बुनी हुई भारतीय मलमल को पहनकर अपना सौन्दर्य प्रदर्शित करती हैं। रोम और भारत के इस सामुद्रिक व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र केरल प्रदेश में था। इसी

लिये वहाँ कई स्थानों पर खुदाई में रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

मिस्र और रोम की अपेक्षा बरमा, जावा, सुमात्रा, चम्पा और चीन आदि के साथ भारत का विदेशी व्यापार और भी अधिक था। इन सुदूरवर्ती देशों को बड़े-बड़े जहाज माल भरकर जाया करते थे। उस युग के संसार में तीन साम्राज्य सबसे अधिक शक्तिशाली थे—रोमन, भारतीय और चीनी। भारत इन तीनों के बीच में पड़ता था। यही कारण है, कि इसका रोम और चीन दोनों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। चीन और रोम का पारस्परिक व्यापार भी उस समय भारत के व्यापारियों द्वारा ही किया जाता था।

(१३) वास्तु और मूर्ति-कला

इस मौर्योत्तर-युग की बहुत-सी मूर्तियाँ, गुहामंदिर और स्तूप इस समय उपलब्ध होते हैं, जिनसे इस समय की वास्तुकला और मूर्तिकला पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। बरहुत का वह प्रसिद्ध स्तूप, जिसके तोरणों और जंगलों के अवशेष कलकत्ता म्यूजियम में सुरक्षित है, शुंग-काल में ही बना था। उसके एक तोरण पर यह उत्कीर्ण है, कि यह स्तूप शुंगों के राज्य में बना था। बोधगया के मंदिर के चारों ओर भी एक जंगला इस युग में बना। उसपर अहिच्छत्र के राजा इन्द्रमित्र और मथुरा के राजा ब्रह्ममित्र की रानियों के नाम उत्कीर्ण हैं। ये दोनों राजा शुंगों के सामन्त थे। इससे यह सूचित होता है, कि बोधगया के प्रसिद्ध मंदिर के अनेक प्राचीन अंश भी शुंग-काल की कृति थे। सांची के प्राचीन स्तूप के अनेक अंश भी इसी काल में बने। वहाँ के बड़े स्तूप के दक्षिणी तोरण पर राजा सातकर्णि का नाम उत्कीर्ण है। बरहुत, सांची, बोधगया आदि के ये प्राचीन विशाल स्तूप सुदीर्घ समय तक धीरे धीरे बनते रहे। उनके निर्माण का प्रारम्भ मौर्य-काल में ही हो गया था, पर शुंग और सातवाहन-राजाओं के समय में उनमें निरन्तर वृद्धि होती चली गयी, और जिन विविध दानियों के दान से जो-जो अंश समय-समय पर बनते गये, उनका नाम बहुधा उनपर उत्कीर्ण भी कर दिया गया।

इस युग के बहुत-से गुहामंदिर उड़ीसा और महाराष्ट्र में विद्यमान हैं। पहाड़ को काटकर उसके अन्दर से विशाल मंदिर, विहार या चैत्य खोदे गये हैं। ऊपर से देखने पर ये पहाड़ ही प्रतीत होते हैं। पर द्वार से अन्दर जाने पर विशाल भवन दिखायी पड़ते हैं, जिन्हें पहाड़ को काट-काट कर बाकायदा सुन्दर भवनों के रूप में बनाया गया है। उड़ीसा के ये गुहामंदिर जैनों के हैं। इनमें हाथीगुम्फा सबसे प्रसिद्ध है, वहीं कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का सुप्रसिद्ध शिलालेख पाया गया है। हाथीगुम्फा के अतिरिक्त, मंचापुरी-गुम्फा, रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, जयविजय-गुम्फा, अलकापुरी-गुम्फा आदि और भी कितने ही गुहामंदिर उड़ीसा मे पाये गये हैं। मंचापुरी-गुम्फा में खारवेल की रानी का तथा राजा वक्रदेवश्री का लेख पाया गया है। यह सम्भवतः खारवेल का कोई वंशज था। रामगढ़ में सीताबेंगा नामक स्थान पर एक गुहामंदिर उपलब्ध हुआ है, जिसका किसी धर्म-विशेष से सम्बन्ध नहीं था। वह एक प्रेक्षागार था, और यही कारण है, कि उसकी दीवार पर किसी रसिक कवि का एक छंद खुदा हुआ है। सीताबेंगा के पड़ोस में ही जोगीमारा का गुहामंदिर है, जो प्राचीन काल में वरुणदेवता का मंदिर था।

महाराष्ट्र के गुहामंदिरों में अजन्ता की गुफाएँ सबसे प्रसिद्ध और प्राचीन है। इनमें भी गुहा नं० १० सबसे पुरानी समझी जाती है। अजन्ता के ये गुहामंदिर भारतीय वास्तुकला और चित्रकला के अनुपम उदाहरण हैं। पहाड़ों को काटकर बनाये गये विशाल गुहामंदिरों की दीवारों पर इतने सुन्दर रंगीन चित्र बनाये गये हैं, कि हजारों साल बीत जाने पर भी वे अपने आकर्षण में जरा भी कम नहीं हुए। अजन्ता की इन प्रसिद्ध गुफाओं का निर्माण इसी काल में प्रारम्भ हुआ था। अजन्ता के अतिरिक्त, महाराष्ट्र में बेडसा, नासिक, कार्ले, जुन्नर, कोंडानें आदि अनेक स्थानों पर इस काल के गुहामंदिर विद्यमान हैं। नासिक के एक गुहामंदिर में एक लेख है, जिसके अनुसार उसे सातवाहन-कुल में राजा कण्ह के समय उसके महामात्र ने बनवाया था। राजा कण्ह सातवाहन-वंश के संस्थापक सिमुक का भाई था, और उसके बाद प्रतिष्ठान का राजा बना था। इसका समय तीसरी सदी ई० पू० में था, और यह स्पष्ट है कि नासिक का यह गुहामंदिर तीसरी सदी ई० पू० में ही बना था। बेडसा और कार्ले के प्रसिद्ध गुहामंदिर ईस्वी सन् के शुरू होने से पूर्व ही बन चुके थे। सातवाहन राजाओं को गुहानिर्माण का बड़ा शौक था। उन्हीं के शासनकाल में महाराष्ट्र की ये विशाल गुहाएँ निर्मित हुईं। मौर्य-युग में भी गुहामंदिर बनने प्रारम्भ हो गये थे, पर वे अधिक विशाल नहीं होते थे। बिहार की बराबर और नागार्जुनी पहाड़ियों में मौर्य सम्राट् अशोक और राजा दशरथ के समय के जो गुहामंदिर हैं, वे बहुत छोटे-छोटे हैं। पर सातवाहन-राजाओं की प्रेरणा और संरक्षण से मौर्योत्तर-युग में जो गुहामंदिर बने, वे बहुत ही विशाल हैं। वे तो पूरे बौद्ध-विहार हैं, जिन्हें भूमि के ऊपर लकड़ी, पत्थर वा ईंट से बनाने के बजाय पहाड़ काट कर गुहा को अन्दर से खोद कर बनाया गया है।

इस काल की मूर्तियाँ भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होती हैं। बरहुत और सांची के स्तूपों के जंगलों और तोरणों में पत्थर काट-काट कर बहुत-सी मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। गुहामंदिरों की दीवारों पर भी खोदकर बनायी गयी मूर्तियाँ पायी जाती हैं। महात्मा बुद्ध के जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं को मूर्ति बनाकर अनेक स्थानों पर प्रदर्शित किया गया है।

मूर्तिकला की दृष्टि से इस युग की प्रधान घटना गांधारी शैली का प्रारम्भ है। यवनों ने गांधार में जो अपने राज्य कायम किये थे, उनके कारण यूनानी लोगों और भारतीयों का परस्पर सम्बन्ध बहुत घनिष्ट हो गया था। यह स्वाभाविक था, कि यूनानी (ग्रीक) कला का भारतीय कला पर असर पड़े। गांधार के ये यवन, शक और युइशि राजा बाद में बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों के अनुयायी हो गये थे। भारतीय भाषा और संस्कृति को उन्होंने बहुत अंशों में अपना लिया था। इसलिए यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाओं के सम्मिश्रण से जिस अपूर्व सुन्दर मूर्तिकला का प्रारम्भ हुआ, उसे गांधारी शैली कहते हैं। इस शैली की मूर्तियाँ बहुत सुन्दर व परिमार्जित हैं। धीरे-धीरे यह शैली गांधार से मथुरा आदि होती हुई सुदूर आन्ध्र में अमरावती तक पहुँच गयी। भारत में दूर-दूर तक इस शैली की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं।

गांधार-शैली का प्रारम्भ पेशावर से हुआ था। इस प्रदेश पर यवनों का प्रभाव बहुत अधिक था। मौर्यों के पतन के समय अफगानिस्तान और गांधार के प्रदेश यवनों

के शासन में आ गये थे, और यवनों की शक्ति के क्षीण होने पर भी वहाँ शक और कुशाण सदृश विदेशियों का राज्य रहा था। ये विदेशी म्लेच्छ उन पश्चिमी देशों से भारत में प्रविष्ट हुए थे, जहाँ यवनों (ग्रीकों) की भाषा, सभ्यता और कला का बहुत प्राधान्य था। ग्रीक लोग मूर्ति-निर्माण कला में बहुत प्रवीण थे। इसकी उनकी अपनी पृथक् शैली थी। गान्धार देश में होनेवाले भूरे रंग के पत्थरों का गांधार-शैली की मूर्तियों मे प्रयोग होता था। कनिष्क के समय में बौद्ध-धर्म का मुख्य तत्त्व निवृत्ति थी। पर महायान के अनुयायी भक्ति और उपासना पर बल देते थे। इसके लिये बुद्ध और बोधिसत्वों की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। पेशावर के कारीगरों ने हजारों की संख्या में मूर्तियाँ बनाईं, और धीरे-धीरे ये सारे भारत में फैल गयीं। यवन-प्रभाव के होते हुए भी इन मूर्तियों पर भारतीय आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। बुद्ध के मुखमण्डल पर एक अनुपम तेज प्रदर्शित किया जाता है, जिसकी अनुभूति निर्वाण की भावना से ही हो सकती है। गांधार-शैली की बहुत-सी मूर्तियाँ काले सलेटी पत्थर की भी हैं।

पेशावर से यह कला मथुरा में गयी। इस युग में मथुरा मूर्तिकला का सबसे बड़ा केन्द्र था। कनिष्क का साम्राज्य वंक्षु नदी से पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। मथुरा इस विशाल साम्राज्य के मध्य में था, कुशाणों के क्षत्रप वहा शासन करते थे। वहाँ की मूर्तियाँ लाल पत्थर से बनायी गयी है, जो आगरा के समीप प्रभूत परिमाण में उपलब्ध होता था। मथुरा की कला पर गांधार-शैली का प्रभाव अवश्य है, पर उसे पूर्णतया गांधारशैली की नकल नहीं कहा जा सकता। इसमें सन्देह नहीं, कि मथुरा के आर्य शिल्पियों ने पेशावर की रचनाओं को दृष्टि मे रखकर एक मौलिक शैली का विकास किया था, जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों दृष्टियों से शुद्ध आर्य प्रतिभा की प्रतीक थी। भारतीय कल्पना में एक परमयोगी के मुख पर जो दैवी भावना होनी चाहिये, उसकी वृत्ति किस प्रकार अन्तर्मुखी होनी चाहिये और उपासक के हृदय में अपने उपास्य देव का कैसा लोकोत्तर रूप होना चाहिये—इस सबको पत्थर की मूर्ति में उतारकर मथुरा के ये शिल्पी चिर यश के भागी हुए है।

इस काल मे मथुरा में जो मूर्तियाँ बनीं, वे अनेक प्रकार की थीं। प्राचीन भारत मे यह परिपाटी थी, कि प्रत्येक राजवश अपना एक 'देवकुल' स्थापित करता था। इसमे मृत राजाओं की मूर्तियाँ रखी रहती थीं। शिशुनाग-वंश के राजाओं की मूर्तियाँ ऐसे ही देवकुल के लिये मथुरा में बनी थीं, क्योंकि यह नगर बहुत पुराने समय से मूर्तिकला का प्रसिद्ध केन्द्र चला आ रहा था। इस युग में कुशाण-राजाओं की मूर्तियाँ भी मथुरा में बनीं। ऐसी अनेक मूर्तियाँ अब भी उपलब्ध होती हैं। खेद की बात है, कि वे सभी प्रायः खण्डित दशा में हैं। इनमें सम्राट् कनिष्क की मूर्ति विशेष महत्त्व की है। उसकी पोशाक में लम्बा कोट और पायजामा है, और इसका आकार बड़ा विशाल है।

मथुरा में बनी इस युग की एक मूर्त्ति इस समय काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मूर्त्ति एक स्त्री की है, जो प्रसाधिका का काम करती थी। इसका मुख गम्भीर, प्रसन्न व सुन्दर है, नेत्रों में विमल चंचलता है, सब अंग-प्रत्यंग अत्यन्त सुडौल हैं, और खड़े होने का ढंग बहुत सरल और अकृत्रिम हैं। उसके दाएँ हाथ में शृंगारदान है, जिसमें सुगंधित जल रखा जाता था। दाएं हाथ में एक पिटारी है, जिसका ढकना कुछ खुला हुआ

है, और एक पुष्पमाला थोड़ी-सी बाहर निकली हुई है। यह स्त्री शृंगार की सामग्री लेकर किसी रानी या अन्य सम्पन्न महिला का शृंगार करने के लिये प्रस्थान करने को उद्यत है। मथुरा में इस प्रकार की मूर्तियाँ उपासना के लिये नहीं, अपितु सजावट के लिये बनती थीं।

बौद्ध-धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली मूर्तियाँ तो मथुरा में हजारों की संख्या में बनी थीं। मथुरा की यह कला कुशाणों के बाद भी निरन्तर उन्नति करती रही। गुप्त-वंश के समय में इसका पूर्ण विकास हुआ, और उसने वे उज्ज्वल रत्न उत्पन्न किये जिनके लिये कोई भी जाति या देश सदा अभिमान कर सकता है। गुप्तों के समय में मथुरा की मूर्त्तिकला से गांधार की शैली का प्रभाव बिलकुल हट गया था।

(१४) बृहत्तर भारत का विकास

मौर्य-युग में भारत से बाहर भारतीय उपनिवेशों का विस्तार प्रारम्भ हुआ था। इन उपनिवेशों के दो क्षेत्र थे, पूर्व में सुवर्णभूमि और उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश और पामीर की पर्वतमालाओं के पार तुर्किस्तान में। अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण भारतीय भिक्षु जिस प्रकार इन सुदूर देशों में गये, और उन्होंने वहाँ जाकर न केवल वहाँ के निवासियों को आर्य-मार्ग का अनुयायी बनाया, पर वहाँ अनेक भारतीय बस्तियाँ भी बसाईं, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। मौर्योत्तर-युग में भारतीय उपनिवेशों के विस्तार की यह प्रक्रिया जारी रही। विशेषतया, भारत के पूर्व में बरमा से सुदूर चीन तक हिन्द-महासागर में जो बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप व प्रायद्वीप हैं, वे सब इस युग में भारतीय बस्तियों से ढक गये। इस युग के इतिहास की यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। यह प्रक्रिया गुप्त-साम्राज्य के समय में और उसके कुछ बाद तक भी जारी रही। हम भारतीय उपनिवेशों के विस्तार का विशेष विवरण गुप्तकाल के इतिहास में देंगे, पर यहाँ यह निर्देश कर देना उचित है, कि इन उपनिवेशों का श्रीगणेश इसी युग में हुआ था। भारत के जिन जनपदों से जाकर लोग इन द्वीपों मे बसते थे, वे अपने नये नगरों के नाम मातृभूमि के अपने पुराने नगरों व देशों के नाम पर ही रखते थे। वंग देश से गये लोगों ने सुमात्रा के दक्षिण पूर्वी सिरे पर नये वंग द्वीप की स्थापना की, वही अब बंका कहलाता है। इसी तरह आधुनिक क्रा की स्थलग्रीवा में नये तक्षशिला का निर्माण किया गया। यवद्वीप (जावा) में बसकर भारतीयों ने वहाँ की सबसे बड़ी नदी को सरयू नाम दिया। और अधिक पूर्व में जाकर नई चम्पा की स्थापना की गयी। अंग-जनपद की राजधानी का नाम चम्पा था। उसी के नाम से भारतीयों के इस नये उपनिवेश का नाम चम्पा रखा गया। धीरे-धीरे चम्पा की शक्ति बहुत बढ़ी। बहुत-से समीपवर्ती प्रदेशों को जीतकर चम्पा ने एक साम्राज्य का विकास किया। उसके विविध प्रान्तों के नाम कोठार, पाण्डुरंग, अमरावती, विजय आदि थे। चम्पा-साम्राज्य की राजधानी इन्द्रपुर थी। चम्पा के पश्चिम में एक और उपनिवेश था, जिसमें आजकल के कम्बोडिया (कम्बोज) और स्याम प्रदेश सम्मिलित थे। यह एक शक्तिशाली भारतीय उपनिवेश था, चीनी लोग इसे फूनान कहते थे। इस राज्य की स्थापना कौण्डिन्य नाम के एक ब्राह्मण ने की थी, जिसने उस देश में जाकर एक नागी (उस देश की मूल निवासिनी) स्त्री से विवाह किया था। इस स्त्री का नाम सोमा था। उसी के नाम

से फूनान का राजवंश सोमवंश कहलाता था। इन सब प्रदेशों में आजकल आर्य-मंदिरों, मठों, विहारों और स्तूपों के अवशेष बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि के शिलालेख भी इनमें बड़ी मात्रा में मिले हैं।

वर्तमान आसाम की मणिपुर रियासत के पूर्व से शुरू करके तानकिन खाड़ी तक के विशाल भूखण्ड में, जहाँ अब बरमा, स्याम, मलाया, इण्डोनीसिया और विएत-नाम के राज्य हैं, धीरे-धीरे भारतीय लोग अपने उपनिवेश बसा रहे थे। बरमा को पुराने जमाने में सुवर्णभूमि कहा जाता था। सबसे पहले वहाँ भारतीय बस्तियाँ बसायी गयीं। मगध, अंग और वंग के लोग ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से सुवर्णभूमि के लिये जाया करते थे। अराकान में यह अनुश्रुति है, कि वहाँ का पहला राजा बनारस से आया था। सम्भवतः, उसने अपने नाम से उसके एक प्रदेश का नाम रामवती रखा था। वही अब राम्न्यो कहलाता है। अराकान में ही पुराने समय में एक नगरी थी, जिसका नाम वैशाली था। इसी तरह दक्षिणी बरमा में भी विविध भारतीय बस्तियाँ बसायी गयी थीं। आजकल का लाओ प्रदेश पुराने जमाने में मालवा कहाता था, और उसके पूर्वी भाग को दशार्ण कहते थे।

यह ध्यान में रखना चाहिये, कि पूर्वी एशिया के इन प्रदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना करने वाले लोग शैव थे। आगे चलकर इन प्रदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। उस युग के भारत में अपूर्व जीवनी-शक्ति थी। भारतीय लोग बड़ी संख्या में विदेश जाते थे, व्यापार के लिये भी, और अपनी बस्तियाँ बसाने के लिये भी।

सोलहवां अध्याय

पाश्चात्य संसार से भारत का सम्बन्ध

(१) मौर्य-युग से पूर्व का काल

सिन्धु सभ्यता और पाश्चात्य संसार—भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध बहुत पुराना है। सिन्धु सभ्यता के युग में (वैदिक आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व) भी इस सम्बन्ध की सत्ता थी। इस अत्यन्त प्राचीन काल में पाश्चात्य संसार में सभ्यता के तीन महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे, सुमेरिया, मैसोपोटामिया और ईजिप्ट। सुमेरिया और मैसोपोटामिया की प्राचीनतम सभ्यताओं के जो अवशेष वर्त्तमान समय में उपलब्ध होते हैं, उनमें और सिन्धु-सभ्यता के अवशेषों में अनेक समताएं पायी जाती हैं। उनके बरतनों, ईंटों और चित्रलिपि में बहुत समता है। मैसोपोटामिया में दो मोहरें ऐसी मिली हैं, जो मोहनजोदड़ो की मोहरों के सदृश हैं। उनपर अंकित लेख व चिह्न भी सिन्धु-सभ्यता की मोहरों पर अंकित चिह्नों के समान हैं। इसी प्रकार मोहनजोदड़ो में भी एक ऐसा उत्कीर्ण लेख मिला है, जो प्राचीन मैसोपोटामिया की कीलांकित लिपि में है। इन बातों को दृष्टि में रखने पर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि प्राचीन भारतीय सिन्धु सभ्यता का पाश्चात्य जगत् की इन प्राचीन सभ्यताओं के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। सम्भवत:, मोहनजोदड़ो सिन्ध नदी के तट पर स्थित एक ऐसा बन्दरगाह था, जिससे जलमार्ग (पहले सिन्ध नदी द्वारा और फिर समुद्र तट के साथ-साथ) द्वारा पाश्चात्य संसार के उर और किश बन्दरगाहों के साथ व्यापार हुआ करता था, और भारतीय व्यापार मैसोपोटामिया, सुमेरिया और ईजिप्ट में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे।

वैदिक युग—पश्चिमी एशिया में बोगजकोई नामक स्थान पर एक उत्कीर्ण लेख मिला है, जो चौदहवीं सदी ईस्वी पूर्व का है। इस लेख का जिक्र पहले किया जा चुका है। इसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्यौ का उल्लेख है, जो वैदिक युग के देवता थे। इन देवताओं का उल्लेख इस बात का ठोस प्रमाण है, कि चौदहवीं सदी ईस्वी पूर्व में भारत के आर्यों और पश्चिमी एशिया के निवासियों में घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में जलमार्ग द्वारा यात्रा का उल्लेख है, जिससे सूचित होता है कि सिन्धु सभ्यता के लोगों के समान वैदिक आर्य भी नदियों व समुद्र द्वारा दूर-दूर तक यात्रा किया करते थे।

यहूदी लोगों के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार सोलोमन (८०० ईस्वी पूर्व) के शासनकाल में टायर के राजा हीरन ने एक जहाजी बेड़ा पूर्वी देशों में व्यापार के लिये भेजा था। यह बेड़ा ओफिर नामक बन्दरगाह में गया, और वहाँ से सोना, चाँदी, हाथीदाँत, चन्दन, बन्दर, मोर व अनेक प्रकार के मणि-माणिक्यों को लेकर वापस

लौटा। अनेक ऐतिहासिकों के मत में ओफिर प्राचीन भृगुकच्छ को सूचित करता है, जो भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। मैसोपोटामिया में कतिपय ऐसे मन्दिरों और राजप्रासादों के अवशेष अब भी पाए जाते हैं, जो छठी सदी ईस्वी पूर्व के हैं, और जिनमें भारत से ले जायी गयी सागौन की लकड़ी का प्रयोग किया गया है। इसी प्रदेश में राजा शालमानेजर तृतीय (८६० ई० पू०) द्वारा स्थापित एक स्तम्भ पर हाथियों की आकृतियाँ अंकित हैं। हाथी मैसोपोटामिया के प्रदेश में नहीं होते थे, वर्त्तमान समय के समान प्राचीन समय में भी वे भारत में ही होते थे, और उनको अंकित करना इस बात को सूचित करता है कि नवीं सदी ईस्वी पूर्व में मैसोपोटामिया का भारत के साथ सम्बन्ध स्थापित था। मैसोपोटामिया के मन्दिरों और महलों में भारतीय सागौन का प्रयोग भारत और पाश्चात्य देशों में व्यापार की सत्ता का प्रमाण है। भारत और पश्चिमी देशों के बीच का सामुद्रिक मार्ग उस स्थान पर समाप्त हो जाता था, जहाँ अब स्वेज की नहर है। वहाँ से व्यापार के माल को स्थल मार्ग से ईजिप्ट के बन्दरगाहों और टायर आदि ले जाया जाता था।

ईरान के हखामनी सम्राट् और भारत—छठी सदी ई० पू० में ईरान में एक शक्तिशाली राजवंश का शासन था, जिसे राजा हखामनी ने स्थापित किया था। इस वंश में कुरु (काइरस) नाम का राजा बहुत शक्तिशाली हुआ। उसका काल ५५९ से ५२९ ई० पू० तक था। राजा कुरु ने अपने राज्य का विस्तार करने के लिए पड़ौस के राज्यों पर आक्रमण करने शुरू किए, और धीरे-धीरे उसने वाख्त्री (बैक्ट्रिया), शकस्थान (सीसतान) और मकरान के प्रदेशों को जीत लिया। इन विजयों से उसके साम्राज्य की पूर्वी सीमा भारत के साथ आ लगी। कुरु के वंशजों ने ईरानी साम्राज्य की शक्ति का और अधिक विस्तार किया। उन्होंने ईरान के पश्चिम के मैसोपोटामिया आदि प्रदेशों को जीतकर ईजिप्ट को भी अपने अधीन कर लिया।

हखामनी वंश के राजा दारयवहु (डेरियस) का भारत के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसका काल ५२१ से ४८५ ई० पू० तक है। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने कम्बोज, पश्चिमी गान्धार और सिन्ध की भी विजय की। इनको जीत लेने के कारण भारत के ये पश्चिमी प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गए थे। दारयवहु ने अपने विशाल साम्राज्य को २३ प्रान्तों में विभक्त किया था, जिनके शासकों को 'क्षत्रप' कहा जाता था। कम्बोज, गान्धार और सिन्ध को मिलाकर ईरानी साम्राज्य का एक प्रान्त बनाया गया था। इससे ईरानी सम्राट् को बहुत अधिक आमदनी थी। अन्दाज किया गया है, कि यह आमदनी डेढ़ करोड़ रुपए वार्षिक के लगभग थी।

दारयवहु का उत्तराधिकारी क्ष्यर्श (जर्क्सीज) था। उसने पश्चिम में अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए ग्रीस पर आक्रमण किया था। इस आक्रमण में उसकी सेना में भारतीय सैनिक भी अच्छी बड़ी संख्या में सम्मिलित थे। भारत के ये सैनिक सूती कपड़े पहनते थे, जो ग्रीक लोगों के लिए आश्चर्य की बात थे। कपास को देखकर ग्रीक लोग बहुत चकित हुए, और उसे ऊन का पेड़ कहने लगे। इस समय तक ग्रीक लोगों को कपास, सूत व सूती वस्त्रों का परिज्ञान नहीं था।

दारयवहु के तीन लेख इस समय मिलते हैं। ये लेख बहिस्तां, पर्सिपोलिस और नक्शाए-रुस्तम में पाये गए हैं। इनमें से पिछले दो शिलालेखों में भारत का 'हिन्दव' और 'हिन्दुश' नामों से उल्लेख किया गया है। खषयर्ष (६८५-४६५ ई० पू०) के शिला-लेखों में भ इन्हीं नामों से भारत का उल्लेख किया गया है।

यद्यपि ईरान के सम्राट् भारत के पश्चिमी प्रान्त को देर तक अपनी अधीनता में नहीं रख सके, पर पश्चिमी देशों से भारत के सम्बन्ध को सुदृढ़ करने में ईरानी साम्राज्य से बहुत सहायता मिली। ईरानी साम्राज्य पश्चिम में ईजिप्ट और ग्रीस से लगाकर पूर्व में सिन्ध नदी तक विस्तृत था। इस कारण इस काल में भारत का पश्चिमी देशों के साथ बहुत घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हुआ, और ग्रीस, आदि पाश्चात्य देशों को भारत की विचारधाराओं व कला आदि से परिचित होने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ।

५१६ ई० पू० में राजा दारयवहु ने स्काईलैक्स नाम के एक ग्रीक को भारत का अवगाहन करने के लिए भेजा था। स्काइलैक्स ने सिन्ध नदी के साथ-साथ यात्रा की और सिन्ध के मुहाने पर पहुँच कर वहाँ से समुद्र द्वारा अरब सागर और लाल सागर होते हुए स्वेज तक के समुद्रतट का अवगाहन किया। इस यात्रा में उसे ढाई साल के लगभग समय लगा। उसके द्वारा न केवल ईरानी लोगों को अपितु ग्रीस के निवासियों को भी भारत का परिचय हुआ। ग्रीस के प्राचीन ऐतिहासिक हीरोदोतस ने भारत के सम्बन्ध में जो अनेक बातें लिखी हैं, उनका परिज्ञान उसने सम्भवत: स्काइलैक्स द्वारा ही प्राप्त किया था। हीरोदोतस का काल छठी ईस्वी पूर्व में है। वह कुछ समय तक ईरान के राजदरबार में ग्रीस के राजदूत के रूप में भी रहा था। भारत के सम्बन्ध में लिखते हुए हीरोदोतस ने ऐसे भारतीय सम्प्रदाय का भी उल्लेख किया है, जिसके अनुयायी मांस भक्षण से परहेज करते थे, और केवल अन्नद्वारा अपना निर्वाह करते थे। यह सम्प्रदाय सम्भवत: जैन लोगों का था, जो अहिंसा को बहुत महत्त्व देते थे। जैन धर्म इस समय तक भारत में भली-भाँति प्रचारित हो चुका था।

बौद्ध काल—ईरान में हखामनी साम्राज्य के विकास के कारण भारत का पाश्चात्य देशों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित हुआ, बौद्धकाल में उसमें बहुत वृद्धि हुई। भारत के व्यापारियों के साथ-साथ इस देश के विचारक भी पश्चिमी देशों में अच्छी बड़ी संख्या में जाने लगे, और पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विचारों से परिचित होने का अवसर मिला। जातक कथाओं में उन व्यापारियों का उल्लेख आता है, जो पश्चिम में बावेरु (बैंबिलोन) के साथ व्यापार करते थे, और जिनके पण्य को देखकर इन पाश्चात्य देशों के निवासी बहुत चकित हुआ करते थे। इन व्यापारियों के साथ भारत के दार्शनिक और विचारक भी पश्चिमी देशों में जाने लगे, और उनके सम्पर्क के कारण ग्रीस आदि देशों के अनेक तत्त्वचिन्तक भी ज्ञान की पिपासा को शान्त करने के लिये भारत की यात्रा के लिये तत्पर हुए।

भारत के सम्पर्क के कारण ही ग्रीस के दार्शनिक विचारों में परिवर्त्तन आना प्रारम्भ हुआ। एशिया माइनर के समुद्रतट के साथ-साथ जो अनेक ग्रीक बस्तियाँ बसी हुई थीं, वे ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थीं। इसी लिये वहाँ रहने वाले ग्रीक विचारकों का भारत के दार्शनिकों के साथ सुगमता से सम्पर्क हुआ, और उन्होंने 'एक ईश्वर' की सत्ता

का प्रतिपादन किया। एशिया माइनर की ग्रीक बस्तियों में क्सेनोफोनस, पर्मेनिडेस, जेनो आदि अनेक ऐसे विचारक हुए, जिनके विचार भारतीय उपनिषदों की विचारधारा से बहुत मिलते-जुलते हैं। ग्रीक लोग देवी-देवताओं में विश्वास रखते थे। पर इन विचारकों ने एक ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया। साथ ही, इन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि ईश्वर के सम्मुख भौतिक वस्तुओं की सत्ता सर्वथा तुच्छ हैं।

५८० ई० पू० में ग्रीस में एक महान् दार्शनिक का जन्म हुआ, जिसका नाम पाइथोगोरस था। उसके विषय में कहा जाता है, कि उसने ज्ञान की खोज में दूर-दूर तक यात्रा की, और वह भारत में भी आया। पाइथोगोरस ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उनमें पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी है। उसका विश्वास था, कि मृत्यु के साथ मनुष्य का अन्त नहीं हो जाता, अपितु आत्मा पुनः जन्म ग्रहण करती है। यह सिद्धान्त उसने भारतीयों से ही सीखा था। पाइथोगोरस अहिंसा का भी पक्षपाती था, और मांस-भक्षण का विरोधी था। उसके अन्य अनेक सिद्धान्त भी भारतीय सिद्धान्तों से मिलते जुलते हैं। उपनिषदों और बुद्ध की शिक्षाओं का प्रभाव उसके विचारों पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन ग्रीक लेखक के अनुसार कतिपय भारतीय दार्शनिक ग्रीस में एथेन्स तक पहुँच गये थे, और वहाँ जाकर उन्होंने ग्रीस के प्रसिद्ध विद्वान् सुकरात (मृत्युकाल ३९९ ई० पू०) से भी भेंट की थी। उन्होंने सुकरात से पूछा कि उनके दर्शन-शास्त्र का क्या प्रयोजन है? सुकरात ने उत्तर दिया—'मनुष्य के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करना'। इसपर भारत के दार्शनिक हंस पड़े, और उन्होंने कहा—'ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किये विना मनुष्य को जान सकना सम्भव नहीं है।"

सुकरात का प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो था। उसके विचार भारत के विचारों से बहुत मिलते-जुलते हैं। उसने कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का जिक्र किया है, और साथ ही मानव समाज को तीन वर्गों या वर्णों में विभक्त किया है। यह वर्णविभाग भारत की वर्णव्यवस्था के सदृश हैं। जिस प्रकार मनु आदि भारतीय विचारक वर्णों का मूल ईश्वरीय मानते हैं, वैसे ही प्लेटो भी मानता है। सम्भव है, कि प्लेटो को इन सिद्धान्तों का परिचय उन भारतीय दार्शनिकों से प्राप्त हुआ हो, जिन्होंने एथेन्स में सुकरात से भेंट की थी। इसमें सन्देह नहीं, कि ईरान के हखामनी साम्राज्य के कारण भारत का पश्चिमी देशों के साथ सम्पर्क बहुत अधिक वढ़ गया था।

हीरोदोतस के समान क्टेसियस नाम के एक अन्य ग्रीक लेखक ने भी भारत के सम्बन्ध में लिखा है। वह वीस वर्ष (४१८-३९८ ई० पू०) तक ईरान के राजदरबार में रहा था, और वहां रहते हुए उसे भारतीयों के सम्पर्क में आने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था।

हखामनी साम्राज्य के कारण भारत और पाश्चात्य देशों में जिस घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना हुई, उसने भारतीय संस्कृति को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। इस विषय पर हम आगे चलकर अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

(२) सिकन्दर का आक्रमण और मौर्य-युग

चौथी सदी ईस्वी पूर्व में मैसिडोनिया के राजा सिकन्दर ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। उसका पिता फिलिप ग्रीक राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर चुका था। सिकन्दर ने ईजिप्ट और ईरानी साम्राज्य को विजय करके भारत पर भी आक्रमण किया, और उसके उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। यद्यपि वह भारत में अपने शासन को स्थायी नहीं बना सका, पर उसकी विजययात्रा के कारण भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक घनिष्ठ हो गया। सिकन्दर के साथ बहुत से ग्रीक, ईजिप्शियन व ईरानी सैनिकों ने भारत में प्रवेश किया था, और उसने इन विदेशी सैनिकों की अनेक छावनियाँ भी भारत में कायम की थीं। उसने ग्रीक और भारतीय लोगों में विवाह-सम्बन्ध को भी प्रोत्साहन दिया था। सिकन्दर के शासन के नष्ट हो जाने पर ये सब विदेशी सैनिक भारत से वापस नहीं लौट गये थे, इनमें से बहुत-से स्थायी रूप से भारत में ही आबाद भी हो गये थे। सिकंदर के बाद उसके अन्यतम उत्तराधिकारी सैल्युकस ने एक बार फिर भारत को जीतने का प्रयत्न किया था, यद्यपि वह भी अपने प्रयत्न में सफल नहीं हो सका था। विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना के कारण ग्रीक लोग भारत को अपनी अधीनता में ला सकने में असमर्थ रहे थे। पर अशोक के बाद जब मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो ग्रीक आक्रन्ताओं ने उत्तर-पश्चिमी भारत के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया, और वहाँ अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित किये। इस प्रकार सिकन्दर के समय से ईस्वीसन् के प्रारम्भ तक भारत का पश्चिम के ग्रीक लोगों (जिन्हें भारतीय 'यवन' कहते थे) से सम्बन्ध निरन्तर बना रहा।

मौर्य युग में भारत का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध—चन्द्रगुप्त मौर्य से परास्त होकर सैल्युकस ने भारत के सम्राट् से जो सन्धि की थी, उसके अनुसार सैल्युकस की कन्या का विवाह चन्द्रगुप्त के साथ हुआ था, और उसने अपना राजदूत भी चन्द्रगुप्त के दरबार में निवास के लिये नियुक्त किया था। सैल्युकस का राजदूत मैगस्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में रहता था, और चन्द्रगुप्त ने भी अपना दूत सैल्युकस के दरबार में भेजा था। सैल्युकस के उत्तराधिकारी एण्टियोकस सार्टर ने डायमेचस को अपना राजदूत बनाकर चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारी बिन्दुसार के दरबार में पाटिलपुत्र भेजा था। प्राचीन ग्रीक लेखकों ने एण्टियोकस और बिन्दुसार के सम्बन्ध में अनेक कथाएं लिखी हैं। एक कथा के अनुसार बिन्दुसार ने एण्टियोकस से कुछ शराब, कुछ किशमिशें और एक ग्रीक दार्शनिक खरीद कर भेज देने के लिये लिखा था। इसपर एण्टियोकस ने शराब और किशमिशें तो खरीद कर भेज दीं, पर दार्शनिक के सम्बन्ध में कहला दिया कि ग्रीक प्रथा के अनुसार दार्शनिकों का क्रय-विक्रय सम्भय नहीं है। बिन्दुसार के समय में ईजिप्ट का राजा टालमी फिलेडेल्फस (२८५-२४६ ई० पू०) था। उसने भी डायोनीसियस नाम का राजदूत बिन्दुसार के दरबार में भेजा था।

सम्राट् अशोक—अशोक के शासनकाल में भारत का पाश्चात्य संसार के साथ सम्बन्ध और भी अधिक बढ़ा। धर्म द्वारा अन्य देशों की विजय करने के उपक्रम में अशोक ने ईजिप्ट, ग्रीस आदि पश्चिमी देशों में अपने धर्म-महामात्र नियत किये थे। उसके

शिलालेखों से सूचित होता है, कि पश्चिमी संसार के निम्नलिखित राजाओं के राज्यों में धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की गयी थी—

(१) सीरिया के राजा अन्तियोक (एण्टियोकस थिओस) के राज्य में।
(२) ईजिप्ट के राजा तुरुमय (टाल्मी फिलैडेल्फस) के राज्य में।
(३) मैसिडोन के राजा अन्तिकिनि (एण्टिगोतस) के राज्य में।
(४) कारिन्थ के राजा अलिकसुन्दर (अलैक्जेण्डर) के राज्य में।

अशोक के समय में पाश्चात्य संसार के ये ही प्रमुख राज्य थे। इन सब में अशोक द्वारा नियत महामात्रों ने धर्म विजय की स्थापना के लिए अनेक लोकोपकारी कार्य किये, और जनता को धर्म-सन्देश सुनाया। इसका परिणाम यह हुआ, कि इन पश्चिमी देशों के साथ भारत का सम्पर्क और भी अधिक दृढ़ हो गया, और न केवल व्यापारी अपितु भारत के धर्म प्रचारक व दार्शनिक भी इन देशों में जाने आने लगे।

ग्रीक आक्रमण—चन्द्रगुप्त मौर्य ने भारत में जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह अशोक के बाद कायम नहीं रह सका। सम्भवतः, पाश्चात्य देशों द्वारा पाटलिपुत्र के राजदरबार में अपने राजदूत नियुक्त करने की जो प्रथा चन्द्रगुप्त के समय में प्रारम्भ हुई थी, वह भी अशोक के बाद नष्ट हो गयी। पर इस कारण भारत और पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में कमी नहीं आयी। इसका कारण यह था, कि सिकन्दर के साम्राज्य के खंडहरों पर जो अनेक ग्रीक राज्य कायम हुए थे, उनके राजाओं ने मौर्य साम्राज्य की निर्बलता से लाभ उठाकर भारत पर आक्रमण शुरू कर दिये, और वे इस देश में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में सफल भी हुए। बाख्त्री (बैक्ट्रिया) के प्रान्तीय ग्रीक शासक ने सीरिय के सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया था, और अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए उसने भारत पर भी आक्रमण किया था। २५० ई० पू० में स्थापित बाख्त्री का यह ग्रीक राज्य बहुत शक्तिशाली था। उसके राजा ग्रीक थे, और उनकी सेना में भी ग्रीक सैनिकों की प्रधानता थी। भारतीय लोग इन ग्रीकों को 'यवन' कहा करते थे। २०५ ई० पू० के लगभग बाख्त्री के इन यवनों ने भारत पर चढ़ाई की, और काबुल, कान्धार, हीरात व मकरान के प्रदेशों को जीतते हुए उत्तर-पश्चिमी पंजाब पर भी अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार भारत में भी अनेक ग्रीक राज्यों की स्थापना हुई, जिनके राजाओं के सिक्के अच्छी बड़ी संख्या में उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुए हैं।

मीनान्दर—भारत के इन यवन राजाओं में मीनान्दर सबसे प्रसिद्ध है। उसकी राजधानी सागल या शाकल (सियालकोट) थी। बौद्ध भिक्षुओं के सम्पर्क में आकर उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली थी। 'मिलिन्द पन्हो' नाम का एक ग्रन्थ पाली भाषा में मिलता है, जिसमें राजा मिलिन्द (मीनान्दर) द्वारा बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में पूछे गये प्रश्नों व उनके उत्तरों का उल्लेख है। मीनान्दर के समान अन्य भी अनेक यवन राजाओं और उनके राजकर्मचारियों ने बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों को स्वीकार कर लिया था। हेलिओदोर नाम के एक यवन राजदूत को तक्षशिला के यवन राजा अन्तलिखित ने विदिशा भेजा था, जो वहाँ आकर वासुदेव (विष्णु) का उपासक बन गया था। वासुदेव की पूजा के लिये उसने एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया था, जो अब तक भी विद्यमान है।

हेलिओदोर के समान अन्य भी बहुत से ग्रीक राजा व कर्मचारी भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आकर भारतीय हो गये थे, और इस देश की जनता के अंग बन गये थे।

उत्तर-पश्चिमी भारत में ग्रीक राज्यों की स्थापना के कारण भारत और पाश्चात्य देशों में सम्पर्क की वृद्धि में बहुत सहायता मिली। इस युग में बाख्त्री का यवन-राज्य और उत्तर-पश्चिमी भारत के अन्य यवन राज्य स्थलमार्ग द्वारा भारत और पश्चिमी देशों के सम्बन्ध की स्थापना में बहुत अधिक सहायक हुए। यह स्थलमार्ग खैबर के दर्रे से होकर और हिन्दुकुश पर्वतमाला को पारकर बाख्त्री पहुँचता था, और वहाँ से ऑक्सस नदी के साथ-साथ होकर कैस्पियन सागर व उससे भी परे काला सागर तक पहुँच जाता था। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थलमार्ग ईरान होता हुआ पश्चिमी एशिया के समुद्रतट तक जा पहुँचता था।

ईजिप्ट और भारत का सम्बन्ध—अशोक ने अपने धर्म महामात्र ईजिप्ट के राजा टॉल्मी फिलेडेल्फस के राज्य में भी भेजे थे। एक ग्रीक लेखक ने लिखा है, कि टॉल्मी (२८५-२४६ ई० पू०) के यहाँ भारतीय स्त्रियाँ, भारत के शिकारी कुत्ते और गौवें भी विद्यमान थीं। उसकी राजधानी में भारत से आये हुए मसालों से लदे हुए ऊँट भी दिखाई देते थे। इसी ग्रीक लेखक के अनुसार टॉल्मी के एक उत्तराधिकारी ने एक ऐसी नौका अपने लिये बनवाई थी, जिसकी बैठक को भारत के बहुमूल्य प्रस्तरों से विभूषित किया गया था।

अशोक की धर्म विजय की सफलता—अशोक ने ग्रीस, सीरिया, ईजिप्ट आदि पाश्चात्य देशों में अपने जो धर्ममहामात्र नियत किये थे, उन्हें धर्म-विजय की स्थापना के अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफलता हुई थी, इस सम्बन्ध में हमें ज्ञान नहीं है। पर इस विषय में अल्बरूनी का यह कथन ध्यान देने योग्य है कि "पुराने जमाने में खुरासान, ईरान, ईराक, मोसल और सीरिया की सीमा तक के सब प्रदेश बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।" अल्बरूनी ने दसवीं सदी के अन्त में भारत की यात्रा की, और वह फारसी, संस्कृत, तुर्की आदि भाषाओं का गम्भीर विद्वान् था। भारत से पश्चिम के प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार की सत्ता के सम्बन्ध में उसने जो बात लिखी है, उसका आधार इन देशों का पुराना इतिवृत्त ही था। इससे सूचित होता है, कि अशोक के धर्ममहामात्र अपने उद्देश्य में अवश्य ही सफल हुए थे।

(३) भारत और रोमन-साम्राज्य

तीसरी सदी ई० पू० में पाश्चात्य संसार में रोम के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था, और धीरे-धीरे इस छोटे-से गणराज्य ने उत्तरी अफ्रीका, स्पेन, कार्सिका और सार्डिनिया आदि के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया था। पहली सदी ई० पू० में रोम ने पूर्व दिशा की ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया, और ग्रीस, एशिया माइनर व ईजिप्ट को जीत कर मैसोपोटामिया तक के सब प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। ४६ ई० पू० तक यह दशा आ गयी थी, कि स्पेन और फ्रांस से लगाकर मैसोपोटामिया तक, और आल्प्स की पर्वतमाला से उत्तरी अफ्रीका तक सर्वत्र रोम का आधिपत्य था। रोम का विशाल साम्राज्य यूरोप, एशिया और अफ्रीका तीनों महाद्वीपों में फैला हुआ था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने से पूर्व ही रोम से गण-शासन का अन्त होकर सम्राटों का शासन

स्थापित हो गया था। ये रोमन सम्राट् अपने समय के सबसे अधिक शक्तिसम्पन्न व वैभवशाली सम्राट में से थे।

भारत और रोम का साम्राज्य—ग्रीस, पश्चिमी एशिया और ईजिप्ट से भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। जब रोम ने इन प्रदेशों को जीत लिया, तो भी भारत का इन देशों के साथ सम्बन्ध जारी रहा। अब भारत के व्यापारी ग्रीस और ईजिप्ट से भी आगे बढ़कर पश्चिम में इटली और रोमन साम्राज्य के अन्य पश्चिमी प्रदेशों के साथ व्यापार करने के लिये प्रवृत्त हुए। रोमन साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी। इस कारण भारत के व्यापारियों के लिये भूमध्यसागर के पश्चिमी भागों में भी दूर-दूर तक व्यापार के लिये आना-जाना सुगम हो गया था।

रोम के शासक भारत के व्यापार को बहुत अधिक महत्त्व देते थे। उनकी नीति यह थी कि पूर्वी देशों का यह व्यापार समुद्र के मार्ग से हो, और ईरान से होकर आने वाला स्थल-मार्ग अधिक प्रयोग में न आए। इसी कारण २५ ई० पू० में सम्राट् आगस्तस ने एक मंडल इस प्रयोजन से नियुक्त किया था कि वह समुद्र के मार्ग को विकसित व उन्नत करने का प्रयत्न करे। इस मंडल के प्रयत्न से शीघ्र ही अदन और ईजिप्ट पर ग्रीस के व्यापारियों ने कब्जा कर लिया, और वहाँ अपनी बस्तियाँ बसा लीं। अनुकूल सामुद्रिक वायु का ज्ञान हो जाने के कारण इस समय के जहाज तीन मास से भी कम समय में भारत से एलेक्जण्ड्रिया (ईजिप्ट का बन्दरगाह) तक आने जाने लग गये थे। इस समय एलेक्जण्ड्रिया से भारत की ओर जाने वाले जहाजों की संख्या प्रतिदिन एक की औसत से थी। इससे सहज में ही यह अनुमान किया जा सकता है, कि भारत का इन पाश्चातय देशों के साथ व्यापार सम्बन्ध कितना अधिक था।

भारत से जो माल पाश्चात्य देशों में बिकने के लिये जाता था, वहाँ उसकी मांग बहुत अधिक थी। हाथी दांत का सामान, मसाले, मोती, सुगन्धियाँ और सूती वस्त्र आदि सामान भारत से बहुत बड़ी मात्रा में रोम व साम्राज्य की अन्य नगरियों में बिकने के लिये जाता था, और उनके बदले में बहुत-सा सोना भारत को प्राप्त होता था। ७७ ई० पू० में रोम के एक लेखक ने शिकायत की थी, कि भारत रोम से हर साल साढ़े पांच करोड़ का सोना खींच लेता है, और यह कीमत रोम को वहाँ के निवासियों के भोग-विलास के कारण देनी पड़ती है। १२५ ईस्वी में रोमन साम्राज्य के अन्यतम प्रान्त सीरिया के सम्बन्ध में एक चीनी लेखक ने लिखा था कि भारत के साथ इसका जो व्यापार है, उसमें आयात माल के मूल्य की यात्रा निर्यात माल के मूल्य से दस गुना है। जो दशा सीरिया की थी, वही रोमन साम्राज्य के अन्य प्रान्तों की भी थी। इसी कारण आयात माल की कीमत को चुकाने के लिये बहुत-सा सोना हर साल भारत को दिया जाता था। यही कारण है, जो रोम की बहुत-सी सुवर्ण मुद्राएँ इस समय भी भारत में अनेक स्थानों से प्राप्त होती हैं। दक्षिणी भारत के कोयम्बटूर और मदुरा जिलों से रोम के इतने सिक्के मिले हैं, जिन्हें पांच कुली उठा सकने में समर्थ होंगे। पंजाब के हजारा जिले से भी रोम के बहुत से सिक्के मिले हैं, जिनके कारण भारत और रोमन साम्राज्य के पारस्परिक व्यापार के सम्बन्ध में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता। भारत से रोम जाने वाले माल में सूती वस्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। एक रोमन लेखक ने शिकायत

की थी, कि रोम की स्त्रियाँ भारत से आने वाले 'बुनी हुई हवा के जाले' (मलमल) को पहनकर अपने सौन्दर्य को प्रदर्शित करती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में भारत अपने महीन वस्त्रों के लिये प्रसिद्ध था।

रोम और कुशाण साम्राज्य—रोमन साम्राज्य के विकास के काल में उत्तरी भारत में कुशाण साम्राज्य की सत्ता थी। कुशाणों का शासन हिन्दूकुश पर्वतमाला के परे बाख्त्री आदि प्रदेशों में भी विस्तृत था। इस कारण उस समय रोमन साम्राज्य तक जाने वाले स्थल मार्गों का भी बहुत महत्त्व था। जब रोम की राजगद्दी पर सम्राट् त्राजन (९९ ईस्वी) विराजमान हुआ, तो भारत के कुशाण सम्राट् (सम्भवतः कनिष्क) ने अपना एक दूतमण्डल इस अवसर पर रोम भी भेजा था। वहाँ भारत के इस दूतमंडल का शानदार स्वागत किया गया, और उन्हें दरबार में उच्च आसन दिये गये।

रोम और अन्य भारतीय राजा—केवल कुशाण सम्राटों का ही रोम के सम्राटों के साथ सम्बन्ध नहीं था। अन्य भारतीय राजा भी रोम के साम्राटों के दरबार में अपने दूतमंडल भेजा करते थे। स्त्राबो के अनुसार २५ ईस्वी पूर्व में पाण्डिऑन (संभवतः दक्षिणी भारत के पाण्ड्य देश के अन्यतम राजा) ने एक दूतमंडल रोम भेजा था, जिसने भृगुकच्छ के बन्दरगाह से प्रस्थान किया था। चार साल की यात्रा के बाद इस दूतमण्डल ने रोम के सम्राट् आगस्तस से भेंट की थी, और पाण्ड्य राजा द्वारा भेजे हुए उपहार उसे समर्पित किये थे। उन उपहारों में शेर, अजगर आदि के अतिरिक्त एक ऐसा बालक भी था, जिसके हाथ नहीं थे, पर जो पैर से तीर कमान चला सकता था। इस दूतमण्डल का नेता शरमनोचेगस (श्रमणाचार्य) नाम का एक व्यक्ति था, जो सम्भवतः जैन धर्म का अनुयायी था। इसी प्रकार के अनेक अन्य भी दूतमण्डल भारतीय राजाओं द्वारा रोम भेजे गये थे।

प्रसिद्ध बन्दरगाह—इस युग में भारत और पाश्चात्य देशों के बीच व्यापार की जिस ढंग से वृद्धि हो गयी थी, उसके कारण भारत के समुद्रतट पर अनेक ऐसे समृद्ध बंदरगाहों का विकास हो गया था, जिनमें विदेशी व्यापारी भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। इनमें सबसे प्रसिद्ध "मुजिरिस" था, जो मलाबार के समुद्रतट पर स्थित था। तमिल भाषा के एक कवि ने इस बन्दरगाह के सम्बन्ध में लिखा है कि यहाँ यवनों के जहाज सोने से लदे हुए आते हैं, और उसके बदले में काली मिर्च भर कर ले जाते हैं। मुजिरिस में रोमन लोगों की एक बस्ती भी विद्यमान थी, और वहाँ सम्राट् ऑगस्तस के सम्मान में एक रोमन मन्दिर का निर्माण भी किया गया। जिस प्रकार सोलहवीं सदी में पोर्तुगाल, डच, स्पेनिश आदि यूरोपियन व्यापारियों ने भारत के विविध बन्दरगाहों से व्यापार के निमित्त अपनी बस्तियाँ कायम की थीं, वैसे ही ईस्वी सन् की प्रारम्भिक सदियों में रोमन साम्राज्य के विविध प्रदेशों (सीरिया, ईजिप्ट आदि) के व्यापारियों ने मुजिरिस आदि बन्दरगाहों में अपनी बस्तियाँ स्थापित कर ली थीं। भारत के अनेक राजा भी इस समय इन विदेशियों को अपनी नौकरी में रखने लगे थे, और अनेक पाश्चात्य लड़कियाँ भी उनके अन्तःपुरों की शोभा बढ़ाने लग गयी थीं।

मुजिरिस के अतिरिक्त मदुरा, भृगुकच्छ आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे, जो विदेशी व्यापार के अच्छे बड़े केन्द्र थे, और जहाँ यवन लोग बड़ी संख्या में निवास

करते थे।

जिस प्रकार भारत के बन्दरगाहों में विदेशी लोगों की बस्तियाँ थीं, वैसे ही ईरान की खाड़ी, लाल सागर और भूमध्यसागर के बन्दरगाहों में भारतीय व्यापारियों ने भी अपनी बस्तियाँ बसा ली थीं। पाश्चात्य जगत् के बन्दरगाहों में इस समय सबसे बड़ा एलेग्जेण्ड्रिया था, जो जनसंख्या की दृष्टि से रोमन साम्राज्य में रोम के बाद सबसे बड़ा नगर था। यह न केवल विदेशी व्यापार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, अपितु ज्ञान विज्ञान के लिये भी अद्वितीय था। इसका कलाभवन (म्यूजियम) संसार भर में प्रसिद्ध था, और इसके पुस्तकालय से लाभ उठाने के लिये दूर-दूर के विद्वान् आया करते थे। भारतीय विद्वान् भी यहाँ अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थे, और उनकी उपस्थिति के कारण पाश्चात्य लोगों को भारत के दर्शन व विज्ञान से परिचित होने का अवसर प्राप्त होता था। त्राजन के शासन काल में दिस्रो क्रिसोस्तम नाम के विद्वान् ने एलेग्जेण्ड्रिया में व्याख्यान देते हुए कहा था—"इस सभा में न केवल ग्रीक, इटालियन, सीरियन, लीबियन और साइलीसियन ही उपस्थित हैं, अपितु वे भी लोग हैं, जो अधिक दूर के देशों के निवासी हैं, यथा ईथियोपियन, अरब, बैक्ट्रियन, सीरियन और भारतीय।" एलेग्जेण्ड्रिया में एक प्राचीन समाधि विद्यमान है, जिसपर त्रिशूल और चक्र अंकित हैं। वह किसी भारतीय विद्वान् की समाधि है, जिससे अपनी जीवन लीला सुदूर ईजिप्ट में समाप्त की थी। ४७० ईस्वी में कुछ ब्राह्मण एलेग्जेण्ड्रिया की यात्रा के लिये गये थे, और वे वहाँ के शासक के अतिथि रूप में ठहरे थे। एलेग्जेण्ड्रिया के समान पाश्चात्य संसार में अन्य भी अनेक ऐसे बन्दरगाह थे, जहाँ न केवल भारतीय व्यापारी अपितु विद्वान् भी बड़ी संख्या में निवास करते थे।

(४) पाश्चात्य साहित्य में भारत का विवरण

भारत का पाश्चात्य देशों के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध था, उसी का यह परिणाम है कि अनेक ग्रीक और रोमन लेखकों ने भारत के विषय में अनेक पुस्तकें लिखी हैं। मैगस्थनीज का भारतवर्णन बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रीक विद्वान् सैल्युकस के राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में रहा था और उसे भारत के विषय में जानकारी प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। पहली सदी ई० पू० में स्त्रावो ने भारत के विषय में एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी। पर स्त्रावों के ग्रन्थ का मुख्य आधार एरानोस्थनीज (२४०–१९६ ई० पू०) की भारत विषयक पुस्तक थी। यह विद्वान् एलेग्जेण्ड्रिया में पुस्तकाय का अध्यक्ष था, और वहाँ रहते हुए उसने भारत के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया था। एरियन नामक लेखक ने १५० ई० पू० के लगभग भारत के विषय में अपनी पुस्तक की रचना की थी, और ७७ ई० पू० में प्लिनी ने ईजिप्ट से भारत तक की समुद्र यात्रा का वृत्तान्त लिखा था। इस वृत्तान्त में भारत के पशुओं, खनिज पदार्थों, वनस्पति और औषधियों का भी विशद रूप से वर्णन किया गया है।

पहली सदी ईस्वी में ही एक ग्रीक मल्लाह ने समुद्र मार्ग द्वारा भारत की यात्रा की थी। उसका नाम ज्ञात नहीं है, पर उसकी लिखी हुई पुस्तक अब तक भी विद्यमान है,

जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'परिप्लस ऑफ दी एरीथ्रियन सी' नाम से प्रकाशित है। यह पुस्तक बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इसे पढ़ने से ज्ञात होता है कि उस समय में सिन्ध और गुजरात के अनेक बन्दरगाह पश्चिमी व्यापार के बड़े केन्द्र थे, और उनमें बहुत से विदेशी व्यापारी सदा विद्यमान रहते थे। १५० ईस्वी के लगभग एलेग्जेण्ड्रिया के भूगोलवेत्ता टॉलमी ने भूगोल के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी, जिसमें कि भारत की भौगोलिक स्थिति पर भी प्रकाश डालने का यत्न किया गया था।

दूसरी सदी ईस्वी में लिखा हुआ एक ग्रीक नाटक उपलब्ध हुआ है, जिसमें कि एक ग्रीक महिला का वृत्तान्त है, जिसका जहाज भारत में कर्नाटक के समुद्रतट पर टूट गया था। इस नाटक में कर्नाटक के निवासियों से जो भाषा कहायी गयी है, उसमें कन्नड़ भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

तीसरी सदी ईस्वी के पाश्चात्य साहित्य में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनमें भारत के दार्शनिक विचारों और धार्मिक सिद्धान्तों का वर्णन है। इन ग्रन्थों के लेखकों में एलेग्जेण्ड्रिया के निवासी क्लीमैण्ट (मृत्युकाल २२० ईस्वी), बैबिलोनिया के निवासी बार्देसनस, सेण्ट जरोम, फिलोस्ट्रेटस और कैसियस के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें से क्लीमैण्ट और बार्देसनस ने बुद्ध का जिकर किया है, और उसके जन्म की कथा का विशद रूप से उल्लेख किया है। भारत के दार्शनिक विचारों का इन सभी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में जिकर किया है। क्लीमैण्ट ने लिखा है कि "बहुत से भारतीय बुद्ध के अनुयायी हैं, और उसका वे इतना आदर करते हैं कि उसे भगवान् मानते हैं।" क्लीमैण्ट ने यह भी लिखा है कि बौद्ध लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, और अपने पूज्यजनों की अस्थियों पर स्तूप बनाकर उनकी पूजा करते हैं। क्लीमैण्ट ने अनेक बार एलेग्जेण्ड्रिया में बौद्ध लोगों की उपस्थिति का उल्लेख करते हुए यह स्वीकार किया है, कि ग्रीक लोगों ने अपने दार्शनिक विचार इन विदेशियों से ही ग्रहण किये हैं। केवल ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारों पर ही नहीं, अपितु ईसाइयों की कथाओं पर भी भारतीय कथाओं की छाप है। इसका कारण यही है कि एलेग्जेण्ड्रिया आदि में बहुत से भारतीय विद्वान् अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और पाश्चात्य लोगों को उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहता था। यही कारण है, जो न केवल पाश्चात्य साहित्य में भारत विषयक अनेक ग्रन्थों की सत्ता है, अपितु उनके अपने साहित्य पर भी भारत की छाप है।

पाश्चात्य कथाओं पर भारतीय प्रभाव—पाश्चात्य देशों के साहित्य को भारत ने किस अंश तक प्रभावित किया है, इसका अनुमान उन कथाओं से किया जा सकता है, जिन पर भारत का प्रभाव प्रत्यक्ष है। भारत का कथा साहित्य बहुत पुराना है, और उसमें जातकों, पंचतन्त्र, हितोपदेश और शुकसप्तशती का स्थान बहुत महत्त्व का है। भारत के व्यापारियों के साथ-साथ इस देश की कथाओं ने भी छठी सदी ईस्वी पूर्व से भी पहले पश्चिमी देशों में प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया था। ईसप नाम के लेखक की कथाएँ भारतीय कथाओं पर ही आधारित हैं। प्लेटो के ग्रन्थों में भी अनेक भारतीय कथाओं की सत्ता है, जिनमें कि शेर की खाल ओढ़े हुए गधे की कथा मुख्य है। पाश्चात्य और भारतीय कथाओं की समता तो असंदिग्ध है, पर इन कथाओं को पाश्चात्य लोगों ने भारत से ही लिया था, इसका प्रमाण यह है कि इन कथाओं के पात्र शेर, गीदड़,

मार, हाथी आदि जो पशु हैं, वे भारतीय हैं, पाश्चात्य नहीं।

(५) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क के परिणाम

भारत और पाश्चात्य देशों का यह सम्पर्क इस्लाम के प्रादुर्भाव तक कायम रहा। सातवीं सदी में जब अरब साम्राज्य का विकास हुआ, तो ईजिप्ट, पश्चिमी एशिया, मैसोपोटामिया आदि के सब प्रदेश उसकी अधीनता में आ गये। इसका परिणाम यह हुआ कि एलेग्जेण्ड्रिया का स्थान बगदाद ने ले लिया, और अरब साम्राज्य में विद्या के अनेक नये केन्द्र विकसित हो गये। भारतीय विद्वान् पहले जैसे एलेग्जेण्ड्रिया आदि पाश्चात्य नगरों में रहते थे, वैसे अब बगदाद आदि में रहने लगे, और पाश्चात्य लोगों से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया। इस समय से भारत का ज्ञान-विज्ञान अरबों द्वारा ही यूरोप में पहुँचने लगा।

यही बात व्यापार के क्षेत्र में भी हुई। पाश्चात्य व्यापार अब अरबों द्वारा होने लगा, और वे ही भारत के माल को पाश्चात्य देशों में विक्रय के लिये ले जाने लगे। सातवीं सदी से यूरोप के इतिहास में उस काल का प्रारम्भ हुआ जिसे 'अन्धकार का युग' कहते हैं। इसी कारण इस समय से भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध प्रायः समाप्त हो गया।

भारत पर पाश्चात्य प्रभाव—चिरकाल तक पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में रहने के कारण यह स्वाभाविक था, कि भारत पर इन देशों का प्रभाव पड़े। ईरान के हखामनी सम्राटों ने सिन्ध नदी तक के प्रदेशों को जीतकर अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इसके कारण ईरान की प्राचीन अरमइक लिपि का भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में प्रवेश हुआ। यह लिपि दाईं ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। तक्षशिला के अवशेषों में प्राचीन काल के दो लेख मिले हैं, जो इसी लिपि में हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के जो प्रदेश हखामनी साम्राज्य के अन्तर्गत थे उनमें इस अरमइक लिपि का प्रचार हो गया था। बाद में इन्हीं प्रदेशों में खरोष्ठी लिपि का विकास हुआ, जिसकी वर्णमाला तो ब्राह्मी लिपि के ही सदृश थी, पर जो अरमइक लिपि के समान दाईं ओर से बाईं ओर लिखी जाती थी। इस लिपि का प्रयोग भारत की अपनी भाषा को लिखने के लिये भी किया जाने लगा था। अशोक के चतुर्दश शिलालेखों की जो प्रतियां उत्तर पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुई हैं, वे इसी खरोष्ठी लिपि में हैं। संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'यवनानी' लिपि का भी उल्लेख किया है, जो सम्भवतः अरमइक ही थी। इससे सूचित होता है कि पाणिनि इस लिपि से परिचित थे, और उनके समय में इसका भारत के उत्तरी-पश्चिमी प्रदेशों में प्रचार था।

ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में भी पाश्चात्य लोगों ने भारत को आंशिक रूप से प्रभावित किया था। विशेषतया, ज्योतिष में भारतीयों ने अनेक बातें ग्रीक और रोमन लोगों से सीखी थीं। गार्ग्य संहिता में लिखा है कि यवन लोग म्लेच्छ हैं, पर ज्योतिष में उन्होंने बहुत उन्नति की है, इस कारण उसको ऋषिवत् आदर देना चाहिए। ज्योतिष की पांच भारतीय संहिताओं में दो के नाम रोमक सिद्धान्त और पोलिश सिद्धान्त हैं। रोमक सिद्धान्त स्पष्ट रूप से रोम के साथ सम्बन्ध रखता है, और पोलिश

सिद्धान्त का एलेग्जण्ड्रिया के प्रसिद्ध ज्योतिष पॉल (३७८ ईस्वी) के साथ सम्बन्ध है। अनेक विद्वानों के मत में भारत में नाटकों का सूत्रपात भी पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क द्वारा हुआ। इसके पक्ष में यह प्रमाण किया जाता है कि नाटक खेलते हुए भारतीय लोग परदे के गिरने को 'यवनिका पतन' कहा करते थे। भारत के प्राचीन सिक्कों पर भी ग्रीक लोगों के प्रभाव को स्वीकार किया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर-पश्चिमी भारत के यवन राजाओं ने ही इस देश में पहले-पहल सुडौल सिक्कों का निर्माण प्रारम्भ किया था। ग्रीक लोगों के सम्पर्क के कारण भारत की मूर्ति निर्माण कला में 'गान्धारी शैली' का प्रारम्भ हुआ, यह भी अनेक विद्वानों का मत है। इस शैली के सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है।

पाश्चात्य देशों के सम्पर्क द्वारा भारत के धर्म पर कोई प्रभाव हुआ या नहीं, यह बात विवादग्रस्त है। कुशाण सम्राट् कनिष्क के अनेक सिक्कों पर भारतीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त ग्रीक देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी अंकित हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि कनिष्क के समय में भारतीयों को ग्रीस के प्राचीन धर्म से भी परिचित होने का अवसर मिला था। पर इससे भारत के धर्म पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा, यह स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है।

पर पश्चिम में प्रादुर्भूत हुए ईसाई धर्म का भारत में प्रवेश बहुत प्राचीन काल में हो गया था, यह असंदिग्ध है। ईसाइयों की प्राचीन कथाओं के अनुसार टामस नाम का ईसाई प्रचारक ईस्वी सन् की प्रथम सदी में ही भारत में अपने धर्म का प्रचार करने के लिये आया था। इस कथा में सचाई हो या नहीं, पर यह निश्चित है कि दूसरी सदी के अन्त से पूर्व ही अनेक ईसाई प्रचारक भारत में आने लग गये थे, और तीसरी व चौथी सदियों में दक्षिणी भारत में इस धर्म का प्रचार भी शुरू हो गया था

पाश्चात्य देशों पर भारत का प्रभाव—भारत के सम्पर्क ने पाश्चात्य देशों को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। यह प्रभाव इन देशों के विचारों और धर्म पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस अध्याय में ऊपर इस सम्बन्ध में प्रकाश भी डाला जा चुका है। हम यहाँ पुनः संक्षेप में इसे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :—

(१) ग्रीक लोगों के दार्शनिक विचारों पर भारत का प्रभाव असंदिग्ध है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, एलेग्जेण्ड्रिया के क्लीमेण्ट के अनुसार ग्रीक लोगों ने अपने दार्शनिक विचार भारतीयों से ही ग्रहण किये थे। पाइथोगोरेस के सम्बन्ध में यह माना जाता है कि, उसने भारत की यात्रा की थी, और इस देश के दार्शनिकों के सम्पर्क में आकर ही उसने अपने दार्शनिक विचारों का विकास किया था। भारत के सांख्य दर्शन का प्रभाव पाइथोगोरस के मन्तव्यों पर स्पष्ट है। उसका काल छठी सदी ईस्वी पूर्व में था। उस समय तक ग्रीक लोग भारतीयों के निकट सम्पर्क में आने लग गये थे, और यह स्वाभाविक था कि भारत के समुन्नत दार्शनिक चिन्तन से वे प्रभावित होते। ग्रीस का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भारतीय विद्वानों के सम्पर्क में आया था, यह इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। उसके शिष्य प्लेटो के विचारों पर भी भारत का प्रभाव है, यह भी हम प्रदर्शित कर चुके हैं। चौथी सदी ई० पू० में आरिस्टोक्लेनस नाम का एक प्रसिद्ध ग्रीक विद्वान् हुआ, जो अरिस्टोटल का शिष्य था। उसके इतिवृत्त से सूचित

होता है कि भारत के विद्वान् ग्रीस आदि पाश्चात्य देशों में जाया करते थे, और उन देशों की भाषाएँ सीखकर वहां प्रवचन करते थे। इसी प्रकार ग्रीक व अन्य विदेशी विद्वान् भी भारत में आकर इस देश के दर्शन व धर्म का अनुशीलन करते थे। स्कीथियेनस नाम का एक अरब व्यापारी भारत में व्यापार के लिये आया करता था। यहां उसे भारतीय दर्शन के प्रति रुचि उत्पन्न हुई, और दर्शन शास्त्र का अध्ययन कर वह एलेग्जेण्ड्रिया में बस गया। वहां उसने भारतीय दर्शन का अध्यापन शुरू किया। इसी प्रकार अन्य भी कितने ही ग्रीक, अरब, सीरियन आदि विद्वान् भारत आये, और उन्होंने इस देश के ज्ञान को प्राप्त किया। यही कारण है, जो पाश्चात्य दार्शनिक विचार भारत के दर्शनशास्त्रों से प्रभावित हुए, और उनके व भारत के विचारों में इतनी अधिक समता पायी जाती है।

(२) भारत के धार्मिक विचारों ने भी पाश्चात्य देशों के धर्मों को प्रभावित किया। अशोक के समय में विदेशों में धर्म विजय और बौद्ध धर्म के प्रचार का जो उपक्रम प्रारम्भ हुआ था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसी के कारण अनेक पाश्चात्य देश बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गये थे, और अलबरूनी दसवीं सदी के अन्त में यह लिख सका था कि पुराने जमाने में सीरिया तक के सब पाश्चात्य देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार था। अलबरूनी के कथन की सत्यता पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषों द्वारा भी प्रमाणित होती है। सीसतान में एक पुराने बौद्ध विहार के अवशेष मिले हैं, जिन्हें देखकर उस प्रदेश में बौद्ध धर्म की सत्ता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। चीनी भाषा के पुराने ग्रन्थों में पार्थिया के एक राजकुमार की कथा दी गयी है, जिसने कि राजगद्दी का परित्याग कर बौद्ध भिक्षुओं के काषाय वस्त्रों को धारण कर लिया था।

बौद्ध धर्म के समान भारत के पौराणिक धर्म की भी इन पाश्चात्य देशों में सत्ता थी। सीरिया के एक लेखक जनॉब के अनुसार दूसरी सदी ई० पू० में युफ्रेटिस नदी के उपरले क्षेत्र में टैरन प्रदेश में भारतीयों की एक बस्ती थी, जिसमें दो विशाल मंदिर विद्यमान थे। इन मन्दिरों में प्रतिष्ठापित मूर्तियां ऊंचाई में २२ और २८ फीट थीं। ३०४ ईस्वी के लगभग ईसाई सन्त ग्रेगरी ने इन मन्दिरों को नष्ट करने का प्रयत्न किया। भारतीयों ने अपने मन्दिरों की रक्षा के लिये संघर्ष किया, पर वे सफल नहीं हो सके, और ग्रेगरी ने मन्दिरों की मूर्तियों को खंड-खंड कर दिया।

पाश्चात्य देशों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों की सत्ता का ही यह परिणाम हुआ, कि इस क्षेत्र के धर्मों पर भारत के धार्मिक मन्तव्यों और विधि-विधानों का प्रभाव पड़ा। ईसाई धर्म के मन्तव्यों और कर्मकाण्ड में अनेक ऐसी बातें हैं, जो भारतीय धार्मिक मन्तव्यों व कर्मकाण्ड से मिलती जुलती हैं। पुराने ईसाई चर्चों का अन्दरूनी भाग बौद्ध चैत्य के सदृश होता था। उनमें भी पूज्य सन्तों की अस्थियों को स्थापित करने व उनकी पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी। ईसाई सन्त व साधु भारतीय मुनियों के समान ही तपस्या व साधना में तत्पर रहा करते थे। उनकी अनेक धार्मिक गाथाएं भी भारतीय कथाओं के समान हैं। ये समानताएं आकस्मिक नहीं हो सकतीं। जिस प्रदेश में ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था, वहां पहले बौद्ध व अन्य भारतीय धर्मों की सत्ता थी। इसी कारण ईसाई धर्म में वे अनेक बातें प्रविष्ट हुईं, जो भारत में प्रचलित धार्मिक मान्यताओं के सदृश हैं।

तीसरी सदी ईस्वी में पाश्चात्य संसार में एक नये धार्मिक सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ था, जिसका प्रवर्त्तक मनी था। इस सम्प्रदाय का एक धर्मग्रन्थ बौद्ध सूत्रों की शैली में लिखा गया है, और उसमें मनी को 'तथागत' कहा गया है। इस ग्रन्थ में बुद्ध और बोधिसत्वों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार इस युग के अन्य अनेक धार्मिक सम्प्रदायों पर भी बौद्ध धर्म व अन्य भारतीय धर्मों का प्रभाव है।

(३) पाश्चात्य देशों की कथाओं पर भारत के पंचतन्त्र, जातक, हितोपदेश, शुकसप्तशती आदि का जो प्रभाव है, उसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। उसे यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन समय में भारत और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ था, और भारतीय संस्कृति ने पाश्चात्य संसार को अनेक प्रकार से प्रभावित किया था।

सत्रहवां अध्याय

गुप्त-युग की सभ्यता और संस्कृति

(१) साहित्य और विज्ञान

महाकवि कालिदास—मौर्योत्तर-काल में संस्कृत-साहित्य के विकास की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्तकाल में वह उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गयी। भास, शूद्रक सदृश कवियों ने संस्कृति में नाटक और काव्य की जिस परम्परा को प्रारम्भ किया था, अब कालिदास और विशाखदत्त जैसे कवियों ने उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया। संस्कृत का सबसे महान् कवि कालिदास गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक था। एक शिलालेख से सूचित होता है, कि विक्रमादित्य से उसे कुंतलनरेश ककुत्स्थवर्मन् के पास राजदूत के रूप में भी भेजा था। एक साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार कालिदास ने वाकाटक-राजा प्रवरसेन द्वारा लिखित सेतुबन्ध काव्य का परिष्कार किया था।

महाकवि कालिदास के लिखेहुए ऋतुसंहार, मालविकाग्निमित्र, कुमारसम्भव, मेघदूत, अभिज्ञानशाकुन्तलम् और रघुवंश इस समय उपलब्ध होते हैं। निःसंदेह, ये ग्रंथ संस्कृत-साहित्य के सबसे उज्ज्वल रत्न हैं। ओज, प्रसाद आदि गुणों और उपमा आदि अलंकारों की दृष्टि से संस्कृत का अन्य कोई भी काव्य इनका मुकाबला नहीं कर सकता। जब तक संस्कृतभाषा का अध्ययन जारी रहेगा, कालिदास का नाम भी संसार में अमर रहेगा। यह कहना जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है, कि कालिदास ससार का सर्वश्रेष्ठ कवि है। उसकी कृतियां इतिहास और साहित्य में सदा अमर रहेंगी। रघुवंश में रघु की दिग्विजय का जो वर्णन किया गया है, उसे लिखते हुए समुद्रगुप्त की विजययात्रा सम्भवतः कालिदास के सम्मुख थी। उसके ग्रंथों पर गुप्त-काल की समृद्धि और गौरव की स्पष्ट छाप है।

विशाखदत्त—मुद्राराक्षस का लेखक कवि विशाखदत्त भी गुप्त-काल में पांचवीं सदी में हुआ था। नन्द को परास्त कर चन्द्रगुप्त मौर्य ने किस प्रकार पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर अपना अधिकार जमाया, इस कथानक को विशाखदत्त ने बड़े सुन्दर रूप से नाटक में वर्णित किया है। मुद्राराक्षस की संस्कृत नाटकों में अद्वितीय स्थिति है। मागध-परम्परा के अनुसार राजनीति के दांवपेचों का जो वर्णन इस नाटक में है, वह संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में विशाखदत्त ने म्लेच्छों से आक्रान्त हुई पृथिवी की रक्षा करने के लिये 'बन्धुभृत्य' चन्द्रगुप्त का आवाहन किया है। इस भरतवाक्य में शक और कुशाणों के उस प्रचण्ड आक्रमण की ओर इशारा है, जो समुद्रगुप्त की मृत्यु के बाद रामगुप्त के समय में हुआ था। इन म्लेच्छ आक्रांताओं ने मागध-सेनाओं को परास्त कर पट्टमहादेवी ध्रुवदेवी तक पर आंख उठायी थी। पर अपने

बड़े भाई के सेवक के रूप में चन्द्रगुप्त ने शक-कुशाणों को परास्त कर भारत भूमि की रक्षा की थी। इस प्रकार म्लेच्छों का भारत को सताना बन्द हुआ। इसी विशाखदत्त ने 'देवी चन्द्रगुप्तम्' की रचना की थी, जिसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय और ध्रुवदेवी के कथानक का बड़े विशद रूप से वर्णन किया गया है।

अन्य कवि—किरातार्जुनीय का लेखक महाकवि भारवि और भट्टिकाव्य का रचयिता भट्टि भी गुप्त-वंश के अंतिम काल में छठी सदी में हुए। इन दोनों महाकवियों के काव्य संस्कृत-साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। द्रौपदी के मुख से राजनीति का जो ओजस्वी वर्णन किरातार्जुनीय में मिलता है, उसका उदाहरण संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है। भट्टिकाव्य में व्याकरण के कठिन नियमों को श्लोकों के उदाहरणों से जिस प्रकार सरल रीति से समझाया गया है, वह भी वस्तुतः अनुपम है।

अन्य अनेक कवि भी इस युग में हुए, जिनमें मातृगुप्त, सौमिल्ल और कुलपुत्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके उत्कृष्ट काव्यों के निर्देश तो हमें मिलते हैं पर दुर्भाग्यवश इनका रचा हुआ कोई काव्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ।

प्रशस्तियाँ—गुप्त-काल के शिलालेख भी काव्य के उत्तम उदाहरण हैं। प्रयाग के अशोककालीन स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की जो प्रशस्ति कुमारामात्य महादण्डनायक हरिषेण ने उत्कीर्ण कराई थी, वह कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि की है। यदि हरिषेणरचित कोई काव्य भी हमें उपलब्ध हो सकता, तो वह संस्कृत के बहुत उत्तम काव्यों में गिना जाता। यशोधर्मा की प्रशस्ति भी कविता की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है। उसे वसुल नाम के कवि ने लिखा था। इसी तरह रविशांति, वत्सभट्टि और कुब्ज आदि कवियों द्वारा लिखी गयी अन्य अनेक प्रशस्तियाँ भी उपलब्ध हुई हैं, जो सब गुप्त-काल की हैं। इनके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि काव्य की शैली गुप्त काल में बहुत उन्नत और परिष्कृत हो गयी थी।

पञ्चतन्त्र—ऐतिहासिकों के अनुसार संस्कृत के प्रसिद्ध नीतिकथा-ग्रंथ पञ्चतंत्र का निर्माण भी गुप्त-काल में ही हुआ था। पंचतंत्र की कथाएँ बहुत पुरानी हैं, उनमें से बहुतों का सम्बन्ध तो महाजनपद-काल की राजनीतिक घटनाओं से है। इस ग्रंथ में कोशल, मगध और वज्जि आदि जनपदों के राजाओं का स्थान पशुओं ने ले लिया है, और मनोरंजक रीति से अनेक पुरानी ऐतिहासिक कथाओं को लिखा गया है। ये कथाएँ चिरकाल से परम्परागत रूप से भारत में प्रचलित थीं। गुप्त-काल में उन्होंने बाकायदा एक ग्रंथ का रूप धारण किया। ५७० ईस्वी से पहले भी पंचतंत्र का पहलवी भाषा में अनुवाद हो चुका था। ग्रीक, लेटिन, स्पेनिश, इटालियन, जर्मन, इंगलिश और संसार की सभी पुरानी भाषाओं में इसके अनुवाद सोलहवीं सदी से पूर्व ही हो चुके थे। इस समय संसार की पचास से भी अधिक विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद पाये जाते हैं। थोड़े-बहुत रूपान्तर से २०० से अधिक ग्रंथ इसके आधार पर लिखे जा चुके हैं।

व्याकरण और कोष—व्याकरण और कोष-सम्बन्धी भी अनेक ग्रंथ इस काल में बने। चन्द्रगोमिन् नाम के एक बौद्ध पंडित ने चान्द्र व्याकरण की रचना की। पाणिनि के व्याकरण में वैदिक प्रयोगों की भी सिद्धियाँ थीं। इसमें उन्हें निकाल दिया गया। इस व्याकरण की पद्धति पाणिनि [illegible] बौद्धों में इसका बहुत प्रचार हुआ।

महायान-सम्प्रदाय के सभी ग्रंथ संस्कृत में लिखे गये थे। गांधार और उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में बौद्धों की भाषा संस्कृत ही थी। वे इस चान्द्र व्याकरण का अध्ययन करते थे। संस्कृत का मूल चान्द्र व्याकरण अब नहीं मिलता। पर तिब्बती भाषा में उसका जो अनुवाद हुआ था, वह पिछले दिनों में उपलब्ध हो गया है। प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह भी इसी काल में हुआ। वह बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। उसका लिखा अमरकोष संस्कृत के विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय है। अमरसिंह की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में की जाती है।

स्मृतियाँ—स्मृति-ग्रंथों में मनुस्मृति, विष्णुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति का निर्माण गुप्त-काल से पहले हो चुका था। अब नारदस्मृति, कात्यायनस्मृति और बृहस्पतिस्मृति का निर्माण हुआ। नीतिग्रंथों में कामन्दक नीतिसार इसी काल की रचना है।

ज्योतिष और गणित—गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की भी इस काल में बहुत उन्नति हुई। आर्यभट्ट और वराहमिहिर जैसे प्रसिद्ध गणितज्ञ और ज्योतिषी इसी युग में हुए। वराहमिहिर की गणना भी चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में की गयी है। गणित-शास्त्र में दशमलव का सिद्धान्त बड़े महत्त्व का है। गुप्त-काल तक यह सिद्धान्त भारत में विकसित हो चुका था। रोमन लोग इससे सर्वथा अपरिचित थे। यूरोप के लोगों को ग्यारहवीं सदी तक इसका ज्ञान नहीं था। यही कारण है, कि गणित की वहाँ अधिक उन्नति नहीं हो सकी। अरब लोग पहले-पहल इस सिद्धान्त को यूरोप में ले गये। पर अरबों ने इसे भारत से सीखा था। इब्न वाशिया (नवीं सदी), अलमसूदी (दसवीं सदी) और अलबरूनी (ग्यारहवीं सदी) जैसे अरब लेखकों ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है, कि दशमलव का सिद्धान्त हिन्दुओं ने आविष्कृत किया था, और अरबों ने इसे उन्हीं से सीखा था। आर्यभट्ट के ग्रंथ आर्यभट्टीयम् में इसका स्पष्टतया उल्लेख है। यह ग्रंथ गुप्त-काल में पाँचवी सदी में लिखा गया था। पर भारतीय लोग पाँचवीं सदी से पहले भी इस सिद्धान्त से परिचित थे। पेशावर के समीप वक्शली नाम के गाँव में एक बहुत पुराना हस्तलिखित ग्रंथ मिला है। यह ग्रंथ गणित विषय पर है। इसकी भाषा के आधार पर यह निश्चित किया गया है, कि यह ग्रन्थ चौथी सदी का है। इसमें न केवल दशमलव के सिद्धान्त का स्पष्टरूप से प्रतिपादन है, अपितु गणित के अच्छे ऊँचे सूत्रों का भी इसमें उल्लेख है। इसके अनुशीलन से प्रतीत होता है, कि गुप्तकालीन भारत में गणित-विज्ञान अच्छी उन्नति कर चुका था। आर्यभट्ट का ग्रन्थ आर्यभट्टीयम् भी गणित के सम्बन्ध में उस युग के ज्ञान को भली-भाँति प्रकट करता है। यह ग्रंथ खास पाटलिपुत्र में लिखा गया था, और इसमें अंकगणित, अलजेबरा और ज्योमेट्री, सबके अनेक सिद्धान्तों व सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है।

ज्योतिष विषय पर पहला ग्रन्थ इस युग में वैशिष्ठ सिद्धान्त लिखा गया। इसका काल ३०० ईस्वी माना जाता है। इससे पहले भारत में एक साल में ३६६ दिन माने जाते थे। पर वैशिष्ठ सिद्धान्त में यह प्रतिपादन किया गया, कि एक साल में ३६६ दिन न होकर ३६५.२५६१ दिन होते हैं। गुप्तकाल में दिनगणना के विषय में भारतीय लोग सत्य के बहुत समीप तक पहुँच गये थे। ३८० ईस्वी में पौलिस सिद्धान्त लिखा गया। इसमें सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के नियमों का भली-भाँति प्रतिपादन किया गया है।

पौलिस सिद्धान्त के कुछ वर्षों बाद ४०० ई० प० में रोमक सिद्धान्त लिखा गया। सम्भवतः, यह रोमन लोगों के ज्योतिष-ज्ञान के आधार पर लिखा गया था। भारत और रोम का उस समय घनिष्ठ सम्बन्ध था। इस ग्रन्थ में २८५० वर्ष का एक युग माना गया है। यह ग्रीक और रोमन ज्योतिष के अनुसार ही है। आचार्य वराहमिहिर ने ज्योतिष के सम्बन्ध में जो ग्रंथ लिखे, उनके नाम ये हैं—पंचसिद्धांतिका, बृहज्जातक, बृहत्संहिता और लघुजातक। इनमें से पिछले दो का अनुवाद अलबरूनी ने अरबी भाषा में किया था। वराहमिहिर की पुस्तकों में फलित ज्योतिष का बड़े विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

पर गुप्त-काल के वैज्ञानिकों में सबसे बड़ा आर्यभट्ट था। इस विख्यात ज्योतिषी का जन्म पाँचवीं सदी में पाटलिपुत्र में हुआ था। जब उसकी आयु केवल २३ वर्ष की थी, तभी उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ आर्यभट्टीयम् की रचना की थी। उस युग में अलेग्जेण्ड्रिया ज्योतिष के अध्ययन का बड़ा केन्द्र था। मिस्र के राजाओं की संरक्षता में वहाँ ग्रीक ज्योतिषी नई खोज में निरन्तर लगे रहते थे। पाश्चात्य संसार ने ज्योतिष के क्षेत्र में जो उन्नति की थी, आर्यभट्ट को उससे पूरा-पूरा परिचय था। उसने भारतीय और पाश्चात्य, सब विज्ञानों का भली-भाँति अनुशीलन किया था, और उन सब का भली-भाँति मंथन करके, सत्य को असत्य से अलग करने और सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिये अपना ग्रंथ लिखा था। सूर्य और चन्द्र का ग्रहण राहु और केतु नाम के राक्षसों से ग्रसने की वजह से नहीं होता, अपितु जब चन्द्रमा सूर्य और पृथिवी के बीच में या पृथिवी की छाया में आ जाता है, तब चन्द्रग्रहण होता है, इस सिद्धान्त का आर्यभट्ट ने स्पष्ट रूप से वर्णन किया है। पृथिवी अपने व्यास के चारों ओर घूमती है, दिन और रात क्यों छोटे बड़े होते रहते हैं, भिन्न-भिन्न नक्षत्रों और ग्रहों की गति किस प्रकार से रहती है—इस प्रकार के बहुत-से विषयों पर ठीक-ठीक सिद्धान्त आर्यभट्ट ने प्रतिपादित किये हैं। वर्ष में कितने दिन होते हैं, इस विषय में आधुनिक ज्योतिषियों का मत यह है, कि ३६५.२५६३६०४ दिन का वर्ष होता है। आर्यभट्ट की गणना के अनुसार साल में ३६५.२५८६८०५ दिन होते थे। आर्यभट्ट की गणना वर्तमान ज्योतिषियों की गणना के बहुत समीप है। प्राचीन ग्रीक ज्योतिषी भी इस सम्बन्ध में सत्य के इतने समीप नहीं पहुँचे थे।

ज्योतिष में आर्यभट्ट के अनेक शिष्य थे। इनमें निःशंक, पांडुरंग स्वामी और लाटदेव के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी लाटदेव आगे चलकर बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसे 'सर्वसिद्धांतगुरु' माना जाता था। उसने पौलिस और रोमक सिद्धांतों की व्याख्या बड़े सुन्दर रूप से की थी।

इसी काल का ज्योतिषसम्बन्धी एक और ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है, जिसका नाम है सूर्यसिद्धान्त। इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं है। भारतीय ज्योतिषी इसे बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, और इसमें संदेह नहीं कि इसकी रचना भी गुप्त-काल में ही हुई थी।

भारत के प्राचीन विद्वान् विदेशियों से विद्याग्रहण में कोई संकोच नहीं करते थे। अलेग्जेंड्रिया में ग्रीक पण्डितों ज्योतिष की जो उन्नति हो रही थी, गुप्तकाल के भारतीय ज्योतिषी उससे भली-भाँति परिचित थे। वे उनकी विद्या का आदर भी

भली-भाँति करते थे। यही कारण है, कि वराहमिहिर ने लिखा है, कि यद्यपि यवन (ग्रीक) लोग म्लेच्छ हैं, पर वे ज्योतिष विद्या में बड़े प्रवीण हैं, अतः उन्हें ऋषियों के समान ही आदर देना चाहिये। भारतीय पंडितों की इसी वृत्ति का परिणाम था कि जहाँ उन्होंने स्वयं खोज और चिंतन द्वारा ज्योतिष के अनेक सिद्धान्तों का आविष्कार किया, वहाँ उन्होंने ग्रीक लोगों से भी बहुत कुछ सीखा। अनेक आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में भारतीय ज्योतिष के केन्द्र, हारिज, लिप्त आदि अनेक शब्द ग्रीक भाषा से लिये गये हैं। रोमक सिद्धान्त-ग्रंथ से भारतीय ज्योतिष पर पाश्चात्य प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः यदि कुछ पारिभाषिक शब्द प्राचीन भारतीय ज्योतिषियों ने ग्रीक से लिये हों, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि गुप्त-काल की भारतीय ज्योतिष अलेग्जेण्ड्रिया की ग्रीक ज्योतिष की अपेक्षा अधिक उन्नत थी।

आयुर्वेद—आयुर्वेद के क्षेत्र में गुप्त-युग में अच्छी उन्नति हुई। चरक और सुश्रुत की रचना गुप्त-युग से पहले ही हो चुकी थी। पर छठी सदी के शुरू में प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय की रचना की। यह आयुर्वेद का प्रसिद्ध ग्रंथ है, और इससे सूचित होता है, कि चरक और सुश्रुत ने जिस चिकित्सा-प्रणाली का प्रारम्भ किया था, वह इस काल में निरन्तर उन्नति करती रही। प्राचीन साहित्यिक अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में विद्यमान नवरत्नों में धन्वन्तरि भी एक था। धन्वन्तरि आयुर्वेद का मुख्य आचार्य माना जाता है. और वैद्य लोग उसे अपने विज्ञान का देवता-सा मानते हैं। यह कहना बहुत कठिन है, कि आयुर्वेद का यह प्रथम प्रधान आचार्य गुप्त-काल में हुआ था। सम्भवतः, इस नाम का कोई अन्य वैद्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के नवरत्नों में होगा, पर उसका लिखा कोई ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होता। गुप्त-काल की एक अन्य चिकित्सा-सम्बन्धी पुस्तिका पूर्वी तुर्किस्तान में मिली है। इसका नाम 'नावनीतकम्' है। इसे श्रीयुत् बावर ने सन् १८९० में तुर्किस्तान के पुराने खंडहरों मे प्राप्त किया था। यह छोटा-सा ग्रंथ चरक, सुश्रुत, हारीत, जातुकर्ण क्षारपाणि और पाराशरसंहिता आदि के आधार पर लिखा गया है। इनमें से अनेक ग्रंथ इस समय उपलब्ध नहीं होते, पर नावनीतकम् में उनके आधार पर जो नुस्खे (प्रयोग) लिखे हैं, वे भारत से बाहर तुर्किस्तान में मिल गये हैं।

हस्त्युपवेद नाम से भी एक ग्रंथ गुप्त-काल में लिखा गया था। इसका रचयिता पालकाप्य नाम का एक पशु-चिकित्सक था। यह एक विशाल ग्रंथ है, जिसमें १६० अध्याय हैं। हाथियों के रोग, उनके निदान और चिकित्सा का इसमें विस्तृत वर्णन है। प्राचीन भारत की सैन्यशक्ति में हाथियों का बड़ा महत्त्व था। अतः उनकी चिकित्सा के सम्बन्ध में इतने ज्ञान का विकास हो जाना एक स्वाभाविक बात थी।

रसायन—रसायन-विज्ञान में भी गुप्तकाल में बहुत उन्नति हुई। दुर्भाग्यवश, रसायन-विद्या के इस काल के कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होते। पर इस विद्या ने गुप्त-काल में किस हद तक उन्नति कर ली थी, इसका जीता-जागता प्रत्यक्ष उदाहरण दिल्ली के समीप महरौली में प्राप्त लोहस्तम्भ है। यह स्तम्भ २४ फीट ऊँचा और १८० मन के लगभग भारी है। इतना भारी और बड़ा लोहस्तम्भ किस प्रकार तैयार किया गया, यह एक गूढ़ रहस्य है। लोहे को गरम कर के चोट देकर इतना विशाल स्तम्भ कभी

भी तैयार नहीं किया जा सकता, क्योंकि गरम करने से जो जो आँच पैदा होगी, उसके कारण इतनी दूर तक कोई आदमी खड़ा नहीं हो सकेगा, कि चोट देकर उसे एक निश्चित आकृति का बनाया जा सके। दूसरा तरीका यह हो सकता है, कि इस लाट को ढालकर बनाया गया हो। यदि गुप्त-काल के भारतीय शिल्पी इतनी बड़ी लोहे की लाट को ढाल सकते थे, तो निस्संदेह वे धातु-विज्ञान और शिल्प में बहुत अधिक उन्नति कर चुके थे। इस लौह-स्म्तभ में एक आश्चर्य की बात यह है, कि १६०० वर्ष के लगभग बीत जाने पर भी इसपर जंग का नाम-निशान तक नहीं है। यह स्तम्भ इतने दीर्घ काल से वर्षा, आंधी, गरमी, सरदी सब सहता रहा है, पर पानी या ऋतु का इसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। लोहे को किस प्रकार ऐसा बनाया गया, कि इस पर जंग भी न लगे, यह एक ऐसा रहस्य है, जिसे वर्त्तमान वैज्ञानिक भी नहीं समझ सके हैं। विज्ञान ने गुप्त-काल में कैसी उन्नति की थी, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है।

वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता में गणित और ज्योतिष के अतिरिक्त अन्य बहुत-से विषयों का भी प्रतिपादन किया गया है। तलवारों को किस प्रकार तीक्ष्ण बनाया जाए सोने व रत्नों के आभूषण कैसे तैयार किये जाएं, मुक्ता, वैदूर्य, रत्न आदि की क्या पहचान है; वृक्ष किस प्रकार मौसम से भिन्न दूसरे समय में भी फल दे सकते हैं; घोड़े, हाथी, कुत्ते, आदि में अच्छे या बुरे की पहचान कैसे की जाय; मंदिर, राजप्रासाद आदि कैसे बनाये जाएँ; भूमि में नीचे कहाँ जल की धारा है यह कैसे जाना जाय; बादलों के कितने प्रकार होते हैं, और वर्षा या मौसम के भविष्य का पता कैसे लगाया जाय; आदि सब विषयों पर वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में विचार किया है। इससे प्रकट होता है, कि गुप्त-काल के विचारक इन सब बातों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में व्यापृत रहते थे।

(२) दार्शनिक साहित्य

षड्दर्शनों का निर्माण मौर्योत्तर-काल में हो चुका था, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं। पर दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त-काल में भी जारी रहा। मीमांसा पर शबरभाष्य ३०० ई० के लगभग लिखा गया था। इसकी स्थिति वही है जो कि पतंजलि के महाभाष्य की पाणिनीय व्याकरण के सम्बन्ध में है। शबरभाष्य में केवल याज्ञिक अनुष्ठानों का ही प्रतिपादन नहीं किया गया, अपितु आत्मा, परमात्मा, मुक्ति आदि दार्शनिक विषयों की भी विस्तार से मीमांसा की गई है। मीमांसा-सूत्रों में जिन विचारों को सूक्ष्म रूप से प्रकट किया गया था, शबरभाष्य में उन्हीं का बहुत विकास किया गया है। उपवर्ष नाम का एक अन्य दार्शनिक तीसरी सदी के प्रारम्भ में हुआ, जिसके कई उद्धरण शबर ने दिये हैं। सांख्यदर्शन का प्रसिद्ध ग्रंथ सांख्यकारिका चौथी सदी के शुरु में लिखा गया था, जिसका लेखक ईश्वरकृष्ण है। सांख्यदर्शन तो मौर्योत्तर-युग में बन चुका था, पर इस गुप्त-युग में वह और विकसित हुआ, और ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उसे एक अत्यन्त सुन्दर रूप दे दिया। योगसूत्रों पर भी इस युग में व्यासभाष्य लिखा गया। यह माना जाता है, कि योगसूत्रों का रचयिता महर्षि पतंजलि था, पर उनकी विशद रूप से व्याख्या आचार्य व्यास ने की। योग के इस व्यासभाष्य का रचनाकाल तीसरी सदी के अन्त में माना गया है।

न्यायसूत्रों पर भी इस युग में वात्स्यायन-भाष्य लिखा गया। इस भाष्य में बौद्धों के माध्यमिक और योगाचार सम्प्रदायों के मंतव्यों का खण्डन किया गया है। बौद्धों के इन सम्प्रदायों का विकास गुप्त-काल से पहले हो चुका था, अतः यह स्पष्ट है, कि उनके मन्तव्यों का खण्डन करने वाला यह वात्स्यायन भाष्य गुप्त-काल की ही कृति है। वैशेषिक दर्शन के प्राचीन सूत्रों की विशद-व्याख्या करने के लिये आचार्य प्रशस्तपाद ने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इस युग में लिखा। यह 'पदार्थ धर्म संग्रह' वैशेषिक दर्शन का एक अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है।

बौद्धों के भी दार्शनिक साहित्य का इस युग में बहुत विकास हुआ। कनिष्क के समय में बौद्ध-धर्म दो प्रमुख सम्प्रदायों में विभक्त हो गया था—महायान और हीनयान। महायान का प्रचार मुख्यतया गांधार, कम्बोज और उत्तर के अन्य प्रदेशों में आहू। हीनयान का केन्द्र लंका में था। बरमा, स्याम, कम्बोडिया और पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों में भी इसी का प्रचार हुआ। इस काल में महायान और हीनयान—दोनों में बहुत-से नये दार्शनिक विचारों का विकास हुआ। प्राचीन वैदिक और पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के कारण विविध धार्मिक विचारों में जो संघर्ष प्रारम्भ हुआ था, उसने दार्शनिक विचारों के विकास में बहुत सहायता दी। इस युग में बौद्धों और अन्य धर्मावलम्बियों में प्रायः शास्त्रार्थ हुआ करते थे। दोनों तरफ के विद्वान् पण्डित अपने-अपने मतव्यों का तर्क और युक्ति से प्रतिपादन करने में तत्पर रहते थे। इसी लिये इस काल में दार्शनिक साहित्य खूब उन्नत हुआ।

पांचवी सदी के प्रारम्भ में बुद्धघोष नाम का एक बड़ा विद्वान् हुआ। यह मगध का रहने वाला था। वैदिक धर्म का परित्याग कर इस पण्डित ने बौद्धधर्म स्वीकार किया, और लंका में अनुराधपुर के विहार को अपना कार्यक्षेत्र निश्चित किया। इसकी कृतियों में सबसे प्रसिद्ध विसुद्धिमग्ग (विशुद्धि मार्ग) है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है, कि शील, समाधि और प्रज्ञा से मनुष्य किस प्रकार निर्वाणपद को प्राप्त कर सकता है। त्रिपिटकों पर भी बुद्धघोष ने भाष्य लिखे। हीनयान सम्प्रदाय की उन्नति में बुद्धघोष का बड़ा हाथ है। उसके कुछ समय बाद बुद्धदत्त नाम के मागध पण्डित ने लंका जाकर अभिधम्मावतार, रूपारूपविभाग और विनयविनिच्चय नाम के ग्रंथ लिखे। हीनयान के धार्मिक व दार्शनिक साहित्य में इन दो मागध पण्डितों के ग्रंथों का बहुत ऊँचा स्थान है।

गुप्त-काल में काश्मीर, गांधार और कम्बोज में भी हीनयान धर्म का प्रचार हुआ। लंका के अनेक बौद्ध-भिक्षु इस युग में भारत आये, और उन्होंने अपने सिद्धान्तों का यहां प्रचार किया। उत्तर पश्चिमी भारत में वसुबन्धु नाम का प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित इसी युग में हुआ, जिनके लिखे ग्रंथ अभिधर्मकोष में बौद्ध-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को इतने सुन्दर रूप में प्रतिपादित किया गया है, कि बौद्धों के सभी सम्प्रदाय उसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार करते है। पर उत्तर-पश्चिमी भारत में मुख्यतया महायान का ही प्रचार रहा। इसके भी दो मुख्य सम्प्रदाय थे—माध्यमिक और योगाचार। माध्यमिक सम्प्रदाय का प्रवर्तक नागार्जुन था। उसका प्रमुख शिष्य आर्यदेव था, जिसने तीसरी सदी में चतुःशतक नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ लिखा। महायान-सम्प्रदाय के दो अन्य

प्रसिद्ध ग्रंथ वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता और प्रज्ञापारमिताहृदयसूत्र भी इसी सदी में लिखे गये। योगाचार-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक मैत्रेयनाथ दूसरी सदी के अन्त में हुआ था। पर इस सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों का विकास गुप्त-काल में ही हुआ। योगाचार-सम्प्रदाय के विकास में आचार्य असंग का बड़ा हाथ है। बुद्धघोष के समान यह भी पहले वैदिक धर्म का अनुयायी था, पर बाद में बौद्ध हो गया था। इसने तीसरी सदी के अन्त में महायान-सम्परिग्रह, योगाचार-भूमिशास्त्र और महायानसूत्रालंकार नाम के प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे। असंग प्रकाण्ड पण्डित था। भारतीय दर्शनशास्त्र का उसे बहुत उत्तम ज्ञान था। बौद्धों में दार्शनिक विचारों के विकास का बहुत-कुछ श्रेय असंग और उसके भाई वसुबन्धु को ही है। वसुबन्धु ने जहाँ अभिधर्मकोष लिखा, जो सब बौद्धों को समानरूप से मान्य था, वहाँ अनेक दार्शनिक ग्रंथों की भी रचना की। विज्ञानवाद का वही बड़ा प्रवक्ता हुआ। इस बौद्ध-दर्शन के अनुसार संसार मिथ्या है। सत्य सत्ता केवल 'विज्ञान' है। अन्य सब पदार्थ शशशृंग व बन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या हैं। जलती हुई लकड़ी को घुमाने से जैसे आग का चक्कर-सा नजर आता है, पर वस्तुतः उसकी कोई सत्ता नहीं होती, ऐसे ही संसार में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका वस्तुतः कोई सत्ता नहीं है। यह विचारधारा वेदान्त के अद्वैतवाद से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। वसुबन्धु ने विंशतिका और त्रिशतिका ग्रंथों में इसी विज्ञानवाद का सुचारु रूप से प्रतिपादन किया है। उसने अपने अन्य ग्रन्थों में सांख्य, योग, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों के सिद्धान्तों का भी खण्डन किया है। असग और वसुबन्धु बड़े भारी पण्डित थे, और बौद्ध-दर्शन के विकास में उनका बहुत बड़ा भाग है। बौद्धों के पृथक् तर्कशास्त्र का प्रारम्भ भी वसुबन्धु द्वारा ही हुआ, पर बौद्ध-तर्कशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य दिङ्नाग को है। दिङ्नाग गुप्त-काल में चौथी सदी के अन्त में हुआ था। उसने न्याय और तर्कशास्त्र पर बहुत-सी पुस्तकें लिखीं। दुर्भाग्यवश ये इस समय उपलब्ध नहीं होतीं, यद्यपि उनके अनेक उद्धरण उद्योतकर और कुमारिलभट्ट सदृश सनातनधर्मी पण्डितों ने अपने ग्रन्थों में दिये हैं। दिङ्नाग की एक पुस्तक न्यायमुख चीनी और तिब्बती भाषाओं में मिली है। पर संस्कृत में अभी तक उसका कोई ग्रन्थ नहीं मिला। दिङ्नाग के एक शिष्य ने न्यायप्रवेश नामक पुस्तक पाँचवीं सदी के शुरू में लिखी थी, जो इस समय संस्कृत में उपलब्ध है।

जैन-धर्म के भी अनेक उत्कृष्ट दार्शनिक ग्रंथ इस युग में लिखे गये। पुराने जैन धर्म-ग्रन्थों पर अनेक भाष्य इस समय लिखे गये, जिन्हें निर्युक्ति और चूर्णि कहते हैं। इस युग के जैन-भाष्यकारों में भद्रबाहु द्वितीय का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसने बहुत-से प्राचीन ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिख कर न केवल उनके आशय को अधिक स्पष्ट किया, अपितु नवीन शैली में दार्शनिक विचारों को भी प्रकट किया। जैनों के सब प्राचीन ग्रन्थ प्राकृत-भाषा में थे। पर गुप्त-काल में संस्कृत का पुनरुत्थान हुआ था। पौराणिक धर्म के लेखकों ने तो इस युग में संस्कृत में अपने सब ग्रन्थ लिखे ही थे, पर बौद्ध-धर्म में भी महायान-सम्प्रदाय के ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखे गये। इस युग में जैनों ने भी संस्कृत में अपनी पुस्तकों को लिखना शुरू किया। आचार्य उमास्वाति ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और सिद्धसेन ने अपना न्यायावतार संस्कृत में ही लिखा।

(३) धार्मिक दशा

यज्ञों का प्रचार—मौर्योत्तर-युग में प्राचीन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त-काल में उसने और भी जोर पकड़ा। प्रायः सभी गुप्त सम्राट् भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर अहिंसावाद-प्रधान वैष्णव धम को मानते हुए भी उन्होंने प्राचीन वैदिक परम्परा के अनुसार अश्वमेध यज्ञ किये। महाभारत, मनुस्मृति और मीमांसासूत्रों में यज्ञों की उपयोगिता पर बहुत बल दिया गया है। इस काल के आर्य पण्डित वैदिक धर्म का पुनः प्रचार करने में व्यापृत थे। यही कारण है, कि यज्ञों की परिपाटी इस युग में फिर से शुरू हो गयी थी। न केवल गुप्त-सम्राटों ने, अपितु इस युग के अन्य अनेक राजाओं ने भी अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। दक्षिणी भारत में शालंकायन-वंश के राजा विजयदेव वर्मन् और त्रैकूटक-वंश के राजा दह्लसेन ने इसी काल में अश्वमेध यज्ञ किये। केवल अश्वमेध ही नहीं, अग्निष्टोम, वाजपेय, वाजसनेय, बृहस्पतिसव आदि प्राचीन वैदिक यज्ञों के अनुष्ठान का भी इस युग में उल्लेख आता है। इन यज्ञों के अवसर पर जो यूप बनाये गये थे, उनमें से भी कतिपय के अवशेष वर्तमान समय में उपलब्ध हुए हैं। न केवल बड़े-बड़े सम्राट्, अपितु विविध सामन्त राजा भी इस युग में विविध यज्ञों के अनुष्ठान में तत्पर थे। बौद्ध-धर्म के प्रबल होने के समय में इन यज्ञों की परिपाटी बहुत कुछ नष्ट हो गयी थी। यही कारण है, कि शैशुनाग, नन्द और मौर्य राजाओं ने इन प्राचीन यज्ञों का अनुष्ठान नहीं किया था। यज्ञों से कोई लाभ नहीं है, यह विचार उस समय प्रबल हो गया था। पर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के इस युग में अब यह परिपाटी फिर प्रारम्भ हुई। यज्ञों को निमित्त बनाकर मनुष्य दीन, अनाथ, आतुर और दुखी लोगों की बहुत सहायता कर सकता है, यह विचार इस समय बहुत जोर पकड़ गया था। सम्भवतः, इसीलिये समुद्रगुप्त ने लिखा था, कि पृथिवी का जय करने के बाद अब वह अपने सुकर्मों से स्वर्ग की विजय करने में तत्पर है।

वैष्णव और शैव-धर्म—पुराने वैदिक धर्म में परिवर्त्तन होकर जिन नये पौराणिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ था, उनपर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। भागवत और शैव धर्म इस युग में बहुत जोर पकड़ रहे थे। गुप्त-सम्राट् वैष्णव भागवत धर्म के अनुयायी थे। उनके संरक्षण के कारण इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। इस युग में बहुत-से वैष्णव मंदिरों का निर्माण हुआ। अनेक शिलालेखों में भक्त धर्मप्राण लोगों द्वारा बनवाये गये विष्णु-मंदिरों और विष्णुध्वजों का उल्लेख है। विष्णु के दस अवतारों में से वराह और कृष्ण की पूजा इस समय अधिक प्रचलित थी। अनुश्रुति के अनुसार वराह ने प्रलय के समय मग्न होती हुई पृथिवी का उद्धार किया था। दस्युओं और म्लेच्छों के आक्रमणों से भारतभूमि में जो एक प्रकार का प्रलय-सा उपस्थित हो गया था, उसका निराकरण करने वाले सम्राटों के इस शासनकाल में यदि भगवान् के वराहावतार की विशेष रूप से पूजा हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। राम को भगवान् विष्णु का अवतार मानकर पूजा करने की प्रवृत्ति इस समय तक प्रचलित नहीं हुई थी। कृष्ण की पूजा का उल्लेख इस युग के बहुत से शिलालेखों में पाया जाता है। पर राम की पूजा के सम्बन्ध में कोई ऐसा निर्देश इस युग के अवशेषों में उपलब्ध नहीं होता, यद्यपि राम के परम पावन

चरित्र के कारण उसमें भगवान् के अंश का विचार इस समय में विकसित होना आरम्भ हो गया था। कालिदास ने इसका निर्देश किया है। पर राम की पूजा भारत में छठी सदी के बाद ही शुरू हुई।

गुप्त-काल में बहुत-से शिव मंदिरों का भी निर्माण हुआ। गुप्त-सम्राटों के शिलालेखों में दो अमात्यों का उल्लेख आता है, जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके नाम शाब और पृथ्वीषेण हैं। इन्होंने अपने नाम को अमर करने के लिये शिव के मंदिरों का निर्माण कराया। गुप्तों के पूर्ववर्ती भारशिव और वाकाटक राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुप्त-काल में भी वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशों के राजा मुख्यतया शैव धर्म का अनुसरण करते थे। हूण राजा मिहिरगुल ने भी शैव धर्म ग्रहण किया था। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि वैष्णव धर्म के साथ-साथ शैव धर्म भी गुप्त-काल में प्रचलित था। शैव मंदिरों में जहाँ शिवलिंग की स्थापना की जाती थी, वहाँ जटाजूटधारी, सर्प, गंगा और चन्द्रमा से युक्त शिव की मानवी मूर्ति को भी प्रतिष्ठापित किया जाता था। शैव राजाओं के सिक्कों पर प्रायः त्रिशूल और नन्दी के चित्र अंकित रहते हैं।

मौर्योत्तर-काल में सूर्य के भी मंदिरों की स्थापना शुरू हुई थी। ऐसा पहला मंदिर सम्भवतः मुलतान में बना था। पर गुप्त-काल में मालवा, ग्वालियर, इंदौर और बघेलखण्ड में भी सूर्य-मंदिरों का निर्माण हुआ। इससे सूचित होता है, कि सूर्य की पूजा भी इस युग में अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही थी।

बौद्ध-धर्म—सनातन वैदिक धर्म के पुनरुद्धार से बौद्ध और जैन धर्मों का जोर कुछ कम अवश्य हो गया था, पर अभी भारत में उनका काफी प्रचार था। काश्मीर, पंजाब और अफगानिस्तान के प्रदेशों में प्रायः सभी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। जब चीनी यात्री फाइयान भारत में यात्रा के लिये आया, तो उसने देखा कि इन प्रदेशों में हजारों बौद्ध-विहार विद्यमान थे, जिनमें लाखों की संख्या में भिक्षु लोग निवास करते थे। वर्त्तमान उत्तर-प्रदेश, बिहार, बंगाल और मध्यप्रदेश में भी बौद्ध-धर्म बहुत समृद्ध दशा में था। फाइयान के अनुसार कपिलवस्तु, श्रावस्ती, वैशाली सदृश पुरानी नगरियां अब बहुत कुछ क्षीण दशा में थीं। पर इसका कारण बौद्ध-धर्म का क्षय नहीं था। भारत के राजनैतिक जीवन में पुराने गणराज्यों और जनपदों का स्थान अब शक्तिशाली मागध-साम्राज्य ने ले लिया था। अब भारत की वैभवशाली नगरियां पाटलिपुत्र और उज्जयिनी थीं। पर मथुरा, कौशाम्बी, कसिया (कुसीनगर) और सारनाथ में अब भी बौद्ध-विहार बड़ी समृद्ध दशा में विद्यमान थे। अजन्ता, एल्लोरा, कन्हेरी, जुन्नार आदि के गुहामंदिरों में अब भी बौद्ध-भिक्षु हजारों की संख्या में रहते थे। खास मगध में ही नालन्दा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के अनुपम गौरव का प्रारम्भ गुप्त-काल में ही हुआ था। इस युग में आन्ध्र देश बौद्ध-धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। उसे आचार्य नागार्जुन ने अपना प्रधान कार्यक्षेत्र चुना था, और उसकी शिष्य-परम्परा के प्रयत्नों के कारण वह प्रदेश बौद्ध-धर्म का गढ़-सा बन गया था। नागार्जुनीकोण्ड नाम का बड़ा समृद्ध विहार वहाँ विद्यमान था, जिसमें हजारों की संख्या में भिक्षु लोग निवास करते थे। इस वैभवपूर्ण विहार के भग्नावशेष अब तक भी विद्यमान हैं। कांची और वल्लभी में भी बड़े-बड़े विहार इस काल में विद्यमान थे, जो बौद्ध दर्शन, धर्म और शिक्षा के बड़े केन्द्र माने जाते

थे। इनमें भिक्षुओं को भोजन, वस्त्र आदि सब जनता की तरफ से दिये जाते थे। राजा और प्रजा—सब इनकी सहायता के लिये उदारता के साथ दान देते थे। वैष्णव और शैव-धर्मों के प्रचार के बावजूद भी गुप्त-काल में बौद्ध-धर्म पर्याप्त उन्नत और विस्तीर्ण था।

जैन-धर्म—जैन-धर्म के इतिहास में भी गुप्त-काल का बहुत महत्त्व है। इस समय तक जैनों में दो मुख्य सम्प्रदाय थे—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध महासभाएँ गुप्त-काल में ही हुईं। पहली महासभा वल्लभी में ३१३ ईस्वी में हुई थी। इसके अध्यक्ष आचार्य नागार्जुन (जैन नागार्जुन, बौद्ध नागार्जुन नहीं) थे। दूसरी महासभा भी वल्लभी में ही ४५३ ईस्वी में आचार्य क्षमाश्रमण के सभापतित्व में की गयी। इन महासभाओं में यह निश्चय किया गया, कि जैन-धर्म के मान्य ग्रंथों के शुद्ध पाठ कौन-से हैं, और जैनों के कौन-से सिद्धान्त प्रामाणिक हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मुख्यतया पश्चिमी भारत में प्रचलित था। वल्लभी और मथुरा इसके सर्वप्रधान केन्द्र थे। दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया पूर्वी भारत में था, और बंगाल की पुण्ड्रवर्धन नगरी इस काल में उसका केन्द्र थी। दक्षिण भारत में भी दिगम्बर सम्प्रदाय का ही प्रचार था। मैसूर और कर्नाटक के निवासी प्रायः जैन-धर्म के ही अनुयायी थे। सुदूर दक्षिण में तामिल लोगों में भी इस समय तक जैन-धर्म फैल चुका था। पल्लव और पांड्य-वंशों के अनेक राजाओं ने भी जैन-धर्म को स्वीकार किया था। तामिल भाषा में जैन-धर्म की बहुत-सी पुस्तकें इस काल में लिखी गयीं। तामिल-संस्कृति का सर्वप्रधान केन्द्र मदुरा था। वहाँ के 'संगमों' में तामिल काव्य और साहित्य का बहुत उत्तम विकास हुआ था। ४७० ईस्वी में जैन लोगों ने मदुरा में एक विशेष 'संगम' का आयोजन किया। इसका अध्यक्ष आचार्य वज्रनन्दी था। जैन-धर्म के तामिल ग्रंथों के निर्माण में इस संगम ने महत्त्व का कार्य किया। दक्षिणी आरकोट जिले की पाटलिकापुरी में जैनों का एक प्रसिद्ध मंदिर था, जहाँ मुनि सर्वनन्दी ने ४५८ ईस्वी में लोकविभंग नाम के प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना की थी। जैन-दर्शन का भी विकास गुप्त-काल में हुआ। आचार्य सिद्धसेन ने न्यायवार्ता की रचना कर उस तर्कप्रणाली का प्रारम्भ किया, जिसके कारण आगे चलकर जैन-पण्डित दर्शन और न्याय में अन्य सम्प्रदायों के समकक्ष हो गये।

धार्मिक सहिष्णुता—इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि गुप्त-काल में पौराणिक आर्य-धर्म, बौद्ध-धर्म और जैन-धर्म भारत में साथ-साथ फल-फूल रहे थे। तीन मुख्य धर्मों और उनके बहुत-से सम्प्रदायों व मतमतांतरों के एक साथ रहते हुए भी इस काल में साम्प्रदायिक विद्वेष का अभाव था। सब मतों के आचार्य व पण्डित आपस में शास्त्रार्थों में व्यापृत रहते थे। अपने ग्रंथों में वे जहाँ एक दूसरे का युक्ति व तर्क से खण्डन करते थे, वहाँ पण्डित-मण्डलियों और जनसाधारण के समक्ष भी उनमें शास्त्रार्थ व वाद-विवाद होते रहते थे। पर इनके कारण जनता में धार्मिक विद्वेष उत्पन्न नहीं होता था। इस काल के राजा धर्म के मामले में सहिष्णु थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त परमभागवत थे, वे वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर उन्होंने अपने राजकुमारों की शिक्षा के लिये आचार्य वसुबन्धु को नियत किया था, जो अपने समय का प्रख्यात बौद्ध-विद्वान् था। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। राजा शान्तमूल स्वयं वैदिक धर्म

का मानने वाला था, पर उसकी बहन, लड़कियां और पुत्रवधुएं बौद्ध-धर्म को मानती थीं। गुप्त-वंश में भी कई सम्राट् बौद्ध हुए। पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त और बुधगुप्त धर्म की दृष्टि से बौद्ध थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का बड़ा लड़का पुरुगुप्त बौद्ध था, और छोटा लड़का स्कंदगुप्त परमभागवत था। यह इस युग की धार्मिक सहिष्णुता का ज्वलन्त उदाहरण है। दान के अवसर पर राजा लोग सब सम्प्रदायों को दृष्टि में रखते थे। सम्राट् वैण्यगुप्त स्वयं शैव था, पर उसने महायान सम्प्रदाय के वैवर्त्तक संघ को उदारतापूर्वक दान दिया था। नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध-विहार के वैभव का सूत्रपात वैष्णव-धर्मावलम्बी गुप्त-सम्राटों के दान से ही हुआ था। उच्च राजकीय कर्मचारियों को नियुक्त करते समय भी धर्म-भेद को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। वैष्णव गुप्त-सम्राटों के कितने ही उच्च राजकर्मचारी बौद्ध थे। ये बौद्ध कर्मचारी अपने धर्म का स्वतंत्रता के साथ अनुसरण करते थे और अपनी श्रद्धानुसार बौद्ध-विहारों और चैत्यों को सहायता देते थे।

सनातन पौराणिक धर्म के विविध सम्प्रदायों में भी इसी प्रकार सौमनस्य की भावना विद्यमान थी। प्राचीन आर्य-धर्म के इतिहास में यह युग समन्वय का था। शिव, विष्णु, सूर्य, दुर्गा आदि देवी-देवता एक ही भगवान् के विविध रूप हैं, यह स्मार्त भावना इस काल में प्रारम्भ हो गयी थी। साधारण आर्य गृहस्थ सब मंदिरों को, सब देवी-देवताओं को और सब धर्माचार्यों को सम्मान की दृष्टि से देखता था।

पर बौद्ध और जैन धर्म सनातन पौराणिक धर्म से इस युग में पृथक् होते जा रहे थे। मौर्योत्तर-काल में बौद्ध-भिक्षुओं और जैन-मुनियों के प्रति श्रद्धा की जो भावना सर्वसाधारण भारतीय जनता में थी, वह अब क्षीण हो रही थी। इसका कारण यह है, कि पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के युग में जो प्रबल धार्मिक आन्दोलन शुरू हुए थे, उन्होंने जनता में बौद्धों और जैनों के प्रति विरोध की भावना को बहुत कुछ प्रज्वलित कर दिया था। पुष्यमित्र शुंग ने बौद्धों पर जो अत्याचार किये, वे इसी भावना के परिणाम थे। अब समय के साथ-साथ विधर्मियों में पारस्परिक विरोध तो मन्द पड़ गया था, पर बौद्ध लोग पौराणिक हिन्दुओं से पृथक् हैं, यह विचार जनता में भली-भांति उद्बुद्ध हो गया था।

(४) गुप्त-साम्राज्य की शासन-व्यवस्था

साम्राज्य का सुशासन—मौर्य-वंश के शासनकाल के सम्बन्ध में जैसा परिचय कौटलीय अर्थशास्त्र से मिलता है, वैसा परिचय गुप्तों के शासन के सम्बन्ध में किसी ग्रंथ से नहीं मिलता। मैगस्थनीज जैसा कोई विदेशी यात्री भी इस काल में नहीं आया। चीनी यात्री फाइयान पांचवीं सदी के शुरू में भारत-यात्रा के लिये आया था। वह पाटलिपुत्र में रहा भी था। उसके भ्रमणकाल में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का शासन था। भारत के बहुत बड़े प्रदेश में उसका साम्राज्य विस्तृत था। फाइयान पेशावर से बंगाल की खाड़ी तक सर्वत्र गया, पर उसे राज्य, शासन, आर्थिक दशा आदि बातों से कोई दिलचस्पी नहीं थी। वह बौद्ध-भिक्षु था, बौद्धधर्म के तीर्थस्थानों के दर्शन तथा धार्मिक ग्रन्थों के अनुशीलन के लिये ही वह इस देश में आया था। उसने भारत के प्रतापी सम्राट् तक का नाम अपने यात्रा-विवरण में नहीं लिखा। इसी लिये उसके विवरण से हमें गुप्त-साम्राज्य के शासन का कुछ भी परिचय नहीं मिलता। पर फाइयान

के निम्नलिखित वाक्य गुप्त-काल के शासन की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करने के लिये पर्याप्त हैं—

"प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। वे राजा की भूमि जोतते हैं, और उसका अंश देते हैं। जहां चाहे रहें। राजा न प्राणदण्ड देता है, न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्था के अनुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थदण्ड (जुर्माना) दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतीहार और सहचर वेतनभोगी होते हैं। सारे देश में सिवाय चाण्डाल के कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन खाता है। दस्यु को चाण्डाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं और नगर में जब आते हैं, तो सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते हैं, कि लोग जान जायें और बचकर चलें, कहीं उनसे छू न जायें। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार (बूचड़खाने) और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।"

फाइयान जिन लोगों के साथ रहा था, उनका जीवन सचमुच ऐसा ही था। पर मांस, मद्य आदि का सेवन सर्वसाधारण जनता में था या नहीं, इस विषय में बारीकी से परिचय प्राप्त करने का अवसर फाइयान को नहीं मिला। बौद्ध, जैन और वैष्णव धर्मों के प्रचार के कारण भारत का सामाजिक और वैयक्तिक जीवन उस युग में निःसंदेह बहुत ऊंचा था। राज्यशासन की उत्कृष्टता के विषय में फाइयान के निर्देश वस्तुतः बड़े महत्त्व के हैं। फाइयान भारत में हजारों मीलों तक भ्रमण करता रहा। पर उसे कहीं भी चोर, डाकू व दस्युओं का सामना नहीं करना पड़ा। लगभग दो सदी बाद जब ह्यूनत्सांग भारत-यात्रा को आया, तो कई जगह उस पर डाकुओं ने हमले किये। उस समय भारत में किसी एक प्रतापी राजवंश का शासन नहीं था। राजनीतिक अव्यवस्था के कारण देश में शान्ति नहीं रह गयी थी। पर फाइयान के समय में प्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन था, और सब जगह शांति विराज रही थी। यही कारण है, कि फाइयान ने देश को सुखी और समृद्ध पाया।

साम्राज्य का स्वरूप—कौटलीय अर्थशास्त्र जैसे ग्रंथ और मेगस्थनीज जैसे विदेशी यात्री के अभाव में भी हमारे पास अनेक ऐसे साधन हैं, जिनसे हम गुप्त-साम्राज्य के शासन के सम्बन्ध में बहुत सी उपयोगी बातें जान सकते हैं। गुप्त-सम्राटों के जो बहुत-से शिलालेख व सिक्के मिले हैं, वे इस युग के शासन के विषय में बहुत उत्तम प्रकाश डालते हैं। गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत सब प्रदेशों पर गुप्त-सम्राटों का सीधा शासन नहीं था। उनके अधीन अनेक महाराजा, राजा व गणराज्य थे, जो अपने आन्तरिक शासन में स्वतंत्र थे। सामन्तों को उनके राज्य व शक्ति के अनुसार महाराजा व राजा कहते थे। सब सामन्तों की स्थिति भी एक समान नहीं थी। आर्यावर्त्त या मध्यदेश के सामन्त गुप्त-सम्राटों के अधिक प्रभाव में थे। सुदूरवर्ती सामन्त प्रायः स्वतंत्र स्थिति रखते थे, यद्यपि वे गुप्त-सम्राटों की अधीनता को स्वीकार करते थे। यही दशा गणराज्यों की थी। शासन की दृष्टि से हम गुप्त-साम्राज्य को निम्नलिखित भागों में बांट सकते हैं—

(१) गुप्तवंश के सम्राटों के शासन में विद्यमान प्रदेश—ये शासन की सुगमता के लिए भुक्तियों (प्रान्तों व सूबों) में विभक्त थे। प्रत्येक भुक्ति में अनेक 'विषय' और उनके भी विविध विभाग होते थे।

(२) आर्यावर्त्त व मध्यदेश के सामन्त—इनकी यद्यपि पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता थी, पर ये सम्राट् की अधीनता में ही सब कार्य करते थे।

(३) गणराज्य—प्राचीन यौधेय, मालव, आर्जुनायन, प्रार्जुन, काक, खर्परिक मद्र आदि अनेक गणराज्य गुप्तों के शासन-काल में भी विद्यमान थे। वे गुप्त-सम्राट् के शासन को स्वीकार करते थे।

(४) अधीनस्थ राजा—दक्षिण कोशल, महाकांतार, पिष्टपुर, कोट्टूर, ऐरंड-पल्ल, देवराष्ट्र, अवमुक्त आदि बहुत-से राज्य इस काल में पृथक् रूप से विद्यमान थे। पर उनके राजाओं ने गुप्त-सम्राटों की शक्ति के सम्मुख सिर झुका दिया था।

(५) सीमावर्ती राज्य—आसाम, नेपाल, समतत, कर्तृपुर आदि के सीमावर्ती राज्य प्रायः स्वतंत्र सत्ता रखते थे। पर ये सब गुप्त-सम्राटों को भेंट-उपहार भेजकर व उनकी आज्ञाओं का पालन कर उन्हें संतुष्ट रखते थे। ये सब गुप्त-सम्राटों के दरबार में उपस्थित भी होते थे।

(६) अनुकूल मित्र-राज्य—सिंहलद्वीप और भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमा के कुशाण-राजा गुप्त-सम्राटों को भेंट-उपहार व कन्यादान आदि उपायों से मित्र बनाये रखने के लिये उत्सुक रहते थे। यद्यपि उनके राज्य गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे, तथापि वे गुप्त-साम्राटों को अपना अधिपति मानते थे। इन्हें हम अनुकूल मित्र-राज्य कह सकते हैं।

केन्द्रीय शासन—गुप्त-साम्राज्य का शासन सम्राट् में केन्द्रित था। मौर्यों के समान गुप्तों ने भी अपनी वैयक्तिक शक्ति, साहस और प्रताप से एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसका शासन भी वे स्वयं ही 'एकराट्' रूप में करते थे। ये गुप्त-राजा अपने को 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर', 'परम भागवत', 'परम दैवत' 'सम्राट्', 'चक्रवर्ती' आदि विरुदों से विभूषित करते थे। विविध देवताओं और लोकपालों के अंशों से राजा शक्ति प्राप्त करता है, यह भाव उस समय बल पकड़ गया था। समुद्र-गुप्त को एक शिलालेख में 'लोकधाम्नो देवस्य' भी कहा गया है। इस लेख के अनुसार समुद्रगुप्त 'लोक-नियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिये ही मनुष्य रूप था, वह संसार में रहने वाला 'देवता' ही था। राजाओं के प्रति यह दैवी भावना इस युग की स्मृतियों से भी प्रगट होती है। राजा देवताओं के अंश से बना होने के कारण दैवी होता है, यह भाव याज्ञवल्क्य और नारद-स्मृतियों में विद्यमान है। कौटलीय अर्थशास्त्र के समय में यह विचार था अवश्य, पर उसका प्रयोग गुप्तचर लोग सर्व-साधारण लोगों में राजा का प्रभाव उत्पन्न करने के लिये ही करते थे। पर गुप्त-काल तक यह एक सर्व-सम्मत सिद्धान्त हो गया था, और शिलालेखों तक में उसका उल्लेख होने लगा था।

सम्राट् को शासनकार्य में सहायता देने के लिये मंत्री या सचिव होते थे, जिनकी कोई संख्या निश्चित नहीं थी। नारदस्मृति ने राज्य की एक सभा का उल्लेख किया है, जिसके सभासद् धर्म-शास्त्र में कुशल, अर्थज्ञान में प्रवीण, कुलीन, सत्यवादी और शत्रु व

मित्र को एक दृष्टि से देखने वाले होने चाहिएँ। राजा अपनी राजसभा के इन सभासदों के साथ राज्यकार्य की चिन्ता करता था, और उनके परामर्श के अनुसार कार्य करता था। देश का कानून इस काल में भी परम्परागत धर्म, चरित्र और व्यवहार पर आश्रित था। जनता के कल्याण और लोकरंजन को ही राजा लोग अपना उद्देश्य मानते थे। इसका परिणाम यह था, कि परमप्रतापी गुप्त-सम्राट् भी स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं हो सकते थे।

साम्राज्य के मुख्य-मुख्य पदों पर काम करनेवाले कर्मचारियों को 'कुमारामात्य' कहते थे। कुमारामात्य राजघराने के भी होते थे और दूसरे लोग भी। साम्राज्य के विविध अंगों—भुक्ति, विषय आदि का शासन करने के लिये जहाँ इनकी नियुक्ति होती थी, वहाँ सेना, न्याय आदि के उच्च पदों पर भी ये कार्य करते थे। कुमारामात्य साम्राज्य की स्थिर सेवा में होते थे, और शासन-सूत्र का संचालन इन्हीं के हाथों में रहता था।

केन्द्रीय शासन के विविध विभागों को 'अधिकरण' कहते थे। प्रत्येक अधिकरण की अपनी-अपनी मुद्रा (सील) होती थी। गुप्त-काल के शिलालेखों व मुद्राओं आदि से निम्नलिखित अधिकरणों और प्रधान राजकर्मचारियों के विषय में परिचय मिलता है—

(१) महासेनापति—गुप्त-सम्राट् स्वयं कुशल सेनानायक और योद्धा थे। वे दिग्विजयों व विजययात्राओं के अवसर पर स्वयं सेना का संचालन करते थे। पर उनके अधीन महासेनापति भी होते थे, जो साम्राज्य के विविध भागों में, विशेषतया सीमान्त प्रदेशों में, सैन्यसंचालन के लिये नियत रहते थे। सेना के ये सबसे बड़े पदाधिकारी 'महासेनापति' कहाते थे।

(२) महादण्डनायक—महासेनापति के अधीन अनेक महादण्डनायक होते थे, जो युद्ध के अवसर पर सेना का नेतृत्व करते थे। गुप्त-काल की सेना के तीन प्रधान विभाग होते थे, पदाति, घुड़सवार और हाथी। महादण्डनायकों के अधीन महाश्वपति, अश्वपति, महापीलपति, पीलपति आदि अनेक सेनानायक रहते थे। साधारण सैनिक को 'चाट' और सेना की छोटी टुकड़ी को 'चमू' कहते थे। चमू का नायक 'चमूप' कहलाता था। युद्ध के लिये परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिंदिपाल, नाराच आदि अनेकविध अस्त्रों को प्रयुक्त किया जाता था।

(३) रणभांडागारिक—सेना के लिये सब प्रकार की सामग्री (अस्त्र-शस्त्र, भोजन आदि) को जुटाने का विभाग रणभांडागारिक के अधीन होता था।

(४) महाबलाधिकृत—सेना, छावनी और व्यूहरचना का विभाग महाबलाध्यक्ष या महाबलाधिकृत के हाथ में होता था। उसके अधीन अनेक 'अधिकृत' रहते थे।

(५) दण्डपाशिक—पुलिस विभाग का सर्वोच्च अधिकारी दण्डपाशिक कहाता था। इसके नीचे खुफिया विभाग का अधिकारी 'चौरोद्धरणिक' व 'दूत' आदि अनेक कर्मचारी रहते थे। पुलिस के साधारण सिपाही को भट कहते थे।

(६) महासान्धिविग्रहिक—इस उच्च अधिकारी का कार्य पड़ोसी राज्यों, सामन्तों और गणराज्यों के साथ संधि या विग्रह की नीति का अनुसरण करना होता था। यह सम्राट् का अत्यन्त विश्वस्त कर्मचारी होता था, जो साम्राज्य की नीति का निर्धारण करता था। किन देशों पर आक्रमण किया जाय, अधीनस्थ राजाओं व सामन्तों से क्या

व्यवहार किया जाय, ये सब बातें इसी के द्वारा तय की जाती थीं।

(७) विनय-स्थिति-स्थापक—मौर्यकाल में जो कार्य धर्म-महामात्र करते थे, वही गुप्त-काल में विनय-स्थिति-स्थापक करते थे। देश में धर्मनीति की स्थापना, जनता के चरित्र को उन्नत रखना, और विविध सम्प्रदायों में मेल-जोल रखना इन्हीं अमात्यों का कार्य था।

(८) भांडागाराधिकृत—यह कोषविभाग का अध्यक्ष होता था।

(६) महाक्षपटलिक—राज्य के सब आदेशों का रिकार्ड रखना इसके 'अधिकरण' का कार्य था। राजकीय आय-व्यय आदि के सब लेखे भी इसी आमात्य द्वारा रखे जाते थे।

(१०) सर्वाध्यक्ष—यह सम्भवतः साम्राज्य के केन्द्रीय कार्यालय का प्रधान अधिकारी होता था।

इन मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त, राज्य-कर को वसूल करते का विभाग 'ध्रुवाधिकरण' कहलाता था। इस अधिकरण के अधीन शाल्किक (भूमिकर वसूल करने वाला), गौल्मिक (जंगलों से विविध आमदनी प्राप्त करने वाला), तलवाटक व गोप (ग्रामों के विविध कर्मचारी) आदि अनेक राजपुरुष होते थे।

राजप्रासाद का विभाग बहुत विशाल होता था। महाप्रतीहार और प्रतीहार नाम के अनेक कर्मचारी उसके विविध कार्यों को संभालते थे। सम्राट् के प्राइवेट सेक्रेटरी को 'रहसि-नियुक्त' कहते थे। अन्य अमात्यों व अध्यक्षों के भी अपने-अपने 'रहसि-रहते थे।

युवराजभट्टारक और युवराज के पदों पर राजकुल के व्यक्ति ही नियत किये जाते थे। सम्राट् का बड़ा लड़का 'युवराजभट्टारक' और अन्य लड़के 'युवराज' कहाते थे। शासन में इन्हें अनेक महत्त्वपूर्ण पद दिये जाते थे। यदि कोई युवराज (राजपुत्र) कुमारामात्य के रूप में कार्य करे, तो वह 'युवराज कुमारामात्य' कहाता था। सम्राट् के निजी स्टाफ में नियुक्त कुमारामात्य 'परमभट्टारकपादीय कुमारामात्य' कहाते थे। इसी प्रकार युवराज भट्टारक के स्टाफ के बड़े पदाधिकारी 'युवराजभट्टारक-पादीय कुमारामात्य' कहे जाते थे। राजा के विविध पुत्र प्रान्तीय शासक व इसी प्रकार के अन्य ऊंचे राजपदों पर नियुक्त होकर शासन-कार्य में सम्राट् की सहायता करते थे।

विविध राजकर्मचारियों के नाम गुप्तकाल में सर्वथा नये हो गए थे। मौर्य-काल में सम्राट् को केवल 'राजा' कहते थे। बौद्ध-धर्म के अनुयायी अशोक सदृश राजा अपने साथ 'देवानां प्रियः प्रियदर्शी' विशेषण लगाते थे। पर गुप्त सम्राट् 'महाराजाधिराज' कहलाते थे, और अपने धर्म के अनुसार 'परमभागवत' या 'परममाहेश्वर' या 'परमसौगत' विशेषण लगाते थे।

पुराने मौर्यकालीन 'तीर्थों, का स्थान अब 'अधिकरणों' ने ले लिया था। उनके प्रधान कर्मचारी अब 'अधिकृत' कहाते थे।

प्रान्तीय शासन—विशाल गुप्त-साम्राज्य अनेक राष्ट्रों व देशों में विभक्त था। साम्राज्य में कुल कितने देश व राष्ट्र थे, इसकी ठीक संख्या ज्ञात नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र में अनेक 'भुक्तियां' और प्रत्येक 'भुक्ति' में अनेक 'विषय' होते थे। भुक्ति को हम

वर्त्तमान समय की कमिश्नरी के समान समझ सकते हैं। गुप्तकालीन शिलालेखों में तीर भुक्ति (तिरहुत), पुण्ड्रवर्धन भुक्ति (दीनाजपुर, राजशाही आदि), मगध भुक्ति आदि अनेक भुक्तियों का उल्लेख मिलता है। 'विषय' वर्त्तमान समय के जिलों के समान थे। प्राचीन काल के महाजनपदों और जनपदों का अब अन्त हो गया था। सैकड़ों वर्षों तक मागध साम्राज्य के अधीन रहने के कारण अपनी पृथक् सत्ता की स्मृति अब उनमें बहुत मन्द पड़ गई थी। अब उनका स्थान भुक्तियों ने ले लिया था, जिनका निर्माण शासन की सहूलियत को दृष्टि में रखकर किया जाता था।

देश या राष्ट्र के शासक के रूप में प्रायः राजकुल के मनुष्य नियत होते थे। इन्हें 'युवराज कुमारामात्य' कहते थे। इनके अपने-अपने महासेनापति, महादंडनायक आदि प्रधान कर्मचारी होते थे। युवराजकुमारामात्यों के अधीन भुक्तियों का शासन करने के लिये 'उपरिक' नियत किये जाते थे। उपरिकों की नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा की जाती सीधी थी। इस पद पर राजकुल के कुमार भी नियुक्त होते थे। प्रत्येक भुक्ति अनेक विषयों में विभक्त होती थी। विषय के शासक 'विषयपति' कहाते थे। इनकी नियुक्ति भी सम्राट् द्वारा ही की जाती थी।

गुप्तकाल के जो लेख मिले हैं, उनसे स्वराष्ट्र, मालवा, मन्दसौर और कौशाम्बी, इन चार राष्ट्रों का परिचय मिलता है। सुराष्ट्र का राष्ट्रिक (राष्ट्र का शासक) समुद्रगुप्त के समय में पर्णदत्त था, और मन्दसोर का शासन बन्धुवर्मा के हाथ में था। इसमें संदेह नहीं, कि विशाल गुप्त-साम्राज्य में अन्य भी अनेक राष्ट्र रहे होंगे, पर उनका उल्लेख इस काल के शिलालेखों में नहीं हुआ है।

भुक्ति के शासक को उपरिक के अतिरिक्त भोगिक, भोगपति और गोप्ता भी कहते थे। दामोदर गुप्त के समय में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति का शासक 'उपरिकर महाराज राजपुत्र देवभट्टारक' था। वह राजकुल का था। उससे पूर्व इस पद पर चिरतिदत्त रह चुका था, जो कि राजकुल का नहीं था। इसी तरह चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में तीर भुक्ति का शासक सम्राट् का पुत्र गोविन्दगुप्त था। इन उपरिक महाराजाओं की बहुत-सी मोहरें इस समय उपलब्ध होती हैं।

विषय (जिले) के शासक 'विषयपति' को अपने कार्य में परामर्श देने के लिये एक सभा होती थी, जिसके सभासद् 'विषय-महत्तर' (जिले के बड़े लोग) कहाते थे। इनकी संख्या तीस के लगभग होती थी। नगरश्रेष्ठी, सार्थवाह (व्यापारियों का मुखिया), प्रथम कुलिन (शिल्पियों का मुखिया) और प्रथम कायस्थ (लेखक-श्रेणी का मुखिया), इस विषय-सभा में अवश्य रहते थे। इनके अतिरिक्त जिले में रहनेवाली जनता के अन्य मुख्य लोग भी इसमें 'महत्तर' के रूप में सम्मिलित होते थे। सम्भवतः, इन महत्तरों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं होती थी। विषयपति अपने प्रदेश के मुख्य-मुख्य व्यक्तियों को इस कार्य के लिये नियुक्त कर लेता था। इन महत्तरों के कारण जिले के शासन में सर्वसाधारण जनता का पर्याप्त हाथ रहता था। विषयपति को यह भली-भांति मालूम होता रहता था, कि उसके क्षेत्र की जनता क्या सोचती और क्या चाहती है।

विषय के शासक कुमारामात्यों (विषयपतियों) का गुप्त-साम्राज्य के शासन में बड़ा महत्त्व था। अपने प्रदेश की सुरक्षा, शांति और व्यवस्था के लिये वे ही उत्तरदायी

थे। उनके अधीन राजकीय करों को एकत्र करने के लिये अनेक कर्मचारी रहते थे, जिन्हें युक्त, आयुक्त, नियुक्त आदि अनेक नामों से कहा जाता था। मौर्यकाल में भी ज़िले के इन कर्मचारियों को 'युक्त' ही कहते थे। गुप्तकाल में बड़े पदाधिकारियों की संज्ञा बदल गयी थी, पर छोटे राजपुरुषों की अब भी वही संज्ञा थी, जो कम-से-कम सात सदियों से भारत में प्रयुक्त होती आ रही थी। विषयपति के अधीन दण्डपाशिक (पुलिस के कर्मचारी), चौरोद्धरणिक (खुफिया पुलिस), आरक्षाधिकृत (जनता के रक्षार्थ नियुक्त कर्मचारी) और दण्डनायक (जिले की सेना के अधिकारी) रहते थे।

'विषय' में अनेक शहर और ग्राम होते थे। शहरों के शासन के लिये 'पुरपाल' नाम का कर्मचारी होता था, जिसकी स्थिति कुमारामात्य की मानी जाती थी। पुरपाल केवल बड़े-बड़े नगरों में ही नियुक्त होते थे। विषय के महत्तर इसे भी शासनकार्य में परामर्श देते थे। पुरों की निगम-सभाएँ अभी तक भी विद्यमान थी, और उनके कारण जनता अपने बहुत-से मामलों की व्यवस्था स्वयं ही करती थी। व्यापारियों और शिल्पियों के संघ इस काल में भी विद्यमान थे।

ग्रामों के शासन में पंचायत का बड़ा हाथ रहता था। इस युग में पंचायत को 'पंच-मडली' कहते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के अन्यतम सेनापति अम्रकार्दव ने एक ग्राम की पंच-मण्डली को २५ दीनारें एक विशेष प्रयोजन के लिये दी थीं। इसका उल्लेख सांची के एक शिलालेख में किया गया है। गुप्तों से पूर्व ग्राम की सभा को पंच-मण्डली नहीं कहा जाता था। पर इस युग में भारत की उस पंचायत-प्रणाली का पूरी तरह प्रारम्भ हो चुका था, जो हजारों साल बीत जाने पर भी आंशिक रूप से अब तक भी सुरक्षित है।

राजकीय कर—गुप्तकाल के लेखों के अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि इस युग में राजकीय आय के निम्नलिखित साधन थे:—

(१) भाग कर—खेती में प्रयुक्त होनेवाली जमीन से पैदावार का निश्चित भाग राज्यकर के रूप में लिया जाता था। इस भाग की मात्रा १८ फी सदी से २५ फी सदी तक होती थी। यह भागकर (मालगुजारी) प्रायः पैदावार के रूप में ही लिया जाता था। यदि वर्षा न होने या किसी अन्य कारण से फसल अच्छी न हो, तो भाग-कर की मात्रा स्वयं कम हो जाती थी, क्योंकि किसानों को पैदा हुए अन्न का निश्चित अंश ही मालगुजारी के रूप में देना होता था। भागकर का दूसरा नाम 'उद्रग' भी था।

(२) भोग कर—मौर्यकाल में जिस चुंगी को शुल्क शब्द से कहा जाता था, उसी को गुप्तकाल में भोग कर कहते थे।

(३) भूतोवात प्रत्याय—बाहर से अपने देश में आने वाले और अपने देश में उत्पन्न होनेवाले विविध पदार्थों पर जो कर लगता था, उसे भूतोवात प्रत्याय कहते थे। गुप्तकालीन लेखों में स्थूलरूप से १८ प्रकार के करों का निर्देश किया गया है। पर इनका विवरण नहीं दिया गया। पृथक् रूप से केवल तीन करों का ही उल्लेख किया गया है। इस काल की स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है, कि परम्परागत रूप से जो विविध कर मौर्य-युग से चले आते थे, वे गुप्तकाल में भी वसूल किये जाते थे, यद्यपि इनके नाम और दर आदि में कुछ न कुछ अन्तर इस समय में अवश्य आ गया था।

अधीनस्थ राज्यों का शासन—गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत जो अनेक अधीनस्थ राज्य थे, उनपर सम्राट् के शासन का ढंग यह था, कि छोटे सामन्त 'विषयपति कुमारामात्यों' के और बड़े सामन्त भुक्ति के शासक 'उपरिक महाराज कुमारामात्यों' के अधीन होते थे। अपने इन कुमारामात्यों द्वारा गुप्त सम्राट् विविध सामन्तों व अधीन राजाओं पर अपना नियंत्रण व निरीक्षण रखते थे।

इस काल में भारत में एक प्रकार की जागीरदारी प्रथा या सामन्तपद्धति (फ्यूड-लिज़्म) का भी विकास हो गया था। बड़े सामन्तों के अधीन छोटे सामन्त और उनके भी अधीन और छोटे सामन्त होते थे। सम्राट् बुधगुप्त के अधीन महाराजा सुरश्मिचन्द्र एक बड़ा सामन्त था, जिसके अधीनस्थ एक अन्य सामन्त मातृविष्णु था। गुप्त सम्राटों के अधीन परिव्राजक, उच्छकल्प और वर्मन् आदि विविध वंशों के शक्तिशाली सामन्त महा-राज अपने-अपने राज्यों में शासन करते थे। इनकी अपनी सेनाएँ भी होती थीं। ये अपना राजकीय कर स्वयं वसूल करते थे और अपने आन्तरिक मामलों में प्रायः स्वतंत्र थे। साम्राज्य के सांधिविग्रहिक के निरीक्षण में ये महाराज अपने शासन का स्वयं संचालन करते थे। अनेक सामन्त महाराज ऐसे भी थे, जिन पर सम्राट् का नियंत्रण अधिक कठोर था, और जिन्हें राजकीय कर को वसूल करने का भी पूरा अधिकार नहीं था।

यूरोप के मध्यकालीन इतिहास में जिस प्रकार 'फ्यूडल सिस्टम' का विकास हो गया था, वैसा ही इस युग में भारत में भी हुआ। मौर्यकाल में यह सामन्त-पद्धति विकसित नहीं हुई थी। उस काल में पुराने जनपदों की पृथक् सत्ता की स्मृति और सत्ता तो विद्यमान थी, पर उन में अपने धर्म, चरित्र और व्यवहार के अक्षुण्ण रहते हुए भी उनके पृथक् राजा और पृथक् सेनाएं नहीं थीं। गुप्तकाल में बड़े और छोटे सब प्रकार के सामन्त थे, जो अपनी पृथक् सेनाएं रखते थे। प्रतापी गुप्त-सम्राटों ने इन्हें जीतकर अपने अधीन कर लिया था, पर इनकी स्वतंत्र सत्ता को नष्ट नहीं किया था।

शक, यवन, कुशाण आदि म्लेच्छों के आक्रमणों से भारत में जो अव्यवस्था और अशांति उत्पन्न हो गयी थी, उसी ने इस पद्धति को जन्म दिया था। पुराने मागध-साम्राज्य के उच्च महामात्रों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाकर अपनी शक्ति को बढ़ा लिया और वे वंशक्रमानुगत रूप से अपने-अपने प्रदेश में स्वतंत्र रूप से राज्य करने लगे। अव्यवस्था के युग में अनेक महत्त्वाकांक्षी शक्तिशाली व्यक्तियों ने भी अपने पृथक् राज्य कायम कर लिये थे। गुप्त-सम्राटों ने इन सब राजा-महाराजाओं का अन्त नहीं किया। यही कारण है, कि उनकी शक्ति के शिथिल होते ही ये न केवल पुनः स्वतंत्र हो गये, पर परस्पर युद्धों और विजययात्राओं द्वारा अपनी शक्ति के विस्तार में भी तत्पर हो गये। इसी का परिणाम हुआ, कि सारे उत्तरी भारत में अव्यवस्था छा गयी, और एक प्रकार के 'मात्स्यन्याय' का प्रारम्भ हो गया।

मौर्यों की शक्ति शिथिल होने पर पुराने जनपद पुनः स्वतंत्र हो गये थे। पर गुप्तों के शिथिल होने पर जनपद स्वतंत्र नहीं हुए, अपितु सामन्त महाराजा स्वतंत्र हुए, [illegible] अपनी सेनाओं के साथ विजययात्राओं के लिये प्रयत्नशील रहते थे। इसी लिये [illegible] को यह लिखने का अवसर मिला, कि 'इस काल में हर एक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी-अपनी जगह राजा बन बैठा।' सामन्त महा-

राजाओं के आपस के युद्धों ने सचमुच ही मात्स्यन्याय की अवस्था उत्पन्न कर दी थी। गुप्त-काल की सामन्त-पद्धति का ही यह परिणाम था, कि भारत में यशोधर्मा और हर्षवर्धन जैसे 'आसमुद्रक्षितीश' तो बाद में भी हुए, पर वे स्थिर रूप से किसी विशाल साम्राज्य की स्थापना नहीं कर सके। गुप्तों के साथ ही भारत भर में एक शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की कल्पना भी समाप्त हो गयी। सामन्त-पद्धति का यह एक स्वाभाविक परिणाम था।

गुप्त-साम्राज्य के अधीन जो यौधेय, कुणिन्द, मालव, आर्जुनायन आदि अनेक गणराज्य थे, उनमें भी इस युग में स्वतंत्र शासन की परम्परा का ह्रास हो रहा था। कुछ विशेष शक्तिशाली कुलों में इन गणराज्यों की राजशक्ति केन्द्रित होती जा रही थी। ये कुलीन लोग अपने को 'महाराज' और 'महासेनापति' कहते थे। अपने युग की प्रवृत्ति के प्रभाव से गणराज्य भी नहीं बच सके, और धीरे-धीरे वे भी एक प्रकार के ऐसे महाराजाओं के अधीन हो गये, जो सामन्तों की-सी स्थिति रखते थे।

(५) गुप्त-काल के सिक्के

गुप्त-सम्राटों के बहुत-से सिक्के इस समय में उपलब्ध हुए हैं। इस वंश का इतिहास ही मुख्यतया इन सिक्कों के आधार पर तैयार किया गया है। अतः उनका संक्षेप से उल्लेख करना आवश्यक है। गुप्त-वंश के सिक्के पहले-पहल चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा प्रचारित किये गये थे। चन्द्रगुप्त प्रथम का केवल एक ही प्रकार का सिक्का मिला है। इसके एक ओर चन्द्रगुप्त मुकुट, कोट, पायजामा और आभूषण पहने खडा है, उसके बाएँ हाथ में ध्वजा और दाहिने हाथ में अंगूठी है। सामने वस्त्र और आभूषणों से सज्जित रानी कुमारदेवी है। राजा अपनी पत्नी को अंगूठी दे रहा है। इस सिक्के के बाँई ओर 'चन्द्रगुप्त' और दाईं ओर 'श्री कुमारदेवी' लिखा है। सिक्के की दूसरी तरफ लक्ष्मी का चित्र है, जो सिंह पर सवार है। लक्ष्मी के पैर के नीचे कमल है। साथ ही, नीचे 'लिच्छवयः' लिखा गया है। लिच्छवि गण की सहायता से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर अधिकार किया था, और अपने साम्राज्य की नींव डाली थी। लिच्छविकुमारी श्री कुमारदेवी से विवाह के कारण ही उसके उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ था। इसीलिये चन्द्रगुप्त प्रथम के इन सिक्कों पर लिच्छवियों और कुमारदेवी को इतनी प्रधानता दी गयी है। चन्द्रगुप्त के ये सिक्के सोने के हैं, और तोल में १११ ग्रेन हैं।

समुद्रगुप्त के सिक्के अनेक प्रकार के मिले हैं। वे सोने और ताम्बे दोनों के बने हुए हैं। समुद्रगुप्त ने छः प्रकार के सोने के सिक्के प्रचारित किये थे। (१) गरुड़-ध्वजांकित—इनमें एक तरफ मुकुट, कोट और पायजामा पहने सम्राट् की खड़ी मूर्ति है। उसके बाँएँ हाथ में ध्वजा और दाएँ हाथ में अग्निकुण्ड में डालने के लिये आहुति दिखाई पड़ती है। कुण्ड के पीछे गरुड़ध्वज है। सम्राट् के बाएँ हाथ के नीचे उसका नाम 'समुद्र' या 'समुद्रगुप्त' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर 'समरशत विततविजयी जितारि-पुरजितो दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है। यह वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित है, तथा साथ ही 'पराक्रमः' लिखा है। (२) इन सिक्कों में धनुष-बाण लिये हुए सम्राट् की मूर्ति गरुड़ध्वज के साथ है। बाँएँ

हाथ के नीचे सम्राट् का नाम 'समुद्र' लिखा है, और चारों ओर 'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैः दिवं जयति' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और 'अप्रतिरथः' लिखा है। (३) इन सिक्कों में एक ओर परशु लिये सम्राट् की मूर्ति है। साथ ही दाहनी तरफ एक छोटे बालक का चित्र है। बाँईं तरफ समुद्र' या 'समुद्रगुप्त' लिखा है, और चारों ओर 'कृतांतपरशुर्जयत्यजितराजजेताजितः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर सिंहासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है, और नीचे 'परशुः' लिखा है। (४) इन सिक्कों में एक ओर धनुष-बाण से सज्जित सम्राट् का चित्र है, जिसे एक व्याघ्र का संहार करते हुए दिखाया गया है। सम्राट् के बाएँ हाथ के नीचे 'व्याघ्रपराक्रमः' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर मकर पर खड़ी, हाथ में कमल लिये गंगा देवी का चित्र है, और नीचे 'राजा समुद्रगुप्त' लिखा है। (५) इन सिक्कों में एक ओर संगीतप्रेमी सम्राट् का चित्र है, जो एक पृष्ठयुक्त पर्यङ्क पर बैठा हुआ जांघ मोड़े हुए वीणा बजा रहा है। चारों ओर 'महाराजाधिराज श्री समुद्रगुप्त' लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर आसन पर बैठी हुई एक देवी की मूर्ति है, और साथ में 'समुद्रगुप्तः' लिखा है। (६) ये सिक्के अश्वमेध यज्ञ के उपलक्ष में प्रचारित किये गयेथे। इनमें एक ओर यूप से बंधे हुए यज्ञीय अश्व की मूर्ति है, और चारों ओर 'राजाधिराजः पृथिवीं विजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः लिखा है। सिक्के के दूसरी ओर चंवर लिये हुए राजमहिषी का चित्र है, और 'अश्वमेधपराक्रमः' लिखा है।

समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के भार में ११८-१२२ ग्रेन हैं। उसके दो ताम्बे के भी सिक्के मिले हैं, जिनपर गरुड़ का चित्र और 'समुद्र' लिखा है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सोने के सिक्के भार की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं, १२१ ग्रेन, १२५ ग्रेन और १३२ ग्रेन के। चित्रों की दृष्टि से ये पांच प्रकार के हैं—(१) इनके एक तरफ धनुष-बाण लिये हुए चन्द्रगुप्त द्वितीय की खड़ी हुई मूर्ति है, और साथ में गरुड़ध्वज है। दूसरी ओर कमलासन पर बैठी हुई लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इन सिक्कों के एक ओर खड़े हुए रूप में राजा की मूर्ति है, जिसका एक हाथ तलवार की मूठ पर है, और पीछे एक वामन छत्र पकड़े हुए खड़ा है। दूसरी तरफ कमल पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। (३) इन सिक्कों में एक तरफ सम्राट् पर्यंक पर बैठा है, उसके दाएँ हाथ में कमल है, और बायां हाथ पर्यंक पर टेका हुआ है। सिक्के के दूसरी तरफ सिंहासन पर आसीन लक्ष्मी का चित्र है। (४) इनमें एक तरफ सम्राट् को धनुष-बाण द्वारा सिंह को मारते हुए दिखाया गया है, और दूसरी तरफ सिंह पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है। (५) इन सिक्कों में एक तरफ घोड़े पर चढ़े हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर आसन पर विराजमान देवी की मूर्ति है, जिसके हाथ में कमल है। इन सब सिक्कों पर 'महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त', 'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः', 'नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितदिवं जयत्यजेय भुवि सिंहविक्रमः', 'नरेन्द्रसिंहचन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति' आदि अनेक प्रकार की उक्तियां उल्लिखित है।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अनेक सिक्के चांदी के भी मिले हैं। इनमें सम्राट् के अर्धशरीर (बस्ट) की मूर्ति है, और दूसरी तरफ गरुड़ का चित्र है। इनपर 'परमभागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यः, अथवा 'श्रीगुप्तकुलस्य महाराजा-

धिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य' लिखा है। इस सम्राट् के ताम्बे के बने हुए भी कुछ सिक्के मिले हैं, जिन पर गरुड़ का चित्र है।

गुप्त-सम्राटों में सबसे अधिक सिक्के कुमारगुप्त प्रथम के मिले हैं। ये सिक्के भार में १२४ और १२६ ग्रेन हैं। चित्रों की दृष्टि से ये नौ प्रकार के हैं—(१) इनके एक तरफ धनुष-बाण लिये सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर कमलासन पर बैठी देवी की मूर्ति है। (२) इनके एक तरफ तलवार की मूठ पर हाथ टेके हुए सम्राट् की मूर्ति है, और साथ में गरुड़ध्वज भी है। दूसरी ओर कमल पर विराजमान लक्ष्मी का चित्र है। (३) इनमें एक तरफ यज्ञीय अश्व है, दूसरी ओर अस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित राजमहिषी की मूर्ति है। (४) इनमें एक तरफ घोड़े पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर हाथ में कमल का फूल लिये एक देवी बैठी है। (५) इनमें एक तरफ सिंह को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर सिंह पर आरूढ़ अम्बिका की मूर्ति है। (६) इनमें एक तरफ धनुष-बाण से व्याघ्र को मारते हुए सम्राट् का चित्र है, और दूसरी तरफ मोर को फल खिलाती हुई देवी की खड़ी मूर्ति है। (७) इनमें एक ओर मोर को फल खिलाते हुए सम्राट् खड़ा है, और दूसरी ओर मयूर पर विराजमान कार्तिकेय की मूर्ति है। (८) इनमें एक ओर बीच में एक पुरुष खड़ा है, जिसके दोनों तरफ दो स्त्रियाँ हैं। सिक्के के दूसरी तरफ एक देवी बैठी हुई है। (९) इनमें एक ओर हाथी पर सवार सम्राट् का चित्र है, और दूसरी तरफ हाथ में कमल लिये हुए लक्ष्मी की खड़ी मूर्ति है।

इन सिक्कों पर 'क्षितिपतिरजितमहेंद्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति', 'गुप्तकुलव्योमराशिः जयत्यजेयो जितमहेन्द्रः', 'कुमारगुप्तो विजयी सिंहमहेंद्रो दिवं जयति' आदि अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। कुमारगुप्त के चाँदी और ताम्बे के भी बहुत-से सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

स्कन्दगुप्त के सोने के सिक्के भार में १३२ और १४४ ग्रेन के मिले हैं। ये दो प्रकार के हैं—(१) इनमें एक ओर धनुष-बाण धारण किये सम्राट् का चित्र है, और दूसरी ओर पद्मासन पर विराजमान लक्ष्मी की मूर्ति है। (२) इनमें एक ओर सम्राट् और राजमहिषी के चित्र हैं, बीच में गरुड़ध्वज है, और दूसरी ओर कमल हाथ में लिये हुए देवी की मूर्ति है। सिक्कों पर भी अनेक लेख उत्कीर्ण हैं। स्कन्दगुप्त के भी चाँदी और ताम्बे के अनेक सिक्के उपलब्ध हुए हैं।

स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों में पुरुगुप्त, नरसिंहगुप्त, कुमारगुप्त द्वितीय, बुधगुप्त, वैण्यगुप्त आदि प्रायः सभी गुप्त-सम्राटों के सिक्के मिलते हैं। इन सब में प्रायः 'विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति' के सदृश लेख उत्कीर्ण मिलते हैं। सम्राट् का नाम बदलता जाता है, पर लेख प्रायः इसी के सदृश रहता है।

(६) गुप्त साम्राज्य के प्रधान नगर

पाटलिपुत्र—गुप्त-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। इसके विषय में चीनी यात्री फाइयान ने लिखा है—"मध्यदेश में यह नगर सबसे बड़ा है। इसके निवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं। दान और सत्य में स्पर्धालु हैं। प्रतिवर्ष रथयात्रा होती है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। यह यूप पर ठाटी जाती हैं, जिसमें धुरी और हर्से लगे रहते हैं। यह २० हाथ ऊंचा और

स्तूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। भाँति-भाँति की रंगाई होती है। देवताओं की मूर्तियाँ सोने-चाँदी और स्फटिक की भव्य बनती है। रेशम की ध्वजा और चाँदनी लगती है। चारों कोनों पर कलगियाँ लगती हैं। बीच में बुद्धदेव की मूर्ति होती है, और पास में बोधिसत्व खड़ा किया जाता है। बीस रथ होते हैं, एक से एक सुन्दर और भड़कीले, सब के रंग न्यारे। नियत दिन आस-पास के यति और गृही इकट्ठे होते हैं। गाने-बजानेवाले साथ लेते हैं। फूल और गंध से पूजा करते हैं। फिर ब्राह्मण आते हैं, और बुद्धदेव को नगर में पधारने के लिये निमंत्रण करते हैं। पारी-पारी नगर में प्रवेश करते हैं। इसमें दो रात बीत जाती हैं। सारी रात दिया जलता है। गाना-बजाना होता है। पूजा होती है। जनपद-जनपद में ऐसा ही होता है। जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदावर्त और औषधालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, लूले, लंगड़े और रोगी लोग इस स्थान पर आते हैं, उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है, वैद्य रोगों की चिकित्सा करते हैं। वे अनुकूल औषध और पथ्य पाते हैं। अच्छे होते हैं, तब जाते हैं।"

फाइयान को बौद्ध-धर्म के अनुष्ठानों व तीर्थस्थानों को देखने के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिये अवकाश नहीं था। पाटलिपुत्र आकर उसने अशोक के पुराने राज-प्रासाद, स्तूपों और विहारों को ही देखा। पर उसके विवरण से इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि गुप्त-सम्राटों के शासनकाल में पाटलिपुत्र बहुत समृद्ध नगर था, और उसके निवासी भी सम्पन्न और समृद्धिशाली थे। वे रथयात्राओं में बड़े शौक से शामिल होते थे, और खूब दिल खोलकर दान-पुण्य करते थे।

वैशाली—पाटलिपुत्र के समीप ही वैशाली गुप्तकाल का एक अत्यन्त समृद्धि-शाली नगर था। गुप्त-वंश के उत्कर्ष का प्रधान हेतु लिच्छवि लोगों की सहायता ही थी। लिच्छवियों का प्रधान केन्द्र वैशाली में था। इसके अवशेषों में बहुत-सी मोहरों के साँचे मिले है, जिन्हें वैशाली के 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की ओर से काम में लाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस विशाल नगरी के श्रेष्ठी (साहूकार), सार्थवाह (व्यापारी) और कुलिक (शिल्पी) लोगों का एक बड़ा (निगम) संघ था, जो अपनी मोहर से मुद्रित कर विविध व्यापारिक आदेश जारी करता था। इसी तरह की मोहरें इस काल के अन्य बहुत-से नगरों में भी मिली है जिनसे सूचित होता है, कि वैशाली के इस 'श्रेष्ठीसार्थवाह-कुलिकनिगम' की शाखाएँ भारत के अन्य विविध नगरों में भी व्याप्त थीं। गुप्तकाल मे वैशाली बहुत वैभवपूर्ण नगरी थी, और वहाँ शासन करने के लिये प्रायः राजकुल के कुमारामात्य ही नियत होते थे।

उज्जयिनी—गुप्त-काल में उज्जयिनी भी बहुत समृद्ध दशा में थी। गुप्त-सम्राट् प्रायः वहाँ ही निवास करते थे। विशेषतया शकों को परास्त करने के बाद जब साम्राज्य पश्चिम में गुजरात-काठियावाड़ तक विस्तृत हो गया था, तब उज्जयिनी ने साम्राज्य की द्वितीय राजधानी का पद प्राप्त कर लिया था। ज्योतिष के अनुशीलन का यह बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने यहीं अपनी वेधशाला बनाई थी, और देश तथा काल की गणना इसी को आधार बनाकर की थी। गुप्तों के बाद भी भारतीय ज्योतिषी उज्जयिनी को ही आधार बनाकर देश और काल की गणना

करते रहे, और यहाँ की वेधशाला भारत में अत्यन्त प्रसिद्ध रही।

दशपुर—गुप्त-काल में मालवा का दशपुर भी एक अत्यन्त समृद्ध नगर था। सम्राट् कुमारगुप्त के समय के मन्दसौर में प्राप्त एक शिलालेख में इस नगर के सौन्दर्य और वैभव का बड़ा उत्तम वर्णन किया गया है। इसके गगनचुम्बी सुन्दर प्रासादों की माला, रमणीक वाटिकाओं की छटा, मदमत्त हाथियों की क्रीड़ा, पिंजरबद्ध हंसों के विलास और रमणियों के संगीत के वर्णन को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है, कि दशपुर एक बहुत ही समृद्ध नगर था। कुमारगुप्त के इस शिलालेख के रचयिता कवि वत्सभट्टि ने दशपुर का वर्णन करते हुए लिखा है—इस नगरी में कैलाश के शिखर के समान ऊँचे मकानों की पंक्तियाँ ऐसे शोभित होती थीं, मानो गगन को छूते हुए विमानों की मालाएँ हों। नगर में बहुत से उद्यान, पार्क और तालाब थे, जिनमें विविध प्रकार के पक्षी हर समय कलरव करते रहते थे।

इनके अतिरिक्त, कौशाम्बी, मथुरा, वाराणसी, चम्पा, ताम्रलिप्ति, कान्यकुब्ज आदि अन्य बहुत-सी नगरियाँ भी इस काल में सम्पन्न अवस्था में विद्यमान थीं। फाइयान ने इन सब की यात्रा की थी। इनके विहारों, स्तूपों भिक्षुओं आदि के सम्बन्ध में तो फाइयान ने बहुत कुछ लिखा है, पर खेद यही है कि इनके वैभव, समृद्धि, आर्थिक दशा व सामाजिक जीवन के विषय में इस चीनी यात्री ने कुछ भी विवरण नहीं दिया।

(७) चीनी यात्री फाइयान

फाइयान का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वह चीन के अन्यतम प्रदेश शेन-से की राजधानी चांग-गान का रहने वाला था। उसके समय तक चीन में बौद्धधर्म का प्रचार हो चुका था, और बहुत से लोग भिक्षु-जीवन को भी स्वीकार कर चुके थे। फाइयान बचपन में प्रव्रज्या ग्रहण करके बौद्ध-धर्म के अध्ययन में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत कर रहा था। उसने विचार किया, कि चीन में जो विनयपिटक हैं, वे अपूर्ण हैं। प्रामाणिक धर्म-ग्रंथों की खोज में उसने भारत यात्रा का संकल्प किया। चीन से चलकर भारत पहुँचने और यहाँ से अपने देश को वापस लौटने तक उसे कुल १५ वर्ष लगे। चौथी सदी के अन्त में वह चीन से चला था, और सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासनकाल में पाँचवीं सदी के शुरू में उसने भारत के विविध प्रदेशों का भ्रमण किया था। उसके यात्रा-विवरण में से हम यहाँ कुछ ऐसे प्रसंग उद्धृत करते हैं, जो इस युग के भारत के जीवन पर प्रकाश डालते हैं।

"इस देश (शेन-शेन, पूर्वी तुर्किस्तान में) के राजा का धर्म हमारा ही है। यहाँ लगभग चार हजार से अधिक श्रमण रहते हैं। सब के सब हीनयान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इधर के देश के सब लोग क्या गृहस्थ और क्या भिक्षु, सब भारतीय आचार और नियम का पालन करते हैं। यहाँ से पश्चिम में जिन-जिन देशों में गये, सभी में ऐसा ही पाया। सब गृहत्यागी विरक्त भारतीय ग्रंथों और भारतीय भाषा का अध्ययन करते हैं।

"खोतान जनपद सुखप्रद और सम्पन्न है। अधिवासी धार्मिक हैं।

"कुफेन (काबुल) में एक सहस्र से अधिक भिक्षु हैं। सब महायान के अनुयायी हैं।

"किचा के श्रमणों का आचार आश्चर्यजनक है, इतना विधिनिषेधात्मक कि वर्णनातीत है।

"गांधार देश के निवासी सब हीनयान के अनुयायी हैं। तक्षशिला में राजा, मंत्री और जनसाधारण सब उनकी (स्तूपों की) पूजा करते हैं। इन स्तूपों पर पुष्प और दीप चढ़ाने वालों का तांता कभी नहीं टूटता।

"यहां (पुष्पपुर या पेशावर में) सात सौ से अधिक श्रमण होंगे। जब मध्याह्न होता है, श्रमण भिक्षापात्र लेकर निकलते हैं।

"(पेशावर से) दक्षिण दिशा में १६ योजन चलकर जनपद की सीमा पर हेलो (हिड्डा) नगर में पहुँचे, यहां विहार पर सोने के पत्र चढ़े हैं, और सप्तरत्न जड़े हैं।

"(मथुरा को जाते हुए) मार्ग में लगातार बहुत-से विहार मिले, जिनमें लाखों श्रमण मिले। सब स्थानों में होते हुए एक जनपद में पहुँचे, जिसका नाम मथुरा था। नदी के दाएँ-बाएं किनारे बीस विहार थे, जिनमें तीस हजार से अधिक भिक्षु थे। अब तक बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार है। मरुभूमि से पश्चिम भारत के सभी जनपदों के अधिपति बौद्ध-धर्म के अनुयायी मिले। भिक्षुसंघ को भिक्षा कराते समय वे अपने मुकुट उतार डालते है। अपने बन्धुओं और अमात्यों सहित अपने हाथों से भोजन परोसते हैं। परोस कर प्रधान महासंघ (स्थविर) के आगे आसन बिछाकर बैठ जाते हैं। संघ के सामने खाट पर बैठने का साहस नहीं करते। तथागत के समय में जो प्रथा राजाओं में भिक्षा कराने की थी, वही अब तक चली आती है।

"यहां से दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहां शीत और उष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पंचायत कुछ नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं, और उपज का अंश देते है। जहां चाहें. जायें जहां चाहें रहें। राजा न प्राणदण्ड देता है, और न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस व मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन-प्याज खाता है, सिवाय चाण्डाल के। दस्तु को चाण्डाल कहते है। वे नगर के बाहर रहते हैं, और नगर में जब पैठते हैं, तो सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते है, कि लोग जान जायें और बचाकर चलें, कहीं उनसे छू न जायें। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते है, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं। क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।

"श्रमणों का कृत्य शुभ कर्मों से धनोपार्जन करना, सूत्रों का पाठ करना और ध्यान लगाना है। आगंतुक (अतिथि) भिक्षु आते है, तो रहने वाले (स्थायी) भिक्षु उन्हें आगे बढ़ कर लेते है। उनके भिक्षापात्र और वस्त्र स्वयं ले आते हैं। उन्हें पैर धोने को जल और सिर में लगाने को तेल देते है। विश्राम ले लेने पर उनसे पूछते हैं, कि कितने दिनों से प्रव्रज्या ग्रहण की है। फिर उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार आवास देते है, और यथानियम उनसे व्यवहार करते है।

"जब भिक्षु वार्षिकी अग्रहार पा जाते है, तब सेठ और ब्राह्मण लोग वस्त्र

और अन्य उपहार बांटते हैं। भिक्षु उन्हें लेकर यथाभाग विभक्त करते हैं। बुद्धदेव के बोधिप्राप्ति-काल से ही यह रीति, आचार-व्यवहार और नियम अविच्छिन्न लगातार चले आते हैं। हियंतु (सिन्धु नदी) उतरने के स्थान से दक्षिण भारत तक और दक्षिण समुद्र तक चालीस-पचास हजार ली तक चौरस (भूमि) है। इसमें कहीं पर्वत झरने नहीं हैं, नदी का ही जल है।

"(कान्यकुब्ज—कन्नौज) नगर गंगा के किनारे है। जो संघाराम हैं, सब हीन-यान के अनुयायियों के हैं। नगर से पश्चिम सात ली पर गंगा के किनारे बुद्ध ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया था।

"दक्षिण दिशा में चले। आठ योजन चलकर कोशल जनपद के नगर श्रावस्ती में पहुंचे। नगर में बहुत कम अधिवासी हैं, और जो हैं, तितर-वितर हैं। सब मिलाकर दो सौ से कुछ अधिक घर होंगे।

"मध्यदेश में ९६ पाषण्डों (सम्प्रदायों) का प्रचार है। सब लोक परलोक को मानते हैं। उनके साधुसंघ हैं। वे भिक्षा करते हैं, केवल भिक्षापात्र नहीं रखते। सब नाना रूप से धर्मानुष्ठान करते हैं। मार्गों पर धर्मशालाएँ स्थापित की हैं। वहाँ आये-गये को आवास, खाट, बिस्तर, खाना-पीना मिलता है। यति भी वहाँ आते-जाते और निवास करते हैं।

"कपिलवस्तु नगर में न राजा है, न प्रजा। केवल खंडहर और उजाड़ है। कुछ श्रमण रहते हैं, और दस घर अधिवासी हैं। कपिलवस्तु जनपद जनशून्य है। अधिवासी बहुत कम हैं। मार्ग में श्वेत हस्ती और सिंह से बचने की आवश्यकता है, बिना सावधानी के जाने योग्य नहीं है।

"राजगृह नगर के भीतर सुनसान है, कोई मनुष्य नहीं।

"दक्षिण जनपद बड़े निराले हैं। मार्ग भयावह और दुस्तर हैं। कठिनाइयों को झेलकर जाने के इच्छुक सदा धन और उपहार वस्तु साथ ले जाते हैं, और जनपद के राजा को देते हैं। राजा प्रसन्न होकर रक्षक मनुष्य साथ भेजता है, जो एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक पहुँचाते और सुगम मार्ग बताते हैं।

"ताम्रलिप्ति नगर एक बन्दरगाह है, इस जनपद में २४ संघाराम हैं। श्रमण संघ में रहते हैं। बौद्ध-धर्म का अच्छा प्रचार है।"

फाइयान के इन उद्धरणों में भी यद्यपि बौद्ध-धम की दशा का ही चित्रण अधिक है, पर उस समय के भारत का कुछ-न-कुछ निदर्शन इनसे अवश्य मिल जाता है। पाटलिपुत्र उस समय भारत का सबसे बड़ा नगर था, वहाँ के निवासी सम्पन्न और समृद्ध थे। फाइयान वहां तीन साल तक रहा। बौद्ध-धर्म के जिन ग्रंथों का वह अध्ययन करना चाहता था, वे सब उसे यहीं मिले। पर श्रावस्ती, कपिलवस्तु, राजगृह आदि अनेक पुराने नगर इस समय खण्डहर हो चुके थे।

(८) रहन-सहन और आमोद-प्रमोद

गुप्तकालीन भारत में ऋतु के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। गुप्तवंश के सिक्कों पर सम्राटों के जो चित्र हैं, उनमें दो प्रकार की पोशाकें हैं। कुछ

सिक्कों पर सम्राट् लम्बा कोट, पायजामा और सिर पर मुकुट के ढंग की टोपी पहने हुए हैं। सम्भवतः, यह पोशाक शीत ऋतु की थी। दूसरे सिक्कों में धोती और उत्तरीय धारण किये हुए सम्राटों के चित्र हैं। सम्भवतः, गरमी के मौसम में कोट और पायजामे की जगह धोती और उत्तरीय धारण किया जाता था। कुछ विद्वानों का विचार है, कि कोट और पायजामे की पोशाक पश्चिम से भारत में आई थी। शक, यवन और कुशाण लोग जो पश्चिम की ओर से भारत में आये थे, वे यह पोशाक पहनते थे। उन्हीं के अनुकरण में भारत के बड़े लोग ये वस्त्र पहनने लगे, और गुप्तों के सिक्कों पर इस पोशाक की सत्ता पश्चिमी प्रभाव की सूचक है। पर यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती। गुप्तों के सिक्कों पर सम्राटों की जो दो प्रकार की पोशाकें हैं, उसका कारण शीत और ग्रीष्म ऋतु ही हैं। भारत के बड़े और सर्वसाधारण लोग बहुत पुराने समय से ऋतुभेद के अनुसार विविध प्रकार के वस्त्र पहनते आये हैं।

राजा लोग सिर पर मुकुट धारण करते थे, और सर्वसाधारण लोग उष्णीष (पगड़ी) पहनते थे। स्त्रियों की पोशाक साड़ी थी। पर लहंगे का भी रिवाज बहुत था। नृत्य के अवसरों पर तो मुख्यतया लहंगा ही पहना जाता था। गुप्तकाल की स्त्रियों के अनेक चित्र गुफाओं में उत्कीर्ण व चित्रित किये हुए मिले हैं। इनमें उनकी पोशाक साड़ी और चोली ही हैं। गुप्तकाल के स्त्री-पुरुष अपने शृंगार पर बड़ा ध्यान देते थे। केशों को तरह-तरह से सजाने, मुख पर पराग और लाली लगाने तथा विविध प्रकार के आभूषण पहनकर अपनी सुन्दरता को बढ़ाने की तरफ उस समय की स्त्रियों का बहुत ध्यान रहता था। गुप्तकाल के जो भी चित्र या मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, सब में स्त्री और पुरुष दोनों के विविध अंगों में आभूषणों की प्रचुरता है। इस युग के साहित्य में भी आभूषणों से शरीर को अलंकृत करने का बहुत वर्णन आता है। सूती कपड़े तो उस समय पहने ही जाते थे, पर रेशमी और ऊनी वस्त्रों का भी रिवाज बहुत अधिक था। फाइयान ने कई जगह रेशमी और ऊनी कपड़ों का उल्लेख किया है। इस युग के साहित्य में भी तरह-तरह के रेशम का वर्णन आता है। भारत में यह युग समृद्धि और वैभव का था। अतः यदि इस काल के भारतीय भांति-भांति के सुन्दर वस्त्र पहनने, अपने शरीर का शृंगार करने और अपने को विविध आभूषणों से अलंकृत करने पर विशेष ध्यान देते थे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। महाकवि कालिदास ने अपने काव्य इसी युग में लिखे थे। उसमें शृंगारप्रिय स्त्रियों के विलास का जो वर्णन स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है, उससे इस काल के रहन-सहन पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। कालिदास ने लिखा है, कि स्त्रियां सुगंधित द्रव्य जलाकर उनकी उष्णता से अपने गीले केशों को सुखाती तथा सुगंधित करती थीं। बाल सूख जाने पर उनकी विविध प्रकार से वेणी बनायी जाती थी, और फिर उन्हें मंदार आदि के फूलों से गूंथा जाता था। अजंता की गुफाओं में स्त्रियों के जो विविध चित्र चित्रित हैं, उनमें केशों के शृंगार को देखकर आश्चर्य होता है। यह कला गुप्तकाल में उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गयी थी।

गुप्तकाल के भारतीय आमोद-प्रमोद को भी बड़ा महत्त्व देते थे। वात्स्यायन का कामसूत्र गुप्तवंश के प्रारम्भ से कुछ ही पूर्व लिखा गया था। उसके अनुशीलन से ज्ञात होता है, कि प्राचीन भारत में पांच प्रकार से आमोद-प्रमोद मनाया जाता था। लोग

धार्मिक उत्सवों में बड़ा आनन्द लेते थे। समय-समय पर रथयात्राएँ हुआ करती थीं। फाइयान ने बहुत-से नगरों में इस प्रकार की रथयात्राएँ अपनी आँखों से देखी थीं, जिनमें हजारों नर-नारी सम्मिलित होते थे। इन अवसरों पर दीपक जलाये जाते थे, घंटियाँ बजती थीं और लोग खुशी मनाते थे। गोष्ठियों का भी उस समय बहुत रिवाज था। एक स्थिति के लोग अपनी-अपनी गोष्ठियों में एकत्र होकर नाचने-गाने आदि का आनन्द उठाते थे, और तरह-तरह से आमोद-प्रमोद करते थे। इकट्ठे होकर पान (शराब सेवन) का भी इस समय रिवाज था। फाइयान जिन लोगों में रहा, वे चाहे शराब न पीते हों, पर सर्वसाधारण लोगों में 'पान' का काफी प्रचार था। बगीचों में सैर करना और तरह-तरह के खेल खेलना आमोद-प्रमोद के अन्य साधन थे। शिकार का भी उस समय काफी प्रचार था। गुप्त-सम्राटों के सिक्कों में उन्हें शेर और बाघ का शिकार करते हुए दिखाया गया है। मौर्यकाल के समान गुप्तयुग में भी गणिकाओं को समाज में स्थान प्राप्त था। वे वादन, गायन तथा नृत्य में निपुणता प्राप्त कर जनता का मनोरंजन करती थीं।

(६) निर्वाह-व्यय

गुप्तकाल में वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय के एक शिलालेख में यह उल्लेख है कि "चातुर्दिश आर्य (भिक्षु) संघ को बारह दीनारें (सुवर्णमुद्रा) अक्षयनीवि (स्थिर धरोहर) के रूप में इसलिये दी जाती हैं, कि उनके सूद से संघ में प्रविष्ट होने वाले एक भिक्षु को सदा के लिये प्रतिदिन भोजन मिलता रहे।" उस काल में सूद की दर १२ से २४ फीसदी वार्षिक तक होती थी। अक्षयनीवि की दशा में सूद की दर १२ फी सदी वार्षिक समझी जा सकती है। इस हिसाब से १२ दीनारों का वार्षिक सूद १½ दीनार के लगभग होगा। अभिप्राय यह हुआ, कि गुप्तकाल में १½ दीनार एक भिक्षु के साल भर के भोजन-व्यय के लिये पर्याप्त थी। १½ दीनार में १ तोले के लगभग सोना होता था। सोने का मूल्य आजकल १५०) रुपया प्रति तोला है। पर महायुद्ध से पूर्व ३० रुपया प्रति तोला था। इस प्रकार एक व्यक्ति के भोजन का निर्वाह ढाई रुपये (वर्तमान समय के बारह रुपये) मासिक में उस समय हो जाता था।

गुप्तकाल के एक अन्य लेख के अनुसार अम्रकार्दव नाम के अमात्य ने एक ग्राम-पंचायत के पास २५ दीनार इस उद्देश्य से जमा कराये थे, कि उनके सूद से "यावच्चन्द्र-दिवाकरौ" सदा के लिये पाँच भिक्षुओं का भोजन-व्यय दिया जाय। सम्भवतः, ग्राम-पंचायत (पंचमंडली) अधिक ऊँची दर से सूद देती थी। यदि २४ फी सदी की दर से अमात्य अम्रकार्दव का यह धन ग्राम-पंचायत ने लिया हो, तो २५ दीनारों का सूद ६ दीनार के लगभग प्रतिवर्ष होगा। इस रकम से पांच भिक्षुओं के भोजन का खर्च भली-भाँति चल सकता था। अकबर के समय में भी भारत में अन्न के मूल्य बहुत कम थे। उसके शासनकाल में भी दो-तीन रुपये मासिक में एक व्यक्ति अपना भोजन-व्यय भली-भाँति चला सकता था। गुप्तकाल में भी भोज्य पदार्थों के भाव इतने सस्ते थे, कि सवा या डेढ़ दीनार वार्षिक में निर्वाह अच्छी तरह चल जाता था। भावों के इतने सस्ते होने के कारण ही इस काल के विनिमय में कौड़ियों का भी व्यवहार होता था। सोने के सिक्के तो बहुत ही मूल्यवान् थे। पर चांदी और ताम्बे के छोटे सिक्कों का भी बहुत चलन था, और छोटी-छोटी चीजों के विनिमय के लिये कौड़ियाँ भी प्रयुक्त की जाती थीं।

(१०) आर्थिक जीवन

व्यवसायी और व्यापारी गुप्तकाल में भी श्रेणियों और निगमों में संगठित थे। गुप्तकाल के शिलालेखों और मोहरों से सूचित होता है, कि उस समय में न केवल श्रेष्ठियों और सार्थवाहों के निगम थे, अपितु जुलाहे, तेली आदि विविध व्यवसायी भी अपनी-अपनी श्रेणियों में संगठित थे। जनता का इनपर पूर्ण विश्वास था। यही कारण है, कि इनके पास रुपया विविध प्रयोजनों से धरोहर (अक्षयनीवि रूप में या सामयिक रूप में) रखा दिया जाता था, और ये उसपर सूद दिया करते थे। इन निगमों व श्रेणियों का एक मुखिया और उसको परामर्श देने के लिये चार या पांच व्यक्तियों की एक समिति रहती थी। व्यवसायियों और व्यापारियों के इन संगठनों पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। यहां इतना लिखना ही पर्याप्त है, कि ये श्रेणियां और निगम गुप्तकाल में भी विद्यमान थे, और देश का आर्थिक जीवन इन्हीं में केन्द्रित था। कुमारगुप्त प्रथम के समय के एक शिलालेख में पटकारों (जुलाहों) की एक श्रेणी का उल्लेख है, जो लाट (गुजरात) देश से आकर दशपुर में बस गयी थी। इसी तरह स्कन्दगुप्त के एक शिलालेख में 'इन्द्रपुरनिवासिनी तैलिक श्रेणी' का उल्लेख है। इसी प्रकार मृत्तिकार (कुम्हार), शिल्पकार, वणिक् आदि की भी श्रेणियों का उल्लेख इस युग के लेखों में है। अकेले वैशाली से २७४ मिट्टी की मोहरें मिली हैं, जो विविध लेखों को मुद्रित करने के काम में आती थीं। ये मोहरें 'श्रेष्ठीसार्थवाहकुलिकनिगम' की हैं। उस काल में वैशाली में साहूकार, व्यापारी और शिल्पयों की श्रेणियों का यह सम्मिलित शक्तिशाली निगम था। इसका कार्य भारत के बहुत-से नगरों में फैला हुआ था। जो पत्र इस निगम के पास दे जाते थे, उन्हें बन्द करके ऊपर से ये मोहरें लगाई जाती थीं, ताकि पत्र सुरक्षित रहें। इसका अभिप्राय यह है, कि अन्य नगरों में विद्यमान इस वैभवशाली निगम की शाखाओं के पास भी ऐसी मोहरों के सांचे थे, जिन्हें वह वैशाली के प्रधान निगम को पत्र भेजते हुए मुद्रित करने के काम में लाते थे। निगम की मोहर (कामन सील) के अतिरिक्त इन पत्रों पर एक और मोहर भी लगाई जाती थी, जो सम्भवतः विविध नगरों में विद्यमान निगम शाखाओं के अध्यक्ष की निजी मोहर होती थी। वैशाली में प्राप्त 'श्रेष्ठी-सार्थवाह-कुलिक-निगम' की २७४ मोहरों में से ७५ के साथ ईशानदास की, ३८ के साथ मातृदास की और ३७ के साथ गोमिस्वामी की मोहरें हैं। सम्भवतः ये व्यक्ति पाटिलपुत्र, कौशाम्बी आदि समृद्ध नगरों की निगमशाखा के अध्यक्ष थे, और उन्हें वैशाली के निगम के पास बहुधा पत्र भेजने की आवश्यकता रहती थी। इनके अतिरिक्त घोष, हरिगुप्त, भवसेन आदि की भी पांच-पांच या छः-छः मोहरें निगम की मोहरों के साथ में मुद्रित हैं। ये अन्य निगम शाखाओं के अध्यक्ष थे। कुछ पत्रों पर निगम की मोहर के साथ 'जयत्यनंतो भगवान्' 'जितं भगवता', 'नमः पशुपतये' सदृश मोहरें भी हैं। सम्भवतः, ये उन पत्रों पर लगायी गई थीं, जो किसी मंदिर व धर्मस्थान से वैशाली के 'श्रेष्ठी-सार्थवाहकुलिक-निगम' को भेजे गये थे। इन वैभवपूर्ण निगमों के पास धर्म-मंदिरों का रुपया अक्षयनीवि के रूप में जमा रहता था, और इसी लिये उन्हें इनके साथ पत्र-व्यवहार की आवश्यकता रहती थी।

वैशाली के इस निगम के अतिरिक्त अन्यत्र भी इसी प्रकार के विविध निगम गुप्त-

काल में विद्यमान थे। वर्त्तमान समय के बैंकों का कार्य इस काल में ये श्रेणियां और निगम ही करते थे। अपने झगड़ों का निर्णय भी वे स्वयं करते थे। उनका अपना न्यायालय होता था, जिसमें धर्म, चरित्र और व्यवहार के अनुसार निर्णय किया जाता था। इनके मुखिया या प्रतिनिधि विषयपति की राजसभा में भी सभासद् रहते थे। इस प्रकार स्पष्ट है, कि गुप्तकाल के आर्थिक जीवन में इन श्रेणियों व निगमों का बड़ा महत्त्व था।

श्रेणियां छोटी व बड़ी सब प्रकार की होती थीं। छोटी श्रेणियों में एक आचार्य (उस्ताद) अपने अंतेवासियों (शागिर्दों) के साथ व्यवसाय का संचालन किया करता था। कुम्हारों की श्रेणी को लीजिये। बहुत-से ग्रामों व नगरों में इस श्रेणी की सत्ता थी। श्रेणी का मुखिया आचार्य कहलाता था। उसके साथ बहुत-से शागिर्द (अंतेवासी) रहते थे, जो आचार्य के घर में पुत्रों की तरह निवास करते थे। नारदस्मृति ने इस विषय को बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है। वहाँ लिखा है—जिस किसी को कोई शिल्प सीखना हो, वह अपने बांधवों की अनुमति लेकर आचार्य के पास जाय और उससे समय आदि का निश्चय कर उसी के पास रहे। यदि शिल्प को जल्दी भी सीख लिया जाय, तो भी जितने काल का फैसला कर लिया हो, उतने काल तक अवश्य ही गुरु के घर में निवास करे। आचार्य अपने अन्तेवासी के साथ पुत्र की तरह व्यवहार करे, कोई दूसरा काम उससे न ले, उसे अपने पास से भोजन देवे और उसे भली-भाँति शिल्प की शिक्षा दे। जब अंतेवासी शिल्प को सीख ले, और निश्चित किया हुआ समय समाप्त हो जाय, तब आचार्य को दक्षिणा देकर और अपनी शक्ति भर उसको दक्षिणा द्वारा मान देकर अपने घर लौट आये।

नारदस्मृति के इस सन्दर्भ से एक छोटी श्रेणी (यथा कुम्भकार श्रेणी) का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। आचार्य के घर में जो अंतेवासी रहते थे, वे एक निश्चित समय तक शागिर्दी करने के लिये प्रतिज्ञा करते थे। इस बीच में आचार्य उनसे शिल्प-सम्बन्धी सब काम लेता था, बदले में केवल भोजन या निर्वाह का खर्चा देता था। एक आचार्य के अधीन बहुत-से अंतेवासी रहा करते थे। आचार्य को मजदूर रखने की आवश्यकता नहीं होती थी। निर्धारित समय समाप्त हो जाने पर ये अंतेवासी अपना स्वतंत्र व्यवसाय कर सकते थे। भारत में ऐसी श्रेणियां मौर्यकाल व उससे भी पहले से चली आ रही थीं। पर गुप्त-युग में अनेक व्यवसायों में छोटी-छोटी श्रेणियों का स्थान बड़े पैमाने की सुसंगठित श्रेणियों ने ले लिया था। मंदसौर की प्रशस्ति में जिस पटकार श्रेणी के लाटदेश से दशपुर आकर बस जाने का उल्लेख है, उसके सम्बन्ध में यह लिखा है कि उसके बहुत-से सदस्य थे, जो भिन्न-भिन्न विद्याओं में निपुण थे। वस्त्र बुनने में तो सभी दक्ष थे, पर साथ ही उनमें से अनेक व्यक्ति गान, कथा, धर्मप्रसंग, ज्योतिष, शील, विनय और युद्धविद्या में भी प्रवीण थे। मन्दसौर के लेख में दशपुर की श्रेणी के सदस्यों के गुणों का जितने विस्तार से वर्णन किया गया है, उससे सूचित होता है कि यह श्रेणी बहुत शक्तिशाली, वैभवपूर्ण और सम्पन्न थी। उसमें अनेक कुलों और वंशों के व्यक्ति सम्मिलित थे। ये अपनी रक्षा के लिये शस्त्रधारण भी करते थे। इस प्रकार की बड़ी-बड़ी श्रेणियों और निगमों का विकास गुप्तकाल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। विविध श्रेणियों व निगमों के संघ भी इस समय तक बन गये थे, जो केवल एक नगर में ही नहीं, अपितु बहुत विस्तृत क्षेत्र में अपना कार्य करते थे। ये बड़ी-बड़ी श्रेणियां इतनी समृद्ध थी, कि दशपुर की

तंतुवायश्रेणी ने स्वयं अपने कमाये हुए धन से एक विशाल सूर्य-मंदिर का निर्माण कराया था, और उसी की प्रतिष्ठा के उपलक्ष में मंदसौर की प्रशस्ति उत्कीर्ण करायी थी।

गुप्तकाल में व्यापार भी बहुत विकसित था। न केवल भारत के विविध प्रदेशों में अपितु पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के समुद्र-पार के देशों के साथ इस युग में भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। पाटलिपुत्र से कौशाम्बी और उज्जयिनी होते हुए एक सड़क भड़ौच को गयी थी, जो इस युग में पश्चिमी भारत का बहुत समृद्ध नगर और बन्दरगाह था। यहाँ से मिस्र, रोम, ग्रीस, फारस और अरब के साथ व्यापार होता था। पूर्व में बंगाल की खाड़ी के तट पर ताम्रलिप्ति बहुत बड़ा बन्दरगाह था। यहाँ से भारतीय व्यापारी बरमा, जावा, सुमात्रा, चीन आदि सुदूर पूर्व के देशों में व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। फाइयान ने यहीं से अपने देश के लिये प्रस्थान किया था। इस युग में हिन्द महासागर के विविध द्वीपों और सुदूर पूर्व के अनेक प्रदेशों में वृहत्तर भारत का विकास हो चुका था। भारतीयों का अपने इन उपनिवेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन उपनिवेशों में आने-जाने के लिये ताम्रलिप्ति (वर्त्तमान तामलूक) का बन्दरगाह बहुत काम में आता था। इसके अतिरिक्त भारत के पूर्वी समुद्र तट पर कदूर, घंटशाली, कावेरी-पट्टनम, तोंदई, कोरकई आदि अन्य भी अनेक बन्दरगाह थे।

मिस्र और रोमन साम्राज्य के साथ जो व्यापार गुप्तवंश के शासन से पहले प्रारम्भ हो चुका था, वह अब तक भी जारी था। रोम की शक्ति के क्षीण हो जाने के बाद पूर्व में कोंस्टैंटिनोपल (पुराना बाइजेन्टियम) पूर्वी रोमन साम्राज्य का प्रधान केन्द्र हो गया था। कोंस्टैंटिनोपल के सम्राटों के शासनकाल में भी भारत के साथ पश्चिमी दुनिया का व्यापार-सम्बन्ध कायम रहा, और यवन जहाज भड़ौच तथा पश्चिमी तट के अन्य बन्दरगाहों पर आते रहे। रोम की शक्ति के क्षीण होने के बाद भारत के पश्चिमी विदेशी व्यापार में अरब लोगों ने अधिक दिलचस्पी लेनी शुरू की, और भारत का माल अरब व्यापारियों द्वारा ही पश्चिमी दुनिया में जाने लगा। भारत से बाहर जाने वाले माल में मोती, मणि, सुगंधि, सूती वस्त्र, मसाले, नील, ओषधि, हाथीदांत आदि प्रमुख थे। इनके बदले में चांदी, ताम्बा, टिन, रेशम, काफूर, घोड़े और खजूर आदि भारत में आते थे।

गुप्तकाल के आर्थिक जीवन पर प्रकाश डालते हुए यह भी लिखना आवश्यक है, कि दास-प्रथा इस समय भी भारत में विद्यमान थी। याज्ञवल्क्य और नारदस्मृतियों में दासों का उल्लेख है, और उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के नियम दिये गये हैं। दास कई प्रकार के होते थे—युद्ध में जीते हुए, जिन्होंने अपने को स्वयं बेच दिया हो, दासों की सन्तान, खरीदे हुए और सजा के रूप में जिसे दास बनाने का दण्ड मिला हो। दास लोग पृथक् कमाई करके रुपया बचा सकते थे, और उससे स्वयं अपने को खरीदकर स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते थे। नारदस्मृति के अनुसार जब कोई दास स्वतंत्रता प्राप्त करता था, तो वह अपने कंधे पर घड़ा लेकर खड़ा होता था। उसका स्वामी इस घड़े को दास के कंधे से लेकर फोड़ देता था और फिर उसके सिर पर जल छिड़कता था। इस जल में फूल और फल पड़े रहते थे। इस प्रकार स्वतंत्र हुए दास का अभिषेचन करके उसका भूतपूर्व स्वामी तीन बार घोषणा करता था, कि अब यह स्वतंत्र व्यक्ति है।

अठारहवां अध्याय

गुप्तकाल की कृतियां और अवशेष

(१) मूर्तियाँ

शिलालेखों और सिक्कों के अतिरिक्त गुप्तकाल की बहुत-सी मूर्तियां, मंदिर, स्तम्भ व अन्य अवशेष इस समय उपलब्ध होते हैं। जहां इनसे गुप्त-साम्राज्य के वैभव का परिचय मिलता है, वहाँ उस युग की कला और शिल्प का भी अच्छा ज्ञान होता है। इनपर हम संक्षेप से प्रकाश डालेंगे। इस काल की मूर्तियां बौद्ध, शैव, वैष्णव व जैन—सब सम्प्रदायों की मिलती हैं। बौद्ध-धर्म की मुख्य मूर्तियां निम्नलिखित हैं:—

(१) सारनाथ की बुद्ध-मूर्ति—इस मूर्ति में पद्मासन बांधकर बैठे हुए भगवान् बुद्ध सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते हुए दिखाये गये हैं। बुद्ध के मुखमण्डल पर अपूर्व शांति, प्रभा, कोमलता और गम्भीरता है। अंग-प्रत्यंग में सौकुमार्य और सौन्दर्य होते हुए भी ऐहलौकिकता का सर्वथा अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध लोकोत्तर भावना को लिये हुए, अपने ज्ञान (बोध) को संसार को प्रदान करने के लिये ही ऐहलौकिक व्यवहार में तत्पर हैं। मूर्ति में दोनों कंधे महीन वस्त्र से ढके हुए प्रदर्शित किये गये हैं। ये वस्त्र पैरों तक हैं, और आसन के समीप पैरों से इनका भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सिर के चारों ओर सुन्दर अलंकृत प्रभामण्डल है, जिसके दोनों ओर दो देवों की मूर्तियां बनी हैं। देव हाथ में पत्र-पुष्प लिये हुए हैं। आसन के मध्य भाग में एक चक्र बनाया गया है, जिसके दोनों ओर दो मृग हैं। गुप्तकालीन मूर्तिकला का यह मूर्ति अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है।

ऐसी ही अनेक मूर्तियां कलकत्ता म्यूजियम में सुरक्षित हैं। इनमें सारनाथ की मूर्ति से बहुत समता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि विविध भक्तों ने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रदर्शित करने के लिए इन विविध मूर्तियों की प्रतिष्ठा करायी थी।

(२) मथुरा की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति—इनके मुखमण्डल पर भी शांति, करुणा और आध्यात्मिक भावना का अपूर्व सम्मिश्रण है। बुद्ध निष्कंप प्रदीप के समान खड़े हैं, और उनके मुख पर एक दैवीय स्मिति भी है। इस मूर्ति में बुद्ध ने जो वस्त्र पहने हैं, वे बहुत ही महीन हैं, उनमें से उनके शरीर का प्रत्येक अंग स्पष्ट रूप से दिखायी देता है। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल है। यह मूर्ति इस समय मथुरा के म्यूजियम में सुरक्षित है। इसी के नमूने की खड़ी हुई अन्य बहुत-सी बुद्ध-मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं, जो विविध संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। ये सब मथुरा की मूर्तिकला के अनुपम उदाहरण हैं।

(३) ताम्र की बुद्ध-मूर्ति—यह बिहार प्रान्त के भागलपुर जिले में सुलतानगंज से प्राप्त हुई थी, और अब इंगलैण्ड में बरमिंघम के म्यूजियम में रखी है। ताम्बे की बनी

हुई खड़े प्रकार की यह मूर्ति साढ़े सात फीट ऊँची है। इसमें बुद्ध का स्वरूप समुद्र की तरह गम्भीर, महान्, पूर्ण और लोकोत्तर है। बुद्ध का दाहिना हाथ अभयमुद्रा में कुछ आगे बढ़ा हुआ है। मुखमण्डल पर अपूर्व शान्ति, करुणा और दिव्य तेज है। गुप्तकाल की मूर्तियों में ताम्र की यह प्रतिमा वस्तुतः बड़ी अद्भुत और अनुपम है। धातु को ढाल-कर इतनी सुन्दर मूर्ति जो शिल्पी बना सकते थे, उनकी दक्षता, कला और प्रतिभा की सचमुच प्रशंसा करनी पड़ती है।

गुप्तकाल में मूर्तिनिर्माण कला के तीन बड़े केन्द्र थे—मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। तीनों केन्द्रों की कुछ अपनी-अपनी विशेषताएं थी। ऊपर लिखी तीनों मूर्तियां इन केन्द्रों की कला की प्रतिनिधि समझी जा सकती हैं। इन्हीं के नमूने की बहुत-सी मूर्तियां भारत के विविध स्थानों पर पायी जाती हैं। खेद यह है, कि इनमें से अधिकांश भग्न दशा में हैं। किसी का दायां हाथ टूटा है, तो किसी का बायां। किसी का सिर टूट गया है, और किसी के कान, नाक आदि तोड़ दिये गये हैं। समय की गति और कुछ मूर्तिपूजा-विरोधी सम्प्रदायों के कोप का ही यह परिणाम हुआ है। फिर भी गुप्तकाल की उपलब्ध मूर्तियां उस युग के शिल्पकारों की योग्यता और प्रतिभा को भली-भांति प्रदर्शित करती है।

प्रस्तर-फलक—भगवान् बुद्ध की सम्पूर्ण मूर्तियों के अतिरिक्त इस काल के बहुत-से ऐसे प्रस्तर फलक भी मिलते हैं, जिन पर बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं को उत्कीर्ण करके प्रदर्शित किया गया है। ऐसे बहुत-से प्रस्तरखंड सारनाथ में उपलब्ध हुए हैं, जिन पर लुम्बिनीवन में महात्मा बुद्ध का जन्म, बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध की ज्ञान-प्राप्ति, सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन और कुशीनगर में बुद्ध का महापरिनिर्वाण आदि प्रस्तरखण्ड को तरास कर सुन्दर रीति से चित्रित किये गये है। इसी तरह बुद्ध की माता का स्वप्न, कुमार सिद्धार्थ का अभिनिष्क्रमण, बुद्ध का विश्व-रूप-प्रदर्शन आदि बहुत-सी अन्य घटनाएँ भी मूर्तियों द्वारा प्रदर्शित की गयी हैं। पत्थर तरास कर उसे जीवित-जागृत रूप दे देने की कला में गुप्तकाल के शिल्पी बहुत ही प्रवीण थे।

बुद्ध की मूर्तियों के अतिरिक्त अनेक बोधिसत्वों और बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियां भी इस युग में बनाई गयीं। बौद्ध-धर्म में इस समय तक अनेक देवताओं व बोधिसत्वों की पूजा का प्रारम्भ हो चुका था। उनके सम्बन्ध में बहुत-सी गाथाएँ बन गयी थीं, और प्राचीन पौराणिक गाथाओं के समान लोग उनपर विश्वास करने लगे थे। यही कारण है, कि इन गाथाओं की अनेक घटनाओं को भी मूर्तियों द्वारा अंकित किया गया, और बोधिसत्वों की बहुत-सी छोटी-बड़ी मूर्तियां बनाई गयीं। अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, मञ्जुश्री आदि की अनेक और विविध प्रकार की मूर्तियां इस समय में बनीं। इनमें से अनेक आजकल उपलब्ध भी हैं।

पौराणिक मूर्तियां—सनातन पौराणिक धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाली जो बहुत-सी मूर्तियां गुप्तकाल की बनी हुई अब उपलब्ध होती हैं, उनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :—

(१) मध्यभारत में भेलसा के पास उदयगिरि में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा बनवाये हुए मन्दिरों के बाहर पृथिवी का उद्धार करते हुए वराह भगवान् की एक विशाल

मूर्ति मिली है। पौराणिक कथा के अनुसार प्रलय के जल में मग्न होती हुई पृथ्वी का उद्धार करने के लिये भगवान् विष्णु ने वराह का रूप धारण किया था, और पृथ्वी को ऐसे उठा लिया था, मानों वह हल्का-सा फूल हो। इस मूर्ति में भगवान् के इसी वाराह रूप को अंकित किया गया है। इस मूर्ति में वराह के बाएँ पैर के नीचे शेष की आकृति बनी हुई है, और पृथ्वी को वराह अपनी दंष्ट्राओं पर उठाये हुए हैं। मूर्ति का शरीर मनुष्य का है, पर मुख वराह का है।

(२) गोवर्धनधारी कृष्ण— यह मूर्ति काशी के समीप एक टीले में मिली थी, और अब सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है। इसमें कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को गेंद की तरह उठाया हुआ है।

(३) शेषशायी विष्णु—झांसी जिले में देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल के एक विष्णु-मंदिर में विष्णु भगवान् की एक मूर्ति है, जो शेषनाग पर शयन करती हुई दिखाई गयी है। इसमें एक ओर शेषशायी विष्णु हैं, जिनके नाभिकमल पर ब्रह्मा स्थित हैं, चरणों के पास लक्ष्मी बैठी हैं, ऊपर आकाश में कार्तिकेय, इन्द्र, शिव, पार्वती आदि दर्शन कर रहे हैं। विष्णु के सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा हाथों में कंकण हैं। साथ ही, अन्य अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियां भी हैं, जिनका निर्माण पौराणिक गाथाओं के अनुसार किया गया है।

(४) कौशाम्बी की सूर्य-मूर्ति—प्राचीन भारत में सूर्य की भी मूर्ति बनाई जाती थी, और उसके अनेक मंदिर विविध स्थानों पर विद्यमान थे। दशपुर में सूर्य का एक मंदिर तंतुवायों की श्रेणी ने गुप्तकाल में ही बनवाया था। कौशाम्बी में प्राप्त सूर्य की यह मूर्ति भी बड़ी भव्य और सुन्दर है।

(५) कार्तिकेय—यह मूर्ति काशी के कलाभवन में सुरक्षित है। यह मोर पर बैठी हुई बनाई गयी है, और कार्तिकेय के दोनों पैर मोर के गले में पड़े हुए हैं। इसके भी सिर पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा अन्य बहुत-से आभूषण हैं। कार्तिकेय देवताओं की सेना का सेनापति था। अतः उसके हाव-भाव में गाम्भीर्य और पौरुष होना ही चाहिये। ये सब गुण इस मूर्ति में सुन्दरता के साथ प्रगट किये गये हैं। मोर की पूँछ पीछे की ओर उठी हुई है। कुमारगुप्त प्रथम के अनेक सिक्कों पर कार्तिकेय का जो चित्र है, यह मूर्ति उससे बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

(६) भरतपुर राज्य में रूपवास नामक स्थान पर चार विशालकाय मूर्तियां विद्यमान हैं, जिनमें से एक बलदेव की है। इसकी ऊँचाई सत्ताईस फीट से भी अधिक है। दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायण की है। इसकी ऊँचाई नौ फीट से कुछ ऊपर है।

(७) गुप्तकाल में निर्मित शिव की भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। सारनाथ के संग्रहालय में लोकेश्वर शिव का एक सिर है, जिसका जटाजूट भारतीय प्रभाव से प्रभावित चीन की मूर्तियों के सदृश है। इसके अतिरिक्त गुप्तकाल के अनेक शिवलिंग व एकमुखलिंग भी इस समय प्राप्त हुए हैं। एकमुखलिंग वे हैं, जिनमें लिंग के एक तरफ मनुष्य के सिर की आकृति बनी होती है। ऐसी एक एकमुखलिंग प्रतिमा नागोद राज्य में मिली है, जिसके सिर पर रत्न-जटित मुकुट है, और जटाजूट के ऊपर अर्ध-चन्द्र विद्यमान है। ललाट पर शिव का तृतीय नेत्र भी प्रदर्शित किया गया है

(८) बंगाल के राजशाही जिले से कृष्णलीला-सम्बन्धी भी अनेक मूर्तियां मिली हैं, जो गुप्तकाल की मानी जाती हैं।

जैन-मूर्तियां—बौद्ध तथा पौराणिक मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त-काल की जैन-मूर्तियां भी पाई गयी हैं। मथुरा से वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है, जो कुमारगुप्त के समय की है। इसमें महावीर पद्मासन लगाये ध्यानमग्न बैठे हैं। इसी तरह की मूर्तियां गोरखपुर जिले व अन्य स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं।

मूर्तिनिर्माण कला की मौलिकता—भारत में मूर्तिनिर्माण की कला बहुत प्राचीन है। शैशुनाग और मौर्य वंशों के शासन-समय में इस कला ने विशेष रूप से उन्नति प्रारम्भ की थी। यवन और शक लोगों के सम्पर्क से इस कला ने और अधिक उन्नति की। अध्यात्मवाद और पाश्चात्य भौतिकवाद ने मिलकर एक नई शैली को जन्म दिया, जिसने इस देश की मूर्तियों में एक अपूर्व सौन्दर्य ला दिया। गुप्तकाल की मूर्तियों में विदेशी प्रभाव का सर्वथा अभाव है। वे विशुद्ध भारतीय हैं। उनकी आकृति, मुद्रा और भाव-भंगी पूर्णतया भारतीय होते हुए भी उनमें अनुपम सौन्दर्य है। भौतिक सौन्दर्य की अपेक्षा भी उनमें आन्तरिक शान्ति, ओज और आध्यात्मिक आनन्द की जो झलक है, वह वर्णनातीत है। मूर्तिनिर्माण कला की दृष्टि से गुप्तकाल वस्तुतः अद्वितीय है। इस युग की बनी हुई मूर्तियों का भारतीय इतिहास में जो स्थान है, वह अन्य युग की मूर्तियों को प्राप्त नहीं है।

प्रस्तर मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्तकाल में मिट्टी व मसाले की मूर्तियों का भी रिवाज था। इस युग की अनेक नक्काशीदार ईंटे पहले सांचे से ढाली जाती थीं, फिर उनपर औजार से तरह-तरह की चित्रकारी की जाती थी। फिर सुखाकर उन्हें पका लिया जाता था। गुप्तकाल की ये नक्काशीदार ईंटे बहुत ही सुन्दर हैं, और उनपर अनेक प्रकार के चित्र अंकित हैं। ईंटों की तरह ही नक्काशीदार खम्भे तथा अन्य इमारती साज भी इस काल में तैयार किये जाते थे।

गुप्तकाल की मिट्टी की जो मूर्तियां मिली हैं, वे भी बौद्ध और पौराणिक देवी-देवताओं की हैं। इनका सौन्दर्य पत्थर की मूर्तियों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। पकी हुई ईंटों का चूरा तथा चूना भी मूर्तियों को बनाने के लिये प्रयुक्त होता था। इस प्रकार की बहुत-सी मूर्तियां सारनाथ, कौशाम्बी, मथुरा, राजघाट, अहिच्छत्र, श्रावस्ती आदि प्राचीन स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। मूर्तियों के अतिरिक्त इन स्थानों से मिट्टी पकाकर बनाये हुए खिलौने व मिट्टी के बैल, हाथी, घोड़े व अन्य छोटे-छोटे प्राणी भी बड़ी संख्या में प्राप्त हुए हैं। गुप्तकाल में यह कला बहुत उन्नत दशा में थी। यही कारण है, कि इस काल के खंडहरों में इस प्रकार की प्रतिमाएं बहुतायत से मिलती हैं। मिट्टी की बनी इन छोटी-बड़ी मूर्तियों द्वारा सर्वसाधारण जन-समाज कला और सौन्दर्य का रसास्वादन कर सकता था। देवी-देवताओं के अतिरिक्त सब प्रकार के स्त्री-पुरुषों की छोटी-छोटी मूर्तियां भी इस काल में बनती थीं। शक, यवन, हूण आदि जो विदेशी इस काल के भारतीय समाज में प्रचुर संख्या में दिखाई देते थे, कलाकारों का ध्यान उनकी तरफ आकृष्ट हुआ था। यही कारण है, कि इस युग की मिट्टी की छोटी-छोटी मूर्तियों में इन विदेशियों की मूर्तियों की संख्या बहुत अधिक है।

(२) प्रस्तर-स्तंभ

अशोक के समान गुप्त-सम्राटों ने भी बहुत से प्रस्तर-स्तम्भ बनवाये थे। ये किसी महत्त्वपूर्ण विजय की स्मृति में या किसी सम्राट् की कीर्ति को स्थिर करने के लिये या विविध प्रदेशों की सीमा निश्चित करने के लिये और धार्मिक प्रयोजन से बनाये गये थे। गुप्तकाल के अनेक स्तम्भ इस समय उपलब्ध हुए हैं। प्रयाग में स्थित अशोक के पुराने स्तम्भ पर सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रशस्ति उत्कीर्ण की गई है। गोरखपुर जिले में कहौम नामक स्थान पर स्कंदगुप्त का एक प्रस्तर-स्तम्भ है, जिसपर इस प्रतापी सम्राट् की कीर्ति अमर रूप से उत्कीर्ण की हुई है।

गुप्त-काल में भगवान् विष्णु की प्रतिष्ठा में ध्वजस्तम्भ बनाने का बहुत रिवाज था। सम्राट् बुधगुप्त के समय में सामंत राजा मातृविष्णु व वन्यविष्णु द्वारा बनवाया हुआ ऐसा एक स्तम्भ एरण में विद्यमान है। कुमारगुप्त के समय का ऐसा ही एक स्तम्भ भिलसद में स्थित है, जिसे स्वामी महासेन के मंदिर के स्मारक रूप में बनवाया गया था। गाजीपुर जिले के भिटरी गाँव में भगवान् विष्णु की एक प्रतिमा की प्रतिष्ठा के अवसर पर उसके उपलक्ष में स्थापित किया हुआ एक स्तम्भ उस गाँव में अब तक विद्यमान है। इसी तरह का एक स्मृतिस्तम्भ पटना जिले के विहार नगर में है, जिसे सेनापति गोपराज की यादगार में खड़ा किया गया था।

मौर्यकाल के स्तम्भ गोल होते थे, और उनपर चिकना चमकदार वज्रलेप होता था। पर गुप्तकाल के स्तम्भ गोल व चिकने नहीं हैं। गुप्तों के स्तम्भ अनेक कोणों से युक्त हैं। एक ही स्तम्भ के विविध भागों में विविध कोण हैं। कोई स्तम्भ नीचे आधार में यदि चार कोणों का है, तो बीच में आठ कोणों का हो गया है। कई स्तम्भ ऐसे भी हैं, जो नीचे चार कोणों के और बीच में गोल हैं। किसी-किसी स्तम्भ में ऊपर सिंह व गरुड़ की मूर्तियाँ भी हैं। प्रस्तर के अतिरिक्त धातु का २४ फीट ऊँचा जो विशाल स्तम्भ दिल्ली के समीप महरौली में है, वह भी गुप्तकाल का ही है। यह लोहस्तम्भ संसार के आश्चर्यों में गिना जाना चाहिये। इसका निर्माण भी विष्णुध्वज के रूप में ही हुआ था।

(३) भवन और मंदिर

गुप्त-काल के कोई राजप्रासाद या भवन अब तक उपलब्ध नहीं हुए। पाटलिपुत्र, उज्जयिनी आदि किसी भी प्राचीन नगरी में गुप्त-सम्राटों व उनके सामंत राजाओं या धनी पुरुषों के महलों के कोई खण्डहर अभी तक नहीं पाये गये। पर अमरावती, नागार्जुनी-कोंड और अजंता की गुफाओं में विद्यमान विविध चित्रों व प्रतिमाओं में प्राचीन राजप्रासादों को भी चित्रित किया गया है। इस काल के साहित्य में भी सुन्दर प्रासादों के वर्णन हैं, जिनसे सूचित होता है, कि गुप्तकाल के भवन बहुत विशाल और मनोरम होते थे।

सौभाग्यवश, गुप्तकाल के अनेक स्तूप, विहार, मंदिर और गुफाएँ अब तक भी विद्यमान हैं। यद्यपि ये भग्न दशा में हैं, पर इनके अवलोकन से उस युग की वास्तुकला का भली-भाँति परिचय मिल जाता है। गुप्तकाल में पौराणिक धर्म प्रधान था। यही कारण है, कि इस युग में बहुत-से वैष्णव, शैव और सूर्य देवता के मंदिर बनाये गये। अब तक गुप्त-युग के जो पौराणिक मंदिर मिले हैं, उनमें सर्वप्रधान निम्नलिखित हैं—

(१) मध्यप्रदेश के नागोद क्षेत्र में भूमरा नामक स्थान पर प्राचीन समय का एक शिवमंदिर है। अब यह बहुत भग्न दशा में है। इसका केवल चबूतरा और गर्भगृह ही अब सुरक्षित दशा में हैं। चबूतरा प्रदक्षिणापथ के काम में आता था। मंदिर के गर्भगृह में एकमुख शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है, जो मूर्तिकला का एक अत्यंत सुन्दर उदाहरण है। मंदिर के द्वार-स्तम्भ के दाईं ओर गंगा और बाईं ओर यमुना की मूर्तियां हैं। अन्य अनेक सुन्दर मूर्तियां भी यहां प्रस्तर पर उत्कीर्ण हैं।

(२) मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में तिगवा नामक स्थान पर गुप्तकाल का एक मंदिर पाया गया है, जो एक ऊँचे टीले पर स्थित है। यहां दो मंदिर हैं, एक की छत चपटी है और दूसरे की छत पर शिखर है। चपटी छतवाला मंदिर अधिक पुराना है। वह पांचवीं सदी के शुरू में बना था। इसकी चौखट आदि की कारीगरी बहुत सुन्दर है।

(३) अजयगढ़ राज्य में भूमरा के समीप नचना कुथना नामक स्थान पर पार्वती का एक पुराना मंदिर है। इसकी बनावट भूमरा के मंदिर के ही समान है।

(४) झांसी जिले के देवगढ़ नामक स्थान पर गुप्तकाल का दशावतार का मंदिर है। गुप्त-युग के मंदिरों में यह सबसे प्रसिद्ध और उत्कृष्ट है। एक ऊँचे चबूतरे पर बीच में मंदिर बना हुआ है। इसके गर्भगृह में चार द्वार हैं, जिनके प्रस्तरस्तम्भों पर बहुत सुन्दर मूर्तियां अंकित की गयी हैं। अनंतशायी विष्णु की प्रसिद्ध मूर्ति यहीं पर विद्यमान है, और इस मंदिर के ऊपर शिखर भी है। भारत के आधुनिक मंदिरों के ऊपर शिखर अवश्य होता है। पर गुप्त-काल में शुरू-शुरू में जो मंदिर बने थे, उनकी छत चपटी होती थी, और ऊपर शिखर नहीं रहता था। गुप्त-काल के समाप्त होने से पूर्व ही मंदिरों पर शिखरों का निर्माण शुरू हो गया था। देवगढ़ के इस दशावतार के मंदिर का शिखर सम्भवतः भारत में सबसे पुराना है, और इसी कारण इस मंदिर का बहुत महत्त्व है।

(५) कानपुर के समीप भिटरगांव में गुप्तकाल का एक विशाल मंदिर अब तक विद्यमान है, जो ईंटों का बना है। ऊपर जिन मंदिरों का उल्लेख किया गया है, वे प्रस्तर-शिलाओं द्वारा निर्मित हैं। पर भिटरगांव का यह मंदिर ईंटों का बना है, और उसकी दीवारों का बाहरी अंश मिट्टी के पकाये हुए फलकों से बनाया गया है। इन फलकों पर तरह-तरह की चित्रकारी व मूर्तियां अंकित की हुई हैं।

(६) महाराष्ट्र के बीजापुर जिले में अपहोल नामक स्थान पर एक पुराना मंदिर है, जो गुप्तकाल का है। इसके भी प्रमुख द्वार पर गंगा और यमुना की मूर्तियां हैं, और इसकी खिड़कियां नक्काशीदार पत्थर की बनी हैं।

(७) आसाम में ब्रह्मपुत्र नदी के तट पर दहपरबतिया नामक स्थान पर एक मंदिर भग्न दशा में मिला है, जो गुप्तकाल का है।

पौराणिक धर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले इन मंदिरों के अतिरिक्त गुप्तकाल के बौद्ध-धर्म के अनेक स्तूप व विहार भी आजकल विद्यमान हैं। सारनाथ का धमेख-स्तूप गुप्तकाल में ही बना था। इसके बाहरी भाग में जो प्रस्तर है, वे अनेक प्रकार के चित्रों व प्रतिमाओं से अंकित हैं। चित्रों के बेल व बूटे बहुत सुन्दर बनाये गये हैं। सारनाथ में ही एक प्राचीन विहार के खंडहर मिले हैं, जो गुप्तकाल के माने जाते हैं।

इसी तरह विहारशरीफ (पटना जिला) के समीप नालंदा में पुराने विहारों के जो बहुत से खंडहर अब उपलब्ध हैं, वे गुप्तकाल के ही समझे जाते हैं।

गुप्तकाल के गुहाभवनों में भिलसा के समीप की उदयगिरि की गुहा सबसे महत्त्व की है। यहीं पर विष्णु के वाराह-अवतार की विशाल प्रतिमा खड़ी है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उदयगिरि की इस गुहा के द्वार-स्तम्भों तथा अन्य दीवारों पर भी बहुत-सी प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। अजंता की विश्वविख्यात गुफाओं में से भी कम-से-कम तीन गुप्तकाल में बनी थीं। अजंता में छोटी-बड़ी कुल उनतीस गुहाएँ हैं। इनके दो भेद हैं, स्तूपगुहा और विहारगुहा। स्तूपगुहाओं में केवल उपासना की जाती थी। ये लम्बाई में अधिक हैं, और इनके आखिरी सिरे पर एक स्तूप है, जिसके चारों ओर प्रदक्षिणा करने की जगह होती है। विहारगुहाओं में भिक्षुओं के रहने और पढ़ने-लिखने के लिये भी जगह बनाई गयी है। ये सब गुहाएँ हैदराबाद (निजाम) राज्य में फरदापुर गाँव के समीप हैं। इन सब को पहाड़ काटकर बनाया गया है। बाहर से देखने पर पहाड़ ही दृष्टिगोचर होता है, पर अंदर विशाल भवन बने हैं, जिनकी रचना पहाड़ काटकर की गयी है। गुप्तकाल में बनी १६ नं० की गुहा ६५ फीट लम्बी और इतनी ही चौड़ी है। इसमें रहने के छः कमरे हैं, और कुल मिलाकर सोलह स्तम्भ हैं। १७ नं० की गुहा भी आकार में इतनी ही बड़ी है।

ऊपर जिन स्तम्भों, मंदिरों, स्तूपों व गुहाभवनों का उल्लेख किया गया है, उनके अतिरिक्त गुप्तकाल के नगरों के भी कुछ अवशेष इस समय उपलब्ध हुए हैं। भारत के पुरातत्त्व-विभाग ने प्राचीन नगरों के खंडहरों की अभी पूरी तरह खुदाई नहीं की है। बहुत-से बड़े-बड़े खेड़े अभी उन स्थानों पर बिना छुए ही पड़े हैं, जहाँ किसी जमाने में फूलते-फलते समृद्ध नगर विद्यमान थे। ऐसे कुछ स्थानों पर खुदाई का जो कार्य पिछले सालों में हुआ है, उससे गुप्तकाल के नगरों के भी कुछ अवशेष प्राप्त हुए हैं। पर अभी यह कार्य नहीं के बराबर हुआ है। आशा है, कि पुरातत्त्व विभाग के प्रयत्न से अभी अन्य बहुत-से अवशेष प्राप्त हो सकेंगे।

गुप्तकाल में पाटलिपुत्र, वैशाली, पुण्ड्रवर्धन, कौशाम्बी, अहिच्छत्र, वाराणसी (सारनाथ और राजघाट), उज्जयिनी, मथुरा आदि बहुत-से समृद्ध नगर थे। इनके गगनचुम्बी राजप्रासादों, विहारों और भवनों की जगह अब ऊँचे-ऊंचे खेड़े खड़े हैं। जहाँ कहीं भी पुरातत्त्व-विभाग की ओर से खुदाई हुई है, वहाँ मिट्टी के बर्तनों, प्रतिमाओं, ईंटों (सादी और नक्काशीदार), मूर्तियों और पुरानी दीवारों के खण्डहर प्रचुर संख्या में मिले हैं। कहीं-कहीं भवनों और मदिरों की नींव की दीवारें भी अक्षुण्ण रूप में प्राप्त हुई हैं। ये सब सूचित करती हैं, कि गुप्तों के समय में भारत के निवासी बड़े समृद्ध और वैभवपूर्ण थे, और वे एक सभ्य और सुसंस्कृत जीवन व्यतीत करते थे।

(४) चित्रकला

गुप्तकाल की चित्रकला के सबसे उत्तम अवशेष अजंता की गुहाओं में विद्यमान हैं। ऊपर अजंता की नं० १६ और नं० १७ की जिन गुहाओं का उल्लेख हुआ है, उनकी दीवारों पर बड़े सुन्दर चित्र बने हुए हैं, जो कला की दृष्टि से अनुपम हैं। नं० १६

की गुहा में चित्रित एक चित्र में रात्रि के समय कुमार सिद्धार्थ गृहत्याग कर रहे हैं। यशोधरा और उनके साथ शिशु राहुल सोये हुए हैं। समीप में परिचारिकाएं भी गहरी नींद में सो रही हैं। सिद्धार्थ इन सब पर अंतिम दृष्टि डाल रहे हैं। उस दृष्टि में मोह-ममता नहीं है, इन सब के प्रति निर्मोहबुद्धि उस दृष्टि की विशेषता है, जिसे चित्रित करने में चित्रकार को अपूर्व सफलता हुई है। १६वीं गुहा के एक अन्य चित्र में एक मरणासन्न कुमारी का चित्र अंकित है, जिसकी रक्षा के सब प्रयत्न व्यर्थ हो चुके हैं। मरणासन्न राजकुमारी की दशा और समीप के लोगों की विकलता को इस चित्र में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकट किया है। १७वीं गुहा में माता-पुत्र का एक प्रसिद्ध चित्र है। सम्भवतः, यह चित्र यशोधरा का है, जो अपने पुत्र राहुल को बुद्ध के अर्पण कर रही है। बुद्ध हो जाने के बाद सिद्धार्थ एक बार फिर कपिलवस्तु गये थे। जब वे भिक्षा मांगते हुए यशोधरा के घर गये, तो उसने राहुल को उनको भेंट किया। उसी दृश्य को इस चित्र में प्रदर्शित किया गया है। माता यशोधरा के मुख पर जो आग्रह और विवशता का भाव है, वह सचमुच अनुपम है। बालक राहुल के मुख पर भी आत्मसमर्पण का भाव बड़े सुन्दर रूप से अंकित है।

इसी गुहा में एक अन्य चित्र एक राजकीय जलूस का है, जिसमें बहुत-से आदमी अनुपम रूप से सज-धज कर जा रहे हैं। किसी के हाथ में ऊंचा छत्र है, किसी के हाथ में बजाने की शृंगी। स्त्रियों के शरीर पर सुन्दर आभूषण हैं, और उनके वस्त्र इतने महीन हैं, कि सारा शरीर दिखाई पड़ता है। इस गुहा के अनेक चित्र जातक ग्रंथों के कथानकों को दृष्टि में रखकर बनाये गये हैं। वेस्सतर जातक के अनुसार बनाये गये एक चित्र में एक वानप्रस्थ राजकुमार से एक याचक ब्राह्मण उसके एकमात्र अल्पवयस्क पुत्र को मांग लेता है। वचनबद्ध राजकुमार अपने पुत्र को सहर्ष दे देता है। चित्र का ब्राह्मण बहुत क्षीण-काय है, उसके दांत बाहर निकले हुए हैं। तपस्वी राजकुमार बिना किसी क्षोभ व दुःख के अपने बालक को देने के लिये उद्यत है, और बालक का शरीर अतीव हृष्टपुष्ट और सुन्दर है। एक अन्य चित्र में चार दिव्य गायक प्रदर्शित किये गये हैं, जिनकी गान में तल्लीनता देखते ही बनती है। अजन्ता की नं० १७ की गुहा में इसी तरह के बहुत-से चित्र हैं, जिन्हें देखते हुए मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता। वे दर्शकों को एक कल्पनामयी मधुर दुनिया में ले जाते हैं, जहां पहुंचकर मनुष्य अपने को पूर्णतया भूल जाता है।

अजन्ता के समान ही ग्वालियर के अमझेरा क्षेत्र में बाघ नामक स्थान पर अनेक गुहामंदिर मिले हैं, जो विंध्याचल की पहाड़ियों को काटकर बनाये गये हैं। इन्हें गुप्तकाल के अंतिम भाग का माना जाता है। इनमें भी अजन्ता के समान ही बड़ी सुन्दर चित्रकारी की गयी है। इन गुहाओं की संख्या नौ है। इनमें से चौथी गुहा रंग-महल कहाती है। इस समय इसके बहुत-से चित्र नष्ट हो चुके हैं। विशेषतया छत के चित्र तो बिलकुल ही मिट गये हैं। इस रंगमहल तथा पांचवीं गुहा में कुल मिलाकर छः चित्र इस समय सुरक्षित हैं, जो सौन्दर्य और कला की दृष्टि से अजन्ता के चित्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं हैं।

गुप्तकाल के साहित्यिक ग्रंथों में भी चित्रलेखन का अनेक स्थानों पर उल्लेख आता है। कवि विशाखदत्त-रचित मुद्राराक्षस में आचार्य चाणक्य द्वारा नियुक्त जिस

गुप्तचर को अमात्य राक्षस की मुद्रा उपलब्ध हुई थी, वह यमराज का पट फैलाकर भिक्षा माँग रहा था। इस पट पर यमराज का चित्र अंकित था। अजन्ता के गुहाचित्रों में एक ऐसा भी है, जिसमें क्षपणकों का एक दल चित्रपट हाथ में लिये भीख मांगता फिर रहा है। ये क्षपणक नंगे हैं, और हाथ में चित्रपट लिये हुए हैं। गुप्तकाल में क्षपणकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था, जो इस तरह भिक्षा माँगा करता था। पर उस युग में चित्र केवल दीवारों पर ही नहीं बनाये जाते थे, अपितु कपड़े पर भी अनेक प्रकार के चित्र चित्रित किये जाते थे, यह इससे अवश्य सूचित होता है। कालिदास के काव्यों को पढ़ने से ज्ञात होता है, कि उस युग में प्रेमी और प्रेयसी एक दूसरे के चित्रों को बनाते थे, और विवाह-सम्बन्ध स्थिर करने से पूर्व चित्रों को भी देखा जाता था। कालिदास ने चित्र की कल्पना तथा उन्मीलन (रंग भरना) का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया है।

गुप्तकाल में चित्रकला इतनी अधिक उन्नति कर चुकी थी, कि वृहत्तर भारत के विविध उपनिवेशों में भी अनेक गुहाचित्र व रेशमी कपड़े आदि पर बनाये हुए चित्र मिले हैं। ये सब गुप्तकाल के हैं, और उसी शैली के हैं, जो भारत में प्रचलित थी। भारत से ही चित्रकार इस काल में सुदूर देशों में गये थे, और वहाँ उन्होंने अपनी कला के चमत्कार दिखाये थे।

(५) संगीत

समृद्धि और वैभव के इस युग में संगीत, अभिनय आदि का भी लोगों को बड़ा शौक था। गुप्त-सम्राट् स्वयं संगीत के बड़े प्रेमी थे। इसीलिये समुद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राटों ने अपने कुछ सिक्के ऐसे भी जारी किये, जिनमें वे वीणा या अन्य वाद्य का रसास्वादन कर रहे हैं। बाघ गुहामंदिरों के एक चित्र में नृत्य करनेवाली दो मण्डलियाँ दिखाई गयी हैं। प्रथम मण्डली में एक नर्त्तक नाच रहा है, और सात स्त्रियों ने उसे घेर रखा है। इनमें से एक स्त्री मृदंग, तीन झांझ और बाकी तीन कोई अन्य बाजा बजा रही हैं। दूसरी मण्डली के मध्य में भी एक नर्त्तक नाचता है, और छः स्त्रियाँ विविध बाजे बजा रही हैं। सारनाथ में प्राप्त एक प्रस्तरखण्ड पर भी ऐसा ही दृश्य उत्कीर्ण है। इसमें नृत्य करने वाली भी स्त्री है, और बाजा बजाने वाली भी स्त्रियाँ हैं। इन चित्रों को देखकर इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि गुप्तकाल में संगीत और नृत्य का बड़ा प्रचार था। सर्वसाधारण लोग इन कलाओं में बड़ा आनन्द अनुभव करते थे।

इसी काल में कालिदास, विशाखदत्त आदि अनेक कवियों ने अपने नाटक लिखे। ये जहाँ काव्य की दृष्टि से अनुपम हैं, वहाँ अभिनयकला की दृष्टि से भी अत्यन्त सुन्दर और निर्दोष हैं। ये नाटक जहाँ स्वयं इस काल के संगीत और अभिनय के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, वहाँ इनके अंदर भी नृत्य, गायन और अभिनय का जगह-जगह उल्लेख किया गया है।

उन्नीसवां अध्याय

भारतीय सभ्यता और धर्म का विदेशों में विस्तार

(१) बृहत्तर भारत का विकास

भारत के प्राचीन इतिहास में 'बृहत्तर भारत' का बहुत अधिक महत्त्व है। सम्राट् अशोक के समय में आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य के नेतृत्व में बौद्ध-धर्म के विदेशों में प्रचार का जो प्रयत्न शुरु हुआ था, आगे चलकर उसे बहुत सफलता मिली। तीसरी सदी ई० पू० में बौद्ध-धर्म की तीसरी संगीति (महासभा) द्वारा जिस बीज का आरोपण किया गया था, सात सदी बाद (पांचवी सदी ई० प० तक) वह एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हो गया था, जिसकी शाखाएँ पश्चिम में ईरान से लेकर पूर्व में इण्डोनेशिया और जापान तक, और उत्तर में साइबेरिया की सीमा से दक्षिण में सिंहल द्वीप तक फैली हुई थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि भारतीय सभ्यता और धर्म के विदेशों में प्रसार-कार्य में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बौद्ध लोगों ने किया था। पर उनका अनुसरण कर वैष्णव और शैव धर्मो के प्रचारक भी अन्य देशों में गये, और वहाँ उन्होंने अपने धर्म की विजयपताका स्थापित की। भारत के प्राचीन निवासी समुद्रयात्रा को पाप नहीं समझते थे। वे प्रधानतया तीन प्रयोजनों से विदेश यात्रा करते थे—(१) व्यापार के लिये, (२) धर्मप्रचार के लिये, और (३) उपनिवेश बसाने के लिये। ये ही तीन प्रेरक हेतु थे, जिनसे भारतीय लोग विदेशों में गये, और वहाँ जाकर उन्होंने अपने विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य की स्थापना की। इन तीनों हेतुओं पर संक्षिप्त रूप से विचार करना उपयोगी होगा।

व्यापार—प्राचीन समय में पृथिवी के जिन प्रदेशों में सभ्य जातियों का निवास था, भारत की स्थिति उनके ठीक मध्य में है। चीन, भारत, ईरान और ग्रीस प्राचीन काल में सभ्यता के मुख्य केन्द्र थे। रोमन साम्राज्य के विकास के बाद पश्चिमी दुनिया में सभ्यता का क्षेत्र भूमध्य सागर के पश्चिमी सिरे तक पहुँच गया था। भारत के व्यापारी पूर्व में चीन से शुरू कर पश्चिम में सिकन्दरिया (नील नदी के मुहाने पर स्थित अलेग्जेण्ड्रिया नगरी) तक व्यापार के लिये आया-जाया करते थे। भारतीयों का ख्याल था, कि बरमा, मलाया आदि धनधान्य से परिपूर्ण हैं, वहाँ सोने की खानें भी है, अत: अनेक महत्त्वाकांक्षी व साहसी युवक इन प्रदेशों में धन कमाने के उद्देश्य से जाया करते थे, और इन प्रदेशों का नाम ही 'सुवर्णभूमि' पड़ गया था। जातक ग्रन्थों में अनेक ऐसी कथाएं आती हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि भारतीय लोग इन प्रदेशों की यात्रा कर धन कमाने के लिये बहुत उत्सुक रहते थे। एक जातक कथा के अनुसार विदेह का राजा लड़ाई में मारा गया, और उसकी रानी चम्पा चली गयी। उसका कुमार जब बड़ा हुआ, तो उसने माँ से कहा—"अपने कोश का आधा मुझे दे दे, मैं सुवर्णभूमि जाऊँगा। वहाँ खूब धन कमा-

ऊँगा और फिर बाप-दादा के धन को लौटा दूंगा।" एक अन्य जातक कथा के अनुसार वाराणसी के समीप के एक वर्धकि ग्राम के हजार परिवारों ने जंगल काटकर जहाज बनाये, और गंगा के मार्ग से समुद्र पार कर सुवर्णभूमि चले गये। इसी प्रकार की कथाएँ वृहत्कथा और जैन-ग्रन्थों में भी पायी जाती हैं, जिन्हें पढ़कर इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि धन कमाने के लिये समुद्र-पार जाने की प्रवृत्ति प्राचीन भारतीयों में प्रबल रूप से विद्यमान थी, और वे अच्छी बड़ी संख्या में विदेशों की यात्रा किया करते थे। भारत के ये साहसी व सभ्य व्यापारी विदेश में जहाँ कहीं जाते, वहाँ के निवासियों को अपनी संस्कृति में लाने का प्रयत्न करते। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में न केवल भारतीय राजाओं के ही शिलालेख मिलते हैं, अपितु अनेक व्यापारियों द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए लेखों की भी वहाँ से प्राप्ति हुई है। इस प्रकार का एक लेख मलाया के वेल्जली जिले में मिला है, जिसे चौथी सदी में बुद्धगुप्त नाम के नाविक ने लिखवाया था।

धर्म-प्रचार—भारत के बहुत-से बौद्ध भिक्षु व धर्माचार्य केवल धर्म-प्रचार के पुनीत उद्देश्य को सम्मुख रखकर विदेशों में गये। सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करते समय महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यों को जो यह उपदेश दिया था, कि "भिक्षुओं! बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये...विचरण करो, एक साथ दो मत जाओ', भिक्षुओं ने उसका उत्साहपूर्वक पालन किया। हिमालय और हिन्दूकुश की पर्वतमालाओं को लाँघकर और समुद्र को पार कर वे सुदूर देशों में गये, और बुद्ध के अष्टांगिक आर्य-मार्ग का उन्होंने सर्वत्र प्रचार किया। बौद्धों के धर्म-प्रचार का यह परिणाम हुआ, कि चीन, जापान, इण्डोनेशिया, विएत-नाम, बर्मा, सियाम, अफगानिस्तान, लंका, तुर्किस्तान आदि सब देश भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ गये। शुंग, भारशिव और गुप्त-वंशों के शासनकाल में जब भागवत और शैव धर्मों का पुनरुत्थान हुआ, तो इन धर्मों के आचार्यों ने भी बौद्ध भिक्षुओं का अनुसरण किया, और वे भी समुद्र पार कर पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने-अपने धर्मों का प्रचार करने के लिये गए। जैन मुनि भी बौद्ध भिक्षुओं के समान विदेशो में जाते थे, और तीर्थंकर महावीर की शिक्षाओं का वहाँ प्रचार करते थे। भारतीय धर्मों का विदेशों में प्रचार होने के कारण इस देश की भाषा, साहित्य और संस्कृति का भी वहाँ प्रचार हुआ।

उपनिवेश--साहसी भारतीय युवक न केवल व्यापार के लिए विदेशों में जाते थे, अपितु उपनिवेश बसाने के लिए भी वे बड़ी संख्या में प्रवास किया करते थे। अशोक के अन्यतम पुत्र कुस्तन द्वारा खोतन में भारतीय बस्ती के बसने की बात तिब्बत की ऐतिहासिक अनुश्रुति में विद्यमान है। कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण के नेतृत्व में बहुत से भारतीय सुवर्णभूमि में गए थे, और वहाँ उन्होंने उस उपनिवेश की स्थापना की थी, जो चीनी इतिहास में फूनान नाम से प्रसिद्ध था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के कम्बोज, चम्पा आदि कितने ही उपनिवेशों की स्थापना भारतीयों द्वारा ही की गयी थी।

व्यापार, धर्म-प्रचार और उपनिवेश-स्थापना—इन तीन कारणों से धीरे धीरे भारत का एक विशाल सांस्कृतिक साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसे स्थूल रूप से 'बृहत्तर भारत' कहा जाता है। इस बृहत्तर भारत को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—दक्षिण-पूर्वी एशिया का क्षेत्र और उपरला भारत। दक्षिण-पूर्वी एशिया के

क्षेत्र के वृहत्तर भारत में वर्मा, मलाया, सियाम, विएत-नाम, इण्डोनेशिया (जावा, सुमात्रा, वाली आदि) और समीप के द्वीपों को सम्मिलित किया जाता है। उपरले या उत्तर-पश्चिमी भारत में अफगानिस्तान और मध्य एशिया अन्तर्गत थे। इन प्रदेशों का धर्म और संस्कृति प्रायः भारतीय ही थे, और ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें भारत का ही अंग समझा जा सकता है। पर सांस्कृतिक प्रभाव की दृष्टि से चीन, तिब्बत और मंगोलिया भी भारत के धार्मिक या सांस्कृतिक साम्राज्य में सम्मिलित थे, और क्रिश्चिएनिटी तथा इस्लाम के प्रसार से पूर्व ईरान, ईराक आदि पश्चिमी एशिया के देश भी भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव से अछूते नहीं रहे थे।

बौद्ध-धर्म के प्रसार में राजकीय सहायता—यद्यपि वृहत्तर भारत या भारत के सांस्कृतिक साम्राज्य के निर्माण का प्रधान श्रेय उन भिक्षुओं और आचार्यों को प्राप्त है, जो जन-हित और जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर विदेशों में धर्म-प्रचार के लिये गये थे, पर इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि बौद्ध-धर्म के विदेशों में प्रचार में राजकीय संरक्षण से भी बहुत सहायता मिली। सम्राट् अशोक ने अस्त्र-विजय के स्थान पर धर्म-विजय की जिस नीति का अनुसरण किया था, उससे बौद्ध भिक्षुओं के लिये अपना कार्य कर सकना बहुत सुगम हो गया था। पाण्ड्य, चोल, सिंहल, मिस्र और सीरियन साम्राज्य के यवन प्रदेशों में अशोक ने चिकित्सालय खुलवाये, सड़कें बनवाईं, प्याऊ बैठाये, कुएं खुदवाये और धर्मशालाएँ बनवाईं। इन देशों में उसने अपने महामात्र इस उद्देश्य से नियत किये, कि वे जनता का ध्यान 'धर्म के तत्त्व' की ओर आकृष्ट करें। अशोक के इन प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि विदेशों के लोग भारत की संस्कृति और विचारधारा की ओर आकृष्ट हुए, और जब आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य द्वारा आयोजित बौद्ध-संगीति द्वारा नियुक्त प्रचारक लोग उन देशों में गये, तो उनके लिये अपने धर्म का संदेश सुना सकना बहुत सुगम हो गया। इसमें सन्देह नहीं, कि अशोक के संरक्षण में बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक विस्तार हुआ, और इसीलिए बौद्ध-धर्म के इतिहास में इस राजा का स्थान बहुत महत्त्व का है।

मिलिन्द (मिनान्डर) और इन्द्राग्निमित्र सदृश यवन राजाओं ने भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर उसके प्रचार में बहुत सहायता दी। कुशाण-राजा कनिष्क का साम्राज्य तो पूर्व में मगध से शुरू कर पश्चिम में मध्य एशिया या उससे भी परे अराल सागर तक विस्तीर्ण था। कनिष्क ने न केवल स्वयं बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी, अपितु उसके प्रचार में भी सहायता दी थी। बौद्ध-धर्म की चतुर्थ संगीति (महासभा) उसी के समय में हुई, जिसमें आचार्य पार्श्व, वसुमित्र और अश्वघोष ने विशेष रूप से भाग लिया। पश्चिम और उत्तर के भारतीय सीमान्तों में बौद्ध-धर्म का जो प्रचार हुआ, उसमें कनिष्क का बड़ा हाथ था।

वृहत्तर भारत का प्राचीन इतिहास में जो महत्त्व है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि हम इसके निर्माण व विकास पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालें।

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया का वृहत्तर भारत

वर्मा—प्राचीन भारतीय लोग दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिस भाग को 'सुवर्ण-

भूमि' कहते थे, दक्षिणी वर्मा भी उसका अंग था। अशोक के समय स्थविर उत्तर और सोण इस प्रदेश में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये गये थे। ये भिक्षु अपने उद्देश्य में सफल हुए, यह बात न केवल महावंश से सिद्ध होती है, अपितु पुरातत्त्व-सम्बन्धी सामग्री भी इसे पुष्ट करती है। पाँचवीं सदी ईस्वी तक दक्षिणी वर्मा में बौद्ध-धर्म का भली-भाँति प्रचार हो चुका था। वर्तमान प्रोम से पाँच मील दक्षिण प्यू जाति की राजधानी श्रीक्षेत्र थी, जिसके अवशेष ह्मावजा नामक स्थान में विद्यमान हैं। ह्मावजा के समीप मौमेंगन नामक गाँव में सुवर्णपत्र पर उत्कीर्ण दो लेख मिले हैं, जिनमें कदम्ब लिपि और पाली में बुद्ध के वचन लिखे गये हैं। ह्मावजा के अवशेषों में न केवल भग्न दशा में शिलालेख ही मिले हैं, अपितु एक पोथी भी प्राप्त हुई है, जो पाली भाषा में है। पुरातत्त्व-सम्बन्धी ये अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण हैं, कि पाँचवीं सदी ईस्वी तक दक्षिणी बर्मा भारत के धर्म, भाषा और लिपि को अपना चुका था। बाद में वहाँ बौद्ध-धर्म का और अधिक प्रचार हुआ, और धीरे-धीरे बर्मा पूर्णतया बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया।

फूनान—विएतनाम के पश्चिम में स्थित कम्बोडिया राज्य में प्राचीन समय में एक भारतीय राज्य की सत्ता थी, जिसका नाम फूनान था। यहाँ के मूल निवासी असभ्य और जंगली थे। ईसा की पहली सदी में जावा से जाकर कुछ भारतीय वहाँ बसे, और उन्होंने वहाँ सभ्यता का प्रारम्भ किया। इसी समय से फूनान के निवासियों ने कपड़े पहनने सीखे, और बस्तियों में रहना शुरू किया। फूनान में पहला राज्य-संस्थापक राजा कौण्डिन्य नाम का एक ब्राह्मण था। उसने वहाँ के मूल निवासियों की रानी सोमा के साथ विवाह कर एक नये राजवंश की स्थापना की। कौण्डिन्य अकेला फूनान नहीं गया था, उसके साथ अन्य भी बहुत-से भारतीय वहाँ जाकर बसे थे जो सदा के लिये अपनी मातृभूमि को प्रणाम कर फूनान में बस गये थे

कौण्डिन्य के बाद के राजा फान्-चे-मन् (मृत्युकाल २२५ ईस्वी) ने फूनान राज्य का बहुत विस्तार किया, और मलाया तक के प्रदेश को जीत लिया। २४० ई० प० के लगभग फूनान के राजदूत भारत आये थे, और पाटलिपुत्र के मूलुन (मुरुण्ड) राजा के दरबार में गये थे। कनिष्क के समय पाटलिपुत्र पर कुशाणों का अधिकार हो गया था, और वहाँ जो क्षत्रप शासन करते थे, वे शक-मुरुण्ड कहाते थे।

पाँचवीं सदी के मध्यभाग में फूनान का राजा जयवर्मा था, जो कौण्डिन्य का वंशज था। ४८४ ईस्वी में जयवर्मा ने नागसेन नाम के भिक्षु को चीन के दरबार में अपना राजदूत बनाकर भेजा। ५१४ ईस्वी में जयवर्मा की मृत्यु हुई। अब उसका पुत्र रुद्रवर्मा फूनान का राजा बना। ५३९ ईस्वी में उसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा। फूनान के राजाओं का चीन के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था, इसी लिये चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति से उनके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं।

फूनान के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनकी भाषा संस्कृत थी। जयवर्मा की रानी का नाम कुलप्रभावती था। रानी कुलप्रभावती और उसके पुत्र रुद्रवर्मा द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए अनेक शिलालेख इस समय उपलब्ध होते हैं। ये लेख शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि पाँचवीं-छठी सदियों के फूनान में शैव धर्म के साथ-साथ वैष्णव और बौद्ध-धर्मों का भी प्रचार था।

बौद्ध-धर्म की सत्ता के प्रमाणस्वरूप अनेक उत्कीर्ण लेख भी इस प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं, जिनमें विविध स्तूपों के निर्माण का उल्लेख है। राजा जयवर्मा के समय में फूनान में दो बौद्ध भिक्षु हुए, जिनके नाम संघपाल और मन्द्रसेन थे। इन्होंने अनेक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

कौण्डिन्य द्वारा स्थापित राजवंश फूनान में छठी सदी के मध्य तक कायम रहा। राजा रुद्रवर्मा के बाद वहाँ अशांति फैल गयी, और समीप के कम्बुज राज्य के राजा (जो पहले फूनान की अधीनता स्वीकृत करते थे) ने उसे अपने अधीन कर लिया।

कम्बुज राज्य—यह राज्य वर्त्तमान कम्बोडिया के उत्तरी भाग में स्थित था। यह भी भारतीयों का ही एक उपनिवेश था, और शुरू में फूनान के राज्य के अन्तर्गत था। जिस राजा ने फूनान के राजा रुद्रवर्मा को परास्त कर कम्बुज के उत्कर्ष का प्रारम्भ किया, उसका नाम भववर्मा था। फूनान को परास्त कर उसने अमित सम्पत्ति प्राप्त की, और वही उसके वंश के उत्कर्ष में सहायक हुई। सियाम के सीमान्त पर एक शिवलिङ्ग मिला है, जिसकी पीठिका पर यह लेख उत्कीर्ण है—"धनुष के पराक्रम से जीती निधियों को प्रदान कर उभय लोक कर-धारी राजा श्री भववर्मा ने त्र्यम्बक के इस लिङ्ग की प्रतिष्ठा की।" इसी समय का एक अन्य लेख मिला है, जो इस प्रकार है—"वह श्री भववर्मा की भगिनी तथा श्री वीरवर्मा की पुत्री थी, जो अपने पति और धर्म की भक्ति में दूसरी अरुन्धती थी। उसी हिरण्यवर्मा की माता को, जिसने पत्नी के रूप में ग्रहण किया, उस ब्राह्मणों में सोमसमान स्वामी...सामवेदवित् अग्रणी श्री सोमशर्मा ने पूजाविधि और अतुलदान के साथ सूर्य और त्रिभुवनेश्वर की प्रतिष्ठा की। प्रतिदिन अखण्ड पाठ के लिये उसने रामायण और पुराण के साथ सम्पूर्ण (महा) भारत को प्रदान किया।" ये लेख यह समझने के लिये पर्याप्त हैं, कि छटी सदी में कम्बुज देश की संस्कृति और धर्म का क्या स्वरूप था। उस युग में यह प्रदेश पूर्ण रूप से भारतीय था, और वहां के राजा भारतीय धर्म (शैव धर्म) के अनुयायी थे।

भववर्मा के बाद महेन्द्रवर्मा कम्बुज राज्य का स्वामी बना। उसके एक शिलालेख में 'शिवपद' के दान का वर्णन है। भारत में विष्णुपद की पूजा तो अब तक होती है, गया में विष्णुपद विद्यमान भी है, पर 'शिवपद' की पूजा कहीं नहीं होती। परन्तु वर्तमान कम्बोडिया में सातवीं सदी में शिवपद की पूजा भी प्रचलित थी, और राजा महेन्द्रवर्मा ने उसकी प्रतिष्ठा करके एक शिलालेख उत्कीर्ण कराया था।

महेन्द्रवर्मा के बाद ईशानवर्मा कम्बुज राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसकी राजधानी का नाम 'ईशानपुर' था, जिसकी स्थापना सम्भवतः उसी ने अपने नाम पर की थी। वह भारत के सम्राट् हर्षवर्धन का समकालीन था, और उसने ६१६ ईस्वी में अपना एक दूतमण्डल चीन भेजा था। चीन की ऐतिहासिक अनुश्रुति में इस राजा का उल्लेख है।

ईशानवर्मा के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में हमें लिखने की आवश्यकता नहीं है। इन राजाओं के शासन-काल के भी अनेक उत्कीर्ण लेख कम्बोडिया से उपलब्ध हुए हैं, जिनमें शकाब्द का प्रयोग किया गया है। भारत के समान कम्बुज के प्राचीन लेखों में भी शकाब्द का प्रयोग इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुदूरवर्ती

इस राज्य का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और कम्बुज न केवल धर्म, भाषा और संस्कृति की दृष्टि से ही भारतीय था, अपितु वहाँ की ऐतिहासिक परम्परा भी भारतीय थी।

सातवीं सदी में जावा (यवद्वीप) के शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए कम्बुज पर भी आक्रमण किया, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। पर कम्बुज देर तक शैलेन्द्र-साम्राज्य की अधीनता में नहीं रहा। नवीं सदी के प्रारम्भ (८०२ ईस्वी) में वहाँ एक ऐसे वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने एक बार फिर कम्बुज को स्वतन्त्र किया। इस वीर पुरुष का नाम जयवर्मा था। इसके शासन-काल से कम्बुज राज्य के सुवर्ण-युग का प्रारम्भ हुआ, और इस देश ने बहुत उन्नति की। जयवर्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक शिलालेख कम्बुज में उपलब्ध हुए हैं, और उनसे उसकी कीर्ति, वीरता और समृद्धि का भली-भाँति परिचय मिलता है।

जयवर्मा के बाद उसके पुत्र जयवर्धन (८६९–८७७) ने और फिर इन्द्रवर्मा (८७७–८८९) ने कम्बुज का शासन किया। इन्द्रवर्मा के बाद उसका पुत्र यशोवर्मा (८८९–९०९) कम्बुज का राजा बना। इन्द्रवर्मा बड़ा प्रतापी राजा था। उसने पूर्व की ओर आक्रमण कर चम्पा के राज्य को जीत लिया। इस विजय से कम्बुज की शक्ति बहुत बढ़ गयी। यद्यपि कम्बुज के राजा देर तक चम्पा को अपनी अधीनता में नहीं रख सके, पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इस देश के राजा बड़े प्रतापी थे। कम्बोडिया में संस्कृत भाषा के बहुत-से शिलालेख उपलब्ध हुए हैं, जो इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये गये थे। इनको पढ़ने से ज्ञात होता है, कि कम्बुज देश में इन सदियों में संस्कृत की वही स्थिति थी, जो भारत में थी। समुद्रगुप्त और रुद्रदामा की प्रशस्तियों के समान कम्बुज देश के ये शिलालेख भी संस्कृत शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

कम्बुज के सब राजाओं का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है। १२९६ ईस्वी तक इस भारतीय उपनिवेश की स्वतन्त्रता कायम रही। इस समय चीन में शक्तिशाली मंगोल-साम्राज्य की स्थापना हो गयी थी। चंगेज खाँ जैसे प्रतापी मंगोल नेता ने प्रशान्त महासागर से लेकर कैस्पियन सागर तक एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया था। यह असम्भव था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के राज्य मंगोल आक्रमणों से बचे रह सकते। मंगोल सम्राट् कुबले खाँ ने १२९६ में कम्बुज को जीतकर अपने अधीन कर लिया।

कम्बुज भारतीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की वहाँ पूजा हुआ करती थी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहाँ उसी प्रकार अध्ययन होता था, जैसा कि भारत में। राजा ईशानवर्मा ने कम्बुज में अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध-धर्म के मठ विहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहते थे। इनमें संन्यासी लोग निवास करते थे, और बौद्ध भिक्षुओं की तरह धर्म प्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षण कार्य में व्यापृत रहते थे। राजा ईशान वर्मा के समय में ही कम्बुज में शिव (हर) और विष्णु (हरि) की सम्मिलित मूर्ति बनाई गयी। इससे सूचित होता है, कि कम्बुज देश के शैव और वैष्णव शिव और विष्णु में अभेद और अविरोध मानते थे। नवीं सदी में कम्बुज का राजा

यशोवर्मा था। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नयी राजधानी बनायी थी। उसके भग्नावशेष अंगकोरथोम में उपलब्ध हैं। इस नगरी के चारों ओर ३३० फीट चौड़ी खाई है, जिसके भीतर की ओर एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लम्बाई में दो मील से भी अधिक है। नगर के महाद्वार विशाल व सुन्दर हैं। इनके दोनों ओर रक्षकों के लिये मकान बने हैं। तीन सिरवाले विशाल हाथी द्वारों की मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौड़े और मील भर लम्बे पाँच राज-मार्ग द्वारों से नगर के मध्य तक गये हैं। पक्की चिनाई के भिन्न-भिन्न आकृतिवाले अनेक सरोवर अब तक भी अंगकोरथोम के खण्डहरों में विद्यमान हैं। नगर के ठीक बीच में शिव का एक विशाल मन्दिर है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक-एक ऊँची मीनार है। बीच की मीनार की ऊँचाई भग्न दशा में भी १५० फीट के लगभग है। ऊँची मीनार के चारों ओर बहुत-सी छोटी-छोटी मीनारें हैं। इनके चारों ओर एक-एक नरमूर्ति बनी हुई है, जो समाधिस्थ शिव की मूर्तियाँ हैं। इस विशाल शिवमन्दिर मे स्थान-स्थान पर सुन्दर चित्रकारी की गयी है। पौराणिक धर्म के किसी मन्दिर के इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत में कहीं उपलब्ध नहीं होते। बारहवीं सदी के पूर्वार्ध में कम्बुज देश का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। उसने एक विशाल विष्णु मंदिर का निर्माण कराया, जो अंग्कोर वात के रूप में अब तक भी विद्यमान है। यह आजकल एक बौद्ध विहार है, पर शुरू में इसका निर्माण विष्णु मन्दिर के रूप में ही हुआ था। इसके चारों ओर की खाईं की चौड़ाई ७०० फीट है। झील के समान चौड़ी इस खाई को पार करने के लिये पश्चिम की ओर एक पुल बना है। पुन पार करने पर एक विशाल द्वार आता है, जिसकी चौड़ाई १००० फीट से भी अधिक है। खाई और महाद्वार को पार करने पर जो मन्दिर है, वह भी बहुत विशाल है।

अंग्कोरथोम और अंग्कोरवात के अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से प्राचीन अवशेष कम्बोडिया में विद्यमान हैं, जो प्राय: भग्न मन्दिरों, शीर्ण राजप्रासादों और उजड़ी हुई नगरियों के रूप में हैं। ये सब अवशेष जिस युग के स्मारक हैं, उसमें कम्बोडिया पूर्ण रूप से भारतीय उपनिवेश था, और उसकी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि सब भारतीय थे। इस देश के धर्म में पहले पौराणिक हिन्दू-धर्म की प्रधानता थी, पर बाद मे इस धर्म का ह्रास होकर बौद्ध-धर्म का जोर बढ़गया, और वहाँ के राजवंश ने भी बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया।

चम्पा—विएत-नाम के क्षेत्र में भारत का सबसे पुराना उपनिवेश चम्पा था। यह ईस्वी सन् के प्रारम्भिक भाग में स्थापित हुआ था। चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति के अनुसार चम्पा की स्थापना १९२ ईस्वी के लगभग हुई थी। इस उपनिवेश की स्थिति कम्बोडिया (कम्बुज) के पूर्व में और विएत-नाम के दक्षिणी भाग में थी। चम्पा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी ई० प० के अन्तिम भाग में था। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी विशुद्ध भारतीय राजा थे। उनकी भाषा संस्कृत थी, और उनका धर्म शैव था। इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख दक्षिणी विएत-नाम में उपलब्ध हुए हैं।

चीनी ऐतिहासिक अनुश्रुति से ज्ञात होता है, कि फनवंन नाम के चम्पा के एक

भारतीय राजा ने ३४० ई० में चीन के सम्राट् के पास एक राजदूत भेजा था। उसने अपने दूत से यह कहलवाया कि चीन और चम्पा के राज्यों के बीच की सीमा होन-सोन पर्वतमाला को निश्चित कर दिया जाय। इस नई सीमा के अनुसार न्हुत नाम का उपजाऊ प्रदेश चम्पा के राज्य में सम्मिलित हो जाता था। चीनी सम्राट् इसके लिये तैयार नहीं हुआ। इसपर ३४७ ई० में फन वेन ने चीन पर आक्रमण कर दिया, और न्हुत-नाम को जीतकर चम्पा के राज्य को होन-सोन पर्वतमाला तक विस्तृत कर दिया। यद्यपि इस युद्ध में चम्पा के राजा फनवेन की मृत्यु हो गयी, पर उसके प्रयत्नों के कारण चम्पा का राज्य बहुत समृद्ध तथा शक्तिशाली हो गया। चीन और चम्पा का संघर्ष फनवेन के बाद भी जारी रहा। चम्पा के राजा फन फो (३४९ से ३८० ई० प० तक) के शासनकाल में चीन अपने खोये हुए प्रदेश (न्हुत-नाम) को पुनः जीत लेने के लिये निरन्तर प्रयत्न करता रहा। यह यत्न फन हुता (३८० से ४१३ ई० प० तक) के समय में भी जारी रहा।

यह ध्यान में रखना चाहिये, कि चम्पा के राजाओं के फनवेन आदि जो नाम हमने दिये हैं, वे चीनी अनुश्रुति के अनुसार हैं। राजा फन-हुता का असली नाम धर्म-महाराज श्री भद्रवर्मा था। इस राजा के अनेक लेख चम्पा में उपलब्ध हुए हैं। श्री भद्र-वर्मा वेदों का परम विद्वान् और महापण्डित था। उसने शिव के एक विशाल मन्दिर का निर्माण करवाया, और उसमें भद्रेश्वर स्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की। यह मन्दिर चम्पा में धर्म और संस्कृति का केन्द्र बन गया, और इसकी कीर्ति देर तक स्थिर रही।

भद्रवर्मा का उत्तराधिकारी गंगाराज (४१३ से ४१५ ई० प० तक) था। उसके शासनकाल में चम्पा में अव्यवस्था फैल गयी, और गंगाराज राजसिंहासन का परित्याग कर गंगावास के लिये भारत चला आया। हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चम्पा के सब राजाओं का यहाँ उल्लेख कर सकें। इन राजाओं के अनेक शिलालेख इस समय भी इनकी कीर्ति के स्मारक रूप में विद्यमान हैं, और यह सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं, कि चम्पा के ये राजा किस प्रकार धर्म के प्रति अनुरक्त और श्रद्धालु थे। इन्द्रवर्मा तृतीय (९११–९७२) के एक शिलालेख में उसे षड्दर्शन, बौद्ध-दर्शन, काशिका-वृत्ति सहित पाणिनीय व्याकरण, आख्यान व शैव उत्तरकल्प का प्रकाण्ड पण्डित कहा गया है। (मीमांसा षट्तर्क जिनेन्द्रसूर्मिस्सकाशिकाव्याकरणोदकौघः। आख्यानशैवोत्तर-कल्पमीनः पटिष्ठ एनेष्विति सत्कवीनाम् ।।) निःसन्देह, चम्पा के ये राजा भारतीय राजाओं के समान ही संस्कृत के पण्डित और धर्मप्रेमी थे। इनके लेखों में भी शक-सम्वत् का प्रयोग हुआ है।

मलाया—दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया (मलयद्वीप) में भी भारतीयों ने अपने अनेक उपनिवेश प्राचीन समय में स्थापित किये थे। अनुश्रुति के अनुसार पाटलिपुत्र के राजवंश का कोई राजकुमार तीसरी सदी ई० प० में समुद्रमार्ग द्वारा मलाया गया था, और वहाँ उसने अपना शासन स्थापित किया था। मलाया में इस भारतीय राजकुमार का नाम 'मरोङ्' प्रसिद्ध है। मरोङ् के बाद मलाया में महापोदि-सत (महाबोधिसत्व) और श्री महावंश आदि राजा हुए। मरोङ् द्वारा स्थापित भारतीय उपनिवेश का नाम लंकाशुक था। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक भारतीय राज्य

मलाया में विद्यमान थे। यही कारण है, कि वहाँ बहुत-से ऐसे अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनका सम्बन्ध भारतीय धर्म और संस्कृति के साथ है। गनोङ् जिराई के समीप सुंगइबत की जमींदारी में एक हिन्दू मन्दिर के अवशेष और अनेक प्रस्तर-मूर्तियाँ मिली हैं। इसके समीप ही चौथी सदी में बने एक बौद्ध मन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनके साथ संस्कृत का एक शिलालेख भी है। मलाया के वेलजली जिले के उत्तरी भाग में बौद्ध-मन्दिरों के बहुत-से स्तम्भ मिले हैं, जो उन पर उत्कीर्ण अक्षरों से चौथी-पाँचवीं सदी के माने जाते है। पेराक राज्य के शलिनसिङ् स्थान से गरुड़ारूढ़ विष्णु की मूर्ति प्राप्त हुई हैं, जिसके साथ सोने का एक आभूषण भी है। प्राचीन युग के ये और इसी प्रकार के अन्य अवशेष इस बात के ठोस प्रमाण हैं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों के समान मलाया में भी प्राचीन काल में भारतीय धर्म, भाषा और संस्कृति का प्रचार था।

सुमात्रा (सुवर्णद्वीप)—हिन्द महासागर के द्वीपों में भी प्राचीन समय में भारतीयों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। इन द्वीपों को आजकल सामूहिक रूप से इण्डोनेशिया कहते हैं। इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपों में सुमात्रा का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह केवल बोर्नियो से छोटा है। इस द्वीप को प्राचीन समय में सुवर्णद्वीप कहते थे, और इसका सबसे पुराना राजनीतिक केन्द्र श्रीविजय था, जो कम्पर नदी के तट पर स्थित था। श्रीविजय की स्थापना चौथी सदी ईस्वी से पहले ही हो चुकी थी। पर सातवीं सदी में इसने बहुत अधिक उन्नति की, और इसके प्रतापी राजाओं ने पड़ोस के अनेक प्रदेशों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। ६८४ ईस्वी में श्रीविजय के राज-सिंहासन पर जयनाग का अधिकार था, जो धर्म से बौद्ध था। ६८६ में उसने जावा (यवद्वीप) की विजय के लिए सेनाएँ भेजीं। श्रीविजय के राजनीतिक इतिहास को यहाँ लिखना उपयोगी नहीं है, पर महत्त्व की बात यह है, कि यह नगर धर्म, संस्कृति और ज्ञान का बड़ा केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिंग सात साल (६८८ से ६९५ ई० प०) तक यहाँ रहा था, और यहीं रहकर उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया था। इत्सिंग के अनुसार चीनी यात्री भारत जाते हुए पहले श्रीविजय रहकर संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया करते थे। संस्कृत के बहुत-से शिलालेख श्रीविजय और सुमात्रा के अन्य स्थानों से उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इस द्वीप के भारतीय राजाओं के वैभव का सुचारु रूप से परिचय मिलता है।

जावा (यवद्वीप)—इण्डोनेशिया के अन्तर्गत द्वीपो में जावा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। दूसरी सदी तक वहाँ भारतीय लोग बस चुके थे। चीनी अनुश्रुति के अनुसार ६५ ई० प० के लगभग भारतीयों ने इस द्वीप में बसना प्रारम्भ किया था। १३२ ईस्वी में जावा का राजा देववर्मा था, जिसने अपना राजदूत चीन के सम्राट् की राजसभा में भेजा था। पाँचवीं सदी के शुरू (४१४ ई० प०) में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से चीन लौटा, तो वह मार्ग में यवद्वीप भी ठहरा। फाइयान के यात्रा-विवरण से सूचित होता है कि इस द्वीप में भारतीय लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और उनमें से बहुत-से शैव धर्म के अनुयायी थे। फाइयान जिस जहाज से यवद्वीप गया था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी थे।

पाँचवीं सदी में यवद्वीप व उसके समीपवर्ती अन्य द्वीपों में बौद्ध-धर्म का प्रचार

हुआ। इसका प्रधान श्रेय गुणवर्मा को है। गुणवर्मा का स्थान उन प्रचारकों में बहुत ऊँचा है, जिन्होंने विदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। वह काश्मीर के राजा संघानन्द का पुत्र और हरिभद्र का पौत्र था। बचपन से ही उसे बौद्धधर्म से बहुत अनुराग था। जब उसकी आयु तीस वर्ष की थी, उसके पिता की मृत्यु हो गयी। अब उसे राज्य सम्भालने के लिये कहा गया, पर वह भिक्षुव्रत धारण कर चुका था और उसने राजसिंहासन का त्याग कर बौद्ध-धर्म के प्रचार में ही अपने जीवन को लगा देने का निश्चय किया। पहले वह लंका गया, और कुछ समय वहाँ रहकर फिर उसने जावा के लिए प्रस्थान किया। जावा की राजमाता शीघ्र ही उसके प्रभाव में आ गयी और उसने बौद्ध-धर्म को स्वीकार कर लिया। माता की प्रेरणा से जावा के राजा ने भी बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली। इसी समय किसी विदेशी सेना ने जावा पर आक्रमण किया। अहिंसा-प्रधान बौद्ध-धर्म के अनुयायी राजा के सम्मुख यह समस्या उपस्थित हुई, कि इस आक्रमण का मुकाबला करने के लिये युद्ध करना चाहिये या नहीं। इस समस्या का समाधान गुणवर्मा ने किया। उसने कहा कि दस्युओं को नष्ट करना हिंसा नहीं है, और उनसे युद्ध करना सबका धर्म है। आक्रमण करने वाली शत्रु-सेनाएँ परास्त हो गयीं, और जावा की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही।

गुणवर्मा की कीर्ति जावा के समीप के सब भारतीय उपनिवेशों में फैल गयी थी। चीन में भी उसके ज्ञान और गुण का यश पहुँच गया था। चीनी भिक्षुओं ने अपने राजा से प्रार्थना की, कि गुणवर्मा को चीन निमन्त्रित किया जाय। भिक्षुओं का आवेदन स्वीकार कर चीन के सम्राट् ने अपना दूत जावा के राजा और गुणवर्मा के पास भेजा और यह प्रार्थना की कि आचार्य चीन पधारें। चीन के सम्राट् की प्रार्थना को गुणवर्मा ने स्वीकार कर लिया, और ४३१ ईस्वी में वह दक्षिणी चीन में नानकिंग पहुँच गया। जिस जहाज पर गुणवर्मा चीन गया था, वह नन्दी नाम के भारतीय व्यापारी का था, जो भारत का माल बेचने के लिये चीन जा रहा था। जावा और समीप के अन्य द्वीपों में बौद्ध-धर्म के प्रचार में गुणवर्मा का कर्तृत्व बहुत अधिक है।

जावा से संस्कृत भाषा में लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। इनमें से चार लेख पाँचवीं सदी के मध्य भाग के हैं, जिन्हें राजा पूर्णवर्मा ने उत्कीर्ण कराया था। पूर्णवर्मा की राजधानी तारुमा थी, जो वर्त्तमान जकार्ता के समीप ही स्थित थी। इन लेखों से यह भी सूचित होता है, कि पूर्णवर्मा के पूर्वज राजाधिराज ने चन्द्रभागा नामक नहर खुदवाकर उसे समुद्र तक पहुँचवाया था। पूर्णवर्मा ने स्वयं भी गोमती नाम की एक नहर खुदवाई थी।

शैलेन्द्र वंश—सातवीं सदी में श्रीविजय (सुमात्रा में) के प्रतापी शैलेन्द्रवंशी राजाओं ने जावा को जीतकर अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। शैलेन्द्र वंश के राजा बड़े महत्त्वाकांक्षी और प्रतापी थे। उन्होंने न केवल जावा को अपने अधीन किया, अपितु मलाया, कम्बोडिया और दक्षिणी बर्मा को भी जीत लिया। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक शैलेन्द्र वंश के राजा दक्षिण-पूर्वी एशिया के बहुत-से प्रदेशों और द्वीपों का शासन करते रहे। इन राजाओं के शिलालेख न केवल सुमात्रा में अपितु जावा आदि अन्य द्वीपों में भी अच्छी बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं। ये सब लेख संस्कृत में हैं और

इनसे शैलेन्द्र राजाओं के वैभव और शक्ति का सुचारु रूप से परिचय प्राप्त होता है। शैलेन्द्र-वंश के राजा बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे और उनके संरक्षण के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया में बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ। इन्होंने इस क्षेत्र में बहुत-से बौद्ध विहार व चैत्यों का भी निर्माण कराया। शैलेन्द्र वंश की दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन इतिहास में वही स्थिति है, जो भारत के इतिहास में गुप्तवंश की थी। जिस प्रकार गुप्त-वंश के प्रतापी सम्राटों ने प्रायः सम्पूर्ण भारत को जीत कर अपने अधीन कर लिया, उसी प्रकार श्रीविजय के शैलेन्द्रवंश के राजाओं ने न केवल इण्डोनेशिया के प्रायः सब द्वीपों को अपितु इन्डोचायना के बड़े भाग, मलाया और दक्षिणी बर्मा को भी जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया। भारत के साथ भी इन शैलेन्द्र राजाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध था। यही कारण है, कि जहाँ इन राजाओं के उत्कीर्ण लेख जावा, सुमात्रा, मलाया आदि में उपलब्ध होते हैं, वहाँ भारत में भी इनके साथ सम्बन्ध रखने वाले कुछ लेख मिले हैं। चीनी और अरब लेखकों ने भी इनके विषय में बहुत कुछ लिखा है। अरब लेखक इब्न रोस्ता (९०३ ई० प०) ने लिखा था, "जावक (जावा) का महान् शासक महाराज कहलाता है। वह भारत के राजाओं में सबसे बड़ा इसलिये नहीं माना जाता, क्योंकि वह द्वीपों का स्वामी है। उस जैसा धनी एवं शक्तिशाली दूसरा कोई राजा नहीं है, और न किसी की उतनी बड़ी आमदनी ही है।" भारत में नालन्दा की खुदाई से एक ताम्रपत्र मिला है, जिसमें श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा का वर्णन है। इस ताम्रपत्र में यह उल्लेख किया गया है, कि शैलेन्द्रवंशतिलक यवभूमिपाल महाराज श्री बालपुत्रदेव ने नालन्दा में एक विहार का निर्माण कराया, और उसके लिये राजा देवपाल से कहकर राजगृह विषय (जिले) के नंदिवनक, मणिवाटक, नाटिकाग्राम तथा हस्तिग्राम और गया विषय (जिले) के पामालक गांव का दान किया। पालवंशी भारतीय राजाओं के समान श्रीविजय के शैलेन्द्र राजा भी नालन्दा के महाविहार के संरक्षक थे, यह इस ताम्रपत्र से सूचित होता है।

शैलेन्द्रवंश के राजाओं का राजनीतिक इतिहास यद्यपि बहुत महत्त्व का है, पर दुर्भाग्यवश वह क्रमबद्ध रूप से उपलब्ध नहीं होता। पर उनकी कीर्त्ति और प्रताप के स्मारकरूप अनेक स्तूप व विहार अब तक भी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में विद्यमान हैं। उनका सबसे पुराना अवशेष कलसन-मंदिर है, जो आठवीं सदी में बना था। इसे शैलेन्द्र राजा पर्णकरण ने ७७८ ई० में बनवाया था और कलसगाँव नाम के एक ग्राम के साथ उसे भिक्षुसंघ को दान किया था। यह मन्दिर बृहत्तर भारत की वस्तु-कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। पर शैलेन्द्र-युग की सबसे महत्त्वपूर्ण कृति बरोबदूर का महाचैत्य है, जो साँची के स्तूप के समान एक पहाड़ी पर स्थित है। जावा में विद्यमान यह विशाल स्तूप चारों ओर एक के ऊपर एक सीढ़ीनुमा नौ चक्करों से मिलकर बना है, जिनमें ऊपर की ओर का प्रत्येक चक्कर अपने से नीचेवाले चक्कर से थोड़ा भीतर की ओर सिमटा हुआ है। सबसे ऊपर के चक्कर के ऊपर घंटाकार चैत्य है। सबसे नीचे के चक्कर की लम्बाई १३१ गज है और सबसे ऊपर की ३० गज है। अङ्कोरथोम के मन्दिर के समान बरोबदूर का यह चैत्य भी वस्तुतः एक अद्भुत और विशाल इमारत है, जो दर्शकों को आश्चर्य में डाल देती है। इस चैत्य के विविध गलियारों में

सब मिलाकर १५०० चित्रावलियाँ चित्रित हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्ध कथाओं के साथ है।

बाली द्वीप—जावा के पूर्व में बाली नाम का छोटा-सा द्वीप है, जिसकी जनसंख्या दस लाख के लगभग है। इण्डोनेशिया के अन्य द्वीपों से तो इस समय हिन्दूधर्म का लोप हो चुका है, पर बाली में वह अब तक भी जीवित रूप में विद्यमान है। इस दृष्टि से बृहत्तर भारत के इतिहास में बाली का महत्त्व बहुत अधिक है। चीनी अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होता है कि छठी सदी ईस्वी में बाली द्वीप में भारतीयों का निवास था, और वहाँ के राजवंश का नाम कौण्डिन्य था। ५१८ ई० प० में बाली के भारतीय राजा ने अपना एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भी भेजा था। इत्सिग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि उसके समय में बाली में बौद्ध-धर्म के मूल-सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय का प्रचार था।

इण्डोनेशिया के अन्य द्वीपों के समान बाली से भी संस्कृत भाषा में लिखे हुए अनेक शिलालेख उपलब्ध हुए हैं।

बोर्नियो—इण्डोनेशिया के द्वीपों में बोर्नियो सबसे बड़ा है। इस द्वीप के सबसे पुराने उत्कीर्ण लेख महकम नदी के तट पर उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है कि प्राचीन समय में यहाँ भी भारतीयों का उपनिवेश विद्यमान था। ४०० ईस्वी के लगभग के चार शिलालेख इस द्वीप से मिले हैं, जिनमें राजा अश्ववर्मा के पुत्र मूलवर्मा के दान-पुण्य और यज्ञों का वर्णन है। संस्कृत भाषा के ये लेख जिन स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं, वे राजा मूल-वर्मा के यज्ञों में यूप के तौर पर प्रयुक्त होने के लिये बनाये गये थे। इन यज्ञों के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ में बीस हजार गौएँ और बहुत-सा धन दान दिया गया था।

पूर्वी बोर्नियो में भी बहुत-से ऐसे ध्वंसावशेष मिले हैं, जो इस द्वीप में हिन्दू-संस्कृति की सत्ता के अकाट्य प्रमाण हैं। इनमें कोम्बेङ की गुफा सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह गुफा तेलेन नदी की ऊपरी धारा के पूर्व में स्थित है। गुफा में दो कोठरियाँ हैं। पिछली कोठरी में बलुए पत्थर से बनी हुई बारह मूर्तियाँ हैं, जो शिव, गणेश, नन्दी, अगस्त्य, नन्दीश्वर, ब्रह्मा, स्कन्द और महाकाल की हैं। अन्यत्र भी बोर्नियो द्वीप में प्राचीन युग के बहुत-से ऐसे अवशेष मिले हैं, जो वहाँ पौराणिक और बौद्ध-धर्मों की सत्ता को सिद्ध करते हैं।

फिलिप्पीन और सेलेबीज द्वीपों में ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं, जो इन सुदूरवर्ती द्वीपों तक में भारतीय संस्कृति और धर्म के प्रचार का प्रमाण उपस्थित करती हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में बृहत्तर भारत के विकास का अनुशीलन करते हुए हमें यह दृष्टि में रखना चाहिये कि सुदूर पूर्व के इन उपनिवेशों की स्थापना किसी राजा या सम्राट् की कृति नहीं थी। जिस प्रवृत्ति से आर्य लोग भारत में दूर-दूर तक बसे थे, उसी से वे बंगाल की खाड़ी को पार कर इन प्रदेशों में भी आबाद हुए थे। प्राचीन समय में आर्यों में उत्कट जीवनी शक्ति थी और वे विघ्न-बाधाओं की परवाह न करते हुए दूर-दूर तक जाकर बसने में तत्पर रहते थे। राजकुमारों और योद्धाओं की महत्त्वाकांक्षाएँ, व्यापारियों की धनलिप्सा और मुनियों व भिक्षुओं की धर्मसाधना—इन सब प्रवृत्तियों ने मिलकर भारत के इन उपनिवेशों को जन्म दिया था। भारत के साथ इनका बहुत निकट का सम्बन्ध था। धर्म-प्रचारक और व्यापारी इनमें निरंतर आते-

जाते रहते थ । समुद्रगुप्त जैसे प्रतापी दिग्विजयी सम्राट् इन उपनिवेशों को भी अपने चातुरंत साम्राज्य में सम्मिलित करने के लिये प्रयत्न करते थे । वस्तुतः, ये उपनिवेश भारत के ही अंग थे । यह बात बड़े महत्त्व की है कि सुदूर-पूर्व का यह सारा एशिया इस युग में भारतीय धर्म और सभ्यता का अनुयायी था । वहाँ अपना पैर जमाकर भारतीय लोग चीन के विशाल भूखंड में अपने धर्म और व्यापार का प्रसार करने में लगे थे और इस प्रकार एशिया का बहुत बड़ा भाग इस युग में भारतीय जीवन और संस्कृति से अनुप्राणित हो रहा था ।

(३) उत्तर-पश्चिम का बृहत्तर भारत

उत्तर-पश्चिमी भारत के गांधार और कम्बोज बौद्ध-काल के सोलह महाजनपदों में सम्मिलित थे । कम्बोज का अभिप्राय हिन्दूकुश पर्वत से परे पामीर के पार्वत्य प्रदेश और बदख्शां से है । गांधार राज्य में सिन्ध नदी के पूर्वी और पश्चिमी प्रदेश अन्तर्गत थे, जिनकी राजधानी क्रमशः तक्षशिला और पुष्करावती थीं । प्राचीन समय में गान्धार और कम्बोज भारत के ही अंग थे, इसी लिये उनकी गणना बौद्ध-युग के सोलह महाजनपदों में की जाती थी । पर प्राचीन समय में भारतीयों ने गान्धार और कम्बोज से भी परे बाल्हीक (बलख) से आगे बढ़कर अपनी संस्कृति और धर्म का विस्तार किया और इस प्रकार बृहत्तर भारत के एक नये क्षेत्र का निर्माण किया । इस प्रक्रिया का प्रारम्भ मौर्य काल में हुआ था । सम्राट् अशोक की धर्मविजय की नीति के कारण खोतन तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशों में किस प्रकार भारतीय उपनिवेशों का सूत्रपात हुआ और कैसे वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं । अशोक के समय में जिस प्रक्रिया का प्रारम्भ हुआ था, वह गुप्त-काल में पूर्ण विकास को प्राप्त हुई । इस सारे प्रदेश में अनेक भारतीय उपनिवेशों का विस्तार हुआ, जिनमें भारतीय लोग बड़ी संख्या में जाकर आबाद हुए । मूल निवासियों के साथ विवाह करके उन्होंने एक नयी संकर जाति का विकास किया, जो धर्म, सभ्यता, भाषा और संस्कृति में भारतीय ही थी।

इस क्षेत्र के राज्य—इस उत्तर-पश्चिमी बृहत्तर भारत में निम्नलिखित राज्य सम्मिलित थे—(१) शैलदेश (काशगर), (२) चौक्कुक (यारकंद), (३) खोतन्न (खोतन), (४) चलमद (शान शान), (५) भरुक (पोलुकिया), (६) कुची (कुचर), (७) अग्निदेश (करासहर) और (८) कोचांग (तुर्फान) । इन आठ राज्यों में खोतन और कुची सबसे मुख्य थे और इनके भी परे के चीन व अन्य राज्यों में भारतीय धर्म व संस्कृति के प्रसार में इन्होंने बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया था ।

चौक्कुक, खोतन्न, शैलदेश और चलमद में भारतीयों की आबादी बहुत अधिक थी । इनमें बड़ी संख्या में भारतीय लोग आबाद हुए थे । कम्बोज और गांधार से इनका व्यापार-सम्बन्ध भी बहुत घनिष्ठ था । व्यापार के कारण ये निरंतर भारत में आते-जाते रहते थे । यहाँ की भाषा भी प्राकृत थी, जो उत्तर-पश्चिमी भारत की प्राकृत भाषा से बहुत मिलती-जुलती थी । पहले यह भारतीय प्राकृत खरोष्ठी लिपि में लिखी जाती थी । मौर्य काल में यह लिपि सारे उत्तर-पश्चिमी भारत में प्रचलित थी । अब गुप्तकाल में इन उपनिवेशों में भी ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होने लगा था । ब्राह्मी लिपि के साथ-साथ

संस्कृत भाषा का भी इन उपनिवेशों में प्रसार हुआ। यद्यपि सर्वसाधारण लोग पुरानी प्राकृत का ही प्रयोग करते थे, पर सुशिक्षित लोग संस्कृत का भी अध्ययन अवश्य करते थे। चौथी सदी के अंत में जब प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान इस प्रदेश में आया, तो यहां का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि इन प्रदेशों के निवासी धर्म और संस्कृति की दृष्टि से भारतीयों के समीप हैं। भिक्षु लोग सब संस्कृत पढ़ते हैं और बौद्ध-धर्म की भारतीय पुस्तकों का अध्ययन करते हैं। यही कारण है कि इस समय बहुत-से प्राचीन संस्कृत ग्रंथ इस प्रदेश से प्राप्त हुए हैं। अनेक ग्रंथ संस्कृत के साथ-साथ वहाँ की पुरानी स्थानीय भाषाओं में भी है। इन प्रदेशों की अपनी भाषाओं का परिचय पहले-पहल इन्हीं ग्रंथों से मिलता है।

खोतन—गुप्त-काल में खोतन किस प्रकार भारतीय धर्म और संस्कृति का महत्त्व-पूर्ण केन्द्र था, यह बात हमें प्राचीन अनुश्रुति व पुरातत्त्व सम्बन्धी अवशेषों से ज्ञात होती है। खोतन में बौद्ध-धर्म की दशा का वर्णन फाइयान ने इस प्रकार किया है—"यहाँ के निवासी बौद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। भिक्षुओं की संख्या हजारों में है। अधिकांश भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। साधारण लोग अपने-अपने घरों में निवास करते है। प्रत्येक घर के सामने बौद्ध-स्तूप बनाये गये हैं। इनमें से कोई भी ऊँचाई में बीस फीट से कम नहीं हैं।"

फाइयान खोतन के गोमती विहार में ठहरा था। इस विहार में तीन हजार के लगभग बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। जब घंटी बजती थी, तीन हजार भिक्षु भोजन के लिये एक स्थान पर एकत्र हो जाते थे, सबके मुख पर गम्भीर मुद्रा दिखाई पड़ती थी। फाइयान के अनुसार "सब भिक्षु बाकायदा बैठकर चुप रहते हुए भोजन करते हैं। भोजन-पात्रों तक की खड़-खड़ नहीं सुनाई पड़ती, सब ओर शांति विराजती है। अगर भोजन परोसनेवालों को कुछ कहने की ज़रूरत होती है, तब भी उन्हें आवाज नहीं दी जाती। केवल इशारा कर दिया जाता है।" फाइयान के समय में खोतन मे चौदह बड़े बौद्ध विहार थे। उनके अतिरिक्त छोटे-छोटे विहार और भी बहुत-से थे। जैसे भारत में रथ-यात्रा का जलूस निकलता है, वैसे ही खोतन में बौद्धों की एक बहुत बड़ी रथयात्रा निकलती थी। इस अवसर पर सारे शहर की सफाई की जाती थी। मकान सजाये जाते थे। जलूस में सबसे आगे गोमती विहार के तीन हजार भिक्षु रहते थे। शहर से तीन या चार मील की दूरी पर चार पहियोंवाला एक बड़ा रथ तैयार किया जाता था। इसकी ऊँचाई तीस फीट से अधिक रक्खी जाती थी। यह एक चलता-फिरता चैत्य-सा होता था, जिसे तोरण आदि से खूब सजाया जाता था। रथ के ठीक बीच में भगवान् बुद्ध की मूर्ति स्थापित की जाती थी। केन्द्र की बुद्ध-मूर्ति के पीछे और अगल-बगल में बोधिसत्त्वों और देवों की मूर्तियाँ रखी जाती थीं। ये सब मूर्तियाँ सोने और चाँदी की होती थीं। जब रथयात्रा का जलूस शहर के मुख्य द्वार से सौ गज की दूरी पर होता था, तो राजा उसका स्वागत करता था। इस अवसर पर वह राजकीय वेश उतारकर उपासकों के वस्त्र धारण करता था और नंगे पैर चलकर अपने पार्श्वचरों के साथ रथयात्रा के स्वागत के लिये आगे बढ़ता था। मूर्ति के सम्मुख आने पर राजा फूलों और सुगंधि से उसकी अर्चना करता था। इसके बाद फाइयान ने नये राजकीय विहार का वर्णन किया है, जिसे बन कर तैयार होने में अस्सी साल लगे थे। यह २५० फीट ऊंचा था और सोने-चाँदी से

इसे भली-भाँति विभूषित किया गया था। भिक्षुओं के निवास के लिये इसमें सुन्दर भवन बनाये गये थे और दूर-दूर के राजा इसके सम्मान में बहुमूल्य भेंट और उपहार भेजा करते थे। फाइयान के इस विवरण से भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है, कि चौथी सदी में सारा खोतन बौद्ध-धर्म का अनुयायी था। राजा और प्रजा, सब बुद्ध के भक्त थे। इस देश के विहार और चैत्य सब इस काल में खूब फूल-फल रहे थे। उनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे, जो न केवल बौद्ध-धर्म के प्रसार के लिये तत्पर रहते थे, पर विद्या के अध्ययन और शिक्षा में भी समय व्यतीत करते थे। खोतन के ये विहार शिक्षा के बड़े महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। संस्कृत के बहुत-से बौद्ध ग्रंथ इनमें संगृहीत रहते थे। अनेक महत्त्व के ग्रंथ जो अन्यत्र नहीं मिल सकते थे, खोतन में प्राप्त हो जाते थे। यही कारण है, कि धर्मक्षेत्र नाम का बौद्ध विद्वान् जो इस समय चीन में प्रचार कर रहा था, ४३३ ईस्वी में महापरिनिर्वाण सूत्र की खोज में खोतन आया था।

खोतन में कई स्थानों पर प्राचीन बौद्ध-काल के अवशेष मिले हैं। इसमें योत्कन, रावक, दण्डन उलिक और नीया मुख्य हैं। इन सब स्थानों पर जो खुदाई पिछले वर्षों में हुई है, उससे बौद्ध विहारों और चैत्यों के बहुत-से खण्डहर, मूर्तियाँ और प्रतिमाओं के अवशेष तथा बहुत-से हस्तलिखित ग्रंथ व चित्र उपलब्ध हुए हैं। खोतन के आठवीं सदी के अंत तक भारतीय संस्कृति और धर्म का खूब प्रचार रहा। बाद में इस्लाम में प्रवेश ने इस भारतीय उपनिवेश के स्वरूप को ही बिल्कुल बदल दिया। चीन में जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उसका प्रधान श्रेय खोतन और उसके समीप के मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों के बौद्ध-भिक्षुओं को ही है। उसी को आधार बनाकर भिक्षु लोग चीन में दूर-दूर तक गये और धीरे-धीरे सारे चीन को बौद्ध-धर्म का अनुयायी बनाने में सफल हुए। गुप्त-काल में खोतन का यह भारतीय उपनिवेश बहुत ही समृद्ध दशा में था। गांधार व कम्बोज के कुशाण राजा भी बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। पर जब गुप्त-सम्राटों ने इन कुशाणों को अपना अधीनस्थ राजा बना लिया, तब तो भारत और खोतन का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो गया।

खोतन में न केवल बौद्ध-युग के अवशेष मिले हैं, अपितु बहुत-से लेख भी प्राप्त हुए हैं। इनमें मासी मजार (खोतन नगर से १३ मील दूर), नीया और लोन् लन् में प्राप्त हुए लेख महत्त्वपूर्ण हैं। ये लेख खरोष्ठी लिपि में हैं और काष्ठ-पट्टिकाओं पर लिखे गये हैं। इन पट्टिकाओं की लम्बाई ७ से १५ इंच तक और चौड़ाई १ से २½ इंच तक है। कुछ पट्टिकाएँ चौकोर भी हैं। इनको पत्र के रूप में भेजते हुए लिफाफे की तरह दूसरी काष्ठ-पट्टिकाओं से ढककर मुहर लगा दी जाती थी। लिफाफे का काम करने वाली पट्टिकाओं पर एक तरफ पानेवाले का नाम और दूसरी तरफ पत्रदूत का नाम रहता था। खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए कुछ पत्र ऐसे भी मिले हैं, जो चमड़े पर लिखे गये हैं। नीया से मिले इन चर्मपत्रों की लम्बाई ६ से १२ इंच तक है और चौड़ाई २ से ६ इंच तक। ये सब पत्र प्रायः राजकीय लिखा-पढ़ी से सम्बन्ध रखते हैं और इनकी भाषा धम्मपद की प्राकृत भाषा से मिलती-जुलती है। खोतन में प्राप्त इन लेखों का समय दूसरी और तीसरी सदी ई० प० के लगभग का माना जाता है।

खोतन के प्राचीन इतिहास के विषय में भी कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। तिब्बती

अनुश्रुति के अनुसार तीसरी सदी के प्रारम्भ में खोतन का राजा विजयसम्भव था उसके वंशजों के नाम भी तिब्बती अनुश्रुति द्वारा ज्ञात होते हैं और इस वंश के सभी राजाओं के नाम के साथ विजय लगा हुआ है। राजा विजयसम्भव के गुरु आचार्य वैरोचन थे, जिन्होंने खोतनी भाषा के लिये एक लिपि तैयार की, जो भारत की ब्राह्मी लिपि के आधार पर बनाई गयी थी। विजयसम्भव के वंश में राजा विजयवीर्य बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसने अपने गुरु भारतीय भिक्षु बुद्धदूत के तत्त्वावधान में अनेक विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया था।

कुची या कूचा—खोतन की तरह कुची का राज्य भी भारतीय संस्कृति का केन्द्र था। पुराणों में सम्भवतः इसी को कुशद्वीप कहा गया है। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में शक, पल्हव आदि के साथ कुशिक जाति का भी उल्लेख किया है, जो कुची के निवासियों को ही सूचित करती है। एक संस्कृत चीनी कोश में इसका नाम 'कुचिन्' दिया गया है, और वर्त्तमान चीनी भाषा में इसे कुची कहते हैं। कुची या कूचा का यह राज्य उत्तरी तरिम-उपत्यका में स्थित था। यहाँ के निवासियों में भी भारतीयों की संख्या बहुत थी। चौथी सदी के शुरू तक यह सारा प्रदेश बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो चुका था और प्राचीन चीनी अनुश्रुति के अनुसार इसमें बौद्ध विहारों और चैत्यों की संख्या दस हजार तक पहुंच गई थी। चीन के प्राचीन इतिवृत्त के अनुसार कुची के राज्य में बहुत-से विहार थे। ये बहुत ही सुन्दर और विशाल बने हुए थे। राजप्रासाद में भी बुद्ध की मूर्तियों की उसी तरह प्रचुरता थी, जैसे किसी विहार में होती है। ताम् के विहार में १७० भिक्षु रहते थे। पर्वत के ऊपर बने हुए चेली के विहार में ५० भिक्षुओं का निवास था। राजा ने जो नया विहार बनवाया, उसे किएन मू कहते थे और उसमें ६० भिक्षु रहते थे। वेनसू के राजकीय विहार में भिक्षुओं की संख्या ६० थी। ये चारों विहार बुद्धस्वामी नाम के आचार्य द्वारा संचालित हो रहे थे। कोई भिक्षु एक स्थान पर तीन महीने से अधिक समय तक नहीं रह पाता था। बुद्धस्वामी के निरीक्षण में तीन अन्य विहार थे, जिनमें क्रमशः १८०, ५० और ३० भिक्षु रहते थे। इनमें से एक विहार में केवल भिक्षुणियाँ ही रहती थीं। ये भिक्षुणियाँ प्रायः राजघरानों की थीं। पामीर के प्रदेश में जो विविध भारतीय उपनिवेश थे, उन्हीं के राजकुलों की कुमारियाँ भिक्षुव्रत लेकर इन विहारों में रहती थीं, और बौद्ध-धर्म का बड़ी तत्परता के साथ पालन करती थीं।

कुची के राजाओं के नाम भी भारतीय थे। वहाँ के कुछ राजाओं के नाम स्वर्णदेव, हरदेव, सुवर्णपुष्प और हरिपुष्प हैं, जो इस राज्य के भारतीय संस्कृति से प्रभावित होने के स्पष्ट प्रमाण हैं। कुची में जो खुदाई पिछले दिनों में हुई है, उसमें विहारों और चैत्यों के बहुत-से अवशेष मिले हैं। इसमें सन्देह नहीं कि खोतन के समान कुची भी भारत का एक समृद्ध तथा वैभवशाली उपनिवेश था।

इस प्रसंग में आचार्य कुमारजीव का उल्लेख करना बहुत आवश्यक है। उसके पिता का नाम कुमारायन था। वह भारत के एक राजकुल में उत्पन्न हुआ था, पर अन्य अनेक राजकुमारों की तरह वह भी युवावस्था में ही बौद्ध भिक्षु बन गया था। भिक्षु होकर वह कुची पहुँचा। वहाँ के राजा ने उसका बड़े समारोह से स्वागत किया और उसकी विद्या तथा ज्ञान से प्रभावित होकर उसे राजगुरु के पद पर नियुक्त किया। पर कुमारायन

देर तक भिक्षु नहीं रह सका। कुची के राजा की बहन जीवा उस पर मोहित हो गयी और अंत में दोनों ने विवाह कर लिया। इनके दो संतानें हुईं, कुमारजीव और पुष्यदेव। जब कुमारजीव की आयु केवल सात वर्ष की थी, तो उसकी माता जीवा भिक्षुणी हो गयी और अपने योग्य तथा होनहार पुत्र को लेकर भारत आई। भारत आने में उसका उद्देश्य यह था कि कुमारजीव को बौद्ध-धर्म की ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जाए। अनेक प्रदेशों का भ्रमण करने के बाद जीवा काश्मीर गई। वहाँ उन दिनों बंधुदत्त नाम का बौद्ध आचार्य बड़ा प्रसिद्ध था। वह काश्मीर के राजा का भाई था और अपने पांडित्य के लिये उसका नाम दूर-दूर तक फैला हुआ था। बंधुदत्त के चरणों में बैठकर कुमारजीव ने बौद्ध आगम को पढ़ा और धीरे-धीरे वह एक प्रकाण्ड पण्डित हो गया। काश्मीर में विद्याग्रहण करने के बाद कुमारजीव शैलदेश (काशगर) गया और वहाँ उसने चारों वेदों, वेदांगों, दर्शन तथा ज्योतिष आदि का अध्ययन किया। उस समय शैलदेश प्राचीन वैदिक धर्म का बहुत बड़ा केन्द्र था। इसीलिये कुमारजीव ने वैदिक साहित्य का वहाँ जाकर अध्ययन किया था। शैलदेश से वह चोक्कुक (यारकंद) गया, और वहाँ उसने नागार्जुन, आर्यदेव आदि सिद्ध आचार्यों के ग्रंथों का अनुशीलन किया। इसके बाद उसने चोक्कुक जाकर महायान सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार बौद्ध और वैदिक साहित्य का पूर्ण पण्डित होकर वह कुची वापस लौटा और अपनी मातृभूमि में उसने अध्यापन का कार्य शुरू किया। उसकी विद्वत्ता की कीर्त्ति सुनकर दूर-दूर के विद्यार्थी उसके पास शिक्षा ग्रहण करने के लिये आने लगे और थोड़े ही समय में कुची विद्या का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

पर कुमारजीव देर तक कुची में नहीं रह सका। ३८३ ईस्वी के लगभग कुची पर चीन ने आक्रमण किया। चीन की प्रबल शक्ति का मुकाबला कर सकना कुची जैसे छोटे-से राज्य के लिये सम्भव नहीं था। फिर भी वहाँ के राजा ने वीरता के साथ युद्ध किया, पर अंत में कुची पर चीन का अधिकार हो गया। जो बहुत-से कैदी कुची से चीन ले जाये गये, उनमें कुमारजीव भी एक था। पर सूर्य देर तक बादलों में नहीं छिपा रह सकता। कुमारजीव की विद्या की ख्याति चीन में सर्वत्र फैल गयी और वहाँ के सम्राट् ने उसे अपने राजदरबार में आमंत्रित किया। ४०१ ई० में कुमारजीव चीन की राजधानी में पहुँचा। वहाँ उसका बड़ा सत्कार हुआ। वह संस्कृत और चीनी का अनुपम विद्वान् था। शास्त्रों में उसकी अप्रतिहत गति थी। अतः उसे यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वह संस्कृत के प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करे। इस कार्य में उसकी सहायता के लिये अन्य बहुत-से विद्वान् नियत कर दिये गये। दस वर्ष के लगभग समय में उसने १०६ संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। महायान सम्प्रदाय का चीन में प्रसार कुमारजीव द्वारा ही हुआ। उसके पाण्डित्य की कीर्त्ति सारे चीन में फैली हुई थी। उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिए दूर-दूर से चीनी विद्यार्थी और भिक्षु उसकी सेवा में पहुँचते थे।

अपने कार्य में सहायता के लिये कुमारजीव ने बहुत-से विद्वानों को भारत से चीन बुलाया। वह भारत में शिक्षा ग्रहण कर चुका था। काश्मीर के बौद्ध पण्डितों से उसका घनिष्ट परिचय था। उसके अनुरोध से जो भारतीय विद्वान् चीन गये, उनमें

पुण्यत्रात, बुद्धयश, गौतम संघदेव, धर्मयश, गुणवर्मन, गुणभद्र और बुद्धवर्मन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। चीन में जो बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ, उसमें ये सब कुमारजीव के सहयोगी थे। चीन में इन विद्वानों का बड़ा ऊँचा स्थान है। ये सब वहाँ धर्मगुरु और धर्माचार्य के रूप में माने जाते हैं। इन्हीं के साहस, पाण्डित्य और लगन का यह परिणाम हुआ कि धीरे-धीरे सारा चीन बौद्ध-धर्म का अनुयायी हो गया। आज चीन में जो सैकड़ों बौद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, यह इन्हीं विद्वानों की कृति का परिणाम है। इन ग्रन्थों में बहुत-से अब अपने संस्कृत के मूलरूप में नहीं मिलते, पर चीनी अनुवाद के रूप में वे अब भी चीन में विद्यमान हैं। अब उनका फिर से संस्कृत रूपान्तर किया जा रहा है।

कुमारजीव के निमन्त्रण पर जो विद्वान् चीन गये थे, उनके अतिरिक्त भी अनेक बौद्ध पण्डित इस काल में चीन गये। ये सब चीन में ही बस गये, और वहीं पर इनकी मृत्यु हुई। आचार्य कुमारगुप्त की मृत्यु ४१२ ई० प० में चीन में ही हुई थी।

तूर्फान—कुची या कूचा से पूर्व में तूर्फान नाम का मरु देश है, जिसमें बहुत-से प्राचीन नगरों के ध्वंसावशेष पाये जाते हैं। इस मरुभूमि में भी संस्कृत, चीनी, ईरानी और तुर्की भाषाओं के बहुत-से हस्तलेख उपलब्ध हुए हैं। पाँचवीं सदी ईस्वी तक इस देश में बौद्ध-धर्म का भली-भाँति प्रचार हो गया था और वहाँ के राजा चाउ (मृत्युकाल ४८० ई० प०) ने मैत्रेय का मन्दिर बनवाकर एक लम्बा लेख उसकी स्थापना की स्मृति में उत्कीर्ण कराया था। इस प्रदेश से भी बौद्धमूर्तियों और विहारों के भग्नावशेष मिले हैं।

काशगर—राजा कनिष्क के साम्राज्य में खोतन के समान काशगर का प्रदेश भी सम्मिलित था। सम्भवतः, उसी समय से वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ। ४०० ईस्वी के लगभग जब चीनी यात्री फाहियान काशगर आया था, तो वहाँ पंचवार्षिक महोत्सव मनाया जा रहा था, जिसमें भगवान् बुद्धि की अस्थि (धातु या शरीर) के दर्शन किये जाते थे। काशगर में उस समय एक बौद्ध विहार था, जिसमें १००० भिक्षु निवास करते थे। ये भिक्षु महायान सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ४६० ईस्वी में काशगर के राजा ने चीन के दरबार में बुद्ध के चीवर को भेजा था। चीनी यात्री ह्यूनत्सांग के यात्रा विवरण से भी काशगर में बौद्ध-धर्म की सत्ता प्रमाणित होती है।

प्राचीन ऐतिहासिक निधियां—उत्तर-पश्चिमी वृहत्तर भारत के अन्य राज्यों के सम्बन्ध में कोई महत्त्व की ऐसी बात नहीं है, जिसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता हो। पर इस प्रसंग में उन ऐतिहासिक निधियों का जिक्र करना उपयोगी है, जो इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों में उपलब्ध हुई हैं। बीसवीं सदी में रूस, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों के पुरातत्त्ववेत्ताओं को इस प्रदेश में अनेक स्थानों पर ऐसे अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे इसके प्राचीन इतिहास के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सामग्री हाथ लग गयी है।

कुची से पूर्व की ओर करासहर, तुर्फान आदि को पार कर चीन की सीमा के पास तुङ्-ह्वा नामक स्थान है। इसके दक्षिण-पश्चिम में नंगे पहाड़ों की पंक्तियां हैं, जो खोदकर बनाई गयी गुफाओं के कारण मधुछत्र-सी प्रतीत होती हैं। इन्हें सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार कहते हैं। तुङ्-ह्वा की गुफाएँ चौथी सदी ईस्वी में बननी शुरू हुई और छठी सदी तक बनती रहीं। सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार की ये गुफाएं तुङ्-ह्वा से नौ मील हैं

और एक हजार गज से भी अधिक दूरी तक फैली हुई हैं। इन गुफाओं की भित्तियों पर बहुत-से चित्र हैं और उनमें बहुत-सी सुन्दर मूर्तियाँ भी विद्यमान हैं। भारत की अजन्ता गुफाओं में जिस ढंग के चित्र हैं, वैसे ही इनमें भी हैं। भेद यह है कि सहस्र बुद्धगुहाओं के चित्र अधिक सुरक्षित दशा में हैं। तुङ्-ह्वा के समीप के ये गुहाचित्र भारतीय कला, गान्धार कला और चीनी कला के सम्मिश्रण के परिणाम हैं। अनेक चित्रों में ग्रीक, ईरानी और नैपाली शैली का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चित्र दो प्रकार के हैं, बोधिसत्वों, अर्हतों और देवताओं के, तथा सांसारिक जीवन के साथ सम्बन्ध रखने वाले। इन गुहाओं की मूर्तियाँ प्रधानतया बौद्ध-धर्म के महायान सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध रखती हैं।

तुङ्-ह्वा की गुहाओं में केवल चित्र और मूर्तियाँ ही उपलब्ध नहीं हुईं, अपितु वहाँ पुस्तकों का एक बहुत बड़ा भण्डार भी प्राप्त हुआ है। सहस्र-बुद्ध-गुहा-विहार की एक गुहा को खोदते हुए अकस्मात् एक छोटी गुफा निकल आई, जो हस्तलिखित पुस्तकों से भरी हुई थी। ये पुस्तकें चीनी, तिब्बती, उइगुर और संस्कृत भाषाओं में लिखी हुई हैं। इनमें बहुत-सी पुस्तकों में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग किया गया है। तुङ्-ह्वा के समीप की गुफाओं में जो पुस्तक-भण्डार मिला है, उसकी पुस्तक-संख्या हजारों में है। अभी इसकी सूची पूर्ण रूप से नहीं बन सकी है। पर फ्रांस, ब्रिटेन आदि के विद्वान् इन पुस्तकों को अपने देशों में ले गये हैं।

तुङ्-ह्वा के समान कूचा, कासगर और लोलन आदि मध्य एशिया के अन्य स्थानों से भी प्राचीन पुस्तकें प्राप्त हुई हैं, और इस प्रदेश के ये पुस्तक-भण्डार मध्य एशिया में भारतीय धर्म, भाषा और संस्कृति के प्रचार के ठोस प्रमाण हैं।

तुङ्-ह्वा की गुफाओं का बड़ा भाग चौथी सदी से छठी सदी तक बना था। पर बाद में भी इन गुफाओं का निर्माण होता रहा। चौदहवीं सदी तक अनेक श्रद्धालु राजा और सम्पन्न पुरुष यहाँ विहारों, मूर्तियों और चैत्यों के निमित्त गुहाओं का निर्माण कराते रहे। आठवीं से चौदहवीं सदी तक के भी बहुत-से उत्कीर्ण लेख इस स्थान से मिले हैं, जिनमें सहस्रबुद्ध गुहाविहार के लिये दान, नवनिर्माण और पुनर्निर्माण का उल्लेख है।

इस विवरण द्वारा यह सुगमता से समझा जा सकता है कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के समान मध्य एशिया भी प्राचीन समय में वृहत्तर-भारत का अंग था। इस क्षेत्र में न केवल भारतीय धर्म का ही प्रचार था, अपितु यहाँ की भाषा और संस्कृति पर भी भारत का प्रभाव था।

(४) हूणों का भारतीय बनना

गुप्त-काल में भारतीय धर्मों में अद्वितीय जीवनी शक्ति थी। न केवल बौद्ध अपितु जैन, शैव, वैष्णव आदि अन्य भारतीय धर्मों में भी उस समय यह शक्ति विद्यमान थी कि वे विदेशी जातियों को अपने धर्म में दीक्षित कर उन्हें भारतीय समाज का अंग बना सकें। यवन, शक और कुशाण लोग किस प्रकार भारत में आकर भारतीय बन गये, यह हम पहले प्रदर्शित कर चुके हैं।

गुप्तकाल में जो हूण भारत में आक्रांता के रूप में प्रविष्ट हुए, उन्होंने शुरू में

बड़ी बर्बरता प्रदर्शित की, पर बाद में वे भी पूर्णतया भारतीय समाज के अंग बन गये। हूण-राजा मिहिरगुल ने शैव-धर्म को स्वीकार कर लिया था। एक शिलालेख में लिखा है, कि स्थाणु शिव के अतिरिक्त किसी के सम्मुख वह सिर नहीं झुकाता था। उसके जो सिक्के मिले हैं, उनपर त्रिशूल और नंदी के चिह्न अंकित हैं, और 'जयतु वृष:' यह उत्कीर्ण किया गया है।

उस समय के भारत की इस प्रवृत्ति को पुराणों में बड़े सुन्दर रूप में वर्णित किया गया है। शक, यवन, हूण आदि जातियों को गिनाकर पुराणकार ने भक्ति के आवेश में आकर कहा है कि ये और अन्य जो भी पापयोनि जातियाँ हैं, वे सब जिस विष्णु के सम्पर्क में आकर शुद्ध हो जाती हैं, उस प्रभविष्णु विष्णु को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु की यह पतितपावनी शक्ति भारत में गुप्त-काल में कायम थी। मुसलिम धर्म के भारत-प्रवेश के बाद यह शक्ति नष्ट हो गयी और उस समय के भारतीय अरब और तुर्क आक्रांताओं को अपने में नहीं मिला सके।

शैव और बौद्ध-धर्म को स्वीकार करके हूण लोग भारतीय समाज के ही अंग बन गए। इस समय यह बता सकना बहुत कठिन है, कि शक, यवन, युइशि और हूण आक्रांताओं के वर्त्तमान प्रतिनिधि कौन लोग हैं। ये सब जातियाँ बहुत बड़ी संख्या में भारत में प्रविष्ट हुई थीं। पर इनके उत्तराधिकारियों की हिन्दू-समाज में कोई पृथक् सत्ता नहीं है। वस्तुत:, ये हिन्दू समाज में बिलकुल ही घुल-मिल गयीं, और हिन्दुओं की विविध जातियों में गिनी जाने लगीं। जहाँ भारत की वर्त्तमान अनेक जातियाँ पुराने गणराज्यों की प्रतिनिधि हैं, वहाँ अनेक इन म्लेच्छ आक्रांताओं का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। पर इस समय वे क्षत्रियों के अन्तर्गत हैं, उनमें पाप या पापयोनिपन कुछ भी शेष नहीं है।

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व एक बात और लिखनी आवश्यक है। जहाँ भारतीयों ने सुदुर पूर्व में व पामीर के उत्तर-पश्चिम में अपनी बस्तियाँ बसाई थीं, वहाँ प्राचीन सीरिया और मैसोपोटामिया में भी उनके छोटे-छोटे उपनिवेश विद्यमान थे। यूफ्रेटस नदी के तट पर उनके दो बड़े मंदिर थे, जिन्हें सेन्ट ग्रेगरी के नेतृत्व में ईसाइयों ने नष्ट किया था। वह घटना ३०४ ईस्वी की है। जब ईसाइयों ने अपने धर्मप्रसार के जोश में इन मंदिरों पर आक्रमण किया, तो भारतीय लोग बड़ी वीरता के साथ उनसे लड़े। पर ईसाई उनकी अपेक्षा बहुत अधिक संख्या में थे। भारतीयों को उनसे परास्त होना पड़ा। मैसोपोटामिया के ये प्राचीन भारतीय मन्दिर नष्ट कर दिये गये, और इस प्रदेश की भारतीय बस्ती भी बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गयीं। पर गुप्त-काल में भारतीयों ने इतनी दूर पश्चिम में भी अपना बस्तियाँ कायम की थीं, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है।

बीसवां अध्याय

बौद्ध-धर्म की प्रगति और ह्रास

(१) महायान और वज्रयान

महायान धर्म का प्रादुर्भाव—महात्मा बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद ही बौद्ध धर्म दो निकायों (सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया था, जिन्हें स्थविरवाद (थेरवाद) और महासांघिक कहते थे। वैशाली की द्वितीय बौद्ध-महासभा के अवसर पर इन दोनों सम्प्रदायों के भेद ने बहुत स्पष्ट रूप धारण कर लिया था। वैशाली की महासभा के सवा सौ वर्ष बाद जब सम्राट् अशोक मौर्य के समय में (तीसरी सदी ई० पू०) बौद्धों की तीसरी महासभा हुई, तब तक बौद्ध-धर्म में अठारह निकायों का विकास हो गया था। इनमें से छः का सम्बन्ध महासांघिक सम्प्रदाय के साथ था और बारह का स्थविरवाद के साथ। महासांघिक व उससे सम्बद्ध निकाय बुद्ध को अलौकिक व अमानव रूप देने का प्रयत्न कर रहे थे और स्थविरवादी लोग इस बात के लिये प्रयत्नशील थे कि बुद्ध के मानव रूप की रक्षा हो।

महासांघिक सम्प्रदाय के साथ सम्बन्ध रखने वाले छः निकायों में एक निकाय 'वैपुल्यवाद' था। इसी से आगे चलकर महायान की उत्पत्ति हुई। वैपुल्यवादी लोग अन्य बौद्धों से जिन विषयों पर मतभेद रखते थे, वे निम्नलिखित थे—(१) बौद्ध-संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता है, न उसका उपभोग करता है और न संघ को देने में महाफल है। (२) बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न उन्होंने धर्मोपदेश किया। (३) किसी विशेष अभिप्राय से मैथुन का सेवन किया जा सकता है। वैपुल्यवादियों की ये तीनों ही बातें ऐसी थीं, जो बौद्ध-धर्म में विप्लव मचाने वाली थीं। विशेषतया, बुद्ध के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित करना कि उन्होंने न कभी मानव-तन धारण कर संसार में प्रवेश किया और न उन्होंने कभी धर्म का उपदेश किया, एक ऐसा विचार उपस्थित करता था, जिससे बुद्ध पूर्णतया अमानव व अलौकिक बन जाते थे। वैपुल्यवाद का केन्द्र श्रीधान्यकटक के प्रदेश में था और वहीं से उसका प्रचार (पहली सदी ई० पू० में) सिंहलद्वीप में हुआ था। आचार्य नागार्जुन इसके सबसे महत्त्वपूर्ण प्रचारक थे और उन्हीं के प्रयत्नों से वैपुल्यवाद का महत्त्व अन्य बौद्ध सम्प्रदायों की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गया। आगे चल कर वैपुल्यवाद ही महायान के रूप में परिवर्तित हो गया और महासांघिकों के कतिपय अन्य निकाय भी उसके अन्तर्गत हो गये।

महायान ने जीवन का एक ऊँचा आदर्श जनता के सम्मुख रखा, जिसके अनुसार कोई भी चीज ऐसी नहीं हो सकती, जिसे प्राणिमात्र के हित के लिये अदेय समझा जा सके। इस चरम साधना के लिये महायान ने बोधिसत्व-जीवन का उपदेश दिया।

बोधिसत्व वह होता है, जो दूसरों के कल्याण के लिये अपने देश और घर का परित्याग कर देता है, स्त्री और बच्चों का उत्सर्ग कर देता है, अंधे को दृष्टि-दान करने के लिये अपनी आँख निकालकर दे सकता है, भूखे बाघ को अपना शरीर देकर उसकी क्षुधा को शान्त करता है और परोपकार के लिये किसी कष्ट को कष्ट नहीं मानता। बुद्धपद प्राप्त करने से पूर्व सिद्धार्थ ने बोधिसत्व के रूप में अनेक जन्म लिये थे और इसी ढंग से दूसरों का हित-सम्पादन किया था। मनुष्य का आदर्श यही है कि दुःखतप्त प्राणियों के आर्तिनाशन के लिये अपना सर्वस्व निछावर कर बोधिसत्व के रूप में जीवन व्यतीत करे और अन्त में बुद्ध-पद प्राप्त कर अपना निर्वाण कर ले।

महायान ने दार्शनिक विचारों का विकास कर एक नये सिद्धान्त को उपस्थित किया। इस नये दर्शनशास्त्र के विकास का प्रधान श्रेय आचार्य नागार्जुन और असङ्ग को है। बुद्ध विश्व को क्षण-क्षण परिवर्तनशील मानते थे। उनके अनुसार कोई सत्ता नित्य नहीं है। नागार्जुन ने 'अनित्यता' के इसी विचार को लेकर शून्यवाद या सापेक्षतावाद का विकास किया। उन्होंने पदार्थ-जगत् हो या आचार-जगत्—सर्वत्र क्षणिकता और अनात्मता के सिद्धान्त का प्रयोग करके सभी वस्तुओं को शून्य या सारशून्य घोषित किया।

प्रायः इतिहास-ग्रन्थों में यह लिखा जाता है कि कुशाण-राजा कनिष्क ने बौद्ध-धर्म के जिस सम्प्रदाय को स्वीकार किया था, वह महायान था। कनिष्क के संरक्षण व प्रोत्साहन से महायान का बहुत प्रचार हुआ। पर बहुत-से बौद्ध विद्वान् इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार कनिष्क और अश्वघोष महायान के अनुयायी न होकर 'सर्वास्तिवादी' थे। सर्वास्तिवाद स्थविरवादी निकाय के अन्तर्गत था और उसका महायान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था। शुरू में महायान का प्रादुर्भाव श्रीधान्यकटक में हुआ था, जो वैपुल्यवाद-निकाय का केन्द्र था। इसके प्रादुर्भाव का समय स्थूल रूप से पहली सदी ई० पू० या उसके कुछ बाद समझा जा सकता है। चौथी सदी ई० प० तक महायान का प्रचार बहुत बढ़ गया था और वह प्रायः सारे भारत में फैल गया था। भारत से वह उपरले हिन्द (भारत के उत्तर-पश्चिम में स्थित मध्य एशिया का क्षेत्र) में फैला, और चीन, जापान तथा कोरिया को भी उसने आत्मसात् कर लिया। उत्तरी एशिया के इन देशों में अब तक भी महायान बौद्ध-धर्म का प्रचार है।

महायान के अनुयायी अपने से भिन्न सम्प्रदायों को हीनयान कहते थे। इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया सिंहलद्वीप, बरमा और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में हुआ। हीनयान के धार्मिक ग्रन्थ पालि भाषा में हैं और महायान के संस्कृत में। बौद्धों के धार्मिक साहित्य का परिचय हम पहले एक अध्याय में दे चुके हैं।

वज्रयान-सम्प्रदाय का विकास—भारत में बौद्ध-धर्म का विकास जिस ढंग से हुआ, उस पर प्रकाश डालना आवश्यक है। शुरू में इस धर्म का प्रारम्भिक रूप स्थविरवाद था। फिर महासांघिक निकाय उससे पृथक् हुआ और धीरे-धीरे ये दो सम्प्रदाय अठारह निकायों के रूप में विकसित हुए। इन अठारह निकायों के अनेक भेद होते गये और यही कारण है कि 'कथावत्थु' ग्रन्थ में बौद्ध-धर्म के २१४ सिद्धान्तों पर बहस की गयी है। यद्यपि कथावत्थु का रचयिता आचार्य मौद्गलिपुत्र तिष्य को माना

जाता है, जो कि अशोक के समय में तीसरी सदी ई० पू० में हुआ था, पर इस ग्रन्थ के अनेक अंश इस काल के बाद भी बने। वैपुल्यवादी सम्प्रदाय और उसके सदृश विचार रखने वाले अन्य सम्प्रदायों से महायान का विकास हुआ, यह हम अभी लिख चुके हैं। तीसरी सदी के लगभग भारत में महायान का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया, और कालान्तर में भारत में सर्वत्र उसका प्रचार हो गया। वज्रयान-सम्प्रदाय का विकास महायान से ही हुआ, या यों कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि धीरे-धीरे भारत का महायान ही वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया। सातवीं सदी से शुरू कर भारत के मध्यकालीन इतिहास में बौद्ध-धर्म का जो रूप प्रचलित था, वह वज्रयान ही था।

जो स्थान पौराणिक हिन्दू-धर्म में वाममार्ग का है, वही बौद्ध-धर्म में वज्रयान का है। तान्त्रिक क्रियाओं का प्रवेश भारत के इन धर्मों में किस प्रकार हुआ, यह विषय बड़े महत्त्व का है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति जिन शब्दों में हो, उन्हें मन्त्र कहा जाता है। न केवल भारत में अपितु संसार के अन्य प्राचीन देशों में भी यह विश्वास प्रचलित था कि मन्त्रशक्ति का प्रयोग कर मनुष्य अभिलाषित फल को प्राप्त कर सकता है। साथ ही, लोग यह भी समझते थे कि जादू-टोना आदि अभिचार-क्रियाएँ वस्तुतः फलवती होती हैं। आधुनिक युग में भी मनुष्य-समाज का मन्त्रशक्ति और जादू-टोनों में विश्वास पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व भी भारत में मन्त्र-शक्ति और अभिचार-क्रियाओं में विश्वास की सत्ता थी। यद्यपि वैदिक युग में लोग प्राकृतिक शक्तियों में दैवी भावना करके और उनके अधिष्ठातृ-देवताओं की कल्पना करके याज्ञिक अनुष्ठानों द्वारा उन्हें संतुष्ट करने का प्रयत्न करते थे, पर साथ ही मन्त्र-तन्त्र में भी उनको विश्वास था। इसके लिए वे कई प्रकार की अभिचार-क्रियाएँ किया करते थे और उनमें औषधियों का भी प्रयोग होता था। कौटलीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार की बहुत-सी क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, जिनके लिए आचार्य चाणक्य ने 'औपनिषदिक' शब्द का प्रयोग किया है। ये क्रियाएं गुप्त रखी जाती थीं। इन्हें केवल वही व्यक्ति जान सकता था, जो गुरु का अत्यधिक विश्वासपात्र हो। इस दशा में इनके लिए 'औपनिषदिक' शब्द सर्वथा उपयुक्त था। चाणक्य ने नन्द का विनाश करने के लिये जहाँ सेना और कूटनीति का प्रयोग किया था, वहाँ साथ ही 'अभिचार-वज्र' से भी काम लिया था। कौटलीय अर्थशास्त्र में स्पष्ट रूप से इस बात का उल्लेख है। बौद्ध-धर्म के प्रादुर्भाव के बाद जिस युग में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में तन्त्र-मन्त्र का प्रचलन नहीं था, चाणक्य सदृश आचार्य औपनिपदिक क्रियाओं का प्रतिपादन करते थे और अभिचार-वज्र का प्रयोग करते थे।

जब भारत की जनता में तन्त्र-मन्त्र की शक्ति के प्रति विश्वास विद्यमान था, तो यह कैसे सम्भव था कि बौद्ध-धर्म उससे अछूता रह जाता। यद्यपि बुद्ध अन्धविश्वासों और रहस्यमयी क्रियाओं के विरोधी थे और जीवन की साधना का ही उपदेश उन्होंने दिया था, पर जब सर्वसाधारण जनता ने उनके धर्म को अपनाया, तो वह अपने मज्जातन्तुगत विश्वासों को कैसे दूर कर सकती थी। परिणाम यह हुआ, कि बौद्ध-धर्म में भी तन्त्र-मन्त्र का प्रवेश हुआ।

बौद्धों के वैपुल्यवादी सम्प्रदाय का यह भी मन्तव्य था कि विशेष अभिप्राय से

भिक्षु और भिक्षुणी मैथुन का भी सेवन कर सकते हैं। बौद्ध-संघ में जो व्यक्ति भिक्षु या भिक्षुणी बनने के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करते थे, वे सब वृद्ध या 'लुप्तव्यवाय' ही नहीं होते थे। बहुत-से युवक व युवतियां भी प्रव्रज्या ग्रहण कर संघ में शामिल हो जाते थे। भिक्षुओं और भिक्षुणियों को एक साथ रहने का अवसर नहीं मिलता था, क्योंकि उनके संघ और विहार पृथक्-पृथक् होते थे। पर जो हजारों-लाखों युवक-युवतियां प्रव्रज्या ग्रहण कर पीत वस्त्र धारण कर लेते थे, वे सब कामवासना को वशीभूत करने में समर्थ हों, यह सम्भव नहीं था। भिक्षु बन जाने के बाद भी उनमें मैथुन की इच्छा बनी रहती थी। सम्भवतः, इसी लिये वैपुल्यवादियों ने 'विशेष अभिप्राय' से (एकाभिप्रायेण) मैथुन की अनुमति प्रदान की थी। मानव-शरीर की प्राकृतिक आवश्यकता को गृहस्थाश्रम के सीधे और सरल मार्ग द्वारा पूर्ण न कर सकने के कारण बौद्धों ने 'विशेष अभिप्राय' की आड़ ली और रहस्यपूर्ण शब्द-जाल द्वारा मैथुन-क्रिया को 'सम्यक् संबुद्ध' बनने के लिये सहायक प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया। वज्रगुरु काम-वासना की पूर्ति के लिये मैथुन का सेवन नहीं करता, अपितु सम्यक्-सम्बुद्ध व सिद्ध बनने के विशेष अभिप्राय से ही इसका प्रयोग करता है। वैपुल्यवादियों ने जो विचारसरणी प्रतिपादित की थी, उसी ने महायान को जन्म दिया। मैथुन-विषयक उनके विचार महायान में भी विद्यमान थे। बाद में उन्होंने बड़ा जोर पकड़ा, और वज्रगुरु व सिद्ध बनने के लिये लोग ऐसे उपायों का प्रयोग करने लगे, जो गुह्य और रहस्यमय थे और जिनमें मैथुन-क्रियाओं को भी स्थान था। आठवीं सदी के बाद जब वज्रयान का भली-भांति विकास हो गया था, वैपुल्यवादियों द्वारा बोया गया बीज एक महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो गया, और सिद्धि को प्राप्त करने के इच्छुक साधक लोग भैरवी चक्र की आड़ में ऐसी बातें करने लगे, जो धार्मिक संघ के लिये तो क्या सभ्य समाज के लिये भी घृणास्पद थीं।

वज्रयान के रूप में केवल मैथुन ही बौद्ध-धर्म में प्रविष्ट नहीं हुआ, अपितु तन्त्र-मन्त्र और हठयोग ने भी उसमें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया। शुरू में बौद्ध लोग अपने धार्मिक सूत्रों (सुत्तों) का पाठ किया करते थे। पर ये सूत्र बहुत बड़े-बड़े थे। इनके पाठ में बहुत समय लगता था। वैपुल्यवादियों ने विचार किया कि लम्बे-लम्बे सूत्रों के पाठ से जो फल प्राप्त होता है, वह संक्षिप्त शब्द-समूह से भी प्राप्त हो सकना चाहिये, क्योंकि शब्द में विशेष शक्ति होती है और उस शक्ति के लिये सुदीर्घ सूत्रों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। इसलिये वैपुल्यवादियों ने कुछ पंक्तियों की छोटी-छोटी 'धारणियां' बनाईं और उनके पाठ द्वारा भी वही फल माना, जो सूत्रों के पाठ से प्राप्त होता था। पर धारणियोंका पाठ भी लोगों को कष्टकर प्रतीत होता था, अतः बाद में मन्त्रों की सृष्टि की गयी, जिसमें केवल कुछ शब्द ही होते थे। 'ओं मुने मुने महामुने स्वाहा' 'ओं आ हुं' आदि इसी प्रकार के मन्त्र थे, जिनके जप से बौद्ध लोग अभिलषित फल की आशा रखते थे। मन्त्र-शक्ति के विश्वास के साथ-साथ यौगिक क्रियाओं ने भी बौद्ध-धर्म में प्रवेश किया। बौद्धधर्म के प्रादुर्भाव से पूर्व ही भारत में योगक्रियाएं प्रचलित हो चुकी थीं। इसमें सन्देह नहीं, कि इन क्रियाओं द्वारा शरीर की उन्नति और मानसिक शक्तियों के विकास में सहायता मिलती थी। जनता योगियों के प्रति श्रद्धा रखती थी और उनके अनेक प्रकार के चमत्कारों को देखकर चमत्कृत भी हो जाती थी। जब जनता को योग

में श्रद्धा थी, तो यह कैसे सम्भव था, कि बौद्ध-धर्म के आचार्य उसकी उपेक्षा करते। बौद्ध-धर्म के जो प्रचारक शाक्यकुलोत्पन्न सिद्धार्थ को अलौकिक व अमानव बताकर या मानव-शरीर में बुद्ध की सत्ता से ही इन्कार कर जनता को अपने धर्म में अनुरक्त करने के लिये प्रयत्नशील थे, वे योग-सिद्धियों की उपेक्षा करते, यह सम्भव नहीं था। इस प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत में बौद्ध-धर्म ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जिसके अनुसार बुद्ध अलौकिक पुरुष थे, जिसके छोटे-छोटे मन्त्र अभिलषित फल प्रदान करने वाले थे, और जिसके गुरु लोग योगाभिचार-क्रियाओं, गुह्य सिद्धियों और रहस्यमय साधनाओं द्वारा वज्रगुरु या सिद्ध पद प्राप्त कर लेते थे। इन सिद्ध गुरुओं को न सदाचारमय जीवन की आवश्यकता थी, और न इन्द्रियजय की। उचित-अनुचित, खाद्य-अखाद्य आदि का कोई विचार इनके सम्मुख नहीं था, क्योंकि ये इन तुच्छ बातों से ऊँचे उठकर सिद्ध दशा को प्राप्त कर चुके थे। जब मनुष्य साधारण जीवन से ऊंचा उठकर सिद्ध बन जाता है, तो उसके लिये कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य व उचित-अनुचित का भेद ही नहीं रह जाता। इन भेदों से ऊंचा उठने के लिये ही वह सब पदार्थों को खाद्य मानता है, स्त्रीमात्र से मैथुन करना अपनी साधना में सहायक समझता है, और मदिरा-सेवन को योग-क्रियाओं के लिये आवश्यक मानता है। आठवीं सदी तक यह वज्रयान भारत में भली-भाँति विकसित हो गया था, और जनता इसके सिद्धों के प्रति अत्यधिक आदर भावना रखने लग गयी थी।

बौद्ध-धर्म के अन्त के साथ भारत से वज्रयान का भी अब अन्त हो चुका है। पर तिब्बत में इस सम्प्रदाय का प्रभाव अब तक भी विद्यमान है। तिब्बत में जब बौद्ध-धर्म का प्रवेश हुआ, तो भारत में वज्रयान का उदय हो चुका था। यही कारण है, कि तिब्बत में वज्रयान का भी प्रचार हुआ। न केवल तिब्बत में, अपितु अन्य भी अनेक प्रदेशों में पहले इस सम्प्रदाय का प्रचार रह चुका है, यद्यपि उनसे बौद्धधर्म का अन्त हो जाने के साथ इसका भी लोप हो गया है।

(२) बौद्ध-धर्म का अन्य देशों में प्रसार

मौर्य और गुप्त-वंशों के शासनकाल में जिस प्रकार विदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ, उसका वर्णन हम इस इतिहास में पहले कर चुके हैं। पर गुप्त-युग के साथ इस प्रक्रिया का अन्त नहीं हो गया। पाँचवीं सदी के बाद भी बहुत-से भारतीय विद्वान् अन्य देशों मे बौद्ध-धर्म का प्रचार करने या धर्म-ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद करने के लिये विदेश जाते रहे। पाँचवीं सदी से चीन आदि देशों से भी लोगों ने भारत आना शुरू किया, ताकि वे जहाँ बौद्ध-धर्म के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, वहाँ साथ ही धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों को भी प्राप्त करें। इस प्रकरण में हम इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

कुमारजीव और गुणवर्मन् ने गुप्त-सम्राटों के शासनकाल में चीन में बौद्ध-धर्म के प्रसार के लिये जो यत्न किये, उनका निर्देश पहले किया जा चुका है। गुणवर्मन् के कुछ समय पीछे ४३५ ई० में आचार्य गुणभद्र मध्यदेश से चीन गये। संस्कृत की पुस्तकों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिये उन्होंने बड़ा प्रयास किया। कुल

मिलाकर ७८ बौद्ध-ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया गया, जिनमें से अब केवल २८ ही प्राप्त होते हैं। ७५ वर्ष की आयु में ४६८ ई० में चीन में ही उनकी मृत्यु हुई। गुणभद्र के बाद ४८१ ई० में धर्मजातयश और छठी सदी में धर्मरुचि, रत्नमति, बोधिरुचि और गौतम प्रज्ञारुचि नाम के विद्वान् भारत के मध्य देश से चीन गये, और बौद्ध-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने तथा धर्मप्रचार में व्यापृत रहे। चीन के लोग मगध तथा उसके समीप के प्रदेशों को ही मध्यदेश कहते थे, और वहाँ नालन्दा और काशी उस समय विद्वानों के सबसे बड़े केन्द्र थे। ये सब पंडित इन्हीं नगरों के महाविहारों से सम्बन्ध रखते थे। भारतीय पण्डितों के निरन्तर चीन में जाने का यह परिणाम हुआ, कि उस देश के विहारों में हजारों की संख्या में भारतीय भिक्षु निवास करने लगे। एक अनुश्रुति के अनुसार छठी सदी के शुरू में चीन में भारतीय भिक्षुओं की संख्या तीन हजार के लगभग थी। इन्हीं भारतीय पण्डितों के प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि बौद्धधर्म की दृष्टि से छठी सदी चीन के इतिहास में सुवर्णयुग मानी जाती है। वहाँ का सम्राट् वू-ती बौद्ध धर्म का कट्टर अनुयायी था। अपने जीवन के अंतिम भाग में भारतीय आदर्श के अनुसार उसने राज्य का परित्याग कर भिक्षुओं के काषाय वस्त्र धारण कर लिये थे। ५३९ ई० में वू-ती की प्रेरणा से एक चीनी मंडल भारत इस उद्देश्य से आया, कि यहाँ से बौद्ध-ग्रन्थों को अपने देश में ले जाए। यह मण्डल चीन को वापस लौटते हुए परमार्थ नाम के एक प्रसिद्ध विद्वान् को भी अपने साथ ले गया, और इसी के प्रयत्न से चीन में बौद्ध-धर्म के योगाचार-सम्प्रदाय का प्रवेश हुआ। भिक्षु परमार्थ ने असंग और वसुबंधु के ग्रन्थों का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया। छठी सदी के अन्य भारतीय पण्डितों में जो चीन गये, जिनगुप्त, ज्ञानभद्र, जिनयश और गौतमधर्मज्ञान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से जिनगुप्त पेशावर का रहने वाला था। उसने भारतीय धर्मग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने के लिये एक संघ की स्थापना की। इस संघ में बहुत-से भारतीय और चीनी पण्डित शामिल हुए। इस संघ ने अपने उद्देश्य में अपूर्व सफलता प्राप्त की, और सैकड़ों संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद चीनी भाषा में किया।

सातवीं सदी के मध्यभाग में प्रसिद्ध चीनी भिक्षु ह्यु एन-त्सांग भारत आया। वह चीन लौटते समय ६५७ बौद्ध-ग्रन्थों को अपने साथ ले गया। चीन में रहनेवाले भारतीय पण्डित जो कार्य कर रहे थे, उसमें इन ग्रन्थों से बहुत सहायता मिली। भारत के बौद्ध-धर्म में उस समय बहुत जीवनी शक्ति थी, इसीलिये नये-नये आचार्य दर्शन, धर्म आदि पर नये-नये ग्रन्थों की रचनाएँ करते रहते थे। चीन के बौद्ध पण्डित किसी नये बौद्ध-दर्शन के विकास में प्रयत्नशील नहीं थे, वे अपने धर्मगुरु भारत के विविध आचार्यों द्वारा लिखे ग्रन्थों को अपनी भाषा में पढ़कर ही धर्म व तत्त्वज्ञान की पिपासा को शान्त कर लेते थे। आठवीं सदी के आरम्भ में आचार्य अमोघवज्र चीन गया। वह तंत्रशास्त्र का बड़ा पण्डित था। मगध के बौद्ध महाविहारों में इस समय तांत्रिक धर्म (वज्रयान) का जोर था। अमोघवज्र ने ४१ तंत्रग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीन के राजा की उसमें अपार श्रद्धा थी। उसने उसे 'राज्यकर्णधार' और 'त्रिपिटक-भदन्त' की उपाधियों से विभूषित किया था। अमोघवज्र और उसके अन्य साथियों से ही चीन में तांत्रिक धर्म का प्रवेश हुआ। ९७१ ई० में मञ्जुश्री और फिर ९७३ ई० में धर्मदेव

नाम के आचार्य चीन गये। ये नालन्दा के निवासी थे। धर्मदेव ने ४६ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। १००४ ईस्वी में धर्मरक्ष अनेक पण्डितों के साथ चीन गया। वह भी मगध का निवासी था। ९६ वर्ष की आयु में १०५३ ई० में चीन में ही उसकी मृत्यु हुई। इसके बाद सन् १०५३ में ज्ञानश्री नाम के आचार्य ने मगध से चीन के लिये प्रस्थान किया। सम्भवतः, यह अंतिम आचार्य था, जो भारत से चीन में धर्म-प्रचार के लिये गया था। ग्यारहवीं सदी के बाद चीनी अनुश्रुति में किसी ऐसे भारतीय पण्डित का उल्लेख नहीं मिलता, जो चीन जाकर बौद्ध-धर्म के प्रचार में व्यापृत रहा हो। तुर्कों के जो आक्रमण ग्यारहवीं सदी के शुरू में भारत पर प्रारम्भ हो गये थे, उन्होंने इस देश की व्यवस्था और शांति पर कठोर कुठाराघात किया था। इन नये प्रकार के म्लेच्छों व 'यवनों' के आक्रमणों से भारत की जीवनी-शक्ति निर्बल पड़ने लग गयी थी, और मगध के महाविहार भी देर तक अपनी सत्ता को कायम रखने में असमर्थ रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि मगध और भारत के अन्य प्रदेशों के पण्डितों ने चीन जाकर वहाँ भारतीय धर्म, भाषा, सभ्यता, कला और संस्कृति के प्रचार के लिये जो अनुपम कार्य किया, वह भारत के इतिहास के लिये अत्यन्त गौरव की वस्तु है।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रवेश चौथी सदी में हुआ था। मौर्य राजा अशोक के समय में जो बौद्ध-प्रचारक हिमवन्त प्रदेशों में धर्म-प्रचार के लिये गये थे, सम्भवतः, उन्हीं की शिष्य-परम्परा ने बाद में तिब्बत में भी कार्य किया। पर इन आचार्यों के नाम इस समय तक ज्ञात नहीं हुए है। तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार विशेष रूप से सातवीं सदी में हुआ। उस समय तिब्बत में स्रोङ्-ग्चन्-गम्-पो नाम का प्रतापी राजा राज्य करता था। इसके दो विवाह हुए, एक चीन के किसी राजा की कुमारी से और दूसरा नैपाल के राजा अंशुवर्मन् की कन्या भृकुटीदेवी से। ये दोनों कुमारियाँ बौद्ध-धर्म को माननेवाली थीं। इनके प्रभाव से राजा ने भी बौद्ध-धर्म को अपनाया। इसी वंश में आगे चलकर खि स्रोङ्-ल्दे-व्चन तिब्बत का राजा हुआ। इसका एक अमात्य चीन देश का रहने वाला और कट्टर बौद्ध था। उसके प्रभाव से राजा ने शांतरक्षित नाम के भारतीय आचार्य को तिब्बत आने का निमन्त्रण दिया। आचार्य पद्मसम्भव के सहयोग से शांतिरक्षित ने तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। आठवीं सदी में इन भारतीय पण्डितों ने तिब्बत में अपना काम शुरू किया। ये मगध के निवासी थे। मगध के महाविहारों के अनुकरण में तिब्बत की राजधानी ल्हासा से तीस मील दक्षिण-पूर्व में सम्-ये नामक स्थान पर इन्होंने एक महाविहार का निर्माण कराया। यह बहुत समय तक तिब्बत में ज्ञान और विद्या का केन्द्र रहा। यह अब तक भी विद्यमान है, और तिब्बत के प्रसिद्ध विहारों में गिना जाता है। यह बौद्धों के सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। शांतरक्षित इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने अपने सहयोग के लिए बारह अन्य पण्डितों को भारत से बुलाया, और इनके प्रयत्न से तिब्बती लोग बौद्ध भिक्षु बनने लगे। पद्मसम्भव तांत्रिक अनुष्ठानों में विश्वास करता था। उसके प्रयत्नों से तिब्बत में वज्रयान का प्रवेश हुआ। इनके बाद आर्यदेव, बुद्धकीर्ति, कुमारश्री, कर्णपति, कर्णश्री सूर्यध्वज, सुमतिसेन और कमलशील आदि अनेक भारतीय आचार्य तिब्बत मे गये, और उन्होंने इस दुर्गम देश में भारतीय धर्म के प्रचार का श्लाघनीय प्रयत्न किया। इन

आचार्यों में कमलशील का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसे खास तौर पर भारत से बुलाया गया था। कारण यह, कि एक चीनी बौद्ध भिक्षु जिसका नाम ह्वा-शंग था, इस समय चीन में बौद्ध धर्म के शून्यवाद सम्प्रदाय का प्रचार करने में व्यापृत था। भारतीय आचार्य सर्वास्तिवाद और माध्यमिक सम्प्रदायों के अनुयायी थे। ह्वा-शंग का मुकाबला करने के लिये यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि भारत से एक प्रकाण्ड पण्डित को तिब्बत बुलाया जाय। इसी उद्देश्य से कमलशील तिब्बत गये, और राजा के सभापतित्व में हुई भारी सभा में चीनी भिक्षु के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में कमलशील की विजय हुई, और ह्वा-शंग ने अपने हाथों से ही कमलशील को जयमाला पहनाई। कमलशील का तिब्बत में बड़ा आदर हुआ। उसे लोग दूसरा भगवान् बुद्ध मानने लगे। इस भारतीय आचार्य का विविध मसालों से सुरक्षित किया हुआ शव अब तक तिब्बत के एक विहार में सुरक्षित है, और तिब्बती लोग उसे बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। इन भारतीय विद्वानों ने बौद्ध-धर्म के संस्कृत-ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी शुरू किया। संस्कृत की पुस्तकों का तिब्बती में अनुवाद करने के लिये जनमित्र, शीलेन्द्र-बोधि, दानशील, प्रज्ञावर्मन, सुरेन्द्रबोधि आदि अनेक भारतीय पण्डित तिब्बत बुलाये गये, और इनके प्रयत्नों से न केवल सम्पूर्ण बौद्ध त्रिपिटक, अपितु अन्य भी बहुत-से ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया गया। नवीं सदी में यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और अन्य भी अनेक भारतीय पण्डित तिब्बत गये। तिब्बत में अनेक लोग ऐसे भी थे, जो बौद्ध-धर्म के द्वेषी थे, और भारतीय आचार्यों के प्रभुत्व को पसन्द नहीं करते थे। इनके विरोध के कारण दसवीं सदी में भारतीय पण्डितों का तिब्बत जाना कुछ समय के लिये रुक गया। पर ग्यारहवीं सदी में फिर स्मृति, धर्मपाल, सिद्धपाल, गुणपाल, प्रज्ञापाल, सुभूति, श्रीशांति और दीपंकर श्रीज्ञान अतिशा आदि अनेक आचार्य तिब्बत गये। इनमें अतिशा के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। ये विक्रमशिला महाविहार के प्रधान कुलपति थे। इनकी कीर्ति को सुनकर तिब्बत के राजा ने एक दूतमण्डल इस उद्देश्य से भेजा था, कि अतिशा को तिब्बत में निमंत्रित करे। सत्तर वर्ष के वृद्ध होने पर भी आचार्य अतिशा तिब्बत गये, और वहाँ जाकर उन्होंने बौद्ध-धर्म को पुनः संगठित किया। अतिशा बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने २०० के लगभग ग्रन्थ लिखे, जिनमें पुराने संस्कृत ग्रन्थों के तिब्बती अनुवाद भी सम्मिलित थे। उनकी मृत्यु तिब्बत में ही हुई। ल्हासा से बीस मील की दूरी पर क्यु-ची नदी के तट पर उनकी समाधि अब तक विद्यमान है, और तिब्बती लोग उसे बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। तिब्बत में बौद्ध-धर्म का जो संगठन आचार्य अतिशा ने किया था, वही कुछ परिवर्तित रूप में अब तक विद्यमान है।

मगध के महाविहारों के विविध बौद्ध-आचार्यों ने चीन और तिब्बत में धर्म और संस्कृति के प्रचार के लिये जो उद्योग किया, वह वस्तुतः अनुपम था।

(३) बौद्ध-धर्म का ह्रास

अनेक गुप्त-सम्राट् और मगध के पालवंशी राजा जिस बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे, और जिसके महाविहारों के विद्वान् आचार्य बारहवीं सदी तक ज्ञान और धर्म के

सन्देशवाहक होकर सुदूर देशों में जाया करते थे, वह मुसलमानों के आक्रमणों के बाद भारत में सर्वथा लुप्त-सा हो गया, यह बात बड़े आश्चर्य की है। मौर्यों के बाद भारत में पौराणिक वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का जो आन्दोलन शुरू हुआ था, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। भारत के सर्वसाधारण गृहस्थ ब्राह्मणों और श्रमणों का समान रूप से आदर करते थे। वे अपनी स्थानीय परम्पराओं के अनुसार विविध प्रकार के अनुष्ठानों का प्रयोग करते थे, और सब संन्यासियों व भिक्षुओं की एक सदृश सेवा करते थे। विदेशों में जो बौद्ध-प्रचारक गये, वे जनता में एक नयी सभ्यता और संस्कृति के सन्देशवाहक थे, क्योंकि वहाँ के निवासी भारत की अपेक्षा बहुत पिछड़े हुए थे। पर भारत में वे केवल धर्म का नेतृत्व करते थे। यहाँ उन्हें किसी नई सभ्यता व संस्कृति में जनता को दीक्षित नहीं करना था। बौद्ध-संघ की आन्तरिक शिथिलता के साथ-साथ ज्यों-ज्यों अन्य धर्मों के ब्राह्मणों व संन्यासियों में जीवन और स्फूर्ति बढ़ती गयी, त्यों-त्यों बौद्ध-भिक्षुओं का जनता पर प्रभाव कम होता चला गया।

इसके अतिरिक्त, पौराणिक धर्म के पुनरुत्थान के साथ जिन देवी-देवताओं की उपासना का प्रारम्भ हुआ था, वे भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार लोगों के हृदय में गहरा स्थान रखते थे। बौद्ध लोग उनकी उपेक्षा नहीं कर सके। उन्होंने भी उन विविध देवी-देवताओं को नये नामों से अपने धर्म में स्थान देना शुरू किया। मंजुश्री, तारा, अवलोकितेश्वर आदि के रूप में अनेक देवी-देवताओं ने बौद्ध-धर्म में भी प्रवेश कर लिया था। बौद्धों के जो बहुत-से सम्प्रदाय व उप-सम्प्रदाय धीरे-धीरे विकसित हो गये थे, उन्होंने पौराणिक धर्म से उनके भेद को बहुत कम कर दिया था। तंत्रवाद के प्रवेश से तो शक्ति के उपासक पौराणिक और वज्रयानी बौद्ध एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। भगवान् के दस अवतारों में पौराणिक लोगों ने बुद्ध को भी शामिल कर लिया था। जिस महाप्रतापी सिद्धार्थ के अनुयायी न केवल भारत में अपितु सुदूर विदेशों में संस्कृत-भाषा, भारतीय धर्म और भारतीय संस्कृति के प्रचार में लगे थे, जिसके स्तूपों, चैत्यों और विहारों से सारा सभ्य संसार आच्छादित था, वह भगवान् का साक्षात् अवतार नहीं था तो क्या था? पौराणिक लोग बुद्ध को अवतार मानते थे और बौद्ध लोग भारत के पुराने देवी-देवताओं और दार्शनिक विचारसरणी का अनुसरण करते थे। इस दशा में यदि उनका आपस में भेद बहुत कम रह गया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था।

गुप्त-सम्राटों में कुछ वैष्णव, कुछ शैव और कुछ बौद्ध थे। एक ही परिवार में भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी हो सकते थे। सम्राट् हर्षवर्धन सूर्य की उपासना करता था, शिव को मानता था, और साथ ही बौद्ध स्थविरों में भी श्रद्धा रखता था। पालवंशी राजा बौद्ध थे, पर ब्राह्मण पण्डितों को दान देने में और पौराणिक मन्दिरों की सहायता करने में वे संकोच नहीं करते थे। भारत के विविध धर्मों का भेद इस समय केवल उनके नेताओं में ही शेष रह गया था। बौद्ध भिक्षु अपने महाविहारों में रहते थे, पौराणिक संन्यासी आश्रमों और मठों में निवास करते थे। विविध धर्मों के इन विविध पण्डितों में प्राय: शास्त्रार्थ चलते रहते थे। जिस धर्म के पण्डित, ब्राह्मण व संन्यासी अधिक विद्वान् व त्यागी होते, वही जनता पर अपना अधिक प्रभाव कायम कर लेता। सातवीं सदी में अनेक ऐसे पौराणिक विद्वान् भारत में हुए, जिन्होंने

अपनी विद्वता, तर्क और प्रभाव से सबको चकाचौंध-सा कर दिया। प्रभाकर और कुमारिल भट्ट के नाम इनमें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कुमारिल ने बौद्ध-सिद्धान्तों पर आक्रमण किये, और वैदिक अनुष्ठानों तथा प्राचीन दर्शनपद्धति के गौरव को पुनरुज्जीवित किया। बाद में शंकराचार्य ने सारे भारत में भ्रमण कर बौद्धों के साथ जगह-जगह पर शास्त्रार्थ किये और बौद्ध-भिक्षुसंघों के मुकाबले में अपने मठों का संगठन किया, जिन में हजारों संन्यासी विद्याध्ययन में व्यापृत रहने लगे। इन संन्यासियों के सम्मुख बौद्ध-भिक्षुओं का प्रभाव मन्द पड़ गया। बौद्ध-संघ को कायम हुए हजार से ऊपर साल हो चुके थे, वैभवपूर्ण सम्राटों के दान और साहाय्य से उसके पास अपार सम्पत्ति एकत्र हो गयी थी। मगध के महाविहारों में हजारों भिक्षु निश्चिन्त होकर आनन्द के साथ जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें लोगों के पास भिक्षापात्र लेकर जाने की आवश्यकता अब नहीं रही थी। वे नाम को ही भिक्षु थे। इसके विपरीत आश्रमों और मठों में रहने वाले संन्यासियों में इस समय नई स्फूर्ति विद्यमान थी। परिणाम यह हुआ, कि भारतीयों की श्रद्धा बौद्ध भिक्षुओं में कम हो गयी, और वे संन्यासियों के उपदेशों को अधिक सम्मान के साथ श्रवण करने लगे।

बारहवीं सदी के अन्त में मुसलमानों के आक्रमणों से जब मगध के महाविहार तथा अन्य स्थानों के संघाराम और विहार विनष्ट हुए, तो बौद्ध-भिक्षुओं का रहा-सहा प्रभाव भी नष्ट हो गया। उनके स्थान पर सुदूर दक्षिण के संन्यासियों के मठ मुसलमानों के आक्रमणों से बचे रहे। रामानुज, शंकराचार्य आदि ने जिन नये धार्मिक आन्दोलनों का सूत्रपात किया था, उनके केन्द्र दक्षिणी भारत में ही थे। वहां के संन्यासी बाद में भी भारत-भ्रमण करते हुए जनता को धर्म का मार्ग प्रदर्शित करते रहे। मगध के मुसलिम आक्रांताओं द्वारा पराभूत होने और बौद्ध-विहारों के ध्वंस के बाद बहुत-से भिक्षु नेपाल और तिब्बत की ओर चले गये थे। मुसलमानों को बौद्ध-भिक्षुओं से बहुत द्वेष था। जब तुर्क लोगों ने मध्य एशिया पर हमले किये थे, तो उस क्षेत्र में भी बौद्ध-धर्म का प्रचार था। वहाँ भी मुसलमानों ने बौद्ध विहारों और भिक्षुओं का विनाश किया था। भारत में भी उन्हें जब वही विहार और वही भिक्षु दिखाई दिये, तो उन्होंने यहाँ भी उनके साथ बड़ी क्रूरता का बरताव किया। भारत से बौद्ध धर्म के लोप का यह एक बड़ा कारण था।

वज्रयान के विकास ने भी भारत में बौद्ध-धर्म के ह्रास में बहुत सहायता दी। सातवीं सदी के बाद भारत में जिस बौद्ध-धर्म का प्रचार था, वह मुख्यतया वज्रयान ही था। इस सम्प्रदाय के सिद्ध वज्रगुरु जिस प्रकार का जीवन व्यतीत करते थे, वह अन्धविश्वासी और अन्धभक्त लोगों को चाहे अपने प्रति अनुरक्त रख सके, पर विचारशील लोग उससे कदापि संतोष अनुभव नहीं कर सकते थे। बौद्ध-संघ के पास धन की कमी नहीं थी। इस धन का उपयोग वे अब एक ऐसे विलासपूर्ण व उच्छृंखल जीवन को बिताने में करने लगे थे, जिसे उन्होंने रहस्यमय साधनाओं और जटिल वाग्जाल की आड़ लेकर योगसिद्धि का उपाय मान रखा था। दूसरी ओर कुमारिल और शंकर जैसे पण्डित जहाँ अगाध विद्वान् थे, वहाँ साथ ही त्यागी और तपस्वी भी थे। उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये पण्डितों और संन्यासियों की जिन मण्डलियों को संगठित किया, वे पवित्र और तेजस्वी जीवन में विश्वास रखती थीं। परिणाम यह हुआ, कि जनता

की श्रद्धा बौद्ध-धर्म में कम होने लगी, और वह प्रधानतया उन महाविहारों में ही केन्द्रित रह गया, जिन्हें राजाओं से प्रचुर सहायता प्राप्त होती थी, और जिनके पास अतुल धन-राशि संचित थी। इसमें संदेह नहीं, कि कुमारिल और शंकर के बाद भी भारत में बौद्ध-धर्म का प्रचार रहा। बंगाल और मगध के पालराजा धर्म से बौद्ध थे। प्रतापी गहड्-वाल वंश के अनेक राजपुरुषों ने भी बौद्ध-धर्म के प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी। कतिपय अन्य राजवंश भी बौद्धधर्म के अनुयायी रहे। पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि मध्य युग में न भारत की बहुसंख्यक जनता ही बौद्ध-धर्म की अनुयायी रही थी, और न उसके बहुसंख्यक राजवंश ही। मौर्यों के बाद वैदिक धर्म का जो पुनरुत्थान हुआ था, वह धीरे-धीरे जोर पकड़ता जा रहा था। कुमारिल और शंकर जैसे पण्डितों के प्रयास के कारण जनता की श्रद्धा वैदिक व पौराणिक सम्प्रदायों के प्रति बढ़ रही थी। इस युग में वैष्णवों और शैवों में भी यह शक्ति थी, कि वे विदेशी जातियों को अपने में दीक्षित कर सकें, और विदेशों में जाकर अपने धर्म का प्रचार करें। मध्ययुग में बौद्ध-धर्म का प्रधान केंद्र मगध था, जहाँ बौद्ध-धर्म के अनुयायी पाल राजाओं का शासन था। अन्यत्र इस धर्म का तेजी के साथ ह्रास हो रहा था। जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी जैसे धर्मान्ध आक्रान्ताओं ने बिहार के बौद्ध-केन्द्रों को भूमिसात् कर दिया, तब यह धर्म इस देश से लुप्त हो गया।

(४) भारतीय संस्कृति को बौद्ध-धर्म की देन

यद्यपि बौद्ध-धर्म भारत से लुप्त हो चुका है, पर वह इस देश की संस्कृति, विचार-सरणी और जीवन पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ गया है। एक हजार साल से भी अधिक समय तक बौद्ध-धर्म का इस देश में प्रचार रहा। इस सुदीर्घ काल में इस धर्म ने यहाँ के सामाजिक जीवन को इतना अधिक प्रभावित किया, कि बौद्ध-धर्म को लुप्त हुए आठ सदी के लगभग समय बीत जाने पर भी उसका प्रभाव अभी तक विद्यमान है। भारत की संस्कृति और जीवन को बौद्धों ने जिस प्रकार प्रभावित किया है, इसका संक्षिप्त रूप से निम्नलिखित प्रकार से निदर्शन किया जा सकता है :—

(१) भारतीय दर्शन पर बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है। प्राचीन समय में वैदिक या आस्तिक दर्शनों का किस प्रकार विकास हुआ, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। पर भारतीय दर्शनशास्त्र का विकास प्राचीन काल में ही समाप्त नहीं हो गया था। बौद्ध-युग और बाद के काल में भी उसका विकास जारी रहा। नव्य-न्याय प्राचीन न्यायशास्त्र से बहुत अधिक विकसित है। वेदान्त का प्रतिपादन जिस रूप में शंकराचार्य ने किया, वह उपनिषदों व ब्रह्मसूत्रों के वेदान्त से अनेक अंशों में भिन्न है। दर्शनशास्त्र का जिस ढंग से विकास बाद में हुआ, उसमें बौद्ध-पण्डितों का बड़ा कर्तृत्व था। भारतीय न्यायशास्त्र का सूत्रपात और विकास करने में अक्षपाद, वात्स्यायन, वाचस्पति, उदयनाचार्य और गंगेशोपाध्याय ने जो कार्य किया, उससे कम महत्त्वपूर्ण कार्य नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङनाग, धर्मकीर्त्ति, प्रज्ञाकरगुप्त और ज्ञानश्री आदि बौद्ध पण्डितों ने नहीं किया। इन बौद्ध-पण्डितों की छाप न्यायशास्त्र पर बहुत अधिक स्पष्ट है। शंकराचार्य के वेदान्तदर्शन पर भी बौद्ध विचारसरणी का प्रभाव बहुत अधिक है।

शंकर का मायावाद नागार्जुन के शून्यवाद का रूपान्तर ही है। शंकर सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर की आवश्यकता को नहीं मानता। उसका 'ब्रह्म' सृष्टि का कारण अवश्य है, पर ब्रह्म सृष्टि को बनाता नहीं है, अपितु माया से अवच्छिन्न होकर सृष्टि के रूप में उसका आभासमात्र होता है। शंकर के अनुयायी श्रीहर्ष का 'खण्डनखण्डखाद्य' बौद्धों के माध्यमिक दर्शन से अधिक भिन्न नहीं है। यही कारण है, कि अनेक विचारकों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। सांख्य जैसा दर्शन जो सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को न मानकर कपिल के रूप में एक सर्वाधिक ज्ञानवान् व्यक्ति को गुरु-रूप से प्रतिपादित करता है, वह भी बौद्धदर्शन के प्रभाव का ही परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं, कि भारत के दर्शन-शास्त्रों का जिस रूप में आगे चलकर विकास हुआ, उसपर बौद्ध-दर्शनों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है।

(२) बौद्ध-धर्म ने याज्ञिक अनुष्ठान और पशुहिंसा के विरुद्ध आवाज उठाई थी। इसीलिये जब शुङ्ग-युग में पुराने वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो यज्ञों और याज्ञिक अनुष्ठानों में पशुबलि का वह स्थान नहीं रहा, जो बौद्धों से पहले था। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में भागवत, शैव आदि जो पौराणिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, वे भक्ति और पूजा-धर्म को यज्ञों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। यदि बौद्ध लोग जीवन की उन्नति के लिये महात्मा बुद्ध को जनता के सम्मुख आदर्श रूप में पेश करते थे, तो भागवत धर्म के आचार्यों ने कृष्ण और राम को पूर्ण पुरुषों के रूप में उपस्थित किया। यदि बुद्ध की भक्तिद्वारा मनुष्य परमलाभ प्राप्त कर सकता था, तो राम और कृष्ण सदृश लोकोत्तर व्यक्तियों (ईश्वर के अवतारों) की भक्ति भी उसे अभिलषित फल प्राप्त करा सकती थी। बौद्ध-धर्म में जो स्थान बुद्ध का था, भागवतधर्म में वही वासुदेव कृष्ण का था। बौद्ध लोग बुद्ध की पूजा के लिये चैत्यों का निर्माण करते थे और उनमें बुद्ध की मूर्ति स्थापित करते थे, तो पौराणिकों ने कृष्ण, राम, शिव, स्कन्द और विशाख की प्रतिमाएँ बनाकर मन्दिरों में उनकी प्रतिष्ठा करना प्रारम्भ कर दिया था। ज्यों-ज्यों बौद्धों के पूजा-पाठ में आडम्बर की वृद्धि हुई, पौराणिकों ने भी उसका अनुसरण कर अपनी पूजा को जटिल बना लिया। मन्दिरों में कृष्ण व राम की जो मूर्तियाँ स्थापित होती थीं, उनका साज-शृंगार किया जाने लगा। उनको संतुष्ट करने के लिये नाचने और गाने की प्रथा शुरू हुई, और उनके सम्मुख भोग लगाया जाने लगा। बौद्धों के वज्रयान के समान पौराणिक धर्म में भी अब ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, जो अलौकिक सिद्धि प्राप्त करना ही अपना ध्येय मानते थे। शैवों के पाशुपत और कापालिक सम्प्रदायों ने बहुत जोर पकड़ा। ये दोनों सम्प्रदाय वज्रयानी बौद्धों के समान सिद्धियों में विश्वास रखते थे, और उनके लिये अनेक रहस्यमय अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे। बाद में शाक्त सम्प्रदाय बहुत प्रबल हुआ, जो आनन्द भैरवी आदि देवियों की पूजा करता था। इसी सम्प्रदाय को वाममार्ग भी कहते थे।

(३) बौद्ध-विहारों के अनुसरण में पौराणिक सम्प्रदायों ने मठों का सगठन किया। इन मठों में हजारों संन्यासी या साधु एक साथ रहने लगे, और उनका जीवन बौद्ध भिक्षुओं से अधिक भिन्न नहीं रहा। बौद्धों से पूर्व भारत में मठों या विहारों की प्रथा नहीं थी। उस युग में अरण्यों में आश्रमों की सत्ता अवश्य थी, जिनमें तत्त्व-चिन्तक ऋषि-मुनि अपने पुत्र कलत्र के साथ निवास करते थे, और ज्ञानपिपासुओं को

उपदेश करते थे। पर प्रव्रज्या द्वारा भिक्षुव्रत लेकर हजारों भिक्षुओं का विहार में निवास करना बौद्ध-धर्म द्वारा ही प्रारम्भ हुआ, और उसी के अनुकरण में पौराणिक सम्प्रदायों के मठ संगठित हुए, जिनमें संन्यास लेकर बहुत-से साधु एक साथ निवास करने लगे।

(४) भारत में विद्या और ज्ञान के विकास में भी बौद्धों ने बहुत भाग लिया। संस्कृत व्याकरण में चन्द्रगोमि का व्याकरण अपना विशेष स्थान रखता है, यद्यपि उसने वैदिक संस्कृत का स्पर्श नहीं किया, क्योंकि वह बौद्ध था। काशिकाकार जयादित्य और न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि बौद्ध-धर्म के अनुयायी थे। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी की इन दोनों टीकाओं का व्याकरण-साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के अत्यन्त प्रसिद्ध कोश 'अमरकोश' का रचयिता अमरसिंह बौद्ध था। आयुर्वेद की रसायन शाखा के विकास में आचार्य नागार्जुन ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। कालिदास से पूर्व महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' जैसे महाकाव्य, और 'राष्ट्रपाल' व 'सारिपुत्र' जैसे नाटक लिखकर संस्कृत-काव्य की उस धारा को प्रारम्भ किया, जिसे आगे चलकर कालिदास और भवभूति ने बहुत उन्नत किया। हर्ष ने नागानन्द लिखकर बोधिसत्त्व के आदर्श का चित्रण किया। हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भ का श्रेय भी बौद्ध विद्वानों को ही प्राप्त है। बौद्ध विद्वानों की सदा यह नीति रही, कि उन्होंने अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिसे सर्वसाधारण जनता भली-भाँति समझ सकती थी। बुद्ध ने अपने उपदेश पालि भाषा में दिये थे, इसीलिये स्थविरवाद के त्रिपिटक की भाषा पालि ही थी। वज्रयान के विकास होने पर उसके सिद्ध गुरुओं ने एक ऐसी अपभ्रंश भाषा को अपने उपदेशों के लिये प्रयुक्त किया, जो उस समय जनता की भाषा थी, और जो आगे चलकर विकसित होती-होती हिन्दी के रूप में परिवर्तित हो गयी। यही कारण है, कि सरहपा सिद्ध को हिन्दी का आदिकवि माना जाता है। यह वज्रयानी सिद्ध सातवीं सदी में हुआ था। उदाहरण के लिये इसका एक दोहा यहाँ उल्लिखित करना उपयोगी होगा :

जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥

(५) भारत की मूर्तिकला और वास्तुकला के विकास में बौद्धों ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साञ्ची, भरहुत, गान्धार व मथुरा की कला बौद्धों की ही कृति थी। अजन्ता, बाघ आदि के गुहामन्दिर और उनकी दीवारों पर बनाये गये सुन्दर चित्र बौद्धों द्वारा इस क्षेत्र में किये गये कार्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। एलोरा, अजन्ता, कार्ला आदि में पहाड़ काटकर बनाये गए भव्य प्रासाद बौद्ध शिल्पियों की ही कृति हैं। बड़े-बड़े चैत्यों, स्तूपों और विहारों के निर्माण में जो कर्तृत्व बौद्धों ने प्रदर्शित किया, वह वस्तुतः अद्भुत था। बौद्धों के प्रयत्न से ही वास्तुकला के ये विविध नमूने भारत में सर्वत्र व्याप्त हो गये, और भारत के जो प्राचीनतम भवन, मूर्तियाँ आदि विकल व खण्डहर रूप में आजकल उपलब्ध होते हैं, वे सब प्रायः बौद्धों द्वारा ही बनवाये गये थे।

(६) अहिंसा, प्राणिमात्र का हित व कल्याण और सदाचारमय जीवन के जो आदर्श बौद्ध-धर्म ने उपस्थित किये थे, वह आज तक भी भारतीयों के जीवन को अनुप्राणित करते हैं। बौद्धों ने अपने धर्म के प्रचार के लिये कभी पाशविक बल का उपयोग

नहीं किया। सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभावना ही उनकी लोकप्रियता में प्रधान कारण हुई। बौद्धों की इसी भावना का यह परिणाम हुआ, कि इस देश में धार्मिक विद्वेष कभी उस रूप में प्रगट नहीं हुआ, जैसा कि अन्यत्र हुआ था।

(७) महात्मा बुद्ध के सन्देश को विदेशों में दूर-दूर तक फैलाकर बौद्ध-प्रचारकों ने भारतीय भाषा, सभ्यता, संस्कृति और साहित्य को सार्वभौम रूप प्रदान किया। भारत के प्राचीन इतिहास का यह सबसे अधिक उज्ज्वल और गौरवपूर्ण पहलू है। उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व के सुविस्तृत क्षेत्रों में किस प्रकार वृहत्तर भारत का विकास हुआ था, इस विषय पर हम विशदरूप से प्रकाश डाल चुके हैं। भारतीय संस्कृति का इस ढंग से इतने विशाल क्षेत्र में प्रसार करने का प्रधान श्रेय बौद्धों को ही प्राप्त है, और यही उनकी भारतीय इतिहास को सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

इक्कीसवां अध्याय

मध्यकाल की सभ्यता और संस्कृति

(१) ह्रास का काल

छठी शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य का क्षय हुआ, और बारहवीं सदी के अन्त तक उत्तरी भारत के बड़े भाग पर मुसलिम आक्रान्ताओं का शासन स्थापित हो गया। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक—छः शताब्दियों को भारत के इतिहास का मध्य-युग कहा जा सकता है। इस युग की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं :—

(१) इन सदियों में भारत में कोई ऐसी राजनीतिक शक्ति नहीं थी, जो देश के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर एक ऐसे साम्राज्य की नींव डालने में समर्थ होती, जिससे यह देश एक राजनीतिक सूत्र में संगठित रहता। राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से यह काल अराजकता और अव्यवस्था का था। आचार्य चाणक्य से प्रेरणा पाकर मौर्य चन्द्रगुप्त ने हिमालय से समुद्र पर्यन्त सहस्र योजन विस्तीर्ण इस आर्य भूमि में जिस एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, और जो गुप्त-सम्राटों के प्रताप के कारण हिन्दूकुश पर्वतमाला के पार बाल्हीक देश तक भी विस्तृत हो गया था, उसका अब अन्त हो गया था। उसका स्थान अब बहुत-से ऐसे राजवंशों ने ले लिया था, जिनके राजा निरन्तर आपस में लड़ते रहते थे, और जो अनेक बार दूर-दूर तक विजय-यात्राएं करके भी किसी स्थिर साम्राज्य की नींव डालने में असमर्थ रहते थे। सातवीं सदी के पूर्वार्ध में स्थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन ने उत्तरी भारत में, और चालुक्य पुलकेशी द्वितीय ने दक्षिणापथ में विशाल साम्राज्यों का निर्माण किया। पर उनकी कृति देर तक स्थिर नहीं रही। आठवीं सदी में उत्तरी भारत में पाल, गुर्जरप्रतीहार, कर्कोटक आदि राजवंशों ने और दक्षिणी भारत में राष्ट्रकूट, पल्लव, गंग, चोल, चालुक्य आदि राजवंशों ने शासन किया। यही दशा नवीं, दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में रही। यद्यपि इस काल में शासन करने वाले राजवंशों में परिवर्तन होता रहा, पर राजनीतिक दशा में कोई अन्तर नहीं आया। कन्नौज में गुर्जरप्रतीहारों का स्थान गहड्वालों ने ले लिया, और दक्षिणापथ में राष्ट्रकूटों का स्थान कल्याणी के चालुक्यों ने। पर गुप्त-साम्राज्य के क्षय के बाद भारत में जो राजनीतिक अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी, उसमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं आया। यह स्पष्ट है, कि राजशक्ति की दृष्टि से यह ह्रास का काल था।

(२) प्राचीन बौद्ध-धर्म का स्वरूप इस युग में बहुत परिवर्तित हुआ। मन्त्र-शक्ति और तान्त्रिक क्रियाओं के प्रवेश के कारण बौद्ध-धर्म के रूप में बहुत परिवर्तन आ गया, और वज्रयानी बौद्ध-गुरु मन्त्र-सिद्धियों द्वारा अपने अनुयायियों का कल्याण करने के लिये प्रयत्नशील हुए। पौराणिक हिन्दू-धर्म में भी शाक्त (वाममार्गी) सम्प्रदाय

के रूप में एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव हुआ, जो वज्रयान से बहुत मिलता-जुलता था। बौद्ध और हिन्दू—दोनों धर्मों में वाममार्ग का प्रवेश इस युग की महत्त्वपूर्ण विशेपता है। इसके कारण भारत के प्राचीन धर्मों की शक्ति और महत्ता में बहुत अन्तर आया, और जीवन को नवस्फूर्ति, सदाचार भावना व उच्च आदर्श से अनुप्राणित करने का जो कार्य भारत के प्राचीन धर्म किया करते थे, उनका स्थान अब उन रहस्यमयी क्रियाओं ने ले लिया, जिनकी तह तक पहुँच सकना सर्वसाधारण जनता के लिये सर्वथा असम्भव था। इतना ही नहीं, भारत के धर्म में इस समय वह शक्ति भी नहीं रह गयी, जो किसी समय यवन, शक, पार्थियन, कुशाण, हूण आदि विदेशी जातियों को आत्मसात् करने में समर्थ हुई थी। दसवीं सदी के अन्त में जब महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किया, और तुर्क लोग भारत में बसने लगे, तो इस देश के शैव, वैष्णव आदि धर्म उन्हें अपना अनुयायी बनाने में या उन्हें अपने दायरे में ले सकने में असमर्थ रहे। बैक्ट्रिया के जिन यवनों ने दूसरी सदी ई० पू० में भारत में प्रवेश किया था, सभ्यता व संस्कृति की दृष्टि से वे अच्छे उन्नत थे। पर फिर भी उन्होंने भारत के धर्म की दीक्षा ली। मुस्लिम तुर्कों व अफगानों को आत्मसात् करने के विपय में जो असामर्थ्य भारतीयों ने प्रदर्शित किया, उसमें इस्लाम की शक्ति जहाँ कारण थी, वहाँ भारतीय धर्मों का आन्तरिक ह्रास भी उसके लिये उत्तरदायी था।

(३) सामाजिक दृष्टि से इस युग में संकीर्णता उत्पन्न हुई। प्राचीन समय में भारत का सामाजिक संगठन वर्ण-धर्म के सिद्धान्त पर अवश्य आश्रित था, पर उस समय जातिभेद ने उग्र रूप धारण नहीं किया था। मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार शिल्प, व्यवसाय व पेशे का अनुसरण कर सकता था, और कर्म के अनुसार ऊँचे या नीचे वर्ण को भी प्राप्त कर सकता था। विविध वर्णों के लोगों में विवाह-सम्बन्ध भी निषिद्ध नहीं था, और खान-पान के मामले में भी लोग संकीर्ण विचार नहीं रखते थे। पर मध्यकाल में यह स्थिति बदल गयी, और जातिभेद उस रूप में आ गया, जिसमें कि वह आजकल पाया जाता है। भारतीय समाज के पुराने वर्णों, वर्गों, जनों (कबीलों) और श्रेणियों (व्यवसायी व व्यापारी वर्ग के संगठनों) का जात-पाँत के रूप में परिवर्तित हो जाना इस युग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेपता है।

(४) यह सच है, कि इस युग में भी भारत में अनेक कवि, दार्शनिक, स्मृतिकार और विज्ञानवेत्ता हुए। पर साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में इस काल के भारतीयों ने उस असाधारण प्रतिभा का परिचय नहीं दिया, जो प्राचीन काल के विद्वानों ने प्रदर्शित की थी। इस युग के कवि और साहित्यिक वाल्मीकि और कालिदास का मुकाबला नहीं कर सकते। उनके काव्य में सौन्दर्य अवश्य है, पर उसका प्रधान कारण अलंकार है, स्वाभाविकता नहीं। इस युग के दार्शनिक सृष्टि के तत्त्वों की गहराई में पहुँचने का उतना प्रयत्न नहीं करते, जितना कि शब्दजाल द्वारा बाल की खाल उतारने के लिये करते हैं। यही कारण है, कि मौर्यों और गुप्तों के युग में भारत में जो असाधारण उन्नति हुई थी, उसकी प्रगति इस समय अवरुद्ध हो गयी। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों के क्षेत्र में भी इस युग में कोई विशेप उन्नति नहीं हुई। ऐसा प्रतीत होता है, कि गुप्त-युग तक भारत में जो असाधारण जीवन और प्रतिभा थी, वह मध्यकाल में बहुत कुछ मन्द पड़ गयी थी, और भारत का विकास अवरुद्ध हो गया था।

इस युग में इस देश के विचारक ऐसा मानने लगे थे, कि संसार में सर्वत्र ह्रास ही ह्रास दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि मनुष्य की शक्ति और ज्ञान में भी ह्रास हो। एक दर्शन-ग्रन्थ में इस सिद्धान्त को बहुत युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया गया है, और यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि वस्तुतः इस युग के भारतीयों में ह्रास की प्रक्रिया जारी थी।

पर इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि संसार के अन्य देशों में भी यह काल अवनति और ह्रास का था। रोमन साम्राज्य के पतन के बाद इसी काल में यूरोप में भी सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता छायी हुई थी। प्राचीन ग्रीस और रोम में जिस प्रकार अनेक तत्त्ववेत्ताओं ने प्रकृति के विभिन्न तथ्यों की खोज के लिये चिंतन किया, इस युग के यूरोप में उसका सर्वथा अभाव था। यूरोप के इतिहास में इस युग को 'अन्धकार युग' कहा जाता है, जब कि पाश्चात्य संसार की उन्नति एकदम अवरुद्ध-सी हो गयी थी। चीन के इतिहास में अपकर्ष का काल दसवीं सदी में शुरू हुआ। सुँग-वंश के बाद वहाँ भी उसी प्रकार की अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न हुई, जैसी कि भारत और पाश्चात्य संसार में थी।

गुप्त-युग के बाद भारत में जो ह्रास की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, उसका प्रधान कारण राजनीतिक एकता और व्यवस्था का अभाव ही था। कोई देश तभी उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हो सकता है, जब कि वहाँ शान्ति और व्यवस्था स्थापित रहे। भारत के मध्यकालीन इतिहास में विविध राजवंश एक-दूसरे के साथ निरन्तर युद्ध में व्यापृत रहे। इनके पारस्परिक संघर्ष के कारण वे परिस्थितियाँ नष्ट हो गयीं, जिनमें किसी देश को उन्नति का अवसर मिलता है। धर्म भी मनुष्य को उन्नति की प्रेरणा देता है। पर इस युग में भारत के धर्म में भी वह शक्ति नहीं रह गयी थी, जो मानव-समाज को उच्च आदर्श की ओर ले जाती है। बौद्ध-धर्म और पौराणिक हिन्दू-धर्म—दोनों के लिये वह अवनति का काल था।

(२) चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग

इस से पूर्व कि हम मध्यकाल की शासन-व्यवस्था, साहित्य, कला आदि का विवेचन करें: यह उपयोगी होगा कि प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग के सम्बन्ध में कुछ परिचय दिया जाए। यह चीनी यात्री मध्यकाल के आरम्भ में (सातवीं सदी के पूर्वार्ध में) जब कन्नौज का राजा हर्षवर्धन उत्तरी भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था, भारत की यात्रा के लिये आया था। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इस चीनी यात्री का बहुत अधिक महत्त्व है। इसने अपनी यात्रा का जो विवरण लिखा है, उससे भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं, और साथ ही यह भी सूचित होता है कि सातवीं सदी में भारत और चीन में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था। ह्यु एन-त्सांग का महत्त्व केवल भारतीय इतिहास में ही नहीं है, अपितु चीन के बौद्ध लोगों में भी उसका नाम अत्यन्त श्रद्धा और आदर के साथ स्मरण किया जाता है। पश्चिमी चीन के सियान नामक स्थान पर उसकी समाधि अब तक भी विद्यमान है। जिस पर ये शब्द अंकित हैं—"यह महापुरुष उत्तर, दक्षिण, पूर्व और

पश्चिमी सब दिशाओं में गया, और वहाँ के दुर्गम मार्गों को उसने सुगम कर दिया, ताकि बाद के यात्रियों को उन पर आने-जाने की कठिनाई न हो।"

ह्यु एन-त्सांग ६२० ईस्वी के लगभग भारत पहुँचा, और १५ वर्ष तक इस देश में रहा। यहाँ उसने केवल बौद्ध धर्म का ही अनुशीलन नहीं किया, अपितु इस देश के समाज, रीतिरिवाज, ऐतिहासिक अनुश्रुति आदि का भी गम्भीरता से अनुशीलन किया। यही कारण है कि सातवीं सदी के भारत को भलीभाँति समझने के लिये ह्यु एन् त्सांग का भारत वर्णन विश्वकोश का काम देता है। इस चीनी यात्री का कुछ परिचय देना इस काल के इतिहास को समझने के लिये बहुत उपयोगी है।

६०० ईस्वी के लगभग कन्फ्यूसियस के धर्म को माननेवाले एक परिवार में ह्यु एन-त्सांग का जन्म हुआ था। उसके तीन भाई और थे। उमर में वह सबसे छोटा था। छोटी आयु में ही उसका ध्यान बौद्ध-धर्म की ओर आकृष्ट हुआ, और उसने भिक्षु बनकर इस धर्म का भली-भांति अध्ययन करने का संकल्प किया। बीस वर्ष की आयु में वह भिक्षु हो गया और चीन के विविध विहारों में जाकर बौद्ध-धर्म का अध्ययन करने लगा। चीन के स्थविरों से जो कुछ भी सीखा जा सकता था, वह सब उसने सीख लिया। पर उसे इससे संतोष नहीं हुआ। चीनी भाषा में अनूदित बौद्ध-ग्रंथों से उसकी जिज्ञासा पूर्ण नहीं हुई। उसने विचार किया कि भारत जाकर बौद्ध-धर्म के मूल ग्रंथों का अनुशीलन करे, और उन पवित्र तीर्थस्थानों का भी दर्शन करे, जिनसे भगवान् बुद्ध और उनके प्रमुख शिष्यों का सम्बन्ध है। सब प्रकार की तैयारी करके २६ वर्ष की आयु में ह्यु एन-त्सांग ने चीन से भारत के लिये प्रस्थान किया। इस समय चीन से भारत आने के लिये अनेक मार्ग थे, जिनमें से एक उत्तरी मध्य एशिया से होकर आता था। ह्यु एन-त्सांग ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया, और वह तुर्फान, ताशकंद, समरकन्द और काबुल होता हुआ भारत आया। चीन से भारत पहुँचने में उसे एक साल लगा।

हिंदूकुश पर्वतमाला को पार कर वह कपिशा की राजधानी में शलोका नामक विहार में रहा। अपना चातुर्मास्य उसने वहीं व्यतीत किया। वहाँ से अन्य अनेक नगरों और विहारों की यात्रा करता हुआ वह काश्मीर गया। ह्यु एन-त्सांग काश्मीर में दो वर्ष तक रहा। इस युग में भी काश्मीर बौद्ध-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। ह्यु एन-त्सांग ने अपने दो साल काश्मीर में बौद्ध-ग्रंथों के अध्ययन में व्यतीत किये। काश्मीर से वह पंजाब के अनेक स्थानों का भ्रमण करता हुआ स्थानेश्वर पहुँचा। यहाँ जयगुप्त नाम का एक प्रसिद्ध विद्वान् रहता था। ह्यु एन-त्सांग ने उसके पास कई मास तक अध्ययन किया। वहाँ से वह कन्नौज गया, जो उस समय उत्तरी भारत की प्रधान राजनीतिक शक्ति था। यहीं उसका सम्राट् हर्षवर्धन से परिचय हुआ। कन्नौज से ह्यु एन-त्सांग अयोध्या, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कपिलवस्तु, कुशीनगर, वाराणसी और वैशाली आदि होता हुआ मगध पहुँचा। पाटलिपुत्र उस समय बिलकुल क्षीण हो गया था। अब से लगभग दो सदी पहले जब फाइयान भारत आया था, तो पाटलिपुत्र में महाप्रतापी गुप्त-सम्राटों का शासन था। यह नगरी न केवल एक विशाल साम्राज्य की राजधानी थी, अपितु ज्ञान, शिक्षा और संस्कृति की भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। यही कारण है, कि फाइयान ने पाटलिपुत्र में रहकर ही धर्म और ज्ञान की पिपासा को शांत किया था। पर गुप्तों की

शक्ति के क्षीण होने और कन्नौज के मौखरि राजाओं के उत्कर्ष के कारण पाटलिपुत्र का स्थान अब कन्नौज ने ले लिया था। मगध के गुप्त राजा इस समय निर्बल थे, और हर्षवर्धन के सम्मुख उनकी शक्ति सर्वथा मन्द थी। पिछले दिनों की अव्यवस्था और अशांति से पाटलिपुत्र का वैभव भी क्षीणप्राय हो गया था। यही कारण है, कि ह्यु एन-त्सांग पाटलिपुत्र में देर तक नहीं ठहरा। वहाँ के प्रसिद्ध स्तूपों और विहारों का दर्शन कर वह बोधिवृक्ष के दर्शनों के लिये गया। ह्यु एन-त्सांग ने लिखा है, कि राजा शशांक बौद्ध-धर्म से बड़ा द्वेष रखता था, और शैव-धर्म का कट्टर अनुयायी था। उसने बोधिवृक्ष को कटवा दिया और पटना में बुद्ध के पदचिह्नों से अंकित पत्थर को, जिसकी बौद्ध लोग पूजा करते थे, गंगा में फेंकवा दिया। ह्यु एन-त्सांग ने बोधिवृक्ष के नीचे उस स्थान के दर्शन कर अपार संतोष प्राप्त किया, जहाँ भगवान् बुद्ध को बोध हुआ था। भक्त लोगों ने बोधिवृक्ष का फिर से आरोपण कर दिया था। यहाँ से ह्यु एन-त्सांग नालदा गया। इस युग में नालन्दा का विहार शिक्षा और ज्ञान के लिये सबसे बड़ा केन्द्र था। चीनी यात्री ने कुछ समय तक वहाँ रहकर बौद्ध धर्म के विविध ग्रंथों का भली-भाँति अनुशीलन किया। नालंदा से हिरण्यदेश (मुँगेर), चम्पा, राजमहल, पुण्ड्रवर्धन, कर्णसुवर्ण आदि होता हुआ वह दक्षिण भारत की ओर मुड़ा। उड़ीसा तथा दक्षिण कोशल होता हुआ ह्यु एन-त्सांग धनकटक पहुँचा। यहाँ अमरावती के विहार में वह कई महीने तक रहा। अमरावती से वह काँची गया। इसके बाद वह उत्तर-पश्चिम की ओर मुड़ा और बनवासी देश होता हुआ महाराष्ट्र पहुँच गया। दक्षिण के अनेक नगरों और देहातों का भ्रमण करता हुआ ह्यु एन-त्सांग सिंध और मुलतान गया। अनेक नवीन स्थानों का अवलोकन करता हुआ वह वहाँ से फिर नालदा लौटा। बौद्ध-वाङ्मय के जो ग्रथ उसने अभी तक नहीं पढ़े थे, उन सबका इस बार उसने अनुशीलन किया।

इन दिनों कामरूप (आसाम) में भास्करवर्मा का शासन था। वह कन्नौज के सम्राट् की अधीनता स्वीकार करता था। उसने ह्यु एन-त्सांग को आसाम पधारने के लिये निमंत्रण दिया। आसाम में उस समय बौद्ध-धर्म का यथेष्ट प्रचार नहीं था। अतः अपने गुरु और नालंदा के प्रधान आचार्य शीलभद्र की आज्ञा से ह्यु एन-त्सांग ने आसाम के लिये प्रस्थान किया। भास्करवर्मा ने बड़े आदर के साथ इस प्रसिद्ध विदेशी बौद्ध विद्वान् का स्वागत किया।

इस समय सम्राट् हर्षवर्धन बंगाल में राजमहल में पड़ाव डाले पड़ा था। जब उसे ज्ञात हुआ, कि ह्यु एन-त्सांग आसाम में है, तो उसने भास्करवर्मा को यह आदेश दिया कि वह चीनी विद्वान् को साथ लेकर गंगा के मार्ग से कन्नौज आये। हर्षवर्धन ने कन्नौज में एक बौद्ध-महासभा का आयोजन किया था, जिसमें बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों पर विचार करने के लिये दूर-दूर से भिक्षुओं और विद्वानों को आमन्त्रित किया गया था। हर्ष की इच्छा थी, कि ह्यु एन-त्साग भी इस महासभा में सम्मिलित हो। हर्ष के आदेश से भास्करवर्मा ह्यु एन-त्सांग को साथ लेकर कन्नौज आया। वहाँ इस चीनी विद्वान् के पाण्डित्य का बहुत आदर हुआ। बाद में वह हर्ष के साथ प्रयाग गया, जहाँ सम्राट् ने बहुत दान-पुण्य किया। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के लगभग भारत में रहकर और इस देश से बहुत-से धर्मग्रंथों को साथ लेकर ह्यु एन-त्सांग उत्तर-पश्चिम के स्थल मार्ग

से चीन को लौट गया। ह्यु एन-त्सांग के भारत-भ्रमण का यही संक्षिप्त वृत्तान्त है।

कन्नौज की जिस महासभा के लिये हर्षवर्धन ने ह्यु एन-त्सांग को विशेपरूप से निमंत्रित किया था, उसमें बीस सामन्त राजा, चार हजार बौद्ध भिक्षु और लगभग तीन हजार जैन व हिन्दू पण्डित सम्मिलित हुए थे। इस महासभा के लिये हर्षवर्धन ने गंगा नदी के पश्चिमी तट पर एक विशाल मण्डप और एक चैत्य का निर्माण कराया था, जिसकी ऊँचाई सौ फीट थी। चैत्य के भीतर बुद्ध की एक सुवर्ण-मूर्त्ति स्थापित कराई गयी था, जो ऊँचाई में हर्षवर्धन के बराबर थी। इस मण्डप के पश्चिम की ओर कुछ दूरी पर राजा ने अपने और अपने प्रतिष्ठित अतिथियों के निवास के लिये भवनों का निर्माण कराया था। प्रतिदिन प्रातःकाल के समय बुद्ध की सुवर्णमूर्त्ति का जुलूस निकाला जाता था। मूर्त्ति को एक उत्तुंग हाथी पर रखकर हर्ष और भास्करवर्मा उसके साथ रहते थे। इस अवसर पर हर्ष इन्द्र (शक्र) का वेश धारण करता था, और भास्करवर्मा ब्रह्मा का। सामन्त राजा, उच्च राजकर्मचारी, प्रतिष्ठित अतिथि और प्रमुख भिक्षु व पण्डित हाथियों पर आरूढ़ होकर पीछे-पीछे चलते थे। सौ हाथियों पर तो केवल वे बाजे वाले ही बैठते थे, जो विविध प्रकार के बाजे बजाते हुए जुलूस के साथ-साथ रहते थे। जब यह विशाल जुलूस चैत्य के समीप पहुँच जाता था, तो राजा हर्षवर्धन विविध मणि-माणिक्य से सुशोभित हजारों-लाखों रेशमी वस्त्रों को बुद्ध की मूर्त्ति पर चढ़ाता था। अन्य बहुमूल्य उपहार भी इस समय बुद्ध की मूर्त्ति के भेंट किये जाते थे। बुद्ध की प्रतिमा की पूजा के बाद सहभोज होता था, और फिर सब लोग महासभा के अधिवेशन में सम्मिलित होते थे। ह्यु एन-त्सांग को इस सभा में प्रधान पद प्राप्त था, क्योंकि हर्ष उसे अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखता था। एक मास तक निरन्तर इसी प्रकार इस सभा के अधिवेशन होते रहे। एक महीना बीत जाने पर किसी व्यक्ति ने चैत्य को आग लगा दी, और जब हर्ष आग को बुझाने के लिये व्यवस्था कर रहा था, एक आततायी ने उसपर आक्रमण किया। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, और हर्ष के अंगरक्षकों ने उसे बन्दी बना लिया। पूछने पर उसने बताया, कि ब्राह्मण पण्डितों ने उसे हर्ष की हत्या के लिये नियुक्त किया था, और उन्होंने ही चैत्य में आग लगवाई थी। हर्ष जिस प्रकार बौद्ध-धर्म के प्रति पक्षपात प्रदर्शित कर रहा था, पण्डित लोग उससे बहुत असंतुष्ट थे, और इसी कारण उन्होंने यह षड्यंत्र किया था। पाँच सौ ब्राह्मणों को षड्यंत्र में शामिल होने के अपराध में दण्ड दिया गया, और जो निरपराध पाये गये उन्हें छोड़ दिया गया।

कन्नौज की महासभा की समाप्ति पर हर्ष ने प्रयाग के लिये प्रस्थान किया। गंगा-यमुना के संगम पर हर पाँचवें साल हर्ष एक महोत्सव किया करता था। सब सामंत राजा व उच्च राजकर्मचारी इस उत्सव में भी सम्मिलित होते थे। ह्यु एन-त्सांग इस उत्सव में भी हर्ष के साथ था। उसने अपने यात्रा-विवरण में इसका भी विशदरूप से वर्णन किया है। पाँच वर्षों में जो धन हर्ष के राज्यकोष में एकत्र हो जाता था, उसे वह इस उत्सव में दान-पुण्य में व्यय कर देता था। ह्यु एन-त्सांग के वर्णन के अनुसार उत्सव के प्रथम दिन बुद्ध की मूर्त्ति स्थापित की जाती थी, और अत्यन्त बहुमूल्य रत्न आदि से उसकी पूजा कर इन रत्नों को दान कर दिया जाता था। इसी प्रकार दूसरे दिन आदित्यदेव की और तीसरे दिन ईश्वरदेव की अर्चना की जाती थी। चौथे दिन दस हजार बौद्ध भिक्षुओं

को दान-पुण्य किया जाता था। प्रत्येक भिक्षु को सौ सुवर्ण-मुद्राएँ, एक रत्न, वस्त्र और भोजन तथा सुगन्ध आदि प्रदान किये जाते थे। अगले बीस दिन ब्राह्मणों को दानपुण्य दिया जाता था। इसके बाद अगले दस दिन जैन, लोकायत आदि अन्य सम्प्रदायों के लोग दान ग्रहण करते थे। फिर एक मास तक दरिद्र, अनाथ आदि दान प्राप्त करते थे। इस प्रकार दान-पुण्य करते-करते जब राज्यकोष का सब धन समाप्त हो जाता था, तो हर्ष अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का दान प्रारम्भ करता था। जब वह भी समाप्त हो जाती, तो इस सर्वमेध यज्ञ की इतिश्री होती। इस अवसर पर हर्ष के पास एक वस्त्र तक भी शेष न बचता, और वह अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र माँगकर उसे धारण करता, और बुद्ध भगवान् की पूजा कर आनन्द-निमग्न हो जाता। धर्म के लिये सर्वस्व स्वाहा कर उसे हार्दिक आनन्द अनुभव होता था, और इसी को वह गौरव की बात समझता था।

प्रयाग के जिस सर्वमेध यज्ञ में ह्यु एन-त्सांग सम्मिलित हुआ, वह हर्ष के जीवन-काल का छठा यज्ञ था। इससे पूर्व वह इसी ढंग के पांच यज्ञ और कर चुका था। इस प्रकार बार-बार अपने राज्यकोष को खाली कर के हर्ष अपनी शक्ति को कैसे स्थिर रख सका था, यह समझ सकना सुगम बात नहीं है। सम्भवतः, इसीलिये उसके मरते ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और अपने बाहुबल से जो विशाल साम्राज्य उसने स्थापित किया था, वह उसकी मृत्यु के बाद कायम नहीं रह सका।

पन्द्रह वर्ष के लगभग भारत में रहकर और इस देश से बहुत-से धर्म ग्रन्थों को साथ लेकर ह्यु एन-त्सांग उत्तर-पश्चिम के स्थल-मार्ग द्वारा चीन को लौट गया। उसने अपना शेष जीवन बौद्ध ग्रन्थों को चीनी भाषा में अनूदित करने में व्यतीत किया। उसने कुल मिलाकर ७४ ग्रन्थों का अनुवाद किया, जिनके सूक्तों (अध्यायों) की संख्या १३३५ थी। उसके समय से चीन के इतिहास में वह प्रक्रिया शुरू हुई, जिसमें चीन से विविध विद्वान् भारत आकर बौद्ध धर्म का अध्ययन करते थे, और अपने देश को लौटते हुए बौद्ध ग्रन्थों को बड़ी संख्या में अपने साथ ले जाते थे। ६६९ में सियान में ह्यु एन-त्सांग की मृत्यु हुई, जहां उसकी समाधि अब तक विद्यमान है।

(३) शासन-व्यवस्था

मध्य-युग में भारत बहुत-से छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था, जिनकी सीमाएं राजा के वैयक्तिक शौर्य और शक्ति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती थीं। इन राज्योंकी शासन-व्यवस्था का क्या स्वरूप था, इस विषय पर विचार करते हुए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :—

(१) इस समय भारत के विविध राज्यों में सामन्त-पद्धति का विकास हो गया था। महाराजाधिराज की अधीनता में बहुत-से छोटे-बड़े सामन्त राजा होते थे, जो अपने-अपने क्षेत्र में पृथक् रूप से शासन किया करते थे। इन सामन्त राजाओं की अपनी सेना होती थी, इनका अपना राजकोष होता था, और अपने प्रदेश में इनकी स्थिति स्वतन्त्र शासक के सदृश रहती थी। यदि महाराजाधिराज निर्बल हो, तो ऐसे सुवर्णीय अवसर का लाभ उठाकर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो जाने में ये जरा भी संकोच नहीं करते थे, और स्वयं विजययात्रा के लिये निकल पड़ते थे। इस युग की सामन्त-पद्धति के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। पालवंशी सम्राट् धर्मपाल (७६९–

८०६) ने जब कन्नौज के राजा इन्द्रायुद्ध या इन्द्रराज को परास्त किया, तो उसने इस राज्य को सीधा अपने शासन में नहीं लिया, अपितु आयुध वंश के ही एक कुमार चक्रायुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया। चक्रायुध की स्थिति पाल-सम्राट् धर्मपाल के 'महासामन्त' की थी, और उसकी अधीनता में कुरु, यदु, यवन, अवन्ति, गांधार, कीर, भोज, मत्स्य और मद्र आदि के राजा सामन्त की स्थिति में अपने-अपने प्रदेश का शासन करते थे। स्वयं धर्मपाल इस बात के लिये उत्सुक था, कि कन्नौज के अधीनस्थ सामन्त-राजा वहाँ के महासामन्त चक्रायुध का आधिपत्य स्वीकार करें। इस युग के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार सामन्त राजाओं को काँपते हुए राजमुकुटों सहित आदर से झुककर उसे (चक्रायुध को) स्वीकार करना पड़ा। पंचाल के वृद्धों ने उसके लिये सुवर्ण के अभिषेक-घट खुशी से पकड़े। यह महाप्रतापी चक्रायुध जिसकी अधीनता में इतने प्रदेश थे, स्वतन्त्र राजा न होकर धर्मपाल का महासामन्त मात्र था। सामन्त-पद्धति (फ्यूडल सिस्टम) का सबसे बड़ा दोष यही होता है, कि उसके कारण राज्यलक्ष्मी किसी के राजवंश में स्थिर नहीं रहने पाती, और अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को बल मिलता रहता है। इसके कारण केन्द्रीय राजशक्ति कभी इतनी सबल नहीं होने पाती, कि देश में स्थायी शान्ति रह सके।

जब कौटलीय अर्थशास्त्र, कामन्दक नीतिसार, महाभारत (राजधर्मपर्व, शांति-पर्व) आदि राजनीतिसम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये, तब भारत में सामन्त-पद्धति नहीं थी। इस पद्धति के विकसित हो जाने पर किसी आचार्य ने राजनीति-विषयक कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं लिखा, जिसमें इस पद्धति पर विशद रूप से प्रकाश डाला गया हो। पर मध्यकाल में विरचित युक्तिकल्पतरु ग्रन्थ के लेखक ने राजा का लक्षण करते हुए यह प्रश्न किया है, कि यह क्या बात है जो चक्रवर्त्ती सम्राट् भी राजा कहाता है, और किसी ग्राम या जागीर के स्वामी की भी यही संज्ञा होती है। यह प्रश्न निःसन्देह महत्त्व का था, क्योंकि सार्वभौम सम्राट् और ग्रामाधिपति की स्थिति में बहुत अन्तर होता है। नीतिकार ने इस प्रश्न का यही उत्तर दिया, कि जो कोई भी अपने क्षेत्र में अपने राजशासन को स्वीकार कराने में समर्थ हो, उसी को राजा कहा जाना चाहिये। राजा का यह लक्षण सामन्त-पद्धति के राजा पर पूरी तरह से चरितार्थ होता है।

(२) प्राचीन युग के जनपदों का इस काल में अन्त हो चुका था। यद्यपि मौर्य-साम्राज्य अत्यन्त विशाल था, पर जनपदों की स्थानीय स्वतन्त्रता उसमें कायम थी। इसीलिये तक्षशिला और पाटलिपुत्र जैसे नगरों के शासन में वहाँ की पौर सभा का महत्त्वपूर्ण स्थान था, और विविध जनपदों में उनकी जानपद-सभाएं पर्याप्त महत्त्व रखती थीं। सामन्त-पद्धति के विकास के अनन्तर यह स्थिति सम्भव नहीं रह गयी। इस पद्धति में राज्य-शासन का आधार पुर या जनपद के स्थान पर वह राजवंश हो गया, जिसका नृपति एक विशेष प्रदेश का शासक होता था। जिस प्रदेश पर चन्देलों या कलचूरियों का आधिपत्य था, उसका शासन वहाँ के निवासियों की जानपद-सभा (जिसमें उस प्रदेश के ग्रामों के ग्रामीण सम्मिलित होते हों) के हाथ में न रहकर चन्देल या कलचूरी-कुल के लोगों के हाथों में आ गया था। इस युग में एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी राजशक्ति का उपभोग करती थी, जिसका सम्बन्ध राज्य के राजवंश के साथ होता था। चन्देल, कलचूरी, गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चालुक्य, गंग, परमार आदि जहाँ राजवंशों के नाम

हैं, वहाँ साथ ही वे एक विशिष्ट जाति या कुल का भी बोध कराते हैं। गुर्जरप्रतीहार-राज्य की राजशक्ति उन गुर्जरप्रतीहार लोगों में निहित थी, जिन्होंने अपने नेता के नेतृत्व में कन्नौज को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित किया था। यही बात चन्देल, चौहान आदि अन्य वर्गों के विषय में भी कही जा सकती है। भारतीय इतिहास में यह एक नई बात थी, जो सामन्त-पद्धति की परिस्थितियों के कारण ही उत्पन्न हुई थी। मौर्य, नन्द, शुंग आदि केवल राजवंशों के नाम थे। वे किसी वर्ग-विशेष को सूचित नहीं करते थे। पर मध्यकाल में जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्य भारत में विद्यमान थे, उनमें राज-शक्ति उस जाति में निहित रहती थी, जिसने बाहुबल द्वारा अपने राज्य की स्थापना की थी। इस प्रकार के राज्यों में यह सम्भव नहीं था, कि शासनकार्य में राजा की सहायता करने के लिये किसी राजसभा की भी सत्ता होती। राजा अपने कुल के प्रमुख पुरुषों की सहायता से राज्य का शासन करता था, और राजदरबार में बैठकर राजकार्य का चिन्तन करता था। वस्तुतः, यह युग ऐसे राजाओं का था, जो निरंकुश और स्वेच्छा-चारी थे। इसी कारण यदि राजा योग्य होता, तो वह प्रजा के हित और कल्याण का सम्पा-दन करता था। यदि वह अयोग्य और नृशंस होता, तो प्रजा को पीड़ित करता था। कल्हण की राजतरङ्गिणी में काश्मीर के राजाओं का जो वृत्तान्त दिया गया है, वह इस युग की राज्य-संस्था पर बड़ा उत्तम प्रकाश डालता है। काश्मीर का उन्मत्तावन्ती राजा गर्भ-वती स्त्रियों के पेट को चीरकर बच्चे निकालने और कर्मकरों के अंग कटवाने में अपूर्व आनन्द अनुभव करता था। जब राजकर्मचारी उसके पिता पर शस्त्र प्रहार कर रहे थे, तो इस दृश्य को देखकर वह अट्टहास कर रहा था। क्योंकि वह राजा पागल (उन्मत्त) था, अतः वह प्रजा पर मनमाने अत्याचार कर सकता था। काश्मीर के एक राजा ने दुर्भिक्ष पड़ने पर सारा चावल अपने कब्जे में कर लिया, और उसे मनमानी कीमत पर बेचना शुरू किया। स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन में ये बातें अस्वाभाविक नहीं होतीं। यदि राजा दयालु हो, तो प्रजा का सौभाग्य है। यदि वह नृशंस और अत्याचारी हो, तो प्रजा उसका क्या बिगाड़ सकती है। ऐसे समय में केवल यही बात सम्भव होती है, कि राजा की अयोग्यता से लाभ उठाकर सामन्त लोग उसके विरुद्ध विद्रोह कर दें। मध्ययुग में काश्मीर में यही सब होता रहा। कोई आश्चर्य नहीं, कि इस युग के अन्य राजवंशों के राजाओं की भी यही दशा हो। खेद यही है, कि कल्हण के समान किसी अन्य ऐति-हासिक ने इस युग के भारतीय राजवंशों का इतिहास नहीं लिखा।

(३) सामन्त पद्धति के कारण यह सम्भव नहीं रहता, कि राजशक्ति के धारण करनेवाले लोग प्रजा के हित और कल्याण पर ध्यान दे सकें। उनकी सब शक्ति इसी काम में लग जाती है, कि परस्पर युद्ध करके अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्न करते रहें। सर्वसाधारण जनता की दृष्टि से यह पद्धति अराजकता को उत्पन्न करती है। इस स्थिति में शक्ति और व्यवस्था को स्थापित रखने, जनता का हित और कल्याण सम्पादित करने और परस्पर सहयोग द्वारा सामूहिक उन्नति करने की उत्तरदायिता उन ग्राम-सभाओं पर आ गयी, जो भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थीं। हम इस इतिहास में पहले लिख चुके हैं, कि मौर्यकाल में ग्राम-संस्थाएं अच्छी उन्नत दशा में थीं। पर मध्यकाल में उनका महत्त्व और अधिक बढ़ गया, और राजवंशों की अराजकता

और जनसाधारण के हितों के प्रति उपेक्षावृत्ति को दृष्टि में रख कर इन ग्राम-संस्थाओं ने ऐसे बहुत-से कार्य अपने हाथ में ले लिये, जो साधारणतया राजाओं की उत्तरदायिता होते हैं। इस युग में ग्राम-संस्थाओं का जिस रूप में विकास हुआ, उसका भारतीय इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। हम अगले प्रकरण में इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे। मध्यकाल में विकसित हुई ग्राम-संस्थाएं अफगान और मुगलकाल में भी कायम रहीं, और ब्रिटिश शासन भी उनका अन्त करने में समर्थ नहीं हुआ। यद्यपि मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था, पर ग्राम-संस्थाओं के रूप में इस युग में भी ऐसी संस्थाएं विद्यमान थीं, जिनके द्वारा जनता अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामलों की व्यवस्था स्वयं किया करती थी। इस विषय में सर चार्ल्स मेटकॉफ का निम्नलिखित उद्धरण बड़े महत्त्व का है—"ग्राम-संस्थाएं छोटे-छोटे लोकतन्त्र राज्यों का नाम था, जो अपने आप में पूर्ण थीं। उन्हें जो कुछ भी चाहिये था, वह उनके अपने अन्दर मौजूद था। अपने से बाहर के साथ उनका सम्बन्ध बहुत कम था। ऐसा प्रतीत होता है, कि जहाँ अन्य कोई नहीं बचा, वहाँ वे बची रहीं। एक राजवंश के बाद दूसरा राजवंश आया। एक क्रान्ति के बाद दूसरी क्रान्ति हुई—पर ग्राम-संस्थाएं पूर्ववत् वहीं की वहीं कायम रहीं। मेरी सम्मति में ये ग्राम-संस्थाएं ही, जिनमें से प्रत्येक एक पृथक् राज्य की तरह है, भारतीय जनता की रक्षा में सबसे अधिक समर्थ रहीं। इन्हीं के कारण सब परिवर्त्तनों और क्रान्तियों में जनता की रक्षा होती रही। भारतीयों को जो कुछ प्रसन्नता व स्वतन्त्रता आदि प्राप्त हैं, उसमें ये ही सब से अधिक सहायक हैं।"

(४) ग्राम-संस्थाएं

मध्यकालीन अव्यवस्था और अराजकता से सर्वसाधारण जनता की रक्षा करने के लिये जिन ग्राम-संस्थाओं ने इतना महत्त्वपूर्ण कार्य किया था, उनके सम्बन्ध में अधिक विस्तार के साथ प्रकाश डालने की आवश्यकता है। इस युग के बहुत-से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र मिले हैं, जिनसे इन ग्राम-संस्थाओं के विषय में अनेक उपयोगी बातें ज्ञात होती हैं। विशेषतया, दक्षिणी भारत से उपलब्ध हुए उत्कीर्ण लेख इस दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं।

ग्रामसभा—प्रत्येक ग्राम की एक सभा या महासभा होती थी, जो अपने क्षेत्र में शासन का सब कार्य सम्भालती थी। स्थान और काल के भेद से ग्रामसभाओं के संगठन भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। कुछ ग्रामों की ग्रामसभाओं में वहाँ के सब बालिग (वयस्क) पुरुष सदस्य-रूप से सम्मिलित होते थे। कुछ ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सब वयस्क पुरुषों को ग्रामसभा की सदस्यता का अधिकार नहीं होता था। दक्षिणी भारत के एक उत्कीर्ण लेख के अनुसार एक ग्राम के वयस्क पुरुषों की संख्या ४०० थी, पर उसकी सभा के सदस्य केवल ३०० पुरुष थे। एक अन्य ग्रामसभा के सदस्यों की संख्या ५१२ लिखी गयी है। एक अन्य लेख में एक ऐसे ग्राम का उल्लेख है जिसकी सभा की सदस्य-संख्या १०६० थी। ग्राम-सभा का अधिवेशन या तो मन्दिर में होता था या किसी वृक्ष की छाया में। कतिपय ग्राम ऐसे भी थे, जिनमें सभा के लिये पृथक् भवन भी विद्यमान थे।

समितियाँ—ग्राम के शासन का सब अधिकार ग्राम-सभा के हाथों में होता था, जिसके अधिवेशनों की अध्यक्षता ग्रामणी नामक कर्मचारी करता था। पर शासन-

कार्य की सुविधा के लिये अनेक समितियों का भी निर्माण किया जाता था, जिन्हें विविध प्रकार के कार्य सुपुर्द रहते थे। ये समितियाँ निम्नलिखित थीं—(१) वर्ष भर के लिये नियुक्त समिति, या वर्ष भर तक शासन-कार्य का नियन्त्रण और निरीक्षण करने वाली समिति, (२) दान की व्यवस्था करने वाली समिति, (३) जलाशय की व्यवस्था करने वाली समिति, (४) उद्यानों का प्रबन्ध करने वाली समिति, (५) न्याय की व्यवस्था करने वाली समिति, (६) सुवर्ण और कोष की प्रबन्धकर्त्री समिति, (७) ग्राम के विविध विभागों का निरीक्षण करने वाली समिति, (८) खेतों और मैदानों की व्यवस्था और निरीक्षण करने वाली समिति, (९) मन्दिरों का प्रबन्ध करने वाली समिति, (१०) साधु व विरक्त लोगों की व्यवस्था करने वाली समिति। इन दस समितियों के क्या कार्य होते थे, यह इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इन विविध समितियों की नियुक्ति किस प्रकार होती थी, इस विषय में दक्षिणी भारत के एक लेख से बहुत उपयोगी सूचना प्राप्त हुई है। इस लेख में एक ग्राम के सम्बन्ध में यह लिखा गया है, कि ग्राम तीस भागों में विभक्त था। प्रत्येक भाग के सब वयस्क पुरुष एकत्र होकर उन व्यक्तियों की सूची तैयार करते थे, जो समितियों के सदस्य बनने के लिये उपयुक्त हों। समिति की सदस्यता के लिये यह आवश्यक था, कि सदस्यों की न्यूनतम आयु ३५ वर्ष और अधिकतम आयु ७० वर्ष की हो। जो पुरुष शिक्षित हों, ईमानदार हों और कुछ सम्पत्ति भी रखते हों, वे ही समितियों की सदस्यता के अधिकारी माने जाते थे। कोई ऐसा व्यक्ति, जिसने किसी समिति के सदस्य-रूप में खर्च किये धन का सही हिसाब न दिया हो, या जिस पर कोई अपराध साबित हो चुका हो, भविष्य के लिये समितियों की सदस्यता का अधिकारी नहीं समझा जाता था, और उसका नाम उस सूची में शामिल नहीं किया जाता था, जो ग्राम के विविध भागों द्वारा तैयार की जाती थी। जब यह सूची तैयार हो जाती थी, तो लाटरी डाल कर एक पुरुष का नाम निकाला जाता था। इस प्रकार ग्राम के तीस भागों से तीस नाम निकलते थे, और विविध समितियों के सदस्य रूप से इन्हीं की नियुक्ति कर दी जाती थी। तीस पुरुषों में से किसे किस समिति का सदस्य बनाया जाय, इस बात का निर्णय उसकी योग्यता और अनुभव के आधार पर किया जाता था। विविध समितियाँ किस ढंग से अपने-अपने कार्य करें, इसके नियम भी विशद रूप से बनाये गये थे। ग्राम के सब योग्य वयस्क पुरुषों को समितियों की सदस्यता का अवसर मिल सके, इसके लिये यह नियम बनाया गया था, कि केवल उन्हीं पुरुषों को सदस्यता के लिये उपयुक्त व्यक्तियों की सूची में शामिल किया जाय, जो पिछले तीन वर्षों में कभी किसी समिति के सदस्य न रहे हों। इसमें सन्देह नहीं, कि ग्राम-सम्बन्धी संस्था की विविध समितियों के सदस्यों की नियुक्ति का यह ढंग बहुत ही उत्तम और निराला था।

ग्राम-संस्थाओं के कार्य—ग्रामसंस्थाओं का स्वरूप छोटे-छोटे राज्यों के समान था। इसी लिये वे प्रायः उन सब कार्यों को करती थीं, जो राज्य किया करते हैं। ग्राम-संस्था की जो अपनी सम्पत्ति हो, उसे बेचना व अमानत रखकर रुपया प्राप्त करना, ग्राम के क्षेत्र में उत्पन्न हुए विविध प्रकार के झगड़ों और अभियोगों का फैसला करना, मण्डी व बाजार का प्रबन्ध करना, टैक्स वसूल करना, ग्राम के लाभ के लिये नये कर

लगाना, ग्रामवासियों से ग्राम के हित के लिये काम लेना, जलाशयों, उद्यानों, खेतों, चरागाहों व मैदानों की देख-रेख करना और मार्गों को ठीक हालत में रखना— इस प्रकार के कार्य थे, जो ग्राम-संस्थाओं के सुपुर्द थे। यदि कोई व्यक्ति किसी विशेष उद्देश्य से कुछ धन जमा कराना चाहे, तो वह ग्राम-सभा के पास जमा करा सकता था, और ग्राम सभा का यह कर्त्तव्य होता था, कि वह उसकी समुचित रूप से व्यवस्था करे, और धन जमा कराने वाले मनुष्य की इच्छा के अनुसार उसके सूद को व उस धन को खर्च करे। दान-पुण्य की रकमें प्रायः ग्राम-सभाओं के पास ही जमा की जाती थीं। दुर्भिक्ष आदि प्राकृतिक विपत्तियों के समय ग्राम-सभाओं की उत्तरदायिता बहुत बढ़ जाती थी, और वे इस बात की व्यवस्था करती थीं, कि गरीब लोग भूखे न मरने पाएँ। इसके लिये यदि वे आवश्यक समझें, तो रुपया उधार भी लेती थीं, या अपनी सम्पत्ति को बेच कर और उसकी जमानत पर कर्ज लेकर खर्च चलाती थीं। शिक्षा आदि के लिये धन खर्च करना भी उनका महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। शत्रुओं व डाकुओं से ग्राम की रक्षा करना भी ग्रामसंस्थाओं का काम था, और जो लोग इसमें विशेष पराक्रम प्रदर्शित करते थे, उनका वे अनेक प्रकार से सम्मान भी करती थीं। विशालयदेव नाम के एक वीर पुरुष ने अपने ग्राम के मन्दिर से मुसलिम आक्रान्ताओं को निकाल कर बाहर किया था। इस वीर कृत्य के उपलक्ष्य में ग्रामसभा ने व्यवस्था की थी, कि प्रत्येक किसान अपनी उपज का एक निश्चित भाग नियमित रूप से विशालयदेव को प्रदान किया करे। जो ग्रामवासी देश की रक्षा या इसी प्रकार के किसी अन्य उत्कृष्ट कार्य के लिये अपने जीवन की आहुति दे देते थे, उनके परिवार को ग्रामसभा की ओर से ऐसी भूमि प्रदान कर दी जाती थी, जिस पर कोई लगान नहीं लगता था। यदि कोई आदमी ग्राम के विरुद्ध आचरण करे, कोई ऐसा कार्य करे जिससे ग्राम को हानि पहुँचती हो, तो उसे 'ग्रामद्रोही' करार करके दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड प्रायः इस प्रकार का होता था, कि वह अन्य ग्रामवासियों की दृष्टि में गिर जाय और पश्चात्ताप का अनुभव करे। इस प्रकार का एक दण्ड यह था, कि ग्रामद्रोही को भगवान् शिव की मूर्त्ति को स्पर्श करने का अधिकार नहीं रहता था। ग्राम के क्षेत्र से राज्य के लिये वसूल किये जाने वाले करों को एकत्र करना ग्राम-संस्था का ही कार्य था। ग्रामसभा के अधिकारियों का यह कर्त्तव्य था, कि वे राजकीय करों को वसूल करें, उनका सही-सही हिसाब रखें, और एकत्र धन को राजकोष में पहुँचा दें। यदि कोई अपने इस कर्त्तव्य में शिथिलता प्रदर्शित करता था, तो वह दण्डनीय होता था।

(४) शासन-व्यवस्था का स्वरूप

दक्षिणी भारत—मध्यकालीन भारत के विविध राज्यों के शासन का क्या स्वरूप था, इस विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमारे पास कौटलीय अर्थशास्त्र सदृश कोई उत्कृष्ट साधन विद्यमान नहीं है। फिर भी दक्षिणी भारत में, विशेषतया चोलमण्डल में बहुत-से ऐसे शिलालेख व ताम्रपत्र उपलब्ध हुए हैं, जिनसे इस युग की शासन-व्यवस्था की कुछ झाँकी ली जा सकती है। ग्राम-संस्थाओं का जो परिचय हमने ऊपर के प्रकरण में दिया है, वह इन उत्कीर्ण लेखों के ही आधार पर है। अब

हम उत्कीर्ण लेखों के आधार पर ही चोल-राज्य के शासन के सम्बन्ध में कतिपय महत्त्व-पूर्ण बातों का उल्लेख करेंगे। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि चोल-राज्य की शासन व्यवस्था के सदृश ही इस युग के परमार, गुर्जर-प्रतीहार, राष्ट्रकूट आदि राज्यों का भी शासन हो, यह आवश्यक नहीं है। चोल-राज्य भारतीय इतिहास की प्रधान धारा से प्रायः पृथक् रहा है, यह हम पहले लिख चुके हैं।

चोल-राज्य में शासन की इकाई ग्राम होते थे, जो छोटे-छोटे राज्यों के सदृश थे, और जो अपना शासन स्वयं करते थे। कतिपय ग्राम मिलकर एक समूह का निर्माण करते थे, जिसे 'कुर्रम्' कहा जाता था। कुर्रमों के समूह को 'नाडु' और नाडुओं के समूह को 'कोट्टम्' या 'वइनाडु' कहते थे। कोट्टम् को हम आजकल का जिला समझ सकते हैं। इसी प्रकार नाडु तहसील और कुर्रम् को परगना कहा जा सकता है। कतिपय कोट्टम् या वलनाडु मिलकर 'मण्डलम्' का निर्माण करते थे। 'चोलमण्डलम्' इसी प्रकार का एक मण्डल था। पर चोलवंश के राजाओं के उत्कर्ष-काल में चोल-साम्राज्य में 'चोल-मण्डलम्' के अतिरिक्त अन्य प्रदेश भी सम्मिलित थे, जो दो प्रकार के थे, विजित और सामन्तवर्गीय। राजराज प्रथम और राजेन्द्र सदृश प्रतापी सम्राटों ने चोल-साम्राज्य को बहुत अधिक विस्तृत कर लिया था। इन द्वारा विजय किये हुए अनेक प्रदेशों में अपने पृथक् राजवंशों का शासन था, जिनकी स्थिति अब सामन्त राजाओं के सदृश हो गयी थी। पाण्ड्य, केरल आदि के ये सामन्त-राज्य भी चोलमण्डलम् के समान कोट्टम्, नाडु आदि में विभक्त थे, और इनके शासन का प्रकार भी प्रायः चोल-मण्डलम् के ही सदृश था। पर राजराज प्रथम (दसवीं सदी) के साम्राज्य विस्तार से पूर्व भी अनेक चोल-राजाओं ने चोलमण्डलम् के समीपवर्त्ती प्रदेशों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया था, और अनेक ऐसे प्रदेश (जिनमें तामिल भाषा का ही प्रचार था) उनके राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, जो चोलमण्डलम् के दायरे से बाहर के थे। ये प्रदेश चोलों के 'विजित' थे, और इन्हें भी पृथक् मण्डलों मे विभक्त कर दिया गया था। इनका शासन करने के लिये जो शासक चोलराजा की ओर से नियुक्त किये जाते थे, वे प्रायः राजकुल के ही होते थे। 'विजित' द्वारा निर्मित मण्डल भी कोट्टम्, नाडु, कुर्रम् आदि उपविभागों में विभक्त थे, और उनके शासन में भी स्थानीय सभाओं और संस्थाओं का पर्याप्त स्थान था। जिन सामन्त-राजाओं ने चोल सम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार किया था, वे उन्हें नियमित रूप से वार्षिक कर, भेंट-उपहार आदि प्रदान कर संतुष्ट रखते थे। पर चोल-सम्राट् के प्रति उनकी भक्ति का आधार केवल उसकी अपनी शक्ति ही होती थी। यही कारण है, कि सम्राट् की शक्ति के निर्बल होते ही ये सामन्त राजा विद्रोह कर पुनः स्वतन्त्र हो जाने के लिये तत्पर हो जाते थे।

ग्राम के शासन के लिये जिस प्रकार की ग्रामसभाएं थीं, वैसी ही कुछ सभाओं की सत्ता कुर्रम्, नाडु आदि में भी थी। नाडु की सभा को नाट्टर कहते थे। दक्षिण भारत में उपलब्ध हुए अनेक उत्कीर्ण लेखों में नाडु की सभाओं का उल्लेख है। एक लेख के अनुसार एक नाडु की नाट्टरसभा ने दो आदमियों की नियुक्ति इस प्रयोजन से की, कि वे नाडु में विक्रयार्थ आनेवाले पान के पत्तों पर दलाली वसूल किया करें, और इस प्रकार उन्हें जो आमदनी हो, उससे नाडु के मन्दिर के लिये काम में आने वाले पान प्रदान

किया करें। इस काम में कोई प्रमाद न हो, इसकी उत्तरदायिता नाडु के 'पांच सौ निर्दोष पुरुषों' के ऊपर रखी गयी। ये पाँच सौ निर्दोष पुरुष सम्भवतः नाडु के अन्तर्गत विविध कुरमों और ग्रामों के प्रतिनिधि थे, और इनकी सभा को अपने क्षेत्र के शासन में अनेक प्रकार के उत्तरदायित्व और अधिकार प्राप्त थे। कुछ उत्कीर्ण लेखों के अध्ययन से यह भी सूचित होता है, कि नाडु व अन्य विभागों की सभाओं को न्याय सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे, और वे अपने क्षेत्र के सार्वजनिक हित के कार्यों में भी अपना कर्तृत्व प्रदर्शित करती थीं। यदि किसी नदी पर बाँध बांधने की आवश्यकता हो, सड़क का निर्माण करना हो या इसी ढंग का कोई अन्य काम हो, तो नाडु की सभा अपने क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक गाँव से ऐसे कार्य के लिये कर वसूल करने का अधिकार रखती थी।

ग्राम, नाडु आदि की स्थानीय सभाओं के कारण सर्वसाधारण जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले विषयों की व्यवस्था स्वयं कर सके। इन सभाओं की सत्ता के कारण जनता की स्वतन्त्रता बहुत अंश तक सुरक्षित बनी हुई थी। पर जहाँ तक राज्य के केन्द्रीय शासन का सम्बन्ध है, राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुश होते थे। पर राज्यचक्र एक आदमी द्वारा संचालित नहीं हो सकता, इसलिये राजा को अपनी सहायता के लिये मन्त्रियों की नियुक्ति करनी होती थी, और वह उन्हीं के परामर्श के अनुसार शासन की व्यवस्था करता था। चोल-राज्य में उस समय तक कोई राजाज्ञा जारी नहीं की जा सकती थी, जब तक कि उस पर ओलैनायकम् (मुख्य सचिव) के हस्ताक्षर न हो जाएँ। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि प्रत्येक राजाज्ञा की अन्तिम उत्तरदायिता राजा के अतिरिक्त उसके मुख्य सचिव पर भी होती थी।

उत्तरी भारत—गुप्त-साम्राज्य के समान उत्तरी भारत के पाल आदि वंशों के राज्य भी भुक्ति, विषय, मण्डल, भोग और ग्रामों में विभक्त थे। भुक्ति के शासक की नियुक्ति राजा द्वारा होती थी, और विषय आदि के शासकों को भुक्ति का शासक नियुक्त करता था। विषयपति (विषय का शासक) को शासन-कार्य में सहायता देने के लिये एक राजसभा की सत्ता होती थी, जिसके सम्बन्ध में एक उत्कीर्ण लेख से अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं। इस विषयसभा में निम्नलिखित सदस्य होते थे—(१) नगरश्रेष्ठी—विषय के प्रधान नगर का मुख्य सेठ या जगत्सेठ, (२) सार्थवाह—जो विषय के अन्तर्गत विविध व्यापारी संगठनों का प्रतिनिधित्व करता था, (३) प्रथम कुलिक—जो विविध शिल्पिश्रेणियों का प्रतिनिधि होता था, (४) प्रथम कायस्थ—जो सरकारी कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व करता था। पालवंश के राजाओं के अनेक ऐसे उत्कीर्ण लेख मिले हैं, जिनमें इस युग के विविध राजकर्मचारियों के नाम दिये गये हैं। पालवंशी राजा धर्मपाल के खालिमपुर के ताम्रपत्र में राजा द्वारा दान की गयी एक जागीर का उल्लेख है, जिसकी सूचना निम्नलिखित कर्मचारियों को दी गयी थी—(१) राजा—अधीनस्थ सामन्त राजा, (२) राजपुत्र—सामन्त राजाओं के युवराज, (३) राजामात्य, (४) राजनक—विविध जागीरदार, (५) सेनापति (६) विषयपति—विषय नामक विभाग या जिले का शासक (७) भोगपति—विषय के उपविभाग 'भोग' का शासक (८) षष्ठाधिकृत—किसानों द्वारा वसूल किये जाने वाले षड्भाग का

प्रधान अधिकारी (९) दण्डशक्ति—सम्भवतः, पुलिस विभाग का अधिकारी (१०) दण्ड-पाशक—पुलिस विभाग का ही अन्य अधिकारी, (११) चौरोद्धारणिक—चोरों को पकड़ने के लिये नियुक्त पुलिस अधिकारी, (१२) दौसाध साधनिक—सम्भवतः, ग्रामों का व्यवस्थापक, (१३) दूत, (१४) खोल, (१५) गमागमिक, (१६) अभित्वरमान, (१७) हस्तिअश्वगोमहिष-आजविक अध्यक्ष, (१८) नौकाध्यक्ष, (१९) बलाध्यक्ष, (२०) तटिक—नदी पार उतरने के स्थानों का अधिकारी, (२१) शौल्किक—शुल्क वसूल करने वाला अधिकारी, (२२) गौल्मिक, (२३) तदायुक्त, (२४) विनि-युक्त, (२५) ज्येष्ठ कायस्थ, (२६) महामहत्तर, (२७) महत्तर, (२८) दशग्रामिक, (२९) करण—हिसाब रखने वाला।

खालिमपुर के ताम्रपत्र में जिन कर्मचारियों के नाम आये हैं, उनमें से सब का ठीक-ठीक अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं, कि ये सब राज-कर्मचारी थे, और जागीर के दान की सूचना के लिये ही इनका उल्लेख ताम्रपत्र में किया गया है। सेन आदि अन्य राजवंशों के उत्कीर्ण लेखों में भी इसी प्रकार से अनेक राज-कर्मचारियों के नाम दिये गये हैं, जिनसे मध्ययुग के उत्तरी भारत के राजकर्मचारी-तन्त्र का कुछ धुँधला-सा आभास मिल जाता है।

इस प्रसंग में यह ध्यान रखना आवश्यक है, कि दक्षिणी भारत के समान उत्तरी भारत में भी ग्रामसभाओं की सत्ता थी, और ग्रामों की जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की व्यवस्था अपनी ग्रामसभा द्वारा किया करती थी। इसी कारण राजवंशों में निरन्तर युद्ध जारी रहते हुए भी सर्वसाधारण लोगों पर उनका विशेष प्रभाव नहीं होता था।

(६) साहित्य

मध्ययुग में संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अनेक नये ग्रन्थों का निर्माण हुआ, और बहुत-से कवियों ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया।

इस युग के साहित्यिकों और कवियों में कतिपय बहुत प्रसिद्ध हैं। उनका परिचय देना आवश्यक है :—

(१) भवभूति—ये प्रसिद्ध नाटककार हुए हैं। इनकी टक्कर का नाटककार कालिदास के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हुआ। ये आठवीं सदी में कान्यकुब्ज-नरेश यशोवर्मा की राजसभा में रहते थे। जब काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को परास्त किया, तो वह भवभूति को भी अपने साथ काश्मीर ले गया। इन्होंने तीन नाटक लिखे—महावीरचरित, मालतीमाधव और उत्तररामचरित। भवभूति की नाटक-कला उत्तररामचरित में सौष्ठव की पराकाष्ठा को पहुँच गयी है। अनेक पण्डितों की सम्मति तो यह है, कि इस नाटक में भवभूति कालिदास से भी बढ़ गये हैं।

(२) बाणभट्ट—ये सम्राट् हर्षवर्धन (सातवीं सदी) के राजपण्डित थे। इनके दो ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं—हर्षचरित और कादम्बरी। हर्षचरित में बाणभट्ट ने अपने आश्रयदाता हर्षवर्धन का जीवनचरित्र बड़ी सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक गद्य में है। कादम्बरी संस्कृत-साहित्य का सबसे उत्कृष्ट गद्य काव्य है। इसकी शैली बड़ी सरस, रोचक और चामत्कारिक है। कादम्बरी की प्रत्येक पंक्ति में

अलंकार हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि यह गद्य-ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य के लिये अत्यन्त गौरव की वस्तु है।

(३) कुमारदास—ये सिंहल देश के निवासी थे। सातवीं सदी में इन्होंने 'जानकीहरण' नाम का महाकाव्य लिखा, जो संस्कृत के काव्य-साहित्य में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

(४) भारवि—ये सातवीं सदी में हुए। ये दक्षिण के चालुक्यवंशी राजा विष्णुवर्धन की राजसभा में थे। इनका काव्य 'किरातार्जुनीय' बहुत ही प्रसिद्ध है। किरातार्जुनीय जहां कविता की दृष्टि से अनुपम है, वहां राजनीति का भी उसमें अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है।

(५) भट्टि—ये भी सातवीं सदी में हुए। इनके भट्टि-काव्य में जहां राम के चरित्र का वर्णन है, वहां साथ ही व्याकरण और काव्य के सिद्धान्तों को भी प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है। इस काव्य की शैली कुछ कृत्रिम है।

(६) माघ—ये गुजरात के निवासी थे। ये भी सातवीं सदी के अन्त में हुए। इनके महाकाव्य 'शिशुपालवध' में जहां उत्तम कविता है, वहां साथ ही प्रगाढ़ पाण्डित्य भी है। श्लेष और चित्रकाव्य लिखने में ये सिद्धहस्त थे।

(७) त्रिविक्रम भट्ट—ये नवीं सदी में हुए। इनका ग्रन्थ 'नलचम्पू' बहुत प्रसिद्ध है। चम्पू उस काव्य को कहते हैं, जिसमें गद्य और पद्य दोनों हों। नलचम्पू इस प्रकार के संस्कृत काव्यों में सर्वोत्तम गिना जाता है।

(८) भट्टनारायण—ये सातवीं सदी में हुए। इनका लिखा 'वेणीसंहार' नाटक महाभारत के कथानक को लेकर लिखा गया है। दुःशासन द्वारा राजसभा में जब द्रौपदी के केश खींचे गये थे, तो उसने यह प्रतिज्ञा की थी, कि वह तभी अपनी वेणी (केशमण्डल) का शृंगार करेगी, जब कि कौरवों का अन्त हो जायगा। दुर्योधन का संहार कर अपने रक्तरंजित हाथों से भीम ने द्रौपदी के केशों को बांधा। यही सब कथा इस नाटक में बड़े सुन्दर रूप में वर्णित है।

(९) दण्डी—इनका समय भी सातवीं सदी में है। इन्होंने 'दशकुमारचरित' नाम के एक सुन्दर गद्य-ग्रन्थ की रचना की।

(१०) सुबन्धु—इनका लिखा ग्रन्थ 'वासवदत्ता' बड़ा ही सुन्दर गद्य-काव्य है। इनका समय भी सातवीं सदी में माना जाता है।

(११) हर्षवर्धन—बाणभट्ट के आश्रयदाता सम्राट् हर्षवर्धन जहां विद्या और काव्य के अत्यन्त प्रेमी थे, वहां स्वयं भी उत्कृष्ट कवि थे। उनके लिखे तीन नाटक इस समय मिलते हैं, रत्नावली, प्रियदर्शिका और नागानन्द।

(१२) राजशेखर—ये कन्नौज के गुर्जरप्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल की राजसभा में थे। इनका समय दसवीं सदी में है। इनके लिखे कर्पूर मंजरी, प्रचण्ड-पाण्डव, बालरामायण आदि अनेक नाटक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-से कवि इस युग में हुए, जिन्होंने अपने काव्य, नाटक, चम्पू आदि द्वारा संस्कृत-साहित्य के भण्डार को पूर्ण किया। पर गुप्त-युग के संस्कृत-साहित्य में जो गौरव और उत्कृष्टता है, वह बाद के साहित्य में नहीं पायी जाती।

भवभूति के बाद संस्कृत के कवियों की शैली निरन्तर अधिक-अधिक कृत्रिम होती गयी है। ऐसा प्रतीत होता है, कि इस युग में संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषाओं की अधिक उन्नति हुई। गुप्त-युग के बाद संस्कृत का प्रचार कम होता गया। वह प्रधानतया पण्डितों की ही भाषा रह गयी। इसी लिये उसके लेखकों में वह प्रसाद गुण नहीं है, जो गुप्त-युग के कवियों में पाया जाता है। इस काल की कविता में सहज सौन्दर्य का स्थान अलंकार, श्लेष आदि की भूषा ने ले लिया। यही कारण है, कि पहले जैसा सौन्दर्य इस काल की कविता में नहीं पाया जाता।

बड़े साहित्य-ग्रन्थों के साथ ही मुक्तक और गेय काव्यों की भी अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएं इस युग में हुईं। भर्तृहरि के शृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक, कवि अमरु का अमरुकशतक और जयदेव का गीतगोविन्द इसी युग की कृतियां हैं। ये सब अपने ढंग के अनुपम काव्य हैं।

अनेक महत्त्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ भी इस युग में लिखे गये। सातवीं सदी में पाणिनि की अष्टाध्यायी पर काशिकावृत्ति लिखी गयी, जो महाभाष्य के बाद पाणिनि-सूत्रों का सबसे महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है। इसका लेखक जयादित्य था। भर्तृहरि के वाक्यप्रदीप, महाभाष्यप्रदीपिका और महाभाष्यत्रिपदी नामक व्याकरण-ग्रंथ भी इसी युग की कृति हैं। पाणिनीय व्याकरण की परम्परा से भिन्न एक अन्य संस्कृत व्याकरण इस समय में लिखा गया, जो 'कातन्त्र' कहाता है। इसका रचयिता शर्ववर्मा था। भारत से बाहर अन्य देशों में इसका बहुत प्रचार हुआ। मध्य एशिया और बालि द्वीप में इसकी पुरानी प्रतियां उपलब्ध हुई हैं।

व्याकरण के अतिरिक्त कोश-विषयक अनेक ग्रंथ भी इस युग में लिखे गये। अमरकोश की रचना गुप्तकाल में हो चुकी थी। वह इतना लोकप्रिय हुआ, कि उस पर पचास के लगभग टीकाएं इस युग में लिखी गयीं। इनमें ग्यारहवीं सदी में लिखित क्षीर-स्वामी की टीका सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अभिधानचिंतामणि, अनेकार्थसंग्रह-वैजयन्ती, अभिधानरत्नमाला आदि अन्य अनेक कोश-ग्रंथ भी इस काल में बने। कामशास्त्र, संगीत, राजनीति आदि विषयों पर भी अनेक पुस्तकें इस युग में लिखी गयीं, और संस्कृत का साहित्य-भण्डार निरन्तर अधिक समृद्ध होता गया।

(७) दर्शन-शास्त्र

दर्शनशास्त्र के विकास की दृष्टि से मध्ययुग का महत्त्व बहुत अधिक है। बौद्ध, जैन और हिन्दू—तीनों प्रकार के दर्शनशास्त्रों का इस युग में चरम विकास हुआ। चौथी सदी में असंग नामक बौद्ध विद्वान् ने महायानोत्तरतंत्र सूत्रालंकार आदि ग्रंथ लिख कर 'क्षणिक विज्ञानवाद' मत का बड़ी योग्यता के साथ प्रतिपादन किया था। पांचवीं सदी में दिङ्नाग ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ प्रमाणसमुच्चय की रचना की। ये दोनों बौद्ध दार्शनिक मध्ययुग से पहले हो चुके थे। पर इस काल में धर्मकीर्ति और शांतरक्षित नामक दार्शनिकों ने बौद्ध-दर्शन को विकास की चरम सीमा पर पहुँचा दिया। धर्मकीर्ति (सातवीं सदी) के ग्रंथों में प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चिय सर्वप्रधान हैं। बौद्ध-संसार में ये ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हुए, और तिब्बती आदि अनेक भाषाओं में इनका अनुवाद किया गया। धर्मकीर्त्ति असंग द्वारा प्रतिपादित 'विज्ञानवाद' के अनुयायी थे, और उन्होंने इसी मत को कुछ अंशों में परिवर्तित व विकसित कर तर्क द्वारा उसका प्रतिपादन किया। धर्मकीर्त्ति के बाद शांतरक्षित, कमलशील और ज्ञानश्री जैसे बौद्ध दार्शनिकों ने दर्शनशास्त्र का और अधिक विकास किया। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि इन महान् दार्शनिकों के विचारों का संक्षिप्त रूप से भी निर्देश कर सकें। यद्यपि वज्रयान के विकास के कारण इस युग में बौद्ध-धर्म का ह्रास हो रहा था, पर दार्शनिक क्षेत्र में अनेक बौद्ध-विद्वान् अत्यन्त योग्यतापूर्वक अपने दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन और विरोधी सिद्धान्तों के खण्डन में तत्पर थे।

दार्शनिक दृष्टि से बौद्धदर्शन को चार प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त किया जा सकता है—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। इन चारों सम्प्रदायों का पक्षपोषण करते हुए जो विशाल साहित्य इस युग में लिखा गया, वह संसार के दार्शनिक साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

बौद्धों के समान अनेक जैन विद्वानों ने भी इस युग में अपने दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया। जैन-दर्शन का प्रारम्भ उमास्वाति और कुन्दकुन्दाचार्य नामक विद्वानों ने किया था, जो पहली सदी ई० प० में हुए थे। पर इसका विशेष रूप से विकास मध्य युग में ही हुआ। जैन दार्शनिकों में सिंहसेन दिवाकर (पाँचवीं सदी), समन्तभद्र (सातवीं सदी), हरिभद्र (आठवीं सदी), भट्ट अकलंक (आठवीं सदी), विद्यानन्द (नवीं सदी), हेमचन्द्र (ग्यारहवीं सदी) और मल्लिसेण सूरी (तेरहवीं सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हिन्दू या आस्तिक दर्शन के सिद्धान्तों का हम पिछले एक अध्याय में उल्लेख कर चुके हैं। इन आस्तिक दर्शनों पर भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इस युग में लिखे गये, जिनमें अपने मत के प्रतिपादन के साथ-साथ बौद्धों और जैनों का विशेषरूप से खण्डन भी किया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि आस्तिक दर्शनों का विकास इस युग से पूर्ववर्त्ती काल में ही हो गया था, पर उन पर नये-नये और सुविस्तृत ग्रन्थ इसी काल में लिखे गये। बौद्ध-धर्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जब सनातन वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उसके विद्वानों के लिये यह भी आवश्यक हो गया, कि वे बौद्ध विचारधारा का खण्डन कर आस्तिक दर्शन का मण्डन करें। इसी लिये मध्य युग में दर्शनशास्त्रों पर अनेक अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना हुई।

मीमांसा-दर्शन के कर्त्ता जैमिनि मुनि थे। उन्होंने मीमांसा-सूत्रों की रचना की थी। दूसरी सदी ई० प० के लगभग उपवर्ष भवदास और शवरस्वामी ने इन सूत्रों पर वृत्तियाँ लिखीं, जिनमें मीमांसा के सिद्धान्तों को बहुत विशदरूप दिया गया। शवरस्वामी द्वारा लिखा हुआ शावरभाष्य (मीमांसासूत्रों पर) मीमांसादर्शन का अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है। आठवीं सदी के पूर्वार्ध में कुमारिल भट्ट ने इस दर्शन को और अधिक विकसित किया, और बौद्ध-दर्शन का खण्डन कर मीमांसा के सिद्धान्तों की सत्यता सिद्ध की। कुमारिल भट्ट के शिष्य मण्डनमिश्र थे, जिन्होंने विधिविवेक और भावनाविवेक नामक ग्रन्थों को लिखकर अपने गुरु की विचारसरणी को और अधिक विकसित किया।

वेदान्तसूत्रों का निर्माण महर्षि बादरायण ने किया था। जिस सिद्धान्त को महर्षि बादरायण ने सूत्र-रूप से लिखा था, मध्ययुग के दार्शनिकों ने उसे बहुत अधिक विकसित किया। इसके लिये उन्होंने वेदान्तसूत्रों (ब्रह्मसूत्रों) पर विस्तृत भाष्य लिखे। वेदान्तदर्शन को विशद रूप से प्रतिपादित करने वाले दार्शनिकों में सर्वोच्च स्थान शंकराचार्य का है, जो आठवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। उनका जन्म केरल (मलाबार) के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। आचार्य गौड़पाद से शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने वेदान्त-दर्शन के प्रतिपादन और बौद्ध-मत के खण्डन में अपनी सब शक्ति को लगा दिया। इस उद्देश्य से उन्होंने कन्याकुमारी से बदरीनाथ तक पर्यटन किया, और स्थान-स्थान पर बौद्धों से शास्त्रार्थ किये। यह संसार मिथ्या है, एकमात्र ब्रह्म ही सत्य सत्ता है, इस

विचार को उन्होंने युक्तिपूर्वक प्रतिपादित किया ।

शंकराचार्य ने जिस ढंग से वेदान्तसूत्रों की व्याख्या की थी, अन्य अनेक दार्शनिकों ने उसे पसन्द नहीं किया । ब्रह्म के अतिरिक्त जीव की सत्ता को न मानने से ईश्वर-भक्ति का कुछ अर्थ ही नहीं रह जाता । इसलिये वैष्णव आचार्यों ने वेदान्तसूत्रों की इस प्रकार व्याख्या की, जिससे ब्रह्म और जीव की पृथक् सत्ता सिद्ध की गयी ।

इन दार्शनिकों में रामानुज (११४० ई०), मध्व (११२७ ई०), निम्बार्क (१२५० ई०) और वल्लभाचार्य (१५०० ई०) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। रामानुज के अनुसार जीव और जगत् ईश्वर के ही दो प्रकार हैं । इसी लिये उनका मत विशिष्टाद्वैत कहाता है । मध्वाचार्य के मत में ईश्वर और जीव दो पृथक् सत्ताएं हैं । उनके मत को 'द्वैत' कहा जाता है । निम्बार्क जीव और ईश्वर को पारमार्थिक दृष्टि से अभिन्न मानते हैं, पर व्यावहारिक रूप से उनकी भिन्न सत्ता को स्वीकार करते है। इसीलिये उनके मत को द्वैताद्वैत कहते हैं ।

शकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य लिखकर वेदान्त दर्शन का प्रतिपादन किया था । नवीं सदी में वाचस्पति ने इस भाष्य पर भामती टीका लिखी । वेदान्त के अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थों में श्रीहर्ष (बारहवीं सदी) का खण्डनखाद्य, चित्सुखाचार्य (तेरहवीं सदी) की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्यस्वामी (चौदहवीं सदी) की पञ्चदशी और मधुसूदन सरस्वती (सोलहवीं सदी) की अद्वैतसिद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । ये सब ग्रन्थ मध्य युग में ही लिखे गये थे ।

महर्षि गौतम ने जिस न्यायशास्त्र का सूत्र-रूप से प्रतिपादन किया था, उसपर प्राचीन समय में वात्स्यायन ने भाष्य लिखा । वात्स्यायन को दूसरी सदी ई० पू० के लगभग में हुआ माना जाता है । पर मध्यकाल में इस दर्शन का असाधारण रूप से विकास हुआ, और अनेक दार्शनिकों ने इस पर उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की । इन दार्शनिकों में उद्योतकर (छठी सदी), वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी), जयन्तभट्ट (नवीं सदी) और उदयनाचार्य (दसवीं सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । तेरहवीं सदी में गंगेश उपाध्याय नामक दार्शनिक ने न्यायदर्शन के एक नये सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन किया, जिसे 'नव्यन्याय' कहते हैं । मुसलिम युग में इस सम्प्रदाय का बहुत विकास हुआ, और इसको प्रतिपादित करने के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी ।

इसी प्रकार से सांख्य, योग और वैशेषिक दर्शनों पर भी अनेक ग्रन्थ मध्यकाल में लिखे गये, जिनमें वैशेषिक दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य प्रशस्तपाद के पदार्थधर्म-संग्रह पर लिखी हुई व्योमशिखाचार्य (आठवीं सदी), उदयनाचार्य (नवीं सदी) और श्रीधराचार्य (दसवीं सदी) की टीकाएं, सांख्यदर्शन पर वाचस्पति मिश्र (नवीं सदी) द्वारा लिखी हुई तत्त्वकौमुदी और योगदर्शन पर भोज द्वारा लिखित भोजवृत्ति विशेषतया महत्त्वपूर्ण है।

इसमें सन्देह नहीं, कि दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में मध्ययुग में बहुत उन्नति हुई । इस युग के भारतीय विचारकों ने प्राचीन काल में प्रादुर्भूत हुए दार्शनिक सिद्धान्तों को विकसित कर एक ऐसा रूप प्रदान किया, जो संसार के दार्शनिक साहित्य में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है ।

(८) वैज्ञानिक उन्नति

गुप्त-युग में भारत के विभिन्न विद्वानों ने गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की किस प्रकार उन्नति की थी, इस पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त-युग में वैज्ञानिक उन्नति की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, यदि वह मध्यकाल में भी जारी रहती, तो भारत विज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नत हो जाता। पर संसार के अन्य देशों के समान भारत में भी यह युग ह्रास और अन्धकार का था। फिर भी इस काल में अनेक ऐसे विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद पर नये ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकरण में हम इन्हीं का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

सातवीं सदी के पूर्वार्ध में ब्रह्मगुप्त ने 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' लिखा, जो ज्योतिष का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। बारहवीं सदी में भास्कराचार्य ने 'सिद्धान्तशिरोमणि' की रचना की, जिसके एक भाग में गणित और दूसरे भाग में ज्योतिष का प्रतिपादन है। मध्यकाल में यूरोप के ज्योतिषी पृथिवी को चपटी मानते थे, पर भास्कराचार्य ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, कि पृथिवी चपटी न होकर गोल है। उसने आकर्षणशक्ति के सिद्धान्त का भी सुन्दर रीति से निरूपण किया। मध्ययुग में पाश्चात्य जगत् के लोग इस सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित थे। ज्योतिष का ज्ञान भारत से अरब में गया, और अरब लोगों से यूरोपियन लोगों ने उसे सीखा। बगदाद के अरब खलीफा हारूं रशीद ने भारत के अनेक ज्योतिषियों को अपनी राजधानी में निमन्त्रित किया था, और उनकी सहायता से अनेक भारतीय ज्योतिप-ग्रन्थों का अनुवाद अरबी भाषा में करवाया था। गणित-विज्ञान में भारतीय लोगों ने न केवल अंकगणित और दशमलव के सिद्धान्त का विकास किया, अपितु त्रिकोणमिति का भी विकास किया। गणित की सहायता से भारतीय ज्योतिषी ग्रहों और राशियों की गणना से भली-भांति परिचित हो गये थे।

धन्वन्तरि और चरक जैसे प्राचीन आचार्यों ने आयुर्वेद-शास्त्र के जो ग्रन्थ प्राचीन युग में लिखे थे, उनका जिक्र पहले किया जा चुका है। मध्य युग में आयुर्वेद पर अनेक नये ग्रन्थ लिखे गये। ८०० ईस्वी के लगभग 'अष्टांगहृदय' की और माधवकरण ने 'माधवनिदान' की रचना की। ये दोनों ग्रन्थ आयुर्वेद में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। माधवनिदान में विविध रोगों के निदान (उत्पत्ति का कारण) पर बहुत विशदरूप से विचार किया गया है। ग्यारहवीं सदी में चक्रपाणिदत्त नाम के बंगाली वैद्य ने चरक और सुश्रुत के प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएं लिखीं, और साथ ही 'चिकित्सासारसंग्रह' नामक नये ग्रन्थ की रचना की। बारहवीं सदी के अन्त में 'शारंगधरसंहिता' लिखी गयी, जिसमें विभिन्न विषों और रसों का वैज्ञानिक पद्धति से विवेचन किया गया है। ये सब ग्रन्थ आयुर्वेद में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं, और इनके अध्ययन से ज्ञात होता है, कि मध्यकाल में चिकित्सा-शास्त्र ने बहुत उन्नति कर ली थी। इसी उन्नति का यह परिणाम था, कि बगदाद के खलीफा हारूं रशीद ने जब ज्योतिषियों को भारत से बुलाया था, तब साथ ही अनेक वैद्यों को भी उसने अपने देश में निमन्त्रित किया था। इनकी सहायता से उसने अनेक वैद्यक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया, और उनसे भारत के चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञान अरब लोगों ने प्राप्त किया।

पशुओं की चिकित्सा के विषय पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इनमें

पालकाप्य द्वारा विरचित गजचिकित्सा, गजायुर्वेद, गजदर्पण, गजपरीक्षा और गज-लक्षण, जयदत्तकृत अश्वचिकित्सा, नकुल का शालिहोत्र-शास्त्र और अश्व-तन्त्र विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होते, यद्यपि अन्य पुस्तकों में इनके उद्धरण दिये गये हैं। सम्राट् अशोक ने विविध देशों में अपनी धर्मविजय की स्थापना के लिये जो चिकित्सालय स्थापित करवाये थे, उनमें न केवल मनुष्यों अपितु पशुओं की चिकित्सा की भी व्यवस्था थी। मध्ययुग के भारतीय चिकित्सक मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा की प्राचीन विधियों का अध्ययन करने के साथ-साथ इन विषयों पर नई पुस्तकों की रचना में भी तत्पर रहे।

गणित, ज्योतिष और आयुर्वेद के अतिरिक्त वास्तुकला आदि पर भी अनेक ग्रन्थ इस युग में लिखे गये। इनमें राजा भोज द्वारा विरचित 'समरांगणसूत्रधार' और 'यक्तिकल्पतरु' विशेष महत्त्व रखते हैं।

(९) शिक्षा के केन्द्र

बौद्ध-युग के भारत में शिक्षा का सर्वप्रधान केन्द्र तक्षशिला था, जिसके विषय में हम पिछले एक अध्याय में विशद रूप से लिख चुके हैं। जब भारत की राजशक्ति का प्रधान केन्द्र मगध बन गया, तो काशी या वाराणसी शिक्षा का एक मुख्य केन्द्र बन गया। बौद्ध-धर्म के विस्तार के साथ-साथ भारत के बहुत-से नगरों में विहारों की स्थापना हुई, जिनमें बौद्ध-भिक्षु विद्या के अध्ययन और अध्यापन में तत्पर रहते थे। मध्यकाल में नालन्दा, विक्रमशिला और उड्यन्तपुर के महाविहारों ने विश्वविद्यालयों का रूप धारण कर लिया, जिनमें न केवल बौद्धों के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य का ही अध्यापन होता था, पर साथ ही गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विज्ञानों का भी शिक्षण होता था। भारत के सब प्रदेशों से विद्यार्थी अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिये इन शिक्षा-केन्द्रों में आया करते थे। केवल भारत के ही नहीं, अपितु चीन, तिब्बत आदि विदेशों के छात्र व विद्वान् भी इन शिक्षा-केन्द्रों से आकृष्ट होकर इनमें आया करते थे।

मदुरा का संगम—प्राचीनकाल में सुदूर दक्षिण में मदुरा नगरी में भी एक विद्यापीठ था, जिसका नाम संगम था। तक्षशिला के समान इसमें भी बहुत-से ससार-प्रसिद्ध आचार्य रहते थे। यहाँ प्राचीन तामिल साहित्य का विकास हुआ। संगम के आचार्य केवल शिक्षा का कार्य ही नहीं करते थे, अपितु साहित्य की रचना को भी वे बहुत महत्त्व देते थे। इसी कारण यहाँ उत्कृष्ट तामिल साहित्य की रचना हुई। इनमें तिरुवल्लुवर का 'कुरल' सबसे प्रसिद्ध है। यह विश्व-साहित्य में एक अनुपम रत्न गिना जाता है, और इसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार विभागों द्वारा मानव-जीवन के लिये उपयोगी सूक्तियों व उपदेशों का प्रतिपादन किया गया है। तामिल साहित्य में इस ग्रंथ का बहुत ऊंचा व सर्वश्रेष्ठ स्थान है। कुरल के अतिरिक्त 'मणिमेखला' और 'शीलप्पतिकारम्' ग्रंथों का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। ये दोनों तामिल भाषा के महाकाव्य हैं, और इनकी रचना भी मदुरा के संगम में ही हुई।

नालन्दा महाविहार—मगध में नालन्दा का महाविहार शिक्षा का बड़ा केन्द्र था। इसकी स्थापना गुप्तवंशी सम्राट् कुमारगुप्त (राज्य-काल ४२५–५५ ई० प०)

ने की थी। कुमारगुप्त से पहले भी नालन्दा शिक्षा का केन्द्र था। वहाँ के बौद्ध-विहारों में विद्याभ्यास जारी रहता था। पर जब कुमारगुप्त ने वहां विद्या और शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिये एक महाविद्यालय का निर्माण किया, तब से नालन्दा की ख्याति बढ़ने लगी। कुमारगुप्त के बाद के अन्य गुप्तवंशी सम्राटों ने भी वहाँ बहुत-सी इमारतें बनवायीं, और नालन्दा के शिक्षकों और विद्यार्थियों के खर्चे के लिये बहुत-सी जायदाद लगा दी। शीघ्र ही, शिक्षा और ज्ञान के केन्द्र के रूप में नालन्दा की ख्याति दूर-दूर तक पहुँच गयी, और देश-विदेश के हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करने के लिये वहाँ आने लगे। अनेक चीनी विद्वान् उसकी कीर्त्ति सुनकर उसके प्रति आकृष्ट हुए। उन्होंने अपने देश लौट कर जो यात्रा-विवरण लिखे, आज उन्हीं से हमें नालन्दा के आचार्यों और शिक्षापद्धति आदि के विषय में परिचय मिलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग ने नालन्दा का जो विवरण लिखा है, उससे ज्ञात होता है, कि यहां के आचार्यों और विद्यार्थियों की संख्या मिलकर दस हजार से भी अधिक थी। नालन्दा के शिक्षक अपने ज्ञान और विद्वत्ता के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थे। कई शिक्षक तो ऐसे थे, जिनकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इन सब का चरित्र सर्वथा उज्ज्वल और निर्दोष था। सदाचार के सब नियमों का वे पूर्ण तत्परता और सचाई से पालन करते थे। भारत के सब प्रदेशों में उनका आदर था, और सर्वत्र उनका अनुसरण किया जाता था। इस महाविद्यालय के नियम बड़े कठोर थे, और यहाँ के निवासियों के लिये यह अनिवार्य था कि वे उनका पालन करें।

नालन्दा महाविहार में प्रवेश पाने के लिये यह आवश्यक था, कि पहले एक परीक्षा को उत्तीर्ण किया जाय। यह परीक्षा 'द्वार-पण्डित' लेता था। महाविहार के प्रवेश द्वार को लाँघने के लिये इस द्वार-पण्डित की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अनिवार्य था। यह परीक्षा बहुत कठिन होती थी। ह्यु एन-त्सांग के अनुसार २० व ३० फीसदी से अधिक परीक्षार्थी इस परीक्षा को उत्तीर्ण नहीं कर पाते थे। ह्यु एन-त्सांग स्वयं बहुत समय तक नालन्दा रहा था। उसे इस शिक्षा-केन्द्र का भली-भाँति परिचय था। वह यहाँ के ज्ञानमय वातावरण और चरित्र की उच्चता द्वारा बहुत प्रभावित हुआ था। द्वार-पण्डित को पराजित कर जो विद्यार्थी नालन्दा के महाविहार में प्रविष्ट होते थे, उन्हें वहाँ बहुत मेहनत करनी पड़ती थी। चीनी यात्री ह्यु एन-त्सांग के अनुसार महाविहार में प्रविष्ट होकर भी बहुत-से विद्यार्थी वहाँ परास्त हो जाते थे। जो वहाँ भी विजय करके (परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर) फिर बाहर जाते थे, उनके ज्ञान और पाण्डित्य का सर्वत्र आदर होता था।

इत्सिग नाम का एक अन्य चीनी यात्री सातवीं सदी में भारत आया। उसने ६७१ ई० में चीन से प्रस्थान किया और ६७३ ई० में वह ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर पहुँचा। इत्सिग का मुख्य उद्देश्य भारत आकर बौद्ध-धर्म का उच्च ज्ञान प्राप्त करना और यहाँ से धर्म की प्रामाणिक पुस्तकों को एकत्र कर चीन ले जाना था। अतः उसका अधिकांश समय नालन्दा में ही व्यतीत हुआ। वहाँ उसने चार सौ के लगभग ग्रन्थों का संग्रह किया, जिनके श्लोकों की संख्या पाँच लाख थी। इन पुस्तकों को वह अपने साथ चीन ले गया। इत्सिग के विवरण से भी यह प्रमाणित होता है, कि नालन्दा महाविहार में विद्यार्थियों की संख्या हजारों में थी। वहाँ प्रवेश पाने के लिये व्याकरण,

हेतु-विद्या (न्याय) और अभिधर्मकोश का ज्ञान आवश्यक था। महावीर में शिक्षा के लिये प्रवेश पा चुकने पर विद्यार्थी जहाँ बौद्ध-धर्म के विशाल साहित्य का अध्ययन करते थे, वहाँ साथ ही शब्द-विद्या, चिकित्सा-विद्या, सांख्यशास्त्र, तन्त्र, वेद आदि की पढ़ाई की भी वहाँ व्यवस्था थी।

महाविहार का खर्च चलाने के लिये राज्य की ओर से बहुत-सी भू-सम्पत्ति प्रदान की गयी थी। इत्सिग के अनुसार दो सौ से भी अधिक गाँव ऐसे थे, जिनको नालन्दा महाविहार के खर्च के लिये दिया गया था। इनकी सब आमदनी इस शिक्षा-केन्द्र के खर्च के लिये काम आती थी। विद्यार्थियों को भोजन के लिये प्रधानतया चावल मिलता था। ह्यु एन-त्सांग ने लिखा है, कि जब तक वह नालन्दा में रहा, उसे प्रतिदिन महासाली चावलों का एक निश्चित परिमाण, २० पूग और १२० जम्बीर मिलते रहे। साथ ही प्रतिमास तेल, घी और अन्य खाद्य-पदार्थ भी निश्चित मात्रा में उसे दिये जाते रहे।

नालन्दा का पुस्तकालय बड़ा विशाल था। इसकी तीन विशाल इमारतें थीं, जिनके नाम थे—रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नारंजक। रत्नोदधि-भवन नौ मंजिल ऊँचा था। इसमें धर्म-ग्रन्थों का संग्रह किया गया था। अन्य दोनों इमारतें भी इसी प्रकार विशाल और विस्तीर्ण थीं।

ह्यु एन-त्सांग और इत्सिग के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विदेशी विद्वान् नालन्दा में उच्च शिक्षा के लिये आये। इनमें से कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं। श्रमण हिएनचिन सातवीं सदी में नालन्दा आया और तीन साल वहाँ रहा। उसका भारतीय नाम प्रकाशमणि था। कोरिया का एक भिक्षु आर्यवर्मन बहुत दिनों तक नालन्दा रहा, और उसकी मृत्यु वहीं पर हुई। चेहांग नाम का एक अन्य चीनी भिक्षु सातवीं सदी में नालन्दा आया और आठ वर्ष तक वहाँ अध्ययन करता रहा। विदेशी विद्यार्थियों की यह परम्परा बहुत समय तक जारी रही। नालन्दा की कीर्ति सम्पूर्ण बौद्ध-संसार में विस्तृत थी, और दूर-दूर से विद्वान् अपनी शिक्षा की पूर्णता के लिये वहाँ आते रहते थे।

आठवीं सदी के शुरू में तिब्बत के राजा ने नालन्दा के एक प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को इस उद्देश्य से अपने देश में निमन्त्रित किया, कि वह वहाँ बौद्धधर्म की अच्छी तरह स्थापना करे। तिब्बत पहुँचने पर शान्तरक्षित का बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया गया, और उसे आचार्य बोधिसत्व की उपाधि से विभूषित किया गया। शान्तरक्षित के कुछ समय बाद कमलशील नामक एक अन्य आचार्य को नालन्दा से बुलाया गया, और इन दो भारतीय आचार्यों ने तिब्बत में धर्म की स्थापना की। बाद में अतिशा नाम के अन्य आचार्य को तिब्बत में धर्मस्थापना के लिये आमन्त्रित किया गया। यह मगध में ही विद्यमान विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य था।

नालन्दा महाविहार की स्थापना पाँचवीं सदी ई० प० में हुई थी। ग्यारहवीं सदी तक वह भारत का प्रधान शिक्षा-केन्द्र रहा। इस समय विक्रमशिला नाम के एक अन्य महाविहार की स्थापना हो गयी थी, जिसे पालवंशी राजाओं का संरक्षण प्राप्त था। विक्रमशिला के विकास के कारण नालन्दा की कीर्त्ति कुछ मन्द पड़ने लगी, और उसमें ह्रास के चिह्न प्रगट होने लगे। बाद में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी

ने विहार पर आक्रमण किया, तो नालन्दा के इस प्राचीन महाविहार का अन्तिम रूप से विनाश हुआ।

विक्रमशिला—नालन्दा के समान विक्रमशिला का महाविहार भी मगध में ही था। इसकी स्थापना पालवंशी राजा धर्मपाल ने नवीं सदी में की थी। धर्मपाल बौद्ध-धर्म का अनुयायी था, और अपने को "परमपरमेश्वर-परम भट्टारक महाराजाधिराज' की उपाधि से विभूषित करता था। धर्मपाल ने विक्रमशिला में एक महाविहार बनवाकर वहाँ अध्यापन के लिये १०८ आचार्यों की नियुक्ति की। इस नये शिक्षणालय को राजवंश की संरक्षा प्राप्त थी। इसके खर्च के लिये अतुल धनराशि राजा धर्मपाल व उसके उत्तराधिकरियों द्वारा दी गयी। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से विद्यार्थी इसमें शिक्षा-ग्रहण करने के लिये आने लगे। चार सदियों तक यह महाविहार कायम रहा, और इस बीच में इसने बड़े-बड़े विद्वान् उत्पन्न किये। विक्रमशिला से जो विद्यार्थी शिक्षा पूर्ण करते थे, उन्हें 'पण्डित' की उपाधि प्रदान की जाती थी। यह उपाधि पालवंशी राजाओं द्वारा उन्हें दी जाती थी।

नालन्दा के समान विक्रमशिला में भी द्वारपण्डित होते थे। यहाँ द्वारपण्डितों की संख्या छः थी। ऐसा प्रतीत होता है, कि विक्रमशिला के महाविहार में छः कालेज या विद्यालय थे, और इनमें से प्रत्येक का द्वारपण्डित पृथक्-पृथक् होता था। तिब्बती लेखक तारानाथ ने लिखा है, कि विक्रमशिला के दक्षिणी द्वार का द्वारपण्डित प्रज्ञाकरमति था। इसी प्रकार पूर्वी द्वार का रत्नाकर शान्ति, पश्चिमी द्वार का वागीश्वर कीर्त्ति, उत्तरी द्वार का नारोपन्त, प्रथम केन्द्रीय द्वार का रत्न वज्र और द्वितीय केन्द्रीय द्वार का द्वारपण्डित ज्ञानश्रीमित्र था। द्वार-पण्डित के पद पर बहुत ही उच्च कोटि के विद्वानों को नियत किया जाता था। प्रत्येक कालेज में शिक्षकों की संख्या १०८ रखी जाती थी। इस प्रकार विक्रमशिला में शिक्षकों की कुल संख्या ६४८ थी। वहाँ कितने विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, इसका उल्लेख किसी विदेशी यात्री ने नहीं किया। पर विक्रमशिला का जो सभाभवन था, उसमें ८००० व्यक्ति एक साथ बैठ सकते थे। इससे सूचित होता है, कि इसके विद्यार्थियों की संख्या भी हजारों में थी। महाविहार के बाहर एक धर्मशाला भी बनायी गई थी, ताकि विद्यार्थी प्रविष्ट होने से पहले उसमें निवास कर सकें। महाविहार के चारों ओर एक प्राचीर थी, जैसी कि दुर्गों के चारों ओर होती थी।

विक्रमशिला में बौद्ध-साहित्य, वैदिक साहित्य और अन्य ज्ञान-विज्ञान की पढ़ाई होती थी। पर यह महाविहार बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय के अध्ययन का सबसे प्रामाणिक केन्द्र था। इस युग के भारत में तन्त्र-विद्या का बहुत प्रचार हो गया था। बौद्ध और पौराणिक—दोनों धर्मों में तान्त्रिक साधना को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा था। तन्त्रवाद जो इस युग के धर्म का बहुत महत्त्वपूर्ण भाग बन गया, उसका श्रेय प्रधानतया इसी महाविहार को है।

विक्रमशिला में शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों में से अनेक ने विद्वत्ता के क्षेत्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की। इनमें रत्नवज्र, आचार्य रत्नकीर्ति, ज्ञानश्रीमित्र, रत्नाकर-शान्ति और दीपकर अतिशा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अतिशा को तिब्बत में बौद्ध-धर्म की पुनःस्थापना के लिये बुलाया गया था, और उसने वहाँ उस व्यवस्था को

कायम किया था, जो लामाओं की अधीनता में अब तक वहां विद्यमान है। रत्नकीर्त्ति अतिशा का गुरु था, और ज्ञानश्रीमित्र अतिशा का उत्तराधिकारी था। अतिशा के तिब्बत चले जाने के बाद ज्ञानश्रीमित्र ही विक्रमशिला महाविहार का प्रधान आचार्य बना था।

उड्यन्तपुर—नालन्दा और विक्रमशिला के समान ही प्राचीन मगध में एक अन्य महाविहार था, जिसे उड्यन्तपुर कहते थे। इसकी स्थापना पालवंश के प्रवर्त्तक व प्रथम राजा गोपाल द्वारा की गई थी। यह महाविहार उस स्थान पर विद्यमान था, जहां आजकल विहार नामक नगरी है। सम्भवतः, उड्यन्तपुर के महाविहार के कारण ही इस नगर का नाम विहार पड़ा, और बाद में सारे प्रान्त का नाम ही विहार हो गया। गोपाल द्वारा स्थापित होने के बाद उड्यन्तपुर का महाविहार निरन्तर उन्नति करता गया। शुरू में नालन्दा की ख्याति के कारण इसकी बहुत प्रतिष्ठा नहीं हुई, और बाद में राजा धर्मपाल द्वारा विक्रमशिला में अन्य महाविहार की स्थापना हो जाने के कारण उड्यन्तपुर का विहार विशेष प्रसिद्ध नहीं रहा। पर बारसवीं सदी में यह शिक्षा का अच्छा बड़ा केन्द्र हो गया था, और इसमें भी हजारों आचार्य व विद्यार्थी निवास करते थे। उड्यन्तपुर के विहार का उल्लेख इस काल के अनेक शिलालेखों में भी उपलब्ध होता है।

११९९ ई० प० में जब मुहम्मद बिन बख्तियार खिलजी ने वर्त्तमान समय के बिहार प्रान्त पर आक्रमण किया, तो वहाँ का राजा पालवंशी गोविन्दपाल था। उसकी शक्ति बहुत न्यून थी। मुहम्मद ने इस हमले में देखा, कि उड्यन्तपुर का विहार एक दुर्ग के समान है। उसने उसे घेर लिया और उस पर हमला किया। इस अवसर पर इस महाविहार के आचार्यों और विद्यार्थियों ने भी शस्त्र उठाये, और डटकर मुहम्मद की सेनाओं का मुकाबला किया। जब तक एक भी आचार्य व विद्यार्थी जीवित रहा, उन्होंने उड्यन्तपुर पर अफगानों का अधिकार नहीं होने दिया। जब महाविहार के सब निवासी लड़ते-लड़ते मर गये, तब मुहम्मद का उस पर अधिकार हुआ। वहाँ के विशाल पुस्तकालय को मुहम्मद ने अग्नि के भेंट कर दिया, और भारत के प्राचीन ज्ञान और विज्ञान का यह विशाल भण्डार बात की बात में नष्ट हो गया। विक्रमशिला के महाविहार का अन्त भी इस अफगान आक्रान्ता द्वारा ही हुआ था।

मगध के इन महाविहारों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक विहार या महाविहार मध्य युग में विशिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। इनमें श्रीनगर (काश्मीर) के जयेन्द्र विहार और राजविहार, अनुपमपुर (काश्मीर) के रत्नगुप्त विहार और रत्नरश्मि विहार, बंगाल के सोमपुरी विहार और जगद्दल विहार तथा कौशाम्बी और काम्पिल्य के विहार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब विहार बौद्धधर्म और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। मध्यकाल में ये फलती-फूलती दशा में रहे, और मुसलिम आक्रमणों के समय में ही नष्ट हुए। नालन्दा, विक्रमशिला आदि के अतिरिक्त मध्ययुग में वल्लभी (काठिया-वाड़ में) भी शिक्षा का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। चीनी यात्री इत्सिंग के अनुसार नालन्दा के समान यह भी एक विद्या केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था, और यहाँ भी दूर-दूर से विद्यार्थी उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया करते थे।

मध्ययुग में भारत के विविध प्रदेशों में जो विभिन्न राजवंश शासन करते थे,

उनके राजाओं ने भी अपनी राजधानियों में अनेक शिक्षा-केन्द्र स्थापित किये थे। इस काल के राजाओं ने विद्या और ज्ञान के प्रोत्साहन और संवर्धन में असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। इनमें परमार राजा भोज का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। उसने अपनी राजधानी धारा में एक महाविद्यालय की स्थापना की थी, जिसके कारण विद्वानों और साहित्यिकों को बहुत प्रोत्साहन मिला था। परमार वंश में केवल भोज ही नहीं, अपितु मुञ्ज, सिन्धुराज आदि अन्य राजा भी बड़े विद्यानुरागी थे। वे स्वयं भी सुकवि और विद्वान् थे। भोज द्वारा स्थापित महाविद्यालय चिरकाल तक स्थिर रहा, पर अन्त में उसे भी मुसलिम आक्रान्ताओं का कोपभाजन बनना पड़ा। उसे गिराकर एक मसजिद का रूप प्रदान कर दिया गया। पर अबतक भी इस मसजिद में और इसके समीपवर्ती स्थानों पर अनेक ऐसे प्रमाण विद्यमान हैं, जिससे इनका महाविद्यालय होना प्रमाणित होता है। यहीं राजा भोज का एक शिलालेख भी उपलब्ध हुआ है, जिससे इसके मूल रूप के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं रह जाता।

परमार वंशी भोज के समान चाहमान (चौहान) वंशी राजा विग्रहराज चतुर्थ ने भी अपनी राजधानी अजमेर में एक महाविद्यालय की स्थापना की थी। अफगान आक्रान्ता शहाबुद्दीन गौरी ने इसे भी एक मसजिद के रूप में परिवर्तित कर दिया। कन्नौज, मिथिला, उज्जयिनी, पैठन, मालखेड़, कल्याणी आदि में भी वहाँ के विविध राजाओं ने इसी प्रकार के महाविद्यालय स्थापित किये थे, जिनमें वेदशास्त्र, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, कला आदि की शिक्षा दी जाती थी। इनका खर्च चलाने के लिए राजाओं की ओर से भरपूर सहायता दी जाती थी। अध्यापकों और विद्यार्थियों का सब व्यय राजकीय सहायता द्वारा ही चलता था।

राजाश्रय से चलने वाले विद्यालयों और महाविद्यालयों के अतिरिक्त तीर्थ और मन्दिर भी मध्ययुग में शिक्षा के महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। वाराणसी, काञ्ची आदि नगरियां हिन्दुओं की पवित्र तीर्थ थीं, जहाँ बहुत-से पण्डित अध्ययन-अध्यापन के कार्य में व्यापृत रहा करते थे। बौद्धों के विहार व महाविहार शिक्षा का कार्य करते थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। मध्ययुग में जब बौद्धधर्म का ह्रास हुआ, और भागवत वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों ने जोर पकड़ा, तो इन धर्मों के भी विशाल मन्दिर बनवाये गये। ये मन्दिर जहाँ हिन्दू धर्म और संस्कृति के केन्द्र थे, वहाँ साथ ही शिक्षा का कार्य भी इनमें किया जाता था। यद्यपि इनमें प्रधानतया वेदशास्त्रों की शिक्षा दी जाती थी, पर गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि का भी इनमें अध्ययन होता था। मध्ययुग में प्रायः सभी मन्दिरों के साथ विद्यालय भी विद्यमान थे।

बड़े विद्यालयों या विद्यापीठों के अतिरिक्त नगरों और ग्रामों में भी बहुत-सी पाठशालाएँ विद्यमान थीं, जिनमें ब्राह्मण लोग अध्ययन-अध्यापन के कार्य में व्यापृत रहा करते थे। इन ब्राह्मण-पण्डितों के निर्वाह की व्यवस्था प्रायः स्थानीय लोगों द्वारा ही कर दी जाती थी। पर राजा लोग भी इनका खर्च चलाने के लिये इन्हें कतिपय भूमि प्रदान कर दिया करते थे, जिसे 'अग्रहार' कहते थे। इस भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी से ब्राह्मण-पण्डित निश्चिन्तता के साथ अपना निर्वाह कर सकते थे।

(१०) सामाजिक दशा

भारत में जाति-भेद का विकास किन परिस्थितियों में और किस प्रकार हुआ, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मध्य युग में जाति-भेद ने ऐसा रूप धारण कर लिया, कि विभिन्न जाति के लोगों में खान-पान और विवाह का सम्बन्ध होने में अनेक प्रकार की रुकावटें आने लगीं। पर यह स्थिति एकदम व अकस्मात् उत्पन्न नहीं हो गयी, इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। वर्त्तमान समय में सवर्ण लोग शूद्रों के हाथ का बना भोजन खाना उचित नहीं समझते। पर प्राचीन समय में यह सिद्धान्त माना जाता था, कि 'शूद्र लोग भोजन बनाएं, और आर्य लोग उसका सेवन करें।' मध्यकाल में भी शूद्रों के हाथ का भोजन करने में दोष नहीं समझा जाता था। व्यासस्मृति के अनुसार दास, ग्वाले, नाई आदि के साथ भोजन करने में कोई हानि नहीं है। पर यह विचार इस युग में उत्पन्न हो गया था, कि शूद्र के साथ तभी भोजन-सम्बन्ध रखा जा सकता है, जब कि परम्परागत रूप से उससे मैत्री-सम्बन्ध हो। खान-पान के सदृश विवाह-सम्बन्ध के मामले में भी जातियों ने धीरे-धीरे संकीर्ण रूप धारण किया। प्राचीन समय में सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ समझते हुए भी अनुलोम (उच्च वर्ण का अपने से निम्नवर्ण की स्त्री के साथ विवाह) विवाह को धर्मानुमोदित स्वीकार किया जाता था। कतिपय परिस्थितियों में प्रतिलोम विवाह भी विहित था। सातवीं सदी में महाकवि बाण ने पारशव नामक एक ब्राह्मण का उल्लेख किया है, जिसकी माता शूद्रा थी। पारशव के ब्राह्मण पिता ने शूद्र स्त्री से विवाह किया था, और उससे उत्पन्न पुत्र को ब्राह्मण ही माना गया था। बारहवीं सदी तक अनुलोम-विवाह असाधारण नहीं समझे जाते थे। उत्कीर्ण लेखों तक में उनका जिक्र आता है। ब्राह्मण कवि राजशेखर ने क्षत्रिय (चौहान) कन्या अवन्तिसुन्दरी से विवाह किया था। तेरहवीं सदी में 'स्मृतिचन्द्रिका' ने इस प्रकार के विवाहों को कलिकाल के लिए निषिद्ध ठहराया, और बाद में हेमाद्रि, कमलाकर आदि ने यही बात प्रतिपादित की। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे भारत में अन्य जाति में विवाह कर सकना सम्भव नहीं रह गया, और जाति-बन्धन बहुत अधिक दृढ़ हो गया।

जाति-भेद के अत्यधिक कठोर हो जाने का ही यह परिणाम हुआ, कि जब मध्यकाल में तुर्क व अफगान आक्रान्ताओं ने प्राचीन युग के यवनों, शकों व हूणों के समान भारत में प्रवेश किया, तो भारत का समाज उन्हें आत्मसात् नहीं कर सका। जाति-भेद के कारण भारत में जो संकीर्ण मनोवृत्ति इस समय उत्पन्न हो गयी थी, उसे अलबरूनी (दसवीं सदी का अन्त) ने इस प्रकार प्रगट किया है, "हिन्दुओं की कट्टरता का शिकार विदेशी जातियाँ होती हैं। वे उन्हें म्लेच्छ और अपवित्र समझते हैं। वे उनके साथ खान-पान व विवाह का कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनका विचार है, कि ऐसा करने से हम भ्रष्ट हो जायेंगे।" प्राचीन समय में यवनों, शकों, कुशाणों व हूणों के प्रति भारतीयों की यह मनोवृत्ति नहीं थी। पर जाति-भेद के विकास के कारण अब दसवीं सदी में तुर्कों के प्रति भारतीयों की मनोवृत्ति बहुत बदल गयी थी, और उनके लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे उन्हें अपने समाज का अंग बना सकें। पर यह दशा भी सर्वत्र एक समय में ही नहीं आ गयी थी। बारहवीं सदी के अन्तिम चरण में जब शहाबुद्दीन गौरी ने गुजरात में हार खाई, तो उसकी मुसलिम सेना का बड़ा भाग कैद हो गया। गुजरात के हिन्दुओं ने उन्हें

आत्मसात् कर लिया। इसी प्रकार तेरहवीं सदी में जब अहोम जाति ने आसाम में प्रवेश किया, तो वह भी हिन्दू-समाज का अंग बन गयी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि मध्यकाल में हिन्दू-समाज में विदेशियों को आत्मसात् करने की शक्ति निरन्तर क्षीण होती जाती थी, और धीरे-धीरे यह स्थिति आ गयी थी, कि उनके लिये अपने समाज के भी पतित हुए अंग को अपने में मिला सकना सम्भव नहीं रहा था।

मध्य युग में स्त्रियों की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में भी कतिपय बातों का उल्लेख आवश्यक है। हर्षवर्धन की बहन राज्यश्री सुशिक्षित महिला थी, और उसने दिवाकरमित्र नामक बौद्ध-पण्डित से धर्म की शिक्षा ली थी। प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य (बारहवीं सदी) ने अपनी पुत्री लीलावती को गणित का ज्ञान देने के लिये 'लीलावती' नामक पुस्तक लिखी, जो संस्कृत में गणित-विषयक अनुपम पुस्तिका है। कवि राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी अच्छी विदुषी थी। उसने प्राकृत भाषा के एक कोश का भी निर्माण किया था। मध्य युग में अनेक स्त्रियों ने संस्कृत-काव्य की भी रचना की। इन्दुलेखा, विज्जिका, शीला, सुभद्रा, मदालसा आदि कितनी ही कवयित्रियों की रचनाओं का आभास हमें इस युग के अलंकार ग्रन्थों द्वारा मिल जाता है, यद्यपि उनकी रचनाएँ इस समय उपलब्ध नहीं हैं। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार होने पर भी समाज में उनकी स्थिति अब निरन्तर हीन होती जाती थी। विधवा-विवाह अब बुरा माना जाने लगा था, और सती प्रथा का भी प्रारम्भ हो गया था। हर्ष की माता विधवा होने पर सती हो गयी थी, और उसकी बहन राज्यश्री भी चितारोहण की तैयारी में थी, जब उसके भाई ने कर्त्तव्य-ज्ञान कराके उसे सती होने से रोक लिया। भारत के समाज में स्त्रियों की जो हीन स्थिति बाद में हो गयी, उसका प्रारम्भ इसी युग में हो गया था।

जातिभेद के गुण और दोष—भारत में जाति-भेद का विकास विशेष ऐतिहासिक परिस्थितियों का परिणाम है। इसमें सन्देह नहीं, कि किसी समय में इससे बहुत लाभ हुआ। एकतन्त्र सम्राटों के शासनकाल में भी भारत में जाति, जनपद, श्रेणी और निगम आदि संगठनों के कारण जनता में आन्तरिक स्वतन्त्रता और 'स्वशासन' की परम्परा कायम रही। देश के राजसिंहासन पर किस वंश या किस धर्म का राजा विद्यमान है, वह धर्मात्मा या दुरात्मा है, इस बात का असर प्राचीन काल में सर्वसाधारण जनता पर विशेष नहीं पड़ता था। जनता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध उन कानूनों व व्यवहारों से होता था, जिन्हें वे स्वयं अपनी श्रेणियों व निगमों में बनाते थे, या जो उनमें परम्परागत रूप में चले आते थे। प्राचीन भारत में शिल्पियों व व्यापारियों के संगठनों के समान ब्राह्मणों तक के संगठन (निगम) विद्यमान थे। इन संगठनों द्वारा उनकी स्वतन्त्रता पूर्णतया सुरक्षित थी। भारत में अब तक जातियों व बिरादरियों की अपनी पंचायतें हैं, उनका अपना चरित्र व व्यवहार है। सामाजिक कानून भी उनके अपने-अपने हैं। क्रियात्मक दृष्टि से वे ऐसे संगठन थे, जो राजनीतिक क्षेत्र को छोड़कर अन्य सब दृष्टियों से अपनी स्वतन्त्रता व पृथक् सत्ता रखते थे।

जाति-भेद द्वारा भारत में यह भी प्रवृत्ति थी, कि प्रत्येक शिल्प कुछ विशेष कुलों में ही सुरक्षित रहे। पुत्र अपने पिता से शिल्प का ज्ञान प्राप्त करता था। कुमारावस्था के लोग अपनी ही जाति के किसी आचार्य से अन्तेवासी रूप में शिल्प की विशेष शिक्षा प्राप्त

करते थे। इसका परिणाम यह था, कि उन कुलों में शिल्प का विशेष ज्ञान विकसित होता रहता था। प्राचीन भारत में विद्या, विज्ञान, व्यापार, शिल्प आदि सभी क्षेत्रों में जो इतनी अधिक उन्नति हुई, उसका कुछ श्रेय इस जाति-भेद को भी दिया जा सकता है, क्योंकि इसके कारण विभिन्न जातियाँ विभिन्न क्षेत्र में ही विकास व उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहती थीं। किसी एक क्षेत्र में विशिष्टता प्राप्त कर सकना इस पद्धति द्वारा सम्भव हो जाता था।

पर जाति-भेद के अनेक कुपरिणाम भी हुए। इससे भारतवासियों में संकीर्णता की भावना विकसित हो गयी। ब्राह्मण लोग अन्य जातियों के लोगों के सम्पर्क में आना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझने लगे। विद्या और ज्ञान ब्राह्मणों तक ही सीमित रह गये। इनका सबसे बुरा परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण शिल्पी व व्यवसायी लोग अशिक्षित रह गये। प्राचीन और मध्य कालों का भारतीय शिल्पी पाश्चात्य जगत् के शिल्पी से किसी भी तरह कम नहीं था। पर आधुनिक युग में जब यूरोप का शिल्पी नये ज्ञान और विज्ञान की सहायता से अपने शिल्प की उन्नति करने लगा, तो भारत का शिल्पी अशिक्षित होने के कारण अपनी पुरानी दशा से आगे नहीं बढ़ सका। ब्राह्मण के पास ज्ञान था, और शिल्पी के पास कला (हुनर) थी। पर इन दोनों में किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं था। ब्राह्मण का ज्ञान अधिक-अधिक अक्रियात्मक होता गया, वह केवल सिद्धान्त की बातों में ही लगा रहा। क्रियात्मक जीवन से सम्बन्ध न होने के कारण भारत का ब्राह्मण अपने ज्ञान का कोई सांसारिक लाभ नहीं प्राप्त कर सका। विद्या के प्रकाश के अभाव में यहां का शिल्पी भी उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया।

जाति-भेद का अन्य कुपरिणाम इस देश में यह हुआ, कि यहां की जनता में एकता की भावना उत्पन्न नहीं हुई। सब देशवासी एक हैं, एक राष्ट्र व एक समाज के अंग हैं यह विचार यहाँ पनपने नहीं पाया। अब तक भी भारत में राष्ट्रीय एकता की जो कमी है उनका प्रधान उत्तरदायित्व इस जाति-भेद पर ही है।

इसी जाति-भेद के कारण भारतीय जनता का बहुत बड़ा भाग पददलित दशा में रहा है। ब्राह्मण और क्षत्रिय जैसे उच्च वर्गों के लोग संख्या में कम थे। बहुसंख्यक जनता उन जातियों द्वारा निर्मित थी, जिन्हें ब्राह्मण लोग नीची दृष्टि से देखते थे। इन लोगों में अपनी हीनता की भावना विकसित हो गई, और यह बात राष्ट्रीय दृष्टि से बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

(११) धर्म

मौर्य साम्राज्य के पतन के अनन्तर शुंग वंश के शासनकाल में प्राचीन सनातन वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, गुप्त सम्राटों के शासन में उसे बहुत बल मिला था। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य जैसे प्रतापी सम्राट् 'परम भागवत' और 'परमवैष्णव' थे, और उनके समय में बौद्ध धर्म का ह्रास होकर वैष्णव और शैव धर्मों की बहुत उन्नति हुई। गुप्त काल के पश्चात् मध्ययुग में यह प्रक्रिया निरन्तर जारी रही, और तेरहवीं सदी के प्रारम्भ तक यह दशा आ गई, कि बौद्ध धर्म का भारत से लोप हो गया। जिन परिस्थितियों में और

जिन कारणों से भारत में बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ, उन पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है।

बौद्ध धर्म—भारत से बौद्ध धर्म का अन्त मध्ययुग के अन्तिम भाग (तेरहवीं सदी के प्रारम्भ) में हुआ। यद्यपि गुप्त-काल में ही उसका ह्रास शुरू हो चुका था, पर मध्ययुग में वह भारत के प्रमुख धर्मों में से एक था। कन्नौज का प्रतापी सम्राट् हर्ष-वर्धन (सातवीं सदी) बौद्ध धर्म का अनुयायी था और उसके राज्य में बौद्ध धर्म ने बहुत उन्नति की थी। पर सातवीं शदी में भारत के विभिन्न धर्मों व सम्प्रदायों में समन्वय की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो चुकी थी। यही कारण है कि हर्ष वर्धन जैसा बौद्ध राजा भी अन्य धर्मो के आचार्यो को दानपुण्य का उपयुक्त पात्र मानता था। हयुएन-त्सांग के यात्रा विवरण के अनुसार सातवीं सदी में पश्चिमी भारत के बौद्ध भिक्षु आलसी, कर्त्तव्यविमूढ़ और पतित हो गये थे। यही कारण है, जो सातवीं सदी में भी भारतीय जनता के हृदय में बौद्ध भिक्षुओं के प्रति वह श्रद्धा नहीं रह गई थी जो फाइयान के समय में थी। वज्रयान के विकास के कारण बौद्ध भिक्षुओं में लोकहित-सम्पादन की वह भावना भी नहीं रही थी, जिसके कारण बौद्ध धर्म देश-विदेशों में सर्वत्र प्रसारित हुआ था। वज्रयान के अनुसार बुद्ध "वज्रगुरु" थे, जिन्हें अलौकिक सिद्धियां प्राप्त थीं। इनके अनुयायियों का भी यही कर्त्तव्य है कि वे अपने गुरु के समान अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त करें, और उनकी प्राप्ति के लिए गुह्य साधनों का प्रयोग करें। प्राणिमात्र के हित और मनुष्यों के कल्याण का जो उच्च आदर्श बुद्ध ने उपस्थित किया था, वह वज्रयान के विकास के अनन्तर बौद्धों की आँखों से ओझल हो गया था। मध्य युग में बौद्ध धर्म के ह्रास का यही प्रधान कारण था। सम्भवत:, हूणों के आक्रमणों ने भी बौद्ध धर्म के ह्रास में सहायता पहुँचाई। गुप्त वंश के शासन काल में हूणों के जो आक्रमण शुरु हुए थे, वे सातवीं सदी तक जारी रहे। सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी भारत इनसे आक्रान्त रहा। भारत में आकर हूण भी भारतीय हो गये थे, और उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति को अपना लिया था। पर हूणों को शैव धर्म अपनी प्रकृति के अधिक अनुकूल प्रतीत हुआ। बौद्ध धर्म को उन्होंने नहीं अपनाया। मध्य युग के अनेक राजपूत वंशों का सम्बन्ध हूणों के साथ था। इन राजपूत राजाओं की बौद्ध धर्म के प्रति जरा भी आस्था नहीं थी। इसी कारण मध्ययुग में यह धर्म उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी भारत से सर्वथा लुप्त हो गया था और इसके जो भी केन्द्र शेष रहे थे, वे प्रधानतया पूर्वी भारत में ही थे। इस युग में बौद्ध धर्म प्राय: उन्हीं प्रदेशों में रह गया था, जहाँ राजपूत राजवंशों के रूप में प्रकट हुई नई राज्यशक्ति का प्रभाव नहीं था।

बंगाल के पाल वंशी राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। उनके संरक्षण में पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म न केवल कायम रहा, अपितु वहाँ के अनेक बौद्ध विद्वान् व भिक्षु अपने धर्म के प्रचार के लिए अन्यत्र आते जाते भी रहे। पाल वंशी राजा महीपाल (९७५–१०२६ ई०) और उसका पुत्र नय पाल (१०२६–१०४१ ई०) बड़े प्रतापी थे। उन्होंने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए बहुत प्रयत्न किया था, और विहार और उसके समीपवर्ती प्रदेशों को भी अपने शासन में ले लिया था। उनके संरक्षण

के कारण बिहार में स्थित नालंदा, उड्यन्तपुर और विक्रमशिला के महाविहारों (विश्वविद्यालयों) की बहुत उन्नति हुई। पाल वंश का एक अन्य राजा राजपाल (१०७७–११२०) भी बौद्ध धर्म का परम सहायक था। इन राजाओं के शासन काल में बिहार के नालन्दा आदि महाविहारों में अनेक ऐसे विद्वान् हुए, जिनका बौद्ध-धर्म के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। इनके ज्ञान और विद्वता से आकृष्ट होकर भारत भर से बौद्ध विद्यार्थी इन महाविहारों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए आने लगे। केवल भारत से ही नहीं, अपितु चीन, तिब्बत आदि से भी बहुत-से भिक्षु इन महाविहारों में आये और उन्होंने अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त किया। अनेक बौद्ध विद्वानों को भी इस युग में तिब्बत आदि विदेशों में धर्म के प्रचार व शिक्षा के लिए आमंत्रित किया गया। इन बौद्ध आचार्यों के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ के बौद्ध धर्म की प्रगति और ह्रास नामक अध्याय में परिचय दिया जा चुका है, उसे यहाँ दुहराने की आवश्यकता नहीं है।

विक्रमशिला और उड्यन्तपुर के महाविहारों की स्थापना पाल वंश के राजाओं द्वारा की गई थी, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। पर इन राजाओं ने बंगाल में भी अनेक महाविहारों की स्थापना की। राजा धर्मपाल (७६९–८०९ ई०) ने वारेन्द्र (राजाशाही जिले में) सोमपुरी नामक एक महाविहार का निर्माण कराया जिसके अवशेष पहाड़पुर नामक स्थान पर उपलब्ध हैं। सोमपुरी का यह महाविहार ग्यारहवीं सदी तक बहुत उन्नत व समृद्ध दशा में रहा। बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध विद्वान् अतिशा दीपंकर ने यहीं रह कर अनेक ग्रंथों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था। ग्यारहवीं सदी में जब राजा रामपाल (९७५–१०२६) ने जगद्दल में एक नये महाविहार की स्थापना कर ली, तब सोमपुरी के महाविहार का महत्व कम हो गया। विभूतिचन्द्र, दानशील, मोक्षाकर गुप्त, शुभाकर गुप्त आदि कितने ही विद्वान् जगद्दल में हुए, जिन्होंने बौद्ध धर्म पर अनेक दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की। सोमपुरी और जगद्दल के अतिरिक्त देवीकोट और पण्डित-विहार नाम के दो अन्य विहार भी पालवंशी राजाओं द्वारा बंगाल में स्थापित किये गये। इन महाविहारों के कारण मध्ययुग में बौद्ध धर्म बंगाल में फलता फूलता रहा।

यद्यपि पालवंशी राजाओं के शासन काल में पूर्वी भारत में बौद्ध धर्म ने अच्छी उन्नति की, पर इस युग में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों में यह शक्ति नहीं रह गई थी, कि वे शंकर, रामानुज आदि के मुकाबले में अपने धर्म का प्रभाव जनता पर स्थिर रख सकते। इसी कारण अब बौद्ध धर्म कतिपय ऐसे महाविहारों में ही केन्द्रित रह गया था, जिन्हें राजाओं की उदारता के कारण अपार धन सम्पत्ति प्राप्त थी, और जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। जब ये महाविहार मुस्लिम आक्रान्ताओं के कोपभाजन बने, तो बौद्ध पण्डितों और भिक्षुओं के लिए केवल यह मार्ग रह गया कि वे नेपाल, तिब्बत आदि जाकर आश्रय प्राप्त करें।

बिहार-बंगाल के समान काश्मीर भी मध्ययुग में बौद्ध धर्म का केन्द्र था। वहाँ जयेन्द्र विहार (श्रीनगर में) और राजविहार (परिहासपुर में) नामक दो महाविहार थे, जो बौद्ध धर्म और शिक्षा के महत्वपूर्ण केन्द्र थे। ग्यारहवीं सदी में इनका

महत्त्व कम हो गया, और इनका स्थान रत्नगुप्त विहार और रत्नश्री विहार नामक विहारों ने ले लिया, जो अनुरमपुर नामक नगर में स्थित थे। बारहवीं सदी तक ये दोनों विहार काश्मीर में बौद्ध धर्म और शिक्षा के प्रधान केन्द्र रहे। दूर-दूर से बहुत-से विद्यार्थी इन महाविहारों में भी बौद्ध धर्म के अनुशीलन और अध्ययन के लिए आते रहे, और यहाँ के अनेक विद्वान् चीन, तिब्बत, मध्य एशिया आदि में धर्म प्रचार के लिए जाते रहे। ९८० ई० में चीन के सम्राट् ने काश्मीर से दो श्रमणों को अपने देश में इस प्रयोजन से आमन्त्रित किया, कि वे बौद्ध धर्म के संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करें। इसी प्रकार १००५ ई० में एक अन्य काश्मीरी श्रमण को चीन आमन्त्रित किया गया। वहाँ वह अपने साथ न केवल बहुत-से बौद्ध ग्रन्थों को ले गया, अपितु बौद्ध वृक्ष की एक शाखा को भी चीन में आरोपित करने के लिए अपने साथ ले गया। इसी प्रकार तिब्बत, मध्य एशिया आदि में भी अनेक काश्मीरी भिक्षु बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये गये।

मध्य युग के काश्मीरी विद्वानों में ज्ञानश्री मित्र, ब्रह्मश्रीज्ञान, सर्वज्ञश्रीरक्षित, शाक्यश्रीभद्र, भव्यराज और शंकरानन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रन्थों का बौद्ध साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भारत के मध्यदेश और दक्षिणी भारत में इस काल में कोई ऐसा प्रदेश नहीं था, जिसे बौद्धधर्म का केन्द्र कहा जा सके। इन प्रदेशों पर गुर्जरप्रतीहार, चन्देल, गहड्वाल आदि जिन वंशों ने मध्यकाल में शासन किया, वे बौद्धधर्म के अनुयायी नहीं थे। जनता पर से भी इस काल में बौद्धधर्म के प्रभाव में न्यूनता आ गई थी। पर अब भी मध्यदेश में बहुत-से ऐसे स्थान थे, जहाँ बौद्ध धर्म भली-भाँति फल-फूल रहा था। सारनाथ मध्यकाल में भी बौद्धधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। पालवंशी राजा महीपाल (९७५—१०२६) का एक शिला लेख सारनाथ में मिला है, जिसमें इस राजा द्वारा वहाँ के प्राचीन विहारों और स्तूपों के पुनरुद्धार का उल्लेख है। सारनाथ के समान कौशाम्बी में भी बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार था। वहाँ के एक निवासी बालादित्य ने ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भ में नालन्दा महाविहार (जो अग्नि द्वारा भस्मसात् हो गया था) का जीर्णोद्धार कराया था। पर इन कतिपय अपवादों के अतिरिक्त मध्ययुग में बौद्धधर्म की सत्ता के कोई प्रमाण मध्यदेश और दक्षिणी भारत से प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः, शैव और वैष्णव धर्मों के प्रसार के कारण इस युग में बौद्धधर्म निरन्तर क्षीण होता जा रहा था और शनैः शनैः उसका अन्त हो गया था।

जैन धर्म—गुजरात और राजपूताना मध्य युग में जैन धर्म के प्रधान केन्द्र थे। गुर्जर-प्रतीहारों की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गये थे, उनमें से एक अन्हिलवाड़ा के चालुक्यों का भी था। इस 'चालुक्य' राजवंश का संस्थापक मूलराज था, जिसने ९४१ ईस्वी में अन्हिलवाड़ा को राजधानी बना कर अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी। गुजरात और दक्षिणी राजपूताना के प्रदेश इस राज्य के अन्तर्गत थे। मूलराज जैन धर्म का अनुयायी था और उसने अपनी राजधानी अन्हिलवाड़ा में मूलबस्तिका नाम से एक जैन मन्दिर का निर्माण कराया था। मूलराज के वंश में राजा भीम (१०२१—१०६३) बहुत प्रसिद्ध हुआ। जिस विमल-

शाह ने आबू पर्वत पर भगवान् आदिनाथ के प्रसिद्ध जैन मन्दिर का निर्माण कराया था, वह भीम का ही अन्यतम मन्त्री था। इस मन्दिर के सम्बन्ध में इसी अध्याय में आगे चलकर विस्तार के साथ लिखा जायगा। अन्हिलवाड़ा के चालुक्य राजा जयसिंह सिद्धराज (१०६३—११४३) और कुमारपाल (११४३—११७१) जैन धर्म के संरक्षक और जैन विद्वानों के आश्रयदाता थे। प्रसिद्ध जैन विद्वान् हेमचन्द्र (१०८८-११७२) कुमारपाल का समकालीन था, और उसकी प्रेरणा से इस चालुक्य राजा ने अपने राज्य में बहुत-से जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। न केवल राजा अपितु गुजरात की जनता भी इस युग में जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखती थी। काठियावाड़ में शत्रुञ्जय, गिरनार आदि स्थानों पर जो बहुत-से जैन मन्दिर इस समय विद्यमान हैं, उनका निर्माण चालुक्य राजवंश के शासन काल में ही हुआ था।

अन्हिलवाड़ा के चालुक्यों के समान कल्याणी (दक्षिणापथ) के चालुक्य और द्वारसमुद्र के होयसाल राजा भी जैन धर्म के संरक्षक थे। चालुक्य राजा सत्याश्रय (९९७ ई०) ने प्रसिद्ध जैन आचार्य विमलचन्द्र पण्डितदेव को गुरु धारण किया था, और वह उसी के पथ प्रदर्शन में अपने शासन कार्य का संचालन करता था। सत्याश्रय और उसके उत्तराधिकारियों ने जैन विद्वानों और जैन मंदिरों को बहुत-सी जागीरें प्रदान की थीं। होयसाल वंश के राजा भी जैन धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। असेक शिलालेखों में इन राजाओं द्वारा जैन मंदिरों को दिये गये दान-पुण्य का उल्लेख मिलता है। इसमें संदेह नहीं, कि गुजरात, दक्षिणी राजपूताना और माइसूर के प्रदेशों में मध्य काल में जैन धर्म अच्छी उन्नत दशा में था।

वैष्णव धर्म—भागवत वैष्णव धर्म का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। गुप्त सम्राटों के शासन काल में इस धर्म की बहुत उन्नति हुई थी। जिस प्रकार बौद्ध लोग गौतम बुद्ध को परम आदर्श पुरुष मानकर उसकी शरण ग्रहण करने का उपदेश देते थे, वैसे ही भागवत वैष्णव धर्म के अनुयायी वासुदेव कृष्ण को भगवान् का अवतार मान कर उसकी पूजा करते थे। वासुदेव की पूजा तीसरी सदी ई० पू० तक प्रचलित हो चुकी थी। मैगस्थनीज़ ने इसका उल्लेख किया है। जब बैक्ट्रियन यवन भारत के सम्पर्क में आये, तो अनेक यवन राजाओं और राजपुरुषों ने वैष्णव धर्म को अपना कर, देवों के देव वासुदेव की प्रतिष्ठा में गरुड़ध्वजों की स्थापना कराई। गुप्तकाल में वैष्णव धर्म ने भारत के प्रमुख धर्म का स्थान प्राप्त कर लिया था।

मध्य युग में जहाँ वैष्णव धर्म का और अधिक प्रसार हुआ, वहाँ साथ ही उसके मन्तव्यों में भी अनेक परिवर्तन हुए। यह धर्म भक्ति मार्ग का पोषक था। कर्मकाण्ड और अनुष्ठानों की अपेक्षा भक्ति और उपासना को इसमें अधिक महत्त्व दिया जाता था। शुंग-काल में ही इस प्रकार के मंदिरों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, जिनमें वासुदेव कृष्ण की मूर्ति स्थापित की जाती थी। पर मध्य युग में भागवत धर्म की सीधी और सरल भक्ति आडम्बरयुक्त होने लगी। मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों के साज-शृंगार को बहुत महत्त्व दिया जाने लगा, और उपास्य देव को संतुष्ट करने के लिए नाचने और गाने की प्रथा भी शुरू हुई। अब मन्दिरों में स्थापित मूर्तियाँ केवल

उपलक्षण व प्रतीक मात्र ही नहीं रह गईं, अपितु उन्हें जीवित जागृत देवता मानकर उनको स्नान, भोग, साज-शृंगार, वस्त्र आदि द्वारा संतुष्ट करने की प्रथा का भी प्रारम्भ हुआ। कृष्ण के सम्बन्ध में जो अनेक प्रकार की गाथाएं इस समय भारत में प्रचलित हैं, गोपियों के साथ उनकी क्रीड़ाएँ, राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध—इन सब का विकास भी इसी युग में हुआ। भागवत पुराण को मध्य युग (दसवीं सदी) की ही कृति माना जाता है। भागवत में कृष्ण के जीवन चरित्र का जिस ढंग से वर्णन किया गया है, वह महाभारत में उपलब्ध कृष्ण की कथा से बहुत भिन्नता रखता है। कृष्ण की जिस प्रकार की लीलाओं का वर्णन भागवत व ब्रह्म वैवर्त पुराणों में उपलब्ध है, उनका विकास मध्य युग में ही हुआ था। इसके कारण वैष्णव धर्म ने एक ऐसा रूप इस काल में प्राप्त कर लिया था, जो कि पुराने भागवत वैष्णव धर्म से बहुत भिन्न था। कृष्ण और राधा के प्रेम को लेकर कवि जयदेव ने गीत गोविन्द नाम का जो काव्य लिखा है, वह वैष्णव धर्म की इस युग की प्रवृत्तियों का परिचायक है। जयदेव राजा लक्ष्मण सेन (बारहवीं सदी) के समय में हुए थे, और उन्हें सेन वंश के इस राजा का आश्रय प्राप्त था।

वैष्णव धर्म के विकास में दक्षिणी भारत के आचार्यों और सन्तों ने विशेष रूप से कार्य किया। इन सन्तों को "आलवार" कहते थे। इन्होंने भक्ति रस को प्रवाहित करने के लिए बहुत-से गीतों का निर्माण किया, जो जनता में बहुत लोकप्रिय हुए। दक्षिण के वैष्णवों की दृष्टि में इन गीतों का माहात्म्य वैदिक सूत्रों से किसी भी प्रकार कम नहीं है। सर्वसाधारण जनता के लिए कठोर तपस्या और याज्ञिक अनुष्ठान की अपेक्षा भक्ति मार्ग का अनुसरण करना अधिक सुगम है। सर्वगुण सम्पन्न उपास्य देव को भक्ति द्वारा संतुष्ट कर अभिलषित फल प्राप्त कर लेने का विचार जनता को बहुत अपील करता है। इसीलिए आलवार सन्तों द्वारा प्रवाहित भक्ति धारा जनता में बहुत लोक प्रिय हुई।

पर वैष्णव संतों के भक्ति आन्दोलन को दो प्रबल विरोधियों का सामना करना पड़ा। कुमारिल भट्ट ने याज्ञिक कर्मकाण्ड के पक्ष में बहुत प्रबलता के साथ आवाज उठाई, और यह प्रतिपादित किया कि याज्ञिक अनुष्ठान ही स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के एकमात्र साधन हैं। शंकराचार्य ने अद्वैतवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह सिद्ध किया कि सत्य सत्ता केवल ब्रह्म है, और जीव तथा प्रकृति की कोई पृथक् व स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं। जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य है, यह ज्ञान ही मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन है। जिस प्रकार हजारों साल पुराना घोर अंधकार दीपक के प्रकाश से क्षण भर में दूर हो जाता है, वैसे ही सत्य ज्ञान द्वारा देर से चला आया अज्ञान क्षण भर में नष्ट हो जाता है। जब ब्रह्म और जीव में अभेद है, तो भक्ति से कोई लाभ नहीं। शंकराचार्य के अगाध पांडित्य और विलक्षण कर्तृत्व के कारण वैष्णवों के भक्ति आन्दोलन को बहुत आघात लगा। इसीलिये दक्षिणी भारत में अनेक ऐसे आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने दार्शनिक रूप से जीव और ब्रह्म की पृथक् सत्ता को सिद्ध कर वैष्णव धर्म का पक्षपोषण किया। इन आचार्यों का प्रयत्न था कि भक्ति मार्ग और भागवत वैष्णव धर्म को सुदृढ़ दार्श-

निक आधार पर स्थापित कर उसे पुष्ट करें।

इस प्रकार के आचार्यों में सर्वप्रथम नाथमुनि या रंगनाथाचार्य थे। वह दक्षिण आरकोट जिले के वीर नारायणपुर के निवासी थे, और उनका समय दसवीं सदी में माना जाता है। नाथ मुनि ने न्यायतत्व आदि अनेक ग्रन्थ लिखकर जहाँ वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या की, वहाँ साथ ही आलवार संतों के गीतों को एकत्र कर उन्हें रागवद्ध भी किया, और वैष्णव मंदिरों में उनके गायन की व्यवस्था की। नाथमुनि द्वारा वैष्णव धर्म के उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'श्री-वैष्णव' कहा जाता है। कुमारिल भट्ट और मंडन मिश्र जैसे मीमांसकों ने जिस ढंग से याज्ञिक अनुष्ठानों को मोक्ष के साधन के रूप में प्रतिपादित किया था, नाथ मुनि ने उसका खंडन किया। साथ ही, उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का भी विरोध किया।

नाथमुनि की शिष्य परम्परा में पुंडरीकाक्ष और राममिश्र नामक आचार्य बहुत प्रसिद्ध हुए, जिनके पश्चात् यमुनाचार्य (नाथमुनि के पौत्र) वैष्णवों के प्रधान आचार्य बने। उन्होंने सिद्धित्रय, आगम-प्रामाण्य, गीतार्थ संग्रह आदि अनेक ग्रन्थों की रचना कर उस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो दर्शन साहित्य में 'विशिष्टाद्वैत' नाम से प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त के मूल प्रवर्त्तक यमुनाचार्य ही थे। उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया कि भक्ति योग के सम्मुख ज्ञान-योग और कर्म-योग की स्थिति कोई महत्व नहीं रखती।

यमुनाचार्य के पश्चात् रामानुज (जन्म वर्ष १०१६) हुए, जो विशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव ब्रह्म का एक विशिष्ट रूप है, जो ब्रह्म से भिन्न है। अपने विशिष्ट रूप में ब्रह्म से पृथक् होने के कारण जीवात्मा के लिए यह सम्भव है, कि वह भक्ति मार्ग का अनुसरण कर सके। अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करते हुए रामानुज ने वेदान्त सार, वेदांत संग्रह, वेदांत-दीप, आदि अनेक ग्रंथ लिखे और ब्रह्म-सूत्रों तथा भगवद्गीता के भाष्य भी किये। रामानुज की शिष्य परम्परा में विष्णुचित्त, वरदाचार्य, वैङ्कट नाथ आदि अनेक आचार्य हुए, जिन्होंने अपने गुरु के मन्तव्यों को तर्कपूर्वक समर्थित किया।

श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सम्प्रदायों का वैष्णव धर्म में विकास हुआ। इनमें निम्बार्काचार्य और मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय उल्लेखनीय हैं। निम्बार्काचार्य का समय बारहवीं सदी में माना जाता है। वह तेलगू ब्राह्मण थे, पर उनका जीवन प्रधानतया वृन्दावन में व्यतीत हुआ था। उन्होंने भक्ति मार्ग पर बहुत जोर दिया और यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य को उसी ढंग से भगवान् की भक्ति करनी चाहिए, जैसे कि राधा और अन्य गोपियां कृष्ण के प्रति भक्ति व प्रेम रखती थीं। उनके मत में जीव और जगत् ब्रह्म से भिन्न भी हैं, और अभिन्न भी। वे अभिन्न इस कारण हैं, क्योंकि वे अपनी सत्ता के लिए पूर्णतया ब्रह्म पर निर्भर होते हैं।

तेरहवीं सदी में मध्वाचार्य हुए, जो दक्षिण कनारा जिले में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने जीव को ब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हुए 'द्वैतवाद' के सिद्धान्त का प्रतिपादन

किया। वह जीव और जगत् को ब्रह्म से पृथक् मानते थे और यह प्रतिपादित करते थे कि ब्रह्म सृष्टि का निमित कारण है, उपादान कारण नहीं। मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में ३७ ग्रन्थ लिखे, जिनमें ब्रह्म सूत्र और उपनिषदों पर किये गये उनके भाष्य सर्वप्रधान हैं। अपने मत का प्रचार करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण भी किया।

नाथमुनि, यमुनाचार्य, निम्बार्क और मध्वाचार्य के प्रयत्न से वैष्णवों को वह दार्शनिक आधार प्राप्त हो गया, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी। जब जीव ब्रह्म से विशिष्ट या भिन्न है, तो उसके लिये भक्ति ही मोक्ष साधन का सर्वोत्तम मार्ग है। भारत में सर्वत्र इस मत का प्रचार हुआ और बहुत-से लोग वैष्णव मन्दिरों में भगवान् की मूर्ति की पूजा और भक्ति के लिये प्रवृत्त हुए।

शैव धर्म—लकुलीश द्वारा किस प्रकार शैव धर्म का प्रारम्भ किया गया था, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। तीसरी सदी ई० पू० में यह धर्म भी उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हो चुका था, और दूसरी व पहली सदी ई० पू० में अनेक विदेशी आक्रान्ता भी इस धर्म के प्रभाव में आने शुरू हो गये थे। छटी सदी तक शैव धर्म का भारत में पर्याप्त प्रचार हो चुका था, और कालिदास, भवभूति, सुबन्धु और बाणभट्ट जैसे कवि व साहित्यिक शिव के उपासकों में गिने जा सकते थे। भारत से बाहर कम्बुज आदि देशों में भी इस धर्म का बहुत प्रचार हुआ, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के बृहत्तर भारत के अनेक प्रदेशों में लोग इसके अनुयायी हुए।

मध्ययुग में शैव धर्म ही उत्तरी भारत का प्रधान धर्म था। राजपूत वंशों के रूप में जो नई राजशक्तियाँ उत्तरी भारत में प्रगट हुई थीं, उनके प्रायः सभी राजा शैव धर्म के अनुयायी थे। गुर्जरप्रतीहार, राष्ट्रकूट, चन्देल, परमार आदि राजवंशों के राजा प्रायः इसी धर्म को मानने वाले थे। इस कारण इस युग में बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण हुआ। दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण के भी बहुत-से राजा शैव थे। पूर्वी चालुक्य, पूर्वी गंग, काकतीय, चोल, कलचूरि आदि राजवंशों के बहुसंख्यक राजा भी इसी धर्म को मानने वाले थे। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि मध्ययुग में शैव धर्म का भारत में बहुत अधिक प्रचार था, और इसे ही हम इस युग का प्रधान धर्म समझ सकते हैं। पर सम्पूर्ण भारत में शैव धर्म का स्वरूप एक सदृश नहीं था। जिस प्रकार वैष्णव धर्म में विशिष्टाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय थे, वैसे ही शैव धर्म में भी थे। शैव धर्म का एक रूप काश्मीर में था, जो त्रिक, स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक वसुगुप्त को माना जाता है, जिसके द्वारा 'शिव सूत्र' प्रकाश में आये थे। यह शिव सूत्र ही काश्मीर के शैव सम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रंथ था। इस सम्प्रदाय के अनुसार संसार की परम सत्ता शिव है, जो सृष्टि का न केवल निमित्त कारण है, अपितु उपादान कारण भी है। इस दृष्टि से शैव मत वेदान्त के अद्वैतवाद से मिलता जुलता है, यद्यपि शैव दार्शनिक संसार को मिथ्या व माया न मान कर यथार्थ रूप से स्वीकार करते हैं। मध्य युग में काश्मीर के निवासी प्रधानतया शैव धर्म के ही अनुयायी थे, यद्यपि वहां बौद्ध धर्म की भी सत्ता थी।

भारत में शैव धर्म के प्रचार में शंकराचार्य ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनका जन्म ७८८ ईस्वी में केरल देश में हुआ था। वेदान्त के अद्वैतवाद के प्रवर्तक के रूप में उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर शंकराचार्य केवल दार्शनिक ही नहीं थे, अपितु शैव धर्म के एक प्रमुख आचार्य भी थे। उन्होंने शिव की स्तुति में अनेक स्तोत्रों की भी रचना की थी। अपने धर्म का प्रचार करते हुए उन्होंने भारत में दूर-दूर तक यात्राएँ कीं और अन्य सम्प्रदायों के आचार्यों व पण्डितों को शास्त्रार्थ में परास्त कर शैव धर्म व वेदान्त की उत्कृष्टता प्रतिपादित की। शंकर की इस दिग्विजय का 'शंकर दिग्विजय' नामक महाकाव्य में विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। शंकराचार्य बहुत कम समय तक जीवित रहे। युवावस्था में ही उनकी मृत्यु हो गई। पर स्वल्पायु में ही उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त और शैव धर्म के लिए जो कार्य कर दिखाया, वह वस्तुतः अद्भुत है। उनके प्रचार का ही यह परिणाम हुआ, कि बौद्धधर्म के बहुत से विद्वान् पण्डित उनसे शास्त्रार्थ में परास्त होकर सत्य सनातन वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये, और सर्वसाधारण जनता पर बौद्धों के पाण्डित्य का जो सिक्का जमा हुआ था उसका अन्त हो गया। शंकराचार्य ने भारत के चारों कोनों पर चार मठों की स्थापना की, जिनमें अब तक भी उनकी शिष्य परम्परा विद्यमान है। यद्यपि शंकराचार्य शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनके शिष्य उन्हें भगवान शिव का अवतार मानते थे, पर उन्होंने जिस विचार सरणी का प्रतिपादन किया, समन्वय उसका मूल तत्त्व था। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानते हुए भी वह व्यवहार में उसकी सत्ता को स्वीकार करते थे, और यह भी प्रतिपादित करते थे कि सब के लिए मोक्ष-प्राप्ति का एक ही मार्ग सम्भव नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण कर सकता है। इसी को स्मार्त भावना कहा जाता है, और इसी के कारण शंकराचार्य विविध हिन्दू सम्प्रदायों में एक प्रकार का सामञ्जस्य स्थापित कर सकने में समर्थ हुए थे। सब कोई उन्हें जगद्गुरु मानते थे, और उन द्वारा स्थापित चारों मठों के मठाधीश अब तक भी 'जगद्गुरु शंकराचार्य' कहाते हैं।

मध्ययुग में बहुत-से शिव-मन्दिरों का निर्माण हुआ। इनमें भगवान् शिव की मूर्त्ति स्थापित की जाती थी। ये मूर्त्तियां अनेक प्रकार की हैं। शिव के अनेक रूप हैं। वह जगत् का पालन करने वाला है, और अपने भक्तों पर अनुग्रह भी करता है। यह शिव का सौम्य रूप है। शिव सृष्टि का संहार भी करता है। यह उसका उग्र या रौद्र रूप है। वह अनेकविध शिल्पों व विद्याओं का प्रवक्ता भी है। वह उमा या पार्वती का पति भी है। कृष्ण के समान शिव के सम्बन्ध में भी अनेक कथाएँ पुराणों में विद्यमान हैं। इन सब को लेकर भगवान् शिव की अनेक मूर्तिवाँ बनायी गई, और उन्हें शिव-मन्दिरों में प्रतिष्ठापित किया गया। इन मूर्त्तियों का विशद वर्णन कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है। पर शिव की सौम्य, उग्र, नटराज आदि रूपों में बहुत प्रकार की मूर्तियां मध्ययुग में बनायी गई, और उनके जीवन की विविध कथाओं को लेकर उन्हें शिलाखण्डों पर उत्कीर्ण किया गया। बाद में जब तन्त्रवाद का शैव धर्म में प्रवेश हुआ, तब शिवलिंग भी मन्दिरों में स्थापित किये गये। वर्तमान

समय में भारत में जो शैव मन्दिर हैं, उनमें प्रायः शिवलिंग की ही पूजा की जाती है। यह लिंग सृष्टि के उस तत्त्व को सूचित करता है, जिससे सम्पूर्ण चर जगत् का प्रादुर्भाव होता है।

शैव धर्म में भी अनेक सम्प्रदाय विकसित हुए। इनमें लिंगायत (वीर शैव), शैव-सिद्धान्त और शिवाद्वैत प्रधान हैं। वीर शैव सम्प्रदाय के प्रवर्तक पाँच आचार्य थे, जिनके नाम रेणुक, दारुक, घण्टाकर्ण, धनुकर्ण और विश्वकर्ण थे। ये ही पञ्चाचार्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने केदार (हिमालय में), उज्जयिनी, श्रीशैलम्, रम्भापुरी और वाराणसी में पाँच मठों की स्थापना की, जिन द्वारा लिंगायत सिद्धान्त का भारत में सर्वत्र प्रचार हुआ। इस सम्प्रदाय के इतिहास में वासव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वासव कलचूरि वंश के प्रतापी राजा विज्जल (११५६—११६८) का प्रधानमन्त्री था। दक्षिणापथ में वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय के प्रचार के लिये उसने बहुत काम किया। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जहाँ शिवलिंग की पूजा करते हैं, वहाँ शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करते हैं। इनके अनुसार शिव का स्वरूप सत् चित् और आनन्द है, शक्ति शिव से अभिन्न है, और जीव शिव का ही एक अंश है।

शैव-सिद्धान्त सम्प्रदाय का प्रचार प्रधानतया सुदूर दक्षिण के तामिल प्रदेशों में हुआ। इसके प्रवर्तकों में माणिक्कवाचकर, अप्पर, सम्बन्धर और सुन्दरर सर्वप्रधान हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जगत् और जीव की पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं, और शिव को चराचर जगत् का स्वामी मानते हैं। शिवाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्रीकण्ठ थे, जो रामानुजाचार्य के समकालीन थे। उनके सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म जगत् का न केवल निमित्त कारण है, अपितु उपादान कारण भी है। शिव की शक्ति ही जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है। ब्रह्म और शिव एक ही सर्वोपरि सत्ता के सूचक हैं।

जिस प्रकार बौद्धों में वज्रयान सम्प्रदाय प्रकट हुआ, वैसे ही शैवों में पाशुपत और कापालिक सम्प्रदाय विकसित हुए। वज्रयान के समान शैव धर्म के ये दोनों सम्प्रदाय भी सिद्धियों में विश्वास रखते थे, और सिद्ध होने के लिये अनेक गुह्य व रहस्यमय अनुष्ठानों का प्रतिपादन करते थे। सातवीं सदी में जब ह्यु् एन-त्सांग भारत यात्रा के लिये आया, तो बिलोचिस्तान के प्रदेश में पाशुपत सम्प्रदाय की सत्ता थी। काशी में माहेश्वर शिव की एक ताम्रमूर्त्ति प्रतिष्ठापित थी, जो ऊँचाई में सौ फीट के लगभग थी। उस समय काशी पाशुपत-धर्म का मुख्य केन्द्र था और वहाँ बहुत-से मन्दिरों में पशुपति शिव की पूजा होती थी। वज्रयानी बौद्धों के समान पाशुपत लोग भी यह मानते थे कि साधक को जान बूझ कर वे सब कार्य करने चाहियें, जिन्हें लोग निन्दनीय समझते हैं, ताकि साधक कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से ऊँचा उठ सके।

कापालिक लोग सिद्धि प्राप्त करने के लिए और भी अधिक उग्र व अद्भुत उपायों का अवलम्बन करते थे। नरमुण्ड के बने कपाल पात्र में भोजन करना, शव की भस्म को शरीर पर रमाना, निरन्तर मदिरा का पान करना और उसी में प्रतिष्ठित महेश्वर की पूजा करना वे गुह्य सिद्धियों की प्राप्ति का साधन मानते थे। भैरव और उसकी पत्नी चण्डिका इस सम्प्रदाय के प्रमुख उपास्य देव थे। मध्य युग में इस सम्प्रदाय का बहुत प्रचार हुआ, पर इसने कभी शैव धर्म के प्रमुख सम्प्रदाय की स्थिति प्राप्त नहीं

की। आदि-शंकराचार्य ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी थी, और शैव व वैष्णव धर्मों के अन्य आचार्यों के प्रयत्न से यह सम्पदाय पौराणिक हिन्दू धर्म में वह महत्त्व नहीं प्राप्त कर सका, जो कि बौद्धों में वज्रयान ने प्राप्त कर लिया था। यही कारण है, कि जनता में प्रचलित शैव सम्प्रदायों के रूप बहुत उत्कृष्ट प्रकार के थे। काश्मीर का शैव सम्प्रदाय तन्त्र-मन्त्र और गुह्य सिद्धियों को महत्त्व न देकर जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि पर बल देता था। उत्तर भारत के विविध राज्यों, दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में प्रचलित शैव धर्म का रूप भी ऐसा ही उदात्त था।

शाक्त सम्प्रदाय—वैष्णव और शैव धर्मों के समान शाक्त सम्प्रदाय का भी मध्य युग में प्रसार हुआ। सृष्टि की सब से अद्भुत और रहस्यममी शक्ति वह है, जो उत्पादन या प्रजनन करती है। इसी आदि-शक्ति की उपासना के लिए शाक्तों ने अनेक प्रकार की गुह्य साधनाओं का प्रतिपादन किया, जिनमें बलि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शाक्त सम्प्रदाय बौद्धों के वज्रयान के समान ही तन्त्र-मन्त्र और गुह्य क्रियाओं में विश्वास रखता है, और शब्द जाल के आडम्बर से ऐसी क्रियाओं को भी प्रोत्साहित करता है, जिन्हें नैतिकता के प्रतिकूल समझा जा सकता है।

पर शाक्त सम्प्रदाय के सभी अनुयायी उन गुह्य क्रियाओं में विश्वास नहीं करते, जिनमें तन्त्र-मन्त्र व नैतिकता के विपरीत अनुष्ठानों का अनुसरण किया जाता है। शिव की शक्ति के रूप में जिस उमा या पार्वती की सत्ता पर शैव लोग विश्वास करते थे, धीरे-धीरे उसका महत्त्व बढ़ता गया और लोग यह मानने लगे कि संसार की सृष्टि, स्थिति और प्रलय का मूल कारण यह शक्ति ही है। इसीलिए शक्ति की एक पृथक् देवी के रूप में पूजा प्रारम्भ हुई। धर्माचार्यों ने अनेक रूपों में इस शक्तिरूप देवी की कल्पना की। क्योंकि विवाह से पूर्व उमा कुमारी थी, अतः कन्या या कुमारी के रूप में उसकी पूजा की जाने लगी। जहाँ शिव का एक कल्याणकारी रूप है, वहाँ सृष्टि का संहार भी वही करता है। शिव के इस भैरव रूप की शक्ति भवानी कहाई, और महिसासुरमर्दिनी, सिंहवाहिनी, दुर्गा, चामुण्डा, काली, कराली आदि रूपों में उसकी कल्पना की गई। इस प्रकार शक्ति की देवी-रूप से कल्पना कर उसके माहात्म्य में देवी पुराण, दुर्गा सप्तशती आदि अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया गया और देवी के विभिन्न रूपों की पूजा के लिये विविध पूजाविधियों का विकास हुआ। जो देवी दुर्गा के रूप में महिषासुर जैसे असुरों का संहार करती है, सिंह जिसका वाहन है, जिसके हाथों में खड्ग सदृश अनेक अस्त्र रहते हैं, उसकी पूजा के लिये यदि पशुबलि का भी प्रारम्भ हो, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। मध्य युग में शाक्त सम्प्रदाय बहुत विकसित दशा में था, और देश के विभिन्न स्थानों पर देवी के बहुत-से मन्दिर स्थापित किये गये थे, जिनमें विविध ढंग से उसकी पूजा की जाती थी। शाक्त लोग विश्व की मूल या 'आद्या' शक्ति की उपासना करते हैं, और यह मानते हैं कि दुर्गा, चामुण्डा, त्रिपुरसुन्दरी आदि सब देवियाँ इसी 'आद्या' शक्ति के विभिन्न रूप हैं। शक्ति की यह पूजा विविध रूपों में अन्य सम्प्रदायों में भी पायी जाती है। वैष्णव लोग लक्ष्मी, सीता, राधा आदि के रूप में और बौद्ध लोग तारा आदि के रूप में जिन देवियों की

पूजा करते हैं, वे भी शक्ति के ही विविध रूप हैं। पर शाक्त सम्प्रदाय में शक्ति की पूजा का ही प्रमुख स्थान है।

(११) मध्ययुग की कला

गुप्त वंश के शासन काल तक के वास्तु-कला सम्बन्धी जो अवशेष इस समय उपलब्ध हैं, उनका परिचय इस इतिहास में यथास्थान दिया जा चुका है। अब हम मध्यकाल की कला पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालेंगे। कला की दृष्टि से मध्ययुग का बहुत महत्त्व है। इस युग की वास्तुकला प्रधानतया बड़े-बड़े मन्दिरों के निर्माण के रूप में प्रकट हुई थी। इसके दो कारण थे—पौराणिक धर्म ने जो नया रूप इस काल में धारण कर लिया था, उसमें मन्दिरों और उनमें स्थापित की जाने वाली मूर्तियों का बहुत महत्त्व था। भागवत, शैव, शाक्त व अन्य सम्प्रदायों के अनुयायी राजा तथा अन्य समृद्ध लोग अपना यह कर्तव्य समझते थे कि विशाल मन्दिरों का निर्माण कर पुण्य सञ्चय करें। साथ ही, सदियों से भारत में जो अपूर्व समृद्धि चली आती थी, उसके कारण इस देश में अपार सम्पत्ति सञ्चित हो गई थी। इस सम्पत्ति का उपयोग अब वास्तुकला के लिये किया गया।

मध्ययुग की वास्तुकला को दो भागों में बाँटा जा सकता है—आर्य और द्रविड़। उत्तरी भारत में इस युग के जो मन्दिर पाये जाते हैं, वे आर्यकला के अनुसार निर्मित हैं। इन मन्दिरों में मूर्ति की स्थापना के लिए आलय बनाये गए हैं, जिनके सम्मुख खुला स्थान छोड़ा जाता है जो ऊपर की ओर से छता रहता है। इस स्थान से दर्शनार्थी देवमूर्ति का दर्शन कर सकते हैं। मन्दिर के चारों ओर प्रदक्षिणा के लिए स्थान रहता है, जिसे प्रदक्षिणा पथ कह सकते हैं। इन मन्दिरों के आलय या गर्भ-गृह की छत ठोस, वक्ररेखात्मक और शिखररूप होती है, जो नीचे की ओर चौड़ी और ऊपर की ओर छोटी होती जाती है। सबसे ऊपर गोल आमलक रहता है, जिस पर कलश और ध्वजदण्ड स्थापित किये जाते हैं। द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गर्भ-गृह का ऊपरी भाग चौकोर तथा अनेक मञ्जिलों वाला होता है। उपरली मंजिलें अपने से नीचे की मंजिल की तुलना में छोटी होती जाती हैं। इससे इन मन्दिरों की छत की आकृति पिरामिड के सदृश बन जाती है। इस प्रकार आर्य और द्रविड़ वास्तु-कला में मुख्य अन्तर मन्दिर के शिखर की रचना में है। साथ ही, द्रविड़ शैली के मन्दिरों में गर्भ-गृह के सम्मुख अनेक स्तम्भों वाला मण्डप भी बनाया जाता है और मन्दिर के प्रांगण में प्रवेश के लिए ऐसे विशाल द्वारों की रचना की जाती है, जिनके ऊपर विविध देवी-देवताओं की मूर्तियों से अलङ्कृत ऊँचे गोपुर रहते हैं। दक्षिणी भारत के मन्दिर प्रायः द्रविड़ शैली के हैं।

उत्तरी भारत के मन्दिर—मध्य युग के उत्तरी भारत के बहुत-से मन्दिरों को तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं ने नष्ट कर दिया था। तुर्क और अफगान इस्लाम के अनुयायी थे, और मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। अतः उन्हें मन्दिरों से स्वाभाविक विद्वेष था। फिर भी उत्तरी भारत में मध्य युग के अनेक मन्दिर अब तक सुरक्षित रूप में विद्यमान हैं। ये मन्दिर प्रधानतया उड़ीसा, बुन्देलखण्ड, राजस्थान, ग्वालियर और मथुरा में हैं।

उड़ीसा में भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर, कोणार्क का सूर्य मन्दिर और जगन्नाथपुरी का जगन्नाथ मन्दिर सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें भी कोणार्क का मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। उसे रथ के आकार का बनाया गया है, जिसे शक्तिशाली घोड़े खींच रहे हैं। रथाकार मन्दिर के पहिये बहुत विशाल हैं, जिन्हें अलंकरणों की प्रचुरता ने अत्यन्त मनोहर व कलात्मक बना दिया है। इस मंदिर का निर्माण राजा नरसिंह (१२३८ ई०) द्वारा किया गया था, जो उड़ीसा का प्रतापी राजा था, और जिसने दिल्ली के बढ़ते हुए अफगान साम्राज्य का सफलतापूर्वक सामना किया था। मन्दिरों की दृष्टि से उड़ीसा का भुवनेश्वर अत्यधिक महत्त्व रखता है, जहाँ ऊँचे शिखर वाले तीस मन्दिर हैं। इनमें लिंगराज का मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका शिखर ऊँचाई में १६० फीट है। इसे ग्यारहवीं सदी में बना हुआ माना जाता है। भुवनेश्वर के सभी मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से अनुपम हैं; उनके मण्डप, शिखर, गोपुर आदि सभी अपनी विशेषताएं रखते हैं। उनका सौन्दर्य और कलात्मकता वर्णनातीत है। पुरी के प्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर का निर्माण गंगवंश के प्रतापी राजा अनन्त वर्मन् (१०७८ ई०) द्वारा किया गया था। केवल धार्मिक दृष्टि से ही इस मन्दिर का महत्त्व नहीं है, अपितु वास्तुकला की दृष्टि से भी यह अपना विशेष स्थान रखता है। इसका शिखर २०० फीट ऊँचा है। उड़ीसा के ये मन्दिर अलंकरणों और मूर्तियों की बहुलता के कारण अनुपम आकर्षण रखते हैं। मन्दिर का कोई भी कोना अलंकरणों से शून्य नहीं छोड़ा गया है। अनेक मूर्तियाँ ऐसी हैं, जिन पर शाक्त सम्प्रदाय का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। इसी लिये उन्हें अश्लील भी समझा जा सकता है।

बुन्देलखण्ड के मन्दिरों में खजुराहो के मन्दिर सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। यह स्थान झाँसी से १०० मील के लगभग दक्षिण-पूर्व में पुरानी छतरपुर रियासत में है। खजुराहो के मन्दिर संख्या में तीस हैं, जिनमें कुछ मन्दिर शैव सम्प्रदाय के हैं, कुछ वैष्णवों के और कुछ जैनों के हैं। इनका निर्माण ९५० ईस्वी से १०५० ईस्वी तक के मध्यवर्ती काल में हुआ था, जब कि इस क्षेत्र में जेजाकमुक्ति के चंदेलवंशी राजाओं का शासन था। यहाँ के सबसे सुदन्र और विशाल मन्दिरों का निर्माण राजा धंग (९५०–९९९ ई०) द्वारा कराया गया था। इनमें सबसे सुन्दर और विशाल कन्दर्यनाथ महादेव का मन्दिर है, जो ११६ फीट ऊँचा है। इसमें अनेक शिखर-समूह हैं जो ऊपर की ओर निरन्तर अधिक-अधिक छोटे होते जाते हैं। इसके प्रदक्षिणा-पथ में बहुत से स्तम्भ अत्यन्त सुन्दर नीति से निर्मित हैं, और मन्दिर का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जो अत्यन्त मनोहर अलंकरणों से सुसज्जित न हो। इस युग के धर्म में वाम-मार्ग और तान्त्रिक तत्त्वों की प्रधानता के कारण इस मन्दिर में बहुत-सी ऐसी मूर्तियाँ भी हैं, जिनमें काम कला को मूर्त रूप प्रदान किया गया है। मध्य युग से पूर्व भारत की मूर्तिकला में अश्लीलता का अभाव था। शृंगार का प्रदर्शन तब भी मूर्तियों द्वारा किया जाता था, पर अश्लील ढंग से नहीं। खजुराहो, भुवनेश्वर, पुरी आदि में विद्यमान इस युग के मन्दिरों में अश्लील मूर्तियों की प्रचुरता है, जो अपने समय की साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों की द्योतक हैं। खजुराहो में शैव, वैष्णव और जैन मन्दिरों का एक साथ होना मध्य युग की धार्मिक सहिष्णुता का भी स्पष्ट प्रमाण है।

राजस्थान में भी मध्य युग के अनेक मन्दिर सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। इनमें सर्वोत्कृष्ट आबू पर्वत पर देलवाड़ा में स्थित दो जैन मन्दिर हैं, जिनमें से एक का निर्माण ग्यारहवीं सदी में विमलशाह नामक वैश्य ने कराया था। दूसरा मन्दिर तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध में बना था, और उसका निर्माण कराने वाले व्यक्ति का नाम तेजपाल था। दोनों मन्दिर संगमरमर के हैं, और उनमें अलंकरणों का बाहुल्य है। संगमरमर की बनी विलक्षण जालियाँ, प्रतिमाएँ, बेलबूटे और नक्काशियाँ दर्शक को आश्चर्य में डाल देती हैं। जिस कला ने मुगल काल में आगरा के ताजमहल का निर्माण किया था, उसका अत्यन्त उन्नत और परिष्कृत रूप इन मन्दिरों में दृष्टि-गोचर होता है। एक कलाविज्ञ के अनुसार इन मन्दिरों में संगमरमर को इस बारीकी के साथ तराशा गया है, मानो किसी सुनार ने रेती से रेत-रेत कर आभूषण बनाये हों या बुनी हुई जालियाँ और झालरें पथरा गई हों। वस्तुतः, देलवाड़ा के ये मन्दिर कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

राजस्थान में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर इस युग के मन्दिर विद्यमान हैं। झालावाड़ में अनेक ऐसे मन्दिर हैं, जो छोटे होते हुए भी अत्यन्त कलात्मक हैं। इनमें शिव मन्दिर सबसे अधिक महत्त्व का है। यह सम्भवतः दसवीं सदी में बना था। झालावाड़ के ये मन्दिर भग्न दशा में हैं। कुछ में तो अब केवल स्तम्भ, गर्भगृह और मण्डप ही शेष रह गये हैं। पर इनके पार्श्वों पर पुष्पों, पशुओं और मनुष्यों की आकृतियों की शृंखलाएँ बड़े कलात्मक रूप से उत्कीर्ण की गई हैं, जिन्हें देखकर अजन्ता के गुहामन्दिरों में उत्कीर्ण मूर्तियों का स्मरण हो आता है। कोटा नगरी के उत्तर की ओर ३० मील के लगभग दूर चम्बल नदी के तट पर भी इस युग के अनेक मन्दिर विद्यमान हैं, जिनके गोपुर, मंडप और शिखर कला की दृष्टि से अनुपम हैं। इनके स्तम्भों पर भी विविध प्रकार की प्रतिमाएँ और लता-पुष्पों की मञ्जरियाँ उत्कीर्ण हैं। कोटा के क्षेत्र में ही रामगढ़ के समीप पहाड़ियों के मध्य में एक शिव मन्दिर है, जो सम्भवतः नवीं सदी में निर्मित हुआ था। इसके स्तम्भ भी विविध प्रतिमाओं तथा अलंकरणों से विभूषित हैं। कोटा से लगभग ६० मील दूर विलास नाम की एक उजड़ी हुई नगरी है, जहाँ कितने ही हिन्दू और जैन मदिन्रों के अवशेष विद्यमान हैं। राजस्थान में अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर मध्ययुग के बहुत-से मन्दिर भग्न दशा में पाये जाते हैं, जो जीर्ण-शीर्ण दशा में भी अपने विलुप्त गौरव का स्मरण दिलाते हैं। जिस उच्च कला के अनुसार इनका निर्माण किया गया था, वह वस्तुतः अत्यन्त उत्कृष्ट थी।

ग्वालियर के किले में तीन भव्य मन्दिर हैं, जिनका निर्माण-काल ग्यारहवीं सदी में माना जाता है। इनमें दो सास बहू के मन्दिर कहाते हैं, और एक तेली का मन्दिर। मध्यप्रदेश का विशाल प्रदेश भी मध्ययुग के मन्दिरों और उनके भग्नावशेषों से परिपूर्ण है। इन सबका यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। जबलपुर के समीप भेड़ाघाट में चौंसठ योगिनियों का विशाल मन्दिर है, जिसका व्यास ११६ फीट है। रीवा के समीप वैजनाथ नामक गांव में वैद्यनाथ महादेव का एक मन्दिर है, जो वास्तुकला की दृष्टि से भुवनेश्वर के मन्दिरों से मिलता जुलता है।

मथुरा में इस समय जो बहुत-से मन्दिर हैं, वे प्रायः मध्ययुग के पश्चात् बने थे। पर मध्ययुग में भी इस पवित्र नगरी में बहुत-से विशाल व कलात्मक मन्दिरों की सत्ता थी, जो तुर्क आक्रान्ताओं के कोप के कारण नष्ट हो गये। महमूद गजनवी के समकालीन लेखक अल उतबी ने मथुरा के इन मन्दिरों के विषय में लिखा है कि नगर के मध्य में एक अत्यन्त उत्कृष्ट विशाल मन्दिर है, जिसकी न नक्काशी का शब्दों द्वारा वर्णन किया जा सकता है और न सुन्दरता का। यदि कोई इस जैसा मन्दिर बनाना चाहे, तो उसे दस करोड़ सुवर्ण दीनारें खर्च करनी होंगी और वह इसे दो सदी से कम समय में नहीं बना सकता। यहाँ जो मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित हैं, उनमें से पाँच खालिस सोने की बनी हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक ऊंचाई में पाँच गज है। इन मूर्तियों की आँखों में ऐसी मणियाँ लगी हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक की कीमत पचास हजार दीनार है। इस मन्दिर में चांदी की बनी हुई भी बहुत-सी मूर्तियाँ थीं, जिनकी संख्या अलउतबी ने दो सौ लिखी है। महमूद गजनवी के आदेश से इस मन्दिर को भूमिसात् कर दिया गया, और उसके सोने, चांदी, मणि-माणिक्य आदि को गजनी भेज दिया गया। पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार और बंगाल में मध्ययुग का जो एक भी मन्दिर इस समय सुरक्षित दशा में विद्यमान नहीं है, उसका एकमात्र कारण तुर्क आक्रान्ताओं द्वारा उनका विनाश ही है। गंगा यमुना के क्षेत्र में हरिद्वार, मथुरा, प्रयाग, वाराणसी आदि कितने ही तीर्थ स्थान हैं, जो मन्दिरों से परिपूर्ण हैं। पर इनके वर्तमान मन्दिर मध्ययुग के न होकर अर्वाचीन युग के हैं। निस्सन्देह, मध्ययुग में इन सब स्थानों पर बहुत-से विशाल व कलात्मक मन्दिरों की सत्ता थी, जो तुर्क, अफगान और मुगल सम्राटों द्वारा ध्वंस कर दिये गये थे। पर काश्मीर, कांगड़ा, कुमायूँ आदि पार्वत्य प्रदेशों और बंगाल के कतिपय स्थानों पर ऐसे मन्दिर अब भी विद्यमान हैं, जिनका निर्माण मध्ययुग में हुआ था।

काश्मीर के मन्दिर उत्तरी भारत के अन्य मन्दिरों से भिन्न प्रकार के हैं। इनमें न शिखरों की सत्ता है, और न गोपुरों की। इनमें गर्भगृह के ऊपर एक चपटी छत होती है, और इनके स्तम्भों को भी मूर्तियों, प्रतिमाओं व लता-पुष्प मञ्जरियों द्वारा अलंकृत नहीं किया गया। काश्मीर के मन्दिरों में रुद्रेश का मन्दिर सब से प्राचीन है, जो श्रीनगर से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है। इसका निर्माण सम्भवतः आठवीं सदी में हुआ था। काश्मीर के राजा ललितादित्य (७२५ ई०) और अवन्ति-वर्मा (८८५–८८३ ई०) अत्यन्त प्रतापी थे। उन्होंने अपने राज्य को अनेक विशाल व कलात्मक मन्दिरों से विभूषित किया। ललितादित्य द्वारा निर्मित मन्दिरों में मार्तण्ड का मन्दिर अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह श्रीनगर से पहलगाँव जाने वाले मार्ग पर मटन नामक स्थान पर स्थित है। यद्यपि अब यह मन्दिर भग्न दशा में है, पर इसके खण्डहर इसके प्राचीन वैभव व गौरव का आभास देने के लिए पर्याप्त हैं। श्रीनगर के समीप तख्त-सुलेमान नामक पहाड़ी पर शंकराचार्य का मन्दिर अब तक भी विद्यमान है, जिसका निर्माण सम्भवतः मध्ययुग में ही हुआ था। राजा अवन्ति वर्मा के शासनकाल में अवन्तेश्वर के शैव मन्दिर का और अनन्तस्वामी के वैष्णव मन्दिर का निर्माण किया गया था। ये दोनों मन्दिर भी इस समय जीर्ण-शीर्ण दशा में हैं।

काश्मीर के समान हिमाचल प्रदेश, गढ़वाल और कुमायूं में भी मध्य युग के बहुत-से मन्दिरों के भग्नावशेष पाये जाते हैं, यद्यपि कुछ मन्दिर अच्छी दशा में भी हैं। हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जिले में मसरूर नामक स्थान पर अनेक मन्दिर विद्यमान हैं, जो आठवीं सदी के हैं। इसी प्रकार बैजनाथ (कांगड़ा) और चम्बा में नवीं सदी में निर्मित अनेक मन्दिरों की सत्ता है। कुल्लू के बजौरा नामक स्थान पर महादेव का एक मन्दिर है, जिसके अलंकरण अत्यन्त सुन्दर व कलात्मक हैं। यह मन्दिर दसवीं सदी में बना था। अलमोड़ा (कुमायूं) के क्षेत्र में भी सूर्य और अन्य पौराणिक देवी-देवताओं के बहुत-से मन्दिर जीर्ण-शीर्ण दशा में विद्यमान हैं, जो मध्य युग के हैं। उत्तराखण्ड में बदरीनाथ और केदारनाथ के प्रसिद्ध मन्दिरों का निर्माण भी सम्भवतः इसी युग में हुआ था। हिमालय के सुविस्तृत क्षेत्र में जो अनेक पार्वत्य राज्य मध्यकाल में विद्यमान थे, वे प्रायः तुर्क आक्रमणों से बचे रहे। इसी लिये इस प्रदेश के मन्दिरों का उस ढंग से विनाश नहीं हुआ, जैसा कि उत्तरी भारत के समतल प्रदेशों में स्थित मन्दिरों का हुआ था।

मध्य युग में बंगाल में भी अनेक भव्य व विशाल मन्दिरों का अवश्य ही निर्माण हुआ होगा। पर वे तुर्क व अफगान आक्रान्ताओं के कोप से नहीं बचे रह सके। पर बर्दवान और बांकुरा जिलों में कतिपय ऐसे मन्दिर अब भी विद्यमान हैं, जो मध्य युग के हैं। कला की दृष्टि से ये भुवनेश्वर (उड़ीसा) के मन्दिरों के सदृश हैं, यद्यपि भव्यता और अलंकरण में ये उन से हीन हैं।

दक्षिणापथ के मन्दिर—मध्ययुग के बहुत-से मन्दिर दक्षिणापथ में सुरक्षित दशा में विद्यमान हैं। इस क्षेत्र के मन्दिरों को दो भागों में बांटा जा सकता हैं, कृष्णा और तुंगभद्रा नदियों के मध्यवर्ती प्रदेश के मन्दिर और खानदेश व उसके समीपवर्ती प्रदेशों के मन्दिर। वास्तुकला की दृष्टि से कृष्णा-तुंगभद्रा प्रदेश के मन्दिर अधिक पुराने हैं। ये ऐहोल, पट्टदकल, महाकूटेश्वर और आलमपुर नामक स्थानों पर स्थित हैं। वास्तु कला की दृष्टि से न ये शुद्ध आर्य (नागर) शैली के हैं, और न द्रविड़ शैली के। इनमें दोनों शैलियों का सुन्दर रीति से सम्मिश्रण हुआ है। ऐहोल (जिला बीजापुर) और पट्टदकल (जिला बादामी) में कुल मिलाकर ७० मन्दिर हैं, जिनमें से अनेक पर्याप्त सुरक्षित दशा में हैं। इन तथा दक्षिणापथ के अन्य मन्दिरों का विशद रूप से वर्णन कर सकना इस ग्रंथ में सम्भव नहीं है। यहां इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि ये मन्दिर प्रधानतया शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के हैं, और इनका निर्माण-काल दसवीं और ग्यारहवीं सदियों में माना जाता है। अलंकरण और कला की दृष्टि से यद्यपि ये खजुराहो और भुवनेश्वर के मन्दिरों के समकक्ष नहीं हैं, पर आर्य और द्रविड़ शैलियों के सम्मिश्रण के कारण इनका अपना विशेष महत्त्व है।

अजन्ता के गुहा मन्दिरों का उल्लेख इस ग्रंथ में पहले किया जा चुका है। यद्यपि इनका निर्माण गुप्तकाल में प्रारम्भ हो चुका था, पर इनमें से बहुसंख्यक गुहाओं का निर्माण मध्य युग में ही हुआ था।

मध्य युग के गुहा मन्दिरों में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण एलोरा में स्थित हैं। यह स्थान आन्ध्र प्रदेश के औरंगाबाद नगर से सोलह मील की दूरी पर है। यहां एक

अच्छी लम्बी पहाड़ी को काट-काट कर मन्दिरों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। ये मन्दिर संख्या में तीस के लगभग हैं, और इनका सम्बन्ध हिन्दू, वौद्ध और जैन तीनों धर्मों के साथ है। ऐलोरा के गुहा-मन्दिरों में सब से विशाल और भव्य कैलाश मन्दिर है, जिसे प्रसिद्ध राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (७६०–७७५ ईस्वी) ने बनवाया था। यह मन्दिर ऊंचाई में १६० फीट है, और एक ही शिला को काट कर बनाया गया है। इसमें कहीं भी शिलाओं व पत्थरों को जोड़ा नहीं गया है, और चूने-मसाले व कील आदि का प्रयोग नहीं हुआ है। एक ही शिला को काट कर उसी से छत, द्वार, झरोखे खिड़कियाँ, स्तम्भ, तोरण, मण्डप, शिखर, गर्भगृह आदि सब को बना दिया गया है। मनुष्य के परिश्रम, धैर्य और कला का ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण अन्यत्र मिल सकना दुर्लभ है। यह बात और भी अधिक अद्भुत है, कि यह मन्दिर दुमंजिला है। बिना किसी जोड़ के केवल शिला को तराश कर दुमंजली इमारत बना लेना एक ऐसा विलक्षण शिल्प है, जिसे देख कर दर्शक मुग्ध रह जाता है। इस मन्दिर के चारों ओर की पहाड़ियों को काट कर अनेक विश्राम-गृह भी बनाये गये हैं। मन्दिर के स्तम्भों पर अनेक प्रतिमाएं उत्कीर्ण की गई हैं, द्वारों पर मनोहर लता-पुष्प मञ्जरियां बनायी गई हैं, और शिखर को विविध पौराणिक कथाओं को मूर्त रूप देने वाली प्रतिमाओं से विभूषित किया गया है। तोरण के दोनों ओर एक-एक हाथी बनाया गया है। सम्पूर्ण मन्दिर में कला की दृष्टि से कहीं कोई भी दोष या कमी नहीं है। उत्कीर्ण की हुई मूर्तियां सजीव हैं। इस मन्दिर के सम्बन्ध में एक विदेशी कलाविज्ञ की यह सम्मति उल्लेखनीय है—"कैलाश के मन्दिर से बढ़ कर संसार भर में कला का कोई भी नमूना नहीं है। एथन्स का पेन्थिओन, रोम का सैण्ट पीटर्स का चर्च, और लन्दन का सैण्ट पॉल का गिरजा बनाना विज्ञान और परिश्रम का कार्य है, पर हम यह जानते हैं कि इनका निर्माण कैसे प्रारम्भ हुआ, कैसे आगे बढ़ा और कैसे पूर्ण किया गया। चाहे कितने ही मनुष्यों ने काम किया हो, उन्होंने चाहे कितनी ही उमंग से अपना कार्य किया हो और चाहे कितने ही साधन उनके पास हों, पर जब हम यह विचार करते हैं कि एक ऊँची चट्टान को धीरे-धीरे तरास कर एक ऐसे मन्दिर का रूप प्रदान किया गया, जिसमें बरामदे हैं, सीढ़ियाँ हैं, अनगिनत प्रतिमाएँ हैं और संगतरासी का इतना अधिक कार्य है, तो हमारा सिर चकराने लगता है, और यह कार्य अविश्वसनीय प्रतीत होने लगता है।" कैलाश मन्दिर की उत्कीर्ण प्रतिमाओं द्वारा जो पौराणिक कथाएँ अंकित की गई हैं, उनमें शिव-पार्वती का विवाह, इन्द्र-इन्द्राणी की मूर्तियाँ और रावण द्वारा कैलाश का उत्तोलन उल्लेखनीय हैं। रावण का कैलाश-उत्तोलन बहुत ही ओजस्वी व भावपूर्ण कृति है। इस दृश्य में रावण कैलाश को उठा रहा है, भयत्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदण्ड का सहारा ले रही है, उसकी सखियाँ भाग रही हैं, शिव अचल खड़े हैं और अपने चरणों से कैलाश पर्वत को दबा कर रावण के परिश्रम को विफल कर रहे हैं।

शिलाओं को काट कर बनाये गये मन्दिर दक्षिणापथ में अन्यत्र भी विद्यमान हैं। बम्बई से छः मील दूर धारापुरी नामक द्वीप में दो पहाड़ियों के ऊपर के भाग को काट कर मन्दिर और मूर्तियाँ बनायी गयी हैं। ये ही आजकल एलिफेण्टा केव्स के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका निर्माण आठवीं सदी में हुआ था। ऐलिफेण्टा के गुहा-

मंदिरों में विद्यमान प्रतिमाओं में महेश्वर की त्रिमूर्ति, शिव ताण्डव और शिव-पार्वती विवाह की मूर्तियाँ अत्यन्त भव्य और कलात्मक हैं। महेश्वर की मूर्ति के मुख-मण्डल पर अपूर्व प्रशान्त गम्भीरता है, और शिवताण्डव नृत्य की मूर्ति में पार्वती के आत्म-समर्पण का भाव अत्यंत सुन्दर ढंग से प्रदर्शित किया गया है। ऐलिफैण्टा के गुहा-मन्दिरों के सदृश अन्य भी अनेक मन्दिर दक्षिणापथ में विद्यमान हैं, जो सब मध्य युग की ही कृतियाँ हैं।

विशाल चट्टानों को काट-काट कर मन्दिरों और मूर्तियों को बनाने की परम्परा इस युग में केवल भारत तक ही सीमित नहीं रही। सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के बृहत्तर भारत में भी इस युग में इसी शैली के विशाल मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ, जिनका उल्लेख हम इस इतिहास के एक पिछले अध्याय में कर चुके हैं। इसी काल में अंगकोर वाट और अंगकोर थाम के कलात्मक व विशाल मन्दिर बने, जो मध्ययुग की भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं।

दक्षिणी भारत के मन्दिर—दक्षिणी भारत के मध्ययुग के मन्दिर अधिक सुरक्षित दशा में हैं। वहाँ बुतशिकन (मूर्ति भंजक) मुसलिम आक्रान्ताओं का अधिक प्रकोप नहीं हुआ था। पल्लव वंश के राजाओं ने सुदूर दक्षिण में अनेक विशाल मन्दिरों का निर्माण कराया था। राजा महेन्द्र वर्मा (६००–६२५ ई०) और उसके पुत्र नरसिंह वर्मा (६२५–६५० ई०) ने काञ्ची नगरी के सामने समुद्र तट पर विशाल चट्टानों को तरसवा कर जो मन्दिर बनवाये थे, वे 'रथ' कहाते हैं। इन्हें संसार की अद्‌भुत वस्तुओं में गिना जा सकता है। इस प्रकार के रथ-मन्दिरों में सप्त रथ-समूह 'सात पगोडा' के नाम से विश्व-विख्यात हैं। इन सप्त-रथों के नाम धर्मराज रथ, भीम रथ आदि हैं। ये मन्दिर एक ही चट्टान को तरास कर बनाये गये हैं, और इनमें कहीं भी जोड़ नहीं है। इनमें जो मूर्तियाँ हैं, वे भी अत्यन्त विशाल हैं, और एक ही चट्टान को तरास कर बनायी गई हैं। रथ-मन्दिरों के समान ये मूर्तियाँ भी अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं। गंगा को पृथिवी पर अवतरित करने वाले भगीरथ की मूर्ति ९८ फीट लम्बी और ४३ फीट चौड़ी चट्टान को काट कर बनायी गई है। परिश्रम व साधना के कारण कंकाल मात्र अवशिष्ट भगीरथ गंगा को स्वर्ग से भूतल पर लाने के लिए तप कर रहे हैं, और संसार उनकी तपस्या से चमत्कृत है। यह दृश्य बहुत ही भावपूर्ण तथा सजीव है। काञ्ची नगरी के समीप समुद्र तट पर स्थित मामल्लपुरम् में विद्यमान ये रथमन्दिर और मूर्तियाँ पल्लव राजाओं की अमर कीर्ति हैं।

सातवीं सदी में पल्लव राजाओं ने मामल्लपुरम् में जिस वास्तुकला का प्रारम्भ किया था, दक्षिणी भारत के अन्य शिल्पियों ने उसका अनुकरण किया। आठवीं सदी में एल्लोरा के गुहामन्दिरों ने अत्यन्त उज्ज्वल व समुन्नत रूप प्राप्त किया, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण कैलाश का मन्दिर है।

पल्लव राजाओं के समय में ही दक्षिणी भारत में ऐसे मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिन्हें चट्टानों को तरास कर न बना कर चिनाई द्वारा बनवाया जाता था। ऐसे मन्दिरों में नरसिंह वर्मन् द्वितीय (६९५–७२२ ई०) द्वारा बनवाया हुआ वह मन्दिर सर्वप्रथम है, जो मामल्लपुरम् में ही समुद्र तट पर स्थित है। बाद में राजा

राजसिंह पल्लव ने अपनी राजधानी काञ्ची (काञ्जीवरम्) में कैलाशनाथ और वैकुण्ठ पेरुमल के सुन्दर कलात्मक मन्दिरों का निर्माण कराया, जो द्रविड़ वास्तुकला के प्रारम्भिक रूप के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

पल्लव वंश के राजाओं के बाद चोल राजाओं ने दसवीं सदी में वास्तुकला के विकास के लिये बहुत काम किया। उन्होंने जो मन्दिर बनवाये, वे सब द्रविड़ वास्तुकला के चरम विकास को सूचित करते हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ राज राज (९८५–१०१२ ई०) द्वारा बनवाया हुआ शिव मन्दिर है, जो तंजोर में अब भी विद्यमान हैं। इसका विमान या शिखर १४ मंजिल का है, और ऊँचाई में १९० फीट है। इसके ऊपर एक ही शिलाखण्ड का भीमकाय गुम्बद है। तंजोर का यह विशाल शिवमन्दिर नीचे से ऊपर तक मूर्तियों और अलंकरणों से विभूषित है। चोल राजाओं के ये मन्दिर न केवल विशाल हैं, अपितु साथ ही अत्यन्त भव्य व कलात्मक भी हैं। उन्हें अलंकृत करने के लिये जिस सूक्ष्म तक्षण का उपयोग किया गया है, वह वस्तुतः अनुपम है।

राजराज का उत्तराधिकारी राजेन्द्र चोल प्रथम (१०१२–१०४४) था, जिसने चोल साम्राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया था। उसने दिग्विजय करते हुए गंगा तक के प्रदेश को जीत कर अपने अधीन किया था। गंगैकोण्ड चोलपुरम् नाम से उसने एक नई राजधानी बनायी थी, जहाँ उसने अपने पिता का अनुकरण कर एक विशाल मन्दिर का भी निर्माण कराया था। दुर्भाग्यवश यह मन्दिर इस समय सुरक्षित दशा में नहीं है, पर भग्न व जीर्ण-शीर्ण रूप में भी यह अपने महान् निर्माता के वैभव को स्मरण कराने के लिए पर्याप्त है।

चोल साम्राज्य के ह्रास काल में भी अनेक मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें ऐरावतेश्वर और त्रिभुवनेश्वर के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। ये दोनों तंजोर जिले में हैं। चोल युग के परवर्ती भाग की कला की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता गोपुरम् को प्रधान रूप से निर्मित करना है। इन मन्दिरों के प्रवेश द्वार पर जो गोपुरम् बनाये गये हैं, वे ऊँचाई में मन्दिर के शिखर की अपेक्षा भी अधिक ऊँचे हैं। साथ ही, इस समय मन्दिर के साथ ऐसे विशाल मण्डपों का भी निर्माण शुरू किया गया, जिनमें बहुत-से स्तम्भ होते हैं। मध्ययुग की समाप्ति (१२०० ई०) के बाद दक्षिण में मदुरा, श्रीरंगम् और रामेश्वरम् आदि में जो विशाल मन्दिर निर्मित हुए, उनमें द्रविड़ वास्तुकला की विशेषताओं का पूर्ण विकास हुआ, और अति विशाल गोपुरम् और मण्डपों का निर्माण किया जाने लगा। मदुरा के एक मण्डप में ९८५ स्तम्भ हैं; जिन सब पर अत्यन्त भव्य नक्काशी की गई है। इस प्रकार के मन्दिरों के निर्माण का सूत्रपात मध्ययुग में ही हो गया था।

द्वारसमुद्र के होयसाल वंशी राजाओं ने भी वास्तुकला के विकास में अच्छा कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। माइसूर राज्य में इन राजाओं द्वारा बनवाये हुए अनेक मन्दिर विद्यमान हैं, जो वर्गाकार न होकर तारक की आकृति के हैं। इनकी कुर्सियाँ ५-६ फीट ऊँची हैं, और इनके शिखर पिरामिड के समान होते हुए भी ऊँचाई में बहुत अधिक नहीं हैं। होयसाल राजाओं के मन्दिरों में सबसे प्रसिद्ध होयलेश्वर का मन्दिर है, जो द्वारसमुद्र या हालेबिद में स्थित है। इस मन्दिर की कुर्सी या चबूतरा

६ फीट ऊँचा है, जिसे बड़े-बड़े शिलाफलकों द्वारा पाटा गया है। इन पर नीचे से ऊपर तक ग्यारह अलंकरण पट्टिकाएँ हैं, जो लम्बाई में ७०० फीट हैं और सारे मन्दिर को घेरे हुए हैं। इनमें हाथियों, सिंहों और अन्य पशुपक्षियों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। ये प्रतिमाएँ संख्या में कितनी अधिक हैं, यह इसी से जाना जा सकता है कि सबसे निचली अलंकरण पट्टिका पर दो हजार हाथी बनाये गये हैं जो सब महावतों और झूलों के साथ हैं। इनमें से कोई भी दो हाथी एक दूसरे से नहीं मिलते हैं। शिल्पियों ने कितने धैर्य और परिश्रम से इनको उत्कीर्ण किया होगा, इनकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है।

दक्षिण के चालुक्य राजाओं ने भी बहुत-से मन्दिरों का निर्माण कराया था। इनकी शैली न पूर्णतया आर्य (नागर) है, और न द्रविड़। ये उस शैली से निर्मित हैं, जिसे शिल्पशास्त्र के प्राचीन ग्रंथों में वेसर शैली कहा गया है और जो आर्य तथा द्रविड़ दोनों शैलियों का मिश्रण है।

मूर्तिकला—गुप्त युग में भारत की मूर्तिकला अपने विकास की चरम सीमा को पहुंच गई थी। मध्ययुग में इस कला में कोई विशेष उन्नति नहीं हुई। शनैः शनैः मूर्तियों के निर्माण में सौन्दर्य और कलात्मकता कम होने लगी, और धार्मिक भावना प्रबलता प्राप्त करने लगी। मध्ययुग में विविध देवी देवताओं की ऐसी प्रतिमाएँ बनायी जाने लगीं, जिनमें देवताओं का सामर्थ्य प्रगट करने के लिये उनके बहुत-से हाथ आदि बनाये गए और उन में विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्र भी रखे गये। यही कारण है कि इस युग की मूर्तियां कला की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट नहीं मानी जातीं। पर फिर भी इस युग में अनेक ऐसी प्रतिमाएँ बनीं, जो मूर्तिकला की उत्कृष्ट उदाहरण हैं। श्रवण बेलगोला (माइसूर) की पहाड़ी पर गोमत की जो विशाल मूर्ति हैं, वह दसवीं सदी के अन्त में निर्मित हुई थी। यह मूर्ति ५७ फीट ऊँची और २६ फीट चोड़ी है, और एक ही शिलाखण्ड से तरास कर बनायी गई है। जिस पत्थर से इसे तरासा गया है वह अत्यन्त कठोर और काले रंग का है। मूर्ति के विविध अंग सुव्यवस्थित और सही अनुपात में हैं। गोमताचार्य की इस मूर्ति की मुख मुद्रा शान्त व गम्भीर है। उस पर शान्ति और गम्भीरता के साथ-साथ आकर्षक मन्द मुसकान भी है। इस का निर्माण गंग वंश के एक राजा के मन्त्री चामुण्डराय ने कराया था। श्रवण बेलगोला जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है, जहां प्रतिवर्ष लाखों यात्री इस मूर्ति के दर्शन व पूजा के लिए जाते हैं। निर्माण की कठिनता और कल्पना की विशालता की दृष्टि से यह मूर्ति अद्वितीय है।

मध्ययुग की बहुत-सी मूर्तियां खजुराहो, राजस्थान, माइसूर, मद्रास आदि राज्यों के मन्दिरों में विद्यमान हैं। इनके सम्बन्ध में कतिपय निर्देश इसी प्रकरण में ऊपर दिये भी जा चुके हैं। पर कतिपय मूर्तियां ऐसी हैं, जिनका उल्लेख करना यहाँ उपयोगी होगा। नटराज शिव की बहुत-सी धातु-प्रतिमाएँ दक्षिण भारत में उपलब्ध हैं, जो कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट और भव्य हैं। ताण्डव नृत्य करते हुए शिव का जैसा सजीव अंकन इन मूर्तियों में किया गया है, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। राजस्थान की मूर्तियों में शाहाबाद (कोटा) में उपलब्ध शेषशायी विष्णु की मूर्ति

अद्‌भुत व मनोहर है और गुप्त युग की मूर्तियों से कलात्मकता में यह किसी भी प्रकार कम नहीं है।

मध्य युग की बहुसंख्यक प्रतिमाएँ देवी देवताओं के साथ सम्बन्ध रखती हैं। पर कतिपय प्रतिमाएँ ऐसी भी हैं, जिनका धर्म या उपासना के साथ सम्बन्ध नहीं है। भुवनेश्वर से प्राप्त एक मूर्ति में किसी नारी को पत्र लिखते हुए बनाया गया है। भुवनेश्वर में ही बच्चे को प्यार करती हुई एक नारी की मूर्ति भी मिली है। ये दोनों मूर्तियां ग्यारहवीं सदी की हैं। खजुराहो के एक मन्दिर पर भी एक ऐसी स्त्री की प्रतिमा उत्कीर्ण है, जो पत्र लिख रही है।

यह स्वीकार करना होगा कि मध्य युग में मूर्तिकला में प्रगति न हो कर कुछ ह्रास ही हुआ। इसका कारण सम्भवतः यह है, कि इस युग के शिल्पी मूर्तियों का निर्माण करते हुए अपनी प्रतिभा और कल्पना की अपेक्षा शास्त्र-वचनों को अधिक महत्त्व देते थे। शास्त्रों के अनुसार देवताओं के शरीर मानव-शरीर से भिन्न प्रकार के होते हैं। उनके कान मानव कानों से बड़े होते हैं, आँखें कानों के समीप तक फैली हुई होती हैं, और हाथ घुटनों से नीचे तक पहुँचते हैं। मध्ययुग के मूर्तिकारों ने देवी देवताओं की मूर्तियों का निर्माण करते हुए इन्हीं धारणाओं को दृष्टि में रखा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस काल की मूर्तियों में वह आकर्षण व सौन्दर्य नहीं पाया जाता, जो कि गुप्त युग की मूर्तियों में है।

चित्रकला—भारत की प्राचीन चित्रकला का सर्वोत्कृष्ट रूप अजन्ता के गुहा-मन्दिरों की भित्तियों पर दिखायी देता है। इन चित्रों के सम्बन्ध में हम इस इतिहास में पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मध्य युग में भित्ति-चित्रों की परम्परा में भी ह्रास ही हुआ। जिस प्रकार के दिव्य व मनोरम चित्र अजन्ता की भित्तियों पर चित्रित हैं, वैसे अन्यत्र कहीं नहीं हैं। एलोरा के कैलाश मन्दिर व अन्य मन्दिरों की भित्तियों पर जो चित्र हैं, वे नवीं सदी या उससे पूर्व के काल में ही चित्रित किये गये थे। इनका चित्रण अजन्ता की परम्परा के अनुसार ही हुआ है। पर दुर्भाग्यवश एलोरा के ये भित्तिचित्र या तो पूर्णतया नष्ट हो गये हैं, और या कहीं-कहीं उनकी धुंधली रेखाएँ ही शेष रह गई हैं। उनके रंगों में भी वह ताज़गी नहीं है, जो अजन्ता में है।

सुदूर दक्षिण के मन्दिरों की भित्तियों को भी अवश्य ही नानाविध चित्रों से विभूषित किया गया था। अनेक मन्दिरों में इनके चिन्ह अब तक भी उपलब्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है, कि बाद में जब इन मन्दिरों की मुरम्मत की गई, तो पुराने चित्रों को मिटा कर उनके स्थान पर नये चित्र बनाये गये। इसी कारण इन मन्दिरों की भित्तियों पर चित्रों की अनेक सतहें विद्यमान है।

मध्ययुग के अनेक ऐसे ग्रंथ इस समय उपलब्ध हैं, जो ताम्रपत्रों, तालपत्रों और कागज़ पर उत्कीर्ण व लिखित हैं। इन्हें भी अनेकविध चित्रों से विभूषित किया गया है, जिनसे इस काल की चित्र कला का कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है। पर ऐसी पुस्तकें न केवल संख्या में बहुत कम है, अपितु मध्ययुग के अन्तिम भाग की हैं।

तेईसवां अध्याय

दक्षिणी भारत

(१) दक्षिणी भारत की प्राचीन संस्कृति

दक्षिणी भारत—विन्ध्याचल के दक्षिण का प्रदेश 'दक्षिणी भारत' कहाता है। यह प्रदेश त्रिभुज के आकार का है, जिसके पूर्व और पश्चिम में समुद्र और उत्तर में विंध्याचल की पर्वतमाला है। कृष्णा नदी ने दक्षिणी भारत को भी दो भागों में विभक्त किया हुआ है। कृष्णा के उत्तर के प्रदेश के पश्चिमी भाग को महाराष्ट्र और पूर्वी भाग को आंध्र कहते हैं। कृष्णा के दक्षिण के प्रदेशों का पश्चिमी भाग कर्णाटक और पूर्वी भाग तामिलनाड है। सुदूर दक्षिण के पश्चिमी समुद्र तट के साथ का प्रदेश केरल कहाता है।

राजनीतिक दृष्टि से दक्षिणी भारत का इतिहास प्रायः उत्तरी भारत के इतिहास से पृथक् रहा है, क्योंकि विंध्याचल पर्वतमाला भारत के इन दोनों भागों के बीच एक विशाल दीवार का काम करती रही है। प्राचीन समय में जबकि आने-जाने के साधन अधिक उन्नत नहीं थे, राज्य प्रायः छोटे-छोटे हुआ करते थे। शक्तिशाली सम्राटों के लिए भी तब यह सम्भव नहीं था, कि वे किसी विशाल भू-भाग पर स्थायी रूप से शासन कर सकें। इसी कारण भारत के जिन प्रतापी राजाओं ने उत्तरी भारत के सुविस्तृत मैदान में अपने साम्राज्यों का विकास किया, वे दक्षिणी भारत को स्थायी रूप से अपनी अधीनता लाने में असमर्थ रहे। यद्यपि मौर्य और गुप्त-वंशों के अनेक सम्राटों ने भारत के बड़े भाग पर शासन किया, पर सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य और केरल सदृश राज्य भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से प्रायः पृथक् ही रहे। ये प्रदेश मौर्यों के साम्राज्य से भी बाहर थे, और अशोक ने इनकी गणना सीमावर्ती राज्यों में की थी। गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त ने विजय-यात्रा करते हुए इन प्रदेशों से भी अधीनता स्वीकृत करायी थी, पर ये स्थायी रूप से गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं हुए थे।

दक्षिणी भारत का राजनीतिक इतिहास उत्तरी भारत के इतिहास से प्रायः पृथक् ही रहा है। विंध्याचल के दक्षिण के प्रदेश पर्वतों से परिपूर्ण हैं, और वहां कोई विशाल समतल मैदान नहीं है, जिसमें एक सुविस्तृत साम्राज्य का विकास सुगम हो। यही कारण है जो प्राचीन काल में इस प्रदेश में अनेक छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता रही।

राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से दक्षिणी भारत के दो भाग हैं—दक्षिणापथ (दक्खन) और सुदूर दक्षिण। स्थूल रूप से कृष्णा नदी के उत्तर के प्रदेश को दक्षिणापथ कह सकते हैं। प्राचीन काल में इस प्रदेश में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने अपने शक्तिशाली राज्यों का विकास किया था। सुदूर दक्षिण में कांची के पल्लव वंश ने एक अच्छे शक्तिशाली राज्य का निर्माण किया, और उसके भी दक्षिण में पाण्ड्य और केरल राज्यों की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रही। दक्षिणी भारत के इन विविध राज्यों और राजवंशों के

इतिहास का संक्षेप के साथ निर्देश कर सकना भी यहां सम्भव नहीं है। इतना लिखना ही पर्याप्त है कि इन राज्यों का इतिहास भारत के इतिहास की मुख्य धारा से पृथक् रहा, और ये स्वतन्त्र रूप से ही अपनी शक्ति का विकास करने में तत्पर रहे।

यद्यपि दक्षिणी भारत का राजनीतिक इतिहास उत्तरी भारत से पृथक् रहा है, पर सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। जहां तक भारतीय संस्कृति के विकास का प्रश्न है, दक्षिणी भारत ने उसमें पूरा-पूरा सहयोग दिया है।

द्राविड़ जाति—दक्षिणी भारत के बहुसंख्यक निवासी द्राविड़ जाति के हैं। भारत के कुल निवासियों में द्राविड़ों की संख्या २१.६ प्रतिशत है। ऐतिहासिकों का मत है, कि द्राविड़ लोग भारत के पुराने निवासी हैं, और आर्यों के आने से पूर्व वे ही इस देश में निवास करते थे। कुछ विद्वान् उन्हें भारत का मूल निवासी भी मानते हैं। यद्यपि सब ऐतिहासिक इस विषय में एकमत नहीं हैं, पर यह निःसंदिग्ध है कि आर्यों के भारत में प्रवेश से पूर्व द्राविड़ लोग इस देश में अपनी सभ्यता के विकास में तत्पर थे। वर्त्तमान समय में मुख्य द्राविड़ भाषाएं निम्नलिखित हैं:—तेलगू, तामिल, कन्नड और मलयालम। इन भाषाओं को बोलने वाले लोग ही द्राविड़ जाति के माने जाते हैं। उत्तरी भारत का इतिहास आर्य जाति का है, और दक्षिण का इतिहास प्रधानतया द्राविड़ जाति का है। द्राविड़ लोगों में तामिल लोग सर्व-प्रधान हैं, और उन्होंने ही प्राचीन समय में द्राविड़ संस्कृति और सभ्यता के विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था।

कुरल—द्राविड़ संस्कृति बहुत प्राचीन है, पर उसका जो साहित्य इस समय में उपलब्ध होता है, वह मौर्य-युग से अधिक पुराना नहीं है। तामिल-साहित्य का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुरल' है, जिसका लेखक तिरुवल्लुवर था। उसका काल दूसरी सदी ई० पू० में माना जाता है। कुरल एक विशाल ग्रन्थ है, जिसमें १२३ परिच्छेद हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी विषयों पर इस ग्रन्थ में विशद रूप से विचार किया गया है। राजनीति सम्बन्धी विषयों का भी इसमें समावेश है। कुरल के अनुशीलन से उस उच्च सभ्यता का सुचारु रूप से परिचय मिलता है, जिसका प्राचीन तामिल लोगों ने विकास किया था। तामिल साहित्य में कुरल का इतना मान है, कि उसके रचयिता तिरुवल्लुवर को ब्रह्मा का अवतार माना जाता है। अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद भी हो चुका है।

संगम—तामिल साहित्य का विकास उन शिक्षा-केन्द्रों में हुआ था, जो 'संगम' नाम से प्रसिद्ध हैं। तामिल अनुश्रुति के अनुसार प्राचीन समय में तीन संगम हुए थे। ग्रीस के इतिहास में जो महत्त्व एथन्स की एकेडमी का है, वही तामिल इतिहास में इन संगमों को प्राप्त है। पहले दो संगमों का इतिहास प्रायः अप्राप्य है, और उनमें जिस ज्ञान व साहित्य का विकास हुआ था, वह भी अब उपलब्ध नहीं है। पर तीसरे संगम के सम्बन्ध में बहुत कुछ परिचय हमें प्राप्त है। यह संगम मदुरा में स्थित था, और ऐतिहासिकों के अनुसार इसका काल ५०० ईस्वी पूर्व से ५०० ईस्वी तक था। इसके सदस्यों की संख्या ४६ थी, और इतने ही राजाओं (पाण्ड्य देश के राजाओं) का संरक्षण भी

इसे प्राप्त हुआ था। संगम के सम्मुख विविध विद्वान्, कवि और साहित्यिक अपनी रचनाओं को प्रस्तुत किया करते थे, और संगम द्वारा स्वीकृत होने पर ही उनको साहित्य में स्थान प्राप्त होता था। अनुश्रुति के अनुसार ४४६ कवियों ने अपनी रचनाएं इस संगम के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत की थीं। तिरुवल्लुवर द्वारा रचित जिस 'कुरल' का हमने अभी उल्लेख किया है, वह भी संगम के सम्मुख प्रस्तुत हुआ था, और वहां उसे सम्मानपूर्वक स्वीकृत किया गया था।

कुरल के अतिरिक्त संगम द्वारा स्वीकृत अन्य भी अनेक तामिल ग्रन्थ इस समय उपलब्ध होते हैं। इनमें तीन विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं, पत्युपात्तु, एत्तुथोकई और पडिनेन्किल्कनक्कु। इन ग्रन्थों में विविध कवियों के अनेक काव्यों का संग्रह है, और साहित्यिक दृष्टि से इन सभी को उच्चकोटि का माना जाता है।

संगम द्वारा स्वीकृत साहित्य के अतिरिक्त प्राचीन तामिल साहित्य में अन्य अनेक काव्य और ग्रंथ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। दूसरी सदी ईस्वी पूर्व को तामिल साहित्य का सुवर्णीय-युग माना जाता है। इस काल में अनेक महाकाव्यों की रचना हुई, जिनमें पांच बहुत प्रसिद्ध हैं। इनके नाम निम्नलिखित हैं:—शिलपाधिकारम्, मणिमेखलाई, जीवकचिन्तामणि, वलयपति और कुण्डलकेशी। इस समय इनमें से पहले तीन ही प्राप्तव्य हैं, और इन्हें साहित्यिक दृष्टि से उच्च कोटि का माना जाता है।

समाज संगठन—तामिल लोगों की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में इस प्राचीन तामिल साहित्य से बहुत-सी उपयोगी बातें जानी जा सकती हैं। इस साहित्य का निर्माण उस काल में हुआ था, जबकि उत्तरी भारत के आर्यों के साथ द्राविड़ लोगों का घनिष्ठ संबंध स्थापित हो चुका था। पर फिर भी इसके अनुशीलन से प्राचीन शुद्ध तामिल संस्कृति के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन तामिल लोग मुख्यतया कृषिजीवी थे, और खेती द्वारा ही अपना निर्वाह किया करते थे। इस कारण तामिल जनता का बड़ा भाग कृषकों का ही था। कृषक श्रेणी के नीचे श्रमजीवियों की एक अन्य श्रेणी थी, जिसे 'कुडीस' कहते थे। कुडीस श्रेणी चार वर्गों में विभक्त थी, पागान, तुड़ियन, परयन और कदम्बन। इस श्रेणी के लोग कृषकों की जमीन पर मजदूरी करके ही अपना निर्वाह किया करते थे। संम्भवतः, इन्हीं से आगे चलकर तामिल जनता के उस वर्ग का विकास हुआ, जिसे अछूत समझा जाता है। कृषकों और श्रमजीवियों के अतिरिक्त उस समय तामिल देश में बढ़ई, लुहार, जुलाहे, आदि शिल्पियों की भी सत्ता थी, जिनकी सामाजिक स्थिति बहुत हीन नहीं मानी जाती थी।

बाद में उत्तरी भारत के आर्य ब्राह्मणों ने दक्षिण में प्रवेश किया, और उनके कारण तामिल देश के समाज-संगठन में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। आर्यों के प्रवेश से पूर्व द्राविड़ लोगों में वर्ण-व्यवस्था व जातिभेद का अभाव था, और वहां चातुर्वर्ण्य की सत्ता नहीं थी। उत्तरी भारत से जो आर्य ब्राह्मण दक्षिण में गये, वे विद्या, ज्ञान और तप की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट थे। वे एक उच्च संस्कृति का सन्देश लेकर दक्षिण में आये थे। इसलिए वहां के समाज में उन्होंने प्रतिष्ठित व उच्च पद प्राप्त कर लिया, और वहां का समाज 'ब्राह्मण' और 'ब्राह्मणेतर' विभागों में विभक्त हो गया। पर आर्यों के चातुर्वर्ण्य का विकास दक्षिण में कभी भी उस प्रकार से नहीं हुआ, जैसा कि

उत्तरी भारत में था। इसी कारण तामिल प्रदेश में क्षत्रिय और वैश्य वर्गों का अभाव है, और वहाँ का समाज ब्राह्मण और शूद्र वर्गों में ही विभक्त है।

धर्म—आर्यों के सम्पर्क के कारण तामिल व अन्य द्राविड़ लोगों ने वैदिक धर्म को भी अपना लिया था। इसीलिए उनके प्राचीन साहित्य द्वारा किसी ऐसे धर्म का परिचय नहीं मिलता, जिसका कि ये लोग आर्यों के सम्पर्क से पूर्व अनुसरण करते हों। तामिल-साहित्य की रचना उन्हीं लोगों द्वारा हुई थी, जो कि उत्तरी भारत के वैदिक, बौद्ध, जैन आदि धर्मों को अपना चुके थे। पर ऐतिहासिकों का मत है कि द्राविड़ लोग शुरू में अनेक देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे, और अपने मृतकों की समाधियों का भी निर्माण करते थे। ऐतिहासिकों के अनुसार आर्य लोगों ने द्राविड़ों के अनेक देवी-देवताओं की पूजा को भी अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया। शिव की पूजा हिन्दू धर्म में विशेष महत्त्व रखती है। अनेक विद्वानों के मत में आर्यों ने शिव की पूजा द्राविड़ों से ही ग्रहण की थी। प्राचीन द्राविड़ों में शिव की पूजा प्रचलित थी, और जब आर्य लोग उनके सम्पर्क में आये, तो उन्होंने भी शिव को अपना लिया। इसी प्रकार कार्तिकेय और गणेश की पूजा का प्रवेश भी आर्यों में द्राविड़ों द्वारा ही हुआ। पर ये सब विषय विवादग्रस्त हैं। द्राविड़ों के मूल धर्म का क्या स्वरूप था, यह अभी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

(२) आर्य संस्कृति का दक्षिणी भारत में प्रवेश

महर्षि अगस्त्य—दक्षिणी भारत में आर्य-संस्कृति का प्रवेश महर्षि अगस्त्य द्वारा हुआ था। पौराणिक और तामिल साहित्य में इस ऋषि के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ पायी जाती हैं। अगस्त्य-सम्बन्धी तामिल अनुश्रुति यह है कि प्राचीन समय में कैलाश पर्वत पर शिव और पार्वती का विवाह हुआ। इस अवसर पर सब लोकों के लोग उपस्थित हुए। दक्षिणी भारत के लोग भी शिव और पार्वती के विवाह को देखने के लिये गये। बहुत-से लोगों के एक स्थान पर एकत्र हो जाने का परिणाम यह हुआ, कि पृथ्वी का सन्तुलन नष्ट होने लगा। इस पर लोगों ने शिव से प्रार्थना की कि किसी ऐसे तेजस्वी व्यक्ति को दक्षिणी भारत में भेजने की कृपा करें, जिसके तेज से आकृष्ट होकर लोग दक्षिण में भी आबाद हों। लोगों की प्रार्थना को सुनकर शिव ने ऋषि अगस्त्य को आदेश दिया कि वह दक्षिण में जाएं। शिव के आदेश के अनुसार अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा के साथ दक्षिणी भारत में गया, और वहां ताम्रपर्णी नदी (टिनवेली जिले में) के उद्गम स्थान पाडिकई पर्वत को अपने निवास के लिए चुना। तामिल भाषा सीखकर अगस्त्य ने उसका एक व्याकरण भी तैयार किया। इसे तामिल भाषा का प्रथम व्याकरण माना जाता है, यद्यपि वर्तमान समय में यह उपलब्ध नहीं है। कहते हैं, कि इस व्याकरण में १२,००० सूत्र थे।

ऋषि अगस्त्य के साथ सम्बन्ध रखने वाली कथाएं संस्कृत-साहित्य में भी विद्यमान हैं। इन कथाओं के अनुसार अगस्त्य ने समुद्र के जल का पान कर उसे सुखा दिया था। सम्भवतः, यह कथा इस तथ्य को सूचित करती है कि विशाल नदियां और समुद्र अगस्त्य के मार्ग में बाधक नहीं हो सके थे, और वह इनको पार करता हुआ सुदूर

दक्षिण में इस प्रकार सुविधापूर्वक जा पहुंचने में समर्थ हुआ था, मानो उसके मार्ग की नदियों और समुद्र का जल सूख गया हो। इसमें सन्देह नहीं, कि पुरानी अनुश्रुति के अनुसार दक्षिण भारत में आर्यों का विस्तार करने वाला प्रथम साहसी व्यक्ति ऋषि अगस्त्य ही था, और उसी के पदचिन्हों का अनुसरण कर बाद में अन्य बहुत-से आर्य लोग दक्षिण में अपने उपविवेश बसाने में समर्थ हुए थे। दक्षिणी भारत के लोग अब तक भी अगस्त्य को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं, और अपने साहित्य, काव्य और व्याकरण का प्रारम्भ उसी से मानते हैं। अगस्त्य का समय क्या था, इस विषय में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर वैदिक युग के पिछले काल में उसका समय मानना अनुचित न होगा, क्योंकि उसकी गणना भी भारतीय आर्यों के प्रतिष्ठित और प्राचीन ऋषियों में की जाती है।

रामचंद्र और दक्षिणी भारत—ऋषि अगस्त्य द्वारा दक्षिणी भारत में आर्यों के प्रवेश की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, बाद के ऋषियों और मुनियों ने उसे जारी रखा। विंध्याचल पर्वत माला के दक्षिणी प्रदेश प्राचीन समय में अनेक महाकान्तारों से परिपूर्ण थे, जिनमें दण्डकारण्य मुख्य था। आर्य ऋषि इनमें अपने आश्रम बनाने में तत्पर थे, और वहां के मूल निवासियों से अपनी रक्षा करने की समस्या सदा उनके सम्मुख रहा करती थी। अयोध्या के राजा दशरथ से ऋषि विश्वामित्र ने अनुरोध किया था, कि अपने कुमार राम और लक्ष्मण को राक्षसों से ऋषियों के यज्ञों की रक्षा करने के लिए भेज दे। विश्वामित्र की प्रार्थना को स्वीकार कर राम और लक्ष्मण इसके लिए गये भी थे। बाद में कैकेयी के षड्यंत्र द्वारा जब राम को वनवास मिला, तो वे सीता और लक्ष्मण के साथ दक्षिणी भारत में गये, और लंका के रावण को परास्त कर उन्होंने सुदूर दक्षिण में आर्यों के प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित किया। रामायण की कथा दक्षिण में आर्यों के विस्तार को ही सूचित करती है।

दक्षिण में आर्य संस्कृति का विस्तार—अगस्त्य सदृश विविध ऋषि-मुनियों और राम जैसे राजाओं के प्रयत्न से दक्षिणी भारत में आर्यों का निरन्तर प्रवेश होता गया और चौथी सदी ईस्वी पूर्व तक यह दशा आ चुकी थी, कि दक्षिण के द्राविड़ लोग आर्यों के प्रभाव में भली-भांति आ गये थे। इसीलिए रामायण में पांड्य देश की राजधानी मदुरा का वर्णन मिलता है, और संस्कृत के प्रसिद्ध वैयाकरण कात्यायन (चौथी सदी ई० पू०) ने चोल और पाण्ड्य राजाओं का उल्लेख किया है। अशोक (तीसरी सदी ई० पू०) ने सुदूर दक्षिण के चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र राज्यों में धर्म-विजय की नीति का प्रयोग किया था। इसी काल में आचार्य उपगुप्त ने अनेक बौद्ध भिक्षुओं को इन प्रदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए भी भेजा था। बौद्धों से पूर्व जैन-मुनि भी दक्षिण में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए तत्पर हो चुके थे।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि जैनों और बौद्धों से बहुत पहले ही आर्य ब्राह्मण दक्षिणी भारत को अपने सांस्कृतिक प्रभाव में ला चुके थे, यद्यपि इनका कोई ऐसा वृत्तान्त उपलब्ध नहीं है, जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक कहा जा सके। मदुरा के संगम द्वारा स्वीकृत पुस्तकों पर संस्कृत भाषा और आर्यों के विचारों का प्रभाव इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि बौद्धों और जैनों से बहुत पूर्व

द्राविड़ प्रदेश आर्य-सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव में आने प्रारम्भ हो चुके थे।

दक्षिणी भारत में आर्यों की संस्कृति का जो प्रवेश हुआ, वह पूर्णतया शांतिमय था। यह कार्य प्रधानतया ऋषि-मुनियों और ब्राह्मणों द्वारा किया गया था। उत्तरी भारत के किसी आर्य राजा ने प्राचीन काल में अपनी सेना लेकर दक्षिण के द्राविड़ राज्यों को जीता हो, और विजय द्वारा अपने प्रभुत्व की स्थापना की हो, इसका कोई वृत्तान्त हमें ज्ञात नहीं है। इसके विपरीत इस बात के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं, कि बहुत-से आर्य ब्राह्मण दक्षिण में दूर-दूर तक गये, और उन्होंने इन प्रदेशों में अपने धर्म और संस्कृति का प्रचार किया। अशोक के समय के बौद्ध-भिक्षुओं के समान उससे पहले के आर्य ऋषि-मुनि भी शांतिमय उपायों से ही वहां अपने सांस्कृतिक प्रभाव को स्थापित करने में तत्पर रहे थे। अपने ज्ञान और चरित्र की उत्कृष्टता के कारण ही इन आर्यों ने दक्षिणी भारत के समाज में प्रतिष्ठित व उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। पर बौद्ध-काल तक आर्यों के कोई राज्य दक्षिणी भारत में स्थापित नहीं हो पाये थे। इसीलिए बौद्धकाल के सोलह महाजनपदों में अवन्ति (मालवा) से दक्षिण का कोई जनपद अन्तर्गत नहीं है।

(३) आर्यों का दक्षिणी भारत की संस्कृति पर प्रभाव

राजनीतिक प्रभाव—यद्यपि बौद्ध काल तक विन्ध्याचल के दक्षिण में आर्यों का कोई राज्य स्थापित नहीं हुआ था, पर चौथी सदी ईस्वी पूर्व से दक्षिण के प्रदेश भी आर्यों के राजनीतिक प्रभाव में आने शुरू हो गये थे। मौर्य साम्राज्य के संस्थापक चंद्रगुप्त का शासन दक्षिणी भारत में विस्तृत नहीं था। पर उसके उत्तराधिकारी बिन्दुसार ने दक्षिण के सोलह राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया था। सुदूर दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, केरल और सातियपुत्र के चार राज्य ही ऐसे बचे थे, जो मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं हुए थे। अशोक ने भी इन्हें जीतकर अपने अधीन नहीं किया, और इनकी धर्म-विजय से ही संतोष कर लिया। यद्यपि दक्षिणी भारत पर मौर्यों का शासन देर तक कायम नहीं रह सका, पर इसमें संदेह नहीं कि एक बार आर्यों की अधीनता में आ जाने के कारण इन प्रदेशों पर आर्यों का राजनीतिक प्रभाव अवश्य स्थापित हो गया। मौर्यों की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक नवीन राज्य दक्षिण में कायम हुए, उनमें से अन्यतम राज्य सिमुक (२१० ई० पू०) द्वारा स्थापित आन्ध्र-सातवाहन वंश का था। यद्यपि इस वंश के लोग आर्य नहीं थे, पर उन पर आर्यों का प्रभाव स्पष्ट है। उनके शिलालेख ब्राह्मीलिपि में उत्कीर्ण हैं, और उनकी भाषा भी संस्कृत और प्राकृत हैं। आन्ध्र-सातवाहनों का राज्य विन्ध्याचल के दक्षिण में भी विस्तृत था।

सातवाहन वंश की शक्ति के क्षीण होने पर दक्षिणापथ (दक्खन) में जो अनेक नये राज्य स्थापित हुए, वे भी आर्यों की संस्कृति से प्रभावित थे। इन राज्यों में अन्यतम इक्ष्वाकुवंश का भी था, जिसका शासन कृष्णा और गोदावरी नदी के मुहानों के क्षेत्र में स्थित था। आन्ध्र देश के इस इक्ष्वाकुवंश का अयोध्या के प्राचीन इक्ष्वाकुवंश के साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पर इसमें संदेह नहीं, कि यह इक्ष्वाकुवंश (तीसरी सदी ई०) और इसके समकालीन दक्षिणापथ के अन्य राजवंश आर्यों की संस्कृति से अवश्य प्रभावित थे।

चालुक्यों और राष्ट्रकूटों द्वारा बाद में (छठी सदी से शुरू कर) जो अनेक राज्य दक्षिणापथ में कायम हुए, उन पर तो आर्यों का प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट है। इन वंशों के राजाओं के शिलालेख संस्कृत में हैं, और धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से उनमें और उत्तरी भारत के राजाओं में भेद कर सकना सुगम नहीं है।

राजनीतिक दृष्टि से आर्यों का प्रभाव केवल दक्षिणापथ के राज्यों तक ही सीमित नहीं था। सुदूर दक्षिण के राज्य भी आर्य संस्कृति से प्रभावित हुए थे। कांची (कांजीवरम्) के पल्लव राज्य पर आर्यों का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। पल्लव वंश द्वारा शासित प्रदेश पहले आन्ध्र-सातवाहन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सातवाहनों की शक्ति के क्षीण पड़ने पर कांची में पल्लव वंश के राज्य का प्रारम्भ हुआ। पल्लव वंश के राजा आर्य संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित थे। इस वंश के संस्थापक वप्पदेव ने अग्निष्टोम, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान कर अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया था, और तुंगभद्रा तथा कृष्णा नदियों द्वारा सिंचित प्रदेश में अपने स्वतन्त्र शासन को स्थापित कर कांची को अपनी राजधानी बनाया था। पल्लवों के शासनकाल में कांची नगरी आर्य-सभ्यता का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। वहां बहुत-से ब्राह्मण परिवारों का निवास था जो संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन में तत्पर रहते थे। पल्लववंश के राजाओं के शिलालेख भी संस्कृत भाषा में ही उत्कीर्ण कराये गये थे। पल्लव वंश का शासन कई सदियों तक कायम रहा, और इस काल में कांची आर्य-संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। कांची संस्कृत भाषा के अध्ययन के लिए प्रसिद्ध था, और वहां के विश्वविद्यालय की दक्षिणी भारत में वही स्थिति थी, जो उत्तरी भारत में नालन्दा की थी।

भाषा पर प्रभाव—आर्यों ने दक्षिणी भारत की द्राविड़ भाषाओं को भी प्रभावित किया। इसी कारण दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं में संस्कृत के शब्द बहुत बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। तेलगू, कन्नड़ और मलयालम् का साहित्य संस्कृत शब्दों से परिपूर्ण है, और तामिल में भी संस्कृत शब्दों का प्रचुरता के साथ प्रयोग हुआ है। तेलगू, कन्नड़ और मलयालम की वर्णमाला भी वही है, जो संस्कृत (देवनागरी) की है, यद्यपि इनकी लिपि संस्कृत की देवनागरी लिपि से भिन्न है। तामिल की वर्णमाला संस्कृत के समान नहीं है, पर उसमें भी संस्कृत के अनुसरण में ध्वन्यात्मक अक्षरों का प्रयोग किया जाता है।

धर्म पर प्रभाव—धर्म के क्षेत्र में तो आर्यों ने दक्षिणी भारत के द्राविड़ लोगों को बहुत ही अधिक प्रभावित किया है। वर्तमान समय में द्राविड़ों का धर्म आर्यों के धर्म से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है। प्राचीन काल का भी जो साहित्य द्राविड़ भाषाओं में मिलता है, वह उनके किसी पृथक् धर्म को सूचित नहीं करता। इसका अभिप्राय यही है, कि बहुत समय पूर्व जब द्राविड़ भाषाओं के साहित्य का विकास प्रारम्भ हुआ था, द्राविड़ लोग आर्यों के धार्मिक प्रभाव में आ चुके थे। उन्होंने आर्यों के वैदिक धर्म को अपना लिया था, और उनके अपने धर्म की कोई पृथक् सत्ता नहीं रह गयी थी। उत्तरी भारत के आर्यों के समान दक्षिण के द्राविड़ लोग भी यज्ञों का अनुष्ठान करने लग गये थे, और वेदों के प्रामाण्य में विश्वास रखते थे। जब उत्तरी भारत में बौद्ध और जैन धर्मों का विकास हुआ, तो दक्षिण में भी उनका प्रचार हुआ और

बहुत-से द्राविड़ लोग इन धर्मों के अनुयायी हो गये। बौद्ध धर्म के ह्रास के कारण जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो दक्षिण के लोगों ने अनेक अंशों में उसका नेतृत्व भी किया। वैदिक हिन्दू धर्म में भक्ति-आन्दोलन के प्रवर्तक मुख्यतया दक्षिण के लोग ही थे। इस विषय पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

(४) दक्षिणी भारत द्वारा भारतीय संस्कृति का विकास

आर्य संस्कृति को अपना कर दक्षिणी भारत के निवासियों ने उसके विकास के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया। भारत के सभी प्रमुख धर्मों के विकास में दक्षिणी भारत के विद्वानों और धर्माचार्यों का प्रमुख कर्तृत्व रहा है। इसी प्रकार मूर्ति-निर्माण कला, वास्तु कला, संस्कृति, चित्रकला आदि के विकास में भी दक्षिणी भारत ने महत्व का कार्य किया। राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास की मुख्य धारा से पृथक् रहते हुए भी दक्षिणी लोग भारतीय संस्कृति के विकास में उत्तरी भारत के लोगों से पृथक् नहीं रहे। धर्म आदि के विविध क्षेत्र में जो कार्य उन्होंने किया, उस पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

शैव-धर्म—तामिल साहित्य के अनुशीलन से सूचित होता है, कि सुदूर दक्षिण में बहुत प्राचीन काल से शैव धर्म का प्रचार रहा है। मदुरा के संगम द्वारा स्वीकृत प्राचीन तामिल साहित्य में शिव को सबसे बड़ा देवता माना गया है। जिस शिव के तीन नेत्र होते हैं, और जो अपने जटा-जूट में चन्द्रमा को धारण करता है, जिसका कंठ नील होता है, परशु जिसके हाथों में रहता है, उमा जिसकी सहचरी है, और जिस शिव ने अगस्त्य ऋषि को दक्षिण भेजा था, प्राचीन तामिल लोग प्रधानतया उसी के उपासक थे।

केवल साहित्य द्वारा ही तामिल देश में शैव धर्म के प्रचार की सत्ता प्रमाणित नहीं होती। पुरातत्व विषयक अवशेष भी इसमें प्रमाण हैं। मद्रास प्रान्त में गुडिमल्लम् नामक ग्राम में एक शिवलिंग विद्यमान है, जिसे दूसरी सदी ई० पू० का माना जाता है। यह लिंग पांच फीट ऊंचा है, और इसके एक पार्श्व में दो भुजाओं वाली शिव की प्रतिमा भी बनायी गई है। भारत में प्राप्त शिव प्रतिमाओं में यह सम्भवतः सबसे पुरानी है। इसी प्रकार की अनेक अन्य प्राचीन शिव-प्रतिमाएँ भी दक्षिणी भारत में उपलब्ध हुई हैं।

पल्लव (छठी सदी ई० प०) और चोल राजाओं (दसवीं सदी ई० प०) के शासन काल में दक्षिणी भारत में शैव धर्म का विशेष रूप से विकास हुआ। पल्लव राजा महेन्द्र वर्मन् (६००–६३० ई० प०) पहले जैन धर्म का अनुयायी था। अनुश्रुति के अनुसार उसने जैन होते हुए अन्य धर्मों के अनुयायियों पर अत्याचार भी किये थे। पर अप्पर नामक शैव आचार्य के सम्पर्क में आकर महेन्द्र वर्मन ने शैव धर्म को स्वीकार कर लिया, और उसका संरक्षा में कांची नगरी शैव धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गई। उसने अपने राज्य में बहुत-से शैव मन्दिरों का निर्माण कराया, और उसके उत्तराधिकारियों ने भी शैव धर्म के उत्कर्ष में बहुत सहायता दी। बाद के प्रायः सभी पल्लव राजा शैव धर्म के ही अनुयायी थे।

छठी सदी में दक्षिणी भारत में शैव धर्म का जो विशेष रूप से प्रचार प्रारम्भ हुआ,

उसका मुख्य श्रेय उन शैव सन्तों को है, जिन्हें 'नायन्मार' कहते हैं। ये नायन्मार पण्डित या विद्वान् न होकर भक्त व सन्त थे, जो अपने सुललित गीतों द्वारा सर्व साधारण जनता में शिव की भक्ति का प्रचार किया करते थे। जनता इनके गीतों को सुनकर भक्ति-रस में डूब जाती थी, और शिव की पूजा के लिये तत्पर होती थी। तामिल देश के इन शैव नायन्मारों में अप्पर (६४०–६८१ ई०) सम्बन्दर (६४४–६६०), मणिवकवाचकर (६६०–६६२) और सुन्दरर (७१० ई०) सबसे प्रसिद्ध हैं। इन तथा अन्य नायन्मार संतों के गीतों का बाद में संग्रह किया गया, जो न केवल शैव-साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान रखते हैं, अपितु तामिल भाषा के साहित्य में भी जिनका बहुत गौरव पूर्ण स्थान है। दक्षिणी भारत के शैव इनका वेदों के समान ही आदर करते हैं।

जैन धर्म—जैन धर्म का प्रादुर्भाव उत्तरी बिहार में हुआ था, पर धीरे-धीरे भारत के अन्य प्रदेशों में भी इस का प्रचार हुआ, और शीघ्र ही यह धर्म कलिंग, दक्षिणापथ और सुदूर दक्षिण में भी फैल गया। माइसूर के गंगवंशी राजा जैन धर्म के अनुयायी थे, और उनके शिलालेखों में जैन मन्दिरों और मुनियों को दिये गये दानों का उल्लेख है।

वनवासी (उत्तरी माइसूर) से कदम्ब वंशी राजा भी जैन थे। चालुक्यों के राज्य में भी जैन धर्म का अच्छा प्रचार था, और इसीलिए अनेक चालुक्य राजाओं ने जैन मन्दिरों को उदारतापूर्वक दान दिये थे। जैन साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में लिखे गये थे। इस समय भी कन्नड़ भाषा में जैन-साहित्य बहुत बड़े परिमाण में उपलब्ध है। इसका कारण यही है कि गंग, कदम्ब और चालुक्य वंशों के शासन काल में दक्षिणापथ और माइसूर में जैन धर्म का बहुत प्रचार रहा, और इन प्रदेशों के निवासियों ने जैन धर्म के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

सुदूर दक्षिण में कांची नगरी भी जैन-धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी। पल्लव देश के अनेक प्रारम्भिक राजा जैन धर्म के अनुयायी थे। कांची के सिंहवर्मन् नामक पल्लव राजा के शासनकाल में सर्वनन्दी नाम के जैन पण्डित ने 'लोक विभाग' संज्ञक एक ग्रन्थ लिखा था, जो प्राकृत भाषा में है। कुन्दकुन्द नाम का प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य भी कांची का ही निवासी था। उसी के प्रभाव के कारण शिवकुमार महाराज नाम के कांची के राजा ने जैन धर्म को स्वीकृत कर लिया था।

सुदूर दक्षिण में जैन लोगों का धार्मिक संगठन 'मूल संघ' कहाता था। बाद में इसके अधीन अनेक 'गणों' की स्थापना हुई, जिन्होंने तामिल प्रदेशों में जैन धर्म के प्रचार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। दक्षिणी भारत में जैन धर्म का प्रचार होने के कारण ही वहां अनेक प्राचीन जैनमन्दिर और बहुत-सी जैन प्रतिमाएं उपलब्ध होती हैं।

जब शैव सन्त नायन्मारों और वैष्णव सन्त आलवारों ने शिव और विष्णु की भक्ति का दक्षिणी भारत में प्रचार प्रारम्भ किया, तो जैन धर्म का प्रभाव कम होने लगा, और धीरे-धीरे इसके अनुयायियों की संख्या सर्वथा नगण्य रह गई।

वैष्णव धर्म—बौद्ध और जैन धर्मों के विरुद्ध प्रतिक्रिया होकर जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो उत्तरी भारत के समान दक्षिण में भी शैव और वैष्णव धर्मों का प्रचार होने लगा। जिस प्रकार शैव धर्म में नायन्मार सन्त हुए, वैसे ही विष्णु की भक्ति

का प्रचार करने का कार्य भी उन भक्त सन्तों ने किया, जिन्हें आलवार कहते हैं। ये आलवार तामिल देश में ही हुए थे, और इन्होंने तामिल भाषा में ही विष्णु की भक्ति के गीत बनाकर जनता को भक्तिरस का आस्वादन कराया था। इनका काल पांचवीं सदी से माना जाता है। ये वैष्णव भक्त सर्वसाधारण जनता में ही उत्पन्न हुए थे, और उसी में अपने धर्म का प्रचार किया करते थे। वैष्णव धर्म में भक्ति को जो प्रमुख स्थान प्राप्त है, उसका प्रधान श्रेय इन आलवार सन्तों को ही है। भागवत पुराण के अनुसार 'भक्ति' का प्रादुर्भाव दक्षिणी भारत में ही हुआ था। अनेक विद्वानों के अनुसार स्वयं भागवत पुराण की रचना भी दक्षिण में ही हुई थी।

आलवार सन्तों के गीतों को तामिल देश के वैष्णव वेदों के समान ही आदरणीय समझते हैं। ये गीत भक्ति-रस के अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण हैं। आलवार सन्तों ने पांचवी सदी में अपना कार्य प्रारम्भ किया था, जो प्रायः बारहवीं सदी तक जारी रहा।

दर्शन शास्त्र का विकास—दक्षिणी भारत में नायन्मार और आलवार भक्तों द्वारा शिव और विष्णु की भक्ति का जो आन्दोलन प्रचलित था, बौद्ध और जैन धर्म उसके विरोध में खड़े नहीं रह सके। पर इस भक्ति आन्दोलन को दो अन्य विरोधों का सामना करना पड़ा, जो वैदिक हिन्दू धर्म के अन्य सम्प्रदायों द्वारा उपस्थित किये गये थे। इनका एक विरोध कुमारिल भट्ट द्वारा हुआ, जो प्रसिद्ध मीमांसक हुआ है। कुमारिल भट्ट वेदों के कर्मकाण्ड में विश्वास रखता था, और याज्ञिक अनुष्ठान को ही मुक्ति का मार्ग मानता था। उसका काल आठवीं सदी के आरम्भ में माना जाता है। उसने श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक आदि अनेक ग्रन्थ लिखकर वैदिक कर्मकाण्ड का प्रबल रूप से समर्थन किया। कुमारिल के प्रभाव के कारण भक्ति आन्दोलन को बहुत धक्का लगा, और विद्वन्मण्डली का ध्यान वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आकृष्ट हुआ। भक्ति आन्दोलन के मार्ग में दूसरी बाधा शंकराचार्य ने उपस्थित की। शंकर अद्वैतवाद का प्रबल समर्थक था, और जीव की ब्रह्म के पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं करता था। भक्ति के लिए भक्त की भगवान से पृथक् सत्ता का होना अनिवार्य है। यदि भक्त और भगवान् एक ही हों, तो भक्ति करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। शंकराचार्य दक्षिणी भारत में ही उत्पन्न हुआ था, और उसका काल नवीं सदी में माना जाता है। अगाध पाण्डित्य और अनुपम तर्क द्वारा उसने अद्वैतवाद का समर्थन किया, और बौद्ध व जैन धर्मों का दार्शनिक आधार पर विरोध किया। यद्यपि शंकराचार्य के प्रयत्नों से वैदिक हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान में बहुत सहायता मिली, पर साथ ही उसके सिद्धान्त भक्ति आन्दोलन के मार्ग में बाधक भी हुए।

इसी का यह परिणाम हुआ कि दक्षिणी भारत में ही अनेक ऐसे दार्शनिक उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि जीव और ईश्वर में भेद को दार्शनिक आधार पर प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया। इन दार्शनिकों में सर्वप्रथम नाथमुनि थे। इनका काल दसवीं सदी के अन्तिम भाग में था। नाथमुनि ने न केवल आलवार भक्तों के गीतों का संग्रह किया, अपितु साथ ही वैष्णव सिद्धान्तों की दार्शनिक व्याख्या भी की। वैष्णव धर्म के इतिहास में नाथ मुनि का स्थान बहुत महत्त्व का है। मन्दिरों में विष्णु की मूर्ति के सम्मुख भक्ति के गीतों के गायन की परम्परा को प्रारम्भ करने का कार्य उन्होंने ही पहले-पहल

संगठित रूप से किया था। नाथमुनि के उत्तराधिकारियों में यमुनाचार्य और रामानुजाचार्य (ग्यारहवीं सदी के अन्त में) बहुत प्रसिद्ध हुए। रामानुज ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद के मुकाबले में विशिष्टाद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। इस मत के अनुसार जीव और जगत् ईश्वर के ही दो प्रकार हैं, जीव ईश्वर का ही एक विशेषण या विशिष्ट रूप है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीव और ब्रह्म की अभिन्नता के कारण भक्ति को कोई स्थान नहीं था। पर रामानुज के दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार जीव ईश्वर का विशिष्ट रूप होते हुए भी उससे पृथक् सत्ता रखता है। इसलिए जीव ईश्वर की भक्ति कर सकता है।

रामानुज के बाद दक्षिणी भारत में अन्य भी अनेक ऐसे दार्शनिक हुए, जिन्होंने जीव और ईश्वर में भेद सिद्ध कर भक्ति मार्ग की उपादेयता का प्रतिपादन किया। इनमें मध्वाचार्य (तेरहवीं सदी) मुख्य हैं। उनके मत में जीव और ईश्वर दो पृथक् सत्ताएं हैं। इसीलिए उनके मत को 'द्वैतवाद' कहा जाता है। यदि जीव ईश्वर से सर्वथा भिन्न है, तो मुक्ति के लिए भक्ति मार्ग का आश्रय लेना सर्वथा उचित है। रामानुज और मध्वाचार्य ने वैष्णवों को अपने भक्ति-मार्ग के लिए समुचित दार्शनिक आधार प्रदान कर दिया, और उनके प्रयत्न से इस मार्ग की बाधाएं दूर हो गईं।

इसी युग में दक्षिणी भारत में ही निम्बार्काचार्य भी हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण के रूप में विष्णु की पूजा पर विशेष बल दिया। गोपियों और राधा के प्रेम को आदर्श बनाकर उन्होंने कृष्ण के प्रेम का प्रतिपादन किया और वृन्दावन को अपने प्रचार कार्य का केन्द्र बनाया। आगे चलकर निम्बार्काचार्य का यह मत बहुत लोकप्रिय हुआ, और वैष्णव धर्म के इसी रूप का उत्तरी भारत में विस्तृत रूप से प्रचार हुआ।

दक्षिणी भारत के लोगों ने किसी नये धर्म का प्रारम्भ नहीं किया था। उन्होंने आर्यों के उन्हीं धर्मों और दार्शनिक सम्प्रदायों को अपनाया था, जिनका प्रादुर्भाव उत्तरी भारत में हुआ था। पर उनसे विकास में उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। शैव और वैष्णव धर्मों का जो रूप आजकल विद्यमान है, उसके विकास में दक्षिणी भारत का बहुत महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व है। इसी प्रकार षड्दर्शनों की जो विचार-परम्परा इस समय भारत में प्रचलित है, उसके अनेक प्रसिद्ध आचार्य दक्षिणी भारत में ही उत्पन्न हुए थे।

कला—दक्षिणी भारत में कला के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति हुई, उसका निदर्शन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। मन्दिर निर्माण की शैली दक्षिण में उत्तरी भारत से भिन्न है, पर जहां तक चित्रण कला और मूर्ति कला का सम्बन्ध है, उनके लिए दक्षिण में भी उन्हीं देवी-देवताओं और पौराणिक गाथाओं का आश्रय लिया गया है, जिनका विकास आर्य जाति द्वारा किया गया था, और जो भारत में सर्वत्र एकसदृश है।

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार—बृहत्तर भारत के विकास के सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए दक्षिणी भारत का कर्तृत्व बहुत महत्त्व का था। चोल राज्य के राजा बड़े प्रतापी थे, उन्होंने अपनी सामुद्रिक सेना के उत्कर्ष पर विशेष रूप से ध्यान दिया था। चोल वंशी

राजा राजराज प्रथम (६८५ ई०) ने न केवल सिंहल द्वीप पर आक्रमण किया था, अपितु लक्कवीव और मालदीव नामक द्वीपों की भी विजय की थी। उसके उत्तराधिकारी राजेन्द्र प्रथम (१०१२-१०४४) ने सिंहल द्वीप को जीतकर अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था, और बंगाल की खाड़ी को पारकर पेगू (बरमा में) के राज्य की भी विजय की थी। चोल सम्राटों ने समुद्र पार के राज्यों को जीतकर उनपर भी अपना शासन स्थापित किया था, और इस प्रकार इन क्षेत्रों में भारतीय संस्कृति के प्रसार के लिए अनुपम कार्य किया था। चोल राजा जो समुद्र पार अपनी शक्ति का उत्कर्ष कर सके, उसका कारण यही था कि दक्षिणी भारत के लोग बहुत प्राचीन काल से जहाजों के निर्माण और समुद्रयात्रा में विशेष तत्परता प्रदर्शित किया करते थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जो अनेक भारतीय उपनिवेश बसाये गये, उनमें दक्षिणी भारत का भी महत्त्वपूर्ण भाग था। भारतीय संस्कृति के विकास के लिए दक्षिण के लोगों का यह गौरवपूर्ण कार्य था।

(५) भारतीय संस्कृति को दक्षिणी भारत की देन

दक्षिणी भारत के बहुसंख्यक निवासी द्राविड़ जाति के हैं। उनके संम्पर्क में आकर आर्य जाति ने अपने धर्म और विचारों में अनेक नये तत्त्वों को प्राप्त किया था। जब किन्हीं दो जातियों या संस्कृतियों का परस्पर सम्पर्क होता है, तो उनका प्रभाव एक-दूसरे पर अवश्य पड़ता है। प्राचीन वैदिक युग के आर्य जिन देवी-देवताओं की पूजा करते थे, बाद में उनका स्थान अन्य देवताओं ने ले लिया। ऋग्वेद के प्रधान देवता अग्नि, इन्द्र, मित्र और वरुण हैं। ऋग्वेद के बहुसंख्यक सूक्त इन्हीं देवताओं की स्तुति में बनाये गये थे। पर बाद में इन देवताओं का स्थान शिव और विष्णु ने ले लिया। विष्णु की पूजा भी राम और कृष्ण के रूप में की जाने लगी, जिन्हें विष्णु का अवतार माना जाता है। ऐतिहासिकों का मत है कि आर्यों में शिव की पूजा का जो महत्त्व बढ़ा, वह द्राविड़ लोगों के प्रभाव का ही परिणाम था। सिन्धु घाटी के निवासी, जिन्हें अनेक ऐतिहासिक द्राविड़ जाति का ही मानते हैं, पशुपति शिव के पूजक थे। साथ ही, वे एक मातृ-देवता की भी पूजा करते थे, जिसे वे प्रकृति की प्रजनन शक्ति का प्रतीक मानते थे। प्राचीन तामिल साहित्य में शिव की पूजा का विशेष रूप से उल्लेख है। शिव की प्राचीनतम मूर्ति भी दक्षिणी भारत में ही पायी गई है। इन सब बातों को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिकों ने यह परिणाम निकाला है, कि अत्यन्त प्राचीन काल में द्राविड़ लोगों ने आर्यों के धर्म को विशेष रूप से प्रभावित किया था। प्रजनन शक्ति के प्रतीक योनि और लिंग की पूजा जो आर्यों में प्रचलित हुई, और शिव को जो वे प्रधान देवता मानने लगे, वह द्राविड़ लोगों के सम्पर्क का ही परिणाम था। शिव के गणों के रूप में जिन विविध देवताओं की पूजा आर्यों में प्रारम्भ हुई, उसका कारण भी यही था कि भारत के मूल निवासी इन विविध देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे। समन्वय की प्रवृत्ति के कारण आर्यों ने इनकी पूजा को भी अपने धर्म में सम्मिलित कर लिया था।

केवल अत्यन्त प्राचीन काल में ही नहीं, अपितु बाद में भी दक्षिणी भारत ने भारतीय संस्कृति को अनेक प्रकार से प्रभावित किया। दक्षिण के द्राविड़ लोग आर्यों के

धर्म को स्वीकार कर चुके थे। उनकी भाषा संस्कृत के पठन-पाठन को भी उन्होंने प्रारम्भ कर दिया था। संस्कृत ने उनकी द्राविड़ भाषाओं को भी प्रभावित किया था। एक प्रकार से द्राविड़ लोग आर्य संस्कृति के रंग में रंग गये थे। पर आर्यों की इस संस्कृति को भी दक्षिणी लोगों ने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। भारतीय संस्कृति पर दक्षिण के ये प्रभाव निम्नलिखित हैं:—

(१) भक्ति आन्दोलन—अन्धक-वृष्णि संघ में वासुदेव कृष्ण ने जिस भागवत सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया था, वह याज्ञिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा विष्णु की भक्ति को अधिक महत्त्व देता था। वैदिक मर्यादा को कायम रखते हुए भागवत लोगों ने भारत के प्राचीन वैदिक धर्म में अनेक सुधार किये थे। बौद्धों और जैनों के समान भागवत लोग भी विष्णु या भगवान् के सगुण रूप को महत्त्व देते थे, और मन्दिरों में ईश्वर की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कर उसकी पूजा किया करते थे। यद्यपि भक्ति-तत्त्व का प्रारम्भ उत्तरी भारत में भागवत लोगों द्वारा किया जा चुका था, पर दक्षिण के नायन्मार और आलवार भक्त संतों ने उस पर विशेष रूप से जोर दिया, और उनके आन्दोलनों के कारण भारत के धर्म में भक्ति-तत्त्व का विशेष रूप से विकास हुआ। इन सन्तों के सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। भक्ति के इस आन्दोलन का प्रभाव केवल दक्षिणी भारत तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु उत्तर में भी उसका प्रसार हुआ। पद्मपुराण में भक्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि "उसका जन्म द्राविड़ देश में हुआ था, कर्णाटक में उसकी वृद्धि हुई, महाराष्ट्र में उसे स्थिति प्राप्त हुई और गुजरात में आकर वह बूढ़ी हो गई।" इससे स्पष्ट है, कि मध्यकालीन भारत में जो भक्ति आन्दोलन विशेष रूप से प्रचलित हुआ, उसका प्रारम्भ और विकास दक्षिणी भारत में ही हुआ था। वहीं से वह उत्तरी भारत में गया। वर्तमान समय के हिन्दू धर्म में कृष्ण की पूजा का बहुत महत्त्व है। कृष्ण राधा से प्रेम करते हैं, और गोपियों से घिरे रहते हैं। राधा के साथ कृष्ण की पूजा की जो परम्परा भारत में प्रारम्भ हुई, उसका सूत्रपात दक्षिणी भारत के ही एक आचार्य द्वारा किया गया, जिनका नाम निम्बार्काचार्य (बारहवीं सदी) था। उन्होंने वृन्दावन को केन्द्र बनाकर कृष्ण भक्ति के इस नये रूप का प्रचार किया।

वैष्णव सम्प्रदाय के समान शैव सम्प्रदाय को भी दक्षिणी भारत ने अनेक प्रकार से प्रभावित किया। नायन्मार भक्तों ने शैवों में भी भक्ति का सूत्रपात किया। उत्तरी भारत के शैव लोग योग-साधनाओं द्वारा सिद्धि प्राप्त करने को बहुत महत्त्व देते थे। दक्षिण के शैव नायन्मार सन्तों के कारण भक्ति-मार्ग के अनुयायी बन गये थे। दक्षिण में ही शैव धर्म के एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे वीर शैव या लिंगायत कहते हैं। इसका प्रारम्भ बारहवीं सदी में हुआ था, और इसका प्रवर्तक बासव नामक व्यक्ति था, जो कलचूरी वंश के राजा बिज्जल का प्रधान मंत्री था। वीर शैव सम्प्रदाय के अनुयायी सुधारवादी थे, और बालविवाह के विरोधी तथा विधवा-विवाह के समर्थक थे। कर्णाटक और महाराष्ट्र में इस धर्म का बहुत प्रचार हुआ। कर्णाटक के लोग अब तक भी इसके अनुयायी हैं।

(२) दार्शनिक विचारधाराओं का विकास—भारत में जो विविध दार्शनिक सम्प्रदाय प्रचलित हुए, उनका उल्लेख इस इतिहास में यथास्थान किया जा चुका है।

छः आस्तिक (वेदों को प्रमाण रूप से स्वीकार करने वाले) दर्शनों के अतिरिक्त बौद्धों और जैनों ने भी अपने दर्शनों का विकास किया था। भारत के दार्शनिक सिद्धान्तों के विकास में दक्षिण के लोगों ने असाधारण कर्तृत्व प्रदर्शित किया। अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक शंकराचार्य दक्षिण में ही उत्पन्न हुए थे। विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्त्तक रामानुजाचार्य और द्वैतवाद के प्रतिपादक मध्वाचार्य का जन्म भी दक्षिणी भारत में ही हुआ था। मीमांसा दर्शन द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड का समर्थन करने वाले कुमारिल भट्ट भी दक्षिणी ही थे। वर्त्तमान समय में भारत में दर्शनों का जो पठन-पाठन प्रचलित है, उसमें इन दार्शनिक आचार्यों की कृतियों का बहुत सम्मानपूर्ण स्थान है। तर्क द्वारा बौद्धों और जैनों के सिद्धान्तों का खण्डन करके आस्तिकता की स्थापना में दक्षिण के आचार्यों ने बड़े महत्त्व का कार्य किया।

(३) **धार्मिक संगठन**—संघों की स्थापना करके बौद्धों और जैनों ने धार्मिक संगठन बनाने के कार्य में अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया था। बौद्धों का संघ 'चातुर्दिश' माना जाता था, और सर्वत्र भिक्षु-संघों और भिक्षुणी-संघों की सत्ता थी। जैनों ने भी अपने संघों व गणों का संगठन किया था जिनमें जैन मुनि बड़ी संख्या में निवास करते थे। पर वैदिक हिन्दू धर्म के अनुयायियों और उनके साधु सन्यासियों के कोई संगठन पहले विद्यमान नहीं थे। पर दक्षिण के धर्माचार्यों द्वारा हिन्दू धर्म के भी धार्मिक संगठन स्थापित किये गये। इस क्षेत्र में शंकराचार्य का कार्य बहुत अधिक महत्त्व का था। बौद्ध संघ के समान शंकर ने संन्यासियों के संघ सगठित किये, और इसके लिए चार केन्द्रों को चुना, जो उत्तर में बद्रीनाथ में (हिमाचल के उत्तराखण्ड में), पश्चिम में द्वारिका में, पूर्व में पुरी में और दक्षिण में शृंगेरी में हैं। इनमें शंकराचार्य ने अपने चार मठ स्थापित किये, जो उनके सिद्धान्तों के प्रचार और हिन्दू धर्म के पुनरुद्धार में बहुत अधिक सहायक हुए। हिन्दू धर्म के विविध सम्प्रदायों के मठों को सार्वभौम रूप से संगठित करने की परम्परा शंकराचार्य सदृश दक्षिणी आचार्यों द्वारा ही आरम्भ की गई। शंकर के समान रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य आदि ने भी भारत के विविध प्रदेशों में अपने मठ कायम किये, और यह प्रक्रिया मध्यकाल के सन्तों द्वारा भी जारी रही।

(४) **कला का विकास**—दक्षिणी भारत में मन्दिर निर्माण, मूर्तिकला और चित्रकला आदि के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति दुई, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। जिस प्रकार के विशाल गुहा मन्दिर दक्षिणी भारत में बने, जिस प्रकार उन्हें सुन्दर चित्रों द्वारा अलंकृत किया गया, बड़ी-बड़ी चट्टानों को काटकर जिस प्रकार के विशाल मंदिरों का निर्माण किया गया, जिस प्रकार विशालकाय मूर्त्तियाँ वहाँ बनाई गयीं, वैसा उत्तरी भारत में नहीं हुआ। निःसन्देह, यह दक्षिण के लोगों की प्रतिभा का ही परिणाम था, कि उन्होंने भारत की कला को विकसित करने में इतना महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

दक्षिणी भारत के ये मन्दिर न केवल पूजा के लिए प्रयुक्त होते थे, अपितु साथ ही जनता के सार्वजनिक जीवन के भी वे केन्द्र होते थे। मन्दिरों के विशाल मण्डपों में सार्वजनिक सभाएं, धार्मिक कीर्त्तन और कथा, नाटक आदि भी हुआ करते थे। मन्दिरों के साथ पाठशालाएँ भी होती थीं, और बड़े मन्दिरों की इन पाठशालाओं ने तो विद्या-

पीठों का रूप भी प्राप्त किया हुआ था।

(५) विदेशों के साथ सम्बन्ध—पाश्चात्य देशों के साथ भारत का किस प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल में विद्यमान था, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। न केवल स्थल मार्ग से अपितु समुद्र के मार्ग से भी भारत के लोग दूर-दूर देशों में व्यापार, उपनिवेश-स्थापना और धर्म प्रचार के लिए आया-जाया करते थे। समुद्र मार्ग द्वारा भारत ने विदेशों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया, उसका मुख्य श्रेय दक्षिणी भारत को ही है। रोमन साम्राज्य के साथ दक्षिणी भारत का जो व्यापार था, उसी के कारण मदुरा आदि दक्षिण के अनेक नगरों से रोमन सिक्के बहुत बड़ी संख्या में वर्तमान समय में भी उपलब्ध हुए हैं। रोमन साम्राज्य में दक्षिणी भारत में उत्पन्न मिर्च मसालों और विविध प्रकार के रत्नों की बहुत मांग थी। पश्चिमी देशों के साथ दक्षिणी भारत का सम्बन्ध कितना घनिष्ठ था, इसका अनुमान अजन्ता की अन्यतम गुफा (संख्या १) में चित्रित उस चित्र से किया जा सकता है, जिसमें कि पर्शिया के राजा खुसरो द्वितीय और उसकी रानी शिरीन का चित्र अंकित किया गया है। इसी गुफा के एक अन्य चित्र में पर्शिया के राजा द्वारा चालुक्य राजा पुलकेशी द्वितीय की सेवा में भेजे गये दूत-मण्डल का चित्र चित्रित है। अरब, पर्शिया आदि पश्चिमी देशों में भारत के ज्ञान-विज्ञान का जो प्रवेश हुआ, उसमें भी दक्षिणी भारत के लोगों का बहुत कर्तृत्व था।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारतीय संस्कृति और धर्म का जो प्रचार हुआ, और वहां जो अनेक उपनिवेश भारतीयों ने बसाये, उनमें भी दक्षिणी भारत के लोगों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। दक्षिण के लिए यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि वहां के राजा अपनी सामुद्रिक शक्ति के लिए भी प्रयत्नशील रहते थे। कांची के पल्लव वंश के राजाओं का दक्षिण-पूर्वी एशिया के कम्बुज, चम्पा आदि राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इन राज्यों में भी शैव धर्म का प्रचार था, और यह शैव धर्म प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि दक्षिणी भारत में प्रचलित था। कम्बुज और चम्पा में उपलब्ध संस्कृत शिलालेख उसी लिपि में उत्कीर्ण हैं, जिसमें कि कांची के पल्लव राजाओं के लेख हैं। इनकी वास्तु-कला भी पल्लवों की कला से मिलती-जुलती है। इनमें मन्दिरों, राजप्रासादों और मूर्तियों के जो भी अवशेष मिले हैं, वे दक्षिणी भारत की शैली के अनुसार ही निर्मित हैं। इसी प्रकार सुमात्रा, जावा और मलाया के शैलेन्द्र साम्राज्य के सम्राटों का भी दक्षिणी भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और वे अपनी सांस्कृतिक प्रेरणा वहीं से प्राप्त करते थे। उनके संस्कृत शिलालेखों की लिपि भी वही है, जो प्राचीनकाल में दक्षिणी भारत में प्रयुक्त होती थी। इसमें सन्देह नहीं, कि विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार और उनके साथ सम्बन्ध विकसित करने के कार्य में दक्षिणी भारत की देन बहुत ही महत्त्व की है।

चौवीसवां अध्याय

भारत में इस्लाम का प्रवेश

(१) अरबों का आक्रमण

इस्लाम का अभ्युदय—सातवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब उत्तरी भारत में सम्राट् हर्षवर्धन का और दक्षिणापथ में चालुक्य चक्रवर्ती पुलकेशी द्वितीय का शासन था, अरब के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हो रहा था। अरब के इस नवयुग के प्रवर्तक हजरत मुहम्मत थे। मुहम्मद से पूर्व अरब में बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। राजनीतिक और राष्ट्रीय एकता का वहाँ सर्वथा अभाव था। सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से भी अरब के लोग बहुत पिछड़ी हुई दशा में थे। वे बहुत-से देवी-देवताओं में विश्वास रखते थे, और उन्हें संतुष्ट रखने के लिए अनेक विधि-विधानों व अनुष्ठानों का प्रयोग करते थे। अरब पुरुष जितनी स्त्रियों से चाहे विवाह कर सकता था। स्त्रियों की स्थिति अरब में बहुत हीन थी। इसी लिये बालिका का जन्म वहाँ बुरा समझा जाता था, और अनेक माता-पिता बालिका-वध में भी संकोच नहीं करते थे। मदिरा-सेवन और द्यूत आदि में व्यापृत रहने के कारण अरब लोग सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त हीन दशा में थे।

हजरत मुहम्मद ने अरब की इस दशा में सुधार किया। उनकी शिक्षा थी, कि ईश्वर (अल्लाह) एक है, जो निराकार है। उसकी मूर्ति व प्रतिमा नहीं होती, और उसकी पूजा के लिए मन्दिरों की आवश्यकता नहीं। मुहम्मद ने यह भी शिक्षा दी, कि सब मनुष्य एक बराबर हैं, ऊँच-नीच का भेद अनुचित है; जो कोई मनुष्य अल्लाह में विश्वास करके इस्लाम का अनुयायी हो जाय, वह नीच नहीं रह सकता। सब मुसलमान एक-दूसरे के बराबर होते हैं। बालिका-वध, मदिरा-सेवन, द्यूत आदि कुरीतियों का विरोध कर मुहम्मद ने यह मर्यादा निर्धारित की, कि पुरुष को चार से अधिक स्त्रियों के साथ विवाह नहीं करना चाहिए।

शुरू में मुहम्मद के विचारों का बहुत विरोध हुआ। पर कुछ ही समय में सारा अरब मुहम्मद का अनुयायी हो गया। मुहम्मद ने जिस नये धर्म का प्रारम्भ किया, उसे इस्लाम कहा जाता है। मुहम्मद उसका रसूल है। प्रत्येक मुसलमान के लिए जिस प्रकार अल्लाह में विश्वास रखना आवश्यक है, वैसे ही रसूल में ईमान लाना भी उसके लिये अनिवार्य है। ईश्वर और उसके रसूल को न मानना कुफ्र है, और कुफ्र करने वाला काफिर है। जो ज्ञान ईश्वर ने अपने रसूल मुहम्मद द्वारा प्रदान किया, उसे कुरान कहते हैं।

अरबों का विशाल साम्राज्य—पर हजरत मुहम्मद केवल धर्म-सुधारक ही नहीं थे। साथ ही, वे अरब के राष्ट्रीय नेता भी थे। उन्होंने अरब के लोगों को संगठित कर

अपने देश को एक राष्ट्र के रूप में संगठित किया। अरब के विविध राज्यों का अन्त कर उन्होंने उन्हें अपने अधीन किया, और इस प्रकार एक शक्तिशाली व सुसंगठित अरब राष्ट्र का प्रादुर्भाव हुआ। अपने जीवनकाल (५७०–६३२ ई०) में मुहम्मद ने अरब में राष्ट्रीय एकता स्थापित कर दी थी, और उनके उत्तराधिकारी खलीफाओं के समय में अरब की शक्ति पश्चिम में अटलांटिक सागर तक और पूर्व में सिन्ध नदी और पामीर की पर्वतमाला तक विस्तृत हो गयी थी। अरब का यह आकस्मिक उत्कर्ष संसार के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मुहम्मद की मृत्यु के केवल दो साल बाद ६३४ ईस्वी में अरब सेनाओं ने पूर्वी रोमन साम्राज्य को बुरी तरह से परास्त किया, और पश्चिमी एशिया के सीरिया, दमास्कस, एण्टिओक, जेरुसलम आदि प्रदेशों पर खलीफाओं का आधिपत्य स्थापित हो गया। ६३७ ईस्वी में अरबों ने ईरान के सुविस्तृत साम्राज्य को परास्त किया, और शीघ्र ही उत्तर-पूर्व की ओर बढ़ते-बढ़ते वे चीन की सीमा तक पहुँच गये। सातवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्होंने पश्चिम में दूर-दूर तक विजय की। मिस्र पर कब्जा कर उन्होंने एलेग्जेण्ड्रिया के सुविख्यात पुस्तकालय का ध्वंस किया, और सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका को जीतते हुए वे जिबराल्टर के जलडमरू-मध्य को पार कर स्पेन पहुँच गये। स्पेन उनके सम्मुख नहीं टिक सका, और अरब की सेनाएं पिरेनीज की पर्वतमाला तक जा पहुँची। अरब-आक्रमणों से फ्रांस के राजा भयभीत हो गये, और अपने देश की रक्षा करने के लिए उन्हें घनघोर युद्धों की आवश्यकता हुई। आठवीं सदी के प्रारम्भ तक यह दशा आ गई थी, कि पिरेनीज की पर्वतमाला से पामीर की पर्वतमाला तक सुविस्तीर्ण भूखंड पर अरबों का आधिपत्य था, और उनकी शक्ति के सम्मुख पूर्वी रोमन साम्राज्य के सम्राट् अपने को असहाय अनुभव करते थे।

सिन्ध की विजय—अरब-साम्राज्य की शक्ति की यह दशा थी, जब कि ७१२ ईस्वी में खलीफा के अन्यतम सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने भारत पर आक्रमण किया। सिन्ध में उस समय कोई ऐसा एक शक्तिशाली राजा नहीं था, जो विश्वविजयी अरब सेनाओं का सफलतापूर्वक मुकाबला कर सकता। सिन्ध के छोटे-छोटे राजा अरबों से परास्त हो गये, और भारत के इस प्रदेश पर मुहम्मद बिन कासिम का आधिपत्य स्थापित हो गया। यह बात वस्तुतः महत्त्व की है, कि इस समय अरब सेनाए सिन्ध से आगे बढ़कर भारत के अन्य प्रदेशों को अपनी अधीनता में नहीं ला सकीं। इसका कारण अरब आक्रान्ताओं की अनिच्छा नहीं थी। अरब-साम्राज्य में इस समय अद्भुत शक्ति थी, और खलीफा की ओर से जो शासक सिन्ध में नियुक्त थे, उनका यह निरन्तर प्रयत्न रहा कि वे भारत में और आगे बढ़कर अपनी शक्ति का विस्तार करें। पर जिस प्रकार फ्रांस की राजशक्ति ने स्पेन की विजय करने वाले अरबों के विरुद्ध लोहा लिया, उसी प्रकार भारत में गुर्जर-प्रतीहार और चालुक्य राजाओं ने सिन्ध की अरब सेनाओं का मुकाबला करने में अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया। अरब लोग जो उत्तर में मुलतान से और पूर्व में सिन्ध से आगे नहीं बढ़ सके, उसका एकमात्र कारण इस युग के भारत के राजवंशों की सैन्य-शक्ति ही थी।

अरबों का शासन—भारत के राजनीतिक इतिहास में अरब आक्रमण का बहुत अधिक महत्त्व नहीं है, क्योंकि इससे इस देश के इतिहास की मुख्य धारा में कोई

विशेष परिवर्त्तन नहीं हुआ था। पर सिन्ध और मुलतान के जिन प्रदेशों पर आठवीं सदी में अरब लोग अपना शासन स्थापित करने में समर्थ हुए, उनमें उनके शासन का क्या स्वरूप था, यह प्रश्न विचारणीय है। इस सम्बन्ध में हमें निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए—

(१) अरब-विजेताओं ने हिन्दुओं के धर्ममन्दिरों को नष्ट करने और उनमें संचित सम्पत्ति को लूटने में जरा भी संकोच नहीं किया। धार्मिक दृष्टि से अरब लोग असहिष्णु थे, और काफिर हिन्दुओं के धर्म को सहन कर सकना उनके लिए सुगम नहीं था। इसीलिए उन्होंने हिन्दुओं पर घोर अत्याचार किये।

(२) पर्शिया आदि जिन अन्य देशों पर अरबों ने आक्रमण किया था, इस्लाम के मुकाबले में वहाँ के लोग अपने धर्म की रक्षा करने में असमर्थ रहे थे। जिस प्रकार सूखे जंगल में दावानल बात की बात में फैल जाता है, वैसे ही मिस्र, ईरान आदि देशों में इस्लाम का प्रसार हो गया था। इन देशों के पुराने धर्मों में इतनी शक्ति नहीं थी, कि वे इस्लाम के विरुद्ध अपनी रक्षा कर सकते। पर सिन्ध और मुलतान के हिन्दू अरबों द्वारा आक्रान्त होने पर अपने धर्म की रक्षा करने में समर्थ रहे। मुसलिम धर्म को न अपनाने के कारण उन्हें जजिया कर देना पड़ता था। जो कोई मनुष्य इस्लाम को अपना ले, उसे जजिया देने की आवश्यकता नहीं होती थी। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक मुकदमों का फैसला मुसलिम-कानून के अनुसार काजी लोगों द्वारा किया जाता था, जिसके कारण हिन्दू सदा नुकसान में रहते थे। पर फिर भी सिन्ध और मुलतान के लाखों हिन्दू जो अपने धर्म पर दृढ़ रहे, यह उनकी जीवनी-शक्ति और धर्मप्रेम का परिचायक है।

(३) सिन्ध और मुलतान की विजय के कारण अरब लोगों का आधिपत्य ऐसे प्रदेशों पर स्थापित हो गया था, जिनके निवासी सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में अपने शासकों की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत थे। इसी कारण अरबों ने अपने शासन में ब्राह्मण कर्मचारियों को प्रथम स्थान दिया, और उन्हीं की सहायता और सहयोग से वे शासन-कार्य में सफल हो सके।

भारत से सम्पर्क का परिणाम—सिन्ध और मुलतान की विजय से अरब के खलीफाओं का सम्पर्क एक ऐसी जाति से हो गया था, जो उस युग में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में शिरोमणि थी। दर्शन, गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र, अध्यात्मचिन्तन आदि सभी विषयों में आठवीं सदी के भारतीय अरबों की अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत थे। अरबों ने शीघ्र ही इस तथ्य को अनुभव कर लिया, और बगदाद के खलीफाओं ने भारत के इस ज्ञान से लाभ उठाने का पूरा प्रयत्न किया। खलीफा मन्सूर (७५३–७७४ ई०) ने भारत से अनेक विद्वानों और ज्योतिषियों को बगदाद बुलाया, और उनकी सहायता से ब्रह्मगुप्त आदि विद्वानों के अनेक ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया। खलीफा हारूँ रसीद (७८६–८०९ ई०) के शासन-काल में बहुत-से भारतीय गणितज्ञ, ज्योतिषी और वैद्य बगदाद बुलाये गये, और बहुत से भारतीय ग्रन्थों को अरबी-भाषा में अनूदित किया गया। खलीफा हारूँ रशीद के दरबार में बरमक नामक वजीर खानदान का बहुत प्रभाव था। इस खानदान के लोग बल्ख के निवासी थे, और उनके पुरखा वहाँ के बौद्ध विहार के पदाधिकारी रह चुके थे। यद्यपि अब उन्होंने इस्लाम को स्वीकार

कर लिया था, पर मध्य एशिया और भारत के बौद्धों व अन्य विद्वानों से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसी लिए उन्होंने भारत के अनेक विद्वानों को बगदाद में निमंत्रित किया, और उन्हें सम्मानपूर्ण पद प्रदान किये। अरब के इतिहास की दृष्टि से यह बात बहुत अधिक महत्त्व की थी। इस युग में अरबों में अनुपम जीवनी शक्ति थी। भारत से गणित, ज्योतिष और चिकित्साशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने इन विषयों में अद्‌भुत उन्नति की। प्रसिद्ध ऐतिहासिक एच० जी० वेल्स के अनुसार मध्ययुग में जब यूरोप में सर्वत्र अविद्यान्धकार छाया हुआ था, ज्ञान का दीपक केवल अरब में ही प्रकाश कर रहा था। अरब में ज्ञान का जो यह दीपक प्रकाशित हुआ, उसका प्रधान कारण उसका भारत के साथ सम्पर्क ही था। गणित-ज्योतिष आदि का जो ज्ञान अरबों ने भारत से प्राप्त किया, उसे अरबों से यूरोपियन लोगों ने सीखा। मध्ययुग के अन्त में यूरोप में जो विद्या का पुनः जागरण हुआ, उसमें सिसली, स्पेन और दक्षिणी इटली का अरबों से घनिष्ठ सम्पर्क एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

अरब-शक्ति का ह्रास—आठवीं सदी के प्रारम्भ में सिन्ध और मुलतान के प्रदेश विशाल अरब साम्राज्य की अधीनता में आ गये थे। पर गुर्जर-प्रतीहार राजा नाग-भट्ट के पराक्रम के कारण अरब लोग भारत में अधिक आगे नहीं बढ़ सके। ८८४ ईस्वी में सिन्ध के अरब शासक इम्रां बिन मूसा ने एक बार फिर भारत विजय का प्रयत्न किया, और दक्षिण-पूर्व में कच्छ के ऊपर आक्रमण किया। पर कन्नौज के प्रतापी गुर्जरप्रतीहार सम्राट् मिहिरभोज ने उसे परास्त कर अरबों की महत्त्वाकांक्षाओं का सदा के लिए अन्त कर दिया। इस बीच में अरब की खलीफत में भी निर्बलता आनी शुरू हो गई थी, और खलीफाओं के लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे अपने साम्राज्य के सुदूरवर्ती भारतीय प्रदेशों पर अपना नियन्त्रण रख सकें। परिणाम यह हुआ, कि सिन्ध और मुलतान के प्रदेशों में विविध अरब शासक स्वतन्त्र रूप से शासन करने और पारस्परिक संघर्ष में अपनी शक्ति को क्षीण करने लगे। दसवीं सदी के अन्त में जब तुर्कों ने भारत पर आक्रमण शुरू किये, सिन्ध और मुलतान के अरब-शासकों की स्थिति छोटे-छोटे स्थानीय राजाओं (अमीरों) की रह गयी थी, और भारत के राजनीतिक जीवन में उनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था।

(२) तुर्कों के आक्रमण

सातवीं-आठवीं सदियों में अरबों ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, धीरे-धीरे उसमें क्षीणता के चिह्न प्रगट होने लग गये थे। सभ्यता और वैभव ने अरबों को विलासी बना दिया था, और उनमें वह प्रचण्ड शक्ति नहीं रह गयी थी, जो स्पेन से लेकर सिन्ध तक के विशाल भूखण्ड को उनकी अधीनता में लाने में समर्थ हुई थी। जिस प्रकार विशाल गुप्त-साम्राज्य हूणों के आक्रमणों का मुकाबला करते-करते क्षीण हो गया था, वैसे ही सुविस्तीर्ण अरब-साम्राज्य पर भी उत्तर और पूर्व की ओर से निरन्तर आक्रमण होते रहते थे, और उनसे अपनी रक्षा करने में सभ्य अरब लोग अपने को असमर्थ पाते थे। दसवीं सदी में अरब साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हुआ, और उनके भग्नावशेषों पर अनेक नये राज्य कायम हुए। इन राज्यों में तुर्कों द्वारा स्थापित गजनी के

राज्य का भारतीय इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। तुर्क लोग अरबों के मुकाबले में असभ्य थे। इसी कारण अरबों के सम्पर्क में आकर उन्होंने उनके धर्म और संस्कृति को अपना लिया था। गजनी के तुर्क-राज्य का संस्थापक अलप्तगीन था, और उसने दसवीं सदी के मध्य भाग में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। अलप्तगीन के बाद उसका पुत्र सुबुक्तगीन (९७७ ई० प०) गजनी का राजा बना। उसने अपने तुर्क-राज्य के उत्कर्ष के लिये भारत पर अनेक आक्रमण किये। इस समय उत्तर-पश्चिमी भारत जयपाल नामक राजा के शासन में था, जिसकी राजधानी सिन्ध नदी के तट पर स्थित ओहिन्द नगरी थी। जयपाल हिन्दूसाही वंश का था, और वर्तमान समय के अफगानिस्तान के भी कतिपय प्रदेश (प्राचीन पश्चिमी-गान्धार जनपद) उसके राज्य के अन्तर्गत थे। तुर्क-आक्रान्ता का मुकाबला करने के लिये जयपाल ने अन्य भारतीय राजाओं की भी सहायता प्राप्त की। खुर्रम नदी के तट पर तुर्क और भारतीय सेनाओं में युद्ध हुआ, जिसमें सुबुक्तगीन की विजय हुई। इस विजय के कारण सिन्ध नदी के पश्चिम के उत्तर-पश्चिमी भारत पर तुर्कों का अधिकार स्थापित हो गया।

महमूद गजनवी—९९७ ईस्वी में सुबुक्तगीन की मृत्यु के बाद महमूद गजनी का सुलतान बना। उसने गजनी के तुर्क साम्राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया, और अपने राज्य का विस्तार करते हुए भारत पर कई बार आक्रमण किये। दक्षिण-पश्चिम में काठियावाड़ तक और पूर्व में मथुरा और कन्नौज तक महमूद ने विजययात्राएं कीं। इस समय भारत में कोई ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं थी, जो तुर्कों का दृढ़तापूर्वक मुकाबला कर सकती। इसी कारण महमूद गजनवी मथुरा और कन्नौज जैसे वैभवपूर्ण नगरों का ध्वंस करने में समर्थ हुआ। सोमनाथ के मन्दिर की लूट के बाद जब महमूद वापस लौट रहा था, तो धारानगरी के परमार राजा भोज ने उसका मुकाबला किया, और भोज से परास्त होकर तुर्क-आक्रान्ता को शीघ्र अपने देश को लौट जाने के लिये विवश होना पड़ा। महमूद जो भारत में मुसलिम तुर्कों का स्थिर शासन स्थापित नहीं कर सका, उसका प्रधान कारण यही था, कि अभी भारत के विविध राजवंशों की शक्ति सर्वथा क्षीण नहीं हो गयी थी। परमारवंशी भोज सदृश प्रतापी राजा अभी इस देश में विद्यमान थे, जो रणक्षेत्र में तुर्कों को परास्त करने की क्षमता रखते थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि तुर्कों के आक्रमणों के परिणामस्वरूप उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पश्चिमी पंजाब और सिन्ध अब मुसलिम शासकों की अधीनता में चले गये। महमूद के उत्तराधिकारी निर्बल थे। उनके शासनकाल में गजनी का साम्राज्य क्षीण होना शुरू हो गया, और तुर्कों के लिए यह सम्भव नहीं हुआ, कि वे पश्चिमी पंजाब से आगे बढ़कर भारत में अपनी शक्ति का विस्तार कर सकें।

ग्यारहवीं सदी के शुरू में महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण किये थे। इसके बाद लगभग दो सदी तक भारत पर किसी विदेशी आक्रान्ता ने आक्रमण नहीं किया। बारहवीं सदी के अन्त (११९१ ईस्वी) में एक बार फिर अफगानिस्तान के क्षेत्र से मुसलमानों ने भारत पर हमले शुरू किये, और शहाबुद्दीन गोरी ने उत्तरी भारत के अच्छे बड़े प्रदेश को जीतकर अफगान सल्तनत की नींव डाली। पर लगभग दो सौ साल तक भारत इस्लाम के आक्रमणों से बचा रहा, और इस देश के विविध राजपूत राजा विजय-

यात्राओं द्वारा अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर रहे।

(३) इस्लाम का हिन्दू-जाति से प्रथम सम्पर्क

विदेशी तथा विधर्मी लोगों का आक्रमण भारत के लिये कोई नयी बात नहीं थी। अरबों और तुर्कों से पहले भी अनेक विदेशी जातियों ने विजेता के रूप में भारत में प्रवेश किया था। यवन (ग्रीक), शक, युइशि, पार्थियन, कुशाण, हूण आदि कितनी ही जातियों ने भारत के अनेक प्रदेशों की विजय कर वहां अपने राज्य स्थापित किये थे। राजनीतिक दृष्टि से ये जातियां चाहे विजयी रही हों, पर धर्म, सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ये भारतीयों द्वारा परास्त हुई थीं। अनेक यवन राजाओं ने भारत के सम्पर्क में आकर बौद्ध, शैव और वैष्णव धर्मों को अपना लिया था। शक, युइशि, हूण आदि भारत में आकर पूर्णरूप से भारतीय बन गये थे। बहुत पुराने समय से भारत में 'व्रात्यस्तोम' यज्ञ की परिपाटी थी, जिससे इन सब व्रात्य जातियों को आर्यों ने अपने धर्म व समाज में सम्मिलित कर लिया था। यह सत्य है, कि इन विदेशी जातियों के विश्वासों, रीति-रिवाजों और पूजा की शैली ने भारत के धर्म को प्रभावित किया। पर भारत में बस जाने के बाद ये जातियां इस देश के लिये विदेशी नहीं रहीं। इन्होंने यहां की भाषा, धर्म, साहित्य और संस्कृति को पूरी तरह से अपना लिया था।

भारत के इतिहास में यह पहला अवसर था, जबकि अरब और तुर्क लोग भारत में प्रविष्ट होने के बाद भी इस देश के समाज का अंग नहीं बन सके। साथ ही, यह बात भी ध्यान देने योग्य है, कि अरब और तुर्क लोगों को भी हिन्दुओं को अपने रंग में रंग सकने में वह सफलता नहीं हुई, जो उन्हें अन्य देशों में हुई थी। अरब साम्राज्य के उत्कर्ष काल में जहां कहीं भी मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हुआ, वहां की जनता ने पूर्णरूप से अरब के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया। प्राचीन मिस्र की यूनानी संस्कृति और प्राचीन ईरान की अपनी उच्च संस्कृति मुसलिम अरबों के सामने नहीं टिक सकीं। पर भारत में मुसलमानों को वह सफलता नहीं मिली, जो उन्हें मिस्र और ईरान में प्राप्त हुई थी। इस स्थिति के क्या कारण थे?

(१) इस युग में इस्लाम में अद्भुत जीवनी शक्ति थी। वह एक नई महत्त्वाकांक्षा को लेकर अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था। मुसलमानों से पूर्व यवन, शक, कुशाण, हूण आदि जिन जातियों ने भारत में प्रवेश किया था, वे किसी ऐसे जीवनपूर्ण धर्म की अनुयायी नहीं थीं, जो अपने को अन्य सब धर्मों की अपेक्षा उत्कृष्ट समझता हो। मुसलमान ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते थे, मूर्ति-पूजा से उन्हें उत्कट घृणा थी, मूर्तियों का भंजन करने में वे गौरव अनुभव करते थे। इस युग के मुसलमान धर्मों के समन्वय और सामंजस्य को जरा भी महत्त्व नहीं देते थे। जो मुसलमान नहीं हैं वह काफिर हैं, और जो इस्लाम को स्वीकृत कर लेता है वह हमारा अपना अंग है--यह भावना उनमें उत्कृष्ट रूप से विद्यमान थी। इस्लाम का उद्देश्य यह था, कि वह सम्पूर्ण विश्व को पाकनशाह् कर ले। उसकी दृष्टि में सब मनुष्य एक बराबर थे, बशर्ते कि वे इस्लाम को स्वीकार कर लें। मुसलमान बन जाने के बाद ऊंच-नीच, छूत-अछूत और स्वामी-दास का भेद-भाव नहीं रह जाता था। भारत के जाति-भेद-प्रधान हिन्दू-धर्म के मुकाबले में इस्लाम की यह विशेषता बड़े महत्त्व की थी। इस देश के शूद्रों और अन्य नीच

समझे जाने वाले लोगों के लिये अपनी स्थिति को ऊँचा बनाने का यह सुवर्ण अवसर था। हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर लेने मात्र से वे शूद्र या अछूत की हीन स्थिति से ऊँचा उठकर शासक श्रेणी में सम्मिलित हो सकते थे। इस कारण मुसलमानों को भारत में अपने धर्म के प्रसार का अच्छा अवसर प्राप्त था। वे क्यों अपने धर्म को छोड़कर शैव, वैष्णव या बौद्ध धर्म को अपनाते ? इसमें संदेह नहीं, कि इस युग के हिन्दू-धर्म में सामंजस्य व समन्वय की प्रवृत्ति विद्यमान थी। उनके लिये यह स्वाभाविक था, कि वे अरबों और तुर्कों के 'अल्लाह' को भी विष्णु व शिव का ही रूप मान लेते, और रसूल मुहम्मद को भी कृष्ण तथा बुद्ध के समान ईश्वर का अन्यतम अवतार। 'अल्लोपनिषद्' की रचना इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। पर इस्लाम का अल्लाह 'लाशरीक' था, और शिकरत को मुसलमान लोग बहुत बड़ा कुफ्र समझते थे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि विश्व भर को अपने दायरे में ले आने के लिये उत्सुक मुसलमान लोग हिन्दू धर्म में अपने को विलीन कर सकते।

(२) जहाँ एक ओर इस्लाम में अपूर्व जीवनी शक्ति थी, वहाँ दूसरी ओर हिन्दू-धर्म में क्षीणता आ गयी थी। वज्रयान, वाममार्ग आदि सम्प्रदायों के विकास के कारण भारत के धर्मों का स्वरूप इस प्रकार का हो गया था, कि उनमें लोकहित और मानव-कल्याण की भावना का अन्त होकर गुह्य सिद्धियों की प्राप्ति की उत्कण्ठा प्रबल हो गयी थी। धर्म का सामूहिक प्रयोजन भी कुछ है, यह विचार इस युग के भारतीय धर्मों में बहुत क्षीण हो गया था। जाति-भेद के विकास के कारण इस देश का जनसमाज किस प्रकार छोटे-छोटे विभागों में विभक्त हो गया था, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। जब भारत के उच्च वर्ग के लोग अपने धर्म के अनुयायी निम्न वर्ग के लोगों से ही पृथक्त्व अनुभव करते थे, तो उनसे यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि वे मुसलमानों को अपने समाज का अंग बना सकें। किसी समय भारत के धर्मों में भी पतित-पावनी शक्ति विद्यमान थी। भगवान् विष्णु के स्मरण व पूजा से शक, यवन, हूण आदि 'पापयोनि' जातियाँ प्राचीन समय में अपने को पवित्र कर सकती थीं। पर विष्णु की यह पावनी शक्ति इस युग के वैष्णवों की दृष्टि में लुप्त हो चुकी थी। धर्म के 'लोकहित-कारक' क्रियात्मक रूप को आंखों से ओझल कर हिन्दू धर्म के नेता इस समय या तो गुह्य सिद्धियों की साधना में तत्पर थे, और या यथार्थ ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने और भक्ति द्वारा भगवान् को रिझाने में प्रयत्नशील थे। कुछ विचारकों ने इस समय शुद्धि द्वारा तुर्कों को आत्मसात् करने का प्रयत्न भी किया। पर इस प्रयत्न के पीछे वह प्रेरणा नहीं थी, जो विदेशी व विधर्मी लोगों को अपना अंग बना लेती है। मुसलमानों के रूप में जो नयी 'व्रात्य' या 'पापयोनि' जातियाँ इस समय भारत में प्रविष्ट हुई थीं, उन्हें अपने में लीन कर सकने में हिन्दू जाति असमर्थ रही।

जो बात धर्म के सम्बन्ध में हुई, वही भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी हुई। जब तुर्कों ने शुरू में भारत पर आक्रमण किया, तो उन्हें यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि अपने सिक्कों पर वे संस्कृत-भाषा का प्रयोग करें। वे यह आशा नहीं करते थे, कि किसी विदेशी भाषा के सहारे वे भारत में अपने शासन को चला सकेंगे। महमूद गजनवी के चाँदी के सिक्कों पर यह लेख पाया जाता है—"अव्यक्तमेकं मुहम्मद अवतार नृपति

महमूद अयं टंको महमूदपुरे घटे हतो जिनायन संवत्" इसका अर्थ है "एक अव्यक्त (ला इला इल्लिल्लाह) मुहम्मद अवतार (मुहम्मद रसूल इल्लाह) राजा महमूद, यह टंका महमूदपुर की टकसाल में पीटकर बनाया गया, जिन (हजरत) के अयन (भागने-हिजरत) का संवत्।" केवल महमूद ने ही नहीं, अपितु अफगान सुलतानों ने भी शुरू में अपने सिक्कों पर संस्कृत-भाषा का प्रयोग किया था। ऐसे एक टंके पर 'स्री महमूद साम' नागरी अक्षरों में अंकित है, और साथ में बैठे हुए नन्दी की प्रतिमा है। अफगान-युग के एक अन्य टंके पर लक्ष्मी की मूर्ति के साथ 'श्रीमद मीर मुहम्मद साम' शब्द अंकित है। पर मुसलिम शासकों की यह प्रवृत्ति देर तक कायम नहीं रही। शीघ्र ही उन्होंने अपने सिक्कों पर से या शासन-सम्बन्धी अन्य कार्यों से संस्कृत-भाषा और देवनागरी लिपि को दूर कर दिया। वे हिन्दुओं के साथ किसी भी प्रकार की एकता स्थापित कर सकने में असमर्थ रहे। उन्होंने पर्शियन भाषा और पर्शियन लिपि का भारत में उपयोग किया, और हिन्दुओं व मुसलमानों की दुनिया एक दूसरे से सर्वथा पृथक् होती गयी। भारत के इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है। इसी कारण जब बारहवीं सदी के अन्त में अफगान-आक्रान्ताओं ने भारत के अच्छे बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया, तो इस देश के लिये उनका शासन विदेशी शासन के सदृश था। दिल्ली के अफगान सुलतान अपने शासन के लिये या तो अपने सजातीय सरदारों और सैनिकों पर निर्भर करते थे, और या उन भारतीयों पर, जिन्होंने कि इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। मुगल बादशाहों में न केवल अकबर और जहांगीर की, अपितु औरंगजेब तक की शक्ति का मुख्य आधार राजपूत सैनिक थे, जो हिन्दू-धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करते थे। पर अफगान युग में यह बात नहीं थी। इस काल में मुसलमानों की एक पृथक् श्रेणी थी, जो अपने धर्म, भाषा और संस्कृति को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए थी, और जिसका इस देश की सर्वसाधारण जनता के साथ कोई विशेष सम्पर्क नहीं था। पर यह बात भी असम्भव थी, कि भारत में स्थिर रूप से बस जाने के बाद भी तुर्कों और अफगानों पर इस देश की सभ्यता और संस्कृति का कोई असर न पड़ता, या इस्लाम के रूप में जो एक नया धर्म इस देश में प्रविष्ट हुआ था, वह भारत के जीवन और विचार-प्रवाह को प्रभावित किये बिना रह जाता। मुसलमानों और हिन्दुओं के इस सम्पर्क द्वारा क्या परिणाम उत्पन्न हुए, इस प्रश्न पर हम अगले एक अध्याय में विशद रूप से विचार करेंगे। पर पहले यह आवश्यक है, कि भारत में मुसलिम शासन के स्थिर रूप से स्थापित होने के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डाला जाय, क्योंकि अरबों और तुर्कों के आक्रमणों के बाद भी इस देश की राजशक्ति मुसलमानों के हाथों में नहीं चली गयी थी। ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में भारत का बहुत बड़ा भाग मुसलिम आधिपत्य से मुक्त था, और इस देश की प्रधान राजशक्ति उन राजपूत राजवंशों के हाथों में थी, जो विविध प्रदेशों में पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ शासन करते हुए अपने-अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

(४) तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना

तुर्क सुलतान महमूद ने गजनी को राजधानी बनाकर जिस विशाल व वैभव-पूर्ण साम्राज्य की स्थापना की थी, उसे उसके निर्बल उत्तराधिकारी सुव्यवस्थित रूप

से कायम रख सकने में असमर्थ रहे थे। गजनी के उत्तर में एक छोटा-सा राज्य था, जिसे गोर कहते थे। गोर का शासन अफगान सरदारों के हाथों में था, जो पहले गजनी के सुलतानों की अधीनता स्वीकृत करते थे। तुर्क सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर ११५० ई० में गोरी के सरदार अलाउद्दीन ने अपने को स्वतन्त्र कर लिया, और अवसर पाकर गजनी को भी जीत लिया। गजनी का शासन करने के लिये उसने अपने भाई शहाबुद्दीन गोरी को नियत किया, जो आगे चलकर गजनी का स्वतन्त्र सुलतान बन गया। शहाबुद्दीन गोरी केवल गजनी के राजसिंहासन से ही संतुष्ट नहीं हुआ, उसने पहले उत्तर-पश्चिमी भारत से तुर्कों के शासन का अन्त किया, और फिर पंजाब से आगे बढ़कर दिल्ली और कन्नौज के चौहान और गहड्वाल राजाओं के साथ युद्ध किये। अनेक युद्धों में परास्त होकर भी अन्त में वह दिल्ली और शाकम्भरी के चौहान राजा पृथिवीराज को परास्त करने में समर्थ हुआ (११९२ ई० प०), और दो साल बाद गहड्वाल राजा जयचन्द को हराकर कन्नौज के राज्य पर उसने अपना अधिकार कर लिया। यह प्रथम अवसर था, जब इस्लाम के अनुयायी विदेशी आक्रान्ता ठेठ उत्तरी भारत को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। कन्नौज के राजा जयचन्द की पराजय से काशी तक के प्रदेश पर शहाबुद्दीन गोरी का अधिकार हो गया था, और भारत की राजशक्ति को अफगानों के सम्मुख बुरी तरह से नीचा देखना पड़ा था।

शहाबुद्दीन गोरी ने गोर और गजनी को छोड़कर स्वयं दिल्ली या कन्नौज को अपनी राजधानी बनाकर शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। भारत के अपने 'विजित' प्रदेश का शासन करने के लिये उसने अपने अन्यतम सेनापति कुतुबुद्दीन ऐबक को नियत किया, जो १२०६ में शहाबुद्दीन गोरी की मृत्यु के बाद दिल्ली में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लगा। पर अफगानों की भारत-विजय कन्नौज और काशी को अधिकृत कर लेने के साथ ही समाप्त नहीं हो गयी थी। ११९७ ईस्वी में अन्यतम अफगान सेनापति मुहम्मद बिन बख्त्यार खिलजी ने काशी से आगे बढ़कर मगध और बंगाल पर आक्रमण किया, और इनके निर्बल राजा मुसलिम आक्रान्ताओं से अपने राज्यों की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहे। मगध और बंगाल के समान बुन्देलखण्ड पर भी १२०३ में आक्रमण किया गया, और कालिन्जर के सुदृढ़ दुर्ग को जीत कर इस प्रदेश को भी अफगान-सल्तनत में शामिल कर लिया गया।

१२०६ में जब कुतुबुद्दीन दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत अफगानों के आधिपत्य में आ चुका था। १२०६ से १५२५ तक (जब कि बाबर ने अफगानों को परास्त कर मुगल बादशाहत की स्थापना की थी) तीन सदी से भी अधिक समय तक भारत में तुर्क-अफगानों का शासन रहा। इस काल में दिल्ली को राजधानी बनाकर तुर्क-अफगानों के अनेक राजवंशों ने भारत का शासन किया। यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि इन विविध सुलतानों के शासन व कर्तृत्व का संक्षिप्त रूप से भी उल्लेख कर सकें। पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिनका निर्देश करना इस युग के भारतीय इतिहास को भली-भाँति समझने के लिये अनिवार्य है। यद्यपि अफगान-विजेता भारत के अच्छे बड़े भाग को अपनी अधीनता में ले आने में समर्थ हुए थे, पर इस देश में उनका शासन सुव्यवस्थित नहीं था। दिल्ली के राजसिंहासन पर कौन व्यक्ति आरूढ़ हो, यह बात उसकी अपनी वैयक्तिक शक्ति और अपने साथी सैनिक नेताओं

को काबू में रख सकने के सामर्थ्य पर निर्भर रहती थी। यही कारण है, कि विविध सरदार सुलतान के विरुद्ध षड्यन्त्र और विद्रोह करने के लिये सदा तत्पर रहते थे, और अफगान सुलतानों की स्थिति सदा डांवाडोल रहती थी। फिर भी इस युग में अनेक ऐसे सुलतान हुए, जिन्होंने कि न केवल अपने राज्य पर दृढ़तापूर्वक शासन किया, अपितु दूर-दूर तक विजय-यात्राएं कर अपने साम्राज्य का विस्तार भी किया। इस प्रकार के प्रतापी अफगान सुलतानों में अलाउद्दीन खिलजी (१२९५–१३२६) सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। देवगिरि के यादव राज्य और अनहिलवाड़ा के चालुक्य राज्य को युद्ध में परास्त कर अलाउद्दीन ने दक्षिण की ओर अपने आधिपत्य का विस्तार किया। यदि वह राजपूताना को भी जीत सकता, तो सम्पूर्ण उत्तरी भारत और दक्षिणापथ पर उसका सार्वभौम शासन स्थापित हो जाता। पर हम्मीर के नेतृत्व में राजपूताना के मेवाड़ आदि राज्यों ने अलाउद्दीन के विरुद्ध अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित किया, और रणक्षेत्र में अनेक बार परास्त हो जाने पर भी मेवाड़ सदृश राजपूत-राज्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखने में समर्थ रहे। राजपूतों के उच्छेद में असफल होकर अलाउद्दीन ने दक्षिणी भारत की विजय का उपक्रम किया। मलिक काफूर नामक कुशल सेनापति के नेतृत्व में अफगान सेनाओं ने दक्षिण में रामेश्वरम् तक विजययात्रा की, और दक्षिणी भारत में जो अनेक राजवंश स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करते थे, उनको परास्त किया। भारत के इतिहास में अलाउद्दीन खिलजी को वही स्थान प्राप्त है, जो सिकन्दर और समुद्रगुप्त जैसे दिग्विजयी वीरों को है। दूर-दूर तक विजय यात्राएं कर उसने अपनी सल्तनत का उत्कर्ष किया, पर इन विजयों के परिणामस्वरूप वह किसी स्थायी साम्राज्य की नींव नहीं डाल सका। उसकी मृत्यु से पहले ही साम्राज्य में सर्वत्र विद्रोह शुरू हो गये। न केवल परास्त हुए हिन्दू-राजवंशों ने ही अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया, अपितु अनेक प्रान्तीय अफगान शासकों ने भी दिल्ली के सुलतान के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी निर्बल थे, वे साम्राज्य की एकता को कायम रखने में असमर्थ रहे, और भारत में फिर अनेक स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो गये।

चौदहवीं सदी के सुलतानों म मुहम्मद तुगलक (१३२५–१३५१) और फीरोज तुगलक (१३५१–१३८८) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने दिल्ली की सल्तनत की शक्ति को पुनः स्थापित करने के लिये अनेक प्रयत्न किये। आंशिक रूप से सफल होने पर भी ये अफगान साम्राज्य की एकता को कायम नहीं रख सके। भारत की पुरानी राजशक्तियों ने अफगान सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर एक बार फिर सिर उठाया, और राजपूताना में अनेक राजपूत राज्य प्रबल हो गये। इनमें मेवाड़ के राणाओं ने बहुत उन्नति की, और जब सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में मुगल-आक्रान्ता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, तो उत्तरी भारत की प्रधान राजशक्ति दिल्ली के सुलतान न होकर मेवाड़ के राणा ही थे। सुदूर दक्षिण में विजयनगर के रूप में हिन्दू राजशक्ति का पुनरुद्धार हुआ (१३३८ ई०), और अफगान शासक उसकी स्वतन्त्र सत्ता को नष्ट कर सकने में सदा असमर्थ रहे। इस युग के राजनीतिक इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है, कि मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में हिन्दू राजशक्ति की बड़े प्रबल रूप से पुनः स्थापना हुई थी। बाद के अफगान सुलतान हिन्दू-राजवंशों को अपना वशवर्त्ती

बनाने में सर्वथा असमर्थ रहे। जिन प्रदेशों में प्राचीन हिन्दू-राजवंशों का शासन कायम नहीं हुआ, वे सब भी चौदहवीं सदी के द्वितीय चरण में दिल्ली की अधीनता में नहीं रह गये। बंगाल, जौनपुर, गुजरात और मालवा में इस समय नये मुसलिम राजवंशों की स्थापना हुई, जो न केवल दिल्ली के सुलतानों के आधिपत्य को स्वीकृत नहीं करते थे, अपितु उनके विरुद्ध संघर्ष में भी तत्पर रहते थे। मुहम्मद तुगलक के समय में दिल्ली की सल्तनत खण्ड-खण्ड हो गयी थी, और उसके भग्नावशेषों पर जहां अनेक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य कायम हो गये थे, वहां साथ ही अनेक प्रान्तीय अफगान शासकों ने भी अपने को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कर लिया था।

भारतीय इतिहास का अफगान-युग १२१० से १५३५ ईस्वी तक है। इस युग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। पहला भाग १२१० से १३५० तक समझा जा सकता है, जबकि दिल्ली के सुलतान भारत के विविध प्रदेशों की विजय में तत्पर रहे। इस युग के सुलतानों की यह आकांक्षा थी, कि वे दूर-दूर तक विजय यात्राएं कर अपने साम्राज्य का विस्तार करें, और विजित नगरों को लूट कर अपने राज्यकोष को पूर्ण करें। इसमें सन्देह नहीं, कि अपने इस उद्देश्य में अफगान सुलतानों को पर्याप्त सफलता हुई थी। देवगिरि, वारंगल आदि से लूटे हुए धन से दिल्ली का राजकोष परिपूर्ण हो गया था, और सुलतान व उनके दरबारी इस धन को भोग-विलास में स्वेच्छापूर्वक उड़ा सकते थे। कुतुबुद्दीन मुबारक (१३१६) जैसा सुलतान जनाने कपड़े पहनकर नर्तकों, वादकों और विदूषकों के साथ बाजार में घूमता फिरता था, और अपने अमीरों व सरदारों के साथ मौज-बहार में मस्त रहता था। मुहम्मद तुगलक की प्रवृत्ति विषय-वासना की ओर नहीं थी, पर पागलपन के आवेश में आकर उसने अनेक ऐसे कार्य किये, जिनसे दिल्ली के राज्यकोश का बहुत-सा धन बरबाद हो गया।

१३५० ईस्वी के लगभग अफगान-युग के द्वितीय भाग का प्रारम्भ हुआ, जबकि दिल्ली की सल्तनत के अनेक प्रान्तीय शासकों ने विद्रोह कर अपने स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना कर ली। ये राज्य निम्नलिखित थे—(१) **बंगाल**—मुहम्मद तुगलक के समय में बंगाल के सूबेदार फखरुद्दीन ने विद्रोह कर दिया, और दिल्ली के आधिपत्य का अन्त कर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। फीरोजशाह तुगलक ने बंगाल को फिर से अपने अधीन करने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। (२) **जौनपुर**—इस राज्य की स्थापना फीरोज तुगलक के समय में हुई थी, और पन्द्रहवीं सदी में इसके स्वतंत्र सुलतानों ने अपनी शक्ति का अच्छा विस्तार कर लिया था। जौनपुर के राज्य का महत्त्व राजनीतिक दृष्टि से उतना नहीं है, जितना कि सांस्कृतिक दृष्टि से है। (३) **मालवा**—अलाउद्दीन खिलजी के बाद मालवा का शासन दिल्ली की ओर से नियुक्त अफगान सूबेदारों के हाथों में रहा, जो कि पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भ (१४०१) में स्वतंत्र हो गये। मालवा के इन स्वतंत्र सुलतानों ने माण्डू को अपनी राजधानी बनाया। (४) **गुजरात**—मालवा के समान गुजरात के अफगान सूबेदार भी १४०१ में स्वतंत्र हो गये, और अहमदाबाद को राजधानी बनाकर उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक शासन शुरू किया। (५) **बहमनी**—दक्षिण के जिन हिन्दू-राजवंशों को परास्त कर अलाउद्दीन ने अपने अधीन किया था, उनके प्रदेश देर तक दिल्ली की सल्तनत के

अन्तर्गत नहीं रह सके। १३४७ में हसन गंगू नाम के एक वीर सैनिक ने वहां अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया, जो बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हसन गंगू मुहम्मद तुगलक की सेवा में था, और उसी की ओर से दक्षिण में शासन करने के लिये नियुक्त हुआ था। बहमनी राज्य की राजधानी दौलताबाद थी, जो पुराने देवगिरि की स्थानापन्न थी।

पन्द्रहवीं सदी के शुरू में भारत की राजशक्ति का जो स्वरूप विकसित हो गया था, उसे संक्षेप में इस प्रकार सूचित किया जा सकता है, कि दिल्ली के अफगान सुलतानों की शक्ति बहुत क्षीण हो गयी थी, और उनकी स्थिति बहमनी राज्य, गुजरात व मालवा के मुसलिम शासकों के मुकाबले में बहुत कम थी। दिल्ली के सुलतानों की अपेक्षा बंगाल, जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद के सुलतान अधिक शक्तिशाली और वैभवपूर्ण थे। इन विविध मुसलिम राजशक्तियों के अतिरिक्त सुदूर दक्षिण के विजयनगर राज्य और राजपूताना के विविध राजपूत राज्यों का इस युग में निरंतर उत्कर्ष हो रहा था, और मेवाड़ के राणा उत्तरी भारत के किसी भी मुसलिम सुलतान की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे। गुजरात और मालवा के मुसलिम सुलतानों के साथ निरंतर संघर्ष करके मेवाड़ के राणाओं ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था।

सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध में मुगलों ने भारत में अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की। मुगलों के साथ भारत के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) विजयनगर साम्राज्य की स्थापना

चौदहवीं सदी के शुरू में जब अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने सुदूर दक्षिण के विविध राज्यों को परास्त कर अपने अधीन किया, तो इस प्रदेश में बहुत अव्यवस्था मच गई। हरिहर और बुक्क नामक दो वीर पुरुषों ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया, और विद्यारण्य नामक विद्वान् आचार्य की सहायता से दक्षिणी भारत को मुसलिम आधिपत्य से मुक्त किया। दिल्ली के सुलतानों के लिये यह सुगम नहीं था, कि सुदूर दक्षिण पर अपने शासन को स्थायी रूप से कायम रख सकें। इसलिए १३३६ ईस्वी में हरिहर और बुक्क ने वहां अपने स्वतंत्र राज्य की नींव डाली, जो कुछ समय बाद ही दक्षिण में कुमारी अन्तरीप से उत्तर में कृष्णा नदी तक विस्तृत हो गया। भारत के मध्यकालीन इतिहास में विजयनगर राज्य का बहुत अधिक महत्त्व है। इसकी स्थापना के कारण सुदूर दक्षिण के प्रदेश अफगानों के शासन और मुसलिम संस्कृति के प्रभाव से बचे रहे, और इस क्षेत्र में विशुद्ध हिन्दू-संस्कृति का विकास जारी रहा।

विजयनगर के राजा केवल सुदूर दक्षिण की मुसलिम आधिपत्य से रक्षा करने में ही समर्थ नहीं हुए, अपितु उन्होंने उत्तर के मुसलिम सुलतानों को अनेक बार युद्धों में परास्त भी किया। कृष्णदेव राय (१५०९–१५५०) ने उत्तर पूर्व की ओर विजय-यात्रा कर कटक और उड़ीसा की विजय की, और बीजापुर के आदिलशाह को रणक्षेत्र में पराजित किया। बहमनी सल्तनत की शक्ति क्षीण होने पर उसके प्रदेशों में पांच शाहियों की स्थापना (पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में) हो गयी थी, जिसमें बीजापुर की आदिलशाही अन्यतम थी। उसे परास्त करने में समर्थ होने के कारण विजयनगर

की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी, और वह भारत की एक प्रमुख राजशक्ति बन गया था। भारतीय इतिहास में विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय की वही स्थिति है, जो मध्ययुग के हर्षवर्धन, मिहिर भोज और राजराज प्रथम आदि की है।

कृष्णदेवराय सदृश प्रतापी राजाओं के शासनकाल में विजयनगर ने सभ्यता, धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति की, उस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे। यहाँ केवल इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि चौदहवीं, पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में दक्षिणी भारत का बड़ा भाग मुसलिम आधिपत्य और प्रभाव से सर्वथा मुक्त था, और वहाँ एक ऐसे राजवंश का शासन था, जिसने प्राचीन हिन्दू राजाओं की परम्परा को अक्षुण्ण रूप से कायम रखा हुआ था।

सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में विजयनगर राज्य की शक्ति क्षीण होनी शुरू हुई। बहमनी राज्य के ध्वंसावशेषों पर स्थापित हुई शाहियों ने परस्पर मिलकर विजयनगर की शक्ति का मुकाबला किया, और १५६५ में तालीकोट के युद्ध में रामराय को परास्त किया। पर इससे विजयनगर-राज्य की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं हो गया। तालीकोट के युद्ध में परास्त हो जाने के बाद इस राज्य के हिन्दू-राजाओं ने उत्तर के मुसलिम राज्यों पर आक्रमण करने का प्रयत्न नहीं किया, पर अपने क्षेत्र में वे स्वतन्त्रता-पूर्वक शासन करते रहे। मुगल बादशाह औरंगजेब के समय में एक बार फिर दिल्ली की राजशक्ति ने सुदूर दक्षिण को अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न किया, पर तब तक मुगलों की शक्ति में क्षीणता के चिन्ह प्रगट होने लग गये थे, और औरंगजेब के लिये अपने सुविस्तृत साम्राज्य को सम्भाल सकना भी कठिन हो गया था। यही कारण है, कि प्रतापी मुगल-बादशाह भी सुदूर दक्षिण के हिन्दू शासन का कभी अविकल रूप से अन्त नहीं कर सके। सत्रहवीं सदी में विजयनगर राज्य की केन्द्रीय शक्ति निर्बल हो गयी थी, और उसके अनेक प्रान्तीय शासकों ने अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करना प्रारम्भ कर दिया था। विजयनगर के भग्नावशेषों पर स्थापित हुए ये विविध हिन्दू-राज्य ब्रिटिश युग तक कायम रहे।

(६) राजपूताना

भारत में मुसलिम शासन के विस्तार का प्रधान श्रेय अलाउद्दीन खिलजी (१२९५-१३१६) को प्राप्त है। राजपूताना के अनेक छोटे-बड़े राजपूत-राज्यों को उसने युद्ध में परास्त किया, और कुछ समय के लिए उनके दुर्गम दुर्गों को भी अपने अधिकार में कर लिया। छः मास के घेरे के बाद १३०३ ई० में जब अलाउद्दीन की सेनाओं ने चित्तौड़ को भी जीत लिया, तो ऐसा प्रतीत होता था, कि राजपूताना की स्वतन्त्रता भी खतरे में पड़ गयी है, और वीर राजपूतों की यह भूमि भी अब अफगान साम्राज्य के अन्तर्गत हो जायगी। पर अपने अभेद्य दुर्गों पर अफगान सेनाओं का कब्जा हो जाने के बाद भी राजपूतों ने स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष को जारी रखा, और सीसोदिया वंश के राजपूतों ने इसमें विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया। अलाउद्दीन खिलजी की मृत्यु के बाद जब दिल्ली की सल्तनत निर्बल होने लगी, तो मेवाड़ के महाराणा हम्मीर के नेतृत्व में राजपूतों ने अपनी स्वाधीनता के लिए घोर संघर्ष शुरू किया, और १३२५ में चित्तौड़ को भी

अपने अधिकार में ले लिया। मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में राजपूतों को अपने उत्कर्ष का सुवर्णावसर हाथ लगा, और विविध राजपूत-राजवंश राजपूताना के विविध प्रदेशों स्वतन्त्रता के साथ शासन करने लगे। ये विविध राजवंश मेवाड़ के महाराणा को अपना नेता और अधिपति मानते थे। यद्यपि उनकी स्थिति सामन्तों की अपेक्षा अधिक ऊंची थी, पर इसमें सन्देह नहीं, कि वे मेवाड़ को अपना अग्रणी व संरक्षक अवश्य समझते थे। भारत में मुसलमान आक्रान्ताओं का आधिपत्य स्थापित हो जाने के कारण जो बहुत-से प्राचीन हिन्दू-राजवंश इस समय उच्छिन्न हो गये थे, उनके बहुत-से वीर पुरुष भी इस समय मेवाड़ के झंडे के नीचे एकत्र होने लगे और इनके कारण मेवाड़ की शक्ति और भी अधिक बढ़ गयी। इस प्रकार मेवाड़ के नेतृत्व में भारत की पुरानी राजशक्तियों ने अपने को पुनःसंगठित किया, और उत्तर में दिल्ली, दक्षिण में गुजरात, और पश्चिम में मालवा के सुलतानों के साथ संघर्ष शुरू किया। इस संघर्ष का वृत्तान्त इस इतिहास में दे सकना सम्भव नहीं है। यहां केवल इतना लिखना पर्याप्त होगा, कि जब सोलहवीं सदी के शुरू में राणा सांगा मेवाड़ के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ, तो यह संघर्ष बहुत कुछ सफल हो चुका था। सांगा की प्रतिभा और पराक्रम ने राजपूतों में नई स्फूर्ति का संचार किया, और उन्होंने दिल्ली के लोदी सुलतानों से बयाना, धौलपुर और ग्वालियर के प्रदेशों को जीतकर अपने आधिपत्य के क्षेत्र को आगरा के समीप पीलियाखाल तक विस्तृत कर दिया। इसी प्रकार मालवा और गुजरात की मुसलिम सल्तनतों की सम्मिलित शक्ति को रणक्षेत्र में परास्त कर राणा सांगा ने सम्पूर्ण उत्तरी मालवा और चन्देरी पर अधिकार कर लिया। इसके बाद सांगा ने गुजरात पर भी चढ़ाई की, और ईडर, अहमदनगर, बड़गांव तक का प्रदेश गुजरात के मुसलमानों से छीन लिया। राणा सांगा की शक्ति इस समय (सोलहवीं सदी का प्रथम चरण) उत्तरी भारत में सर्वप्रधान थी, और शहाबुद्दीन गोरी व अलाउद्दीन खिलजी जैसे मुसलिम विजेताओं द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य उसके सम्मुख सर्वथा निष्प्रभ हो गया था।

अफगान-युग के राजनीतिक इतिहास का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन यह समझने के लिये आवश्यक है, कि इस युग की सभ्यता और संस्कृति का भली-भांति परिचय प्राप्त करने के लिए हमें केवल मुसलिम शासकों की कृति पर ही ध्यान नहीं देना चाहिए, अपितु इस युग के हिन्दू-राजवंशों के कार्य को भी दृष्टि में रखना चाहिए, क्योंकि साम्राज्य-विस्तार की प्रक्रिया में पर्याप्त रूप से सफल हो जाने पर भी अफगान और अन्य मुसलिम शासक इस काल की एकमात्र राजशक्ति नहीं बन गये थे।

पच्चीसवां अध्याय

तुर्क-अफगान युग का भारत

(१) शासन-व्यवस्था

तुर्क-अफगान-युग—१२१० से १५२५ ई० तक के काल को हमने भारतीय इतिहास का 'अफगान-युग' कहा है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि शहाबुद्दीन गोरी की जिन सेनाओं ने भारत पर आक्रमण कर उसके अच्छे बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया था, उसके सब सैनिक अफगान-जाति के थे। शहाबुद्दीन गोरी के दिल्ली पर अधिकार कर लेने के बाद जिन विविध सुलतानों ने इस देश का शासन किया, वे सब भी जातीय दृष्टि से अफगान नहीं थे। अफगानिस्तान के क्षेत्र में तुर्कों का आधिपत्य स्थापित हो जाने के कारण वहां तुर्क अच्छी बड़ी संख्या में आबाद हो गये थे, और जिन मुसलिम सेनाओं ने बारहवीं सदी के प्रारम्भ में भारत में अपना शासन कायम किया था, उनमें तुर्क सैनिक और सरदार भी अच्छी बड़ी संख्या में थे। इस दृष्टि से इस युग की मुसलिम राजशक्ति को 'तुर्क-अफगान' कहना अधिक उपयुक्त होगा। तुर्कों और अफगानों के अतिरिक्त बहुत-से भारतीय लोग भी इस युग की मुसलिम शासक-श्रेणी के अंग बन गये थे, क्योंकि उन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। प्रारम्भ से ही इस्लाम में विदेशी और विधर्मी लोगों को आत्मसात् करने की अनुपम क्षमता थी। भारत की पुरानी शासक व सैनिक श्रेणियों के कुछ लोगों ने भी मुसलिम आक्रान्ताओं के सम्पर्क में आकर इस्लाम की दीक्षा ले ली थी। अलाउद्दीन खिलजी का प्रसिद्ध सेनापति मलिक काफूर तुर्क या अफगान न होकर विशुद्ध भारतीय था, जिसने इस्लाम को अंगीकार कर लिया था। गुजरात में स्वतन्त्र मुसलिम सल्तनत को स्थापित करने वाला राजवंश प्राचीन तक्षक क्षत्रिय जाति का था, जिसके प्रधान पुरुषों ने फीरोज तुगलक के समय में इस्लाम को अपना लिया था। बहमनी राज्य का संस्थापक हसन गंगू भी भारतीय था, जो पहले एक ब्राह्मण कुल की सेवा में नियुक्त था। यदि इस दृष्टि से देखा जाय, तो इस युग की मुसलिम-शासक-श्रेणी केवल तुर्कों और अफगानों तक ही सीमित नहीं थी, मुसलिम धर्म को अपनाने वाले बहुत-से भारतीय भी उसके अंग बन गये थे।

राजसत्ता का स्वरूप—इस युग के मुसलिम सुलतान पूर्णतया निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करने वाली कोई भी संस्थाएं व सभाएं इस युग में विद्यमान नहीं थीं। सुलतान की इच्छा ही कानून मानी जाती थी, और न्याय-सम्बन्धी बातों में भी उसका निर्णय सर्वोपरि होता था। इस्लाम का प्रादुर्भाव अरब में हुआ था, और वहां की राजसत्ता को 'सम्प्रदायतन्त्र' (Theocracy) कहा जा सकता है। हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी जहां अरब साम्राज्य के अधिपति थे, वहां साथ ही इस्लाम के प्रधान धर्माधिकारी भी थे। सम्राट् और पोप दोनों के

पद अरब के खलीफाओं में मिलकर एक हो गये थे। अरब साम्राज्य के पतन के बाद जब विभिन्न स्वतंत्र मुसलिम राज्यों की स्थापना हुई, तो उनके शासक यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से अपने राज्य में स्वतंत्र थे, पर धार्मिक दृष्टि से वे खलीफा की सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार करते थे। भारत में जब अरबों (आठवीं सदी में) और तुर्कों (दसवीं सदी) ने अपने राज्य कायम किये, तो उनके राजा भी खलीफा के धार्मिक प्रभुत्व को मानते थे। सम्पूर्ण मुसलिम संसार एक है, और उसका अधिपति खलीफा है, यह विचार मुसलिम जगत् में बहुत प्रबल था। पर अफगान युग के मुसलिम सुलतानों ने इस विचार के विपरीत आचरण किया, और अपवादस्वरूप कतिपय सुलतानों के अतिरिक्त अन्य सबने अपने नाम से खुतबा पढ़वाया। मुसलिम लोग नमाज के समय जहाँ अल्लाह और रसूल का स्मरण करते थे, वहाँ साथ ही खलीफा के प्रति भी अपनी भक्ति प्रकट करते थे। खुतबे में खलीफा का स्मरण इस भक्ति का प्रमाण माना जाता था। खलीफा के स्थान पर अपने नाम से खुतबा पढ़वाकर दिल्ली के मुसलिम सुलतानों ने अपनी शक्ति और सत्ता का सर्वोच्च रूप प्रकट किया था। जिन सुलतानों ने खुतबे में खलीफा को स्थान दिया, उनमें अल्तमश, अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ये सुलतान बहुत शक्तिशाली थे, और भारत के बाहर के मुसलिम जगत् के साथ इनका घनिष्ठ सम्बंध था। अन्य देशों के मुसलमानों की दृष्टि में ऊंचा उठने के लिये ही शायद इन्होंने इस नीति को अपनाया था। पर इन सुलतानों में भी यह भाव विद्यमान था, कि राज्य में उनकी शक्ति सर्वोपरि है, और वे अल्लाह की इच्छा के अनुसार ही अपनी सल्तनत का शासन करने के लिये नियुक्त हुए हैं। मुहम्मद तुगलक की अनेक उपाधियों में एक 'सुलतान-जिलाह-उल्लाह' भी थी, जिसका अर्थ भगवान् की छाया या प्रतिमूर्ति है। निःसंदेह, इस युग के सुलतान अपने को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे, और ईश्वर के समान ही अपनी शक्ति पर किसी अन्य का अंकुश स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं थे।

सुलतानों पर अंकुश—पर अफगान युग के मुसलिम सुलतान अविकल रूप से स्वेच्छाचारी व निरंकुश नहीं थे। उनकी शक्ति को मर्यादित करने वाले तत्त्व निम्नलिखित थे:—

(१) उनकी शक्ति का मुख्य आधार सैनिक श्रेणी थी। अतः सैनिक नेताओं की इच्छा की वे पूर्णतया उपेक्षा नहीं कर सकते थे। भारत में अफगान-सुलतानों का शासन कभी व्यवस्थित नहीं हुआ, क्योंकि पुराने युग की हिन्दू-राजशक्ति सदा उनके विरुद्ध विद्रोह कर स्वतंत्र होने के लिये उद्यत रहती थी। थोड़े-से मुसलिम विजेताओं को इस देश की ऐसी बहुसंख्यक जनता पर शासन करना था, जिसमें अभी वीरता और स्वातन्त्र्य-भावना का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। इस भारतीय जनता को सैनिक शक्ति द्वारा ही अपने वश में रखा जा सकता था। अतः दिल्ली की सल्तनत में सैनिकों और उनके नेताओं का बहुत महत्त्व था। सुलतान इनकी सम्मति की उपेक्षा करके अपनी सत्ता को कायम नहीं रख सकता था।

(२) दिल्ली के सुलतान उलमा लोगों के प्रभाव में थे, और इस्लाम के कानून के अनुसार ही शासन करने का प्रयत्न करते थे। अफगान आक्रान्ताओं ने एक ऐसे देश

को जीतकर अपने साम्राज्य की स्थापना की थी, जिसकी जनता इस्लाम की दृष्टि में काफिर या विधर्मी थी। थोड़े-से मुसलमान वहुसंख्यक हिन्दू लोगों पर शासन करते थे। अपने सैनिकों में उत्साह का संचार करने और उन्हें अफगान सल्तनत की रक्षा के लिये अपने जीवन की वलि दे देने की प्रेरणा का सर्वोत्तम उपाय यह था, कि उनमें यह विचार कूट-कूटकर भर दिया जाय, कि दिल्ली की सल्तनत इस्लामी राज्य है, जिसका नेतृत्व उलमाओं के हाथों में है, और जिसका उद्देश्य इस्लाम का उत्कर्ष है। यही कारण है, कि अफगान-युग के मुसलिम शासक उलमाओं का आदर करते थे, उनके आदेशों का पालन करते थे, और इस्लाम के कानून को सर्वोपरि मानते थे। उलमा लोग मुसलिम सैनिकों को वताते थे, कि काफिरों का विनाश उनका परम कर्त्तव्य है। यदि इस पुण्य-कार्य में उनकी मृत्यु हो जाय, तो इससे उन्हें वहिस्त मिलेगा। उलमाओं के प्रभाव में रहना अफगान सुलतानों के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता थी। इसी लिए प्रायः सभी अफगान सुलतानों ने उलमाओं का अनुसरण किया, और उन द्वारा प्रतिपादित शरायत कानून के अनुसार राज्य के शासन का प्रयत्न किया।

अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी सुलतान ने राज्यविपयक मामलों में उलमाओं के हस्तक्षेप और प्रभाव को अनुचित समझा। उसका कथन था कि राज्य में सुलतान की इच्छा ही सर्वोपरि होनी चाहिये। एक वार उसने काजी मुघिसुद्दीन से प्रश्न किया, कि देवगिरि की लूट में जो अपार सम्पत्ति मैंने अधिगत की थी, शरायत के अनुसार वह मेरी वैयक्तिक सम्पत्ति है, या वह राजकोप में जानी चाहिए। काजी का उत्तर यह था, कि यह सम्पत्ति सुलतान ने सैनिकों की सहायता से प्राप्त की है, अकेले नहीं, अतः इस पर सुलतान का वैयक्तिक स्वत्व नहीं हो सकता। इस उत्तर से अलाउद्दीन वहुत क्रुद्ध हुआ, पर काजी मुघिसुद्दीन ने विना किसी भय के शरायत के कानून का प्रतिपादन किया। यद्यपि अलाउद्दीन काजी के विचार से सहमत नहीं हुआ, पर उसने उसकी उपेक्षा करने का साहस नहीं किया। अपने व्यवहार में वह पूर्णतया स्वेच्छाचारी था, और उसने अपनी समझ के अनुसार जो कुछ उचित समझा, वही किया। पर उलमा और काजी लोगों का प्रत्यक्ष विरोध करने की शक्ति अलाउद्दीन जैसे उद्दण्ड सुलतान में भी नहीं थी। उलमाओं का विरोध करने में मुहम्मद तुगलक ने अधिक साहस से काम लिया। उसने न्याय के सम्बन्ध में काजियों द्वारा दी गयी व्यवस्थाओं की उपेक्षा की, और अनेक ऐसे आदेश दिये, जो उलमाओं की दृष्टि में शरायत के विरुद्ध थे। परिणाम यह हुआ, कि उलमाओं ने उसके खिलाफ साजिश की, और उसे अपनी योजनाओं में सफल नहीं होने दिया। सैनिक नेताओं की वशवर्तिता और उलमाओं का प्रभाव—ये दो ऐसी शक्तियाँ थीं, जो अफगान-सुलतानों की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश का कार्य करती थीं।

उत्तराधिकार—अफगान-युग की राजसत्ता के स्वरूप को भली-भांति समझने के लिये यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि दिल्ली के सुलतानों में उत्तराधिकार का कोई स्पष्ट नियम नहीं था। सुलतान की मृत्यु के बाद कौन व्यक्ति दिल्ली की राजगद्दी पर आरूढ़ हो, इसका निश्चय निम्नलिखित बातों को सम्मुख रखकर किया जाता था—(क) मृत सुलतान ने किस व्यक्ति को अपना उत्तराधिकारी नियत किया था। (ख) उसका ज्येष्ठ पुत्र कौन है। (ग) उसके पुत्रों व कुटुम्ब के अन्य मनुष्यों में कौन सबसे

अधिक योग्य है। पर इन दृष्टियों नये सुलतान का निर्णय उन सैनिक नेताओं और अमीर-उमराओं द्वारा किया जाता था, जिनकी सत्ता सल्तनत में सर्वप्रधान थी। इसी कारण कोई ऐसा व्यक्ति सुलतान-पद को प्राप्त नहीं कर सकता था, जिसे शक्तिशाली सैनिक नेताओं और अमीर-उमराओं का सहयोग व समर्थन प्राप्त न हो। इसीलिये सल्तनत के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में प्रायः झगड़े होते रहते थे, और जो व्यक्ति इस संघर्ष में सफलता प्राप्त कर राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था, वह अपने सहायक व पक्षपाती सैनिक नेताओं की उपेक्षा कर पूर्ण रूप से निरंकुश हो सकने में असमर्थ रहता था।

राजकर्मचारी वर्ग—अपने सुविस्तृत साम्राज्य पर शासन करने के लिए दिल्ली के सुलतानों ने जिस कर्मचारी-वर्ग का संगठन किया था, उस पर भी संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना उपयोगी है। राज्य के सर्वोच्च अधिकारी को 'वजीर' कहते थे। शासन के सब विभागों पर इस वजीर का नियंत्रण होता था। शासन के मुख्य विभाग निम्नलिखित थे—(१) दीवाने-अर्ज या अपीलों का विभाग। (२) दीवाने-रिसालत या सैन्य विभाग। (३) दीवाने-इन्शा या पत्र-व्यवहार विभाग। (४) दीवाने-बन्दगान या गुलामों का विभाग। (५) दीवाने-कजाए-ममालिक या न्याय-विभाग। (६) दीवाने-अमीरकोही या कृषि विभाग। (७) दीवाने-मुस्तखराज या राजकीय आय को वसूल करने वाला विभाग। (८) दीवाने-खैरात या धर्मार्थ व्यय करने वाला विभाग। (९) दीवाने-इस्तिकाक या पेंशन विभाग। इन नौ विभागों के अतिरिक्त गुप्तचर, डाक और टकसाल के भी पृथक् विभाग थे, जिन सब की व्यवस्था के लिये विविध राजकर्मचारियों की नियुक्ति की जाती थी। इन विविध विभागों के अधिकारी राज्य में बहुत ऊंचा स्थान रखते थे, और एक वजीर को छोड़कर अन्य सब राजकर्मचारियों के मुकाबले में उनकी स्थिति ऊँची मानी जाती थी। इनके अतिरिक्त राज्य के अन्य प्रमुख कर्मचारी और पदाधिकारी निम्नलिखित होते थे—(१) मुस्तौफी-ऐ-ममालीक या आडिटर-जनरल, जिसका कार्य राजकीय व्यय को नियंत्रित रखना होता था। (२) मुश्रिफे-ममालीक, जिसका कार्य राजकीय आय का हिसाब रखना और उसे वसूल करने की सुव्यवस्था करना होता था। (३) खजान्ची। (४) अमीरे-बहर या जलशक्ति का अध्यक्ष। (५) बख्शी-ए-फौज या सेना को वेतन देने का प्रधान अधिकारी। (६) काजी-उल-कजात या प्रधान न्यायाधीश, जो मुफ्तियों की सहायता से शरायत के अनुसार न्याय की व्यवस्था करता था।

प्रान्तीय और स्थानीय शासन—शासन की सुविधा के लिये अफगान सल्तनत अनेक प्रान्तों में विभक्त थी, जिनकी संख्या सल्तनत के विस्तार के अनुसार घटती बढ़ती रहती थी। अफगान सल्तनत के अधिकतम विस्तार के समय उसके प्रान्तों की संख्या चौबीस थी। इनके प्रान्तीय शासकों को 'नायब सुलतान' कहते थे। अपने-अपने क्षेत्र में इन नायब सुलतानों की स्थिति दिल्ली के सुलतान के ही सदृश होती थी, और इनकी शक्ति के कारण केन्द्रीय सुलतान का प्रत्यक्ष शासन दिल्ली व उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रहता था। सुदूरवर्ती प्रान्तों के नायब सुलतान अवसर पाते ही स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करते थे, और इसी कारण केन्द्रीय सुलतान को उन्हें वश में लाने के लिये निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ता था। प्रान्त के उपविभागों का शासन 'मुक्ता' या 'आमिल' नामक पदाधिकारियों के हाथों में रहता था। प्रान्तों के और छोटे उप-

विभागों के शासक 'शिकदार' कहाते थे। नायब सुलतान अपने प्रान्तीय शासन का खर्च अपने प्रांत से ही कर आदि द्वारा प्राप्त करते थे, और खर्च चलाकर जो बचे, उसे केन्द्रीय राजकोष में भेज देते थे। नायब सुलतानों की अपनी पृथक् सेनाएं होती थीं, जिन्हें दिल्ली का सुलतान अपनी विजय यात्राओं और युद्धों के लिये प्रयुक्त कर सकता था।

अफगान सल्तनत में बहुत-से ऐसे प्रदेश भी थे, जिन पर पुराने समय के हिन्दू राजवशों का शासन था। ये हिन्दू राजा सुलतान को अपना अधिपति मानते थे, और उसे वार्षिक कर, भेंट व उपहार आदि द्वारा संतुष्ट करते रहते थे। अफगान विजेताओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि सब हिन्दू-राजवंशों का मूलोच्छेद कर उन द्वारा शासित प्रदेशों को सीधे अपने शासन में ले आयें। इन हिन्दू-राजाओं की स्थिति अफगान साम्राज्य में सामन्तों के सदृश थी।

पिछले एक अध्याय में हम ग्राम-पंचायतों का उल्लेख कर चुके हैं, जिनके कारण मध्यकाल में जनता की स्वतंत्रता सुरक्षित थी। ये ग्राम-पंचायतें इस युग में भी नष्ट नहीं हुई थीं। अफगान सुलतानों ने ग्रामों के स्थानीय स्वशासन में हस्तक्षेप का कोई प्रयत्न नहीं किया। इसी लिए सर्वसाधारण जनता पर उनके आधिपत्य का कोई विशेष असर नहीं हुआ। अफगान आक्रमण से पूर्व भी भारत के विविध राजवंश आपस में संघर्ष करते रहते थे, और दूर-दूर तक विजय-यात्राएं कर अपने उत्कर्ष का प्रयत्न करते थे। जन-साधारण की दृष्टि में ये विजययात्राएं एक आंधी व तूफान के समान होती थीं जिनके कारण बहुत-से लोगों को अपनी जान व माल से हाथ धोना पड़ जाता था। युद्ध में विजयी होकर जो कोई राजवंश उनके प्रदेश पर आधिपत्य कर ले, उसे नियमित रूप से कर देना वे अपना स्वाभाविक कर्त्तव्य समझते थे। अब विजययात्रा करने वाली राज शक्तियों में एक अन्य ऐसी शक्ति और आ गयी थी, जो विदेशी व विधर्मी थी। उसको भी सर्वसाधारण जनता ने प्रायः उसी दृष्टि से देखा, जिससे कि वे परमार, चालुक्य, गहड्वाल, पाल आदि को देखती थी। ग्रामसंस्थाओं के कारण अभी तक भी सर्वसाधारण लोग अपसे साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करते रहे, और इसलिए उनकी स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। जो बहुत-से बड़े-बड़े नगर अफगान सल्तनत की अधीनता में थे, उनका शासन-प्रबन्ध कोतवाल और मुहतसिब नामक कर्मचारियों के हाथों से रहता था। कोतवाल नगर में शान्ति और व्यवस्था के लिये उत्तरदायी होता था, और मुहतसिब का काम नागरिक प्रबन्ध करना समझा जाता था।

परामर्श-सभा—यद्यपि अफगान सुलतान पूर्णरूप से स्वेच्छाचारी और निरंकुश थे, पर वे समय-समय पर अपने अमीर-उमराओं और सैनिक नेताओं से परामर्श करते रहते थे। इसके लिए अनेक परामर्श-सभायें थीं, जिनमें 'मजलिसे-खलवत' प्रधान थी। इस सभा में सल्तनत के प्रधान राजकर्मचारी, सैनिक नेता और बड़े अमीर-उमरा उपस्थित होते थे, और महत्त्वपूर्ण मामलों पर सुलतान को परामर्श देते थे। पर मजलिस का सदस्य होने के लिए कोई निश्चित नियम नहीं था। सुलतान जिस किसी व्यक्ति को उचित समझे, परामर्श के लिए इस सभा में बुला लेता था। मजलिस के सदस्य जो परामर्श दें उसे मानना न मानना सुलतान की अपनी इच्छा पर निर्भर करता था। इसके अतिरिक्त 'बारे-खास' और 'बारे-आम' नाम की अन्य सभाएँ भी इस युग में थीं, जो मुगल काल

के दीवाने-खास और दीवाने-आम के समान स्थिति रखती थीं। 'बारे-खास' में सल्तनत के प्रमुख खान, अमीर और मलिक सम्मिलित होते थे, और 'बारे-आम' में सर्वसाधारण जनता सुलतान की सेवा में अपने प्रार्थना-पत्र आदि उपस्थित कर सकती थी। न्याय-सम्बन्धी अर्जियाँ भी 'बारे-आम' में ही पेश की जाती थीं, और सुलतान वहीं पर उनका निर्णय करता था।

राजकीय आय के साधन—अफगान सुलतानों की आय-व्यय-सम्बन्धी नीति मुसलिम विधान-शास्त्र के हेनफी सम्प्रदाय के अनुसार निर्धारित की जाती थी। इस कारण उनकी राजकीय आय के प्रधान साधन निम्नलिखित थे—(१) खराज—हिन्दू सामन्तों व जागीरदारों द्वारा प्रदान किया जाने वाला भूमि-कर। (२) खालसा या राजकीय भूमि से प्राप्त होने वाली आमदनी। (३) अपने सैनिक अफसरों और अन्य राजकर्मचारियों को दी गयी उन जागीरों की आय का एक निश्चय भाग, जो कि इन राजपुरुषों को जन्म भर के लिये या कुछ निश्चित वर्षों के लिये प्रदान की जाती थीं। (४) जजिया कर, जो हिन्दुओं पर लगाया जाता था, और जिस कर को वसूल करने के बदले में मुसलिम शासक अपनी मुसलिम-भिन्न प्रजा के जान-माल की रक्षा करने को उद्यत होते थे। (५) युद्ध में प्राप्त हुई लूट। (६) चरागाह, सिंचाई के साधन, इमारत आदि पर लगाये गये अनेक प्रकार के कर। जजिया के अतिरिक्त अन्य सब कर हिन्दुओं और मुसलमानों पर समान रूप से लगते थे। जजिया मुसलिम शासन की एक विशेषता थी। मुसलिम विधान-शास्त्र के अनुसार यह माना जाता था, कि मुसलिम राज्य में हिन्दू आदि अन्य धर्मों के लोग तभी सुरक्षित रूप से रह सकते हैं, जबकि वे अपने जान-माल की रक्षा के बदले में एक अतिरिक्त कर राजा को प्रदान करें। कोई भी गैरमुसलिम इस्लाम को स्वीकार कर अपने को जजिया कर से मुक्त कर सकता था।

सैनिक संगठन—अफगान सल्तनत की शक्ति का मुख्य आधार उसकी सेना थी। अतः सेना के संगठन का इस युग में बहुत अधिक महत्त्व था। दिल्ली के सुलतानों की सेना के प्रायः सभी सैनिक मुसलिम थे, जो या तो अफगान, तुर्क आदि उन जातियों के थे, जिनकी सहायता से शहाबुद्दीन गोरी ने इस देश पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था, और या उन भारतीय क्षत्रियों में से थे, जिन्होंने इस्लाम को ग्रहण कर लिया था। कतिपय हिन्दू सामन्तों व जागीरदारों की सेनायें भी अफगान सेना में शामिल रहती थीं, पर ऐसे सैनिकों की संख्या बहुत कम थी। दिल्ली की केन्द्रीय सरकार की सेना के अतिरिक्त प्रान्तीय नायब सुलतानों की भी अपनी सेनाएं होती थीं, जो जहाँ प्रान्तीय क्षेत्र में शांति और व्यवस्था कायम रखने का काम करती थीं, वहाँ साथ ही नये प्रदेशों की विजय में या किसी विद्रोही सामन्त के साथ संघर्ष में सुलतान की सहायता भी करती थी। सेना के मुख्य विभाग पदाति, अश्वारोही और गजारोही होते थे। बारूद का प्रयोग अभी तक शुरू नहीं हुआ था, इसलिए तोपखाने का सेना में कोई स्थान नहीं था। पर इस प्रकार के कुछ यान्त्रिक उपकरण इस युग तक आविष्कृत हो चुके थे, जिनसे शत्रु पर पत्थर आदि फेंके जा सकते थे।

अमीर-उमरा—अफगान सल्तनत के शासन में अमीर-उमरा लोगों का बहुत महत्त्व था। सैन्य-संचालन, शासन-प्रबन्ध, और सुलतान को परामर्श देने का कार्य

इन्हीं के हाथों में था। इतना ही नहीं, कोई नया सुलतान तभी दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो सकता था, जबकि अमीर-उमराओं का सहयोग व समर्थन उसे प्राप्त हो। सुलतान बन जाने पर भी कोई व्यक्ति इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता था, क्योंकि अमीर-उमरा विद्रोह कर उसके कार्य को कठिन बनाने की क्षमता रखते थे। ये अमीर-उमरा प्रधानतया तुर्क और अफगान जातियों के थे। पर मिस्र, ईरान, अरब, अबीसीनिया आदि अन्य मुसलिम देशों से भी बहुत-से साहसी व्यक्ति इस युग में भारत आ गये थे, और उन्होंने दिल्ली की सल्तनत में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिये थे। भारत के पुराने राजवंशों के जिन कुलीन लोगों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, वे भी इस नई मुसलिम कुलीन श्रेणी के अंग बन गये थे। मलिक काफूर इसी प्रकार का व्यक्ति था। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अफगान-युग की कुलीन श्रेणी पूर्णतया वंशक्रमानुगत नहीं थी। नये साहसी व वीर मनुष्यों के लिए उसमें प्रवेश पाने की सदा गुंजाइश रहती थी। यह बात अफगान सल्तनत की शक्ति के लिये जहाँ सहायक होती थी, वहाँ साथ ही इससे अव्यवस्था और अराजकता के उत्पन्न होने में भी मदद मिलती थी। कोई भी प्रतापी व उद्दण्ड प्रकृति का व्यक्ति अफगान शासन में अकस्मात् महत्त्व प्राप्त कर सकता था, और सैनिक नेताओं व अमीर-उमराओं का सहयोग प्राप्त कर अपना उत्कर्ष कर लेता था।

अफगान-युग में दिल्ली की सल्तनत का न संगठन उत्कृष्ट था, और न सर्वसाधारण जनता का सहयोग व प्रेम ही उसे प्राप्त था। उसकी शक्ति का आधार केवल उसकी सेना थी। यही कारण है, कि जब दिल्ली के सुलतान निर्बल हो गये, तो उनका विशाल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। बाबर की अधिक उत्कृष्ट शक्ति के सम्मुख दिल्ली के सुलतान सर्वथा असमर्थ और असहाय सिद्ध हुए। इसी कारण सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में उनकी सत्ता का भारत से अन्त हो गया।

(२) आर्थिक दशा

इस युग के मुसलिम लेखकों ने अफगान मुसलमानों के शासन के जो वृत्तान्त लिखे हैं, उनमें अमीर-उमराओं के षड्यन्त्रों और राजदरबार के झगड़ों का ही विशद रूप से उल्लेख है। उनके अनुशीलन से इस युग की आर्थिक व सामाजिक दशा के विषय में विशेष परिचय नहीं मिलता। फिर भी इस सम्बन्ध में जो निर्देश प्रसंगवश कहीं-कहीं आ गये है, उनके आधार पर इस युग के जीवन का धुन्धला-सा चित्र उपस्थित कर सकना सम्भव है।

भारत का वैभव—प्राचीन काल में भारत के विविध राजवंशों ने जो अपार धन-सम्पत्ति एकत्र की थी, मुसलिम आक्रान्ताओं ने उसे दिल खोलकर लूटा था। महमूद गजनवी की लूट का वृत्तान्त फरिश्ता सदृश मुसलिम लेखकों ने विशदरूप से लिखा है। कन्नौज, नगरकोट, सोमनाथ आदि की लूट से अनन्त सम्पत्ति महमूद गजनवी ने प्राप्त की थी, और उसीसे उसने अपनी राजधानी गजनवी को समृद्ध व वैभवपूर्ण बनाया था। अफगान सुलतानों ने भी देवगिरि आदि प्राचीन राजधानियोंको लूट कर अपार धन प्राप्त किया था, यद्यपि उसे वे भारत से कहीं विदेश में नहीं ले गये थे। अफगान सुलतानों के सम्मुख अपनी आर्थिक समस्या को हल करने का सबसे सीधा और सरल उपाय यही था

कि वे किसी स्वतन्त्र राज्य पर आक्रमण कर उसे लूटें, और लूट से प्राप्त धन का उपयोग अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाने के लिये करें। धन के लालच से सेना में भरती होने वाले वीर सैनिकों की उस युग में कोई कमी नहीं थी, और यह धन अफगान सुलतान लूट द्वारा सुगमता से प्राप्त कर लेते थे। यही कारण है, कि इस युग के सुलतानों ने अपने साम्राज्य की आर्थिक उन्नति पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। लूट और राजकीय करों से उन्हें अच्छी आमदनी प्राप्त हो जाती थी, और यह उनकी सेना तथा दरबार के खर्च के लिये पर्याप्त होती थी।

अफगान आधिपत्य की स्थापना के कारण भारत की सर्वसाधारण जनता के आर्थिक जीवन में विशेष अन्तर नहीं आया था। प्राचीन और मध्य युगों में भारत के शिल्पी, व्यवसायी और व्यापारी अपने संगठनों में संगठित थे, और माल की उत्पत्ति तथा विक्रय अपने संगठनों द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार किया करते थे, यह पहले लिखा जा चुका है। अफगान-युग में भी ये संगठन (श्रेणी और निगम) कायम रहे। जिस प्रकार अफगान आधिपत्य के कारण ग्राम-संस्थाओं की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया, वैसे ही आर्थिक श्रेणियों और निगमों की स्वतन्त्र सत्ता भी उसके कारण नष्ट नहीं हो पाई। इसी लिये इस युग में भी भारत का व्यावसायिक और व्यापारिक जीवन पुराने समय के आर्थिक संगठनों में केन्द्रित रहा, और शिल्पी तथा कर्मकर लोग पूर्ववत् ही अपना कार्य करते रहे, और सुलतानों ने इन संगठनों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। पर एक विशाल सल्तनत की स्थापना हो जाने कारण अब दिल्ली का महत्त्व बहुत बढ़ गया था, और उसमें निवास करने वाले अमीर-उमराओं व अन्य धनी-मानी पुरुषों की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये विशेष अध्यवसाय की आवश्यकता थी। साथ ही, सुलतानों को अपनी विशाल सेनाओं के लिये वस्त्र और अस्त्र-शस्त्र आदि की भी प्रचुर मात्रा में आवश्यकता रहती थी, जिसकी पूर्ति के लिये उन्होंने विशेष रूप से उद्योग किया। इसीलिए उन्होंने दिल्ली में बहुत-से कारखाने खुलवाये, जिनमें अच्छी बड़ी संख्या में कारीगर लोग कार्य करते थे। राज्य द्वारा स्थापित हुए रेशमी कपड़ों के कारखानों में ४००० जुलाहे काम करते थे, जिनसे तैयार हुआ रेशमी वस्त्र राजदरबार व अमीर-उमराओं के काम आता था। सूती और ऊनी कपड़ों के लिये भी इसी प्रकार के राजकीय कारखाने थे। अन्य अनेक प्रकार की वस्तुएं भी सरकारी कारखानों में तैयार होती थी। पर इनके कारण देश के आर्थिक जीवन में विशेष अन्तर नहीं आया था, क्योंकि सर्वसाधारण जनता की आवश्यकताओं को पूर्ण करना अब भी पुराने युग की शिल्पी-श्रेणियों के ही हाथों में था।

भारतीय इतिहास का अफगान-युग अशान्ति, अव्यवस्था और अराजकता का काल था। युद्धों और विद्रोहों के कारण इस युग में शान्ति और व्यवस्था नष्ट हो गयी थी। विद्रोहों को शान्त करने के लिए और नये प्रदेशों की विजय करने के लिए अभियान करती हुई मुसलिम सेनाओं के कारण किसानों के लिए यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे शान्ति तथा निश्चिन्तता के साथ खेती में व्यापृत रह सकें। इसी लिये इस युग में भारत को अनेक दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा। जलालुद्दीन फीरोज खिलजी (१२९०-१२९६) के शासनकाल में अनाज की इतनी कमी हो गयी थी, कि दिल्ली में अन्न का

भाव ७॥ जीतल प्रति मन से बढ़ कर ४० जीतल प्रतिमन हो गया था। शिवालक की उपत्यका तक के लोग दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर अन्न की खोज में दिल्ली आने लगे, और वहाँ भी भोजन प्राप्त करने में असमर्थ होकर आत्महत्या द्वारा अपने जीवन का अन्त करने लगे। मुहम्मद तुगलक के समय में भी इसी प्रकार का अकाल पड़ा, और बहुत-से नरनारी भूख से तड़प-तड़प कर प्राण देने के लिये विवश हुए। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक जैसे वैभवशाली सुलतानों ने जनता की दुर्भिक्ष से रक्षा करने के लिये अनेक प्रयत्न किये, पर उनके प्रयत्न केवल दिल्ली और उसके समीपवर्ती प्रदेश तक ही सीमित रहे। देश को अकाल से बचाने में उन्हें कोई विशेष सफलता नहीं हुई, क्योंकि अराजकता के कारण किसानों के लिए कृषि पर ध्यान दे सकना सम्भव नहीं रह गया था, और अनाज के अभाव में जनता की भूख को मिटा सकने का कोई उपाय उस युग में था ही नहीं। आवागमन के साधनों के अभाव में यह भी सम्भव नहीं था, कि दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रदेशों में बाहर से अन्न पहुँचाया जा सकता।

अकाल के समय में अन्न का मूल्य चाहे कितना ही बढ़ जाता हो, पर साधारण दशा में वस्तुओं की कीमतें बहुत सस्ती थीं। जलालुद्दीन खिलजी के समय में जब अकाल पड़ा, तो अन्न की कीमत ४० जीतल प्रतिमन हो गयी थी। फीरोज शाह तुगलक के समय के दुर्भिक्ष में तो अन्न और भी अधिक मंहगा हो गया था, और जनता के लिये ६४० जीतल प्रति मन के भाव से भी अन्न को प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा था। पर ये ऊँची कीमतें दुर्भिक्ष के समय की हैं। साधारण समयों में जब अनाज प्रचुर परिमाण में उत्पन्न होता था, कीमतें बहुत गिर जाती थीं। प्रसिद्ध यात्री इब्नबतूता के अनुसार बंगाल में वस्तुओं की कीमतें जितनी कम थीं, उतनी संसार के किसी भी अन्य देश में नहीं थीं। तीन प्राणियों का परिवार बंगाल में आठ दरहम में एक साल का खर्चा मजे में चला सकता था। यदि हमें यह भी ज्ञात होता, कि इस युग में भारत के लोगों की औसत आमदनी क्या थी, तो यह भली-भांति अनुमान किया जा सकता, कि जनता किस प्रकार सुख से अपना जीवन निर्वाह करती थी। पर आमदनी के विषय में कोई निर्देश न मिलने के कारण इस विषय पर कुछ भी लिख सकना सम्भव नहीं है।

अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और फीरोजशाह तुगलक के समय में भिन्न-भिन्न वस्तुओं की क्या कीमतें (दुर्भिक्ष के समय को छोड़कर) थीं, इसकी जानकारी के लिए निम्नलिखित तालिका बहुत उपयोगी है—

वस्तु का नाम	अलाउद्दीन	मुहम्मद तुगलक	फीरोजशाह तुगलक
		(प्रति मन भाव जीतल सिक्के में)	
गेहूँ	७½	१२	८
जौं	४	८	४
धान	५	१४	—
दाल	५	—	—
चीनी	६०	६४	१२०
मांस (बकरा)	१०	६४	—
घी	१६	—	१००

इस युग के प्रधान सिक्के टंका और जीतल थे। एक टंका ६४ जीतल के बराबर होता था। मुगल-युग में भी जीतल का चलन था, यद्यपि उस समय इसकी कीमत बहुत कम हो गयी थी। अकबर के समय में एक दाम (पैसा) में २५ जीतल होते थे। अफगान-युग का टंका सोने का बना होता था। जब मुहम्मद तुगलक ने ताम्बे के भी टंके जारी किये, तो सोने के टंके की कीमत १०० ताम्र टंकों के बराबर हो गयी। इस दृष्टि से देखने पर जीतल की स्थिति ताम्बे के एक छोटे सिक्के के बराबर रहती है, और ७॥ जीतल में एक मन गेहूँ क्रय कर सकना सूचित करता है, कि अलाउद्दीन खिलजी के समय में अनाज और अन्य खाद्य सामग्री के भाव निःसंदेह बहुत सस्ते थे।

इस युग के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में भी अनेक निर्देश उपलब्ध होते हैं। समुद्रमार्ग द्वारा इस काल में चीन, मलाया, ईरान, अरब और यूरोप के साथ भारत का व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था। इब्नबतूता और मार्कोपोलो ने भारत के अनेक बन्दरगाहों का उल्लेख किया है, जिनमें विदेशों के व्यापारी अपना माल बेचने और भारतीय माल का क्रय करने के लिए एकत्र हुआ करते थे। कालीकट और भड़ौंच के बंदरगाह इनमें प्रमुख थे। भारत से जो माल अन्य देशों में बिकने के लिये जाता था, उसमें वस्त्र, अफीम, अन्न, नील और मसाले प्रधान थे। विदेशी व्यापारी सुवर्ण के बदले में इस माल को खरीदते थे। विदेशों से बिकने के लिये आने वाले पण्य में घोड़े और खच्चर मुख्य थे, जिनका सैनिक दृष्टि से बहुत उपयोग था।

स्थलमार्ग द्वारा भारत का मध्य एशिया, ईरान, तिब्बत और भूटान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था, और घोड़ों, खच्चरों तथा ऊँटों के काफिलों द्वारा भारत और विदेशों के व्यापारी माल का आदान-प्रदान किया करते थे।

(३) सामाजिक दशा

अफगान-युग में भारत के समाज के दो प्रधान वर्ग थे, मुसलिम और हिन्दू। मुसलिम वर्ग शासक था, और हिन्दू वर्ग शासित। दिल्ली के सुलतान सैनिक अफसरों और शासक वर्ग को नियत करते हुए यह ध्यान में रखते थे, कि केवल मुसलमानों को ही उच्च पदों पर नियत किया जाय। मुसलिम लोग हिन्दुओं को नीची दृष्टि से देखते थे और सुलतानों के राजदरबार में जानबूझकर उनकी हीन स्थिति का बोध कराया जाता था। इब्नबतूता ने लिखा है, कि जब कोई हिन्दू सुलतान के दरबार में कोई प्रार्थना-पत्र लेकर उपस्थित होता था, तो हाजिब लोग चिल्लाकर कहते थे—'हादाक अल्लाह' या 'भगवान् तुम्हें सन्मार्ग पर ले आये'। जजिया-कर के कारण हिन्दुओं को सदा यह अनुभूति बनी रहती थी, कि सल्तनत में उनकी स्थिति हीन है, और वे अपनी जान व माल के लिये मुसलिम शासकों की कृपा पर निर्भर हैं। यदि कोई हिन्दू धर्म का परित्याग कर इस्लाम को स्वीकार कर ले, तो मुसलिम लोगों की दृष्टि में यह बात बड़े गौरव व पुण्य की होती थी। मुसलिम लोग कुफ्र का अंत कर सद्धर्म का प्रचार करने में गर्व अनुभव करते थे। और क्योंकि इस युग में राजशक्ति उन्हीं के हाथों में थी, अतः वे धर्मप्रचार के लिये अनेक उचित-अनुचित उपायों का प्रयोग किया करते थे।

पर हिन्दू लोगों में स्वाभिमान और आत्मगौरव के भाव नष्ट नहीं हो गये। वे

संख्या की दृष्टि से वे मुसलमानों की अपेक्षा बहुत अधिक थे। इसी कारण वे समय-समय पर विद्रोह द्वारा अपने रोष को प्रकट करते रहते थे। अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी सुलतानों ने इस बात का यत्न किया, कि हिन्दुओं की स्थिति को बिलकुल हीन कर दें। वे अनुभव करते थे, कि जब तक हिन्दू लोग सम्पन्न रहेंगे, उनमें हीनभावना का पूर्ण रूप से विकास नहीं होने पायगा। गरीबी के कारण मनुष्य विवश हो जाता है, और उसमें गौरव की भावना कायम नहीं रहने पाती। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर अलाउद्दीन ने हिन्दुओं को सर्वथा निर्धन और अवश बना देने का प्रयत्न किया। भारत के प्रायः सभी किसान इस समय हिन्दू थे। मुसलिम लोगों को हल चलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि सेना और शासक वर्ग के पद उनके लिए खुले हुए थे। अलाउद्दीन ने व्यवस्था की, कि किसान लोग अपनी पैदावार का ५० प्रतिशत कर के रूप में प्रदान किया करें। उपज का आधा भाग राज्य को प्रदान कर देने के बाद किसानों के पास इतना अन्न नहीं बच जाता था, जिससे कि वे अपना और अपने परिवार का पेट भर सकते। भारत के प्राचीन राजा उपज का छठा भाग किसानों से बलि रूप में ग्रहण करते थे। छठे भाग के मुकाबले में उपज का आधा भाग कर के रूप में लेकर अलाउद्दीन ने हिन्दुओं की आर्थिक दशा को बहुत ही दयनीय बना दिया था। इतना ही नहीं, उसने यह व्यवस्था भी की थी, कि हिन्दुओं के चरागाहों और मकानों पर भी टैक्स लगाये जाएं। केवल किसानों से ही नहीं, अपितु खुट और बलाहर संज्ञक भूमिपतियों से भी अलाउद्दीन ने इसी प्रकार सख्ती से कर वसूल करने शुरू किये, जिसका परिणाम यह हुआ, कि चौधरी, मुकद्दम आदि उच्च वर्ग के हिन्दू लोगों की स्थिति इतनी हीन हो गयी कि अब वे न अच्छे वस्त्र पहन सकते थे, न शस्त्र धारण कर सकते थे और न सवारी के लिए घोड़े ही रख सकते थे। और तो और रहा, उनके लिये ताम्बूल तक का सेवन कर सकना सम्भव नहीं रह गया था। अफगान सुलतानों की इस नीति के कारण उच्च वर्ग के हिन्दू भी इतने गरीब व असहाय हो गये, कि उनकी महिलाओं को मुसलिम घरों में नौकरी करने के लिये विवश होना पड़ा। इस युग के मुसलमान हिन्दुओं की इस दुर्दशा को देखकर संतोष अनुभव करते थे। बरानी-जैसे लेखक ने अभिमान के साथ लिखा है, कि हिन्दुओं की दशा इतनी हीन हो गयी है, कि वे सिर उठकर नहीं चल सकते और उनके घरों में सोना-चाँदी या सिक्के का नाम भी शेष नहीं बचा है। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इस हीन दशा में भी हिन्दू लोग अपने धर्म पर दृढ़ रहे, और उन्होंने सांसारिक उत्कर्ष व सुख के लिये अपने धर्म का परित्याग नहीं कर दिया। इब्नबतूता के अनुसार जब कोई हिन्दू इस्लाम को ग्रहण करने के लिये तैयार हो जाता था, तो उसे सुलतान के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। सुलतान उसे उत्तम वस्त्र और सुवर्ण के आभूषण प्रदान करता था, और ऐहलौकिक सुख तथा उत्कर्ष का मार्ग उसके लिये खुल जाता था। पर ये सब प्रलोभन भी इस युग के हिन्दुओं को अपने धर्म से विचलित करने में असमर्थ रहे।

अफगान सल्तनत में दास-प्रथा का बहुत प्रचार था। सुलतान और उसके अमीरउमरा बहुत बड़ी-संख्या में दास रखा करते थे। अलाउद्दीन के दासों (बन्दखाने-खास) की संख्या ६०,००० थी, और फीरोजशाह तुग़लक के दासों की संख्या

२,००,००० के लगभग थी। इस युग के नायब सुलतान और अमीर-उमरा भी बहुत-से दासों को खरीदकर अपने पास रखा करते थे। दासों से अनेक प्रकार के काम लिये जाते थे। सैनिक सेवा, राजसेवा और वैयक्तिक सेवा—सब प्रकार के कार्य दास लोग करते थे। बहुत-से दास अच्छे योग्य व वीर होते थे, और अपनी योग्यता के कारण अच्छी उन्नति भी कर लेते थे। योग्य दासों को दासता से मुक्त कर बड़े पदों पर नियुक्त कर देना इस युग में बहुत साधारण बात थी। कुतुबुद्दीन ऐबक और मलिक काफूर जैसे लोग शुरू में दास ही थे, पर अपनी असाधारण प्रतिभा और योग्यता के बल पर वे सुलतान तथा प्रधान सेनापति के पदों पर पहुँच गये थे। इस युग के दासों में भारतीयों की संख्या बहुत अधिक थी। युद्ध में परास्त सैनिकों को कैद कर या जीते हुए नगरों के नर-नारियों को बन्दी बनाकर गुलाम के रूप में बेच देना इस युग में सर्वथा उचित माना जाता था। सुन्दरी स्त्रियों की दासी-रूप में अच्छी कीमत वसूल होती थी। बरानी के अनुसार रूपवती युवतियाँ ५०० से लेकर १००० टंका तक में खरीदी जा सकती थीं, और किसी-किसी युवती दासी की कीमत तो २००० टंका तक भी पहुँच जाती थी। इस युग के दास-हट्टों में केवल भारतीय गुलाम ही नहीं बिकते थे, अपितु चीन, तुर्किस्तान, ईरान आदि दूरवर्ती देशों के गुलामों का भी उनमें क्रय-विक्रय हुआ करता था।

लूट द्वारा प्राप्त धन के कारण अफगान-युग के मुसलमानों में अनेक प्रकार की बुराइयाँ उत्पन्न हो गयी थीं। अल्तमश, बलबन और अलाउद्दीन सदृश सुलतानों के समय में तुर्क, अफगान तथा अन्य मुसलमानों में अपूर्व साहस और उत्साह था। उन्होंने युद्ध में विजय प्राप्त कर भारत में अपने राज्य की स्थापना की थी। बहुसंख्यक हिन्दुओं के विरोध में वे अपनी सत्ता को तभी कायम कर सकते थे, जब वे अनुपम वीर हों। पर देवगिरि आदि समृद्ध नगरों की लूट द्वारा इतनी अपार सम्पत्ति दिल्ली की सल्तनत को प्राप्त हो गयी थी, कि उसके उपभोग के कारण मुसलिम लोग भोग विलास में बुरी तरह से फँस गये थे। बड़े-बड़े सैनिक नेता व शासक लोगों को धन की कोई कमी नहीं थी, और सर्वसाधारण मुसलमानों के लिये 'खानकाह' खुले हुए थे, जिनमें वे आवश्यक भोजन और अन्य वस्तुओं को बिना मूल्य के प्राप्त कर सकते थे। इस स्थिति में मुसलमानों को न खेती करने की आवश्यकता थी, और न किसी शिल्प के अनुसरण की। उनमें जो योग्य होते, वे सैनिक और राजकीय पद सुगमता से प्राप्त कर लेते थे। जो अयोग्य होते, वे 'खानकाहों' की कृपा से मजे में अपना निर्वाह कर सकते थे। कमाई के लिये उन्हें किसी प्रकार के परिश्रम की आवश्यकता नहीं थी। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि मुसलमानों में एक प्रकार का निकम्मापन विकसित होने लगा, और वे मदिरापान, द्यूत-क्रीडा आदि में अपने समय और शक्ति को नष्ट करने लगे। इस्लाम की दृष्टि में मदिरा सेवन अनुचित है, इसलिये अनेक सुलतानों ने इसके विरुद्ध अनेक प्रकार के उपायों का प्रयोग किया। पर भोग-विलास की प्रवृत्ति मुसलमानों में इतनी अधिक बढ़ गयी थी, कि वे इस बुराई से बच सकने में असमर्थ रहे। नाच-गान व अन्य आमोद-प्रमोद में मस्त रहने के कारण धीरे-धीरे मुसलिम वर्ग का बल निरंतर क्षीण होता गया।

इस युग में स्त्रियों की क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध में भी कुछ बातें उल्लेख-

नीय हैं। परदे की प्रथा इस समय उत्तरी भारत में भली-भांति विकसित हो गयी थी, और हिन्दू व मुसलिम स्त्रियां प्रायः परदे में ही रहती थीं। अफगान युग से पहले भी भारत में यह प्रथा विद्यमान थी; पर उसकी सत्ता केवल उच्च वर्ग की स्त्रियों में ही थी। मुसलिम शासन में इस प्रथा का बहुत प्रसार हुआ। बाल-विवाह भी इस युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उद्दण्ड मुसलिम सैनिकों व राजकर्मचारियों के भय से हिन्दू लोग बचपन में ही अपनी बालिकाओं का विवाह करने लगे, ताकि माता पिता शीघ्र ही कन्या-दान का पुण्य प्राप्त कर निश्चिन्त हो जाएं। सती-प्रथा भारत में पहले भी विद्यमान थी। इस युग में भी उसकी सत्ता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियां प्रायः अशिक्षित होती थीं, पर इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं, जिनमें स्त्रियां उच्च शिक्षाप्राप्त और सुसंस्कृत थीं। इब्नबतूता ने भारत-यात्रा का वर्णन करते हुए लिखा है, कि जब वह हनौर पहुँचा, तो उसने वहां १३ ऐसे विद्यालय देखे, जिनमें बालिकाएं शिक्षा ग्रहण करती थीं। इसी नगर में बालकों के विद्यालयों की संख्या २३ थी।

(४) हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों का सम्पर्क

इसमें सन्देह नहीं, कि अफगान युग में हिन्दू और मुसलिम दो ऐसे वर्ग थे. जिनमें शासक और शासित का सम्बन्ध था। मुसलिम लोग हिन्दुओं को नीची निगाह से देखते थे, और उन्हें दबाकर रखना अपना कर्त्तव्य समझते थे। पर जब दो विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों के लोग देर तक एक साथ निवास करते हैं, तो उन पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी हो जाता है। हिन्दू लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से बहुत ऊंचे थे। यद्यपि उनकी राजशक्ति मुसलिम आक्रान्तों द्वारा पराभूत हो गयी थी, पर इससे उनकी संस्कृति की उत्कृष्टता नष्ट नहीं हुई थी। जब मुसलिम विजेता स्थायी रूप से भारत में आबाद हो गये, तो स्वाभाविक रूप से वे भारत के योगियों, सन्तों, धर्माचार्यों, विद्वानों और शिल्पियों के सम्पर्क में आये, और वे उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इसी प्रकार इस्लाम के रूप में जो नया धार्मिक आन्दोलन इस देश में प्रविष्ट हुआ था, उनमें अपूर्व जीवनी-शक्ति थी। वह भी इस देश के पुराने धर्म को प्रभावित किये बिना नहीं रहा। हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों के इस सम्पर्क ने जो परिणाम उत्पन्न किये, उनका भारत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। इसी से भारत की वह आधुनिक संस्कृति प्रादुर्भूत हुई, जिस पर अनेक अंशों में मुस-लिम धर्म का प्रभाव विद्यमान है। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए कि दिल्ली की अफगान सल्तनत के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों को एक-दूसरे के निकट में आने का वैसा अवसर नहीं मिला, जैसा कि गुजरात, मालवा, जौनपुर, दौलता-बाद और बंगाल के मुसलिम राज्यों में मिला। चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में स्थापित इन विविध सल्तनतों में तुर्क और अफगान मुसलमानों का वह महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था, जो कि दिल्ली की केन्द्रीय सल्तनत में था। इन प्रान्तीय सल्तनतों के शासन में हिन्दू कर्मचारियों का बड़ा भाग था, और इनके सुलतान तथा अन्य अमीर-उमरा हिन्दुओं के बहुत निकट सम्पर्क में थे। इसी कारण अहमदाबाद, माण्डू, लखनौती आदि में हिन्दू और मुसलिम संस्कृतियों को एक-दूसरे को प्रभावित करने का सुवर्णावसर प्राप्त हुआ था।

जिन साधनों से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आये, वे निम्नलिखित थे :—

(१) यद्यपि दिल्ली की सल्तनत में सब उच्च पदों पर मुसलमानों की नियुक्ति की जाती थी, पर भूमि-कर आदि करों को वसूल करने के लिये जो कर्मचारी पुराने समय से परम्परागत रूप में चले आते थे, उनके सहयोग के बिना सुलतानों का काम नहीं चलता था। जब भारत में अंग्रेजों का शासन स्थापित हुआ, तो गवर्नर, कमिश्नर, कलेक्टर, जज, सेनापति आदि सब उच्च राजकीय पदों पर अंग्रेज अफसरों की नियुक्ति की गयी; पर पटवारी, कानूनगो, पेशकार आदि छोटे राजकर्मचारी भारतीय ही रहे। कुछ इसी प्रकार की स्थिति दिल्ली की अफगान सल्तनत में भी थी। उच्च मुसलिम राज-पदाधिकारी छोटे हिन्दू कर्मचारियों के सहयोग से ही भूमिकर वसूल करते थे, और इस प्रकार उनके निकट सम्पर्क मे आने का अवसर प्राप्त करते थे।

(२) चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में जौनपुर, लखनौती, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद को राजधानी बनाकर जो विविध मुसलिम सल्तनतें स्थापित हुई थीं, उनमें हिन्दू और मुसलमानों का सम्पर्क और भी अधिक घनिष्ठ था। इन सल्तनतों में उच्च राजकीय पदों पर हिन्दुओं की नियुक्ति की गयी, और शासन-सूत्र का संचालन बहुत-कुछ उन्हीं के हाथों में रहा। मालवा (माण्डू) की सल्तनत में चन्देरी का राजा मेदिनी राय और उसके मित्र सर्वोच्च राजकीय पदों पर कार्य करते थे। बंगाल के सुलतान हुसेनशाह ने पुरन्दर, रूप और सनातन आदि कितने ही हिन्दुओं को उच्च राजकीय पद दिये। बहमनी सल्तनत में भी बहुत-से हिन्दू उच्च पदों पर नियुक्त थे, और बीजापुर की आदिलशाही में तो सब राजकीय कार्य शुरू में मराठी भाषा में ही किया जाता था। इब्राहीम आदिलशाह को उसकी प्रजा 'जगत्गुरु' कहती थी। काश्मीर के सुलतान जैनुल आब्दीन ने धर्म के विषय में उसी नीति को अपनाया था, बाद में अकबर ने अपने विशाल साम्राज्य में जिसका अनुसरण किया। इस युग के विजयनगर राज्य के हिन्दू राजा भी मुसलिम सेनापति और सैनिकों को अपनी सेना में नियुक्त करने में संकोच नहीं करते थे। इस प्रकार शासकीय क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे के सम्पर्क मे आने का अवसर प्राप्त होता था।

(३) इसमें सन्देह नहीं, कि शुरू में मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये शस्त्र-शक्ति का प्रयोग किया था। पर भारत जैसे विशाल देश में जहाँ वीर लोगों की कमी नहीं थी, तलवार के जोर पर इस्लाम का प्रचार कर सकना सुगम नहीं था। जो काम मुसलिम आक्रान्ताओं की तलवार नहीं कर सकी, उसे सम्पन्न करने के लिये अनेक पीर, औलिया व धर्मप्रचारक तत्पर हुए; और उनकी धर्मनिष्ठा, उच्च जीवन और सदुपदेश जनता को अपने प्रभाव में लाने में बहुत अंश तक सफल हुए। यद्यपि बहुसंख्यक हिन्दुओं ने इस्लाम को नही अपनाया, पर वे मुसलिम सन्तों और पीरों के प्रभाव में आये बिना भी न रह सके। इसीलिए इस युग में अनेक ऐसे मुसलिम पीर हुए, जिनके प्रति हिन्दुओं की भी श्रद्धा थी, और जिनके सदुपदेशों का श्रवण कर गैरमुसलिम भी आनन्द अनुभव करते थे। इसी प्रकार मुसलिम लोग भी भारत के योगियों, सन्त-महात्माओं और दार्शनिकों के प्रभाव में आये, और उनके प्रति श्रद्धा रखने लगे। वैष्णव भक्तों द्वारा भक्ति

की जो मन्दाकिनी इस युग में प्रवाहित हो रही थी, अनेक मुसलमानों ने भी उसमें स्नान कर शान्ति लाभ की।

(४) जिन हिन्दुओं ने मुसलिम शासन के समय में इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, धर्म परिवर्त्तन के कारण उनमें आमूलचूल परिवर्त्तन नहीं आ गया था। सदियों के मज्जातन्तुगत संस्कारों को एकदम नष्ट कर देना किसी के लिए भी सम्भव नहीं होता। यही कारण है, जो इस युग में अनेक मुसलिम स्त्रियां भी सती प्रथा का अनुसरण करती थीं, और नये मुसलिम बने हुए लोग पूर्ववत् ही हिन्दू योगियों और साधु-सन्तों का आदर करते थे। इन नव-मुसलिमों के सम्पर्क में आने वाले तुर्क व अफगान लोगों को भी भारत की पुरानी परम्परा से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

इन सब कारणों से हिन्दू और मुसलमान जिन क्षत्रों में एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आये, वे निम्नलिखित थे—कला, भाषा, साहित्य और धर्म। हम इन चारों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे। धर्म के क्षेत्र में हिन्दू मुसलिम सम्पर्क का जो परिणाम हुआ, वह भारत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व रखता है। अतः उस पर हम एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

(५) वास्तु कला

हिन्दू और मुसलिम सम्पर्क का सबसे प्रत्यक्ष और स्थूल रूप वह वास्तुकला है, जिसका इस युग में विकास हुआ, और जिसे ऐतिहासिकों ने 'इण्डो-मुसलिम' या 'पठान' कला का नाम दिया है। मुसलिम शासन की स्थापना से पूर्व वास्तु-कला भारत में अच्छी उन्नत दशा में थी, यह पहले प्रदर्शित किया जा चुका है। इसी प्रकार जिन तुर्कों व अफगानों ने भारत पर आक्रमण कर यहां अपना आधिपत्य स्थापित किया था, वे भी अपनी विशिष्ट वास्तु-कला का विकास कर चुके थे। दसवीं सदी तक अरब-साम्राज्य बहुत उन्नत दशा को प्राप्त हो चुका था, और अरब, मिस्र, ईरान आदि मुसलिम देशों की संस्कृतियों के सम्मिश्रण के कारण वहां एक ऐसी वास्तु-कला का विकास हो गया था, जो भारत की वास्तु-कला से बहुत भिन्न थी। महमूद गजनवी ने अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण कर गजनी को बहुत-सी सुन्दर इमारतों व मसजिदों से सुशोभित किया था, जिनके निर्माण में भारतीय शिल्पियों का भी बड़ा हाथ था। भारत की लूट से महमूद ने केवल अपार धन-सम्पत्ति ही प्राप्त नहीं की थी, अपितु हजारों शिल्पी भी वह अपने साथ गजनी ले गया था। इन शिल्पियों ने गजनी की इमारतों में जहां मुसलिम कला को दृष्टि में रखा, वहां साथ ही भवन-निर्माण के भारतीय आदर्शों और विधियों का भी प्रयोग किया। इसीलिए जब भारत में तुर्कों व अफगानों का शासन स्थापित हुआ, तो इस देश के ये नये शासक भारतीय वास्तु-कला से सर्वथा अपरिचित नहीं थे। उन्होंने दिल्ली आदि में जो नई इमारतें बनवाईं, उनके निर्माण के लिये उन्होंने भारतीय शिल्पियों से ही काम लिया। इन शिल्पियों के लिये यह असम्भव था, कि वे अपने परम्परागत कला-सम्बन्धी आदर्शों को भुलाकर एक विदेशी कला का प्रयोग कर सकें। इसी कारण अफगान युग की इमारतें भारत की परम्परागत वास्तु-कला के अनुरूप हैं, और इसी लिए हेवल जैसे कलाविज्ञ ने यह प्रतिपादित किया है, कि 'शरीर और आत्मा' दोनों दृष्टियों से इस युग की वास्तु-

कला विशुद्ध रूप से भारतीय व आर्य है। यद्यपि फर्ग्युसन सदृश अनेक ऐतिहासिकों ने इस युग की वास्तुकला को 'पठान' नाम दिया है, पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि अफगान युग की बहुसंख्यक इमारतें प्राचीन भारतीय वास्तु-कला से बहुत अधिक प्रभावित हैं, और सर जान मार्शल सदृश अनेक ऐतिहासिकों ने इस तथ्य को स्वीकार भी किया है। यदि दिल्ली की सल्तनत को दृष्टि से ओझल कर जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद आदि प्रान्तीय सल्तनतों की इमारतों को दृष्टि में रखा जाय, तब तो हिन्दू कला का प्रभाव और भी स्पष्ट हो जाता है।

भारत का प्रथम मुसलिम सुलतान कुतुबुद्दीन ऐबक था। उसके समय में जो इमारतें बनीं, उनमें कुतुब मीनार और कुतुब मसजिद सर्वप्रधान हैं। ये दोनों दिल्ली के समीप महरौली में स्थित हैं। इस स्थान पर प्राचीन समय में एक विशाल हिन्दू-मन्दिर था, जिसके मध्यभाग में सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा एक विष्णु-ध्वज स्थापित किया गया था। चन्द्रगुप्त का यह विष्णुध्वज (लोहे का विशाल स्तम्भ) अब तक वहाँ विद्यमान है, और इस प्राचीन विष्णु-मन्दिर का स्मारक है। कुतुब मसजिद का निर्माण इसी मन्दिर को आधार बना कर किया गया था, और उसकी दीवारों पर अब तक भी हिन्दू-मूर्तियाँ सुरक्षित हैं। कुतुब मीनार के निर्माता के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में मतभेद रहा है। अनेक ऐतिहासिकों ने प्रतिपादित किया है, कि यह मीनार चौहान राजा पृथिवीराज या उसके किसी पूर्वज ने अपनी विजयों की स्मृति को स्थिर रखने के लिए 'विजय-स्तम्भ' के रूप में बनवाई थी। बाद में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इसके अनुकरण में एक नई मीनार का निर्माण शुरू कराया, पर वह उसे पूर्ण नहीं कर सका। यह दूसरी मीनार अब तक भी अपूर्ण दशा में विद्यमान है। जिन युक्तियों के आधार पर कुतुब मीनार को मध्य हिन्दू-युग की कृति बताया गया है, उनका उल्लेख करना यहां सम्भव नहीं है। पर बहुसंख्यक ऐतिहासिक यही मानते हैं, कि २४२ फीट ऊँची यह विशाल मीनार कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में बननी शुरू हुई थी, और सुलतान इल्तमश के शासन-काल में बनकर तैयार हुई थी। बिजली के आघात से फीरोजशाह तुगलक के समय में इसकी उपरली मंजिल टूट गयी थी, जिसके स्थान पर इस सुलतान ने दो छोटी मंजिलों का निर्माण करा दिया था। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय की अन्य इमारतों में अजमेर की 'अढ़ाई दिन का झोंपड़ा' नाम की मसजिद भी बड़े महत्त्व की है। यह भी अल्तमश के समय में बनकर तैयार हुई थी। महरौली की कुतुब मसजिद के समान इसका निर्माण भी एक पुराने हिन्दू-मन्दिर के आधार पर ही किया गया था। कुतुबुद्दीन के शासन-काल में अलतमश बदायूँ का सूबेदार था। वहाँ उसने 'हौजे शम्सी' और 'शम्सी ईदगाह' का निर्माण कराया। दिल्ली का सुलतान बनने के बाद भी अलतमश ने बदायूँ का ध्यान रखा, और १२२३ ईस्वी में वहां की प्रसिद्ध 'जामा मसजिद' का निर्माण कराया। अफगान युग की ये ही इमारतें सबसे प्राचीन हैं।

अलाउद्दीन खिलजी के समय में दिल्ली की सल्तनत का बहुत उत्कर्ष हुआ। विविध हिन्दू राजवंशों का अन्त कर उनकी राजधानियों से जो अपार सम्पत्ति अला-उद्दीन ने प्राप्त की, उसके कुछ अंश का उपयोग उसने इमारतों के निर्माण के लिये भी किया। इनमें सीरी का किला, हजार सितून महल, अलाई दरवाजा, हौज-अलाई और

हौजे-खास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इस समय ये सुरक्षित दशा में नहीं है, पर इनके भग्नावशेषों से अलाउद्दीन की वास्तुकृतियों का आभास लिया जा सकता है। अलाउद्दीन खिलजी के समय में ही अजमेर में 'निजामुद्दीन औलिया की दरगाह' का निर्माण हुआ। ये सब 'इण्डो-मुसलिम' वास्तु कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। विशेषतया, महरौली की कुतुब मसजिद में अलाउद्दीन द्वारा निर्मित अलाई दरवाजा कला की दृष्टि से अनुपम है।

तुगलक-वंश के शासन काल में जो इमारतें बनीं, वे सौन्दर्य और कला की दृष्टि से उतनी उत्कृष्ट नहीं हैं, जितनी कि इससे पूर्वकाल की हैं। उनमें अलंकरण की अपेक्षा सादगी और गम्भीरता अधिक है। दिल्ली के समीप तुगलकाबाद नगरी इसी युग में स्थापित हुई थी। उसके पास में विद्यमान गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा बहुत सुन्दर माना जाता है। तुगलक वंश के सुलतान फीरोजशाह को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था। उसने अपने नाम से फीरोजाबाद की स्थापना की, जिसके भग्नावशेष अवतक भी दिल्ली के चौगिर्द के प्रदेश में विद्यमान हैं। फतहाबाद और हिसार फीरोजा नाम के दो अन्य नगर भी उसने बसाये, और गोमती नदी के तट पर जौनपुर नामक नगर की नींव डाली, जो आगे चलकर एक स्वतन्त्र सल्तनत की राजधानी बना। फीरोजशाह तुगलक को प्राचीन काल के पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों में भी बहुत दिलचस्पी थी। इसी लिए सम्राट् अशोक के दो प्रस्तर-स्तम्भों को अम्बाला और मेरठ जिलों से वह दिल्ली ले आया था, जो अब तक भी वहाँ विद्यमान हैं।

लोदी और सैयद-वंशों के शासन काल में भी अनेक मकबरों और मस़जिदों का निर्माण हुआ, जिनमें सुलतान सिकन्दशाह लोदी का मकबरा और 'मोठ की मसजिद' सबसे प्रसिद्ध हैं।

पर दिल्ली के सुलतानों के मुकाबले में जौनपुर, अहमदाबाद, लखनौती, माण्डू और दौलताबाद के सुलतानों ने नये राजप्रासादों, मकबरों और मसजिदों के निर्माण में अधिक कर्तृत्व प्रदर्शित किया। यद्यपि राज्य विस्तार की दृष्टि से ये प्रान्तीय सुलतान दिल्ली के सुलतानों की अपेक्षा हीन थे, पर सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में ये उनसे बहुत बढ़े-चढ़े थे। जौनपुर के शरकी सुलतान जहाँ साहित्य और ज्ञान के प्रेमी थे, वहाँ उन्होंने अपनी राजधानी को सुन्दर इमारतों से विभूषित करने पर भी बहुत ध्यान दिया। शरकी सुलताओं की बहुत-सी कृतियाँ अब तक भी जौनपुर में विद्यमान हैं, जिनमें सुलतान इब्राहीम (चौदहवीं सदी का अन्तिम चरण) द्वारा निर्मित अताला मसजिद और सुलतान हुसैनशाह की जामा मसजिद बहुत प्रसिद्ध हैं। अताला मसजिद को इस युग की सर्वश्रेठ वास्तु-कृतियों में गिना जाता है, और इसमें संदेह नहीं, कि उसके निर्माण में पुरानी हिन्दू वास्तु-कला का उत्कृष्ट रूप से प्रदर्शन किया गया है। इस मसजिद पर हिन्दू-प्रभाव इतना अधिक है, कि सामान्य मसजिदों के समान इसमें ऊँची मीनारों तक को स्थान नहीं दिया गया। जौनपुर की ये मसजिदें पुराने समय के हिन्दू-मन्दिरों के ही रूपान्तर हैं, यद्यपि इनके निर्माण का प्रयोजन किसी देवप्रतिमा का प्रतिष्ठापन नहीं था। जौनपुर की लाल दरवाजा मसजिद का स्वरूप तो हिन्दू-शैली से बहुत अधिक समता रखता है।

बंगाल के मुसलिम सुलतानों ने भी अपने मकबरों, मसजिदों और प्रासादों का

निर्माण कराते हुए भारत की पुरानी वास्तु-कला का अनुसरण किया था। इसीलिए इन पर हिन्दू-शैली का प्रभाव बहुत स्पष्ट रूप से विद्यमान है। बंगाल में इस युग की जो कृतियां अब तक सुरक्षित हैं, उनमें १३६८ में निर्मित अदीना मसजिद, १४४३ ईस्वी के लगभग बनी छोटा सोना मसजिद और १५२६ में बनी बड़ा सोना मसजिद सर्वप्रधान हैं। प्रसिद्ध कलाविज्ञ फर्ग्युसन के अनुसार बड़ा सोना मसजिद बंगाल की सर्वश्रेष्ठ वास्तु-कृति है।

गुजरात के सुलतानों ने मसजिदों और मकबरों के निर्माण पर बहुत अधिक श्रम किया था। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व गुजरात में जैन-धर्म का विशेषरूप से प्रचार था। इसीलिये जब वहां के मुसलिम सुलतान नई इमारतों के निर्माण में प्रवृत्त हुए, तो उन्होंने जिन शिल्पियों को इमारत बनाने का कार्य सुपुर्द किया, वे जैन मन्दिरों के निर्माण का अनुभव रखते थे। इसी लिए जब उन्होंने मुसलिम सुलतानों के आदेश के अनुसार मसजिद का निर्माण किया, तो वे अपने परम्परागत अभ्यास को भुला नहीं सके। अहमदाबाद नगर की स्थापना सुलतान अहमद शाह (१४११–१४४१) द्वारा की गयी थी। उसने अपनी राजधानी को अनेक प्रासादों और मसजिदों से विभूषित किया, जिनके निर्माण के लिये न केवल पुराने हिन्दू और जैन मन्दिरों के भग्नावशेषों का प्रयोग किया गया, अपितु उनकी वास्तु-कला का भी अनुसरण किया गया। गुजरात के सुलतान तक्षक क्षत्रिय थे, जिन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। धर्म-परिवर्तन के बाद भी वे अपनी भारतीयता को नहीं छोड़ सके थे। इसी कारण उनकी कृतियों पर हिन्दू कला का प्रभाव और भी अधिक है। अहमदाबाद की इमारतों में तीन दरवाजा और जामा मसजिद श्रेष्ठ हैं, जो इस युग की इण्डो-मुसलिम वास्तु-कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

मालवा के सुलतानों ने भी अपनी राजधानी माण्डू को अनेक इमारतों से विभूषित किया। उनकी कृतियों में जामा मसजिद, हिंडोला महल, जहाज महल, हुशंगशाह का मकबरा और बाजबहादुर व रूपमती के राजप्रासाद बहुत प्रसिद्ध हैं।

दक्षिणी भारत में बहमनी राज्य और उसके भग्नावशेषों पर स्थापित हुई शाहियों के सुलतानों ने भी अनेक प्रकार की इमारतों के लिये उत्साह दिखाया। इनकी वास्तु-कला में भारतीय तत्त्व के अतिरिक्त ईरानी, तुर्क और मिस्री तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। इसका कारण यह है, कि इन देशों के अनेक साहसी और सुयोग्य व्यक्ति समय-समय पर बहमनी सुलतानों के राजदरबारों में आते रहे, और वहां उनको समुचित आदर प्राप्त हुआ। इनमें अनेक व्यक्ति ऐसे भी थे, जो वास्तु-कला के विशेषज्ञ थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि बहमनी राज्य की वास्तु-कला पर भी भारतीय हिन्दू-कला की अमिट छाप है, और वहां की अनेक मसजिदें तो प्राचीन हिन्दू-मंदिरों के रूपान्तर मात्र हैं।

(६) संगीत और चित्र कला

संगीत—वास्तु-कला के अतिरिक्त संगीत के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानों के सम्पर्क ने अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न किये। इस्लाम के प्रादुर्भाव के बाद के प्रारम्भिक काल में अरब लोगों ने संगीत पर ध्यान नहीं दिया था, क्योंकि इस्लाम में भावना

का बहुत स्थान नहीं था। पर आगे चलकर जब ईरान आदि देशों में इस्लाम का प्रसार हुआ, तो उस धर्म में अनेक ऐसे सम्प्रदाय विकसित हुए, जो भक्ति और भावना को महत्त्व देते थे, और भगवान् की पूजा के लिए संगीत का भी उपयोग करते थे। भारत के मुसलमानों ने भी कव्वाली और खयाल के रूप में अपने मकबरों में संगीत का प्रारम्भ किया। संगीत के ये प्रकार भारत के लिये नये थे, पर बाद में भारतीय संगीताचार्यों ने इन्हें पूरी तरह से अपना लिया, और ये भारतीय संगीत के महत्त्वपूर्ण अंग बन गये।

अफगान युग में संगीत कला की जो उन्नति हुई, उसका मुख्य श्रेय जौनपुर के शरकी सुलतानों को प्राप्त है। वहाँ के सुलतान इब्राहीम शाह (१४०१–३७) और हुसैनशाह (१४५७–७६) के दरबारों में ही संगीत के उस प्रकार का सूत्रपात हुआ, जिसे 'खयाल' कहा जाता है। इब्राहीम के शासनकाल में बहादुर मलिक नाम के एक राजपुरुष ने संगीत को नवजीवन प्रदान करने के लिए एक महान् सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें विविध प्रदेशों के संगीताचार्य एकत्र हुए। भारतीय संगीत के सम्बन्ध में जो अनेक बातें विवादग्रस्त थीं, उन सब पर विचार करके इस सम्मेलन द्वारा 'संगीत-शिरोमणि' नाम के ग्रंथ का निर्माण हुआ।

चित्र-कला—अफगान युग में भारतीय चित्रकला की उस शैली का विकास हुआ, जिसे 'राजस्थानी शैली' कहते हैं। इसका विकास राजपूताना और गुजरात के प्रदेशों में पन्द्रहवीं सदी में हुआ था। इस शैली से अनुसार इस युग में जिन चित्रों का निर्माण हुआ, उनका प्रधान प्रयोजन कृष्ण और राधा के सनातन प्रेम का चित्रण करना है। कृष्ण और राधा को निमित्त बनाकर इस युग के चित्रकारों ने पुरुष और स्त्री के प्रेम का बहुत सुन्दर रूप से चित्रण किया है। साथ ही, नायिका भेद, रामायण और महाभारत के विविध कथानक, नल दमयन्ती की कथा, रागमाला और बारहमासा आदि के दृश्य भी राजस्थानी शैली द्वारा बहुत सजीव रूप में अंकित किये गये हैं। इन चित्रों में विविध प्रकार के चटकीले रंगों का उपयोग किया गया है, और इन्हें कागज पर प्रयुक्त किया गया है। इन चित्रों के रंग बहुत आकर्षक और भड़कीले हैं।

गुजरात का प्रसिद्ध सुलतान महमूद बेगड़ा (१४५१–१५११) कला का संरक्षक और कलावन्तों का आश्रयदाता था। उसकी संरक्षा में चित्रकला की राजस्थानी शैली की अच्छी उन्नति हुई। इसी काल में काश्मीर का शासन जैनुल आब्दीन नामक मुसलिम शासक के अधीन था। वह भी कला का बड़ा प्रेमी था। संगीत और चित्र-कला दोनों की ही उन्नति पर उसने विशेष रूप से ध्यान दिया।

(७) भाषा और साहित्य

शुरू में जब तुर्कों और अफगानों ने भारत में अपना शासन स्थापित किया, तो उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का अपने सिक्कों पर उपयोग किया। यदि बाद के मुसलिम शासक भी यही करते, तो मुसलमानों के लिये भारत के जनसमाज का अंग बन जाना अधिक कठिन न होता। पर अफगान युग के मुसलमान अपने को हिन्दुओं से पृथक् समझते थे, और अपने को उनमें मिला देने के लिये तैयार नहीं थे। इसी कारण उन्होंने पर्शियन को अपनी राजभाषा बनाया। अंग्रेजी शासन के युग में जो स्थिति अंग्रेजी

भाषा की थी, वही अफगान सल्तनत के काल में पर्शियन भाषा की थी। अफगान सुलतान अपने राजकीय आदेशों में पर्शियन भाषा का प्रयोग करते थे, और अपने सिक्के भी इसी भाषा में अंकित कराते थे। पर यह होते हुए भी यह सम्भव नहीं था, कि वे इस देश की भाषा की सर्वथा उपेक्षा कर सकते, क्योंकि वे स्थायी रूप से भारत में बस गये थे। इस युग में भारत के जनसाधारण की भाषा हिन्दी थी, जिसमें साहित्य का निर्माण भी प्रारम्भ हो चुका था। अनेक तुर्क व अफगान मुसलमानों ने हिन्दी को अपनाया, और उसमें कविता की रचना भी की। इस प्रकार के लोगों में अमीर खुसरो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अमीर खुसरो ने तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में अपनी रचना प्रारम्भ की थी, और बलबन, अलाउद्दीन खिलजी और कुतुबुद्दीन मुबारकशाह का वह समकालीन था। वह पर्शियन का प्रकाण्ड पण्डित था, और इस भाषा में उसने बहुत-से ग्रन्थ और काव्य लिखे थे। पर अमीर खुसरो ने अपने भावों को व्यक्त करने के लिये केवल पर्शियन भाषा का ही उपयोग नहीं किया। उसने हिन्दी (खड़ी बोली और ब्रजभाषा) में भी कविताएं लिखीं, और उनके कुछ उदाहरण अब तक भी उपलब्ध है। इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय के अनेक सन्तों ने भी अपने विचारों का जनसाधारण में प्रचार करने के लिये हिन्दी-भाषा का आश्रय लिया। इनमें कुतबन (पन्द्रहवीं सदी का उत्तरार्ध), मंझन (सोलहवीं सदी का पूर्वार्ध) और मलिक मुहम्मद जायसी (सोलहवीं सदी) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जायसी हिन्दी के बहुत प्रसिद्ध कवि हुए है, और उन्होंने 'पदमावत' नाम के एक विशाल महाकाव्य की रचना की थी। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक मुसलिम सन्त और कवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं के लिये हिन्दी-भाषा को अपनाया, और उसमें सुन्दर कविता का सृजन किया। इन कवियों और विद्वानों के कारण हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे।

उर्दू भाषा—हिन्दी-भाषा की जो शैली 'उर्दू' नाम से प्रसिद्ध है, उसका सूत्रपात अफगान युग में ही हो गया था। तुर्क और अफगान शासक राजकीय कार्य में पर्शियन का भी उपयोग करते थे। भारत के जनसाधारण की भाषा में पर्शियन और अरबी शब्दों का सम्मिश्रण होने से जो नई भाषा विकसित हुई, उसीका नाम उर्दू है। इसे समझ सकना भारतीयों के लिये अधिक कठिन नहीं था, क्योंकि इसका व्याकरण पूर्णरूप से भारतीय था। मुसलिम शासकों के सम्पर्क से उन्होंने बहुत-से पर्शियन और अरबी शब्दों को अपना लिया था, और इस नई भाषा को लिखने के लिये पर्शियन लिपि का ही उपयोग किया था। पर उर्दू भारत के लिये विदेशी भाषा नहीं थी, क्योंकि उसके ८० प्रतिशत से भी अधिक शब्द भारत के जनसाधारण की भाषा से लिये गये थे। उर्दू भाषा का विकास इस युग के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इसके कारण हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे, और उनका भेद बहुत कुछ दूर हो गया था।

हिन्दी-भाषा—इसी प्रसंग में हमें हिन्दी-भाषा के विकास और साहित्य के विषय में भी कुछ प्रकाश डालना चाहिये, क्योंकि यह इस युग के जनसाधारण की भाषा थी। प्राचीन समय में भारत की भाषा संस्कृत थी, और राजा व विद्वान् उसी का प्रयोग करते थे। यद्यपि छठी सदी ई० पू० में सर्वसाधारण जनता प्राकृत और पालि भाषाएं बोलती थी, पर

विद्वान् कवि और राजा संस्कृत को ही प्रयुक्त करते थे। महात्मा बुद्ध ने अपनी शिक्षा का जनता में प्रचार करने के लिये पालि भाषा को अपनाया, और इसी लिये बौद्ध त्रिपिटक का निर्माण पालि में ही हुआ। अशोक जैसे बौद्ध-सम्राट् ने अपनी राजाज्ञाओं के लिये पालि भाषा का आश्रय लिया, क्योंकि वह अपने आदेशों को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिये उत्सुक था। मौर्य युग के बाद जब वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ, तो साथ ही संस्कृत भाषा का भी एक बार फिर उत्कर्ष हुआ। पर क्योंकि उस समय सर्वसाधारण लोगों की भाषा प्राकृत थी, अतः अनेक कवियों ने उसमें भी अपने काव्य लिखे, और सातवाहन आदि अनेक राजवंशों द्वारा प्राकृत को संरक्षण भी प्राप्त हुआ। भाषा कभी एक रूप में स्थिर नहीं रहती, उसमें निरन्तर विकास होता रहता है। भारत की भाषा में भी निरन्तर विकास हो रहा था, और इसी से अनेक अपभ्रंश भाषाओं का निर्माण हुआ। इन अपभ्रंश भाषाओं में अन्यतम भाषा हिन्दी थी, जिसका विकास आठवीं सदी ईस्वी में ही प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि इस युग के पण्डित, विद्वान्, कवि और राजा अपने कार्यों के लिये इस अपभ्रंश भाषा का प्रयोग नहीं करते थे, पर अनेक बौद्ध सन्तों ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिये इसे अपनाया। इनमें आचार्य सरह या सरोवज्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐतिहासिकों के अनुसार इनका समय आठवीं सदी के लगभग था, और ये वज्रयान (बौद्ध-धर्म का अन्यतम सम्प्रदाय) के सुप्रसिद्ध 'सिद्ध' थे। आठवीं सदी में ही हिन्दी ने अपने उस रूप को अनेक अंशों में प्राप्त कर लिया था, जिसमें आगे चलकर बहुत-से कवियों ने अपने काव्यों की रचना की। सरह के समान अन्य भी कितने ही वज्रयानी सिद्धों ने हिन्दी में अपने उपदेश किये, और जनसाधारण की इस भाषा को अपने मन्तव्यों के प्रतिपादन के लिये प्रयुक्त किया। वज्रयानी सिद्धों के समान नाथपंथ के संतों ने भी हिन्दी-भाषा को अपनाया, और गोरखनाथ जैसे आचार्यों ने इसी भाषा में अपनी 'साखियाँ या 'बानियाँ' लिखीं। गोरखनाथ के समय के विषय में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान् उन्हें नवीं सदी में हुआ मानते हैं, और कुछ चौदहवीं सदी में। वज्रयान और नाथपंथ की परम्परा का भारत के अन्य सम्प्रदायों ने भी अनुसरण किया और मुसलिम सूफी संत भी इस परम्परा को अपनाये बिना नहीं रह सके। परिणाम यह हुआ, कि जिस समय में मुसलिम शासन स्थापित हुआ, हिन्दी इस देश में न केवल जनसाधारण की भाषा थी, अपितु विविध धर्म-प्रचारक भी अपने उपदेशों और काव्यों के लिये इसी का उपयोग करते थे।

बारहवीं सदी के अन्त में जब भारत पर मुसलमानों के आक्रमण प्रबल रूप से प्रारम्भ हुए, तो इस देश के राजवंशों व सैनिकों के सम्मुख एक नई समस्या उत्पन्न हुई। उन्हें अब एक विदेशी व विधर्मी शक्ति का मुकाबला करना था, और इसके लिये उनमें अनुपम शौर्य व साहस का संचार करने की आवश्यकता थी। इसी कारण इस समय उस काव्य-परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'वीरगाथा काव्य' कहा जाता हैं। दसवीं सदी के अन्त में तुर्कों के आक्रमणों के समय में ही इन वीर काव्यों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था, और 'खुमान रासो' और 'बीसल देव रासो' जैसे काव्यों की रचना हुई थी। पर अफगान युग में इस प्रवृत्ति ने बहुत जोर पकड़ा, और चन्द बरदाई, भट्ट केदार, मधुकर कवि, जगनिक और श्रीधर जैसे कवियों ने अनेक उत्कृष्ट वीर काव्यों की रचना

की। इन कवियों के काव्य इस युग की हिन्दी में थे, और इनके कारण जनता में वीर भावना के प्रादुर्भाव में बहुत सहायता मिली थी। पर इन वीर काव्यों के कारण वह ऐतिहासिक प्रक्रिया रुकी नहीं, जिसका प्रारम्भ शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों से हुआ था। शीघ्र ही भारत के बड़े भाग पर मुसलिम आक्रांताओं का आधिपत्य स्थापित हो गया और इस देश की क्षात्रशक्ति के क्षय के साथ ही वीर काव्यों का भी अंत हो गया। राजपूताने के वीर राजवंशों के आश्रय में रहने वाले भाट और चारण लोग बाद में भी वीरता के गीतों का सृजन करते रहे, पर हिन्दी की मुख्य काव्य-धारा का रुख परिवर्तित हो गया, और उसमें उस भक्ति-रस का प्रवाह शुरू हुआ, जो एक संतप्त व पीड़ित जनसमाज को शान्ति और संतोष का संदेश देता है।

पर यह स्पष्ट है, कि अफगान युग में भारत की मुख्य साहित्यिक भाषा हिन्दी थी। इसी लिए मुसलमान लोग भी उसके प्रभाव में आये बिना नहीं रह सके। उन्होंने भी अपनी साहित्यिक प्रतिभा को अभिव्यक्त करने के लिये उसे अपनाया, और सर्वसाधारण लोगों के सम्पर्क में आने के उद्देश्य से पर्शियन शब्दों से मिश्रित एक ऐसी हिन्दी-भाषा का उपयोग शुरू किया, जो आगे चलकर उर्दू नाम से हिन्दी की ही एक पृथक् व स्वतंत्र शैली बन गयी।

दक्षिणी हिन्दी या उर्दू—अफगान युग में उत्तरी भारत में जिस साहित्य का विकास हुआ, वह या तो धार्मिक था और या वीर काव्यों के रूप में था। इस साहित्य के लिये उन अनेक भाषाओं का उपयोग किया गया था, जो उस युग में सर्वसाधारण की भाषाएँ थीं। उत्तरी भारत के नाथपंथी साधुओं ने अपनी बानियाँ जिस भाषा में लिखीं, उसे 'सधुक्कड़ी' कहा जाता है। साधु संत भारत के सब प्रदेशों में भ्रमण करते रहते थे, इस कारण उनकी भाषा में उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों के शब्द सम्मिलित हो गये थे। उसे किसी एक प्रदेश की भाषा नहीं कहा जा सकता। सधुक्कड़ी भाषा के अतिरिक्त अफगान युग में प्रधानतया राजस्थानी और ब्रजभाषाओं में साहित्य का विकास हुआ। राजस्थानी भाषा का उपयोग मुख्यतया वीर-काव्यों के लिया हुआ, और ब्रजभाषा का भक्ति रस की कविताओं के लिये। दक्षिणी भारत में भक्ति की जिस लहर का प्रादुर्भाव हुआ था, उत्तरी भारत में जब वह आई, तो वृन्दावन उसका प्रधान केन्द्र बना, और वहाँ की भाषा (ब्रजभाषा) को ही भक्त संतों ने अपने गीतों के लिये प्रयुक्त किया। पर अफगान सल्तनत की राजधानी दिल्ली के आस-पास के प्रदेशों की भाषा 'कौरवी' थी, जिसे खड़ी बोली भी कहा जाता है। मेरठ कमिश्नरी के प्रदेश को ही प्राचीन समय में 'कुरुदेश' कहते थे, और यमुना पार के रोहतक, हिसार आदि जिलों का प्राचीन नाम 'कुरुजांगल' था। इनकी भाषा 'कौरवी' थी। दिल्ली के तुर्क-अफगान शासक इस कौरवी भाषा के ही सबसे अधिक सम्पर्क

कार्य किया करते थे। पर उत्तरी भारत के मुसलमानों ने जब दक्षिणापथ में अपने शासन का विस्तार किया, और वहाँ मुसलिम शासन के अनेक केन्द्र कायम हुए, तो वहाँ विदेशी तुर्क-अफगानों की संख्या इतनी अधिक नहीं थी, कि वे पर्शियन भाषा को अपने राज्य-कार्य के लिये प्रयुक्त कर सकते। उत्तरी भारत के ये मुसलमान दिल्ली के आस-पास के प्रदेश की कौरवी भाषा को दक्षिणापथ में ले गये, और वहाँ के मुसलिम दरबारों में इसी भाषा ने प्राधान्य प्राप्त किया। यही कारण है, जो दक्षिण के अनेक मुसलमानों और मुगल शासकों के संरक्षण में 'हिन्दवी' भाषा के साहित्य का विकास हुआ। दक्षिण में विकसित हुई कौरवी भाषा के इस नये रूप को 'हिन्दी' और 'उर्दू' दोनों कहा जा सकता है। इसका व्याकरण और शब्दकोश कौरवी या खड़ी बोली के थे, पर इसमें पर्शियन और अरबी शब्दों का भी सम्मिश्रण रहता था। इस नयी भाषा का विकास दक्षिणापथ के जिन मुसलिम सुलतानों के दरबार में विशेष रूप से हुआ, उनमें इब्राहीम आदिलशाह (१५७६--१६२६), मुहम्मद कुली कुतुबशाह (१५८०--१६१२) और मुहम्मद कुतुबशाह (१६१२–२५) के नाम उल्लेखनीय हैं। बाद में पर्शियन-मिश्रित कौरवी भाषा का विकास उत्तरी भारत के मुसलिम शासकों के दरबारों में भी होने लगा, और इस प्रकार हिन्दी भाषा की एक नवीन शैली भली-भाँति विकसित हो गयी।

पर्शियन साहित्य—पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि भारत के मुसलिम शासकों ने अपनी प्रिय पर्शियन भाषा को प्रोत्साहित करने और उसमें साहित्य का निर्माण कराने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। दिल्ली के अफगान व तुर्क सुलतान पर्शियन भाषा और साहित्य के बड़े प्रेमी थे, और उनके संरक्षण में अनेक विद्वान् पर्शियन भाषा में साहित्य का निर्माण करने के लिये तत्पर रहते थे। अमीर खुसरो ने बड़े गर्व के साथ लिखा है, कि दिल्ली पर्शियन साहित्य का बड़ा केन्द्र था, और इस क्षेत्र में बुखारा (मध्य एशिया में) का मुख्य प्रतिस्पर्धी था। इस युग में मध्य एशिया व ईरान आदि मुसलिम देशों पर मंगोल लोगों के आक्रमण बड़ी तेजी के साथ हो रहे थे। मुसलिम शासक मंगोलों का मुकाबला करने में असमर्थ थे। परिणाम यह हुआ, कि मध्य एशिया, ईरान, ईराक आदि से पर्शियन भाषा के बहुत-से विद्वान् दिल्ली आकर आश्रय लेने के लिये विवश हुए, और भारत के मुसलिम सुलतानों ने उत्साहपूर्वक उनका स्वागत किया। मुसलिम देशों के इतने अधिक विद्वान् इस समय दिल्ली के सुलतानों के दरबार में एकत्र हो गये थे, कि अलाउद्दीन के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य बरानी द्वारा लिखे गये थे—"सबसे अधिक आश्चर्य की बात, जो अलाउद्दीन खिलजी के विषय में कही जा सकती है, वह यह है कि उसके आश्रय में विविध देशों और जातियों के कितने ही ऐसे विद्वान् एकत्र हो गये हैं, जो प्रत्येक विज्ञान के प्रकाण्ड पण्डित और प्रत्येक कला के विशेषज्ञ हैं। इन प्रतिभाशाली विद्वानों की उपस्थिति के कारण दिल्ली नगर बगदाद के लिये ईर्ष्या का पात्र, कैरो का प्रतिस्पर्धी और कुस्तुन्तुनिया का समकक्ष बन गया है।" मुहम्मद तुगलक जहाँ स्वयं कवि, दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता था, वहाँ साथ ही विद्वानों का आश्रयदाता भी था।

अफगान-युग के उन विद्वानों में जिन्होंने पर्शियन भाषा के साहित्य को समृद्ध किया, कतिपय के नाम उल्लेखनीय हैं। अमीर खुसरो का जिक्र इसी प्रकरण में ऊपर किया जा चुका है। उसने यद्यपि हिन्दी में कविताएँ लिखीं, पर उसका मुख्य कार्य पर्शि-

यन भाषा के गद्य और पद्य साहित्य को समृद्ध करना था। अलाउद्दीन खिलजी के समकालीन महाकवि शेख निजामुद्दीन हसन ने न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी ख्याति प्राप्त की। मुहम्मद तुगलक के समय में मौलाना मोयाउद्दीन उमरानी ने मुस्लिम धर्मशास्त्र और विधान-शास्त्र की अनेक प्रामाणिक पुस्तकों पर टीकायें लिखीं। फीरोजशाह तुगलक के शासन में काजी अब्दुल मुक्तदिर शानिही, मौलाना ख्वाजिम और मौलाना अहमद थानेश्वरी आदि कितने ही विद्वान् और कवि हुए, जिन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा पर्शियन साहित्य को समृद्ध किया। केवल दिल्ली के सुलतान ही नहीं, अपितु जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद और दौलताबाद आदि के सुलतान भी पर्शियन भाषा के विद्वानों के आश्रयदाता थे, और उन्होंने पर्शियन भाषा और साहित्य को बहुत प्रोत्साहित किया।

सुलतानों का आश्रय प्राप्त करनेवाले लेखकों ने केवल कविता और धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं लिखे अपितु ऐतिहासिक ग्रथों की भी रचना की। पर्शियन भाषा में इतिहास लिखने वाले इन विद्वानों में मिन्हाजुद्दीन, अमीर खुसरो, जियाउद्दीन बरानी और याहिया बिन अहमद सरहिन्दी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें भी जियाउद्दीन बरानी सबसे महत्वपूर्ण है, और उसके लिखे इतिहास द्वारा हमें अफगान युग के सुलतानों के राजनीतिक इतिहास से परिचय प्राप्त करने में बहुत सहायता मिलती है।

बंगाली साहित्य—अफगान सुलतानों के आश्रय में केवल पर्शियन भाषा के साहित्य का ही विकास नहीं हुआ, अपितु भारत की प्रान्तीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन मिला। बंगाल के सुलतान नसरतशाह (१५१८ ईस्वी) ने महाभारत का बंगाली भाषा में अनुवाद कराया। प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने सुलतान नसरतशाह और गियासुद्दीन महमूद शाह (१५३३ ई०) की बहुत प्रशंसा की है, और उन्हें बंगाली भाषा का संरक्षक कहा है। इसी युग में कृत्तिवास ने बंगाली भाषा में रामायण की रचना की, जिसका बंगाल में प्रायः वही स्थान है, उत्तरी-भारत में जो तुलसीकृत रामायण का है। कृत्तिवास को बंगाल के सुलतानों का आश्रय प्राप्त था। सुलतान हुसैनशाह (१४९३ ई०) के संरक्षण में मालाधर बसु ने भागवत का बंगाली भाषा में अनुवाद किया, और इस उपलक्ष्य में सुलतान ने उसे 'गुणराज खाँ' की उपाधि से विभूषित किया। हुसैनशाह के सेनापति परागल खाँ ने महाभारत का एक अन्य अनुवाद बंगाली भाषा में कराया, जो कार्य कवीन्द्र परमेश्वर ने सम्पन्न किया। परागल खाँ के पुत्र छूटी खाँ ने, जो कि बंगाल के सुलतान के अधीन चटगाँव का सूबेदार था महाभारत के अश्वमेध पर्व का श्रीकर नन्दी द्वारा बंगाली अनुवाद कराया। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि इस युग के सुलतान, विशेषतया बंगाल, गुजरात आदि के प्रान्तीय सुलतान, भारत की प्रान्तीय भाषाओं के भी संरक्षक थे।

इस युग में संस्कृत भाषा में भी अनेक पुस्तकें लिखी गयीं। पर यह कार्य प्रायः उन प्रदेशों में हुआ, जहाँ अभी मुस्लिम शासन स्थापित नहीं हुआ था। इन प्रदेशों की सभ्यता और संस्कृति पर हम एक पृथक् अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

पच्चीसवां अध्याय

हिन्दू-धर्म की नवीन जागृति

(१) भारत के विविध धर्म और इस्लाम

मुस्लिम धर्म से सम्पर्क होने पर भारत के पुराने हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार हुआ। एक विदेशी व विधर्मी जाति से परास्त हो जाना भारत के लिये एक असाधारण घटना थी। मुस्लिम आक्रमण से पूर्व भी भारत पर विदेशी लोगों के आक्रमण हुए थे, पर या तो आक्रान्ता इस देश में स्थायी रूप से अपना शासन स्थापित करने में असमर्थ रहे थे, और या इस देश में बसकर वे यहां की सभ्यता और संस्कृति के रंग में ही रंग गये थे। दारयवहु और सिकन्दर के आक्रमण विजययात्रा-मात्रा थे। इस देश में अपने स्थायी आधिपत्य को स्थापित करने में वे असमर्थ रहे थे। यवन, शक, पार्थियन, कुशाण और हूण आक्रान्ता भारत में अपनी राजशक्ति को कायम करने में आंशिक रूप से सफल हुए, पर भारतीयों के सम्पर्क से वे पूर्णतया भारतीय बन गये। उन्होंने इस देश की भाषा, सभ्यता, धर्म और संस्कृति को अपना लिया। पर तुर्कों और अफगानों के रूप में जिन नवीन हूणों ने भारत में अपने राज्य स्थापित किये थे, वे एक ऐसे धर्म के अनुयायी थे, जिसमें अपूर्व जीवनी शक्ति थी, और जो सम्पूर्ण मानव समाज को आत्मसात् करने की महत्त्वाकांक्षा रखता था। मनुष्यमात्र की समता और ईश्वर व रसूल पर दृढ़ विश्वास ऐसे तत्त्व थे, जो इस नये धर्म को अनुपम शक्ति प्रदान करते थे। इन्हीं के कारण मिस्र, सीरिया, ईरान आदि के पुराने धर्म इस्लाम के सम्मुख नहीं टिक सके। मुसलमान कहते थे, जो कोई मनुष्य अल्लाह और रसूल पर ईमान ले आएगा, उसमें ऊंच-नीच का भेद नहीं रहेगा। अल्लाह और रसूल पर विश्वास मनुष्य को न केवल इस लोक में सुख प्रदान करेगा, पर बहिश्त का द्वार भी उसके लिये खुल जायगा। परम पद को प्राप्त करने का यह कितना अधिक सीधा और सरल उपाय था। इहलोक में अभ्युदय और मृत्यु के बाद निःश्रेयस की प्राप्ति के लिये इससे सुगम अन्य उपाय क्या हो सकता था? भारत में इस्लाम का प्रवेश होने पर देश के धार्मिक नेताओं के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ। क्या वज्रयान और शाक्त सम्प्रदायों की गुह्य साधनाओं, मीमांसकों के कर्मकाण्ड और अद्वैतवादी स्मार्तों के ज्ञान मार्ग की अपेक्षा इस्लाम का यह मार्ग (अल्लाह और रसूल में विश्वास) अधिक क्रियात्मक नहीं है? यह तो स्पष्ट ही था, कि इस्लाम को स्वीकृत करके मनुष्य इहलोक में अपना अभ्युदय कर सकता था। उसे जजिया कर देने की आवश्यकता नहीं रहती थी, और राजकीय सेवा का मार्ग भी उसके लिये खुल जाता था। केवल धर्म-परिवर्त्तन करके कोई भी हिन्दू भारत के शासक वर्ग का अंग बन सकता था। यदि वह नीच जाति का या अछूत हो, तो इस्लाम की दीक्षा लेकर वह 'पापयोनि' न रहकर 'पाक' हो जाता था। और मृत्यु के बाद? इस्लाम

कहता था—अल्लाह और रसूल में ईमान लाकर मनुष्य बहिश्त को प्राप्त कर सकता है। सर्वसाधारण लोगों की दृष्टि में निःश्रेयस, स्वर्ग या बहिश्त का यह उपाय वाममार्गियों की गुह्य साधनाओं व मीमांसकों के कर्मकाण्ड की अपेक्षा किसी भी प्रकार हीन नहीं था।

यदि इस युग के हिन्दू धर्म में जीवनी शक्ति, कल्पना व चिन्तन का अभाव होता, तो इस्लाम के सम्पर्क के कारण उसकी भी वही गति होती, जो ईरान, मिस्र आदि के पुराने धर्मों की हुई थी। बिजली की लहर निर्बल मनुष्य के जीवन का अन्त कर देती है, पर उन मनुष्यों में वह जीवन का संचार करती है, जिनमें अभी शक्ति का बहुत अधिक क्षय नहीं हो चुका होता। इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार हुआ। इस्लाम उसे नष्ट नहीं कर सका, क्योंकि उसकी शक्ति का सर्वथा ह्रास नहीं हो गया था। उसके सम्पर्क से हिन्दू धर्म में नवीन जागृति उत्पन्न हुई, जिसके कारण हिन्दू धर्म पहले की अपेक्षा भी बहुत अधिक सबल हो गया।

(२) मध्य युग के भारतीय धर्म

इससे पूर्व कि हम हिन्दू धर्म की इस नवीन जागृति पर प्रकाश डालें, यह उपयोगी होगा कि इस्लाम के प्रवेश के समय भारत के विविध धर्मों की जो दशा थी, उसका अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख कर दें। इस सम्बन्ध में पिछले एक अध्याय में विशद रूप से विचार किया भी जा चुका है।

बौद्ध-धर्म—बारहवीं सदी में बौद्ध-धर्म भारत से प्रायः नष्ट हो चुका था। पूर्वी भारत (मगध और बंगाल) में अभी इस धर्म की सत्ता थी, पर वह प्रधानतया बड़े-बड़े विहारों में ही केन्द्रित था, जिनमें हजारों भिक्षु निवास करते थे। इस युग के प्रायः सभी बौद्ध वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे, जो रहस्यमयी क्रियाओं और गुह्य साधनाओं में विश्वास रखते थे। जनसमाज के हित व प्राणिमात्र के कल्याण की इन्हें जरा भी चिन्ता नहीं थी। वज्रयानी बौद्धों के अनुकरण में पौराणिक हिन्दू धर्म में भी वाममार्ग का विकास हो गया था, जो वज्रयान के समान ही गुह्य साधनाओं में विश्वास रखता था।

याज्ञिक कर्मकाण्ड—कुमारिल भट्ट द्वारा यज्ञों के कर्मकाण्ड के प्रति एक बार फिर विश्वास उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया था, और अनेक मीमांसा-शास्त्री तर्क द्वारा याज्ञिक अनुष्ठानों के वैज्ञानिक व उपयोगी रूप का प्रतिपादन करते थे। पर मीमांसकों का कर्मकाण्ड-प्रधान धर्म सर्वसाधारण जनता में बहुत लोकप्रिय नहीं हो सकता था, क्योंकि याज्ञिक अनुष्ठान व्ययसाध्य थे, और केवल सम्पन्न लोग ही उनका अनुसरण कर सकते थे।

स्मार्त धर्म—शंकराचार्य ने भारत में एक नये धार्मिक आन्दोलन का प्रारम्भ किया, जिसके दार्शनिक अंश को 'वेदान्त' और साधना के अंश को 'स्मार्त मार्ग' कहते थे। वेदान्त के अनुसार संसार में केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है। ब्रह्म सत्य, शुद्ध, सत्, चित्, और आनन्द रूप है। जीव ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, और इन्द्रियों से प्रतीयमान यह संसार मिथ्या है—यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति है। किन्तु इस ज्ञान साधना के लिए यह आवश्यक है, कि मनुष्य वेदशास्त्र द्वारा विहित वर्णाश्रम धर्म का भली-भांति पालन कर अपने अन्तःकरण को शुद्ध करे। यह

आवश्यक नहीं, कि यह शुद्धि एक ही जन्म में की जा सके। इसके लिये अनेक जन्मों व निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होगी।

जैन-धर्म—बौद्ध (वज्रयान), शाक्त (वाममार्ग) और पौराणिक (स्मार्त्त) धर्मों के अतिरिक्त जैन धर्म भी इस युग में भारत के कुछ प्रदेशों में विद्यमान था, और उसके धर्माचार्य भी समय के प्रवाह से अछूते नहीं रह सके थे। जैनों में भी देवसेन (दसवीं सदी) और मुनि रामसिंह (ग्यारहवीं सदी) आदि कितने ही ऐसे धर्माचार्य उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि शंकराचार्य के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर 'ज्ञान' की उपयोगिता पर बल दिया। उन्होंने कहा, कि मनुष्य को चाहिए कि वह ज्ञान के उस एक अग्निकरण को अपना ले, जो प्रज्वलित होकर पाप पुण्य को क्षण भर में भस्म कर देता है। विषय-सुखों का उपभोग करता हुआ भी मनुष्य अपने मन को इस ढंग से ढाल सकता है, कि इन विषय-सुखों का कोई प्रभाव उसके मन पर न पड़े। इस युग के अन्य धर्माचार्यों के समान जैन लोग भी सत्य ज्ञान और मन की साधना पर बल देते रहे।

सहजयान—इस युग में एक अन्य सम्प्रदाय भी प्रचलित था, जिसे 'सहजयान' कहते हैं। वज्रयानियों के समान सहजयान के अनुयायी भी साधना को महत्त्व देते थे। पर इनकी साधनाएं मनुष्य को व्यभिचार की ओर प्रवृत्त नहीं करती थी। सहजयानी लोग ऐसी साधनाओं का प्रतिपादन करते थे, जिनके द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध किया जा सके। साधना के लिये गुरु की सहायता अनिवार्य थी। गुरु अपने शिष्य की चित्तवृत्ति की परीक्षा करके उसके अनुसार ही उसे विशेष प्रकार की साधना का उपदेश देता था। जो साधक गुरु द्वारा आदिष्ट मार्ग का अनुसरण कर अपने उद्देश्य में सफल हो जाए, उसे 'सिद्ध' मान लिया जाता था। सहजयान सम्प्रदाय में इस प्रकार के ८४ सिद्ध हुए। इन सिद्धों में सरहपा बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका समय शंकराचार्य से कुछ पहले माना जाता है। सरहपा या सरह की रचनाएँ उस अपभ्रंश भाषा में हैं, जो आगे चलकर हिन्दी के रूप में विकसित हो गयी। वज्रयान द्वारा जिस ढंग की अनैतिक और पतन की ओर ले जाने वाली गुह्य साधनाओं को सिद्धि के लिये आवश्यक माना जाता था, सहजयान ने उसके विरुद्ध आवाज उठाई, और चित्तशुद्धि द्वारा साधना के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। पर सभी सिद्ध व साधक सहजयानी साधु आचरण की पवित्रता व चित्त शुद्धि के आदर्श को क्रिया में परिणत नहीं कर सके। साधना की आड़ में वे भी अनेक ऐसी क्रियाओं को अपनाते रहे, जिन्हें नैतिकता के अनुकूल नहीं माना जा सकता।

सहजयानी लोग भी अनेक प्रकार की गुह्य साधनाओं में विश्वास रखते थे, और चित्त शुद्धि के लिये हठयोग की अनेकविध क्रियाएं किया करते थे। उनका धर्म भी सर्वसाधारण जनता के लिये न होकर कतिपय साधकों व सिद्धों तक ही सीमित था।

नाथयोगी सम्प्रदाय—इस युग में उत्तरी भारत में नाथयोगी सम्प्रदाय का बहुत प्रचार था। इस सम्प्रदाय के अनुयायी शैव धर्म के थे, और योगेश्वर शिव को अपना आदर्श मानकर योग साधना में तत्पर रहा करते थे। अनुश्रुति के अनुसार इस सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक 'आदिनाथ' शिव थे। पर इनका वृतान्त उपलब्ध नहीं है, यद्यपि नाथयोगी साधुओं में इनके सम्बन्ध में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। इस सम्प्रदाय के ऐसे गुरु, ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक रूप से जिनकी सत्ता को स्वीकार किया जा सकता है,

गुरु गोरखनाथ थे। पर उनके काल के विषय पर भी ऐतिहासिकों में बहुत मतभेद है। कोई उन्हें आठवीं सदी का मानता है, तो कोई बारहवीं सदी का। सम्भवत:, उन के काल को आठवीं-नवीं सदी में रखा जा सकता है। समय के समान उनके जन्म स्थान के सम्बंध में भी अनेक मत हैं। अब तक जो खोज हुई है, उसके अनुसार गुरु गोरखनाथ पश्चिमी भारत के निवासी थे, और उनका कार्यक्षेत्र उत्तरी भारत, आसाम, नैपाल आदि तक विस्तृत था। उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में उनके धर्म का प्रचार हुआ, और धीरे-धीरे अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, सीलोन तथा पेनांग आदि अन्य प्रदेशों में भी उनके मन्तव्यों का प्रसार हो गया। समयान्तर में उन्हें भी अवतार माना जाने लगा, और उनके विषय में यह समझा जाने लगा कि सतयुग में उन्होंने पेशावर में, त्रेतायुग में गोरखपुर में, द्वापर में हुरमुज में और कलियुग में गोरखमण्डी में अवतार ग्रहण किया था।

नाथ योगी सम्प्रदाय के प्रधान गुरु यद्यपि गोरखनाथ हुए, पर उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक गुरु इस सम्प्रदाय की गुरु-परम्परा में हुए, जिनमें जालन्धरनाथ, चौरंगीनाथ, चुणकरनाथ, पृथ्वीनाथ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी 'वाणियाँ' इस सम्प्रदाय के साधुओं में अब तक भी प्रचलित हैं, और गोरखनाथ की रचनाएँ तो प्रकाशित भी हो चुकी हैं। अन्य नाथ गुरुओं की फुटकर रचनाएं भी इस समय पुस्तक रूप में उपलब्ध हैं।

गोरखनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्त के सदृश हैं। पर शंकराचार्य के समान वे केवल ज्ञान मार्ग को पर्याप्त नहीं समझते। उनका विश्वास था, कि जब तक शरीर व उसकी इन्द्रियों को वश में नहीं किया जाता, और चित्तवृत्तियों का पूर्णतया निरोध नही होता, तब तक मनुष्य कदापि अपने उद्देश्य (आत्मज्ञान) को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी लिये उन्होंने योग साधना का उपदेश किया, और योग साधना के लिये हठयोग का भी प्रतिपादन किया। गुरु गोरखनाथ शरीर और मन दोनों की शुद्धि को बहुत महत्त्व देते थे, और इसके लिये विविध यौगिक आसनों और संयत जीवन का उपदेश करते थे। उन्होंने दूर-दूर तक अपने मन्तव्यों का प्रचार किया, और बहुत-से लोग उनके अनुयायी हो गये। उनके द्वारा प्रवर्त्तित नाथयोगी सम्प्रदाय की अनेक शाखाएँ अब तक भी विद्यमान हैं, जिनमें सत्यनाथ पन्थ, धर्मनाथ पंथ, रामनाथ पंथ, लक्ष्मणनाथ पंथ आदि मुख्य हैं। इन विविध पंथों का प्रादुर्भाव गोरखनाथ की शिष्य परम्परा द्वारा ही किया गया था। नाथयोगी सम्प्रदाय का एक मुख्य केन्द्र उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में हैं, जहाँ इसका एक समृद्ध मठ भी है। इस सम्प्रदाय के साधु कनफटे भी कहाते हैं, क्योंकि वे अपने कानों को फाड़कर उनमें बड़े-बड़े छेद कर लेते हैं।

ग्यारहवीं और बारहवीं सदियों में दक्षिणी भारत में भक्ति का आन्दोलन प्रबल हो रहा था, यह हम पिछले एक अध्याय में लिख चुके हैं। यह आन्दोलन शैव और वैष्णव दोनों सम्प्रदायों में था। इसी लिये दक्षिणी भारत में अनेक ऐसे भक्त सन्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि शिव और विष्णु की भक्ति पर जोर दिया। इस आन्दोलन के कारण दक्षिणी भारत में इस युग के शैव धर्मो में भी यौगिक साधनाओं का स्थान शिवभक्ति ने ले लिया था, पर उत्तरी भारत की दशा इससे सर्वथा भिन्न थी। वहाँ शैव धर्म का जो रूप प्रचलित था, उसमें अब तक भी योग साधना का ही महत्त्व था। नाथयोगी

सम्प्रदाय जिस प्रकार शरीर और चित्त की शुद्धि के लिये अनेकविध योग-क्रियाओं का प्रतिपादन करता था, लोग उसी का अनुसरण किया करते थे।

काश्मीर का शैव सम्प्रदाय—इस युग में काश्मीर में शैव धर्म का एक अन्य सम्प्रदाय प्रचलित था, जिसके प्रवर्तक वसुगुप्त नाम के आचार्य थे। इनका समय नवीं सदी के प्रारम्भ में माना जाता है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी भी अपनी शारीरिक, मानसिक, व आध्यात्मिक उन्नति के लिये योग साधना का ही आश्रय लेते थे। पर इनकी साधना में गुह्य उपायों को विशेष स्थान प्राप्त नहीं था। ये लोग मंत्रों के जप, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि तथा पूजा को अधिक महत्त्व देते थे। इसी कारण इनमें वाममार्ग व वज्रयान की प्रवृत्तियां कभी बलवती नहीं हुईं।

अन्य शैव सम्प्रदाय—पर उत्तरी भारत के सभी शैव सम्प्रदाय काश्मीरी शैवों के समान नैतिक जीवन बिताने के पक्षपाती नहीं थे। शैव धर्म में ऐसे भी अनेक सम्प्रदायों की सत्ता थी, जो वज्रयानी बौद्धों के समान गुह्य साधनाओं द्वारा सिद्धि प्राप्त करने में विश्वास रखते थे। इस प्रकार के सम्प्रदायों में कापालिक, कालमुख और पाशुपत सम्प्रदाय मुख्य थे। कापालिक और कालमुख साधु कपाल या नरमुण्ड को पात्र के रूप में प्रयुक्त करते थे, शव की भस्म शरीर पर रमाते थे, हाथ में त्रिशूल धारण करते थे, मदिरा का सेवन करते थे और मदिरा पात्र में ही प्रतीयमान महेश्वर की पूजा किया करते थे। पाशुपत लोग भी वज्रयानी बौद्धों के समान यह मानते थे, कि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और खाद्य-अखाद्य के विवेक से ऊपर उठने के लिये साधक को उन सब कार्यों को करना चाहिए, जिन्हें साधारणतया निन्दनीय माना जाता है।

वैष्णव धर्म—बौद्ध, जैन और शैव धर्मों के साथ-साथ वैष्णव धर्म भी इस युग में प्रचलित था। गुप्तवंश के शासन काल में वैष्णव धर्म उत्तरी भारत का प्रधान धर्म था। पर ऐसा प्रतीत होता है, कि सातवीं सदी व उसके बाद के काल में उत्तरी भारत में शैव और वज्रयान धर्मों का अधिक प्रचार हो गया था। ये दोनों धर्म योग क्रियाओं और गुह्य साधनाओं पर जोर देते थे, और भक्ति व पूजा का इनकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं था। पर फिर भी उत्तरी भारत से वैष्णव धर्म का सर्वथा लोप हो गया हो, यह बात नहीं थी। इस युग में भी वैष्णव धर्म की सत्ता कायम थी, यद्यपि उसका अधिक प्रचार दक्षिणी भारत में ही था। उत्तरी भारत में जो लोग गुह्य साधनाओं व योग क्रियाओं को महत्त्व नहीं देते थे, वे स्मार्त्त धर्म के अनुयायी थे। ये स्मार्त्त लोग यथार्थ ज्ञान को मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते थे, और विविध देवी देवताओं में समन्वय करने की प्रवृत्ति रखते थे। वर्णाश्रम धर्म का पालन कर अन्तःकरण की शुद्धि करना इनकी जीवन-साधना का मुख्य रूप था।

भक्ति-मार्ग—जिस समय उत्तरी भारत में साधना और ज्ञान पर जोर देने वाले इन विविध सम्प्रदायों का विकास हो रहा था, दक्षिणी भारत के विविध धर्माचार्य भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करने में तत्पर थे। भक्तिमार्ग भारत के लिये नवीन नहीं था। प्राचीन समय में अन्धक-वृष्णि-संघ के क्षेत्र में वासुदेव कृष्ण द्वारा जिस भागवत धर्म का सूत्रपात हुआ था, वह याज्ञिक कर्मकाण्ड की अपेक्षा भक्ति को अधिक महत्त्व देता था। पर भगवद्गीता का यह धर्म समन्वयात्मक था। इसमें ज्ञान, भक्ति और कर्म को समान

रूप से स्थान दिया गया था। यही कारण है कि 'परम भागवत' और 'परम वैष्णव' गुप्त सम्राट् अश्वमेध यज्ञ का भी अनुष्ठान करते थे। सातवीं सदी में वज्रयान सम्प्रदाय का विकास शुरू होने पर उत्तरी भारत में जो धार्मिक विचार-सरणी प्रबल हुई, उसमें या तो साधना को प्रधान स्थान दिया जाता था, या ज्ञान को। भक्ति का उसमें बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं था। ब्रह्म और जीव की एकता को प्रतिपादित करने वाले शांकर मत में भी भक्ति को विशेष स्थान नहीं मिल सकता था। इस दशा में दक्षिणी भारत में अनेक ऐसे सन्त हुए, जो भक्ति मार्ग का प्रतिपादन करते थे, और विष्णु की भक्ति को ही मोक्ष का एकमात्र साधन मानते थे। इन सन्तों को आलवार कहा जाता था। इन आलवारों ने भगवान् की भक्ति में जो अनेक गीत बनाये, उनका संग्रह बाद में 'प्रबन्धम्' नाम से किया गया, जिसे वैष्णव भक्त लोग बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं। आलवारों के बाद अनेक ऐसे आचार्य दक्षिणी भारत में उत्पन्न हुए, जिन्होंने भक्ति-मार्ग को दार्शनिक विवेचन द्वारा पुष्ट किया। शंकराचार्य के अद्वैतवाद और बौद्धों के विज्ञानवाद व शून्यवाद में ईश्वर और आत्मा की पृथक् सत्ता की गुंजाइश नहीं रहती थी, और इन मतों को स्वीकार कर लेने पर जीव के लिये भक्तिमार्ग का अनुसरण करना निरर्थक हो जाता था। इसलिये रामानुचार्य जैसे आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत या द्वैतवाद का प्रतिपादन कर भक्ति मार्ग को दार्शनिक आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया। दार्शनिक विवेचन द्वारा पुष्टि पाकर दक्षिणी भारत में भक्तिमार्ग की बहुत उन्नति हुई, और अनेक आचार्यों ने उत्तरी भारत में भी इसके प्रचार का प्रयत्न किया।

हिन्दू-धर्म में नई जागृति का सूत्रपात—बारहवीं सदी के अन्त में जब भारत में मुसलिम राजसत्ता की स्थापना प्रारम्भ हुई, तो देश की धार्मिक दशा का यही रूप था। इस्लाम के प्रवेश के कारण यह आवश्यक हो गया था, कि इस देश के धार्मिक नेता हिन्दू धर्म को एक ऐसा रूप प्रदान करें, जो मुस्लिम शासकों और धर्म प्रचारकों से हिन्दू-धर्म की रक्षा कर सके। यही कारण है, कि इस युग में अनेक ऐसे सन्त-महात्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने जाति भेद का विरोध करते हुए यह प्रतिपादित किया, कि भगवान् की दृष्टि में न कोई मनुष्य नीच है, और न कोई उच्च। अपने गुण, कर्म, सदाचार व भक्ति द्वारा ही कोई मनुष्य ऊंचा पद प्राप्त कर सकता है। साथ ही, इन संत-महात्माओं ने यह भी प्रतिपादित किया, कि ईश्वर पतितपावन है, भक्ति द्वारा प्रसन्न होता है, भक्त का उद्धार करने के लिये उसकी सहायता करता है, और भगवान तक पहुँचने के लिये गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इस्लाम के समान इस युग के भारतीय धार्मिक आन्दोलन भी ईश्वर पर दृढ़ विश्वास, उसकी भक्ति और गुरु (रसूल) के महत्त्व पर बल देने लगे, और उन्होंने भगवान् के एक ऐसे रूप को जनता के सम्मुख उपस्थित किया, जो दुष्टों का दलन करने और साधु लोगों का परित्राण करने के लिये मानव तन धारण करने में भी संकोच नहीं करता। इस अध्याय में हम भारत के इन्हीं नये धार्मिक आन्दोलनों पर प्रकाश डालेंगे, क्योंकि इनके कारण हिन्दू धर्म इस्लाम के आक्रमण से अपनी रक्षा करने में समर्थ हुआ था, और उसमें एक ऐसी नयी जागृति उत्पन्न हो गयी थी, जो अनेक अंशों में इस्लाम को भी अपने प्रभाव में ले आई थी।

(३) इस्लाम और भारत

जिस इस्लाम के प्रवेश के कारण भारत के धार्मिक नेताओं के लिये यह आवश्यक हो गया था, कि वे अपने धर्म को एक ऐसा रूप दें, जो मुस्लिम शासकों और धर्म-प्रचारकों से हिन्दू धर्म की रक्षा कर सके, उस (इस्लाम) के स्वरूप पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव पर हम पिछले एक अध्याय में विचार कर चुके हैं। सातवीं सदी के शुरू में हजरत मुहम्मद द्वारा अरब में इस धर्म का प्रारम्भ किया गया था, जो उस देश में एक महान् सुधारक के रूप में प्रगट हुए थे। मुहम्मद ने जहाँ अपने अनुयायियों को एक नये धर्म का सन्देश दिया, वहाँ साथ ही अरब की विविध जातियों और कबीलों को एक सूत्र में संगठित भी किया।

भारत में इस्लाम का प्रथम प्रवेश—संगठित होकर अरब लोगों ने अपने जिस विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, वह एक सदी से भी कम समय में पश्चिम में स्पेन से लगाकर पूर्व में सिंध नदी तक विस्तृत हो गया था। ७१२ ई० में एक अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम ने भारत के सिन्ध प्रान्त पर भी आक्रमण किया था, और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उत्तरी भारत में इस्लाम का पदार्पण इसी समय से हुआ।

पर दक्षिणी भारत में इस्लाम का प्रवेश इससे पूर्व ही हो चुका था। भारत का पश्चिमी देशों से व्यापारिक सम्बन्ध बहुत पुराना है। भारत के व्यापारी पश्चिमी देशों में दूर-दूर तक समुद्री मार्ग द्वारा आया जाया करते थे और पश्चिम के व्यापारी भी अच्छी बड़ी संख्या में भारत आते थे। अरबों के उत्कर्ष के काल में, भारत के सामुद्रिक व्यापार में अरब व्यापारियों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। इस देश में इस्लाम का प्रवेश सबसे पूर्व इन अरब व्यापारियों द्वारा ही हुआ। ६३९ ई० में अरब के मुसलिम व्यापारी भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर आने लगे, और उनके सम्पर्क में आकर मलाबार के मोपला लोगों ने इस्लाम को स्वीकार करना भी प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि अरबों द्वारा सिंध की विजय से पहले भी भारत में इस्लाम का प्रवेश हो चुका था, और दक्षिणी भारत के समुद्र तट के लोग इस नये धर्म को अपनाने लग गये थे। बाद में इस क्षेत्र में इस्लाम का प्रचार और भी तेजी के साथ हुआ। नवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मलाबार का राजा चेरामन पेरुमल था। अरब व्यापारियों के सम्पर्क से वह भी इस्लाम के प्रभाव में आ गया, और उसने अपने राज्य में मुस्लिम धर्म-प्रचारकों को सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। दसवीं सदी के प्रारम्भ होने तक भारत के पूर्वी समुद्र तट पर भी इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ हो गया था, और बहुत-से मुस्लिम पीर व औलिया इन क्षेत्रों में अपने धर्म का प्रसार करने के कार्य में तत्पर हो गये थे।

इस प्रकार यह ध्यान में रखना चाहिये, कि महमूद गजनवी के आक्रमण से पूर्व भी भारत के अनेक देशों में इस्लाम का प्रवेश हो गया था। सिन्ध और दक्षिण के समुद्र-तट के प्रदेश उस युग में ऐसे क्षेत्र थे, जहाँ मस्जिदों की मीनारें एक नये धर्म की सत्ता की सूचना दिया करती थीं। भारत के राजा इस नये धर्म के प्रति उदारता की नीति का अनुसरण करते थे। सहिष्णुता की भावना भारतीय संस्कृति की एक अनुपम विशेषता

रही है । इसी कारण भारत के राजाओं ने इस्लाम के प्रति भी उदारता और सहिष्णुता का ही बरताव किया।

सूफी सम्प्रदाय—जो अनेक मुस्लिम पीर और औलिया भारत के कतिपय क्षेत्रों में इस्लाम का प्रचार करने में तत्पर थे, उनमें सूफी लोग प्रधान थे। सूफी सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव में अनेक ऐसे धर्मों के मन्तव्यों का महत्त्वपूर्ण हाथ था, जिनकी सत्ता इस्लाम से पहले भी थी। अरब से प्रादुर्भूत होकर जिन देशों में इस्लाम का प्रसार हुआ, उनमें पहले जरदुष्ट्र और ईसामसीह के धर्मों का प्रचार था। ये धर्म भारत के बौद्धों और हिन्दुओं की विचार सरणी और दार्शनिक प्रणाली से अनेक अंशों में प्रभावित हुए थे, यह पहले लिखा जा चुका है। जिन लोगों ने इस्लाम को स्वीकार किया, वे ईश्वर, उसकी उपासना और उसके साथ मनुष्य के सम्बन्ध के बारे में अपने विचार रखते थे, और ये विचार उनमें बहुत बद्धमूल थे। बौद्धों की साधना और हिन्दू योगियों की योगक्रियाओं से उन्हें भली भांति परिचय था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि उनके विचारों और विश्वासों का इस्लाम पर भी प्रभाव पड़े। बौद्ध लोग निर्वाण को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते थे, और उसकी प्राप्ति के लिए अष्टांगिक आर्य मार्ग का प्रतिपादन करते थे। उनके प्रभाव के कारण इस्लाम में भी एक ऐसे सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने कि 'फना' को मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना, और उसकी प्राप्ति के लिये एक ऐसे 'तरीके' का प्रतिपादन किया, जो बौद्धों के अष्टांगिक मार्ग से मिलता जुलता है। भारत के योगी उन चमत्कारों में विश्वास रखते थे, जिन्हें योग साधना द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। इस्लाम के इस नये सम्प्रदाय ने भी 'करामात' या 'मोजजा' को अपने मन्तव्य में स्थान दिया। इस्लाम का यह सम्प्रदाय 'सूफी' कहाता है, और इस पर भारतीय विचार-धारा के प्रभाव को प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। इसीलिये श्री हुमायूँ कबीर ने लिखा है कि सूफी मत का आधार कुरान में था, पर भारतीय विचार-धारा ने इस पर अत्यन्त गम्भीर प्रभाव डाला है।

सूफी सम्प्रदाय का प्रारम्भ कब और किस प्रकार हुआ, यह स्पष्ट नहीं है। कुछ लोग तो इसे इस्लाम से भी पहले का मानते हैं, और कुछ के अनुसार इसका प्रारम्भ भी हजरत मुहम्मद द्वारा ही हुआ था। पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहना अधिक संगत होगा कि जब अरब से बाहर इस्लाम का प्रचार हुआ, तो वहाँ के लोगों में प्रचलित विचारों और विश्वासों के प्रभाव के कारण ही इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, और अनेक ऐसे पीरों (साधुओं) ने, जो मुसलमान होते हुए भी बौद्ध, हिन्दू व ईसाई विचारधारा से प्रभावित थे, इस सम्प्रदाय का विकास किया। कट्टर मुसलमान इन सूफी पीरों को काफिर समझते थे, और इनके विचारों को इस्लाम के प्रतिकूल मानते थे। इसी कारण अनेक सूफी पीरों को प्राण दण्ड भी दिया गया। अपने विचारों के लिये शहीद होने वाले सूफी पीरों में मंसूर-जल-हल्लाज (दसवीं सदी) का नाम उल्लेखनीय है। वह ईश्वर और जीव में अभेद मानता था, और इसी कारण उसके विचार कट्टर मुसलमानों को सह्य नहीं थे। मुस्लिम देशों में सूफी सम्प्रदाय के फकीरों व पीरों के प्रति सहिष्णुता की नीति के न बरते जाने का एक परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से ऐसे फकीर भारत आदि देशों में आने लगे। इस देश के निवासी धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु थे, सब सम्प्रदायों

के साधु-महात्माओं का आदर करने का उन्हें चिरकाल से अभ्यास था। इसी लिये सूफी फकीरों ने भारत को अपने धर्मप्रचार का क्षेत्र बनाया, और उन्हें अपने कार्य में सफलता भी मिली।

मुस्लिम प्रचारकों का भारत में कार्य—उत्तरी भारत में ग्यारहवीं सदी में मुस्लिम फकीरों और पीरों ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। इस काल में भारत की राज-शक्ति राजपूत राजवंशों के हाथों में थी। मुस्लिम राजवंशों की स्थापना अभी इस देश में नहीं हुई थी। इस कारण मुसलिम फकीरों को किसी भी प्रकार से राजनीतिक शक्ति का सहारा प्राप्त नहीं था। पर क्योंकि ये फकीर व पीर ऊंचे चरित्र के थे, और साथ ही अनेक प्रकार की साधनाओं में भी तत्पर रहते थे, अतः इन्हें अपने प्रचार कार्य में अच्छी सफलता प्राप्त हुई। इस युग तक भारत के हिन्दुओं में संकीर्ण जाति प्रथा का विकास हो चुका था, और जनता के एक अच्छे बड़े भाग को हीन समझा जाने लगा था। अतः इस दलित वर्ग के लोगों को अपना अनुयायी बनाने में मुस्लिम फकीरों को अच्छी सफलता मिली। ग्यारहवीं सदी में शेख इस्माईल और अब्दुल्ला यमनी नाम के फकीर भारत में धर्म प्रचार के लिए आये, और बारहवीं सदी के प्रारम्भ में नूर सतागर ईरानी ने गुज-रात के अछूत हिन्दुओं को इस्लाम का अनुयायी बनाया। तेरहवीं सदी के शुरू में ही दिल्ली तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना हो गयी थी। इस समय से मुसलिम पीर और फकीर अधिक बड़ी संख्या में भारत आने लगे, और प्रचार कार्य में तत्पर हुए। इसमें संदेह नहीं, कि इन मुसलिम फकीरों द्वारा भारत में इस्लाम के प्रचार में बहुत सहायता मिली।

बल प्रयोग द्वारा इस्लाम धर्म का प्रसार—पर यह समझना ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नहीं होगा, कि भारत में इस्लाम का प्रचार केवल पीरों और फकीरों द्वारा शांति-पूर्वक ही हुआ। यह सच है कि जब तक इस देश में मुसलमान आक्रांताओं का आधिपत्य स्थापित नहीं हो गया था, मुसलिम पीर व फकीर शांतिमय उपायों से ही अपने धर्म का प्रचार करने में तत्पर रहते थे। पर जब शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों के कारण भारत में तुर्क सल्तनत कायम हो गयी, तो इन विदेशी व विधर्मी शासकों ने बल का प्रयोग करके भी भारत की जनता को इस्लाम का अनुयायी बनाने का प्रयत्न किया। पर इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिन मुसलमान आक्रांताओं ने भारत में अपने शासन की स्थापना की थी, वे अरबों के मुस्लिम आदर्शों से बहुत कुछ परे हट चुके थे। तुर्क लोग सभ्यता की दृष्टि से अरबों की तुलना में बहुत पिछड़े हुए थे, और उनके स्वभाव में बर्बरता बहुत पर्याप्त थी। ये तुर्क हूणों की ही शाखा थे, जो क्रूरता में अनुपम थे। सभ्यता में पिछड़े हुए तुर्कों ने पहले बौद्ध धर्म को अपनाया, और फिर अरबों के सम्पर्क में आकर इस्लाम को। पर धर्म परिवर्तन के कारण उनके स्व-भाव में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। बौद्ध धर्म को स्वीकार कर उन्होंने न अशोक की नीति को अपनाया, और न मुसलमान बनकर मुहम्मद के आदर्शों को। इसलिए जब उन्होंने अपनी राजशक्ति का विस्तार करते हुए भारत पर आक्रमण किया, तो यहाँ के निवासियों पर भयंकर अत्याचार किये, और उन्हें अपने धर्म का अनुयायी बनाने के लिये बल का भी प्रयोग किया। तुर्क-अफगान सुलतान भारत में इस्लाम के प्रचार के

लिये इस कारण भी प्रयत्नशील थे, क्योंकि इस देश की जनता का सहयोग वे तभी प्राप्त कर सकते थे, जबकि यहाँ इस्लाम की शक्ति बढ़े। भारत की जिस राजशक्ति को परास्त कर उन्होंने इस देश में अपना शासन स्थापित किया था, वह अभी पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थी। विविध राजपूत राजवंश अभी विद्यमान थे, भारतभूमि वीरों और सैनिकों से विहीन भी नहीं हुई थी। पुराने क्षत्रिय राजा फिर से अपनी राजशक्ति का उद्धार करने के लिये उत्सुक थे। इस दशा में तुर्क शासन भारत में तभी स्थायी हो सकता था, जबकि इस देश के निवासियों का एक वर्ग इस्लाम को स्वीकार कर मुस्लिम सुलतानों के शासन का सहायक बन जाए। इसी लिए तुर्क-अफगान सुलतानों ने अपनी हिन्दू प्रजा पर जजिया कर लगाया, और जो लोग इस्लाम को स्वीकार कर लें, उन्हें सम्मानित करने व राजकीय पद प्रदान करने की नीति को अपनाया। सम्भवतः, राजनीतिक दृष्टि से उस युग में वह बात सर्वथा अनुचित नहीं कही जा सकती थी।

इस्लाम की शिक्षाओं में जिहाद का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिहाद का अर्थ है, धर्म-युद्ध। कुरान में जिहाद का क्या अभिप्राय है, इस बात पर विचार करने की हमें आवश्यकता नहीं। धर्म पुस्तकों की व्याख्या के सम्बन्ध में धर्माचार्यों और विद्वानों के विविध मत हुआ ही करते हैं। हजरत मुहम्मद ने चाहे अपने अनुयायियों को तलवार द्वारा विधर्मियों के विरुद्ध जिहाद करने का आदेश न दिया हो, पर यह ऐतिहासिक तथ्य है कि बाद के मुस्लिम धर्माचार्यों के अनुसार दो प्रकार के देश होते थे। जिन देशों के निवासी मुसलमान हों, उन्हें वे 'दारुल इस्लाम' (शांतिमय देश) कहते थे, और जहाँ इस्लाम का प्रचार न हो, उन्हें वे 'दारुल हरब' (युद्धस्थली) समझते थे। बाद के मुस्लिम धर्माचार्यों का मत था कि दारुल हरब के खिलाफ जिहाद करना और उनको जीत कर इस्लाम के झण्डे के नीचे ले आना मुसलमानों का धार्मिक कर्त्तव्य है। जिहाद की यह भावना मुस्लिम राजाओं में विद्यमान थी, इस ऐतिहासिक तथ्य से इनकार कर सकना सम्भव नहीं है। मुहम्मद की शिक्षाएँ इसके विपरीत थीं या नहीं, कुरान में जिहाद का मूल अभिप्राय इससे भिन्न है, और सच्चा इस्लाम किसी पर जबरदस्ती करने का उपदेश नहीं देता, इन बातों पर धार्मिक व सैद्धांतिक दृष्टि से मतभेद की गुंजाइश हैं, पर यह निःसंदिग्ध है कि बहुत-से मुसलमान राजाओं ने जिहाद का यही अभिप्राय माना कि विधर्मियों को इस्लाम के झण्डे के नीचे ले आना और सर्वत्र मुसलिम धर्म का प्रचार करना उनका पवित्र कर्त्तव्य है। ऐसा करते हुए वे इस्लाम के सच्चे मन्तव्यों से दूर हट गये थे या नहीं, इस प्रश्न पर धर्माचार्य तर्क-वितर्क कर सकते हैं, पर इतिहास के साथ इसका विशेष सम्बंध नहीं है।

हमें यह स्वीकार करना होगा, कि जिन तुर्क-अफगान आक्रांताओं से भारत पर आक्रमण कर इस देश में अपना शासन स्थापित किया, उनमें जिहाद की भावना विद्यमान थी, और वे जिहाद का यही अभिप्राय समझते थे कि भारत के विधर्मी निवासियों को बल का प्रयोग कर अपने धर्म का अनुयायी बना लें। पर साथ ही यह भी तथ्य है, कि तुर्क-अफगान शासन की स्थापना के समय भारत में जो लूटमार हुई, आक्रांताओं द्वारा जनता पर जो घोर अत्याचार किये गये, जिस प्रकार मन्दिरों और मूर्तियों को तोड़ा गया—उस सब का उद्देश्य केवल धार्मिक ही नहीं था। इसमें आक्रान्ताओं की

धन-लिप्सा भी एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। युद्धों द्वारा जब किसी देश की विजय की जाती है, तो आक्रांत देश के लोगों को अनेकविध कष्टों को सहना ही पड़ता है। भारत के लोगों को तुर्क आक्रमण के समय जिन भयंकर कष्टों को सहना पड़ा, उनके लिये इस्लाम को उत्तरदायी ठहराना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। इसमें आक्रांताओं की साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी आकांक्षाएं एवं धनलिप्सा धार्मिक भावना की तुलना में कहीं अधिक महत्त्व की बातें थीं, यह भी सर्वथा निर्विवाद है।

इस्लाम और हिन्दू धर्म में सम्पर्क—बारहवीं सदी के अन्त में तुर्क-अफगानों के आक्रमण के कारण भारत की हिन्दू जनता को दो प्रकार से इस्लाम का सामना करना पड़ रहा था। एक ओर मुस्लिम पीर और फकीर शांतिमय उपायों से अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे, और दूसरी ओर तुर्क-अफगान आक्रान्ता बल का प्रयोग कर जनता को इस्लाम का अनुयायी बना रहे थे। इस दशा में हिन्दू-धर्म अपनी रक्षा तभी कर सकता था, जब उसमें नवजीवन का संचार हो। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये कि ईजिप्ट, ईरान, और अफगानिस्तान आदि के लोग इस्लाम के मुकाबले में अपने पुराने धर्मों की रक्षा करने में असमर्थ रहे थे। ईरान का जरदुष्ट्र धर्म इस्लाम की बाढ़ में बह गया था। मध्य एशिया के विविध देशों में कभी बौद्ध धर्म का प्रचार था, यह बात अब केवल पुरातत्त्व-सम्बन्धी अवशेषों से ही ज्ञात हो सकती है। ईजिप्ट के पुराने निवासी जिन देवी देवताओं की उपासना करते थे, उनका परिचय भी हमें केवल खुदाई द्वारा प्राप्त मूर्त्तियों से ही मिलता है। पर भारत का पुराना हिन्दू धर्म अब तक भी जीवित है। मलाया, इण्डोनीशिया आदि के जो प्रदेश पहले वृहत्तर भारत के क्षेत्र में थे, उनके पुराने हिन्दू और बौद्ध लोग भी इस्लाम का मुकाबला करने में असमर्थ रहे। पर मुस्लिम फकीरों के साधनामय चमत्कार और तुर्क-अफगान विजेताओं का बल-प्रयोग भी भारत से हिन्दू धर्म को नष्ट कर सकने में समर्थ नहीं हो सके। भारत की जनता के एक भाग को वे मुसलमान अवश्य बना सके, पर इस्लाम को स्वीकार कर लेने वाले लोगों की संख्या बहुत कम रही। इसका कारण यही है कि इस युग में बहुत-से ऐसे सन्त महात्मा भारत में उत्पन्न हुए, जिन्होंने हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार किया, और जिनके प्रयत्नों द्वारा हिन्दू धर्म में नई जागृति उत्पन्न हो गयी। इसी जागृति का यह परिणाम हुआ, कि हिन्दू लोग इस्लाम के मुकाबले में अपने धर्म की रक्षा कर सकने में समर्थ हुए।

(४) नये धार्मिक आन्दोलन

मध्य काल के अन्त में भारत में जो नये धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए, उन्हें स्थूल रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) वे जो भगवान् की भक्ति पर जोर देते थे, और ईश्वर के सगुण रूप का प्रतिपादन करते थे। (२) दूसरे वे जो ईश्वर के निर्गुण रूप का प्रतिपादन कर ज्ञान और साधना द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार का उपदेश देते थे।

इनमें से पहले प्रकार के (भक्ति प्रधान) आन्दोलनों का सूत्रपात दक्षिण भारत के नायन्मार और आलवार भक्त संतों द्वारा हुआ था। इन सन्तों का उल्लेख

पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। भक्ति की जो धारा सुदूर दक्षिण से शुरू हुई थी, वह तेरहवीं सदी में महाराष्ट्र पहुँची, और बाद में उत्तरी भारत में उसका प्रवेश हुआ। वैष्णव लोग पहले भी भक्ति मार्ग के अनुयायी थे, पर तुर्क-अफगान युग में दक्षिण के समान उत्तरी भारत में भी बहुत-से ऐसे सन्त महात्माओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने सर्व-साधारण जनता को भक्ति के रस में निमग्न कर दिया। इन सन्तों के कारण पुराने वैष्णव और शैव धर्मों के स्वरूप में बहुत परिवर्त्तन आया।

ईश्वर के निर्गुण रूप का प्रतिपादन करने वाले सन्त मुख्यतया उत्तरी भारत में हुए। साधना और ज्ञान द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का जो विचार चिरकाल से भारत में चला आ रहा था, नाथयोगी सम्प्रदाय के साधुओं से उसे बहुत बल मिला था। यह सम्प्रदाय ईश्वर के निर्गुण रूप का ही प्रतिपादन करता था, और साधना का उपदेश देता था। इसलिये यह स्वाभाविक था कि उत्तरी भारत के बहुत-से सन्तों पर इस विचार-धारा का प्रभाव पड़े। पर यह ध्यान में रखना चाहिये कि इस युग में ईश्वर के सगुण और निगुण रूपों का प्रतिपादन करने वाले सन्तों में कोई विरोध नहीं था। उनकी स्थिति परस्पर विरोधी सम्प्रदायों के समान नहीं थी। जो सन्त ईश्वर की भक्ति पर जोर देते थे, वे साथ ही ज्ञान और साधना की उपयोगिता को भी स्वीकार करते थे। भेद यही था, कि कुछ महात्मा भक्ति को अधिक महत्त्व देते थे, और दूसरे ज्ञान व साधना को। शंकराचार्य के समय में भारत में जिस स्मार्त भावना का विकास हुआ था, उसके कारण अब यह विचार प्रबल हो गया था, कि विविध देवी देवताओं में अभेद है, और पूजा-पाठ, भक्ति आदि के विविध प्रकारों द्वारा जिन सर्वोच्च शक्तियों की उपासना की जाती है, वे एक-दूसरे से भिन्न न होकर एक ही भगवान् को सूचित करती हैं।

तुर्क-अफगान युग में भारत में जो बहुत-से सन्त महात्मा उत्पन्न हुए, और जिनके प्रयत्नों से हिन्दू धर्म में नवजीवन का संचार हुआ, अब हम उनका संक्षेप से उल्लेख करेंगे।

ज्ञानदेव भक्ति की जो धारा सुदूर दक्षिण से प्रवाहित होनी प्रारम्भ हुई थी, वह धीरे-धीरे उत्तर की ओर बढ़ने लगी, और इस्लाम के आक्रमणों द्वारा उत्पन्न परि-स्थितियों में उसने बहुत उपयोगी कार्य किया। तेरहवीं सदी के अन्त में महाराष्ट्र के पंढरपुर नामक स्थान को केन्द्र बनाकर एक नये वैष्णव सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'वाराकरी' सम्प्रदाय कहते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्ण की 'विट्ठल-भगवान्' के रूप में पूजा करते थे, और उनकी पूजा विधि में भक्ति और कीर्त्तन का प्राधान्य था। अद्वैतवाद में विश्वास रखते हुए भी वाराकरी सम्प्रदाय के लोग भक्तिमार्ग का प्रतिपादन करते हैं। इसके प्रवर्त्तकों में सन्त ज्ञानदेव सर्व-प्रधान थे। उन्होंने गीता पर ज्ञानेश्वरी नाम का भाष्य मराठी भाषा में लिखा, जिसमें इस सम्प्रदाय के मन्तव्यों को दार्शनिक ढंग से प्रतिपादित किया गया है। ज्ञानदेव को गुरु गोरखनाथ की नाथ-योगी शिष्य परम्परा में सम्मिलित किया जाता है। इसका कारण यह है कि उनके विचारों पर उत्तरी भारत के ज्ञान मार्ग का भी प्रभाव था। वस्तुतः, ज्ञानदेव ने ज्ञान और भक्ति में बड़े सुन्दर ढंग से समन्वय किया, और अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि वे ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भक्ति द्वारा उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। ज्ञानदेव का समय तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में माना जाता है।

नामदेव—ज्ञानदेव के समय में ही महाराष्ट्र में एक अन्य सन्त उत्पन्न हुए, जिनका नाम नामदेव (१२७०-१३५० ई०) था। इन्होंने दक्षिण और उत्तर भारत में दूर-दूर तक यात्राएं कीं, और जनता को अपने मार्ग का उपदेश दिया। मराठी भाषा में विरचित अभंगों के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएं भी प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। नामदेव सगुण भक्ति मार्ग के अनुयायी थे, यद्यपि बाद में ज्ञानदेव के संग के कारण नाथपन्थ के प्रभाव में आ गये थे। इस समय भारत के बहुत-से प्रदेशों में नाथपन्थी योगियों के मत का प्रचार था, जो अन्तर्मुख साधना द्वारा सर्वव्यापक निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते थे। ज्ञानदेव के सम्पर्क में आकर सन्त नामदेव का झुकाव भी योगियों के मार्ग की ओर हो गया। यही कारण है, कि उनकी रचना में भक्ति मार्ग द्वारा सगुण ब्रह्म की उपासना और ज्ञान व साधना द्वारा निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार—दोनों ही प्रकार के विचार पाये जाते हैं।

महाराष्ट्र में सन्त नामदेव ने भगवान् की भक्ति व प्रेम की जो धारा प्रवाहित की, अनेक मुसलमान भी उससे प्रभावित हुए, और वे उसके शिष्य बन गये। यह सर्वथा उचित भी था, क्योंकि नामदेव के भक्ति-मार्ग के लिये न मन्दिरों की आवश्यकता थी, और न मस्जिदों की। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान सब एक समान थे। जिसे सत्य ज्ञान हो, वही उनकी दृष्टि में उत्कृष्ट था। नामदेव की निम्नलिखित वाणियां उनकी विचारसरणी को स्पष्ट करने के लिये पर्याप्त हैं :—

हिन्दू अन्धा, तुरको काना। दुवौं ते ज्ञानी सयाना॥

हिन्दू पूजै देहरा, मुसलमान मसीद। नाम सोई सेविया, जहाँ देहरा न मसीद।

जिस प्रकार के विचार आगे चलकर उत्तरी भारत में संत कबीर ने प्रगट किये, प्रायः वैसे ही उनसे कुछ समय पूर्व महाराष्ट्र में संत नामदेव ने अभिव्यक्त किये थे। धीरे-धीरे ये ही विचार सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गये, और इनके कारण भारत के विविध धर्मों के स्वरूप में बहुत कुछ परिवर्त्तन आ गया।

स्वामी रामानन्द—भारत में इस्लाम के प्रवेश के बाद हिन्दू धर्म में जो नवीन जागृति हुई, उसका श्रेय अनेक अंशों में स्वामी रामानन्द को है। ये रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे, और पन्द्रहवीं सदी के अंतिम भाग में हुए थे। इनके समय में दिल्ली का सुलतान सिकंदर लोदी था, जिसका शासन काल १४८९ से १५१७ ईस्वी तक था। 'श्री रामार्चन पद्धति' नामक पुस्तक में रामानंद ने अपनी पूरी गुरु-परम्परा दी है। उसके अनुसार वे रामानुजाचार्य के बाद १४वीं शिष्य-पीढ़ी में हुए थे। उनके गुरु राघवानंद काशी में निवास करते थे, और उन्हीं से इन्होंने दीक्षा ग्रहण की थी। रामानुजाचार्य व उनकी शिष्य परम्परा के लोग वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु के उपासक थे, और उन्हीं की भक्ति को मोक्ष का साधन मानते थे। रामानंद ने भक्ति के इस मार्ग में एक नये तत्त्व का समावेश किया। उन्होंने भगवान् की भक्ति के लिये वैकुण्ठवासी अगोचर विष्णु के स्थान पर मानव शरीर धारण कर राक्षसों का संहार करने वाले विष्णु के अवतार राम का आश्रय लिया, और उन्हीं के प्रेम व भक्ति को मोक्ष का साधन माना। राम और कृष्ण को विष्णु का अवतार मानने का विचार इस युग से पूर्व भी भारत में विद्यमान था। पर राम के रूप में ही विष्णु की भक्ति करने के विचार

के प्रवर्त्तक स्वामी रामानंद ही थे। सम्भवत:, विष्णु के अवतारों की पूजा पहले भी भारत में प्रचलित थी, पर रामानंद ने राम की भक्ति को इतना व्यापक रूप प्रदान किया, कि वह हिन्दू धर्म का प्रधान तत्त्व बन गई।

रामानंद से पूर्व रामानुज-सम्प्रदाय में केवल द्विजातियों को ही दीक्षा दी जाती थी, पर रामानंद ने रामभक्ति का द्वार सब जातियों के लिये खोल दिया। भक्तमाल, के अनुसार उनके प्रधान शिष्य निम्नलिखित थे—अनन्तानन्द, सुखानंद, सुरसरानंद, नरहर्यानंद, भवानंद, पीपा, कबीर, सेन, धन्ना, रैदास, पद्मावती और सुरसरी। इन बारह शिष्यों में से कबीर जाति के जुलाहे थे, और सेन नाई। रैदास जाति के चमार थे। नीची समझी जाने वाली जातियों के लोगों को अपनी शिष्यमण्डली में सम्मिलित करना वैष्णव आचार्यों के लिये एक नई बात थी। इस्लाम के प्रवेश के कारण हिन्दू धर्म को जो एक जबर्दस्त धक्का लगा था, और उसमें जो एक नयी स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, वह उसी का परिणाम थी। अपने मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये, स्वामी रामानंद ने बौद्धों के भिक्षु संघ के समान साधुओं के एक नये दल का संगठन किया, जो वैरागी कहाते हैं। वैरागी साधुओं का सम्प्रदाय अब तक भी विद्यमान है, और अयोध्या व चित्रकूट उसके प्रधान केन्द्र हैं।

चैतन्य—स्वामी रामानंद के समय में ही बंगाल में एक प्रसिद्ध वैष्णव संत हुए, जिनका नाम चैतन्य था। उनका समय १४८५ से १५३३ तक था। वे नदिया के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे, और चौबीस वर्ष की आयु में सांसारिक जीवन का परित्याग कर उन्होंने अपना सब ध्यान हरि भक्ति में लगा दिया था। वे हरि या विष्णु के कृष्णावतार के उपासक थे, और कृष्ण भक्ति को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानते थे। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्य चरितामृत' ग्रंथ में उनकी जीवनी को विशद रूप से लिखा है। उनके अनुसार कृष्ण के प्रति प्रेम ही मानव-जीवन की परम साधना है। कृष्ण की भक्ति में वे ऊंच-नीच के भेद-भाव को कोई स्थान नहीं देते थे। उनका एक शिष्य हरिदास जाति से अछूत था। हरिदास ने एक बार चैतन्य से कहा, कि वे उसे स्पर्श न करें, क्योंकि वह अछूत है। इस पर चैतन्य आवेश में आ गये। प्रेम के आवेश में उन्होंने हरिदास को छाती से लगा लिया, और उससे कहा—तुम्हारा यह शरीर मेरा अपना है, इसमें एक ऐसी आत्मा का निवास है, जो प्रेम और समर्पण की भावना से परिपूर्ण है, तुम्हारा यह शरीर एक मंदिर के समान पवित्र है। चैतन्य अपने शिष्यों को उपदेश करते थे, कि वे प्रेम की वेदी पर अपने सर्वस्व को अर्पण कर दें। इसी लिये ब्राह्मण और शूद्र, हिन्दू और मुसलमान—सब उनके संदेश को भक्ति के साथ सुनते थे और उनके अनुकरण में अपनी जाति व धर्म के भेद को भूल जाते थे।

कबीर—रामानंद के शिष्यों में कबीर सर्वप्रधान थे। उनकी जाति, जन्म, कुल आदि के सम्बंध में कोई निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। हिन्दू लोग उन्हें हिन्दू मानते हैं, और मुसलमान उन्हें मुस्लिम समझते हैं। इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों ने हिंदुओं और मुसलमानों को किस अंश तक एक-दूसरे के समीप ला दिया था, कबीर इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। इस सम्बंध में सब एक मत हैं, कि उनका जन्म जुलाहा कुल में हुआ था, और काशी में उन्होंने अपने जीवन का अच्छा बड़ा भाग व्य-

तीत किया था। कबीर का मुख्य कार्य यह था, कि उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच की गहरी खाई को पाटने तथा इन दोनों धर्मों में समन्वय और सहयोग की भावना को विकसित करने का प्रयत्न किया। हिंदू और मुसलिम धर्मों के बाह्य भेदों, रूढ़ियों और आडम्बरों की उपेक्षा करके उन्होंने धर्मों की आंतरिक एकता को प्रतिपादित किया।

कबीर रामानंद के शिष्य थे, जो राम की भक्ति पर बल देते थे। पर इस युग की बहुसंख्यक भारतीय जनता नाथपंथियों के प्रभाव के कारण भक्ति मार्ग से विमुख थी, और ऐसी अंतःसाधना को महत्त्व देती थी, जिसमें प्रेमतत्त्व का अभाव था। ये नाथपंथी लोग भगवान् को निर्गुण रूप में देखते थे और निर्गुण व निराकार ब्रह्म के लिये भक्ति का विषय बन सकना सम्भव नहीं था। रामानंद के शिष्य होते हुए भी संत कबीर पर नाथपंथी सम्प्रदाय का प्रभाव था। इसी लिये उन्होंने राम या कृष्ण के रूप में भगवान् की उपासना न करके निर्गुण व निराकार रूप में ही उसकी पूजा की। पर यह करते हुए उन्होंने प्रेम मार्ग को अपनाया, और वैष्णव भक्तों के समान निर्गुण भगवान् से प्रेम करने और उसकी भक्ति का उपदेश दिया। इस प्रकार कबीर द्वारा प्रतिपादित मत नाथपंथी योगियों और रामानन्द के भक्ति-मार्ग का सुन्दर समन्वय था। अपने गुरु रामानंद के समान कबीर भी राम के उपासक थे, पर उनके राम धनुर्धारी सीतापति राम न होकर ब्रह्म के पर्याय मात्र थे। जिस प्रकार कबीर ने नाथ-पंथी सम्प्रदाय के निर्गुण ब्रह्म की प्रेम द्वारा उपासना करने का उपदेश दिया, वैसे ही इस युग के अन्य संतों का अनुसरण कर उन्होंने ऊँच-नीच और हिन्दू-मुस्लिम के भेद-भाव को भी दूर करने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि में अल्लाह और राम में, करीम और केशव में या हरि और हजरत में कोई भेद नहीं था। अपने इस विचार को उन्होंने कितने सुंदर शब्दों में प्रगट किया है :—

भाई रे दुई जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौन बौराया।
अल्ला राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना, यामे भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुई कर थाये, एक नमाज एक पूजा॥
वही महादेव, वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिए।
को हिन्दू को तुरक कहावै, एक जिमी पर रहिये॥
वेद कितेब पढ़ें वै कुतवा, वे मुल्ला वे पाण्डे।
वेभर वेभर नाम धराये, एक मिट्टी के भाण्डे॥

इस्लाम और हिन्दू धर्मों की मौलिक एकता का इससे अधिक सुंदर प्रतिपादन सम्भव नहीं है। हिन्दुओं और मुसलमानों में एकता की स्थापना करते हुए कबीर दोनों धर्मों के बाह्य आडम्बर और पूजा पाठ की विधि पर समान रूप से आक्षेप करते थे। वे हिन्दुओं से कहते थे :—

पाहन पूजै हरि मिलै, तो मैं पूजूं पहार।
तातें या चाकी भली, पीस खाये संसार॥

इसी प्रकार मुसलमानों से उनका कहना था—

कांकर पत्थर जोरि कैं, मसजिद लई चुनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, बहरा हुआ खुदाय ॥

दो सदी से भी अधिक समय से हिन्दू और मुसलमान इस देश में एक साथ निवास कर रहे थे। धीरे-धीरे वे एक-दूसरे के बहुत निकट आ गये थे। इसी लिये कबीरदास जैसे संत दोनों धर्मों को खरी-खरी बातें सुना सकते थे, और उन्हें एक ऐसे धर्म का मार्ग दिखा सकते थे, जो दोनों को समान रूप से स्वीकार्य हो। इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय प्रेम के जिस मार्ग का उपदेश करता था, वह कबीर की निर्गुण भक्ति के मार्ग से बहुत भिन्न नहीं था। मुसलमानों का अल्लाह वैष्णवों के विष्णु के समान राम व कृष्ण के रूप में मानव-शरीर को धारण नहीं करता। उसका स्वरूप नाथ-पंथियों के निर्गुण ब्रह्म से बहुत भिन्न नहीं है। यदि सूफी लोग इस निर्गुण अल्लाह के प्रति प्रेम कर सकते थे, तो हिंदू लोग अपने निर्गुण निराकार भगवान् के प्रति प्रेम या भक्ति क्यों नहीं कर सकते ! कबीर के उपदेशों से हिंदू और मुसलमान एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे, और इसी लिये उनकी शिष्य मण्डली में अब तक भी हिंदू और मुसलमान दोनों विद्यमान हैं, और उनकी मृत्यु होने पर दोनों ने उनके शव पर दावा किया था।

गुरु नानक—जिस समय वर्तमान समय के उत्तर प्रदेश में स्वामी रामानंद हिंदू धर्म में नवीन जीवन का संचार करने में व्यापृत थे, प्रायः उसी समय पजाब में एक महान् संत सुधारक अपना कार्य कर रहे थे, जिनका नाम गुरु नानक था। नानक का जन्म लाहौर से ३० मील दूर तलवंडी नामक ग्राम में १४६९ ईस्वी में हुआ था। उनके जीवन के सम्बंध में बहुत-सी बातें ज्ञात हैं, पर उनका यहाँ उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं। गृहस्थ जीवन को व्यतीत करते हुए उनका ध्यान भगवान् की ओर आकृष्ट हुआ, और वे सांसारिक सुख को लात मारकर भगवान् का साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त हुए। इस उद्देश्य से उन्होंने प्रायः सम्पूर्ण भारत की यात्रा की, और भारत से बाहर मक्का भी गये। उनकी दृष्टि में हिन्दू और मुसलमानों में कोई भेद न था। यात्रा करते हुए जब वे हरिद्वार आये, तो उनके सिर पर मुसलमान कलंदरों की पगड़ी थी, और मस्तक पर हिन्दुओं की भाँति टीका लगा हुआ था। उनकी वेश-भूषा को देखकर यह कोई नहीं समझ सकता था, कि वे हिंदू हैं या मुसलमान हैं। उनके दो शिष्य सदा उनके साथ रहा करते थे, जिनमें एक मुसलमान था। वे न हिंदुओं और मुसलमानों में कोई भेद करते थे, और न ऊंची तथा नीची जातियों में। हिन्दुओं और मुसलमानों में अभेद की स्थापना करते हुए उन्होंने कहा था :—

वन्दे इक्क खुदाय के हिंदू मुसलमान।
दावा राम रसूल कर, लड़दे वेईमान ॥

गुरु नानक ने जो नया पंथ शुरू किया था, वह हिन्दू धर्म और इस्लाम का समन्वयात्मक पंथ था। उस युग की प्रवृत्ति का यह मूर्तिमान् रूप था। आगे चलकर यही सिक्ख-धर्म के रूप में परिवर्तित हो गया, और दस गुरुओं के नेतृत्व में इसने बहुत अधिक उन्नति की। पंजाब के क्षेत्र में इस धर्म का बहुत अधिक प्रभाव है।

रैदास—स्वामी रामानंद के शिष्यों में रैदास भी एक थे, जो जाति से चमार थे। इन्हीं से उस सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे "रैदासी" कहते हैं। चमार जाति

के लोग प्राय: इसी मत के अनुयायी हैं। यद्यपि ये अछूत जाति में उत्पन्न हुए थे, पर इनकी भक्ति से आकृष्ट होकर बहुत-से ब्राह्मण और द्विज भी इनको दण्डवत् किया करते थे। भारत की संत परम्परा में इनका नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। यह हिन्दू धर्म का दुर्भाग्य था, कि वैष्णव धर्म में जात-पांत की उपेक्षा करने की जो प्रवृत्ति इस युग में शुरू हुई थी, वह पूर्णतया सफल नहीं हो सकी, और रैदास के अनुयायी और सजातीय लोग एक पृथक् पंथ के रूप में परिवर्तित हो गये। पर रैदास जैसे अछूत कुलों में उत्पन्न संतों का ब्राह्मणों तक से पूजा जाना इस युग की धार्मिक जागृति का परिचायक अवश्य है।

इस युग में अन्य भी बहुत-से ऐसे संत-महात्मा हुए, जिन्होंने जात-पांत के भेद-भाव की उपेक्षा कर मनुष्यों की एकता और भक्ति-मार्ग का उपदेश दिया। महाराष्ट्र के संत नामदेव के शिष्य चोखमेला जाति के महार थे। महार लोग अछूत माने जाते हैं। जब संत चोखमेला पढरपुर के प्रसिद्ध मंदिर का दर्शन करने के लिये गये, तो उसके ब्राह्मण पुरोहितों ने उन्हें मंदिर में प्रविष्ट होने से रोका। इस पर उन्होंने कहा—ईश्वर अपने बच्चों से भक्ति और प्रेम चाहता है, वह उनकी जाति को नहीं देखता। रैदास, चोखमेला, नानक, कबीर आदि संत जो नई प्रवृत्ति हिन्दू-धर्म में उत्पन्न कर रहे थे, उसने इस धर्म में नवजीवन का संचार करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। आगे चलकर तुलसी, मीराबाई आदि ने सन्तों की इस परम्परा को और आगे बढ़ाया। इन पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) इस्लाम पर हिन्दू धर्म का प्रभाव

यह असम्भव था, कि भारत में प्रवेश करने के बाद इस्लाम पर इस देश की धार्मिक परम्पराओं का कोई असर न पड़ता। तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं ने भारत में बसकर इस देश की स्त्रियों से विवाह किये थे। यद्यपि उन्होंने अपनी पत्नियों को मुस्लिम धर्म में दीक्षित कर लिया था, पर वे अपने परम्परागत संस्कारों और मज्जातन्तुगत धारणाओं को छोड़ नहीं सकती थीं। मुसलिम शासकों के प्रभाव से जिन बहुत-से हिन्दुओं ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, वे भी अपनी रूढ़ियों व धार्मिक विश्वासों को तिलांजलि नहीं दे सके थे। इसी कारण भारत के मुसलमान अरब आदि अन्य देशों के मुसलमानों से बहुत भिन्न थे, और उन पर भारतीय धर्मों का प्रभाव बहुत प्रत्यक्ष था।

भारत में आकर इस्लाम ने जिन नये तत्त्वों को ग्रहण किया, उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करना आवश्यक है। मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी होते हुए भी भारत के मुसलमानों ने शीतला आदि देवियों की पूजा करने में संकोच नहीं किया। शीतला (चेचक) एक ऐसा रोग है, जिससे बचने के लिए भारत में शीतला माता की पूजा की प्रथा देर से प्रचलित थी। भारत की स्त्रियों में इस देवी के प्रति विश्वास का संस्कार बद्धमूल था। जब उन्होंने तुर्क व अफगान लोगों से विवाह कर इस्लाम को ग्रहण कर लिया, तब भी वे अपने इस विश्वास का निराकरण नहीं कर सकीं। मुस्लिम होकर भी उन्होंने शीतला की पूजा को जारी रखा, और उनके विदेशी पति अपनी पत्नियों के रुख को बदल सकने में असमर्थ रहे। बंगाल के मुसलमान काली, धर्मराज, वैद्यनाथ

आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा करते थे। भारत के लोगों में प्रकृति की विविध शक्तियों को देवी-देवता के रूप में देखने की परम्परा थी। वे नदी पर्वत आदि के अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना कर उनकी पूजा किया करते थे। इस्लाम पर भी भारत की इस परम्परा का प्रभाव पड़ा, और मुसलमानों ने ख्वाजा खिज्र के रूप में नदियों के अधिष्ठातृ देवता की और जिन्दा गाजी के रूप में सिंहवाहिनी देवी के प्रेमी देवता की कल्पना कर डाली। भारत के मुसलमान पीरों के मजारों की पूजा करने के लिए भी प्रवृत्त हुए। अपने पीरों व सन्तों के मजार बनाकर उन्होंने वहाँ उर्स करने शुरू किये, जिनमें हिन्दुओं के देव मन्दिरों के समान नृत्य और गान होता था, और पुष्प आदि द्वारा मजार की पूजा की जाती थी। यह परम्परा अब तक भी भारत के मुसलमानों में विद्यमान है, और इसके कारण भारत का इस्लाम अरब के असली इस्लाम से अनेक अंशों में भिन्न हो गया है।

इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय पर भी भारत के वेदान्त और भक्ति मार्ग का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। सूफी सम्प्रदाय बहुत पुराना है, और इसके पीरों और फकीरों ने इस्लाम के प्रचार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। भारत में सूफी सम्प्रदाय का प्रवेश ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में हुआ था, जबकि अबुल हसन हुज हुज्विरी नामक सूफी पीर ने गजनी से भारत आकर अपना कार्य शुरू किया। भारत के सूफी पीरों में सबसे प्रसिद्ध मुइनुद्दीन चिश्ती (तेरहवीं सदी) थे, जिनकी दरगाह अजमेर में विद्यमान है, और जो मुसलमानों का बहुत बड़ा तीर्थ है। इस दरगाह पर प्रतिवर्ष मेला लगता है, जिसमें मुसलमानों के अतिरिक्त बहुत-से हिन्दू भी शामिल होते हैं। यहाँ हमें अन्य प्रसिद्ध सूफी पीरों का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। पर उल्लेखनीय बात यह है, कि इन लोगों ने हिन्दू-परम्परा की अनेक बातों को अपनाया। भारत में आने से पूर्व ही सूफी लोग प्रेम-साधना में विश्वास करते थे। पर भारत आकर वे नाथयोगी सम्प्रदाय के सम्पर्क में आये, और उससे प्रभावित होकर उन्होंने अनेक यौगिक क्रियाओं को अपनी साधना में समाविष्ट किया। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से प्रभावित होकर उन्होंने जीव के ईश्वर के प्रति भक्ति करने का मार्ग अपनाया, और इस प्रकार सूफी सम्प्रदाय ने एक ऐसा रूप धारण कर लिया, जो भारत के 'निर्गुण मार्ग' के अनुयायियों के लिये कोई अपरिचित बात नहीं थी। कबीर सदृश सन्त जिस ढंग की भक्ति और उपासना का प्रतिपादन करते थे, उसको 'निर्गुण मार्ग' कहते हैं। मुस्लिम सूफियों के प्रेम-मार्ग में और कबीर के निर्गुण पन्थ में बहुत समता थी। सूफी पीरों ने अपने मन्तव्यों को सर्वसाधारण जनता को समझाने के लिये जिन प्रेम-कथाओं का आश्रय लिया, वे भारत की अपनी कथाएँ थीं, और इस देश में चिरकाल से प्रचलित थीं। मनुष्यों के साथ पशु, पक्षी और वनस्पति को भी सहानुभूति सूत्र में बद्ध दिखाकर एक सर्वव्यापी जीवन-शक्ति का आभास देना भारत की प्राचीन प्रेम कथाओं की अनुपम विशेषता है। मनुष्य के दुःख से पशु-पक्षी भी प्रभावित होते हैं, और पुष्प पत्र भी उनका साथ देते हैं—इस कल्पना को इस देश के कथा-लेखकों ने अपनी आँखों से ओझल नहीं किया था। सूफी लोग जब इस देश में अपने सम्प्रदाय का प्रचार करने में प्रवृत्त हुए, तो उन्होंने भारत की सभी प्रकार की कथाओं का प्रयोग किया और उनके आधार पर ईश्वर-प्रेम का सन्देश दिया।

यही कारण है, कि भारत के सर्वसाधारण लोगों को मुस्लिम पीर व फकीर बहुत बेगाने प्रतीत नहीं होते थे, और वे उन्हें श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखते थे। हिन्दू लोगों में जो मुस्लिम पीरों के मजारों की पूजा प्रारम्भ हुई, उसका यही मूल कारण था।

हिन्दू-धर्म और इस्लाम के मेल और एक-दूसरे के समीप आने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रारम्भ हुआ, जिनके अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। इन सम्प्रदायों में 'सत्यपीर' के उपासक सर्वप्रथम थे। बंगाल का सुल्तान हुसैनशाह (१४९३–१५१८) इस सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था। आगे चलकर मुगलकाल में सतनामी और नारायणी नामक दो अन्य ऐसे सम्प्रदाय प्रारम्भ हुए, हिन्दू और मुसलमान जिनके समान रूप से अनुयायी थे। पर पन्द्रहवीं सदी के अन्त में 'सत्य पीर' के रूप में हिन्दू और मुसलमानों के एक उभयनिष्ठ देवता का प्रादुर्भाव इस युग की हिन्दू मुस्लिम समन्वय की प्रवृत्ति का उत्तम उदाहरण है।

हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐक्य की यह प्रवृत्ति निरन्तर जोर पकड़ती गयी। तेरहवीं सदी में अफगान युग के प्रारम्भिक काल में हिन्दुओं और मुसलमानों के दो सर्वथा पृथक् वर्ग थे। पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक इस स्थिति में बहुत परिवर्त्तन आ गया था। मुगलकाल में इन दोनों सम्प्रदायों में समन्वय की भावना को और अधिक बल मिला। अकबर जैसे बादशाह के प्रयत्न से हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के और अधिक समीप आ गये। पर औरंगजेब की कट्टर मुसलिम नीति ने इस प्रवृत्ति को आघात पहुँचाया। इसी कारण अनेक हिन्दू शक्तियाँ दिल्ली की मुगल बादशाहत के विरुद्ध उठ खड़ी हुईं, और उन्होंने मुस्लिम शासन को निर्बल कर विविध हिन्दू-राज्यों की स्थापना की।

(६) हिन्दू धर्म पर इस्लाम का प्रभाव

जब दो संस्कृतियों का सम्पर्क होता है, तो वे एक दूसरे को अवश्य प्रभावित करती हैं। जिस प्रकार भारत की हिन्दू संस्कृति ने अनेक प्रकार से इस्लाम को प्रभावित किया, जैसे ही इस्लाम का प्रभाव भी भारत के पुराने धर्मों पर पड़ा। इस्लाम द्वारा हिन्दू धर्म को प्रभावित करने के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में अनेक मत हैं। कुछ विद्वानों का विचार है कि शंकराचार्य ने जिस अद्वैतवाद और एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया, वह इस्लाम के सम्पर्क का ही परिणाम था। शंकराचार्य सुदूर दक्षिण के जिस केरल प्रान्त में उत्पन्न हुए थे, उनके जन्म से पूर्व ही इस प्रदेश में इस्लाम का प्रवेश हो चुका था, और मलाबार के समुद्र तट के निवासियों ने हजारों की संख्या में मुस्लिम धर्म को स्वीकार कर लिया था। इस दशा में यह अस्वाभाविक नहीं था, कि शंकराचार्य इस्लाम के एकेश्वरवाद से परिचित हों, और उनके सिद्धान्तों पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा हो। पर ऐतिहासिक दृष्टि से इस मत को स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं है। विविध देवी-देवता एक ही ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं, और वस्तुत: ईश्वर एक ही है, यह विचार भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आता था। वेदों में भी इस प्रकार के मंत्र विद्यमान हैं, जो इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम आदि देवताओं को एक ईश्वर के ही विभिन्न नाम बताते हैं। उपनिषदों में तो यह विचार बहुत ही स्पष्ट रूप

से पाया जाता है। इसलिए शंकराचार्य को एकेश्वरवाद के लिए इस्लाम के मन्तव्यों से प्रभावित होने की कोई आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने उपनिषदों, गीता और ब्रह्म-सूत्रों से ही इस विचार को प्राप्त किया था। अद्वैतवाद, ब्रह्म और जीव की अभिन्नता, और संसार का मिथ्यात्व शंकर के दार्शनिक विचारों में प्रमुख स्थान रखते हैं। ईश्वर और जीव में अभेद इस्लाम को स्वीकार नहीं है। शंकर के दार्शनिक विचारों पर बौद्ध दर्शन के शून्यवाद और विज्ञानवाद का प्रभाव अवश्य पड़ा है, इसी कारण उन्हें अनेक विचारकों ने 'प्रच्छन्न बौद्ध' माना है। पर शंकर के विचार इस्लाम द्वारा प्रभावित हुए थे, यह स्वीकार कर सकना कदापि सम्भव नहीं है।

दक्षिणी भारत में नायन्मार और आलवार भक्तों ने जिस भक्ति मार्ग का प्रतिपादन किया, उसे भी अनेक विद्वान् इस्लाम के सम्पर्क का परिणाम मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि इस्लाम का सूफी सम्प्रदाय ईश्वर-प्रेम को बहुत महत्त्व देता था, और अनेक प्रेमकथाओं द्वारा ईश्वर और मनुष्य के प्रेम का निरूपण करता था। पर सूफियों के प्रेम मार्ग और भारतीय सन्तों के भक्तिमार्ग में बहुत भेद है। जैसा कि हमने इसी अध्याय में ऊपर लिखा है, सूफी सम्प्रदाय के अनेक मन्तव्यों पर भारत का ही प्रभाव था। भारत के सन्तों ने भक्ति मार्ग सूफियों से नहीं सीखा, अपितु सूफियों ने ही भारत के भक्ति और योग साधना के विचारों को ग्रहण किया। ईश्वर की भक्ति का विचार भी भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आया है। दक्षिण के सन्तों ने इस पर विशेष रूप से जोर अवश्य दिया, पर इसका प्रारम्भ ही उन्होंने किया, यह स्वीकार कर सकना कठिन है।

पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि इस्लाम के सम्पर्क के कारण हिन्दू-धर्म में कतिपय नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ :—

(१) दक्षिणी भारत के लिंगायत सम्प्रदाय का उल्लेख इस इतिहास में पहले किया जा चुका है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी जाति भेद में विश्वास नहीं रखते, तलाक और विधवा विवाह की अनुमति देते हैं, मुर्दों को जलाने के बजाय दफनाते हैं, सबके साथ खा पी सकते हैं, और श्राद्ध व पुनर्जन्म में भी विश्वास नहीं रखते। लिंगायत सम्प्रदाय में ये सब बातें ऐसी हैं, जिन्हें इस्लाम का प्रभाव कहा जा सकता है। यद्यपि ये बातें भी भारत के लिए पूर्णतया नवीन नहीं थीं, क्योंकि बौद्ध और जैन लोग जाति-भेद के विरोधी थे, और तलाक तथा विधवा विवाह का विधान भी प्राचीन शास्त्रों में पाया जाता है, और भारत के अनेक संन्यासी सम्प्रदायों में शवों को गाड़ने की भी प्रथा थी, पर लिंगायत सम्प्रदाय ने जिस ढंग से इन सब बातों को अपने मन्तव्यों में समाविष्ठ किया, उसे यदि इस्लाम के सम्पर्क का परिणाम माना जाए, तो अनुचित नहीं होगा।

(२) जाति भेद की न केवल लिंगायत सम्प्रदाय ने उपेक्षा की, अपितु इस युग में प्रादुर्भूत हुए सभी धार्मिक आन्दोलनों ने जात-पांत को अनुचित माना। रामानन्द जैसे महात्मा के शिष्यों में सभी जातियों के व्यक्ति सम्मिलित थे, चैतन्य अछूत समझे जाने वाले लोगों को भी गले लगाते थे, नानक की दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान में कोई भेद नहीं था। भारत के धर्माचार्यों में यह अवश्य एक नई प्रवृत्ति थी। यद्यपि बौद्ध लोग बहुत पुराने समय से जाति भेद के विरुद्ध आवाज उठाते रहे थे, पर मध्य काल में

हिन्दू धर्म का जो रूप था, उसमें जाति भेद को बहुत महत्त्व दिया जाता था। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित स्मार्त धर्म वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिपादन करता था, और सब लोगों को अपने-अपने वर्ण-धर्म पर दृढ़ रहने का उपदेश देता था। परन्तु अफगान युग के भारतीय संतों की प्रवृत्ति इससे बहुत भिन्न थी। मुसलमानों द्वारा भारत में जिस नई संस्कृति का प्रवेश हुआ था, उसमें जातिभेद या वर्णभेद को कोई स्थान था ही नहीं। इस्लाम की दृष्टि में सब मनुष्य एक समान थे। इस दशा में यदि भारत के सन्तों ने मनुष्यमात्र की समानता और जातिभेद की उपेक्षा के विचार को इस्लाम से ग्रहण किया हो, तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। सम्भवतः, इस बात को यूं कहना अधिक उपयुक्त होगा, कि जाति भेद के विरुद्ध जिन विचारों की भारत में पहले से ही सत्ता थी, इस्लाम के सम्पर्क से उन्हें बहुत बल मिला, और इस देश के धार्मिक नेता मनुष्यों की समानता पर अधिक जोर देने लग गये।

(३) तुर्क-अफगान युग के सन्त जिस प्रकार जाति भेद को महत्त्व नहीं देते थे, वैसे ही वे पूजा पाठ और कर्मकाण्ड के बाह्य आडम्बरों को भी निरर्थक मानते थे। मध्य युग में हिन्दू धर्म का जो स्वरूप विद्यमान था, उसमें धार्मिक कर्मकाण्ड व पूजा-पाठ का बहुत महत्त्व था। इसके विपरीत इस्लाम की पूजा विधि बहुत सरल थी। तुर्क-अफगान युग के सन्तों ने भी कर्मकाण्ड और पुरोहितों के प्रभुत्व का विरोध कर हरि के भजन का उपदेश दिया, जिसे कुछ अंश तक इस्लाम के सरल रूप का प्रभाव माना जा सकता है।

(४) इस्लाम के सम्पर्क से जहां हिन्दू धर्म में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का प्रारम्भ हुआ, वहां साथ ही कतिपय ऐसी प्रवृत्तियां भी उत्पन्न हुईं, जिनके कारण हिन्दू धर्म की रूढ़ियों को और अधिक दृढ़ करने का प्रयत्न किया गया। इन प्रवृत्तियों के प्रतिपादक यह समझते थे कि यदि प्रत्येक वर्ण के आचरण-सम्बन्धी नियमों को कठोर बना दिया जाए, तो हिन्दू धर्म का रूप एक ऐसे दुर्ग के समान हो जायगा, जिसे भेद सकना इस्लाम के लिए सम्भव नहीं रहेगा। जब प्रत्येक मनुष्य अपने वर्ण धर्म का भली-भांति पालन करेगा, तो उसके लिए इस्लाम के सम्पर्क में आ सकना और धर्म-परिवर्तन कर सकना सम्भव नहीं रह जायगा। सम्भवतः, इसी प्रयोजन से स्मृतियों पर इस युग के कुल्लूकभट्ट, नीलकण्ठ, कमलाकरभट्ट और हेमाद्रि ने नई टीकाएं लिखीं, जिनमें स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित नियमों की अधिक कठोर रूप में व्याख्या की गयी। इस स्थिति का यह परिणाम हुआ, कि एक ओर जहां सर्वसाधारण लोग सन्त सुधारकों के सम्पर्क में आकर ऊंच-नीच के भेद-भाव को भुलाने और हरिभजन में प्रवृत्त होने लगे, वहां दूसरी ओर हिन्दू समाज के उच्च वर्णों के लोग कर्मकाण्ड, पूजा-पाठ व अनुष्ठानों के नियमों का अधिक कठोरता से पालन कर अपने धर्म में दृढ़ रहने का यत्न करने लगे।

सामाजिक जीवन पर प्रभाव—इस्लाम के कारण भारत के सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। यह प्रभाव निम्नलिखित रूपों प्रगट हुआ—

(१) प्राचीन काल में भारतीय स्त्रियों में परदे की प्रथा का अभाव था। पर इस्लाम के सम्पर्क से हिन्दुओं में भी परदे की प्रथा का प्रचलन हुआ। परदा मुसलमानों द्वारा ही भारत में आया। इस से पूर्व कुलीन राजकुलों की महिलाएं ही 'असूर्यम्पश्या'

हुआ करती थीं। पर अब सर्वसाधारण लोग भी स्त्रियों को परदे में रखने के लिए प्रवृत्त हुए। दक्षिणी भारत में इस्लाम का अधिक प्रचार नहीं हुआ। इस कारण वहाँ अब तक भी परदे का प्रचार नहीं है।

(२) बाल-विवाह की प्रथा का प्रारम्भ भी इसी युग में हुआ। तुर्क-अफगान आक्रांता भारतीय कन्याओं को बलात् अपहरण करने में संकोच नहीं करते थे। इस दशा में बहुत से माता-पिता यह उपयोगी समझने लगे, कि अपनी कन्याओं का बचपन में ही विवाह करके कन्यादान के पुण्य को प्राप्त कर लें, और कन्या की जिम्मेदारी से भी बच जाएँ। मुस्लिम सम्पर्क के कारण ही भारत में बाल विवाह की प्रथा प्रारम्भ हुई।

(३) प्राचीन काल में भारत में दास प्रथा की सत्ता अवश्य थी, पर इस देश में दास प्रथा का वह रूप नहीं था, जो पाश्चात्य देशों में था, और न ही यहाँ बहुत बड़ी संख्या में दास रखने का रिवाज था। तुर्क-अफगान आक्रान्ताओं में दास प्रथा बहुत प्रचलित थी। इसी कारण इस युग में दास प्रथा का जोर बहुत बढ़ गया, और सुलतान व उनके सामन्त बहुत बड़ी संख्या में दास रखने लगे। जहाँ भारत के निवासियों को बड़ी संख्या में गुलाम बनाया गया, वहाँ साथ ही तुर्किस्तान, ईरान आदि से भी दासों को लाकर भारत में उनका क्रय-विक्रय होने लगा।

छब्बीसवां अध्याय

तुर्क-अफगान युग के हिन्दू-राज्य

(१) विजयनगर साम्राज्य

भारतीय इतिहास के ग्रन्थों में प्राय: बारहवीं सदी के साथ हिन्दू-काल का अन्त कर दिया जाता है, और आगे का इतिहास जिस ढंग से लिखा जाता है, उससे पाठकों के मन पर यह प्रभाव पड़ता है, कि बारहवीं सदी के बाद भारत में अफगान व तुर्क जातियों के मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित हो गया था। इसी लिए अनेक ऐतिहासिक इस काल को 'मुस्लिम युग' के नाम से सूचित करते है। यह सत्य है, कि बारहवीं सदी के अन्त में उत्तरी भारत में मुसलिम शासन का सूत्रपात हो गया था, और कुतुबुद्दीन ऐवक, बलबन और अलाउद्दीन खिलजी जैसे प्रतापी व महत्त्वाकांक्षी सुलतानों ने दूर-दूर तक विजय यात्राएं कर अपनी शक्ति का विस्तार किया था। पर साथ ही यह भी असंदिग्ध है, कि अफगान युग में भारत के अनेक प्रदेश मुसलिम शासन से मुक्त थे, और इन पर विविध हिन्दू राजवंशों का आधिपत्य विद्यमान था। यदि क्षेत्रफल की दृष्टि से देखा जाय, तो यह स्वीकार करना होगा कि दिल्ली के तुर्क-अफगान सुलतान और जौनपुर, माण्डू, अहमदाबाद आदि के प्रान्तीय सुलतान सब मिलकर भी भारत के आधे से अधिक प्रदेश को अपने शासन में नहीं ला सके थे। भारतीय इतिहास का अनुशीलन करते हुए इस तथ्य को स्पष्ट रूप से अपने सम्मुख रखना चाहिए। इस युग के विविध हिन्दू राज्यों में भारतीय इतिहास की वही धारा निर्बाध रूप से प्रवाहित हो रही थी, जो हमें मध्य काल (सातवीं से बारहवीं सदी तक) में दृष्टिगोचर होती है। सभ्यता, संस्कृति व धर्म के क्षेत्र में इस युग के ये हिन्दू राज्य भारत की प्राचीन परम्परा को कायम रखे हुए थे। भारतीय संस्कृति के इतिहास में इन राज्यों का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी कारण इन पर पृथक् रूप से विचार करना उपयोगी होगा। ये राज्य निम्नलिखित थे—(१) विजयनगर, (२) उड़ीसा, (३) कामरूप या आसाम, और (४) मेवाड़ या राजपूताना। क्योंकि नेपाल भी सांस्कृतिक दृष्टि से भारत का ही अंग है, अत: उसे भी इस युग के हिन्दू राज्यों के अन्तर्गत किया जा सकता है।

विजयनगर—अफगान युग के हिन्दू राज्यों में विजय नगर सबसे प्रधान था। इसकी स्थापना किन परिस्थितियों में और किस प्रकार हुई, इस विषय पर यहाँ प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। १३३६ ईस्वी में स्थापित यह राज्य चार सदी से भी अधिक समय तक स्थिर रहा, और इसके कारण कृष्णा नदी के दक्षिण का भारत मुसलिम आधिपत्य से बचा रहा। यह राज्य कितना वैभवशाली था, इसका अनुमान कतिपय विदेशी यात्रियों के विवरणों द्वारा किया जा सकता है। इटालियन यात्री निकोलो कोन्ति १४२० ई० में विजयनगर आया था। उसने इस नगरी के सम्बन्ध में लिखा है—

"इस नगरी की परिधि ६० मील है। इसकी प्राचीर पर्वत शृंखला के साथ लगी हुई है, इस कारण इसका विस्तार और भी अधिक हो गया है। नगर में नव्वे हजार ऐसे पुरुष हैं, जो शस्त्र धारण करने योग्य हैं। इसका राजा भारत के अन्य सब राजाओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है।" अब्दुल रज्जाक नाम का एक पर्शियन यात्री १४४२ ईस्वी में विजय नगर आया था। उसने इसके सम्बंध में लिखा है—"यह देश इतना समृद्ध और आबाद है, कि संक्षेप में इसका वर्णन कर सकना असम्भव है। राजा के कोश में कितने ही ऐसे कमरे हैं, जो सुवर्ण से भरे हुए हैं। सोने को पिघलाकर एक बड़ा ढेर बना दिया गया है। राज्य के सब निवासी चाहे उच्च श्रेणी के हों या नीच वर्ग के, यहाँ तक कि बाजार के शिल्पी तक भी अपने कानों, भुजाओं, गले और उंगलियों में आभूषण धारण करते हैं।" डोमिन्गो पाएस नाम के पोर्तुगीज यात्री ने विजयनगर का वर्णन करते हुए लिखा है—"इस राज्य के राजा के पास बहुत अधिक कोश है। उसके सैनिक और हाथी भी संख्या में बहुत अधिक हैं......। विजयनगर में प्रत्येक देश और जाति के लोग प्रचुर संख्या में हैं, क्योंकि यह व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र है। विविध प्रकार के रत्नों और विशेषतया हीरों का वहाँ बहुत लेन-देन होता है।...... व्यापार की अधिकता के कारण इसके बाजार लदे हुए बैलों से सदा परिपूर्ण रहते हैं।" एदोर्दो बार्बोसा नामक यात्री ने सोलहवीं सदी के शुरू में विजयनगर के विषय में लिखा था—"यह नगर व्यापार का बड़ा महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। भारत में उपलब्ध हुए हीरे, पेगू के रूबी, चीन और एलेग्जेण्ड्रिया के रेशमी वस्त्र, और मलाबार के चन्दन, मिर्च, मसाले, काफूर और मुश्क यहाँ के व्यापार की प्रधान वस्तुएँ हैं।" विदेशी यात्रियों के इन उद्धरणों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है, कि विजयनगर बहुत ही समृद्ध तथा उन्नत राज्य था, और विदेशी आक्रमणों के भय से मुक्त होकर इसके राजा अपने देश की समृद्धि के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील थे।

शासन-व्यवस्था—विजय-नगर राज्य का शासन प्राचीन चोल-राज्य की परम्परा के अनुरूप था। राज्य में कूटस्थानीय व मूर्धन्य स्थान राजा का था, जो ब्राह्मणों व अन्य जातियों के मंत्रियों के परामर्श के अनुसार देश का शासन करता था। राज्य की मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। मंत्री किसी एक जाति के नहीं होते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों ही द्विजातियों के योग्य पुरुषों को राजा मंत्री पद पर नियुक्त करता था। पर राज्य की समृद्धि और शक्ति राजा की अपनी योग्यता पर ही निर्भर करती थी। इसी लिए राजा कृष्णदेव राय (मृत्युकाल १५३० ईस्वी) ने अपनी पुस्तक 'आमुक्तमाल्यदा' में राजा के सम्बन्ध में निम्नलिखित आदर्श का प्रतिपादन किया था—"मूर्धाभिषिक्त राजा को सदा धर्म को दृष्टि में रखकर शासन करना चाहिए। राजा को इस प्रकार के व्यक्तियों को अपना सहायक बनाना चाहिये, जो दण्डनीति में प्रवीण हों। उसे इस बात का पता लगाने में सदा सतर्क रहना चाहिए, कि राज्य में कहाँ ऐसी खानें हैं, जिनसे बहुमूल्य धातुएं उपलब्ध हो सकती हैं। उसे जनता से कर वसूल करते हुए मृदु नीति का अनुसरण करना चाहिए, उसमें अपने शत्रुओं को शक्ति द्वारा कुचल देने की क्षमता होनी चाहिये। उसे अपनी प्रजा की रक्षा व पालन करने में समर्थ होना चाहिये, और जनता को वर्णसंकरता से बचाना चाहिये।"

निःसन्देह, राजा कृष्णदेव राय के ये विचार भारत के प्राचीन राजशास्त्र के अनुकूल थे और विजय नगर के अनेक राजा इन्हीं के अनुसार शासन करने का प्रयत्न करते थे।

शासन की सुविधा के लिए विजयनगर-राज्य को छः प्रान्तों (राज्य, मण्डल या चावड़ी) में विभक्त किया गया था। इनके प्रांतीय शासकों को 'नायक' कहा जाता था। नायक-पद पर प्रायः राजकुल के पुरुषों को ही नियुक्त किया जाता था। प्रांतों (मण्डलों) के अनेक उपविभाग थे। तामिल क्षेत्र में इन उपविभागों को कोट्टम, नाड्ड, परूरू और ग्राम कहते थे। कर्णाटक क्षेत्र में इनके नाम वेण्ये, नाड्ड, सीम और ग्राम थे। प्राचीन काल की ग्राम-संस्थायें इस युग में भी विद्यमान थीं, और ग्राम-सभाओं द्वारा सर्वसाधारण जनता अपने साथ सम्बध रखने वाले मामलों की स्वयं व्यवस्था करती थी। ग्रामों और नगरों में शिल्पियों की 'श्रेणियां' और व्यापारियों के 'निगम' इस युग में भी संगठित थे, और स्थानीय स्वशासन की इन विविध संस्थाओं के साथ सम्पर्क रखने के लिए राजा की ओर से एक पृथक् कर्मचारी की नियुक्ति की जाती थी, जिसे 'महानायकाचार्य' कहते थे।

विजयनगर-राज्य में भूमिकर को 'षिस्ट' कहते थे, जो स्पष्टतः संस्कृत के षड्भाग का अपभ्रंश है। भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार उपज का छठा भाग भूमि-कर के रूप में वसूल किया जाता था। सम्भवतः, इसी प्रथा का अनुसरण विजयनगर में भी किया गया था। भूमिकर की वसूली के लिए भूमि को तीन वर्गों में बांटा गया था, सिंचाई वाली भूमि, सूखी भूमि और उद्यान व जंगल। इन तीन प्रकार की भूमियों के लिए भूमिकर की दरें अलग-अलग थीं, और किस खेत से कितना कर वसूल किया जाए, यह स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया जाता था।

विजयनगर के सैनिक विभाग को 'कंदाचार' कहते थे, और इसके अध्यक्ष को 'दण्डनायक' कहा जाता था। पदाति, अश्वारोही, गजारोही और उष्ट्रारोही—ये चार प्रकार के सैनिक दण्डनायक की अधीनता में होते थे। बहुसंख्यक सेना 'भृत' होती थी, जिसके सैनिक भृति या वेतन से आकृष्ट होकर ही सेना में भरती होते थे। यही कारण है, कि विजयनगर की सेना में बहुत से मुसलिम सैनिकों ने भी प्रवेश कर लिया था।

राजा के अधीन विविध प्रांतों के जो 'नायक' थे, उनको बहुत अधिकार प्राप्त थे। उनकी स्थिति अर्धस्वतंत्र राजाओं के समान थी। उनकी अपनी पृथक् सेनाएँ होती थीं, और अपने क्षेत्र से राज्य-कर को वसूल करना और न्याय-व्यवस्था का संचालन करना उन्हीं का कार्य होता था। यही कारण है, कि सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में विजयनगर राज्य में प्रांतीय स्वतंत्रता की प्रवृत्ति ने जोर पकड़ा, और अनेक प्रांतीय नायकों ने अपने पृथक् राजवंश स्थापित करने का उद्योग शुरू किया। विजयनगर राज्य के पतन में प्रांतीय नायकों की यह प्रवृत्ति एक महत्त्वपूर्ण कारण थी।

साहित्य और कला—भारत के सांस्कृतिक इतिहास में विजयनगर राज्य का बहुत महत्त्व है, क्योंकि साहित्य और कला के क्षेत्र में वहां प्राचीन हिन्दू-परम्परा अक्षुण्ण रूप से कायम रही। विजयनगर के राजाओं से संरक्षण पाकर संस्कृत, तेलगू, तामिल और कन्नड भाषाओं ने बहुत उन्नति की, और उनमें उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण हुआ। वेदों का प्रसिद्ध भाष्यकार सायण चौदहवीं सदी में हुआ था, और

विजयनगर राज्य की स्थापना में उसने बहुत सहायता की थी। संस्कृत वाङ्मय में सायणाचार्य का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। चारों वेदों का भाष्य कर उसने वैदिक संहिताओं को भली-भाँति समझ सकना बहुत सुगम बना दिया है। वर्त्तमान समय के विद्वान् वेदों का अध्ययन करते हुए सायण-भाष्य का ही आश्रय लेते हैं। सायण के भाई माधव का भी संस्कृत साहित्य में बहुत उच्च स्थान है। वे विजयनगर राज्य के संस्थापक बुक्क के मन्त्री थे, और उन्होंने 'पाराशर माधवीय' नामक ग्रन्थ की रचना की थी जिसे हिन्दू-विधान-शास्त्र विषयक पुस्तकों में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। विजयनगर की अनेक रानियाँ साहित्य के क्षेत्र मे बहुत ऊँचा स्थान रखती थीं। इनमें 'मधुराविजयम्' की लेखिका गंगादेवी और 'वरदम्बिकापरिणयम्' की लेखिका तिरुमलम्बादेवी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विजयनगर के प्रसिद्ध राजा कृष्णदेवराय का काल न केवल राजशक्ति के उत्कर्ष की दृष्टि से बहुत महत्त्व का है, अपितु साहित्य और ज्ञान के विकास के लिए भी वह सुवर्णीय युग के सदृश है। कृष्णदेव राय स्वयं भी एक उत्कृष्ट विद्वान्, कवि व सगीतज्ञ था, और उसकी राजसभा में बहुत-से विद्वान् और कवि आश्रय प्राप्त किए हुए थे। जिस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के 'नवरत्न' प्रसिद्ध हैं, वैसे ही कृष्णदेव राय की राजसभा के 'अष्टदिग्गज' प्रसिद्ध हैं। तेलगू साहित्य में इन अष्टदिग्गजों का बहुत ऊँचा स्थान है। इनमें सर्वप्रधान पेद्दन नाम का कवि था, जिसकी कृतियाँ तेलगू साहित्य में बहुत आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। कृष्णदेव राय की रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध 'आमुक्तमाल्यदा' है, जो उसने तेलगू भाषा में लिखी थी। इसमें सन्देह नहीं, कि विजयनगर के राजाओं की संरक्षा में दक्षिणी भारत ने साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में बहुत उन्नति की। इस युग में उत्तर भारत में मुसलिम शासन स्थापित हो चुका था, और सुलतानों की संरक्षा में पर्शियन साहित्य की उन्नति हो रही थी। पर दक्षिणी भारत में विजयनगर के राजा संस्कृत और दक्षिणी भाषाओं के संरक्षक थे, और उनके समय की शान्ति व समृद्धि से लाभ उठाकर भारत के अनेक विद्वान् और कवि नवीन साहित्य के सृजन में तत्पर थे।

साहित्य के समान कला के क्षेत्र में भी विजयनगर राज्य ने बहुत उन्नति की थी। विजयनगर इस समय नष्ट हो चुका है, पर उसके भग्नावशेष उसके प्राचीन गौरव का आभास देने के लिये अब तक भी विद्यमान हैं। कृष्णदेवराय के समय में निर्मित 'हजार मन्दिर' इनमें सर्वप्रधान है। प्रसिद्ध कलाविज्ञ लौगहर्स्ट के अनुसार इस समय जितने भी हिन्दू मन्दिर विद्यमान हैं, उनमें कला की दृष्टि से यह मन्दिर सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण व निर्दोष है। इसी प्रकार विजयनगर का विट्ठल स्वामी मन्दिर वास्तुकला का एक अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है।

धार्मिक सहिष्णुता—प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए विजयनगर के हिन्दू राजा सब धर्मों व सम्प्रदायों को समान दृष्टि से देखते थे। न केवल शैव, बौद्ध, वैष्णव और जैन आदि प्राचीन भारतीय धर्मों के प्रति, अपितु ईसाई, यहूदी व इस्लाम सदृश विदेशी धर्मों के प्रति भी ये राजा सहिष्णुता व उदारता की नीति का अनुसरण करते थे। एदोर्दो बार्बोसा ने लिखा है, कि विजयनगर के राजा ने सब लोगों को इतनी अधिक स्वतन्त्रता दी हुई है, कि किसी भी धर्म को मानने वाला कोई भी

आदमी उसके राज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकता है, वहाँ बस सकता है, और अपने धर्म का अनुसरण कर सकता है। वहाँ यह नहीं पूछा जाता, कि तुम हिन्दू हो या ईसाई, यहूदी हो या मुसलमान। विजयनगर के राजाओं की धार्मिक सहिष्णुता की नीति की यदि इसी युग के ईसाई व मुसलमान राजाओं की धार्मिक नीति से तुलना की जाय, तो उनका भेद स्वयं स्पष्ट हो जायगा। धार्मिक सहिष्णुता की नीति के कारण ही विजयनगर के राजाओं ने पोर्तुगीज लोगों को अपने राज्य के समुद्र तट पर बसने और व्यापार को विकसित करने की अनुमति दी, यद्यपि इन यूरोपियन लोगों ने उसका दुरुपयोग करने में संकोच नहीं किया।

सामाजिक दशा—विदेशी यात्रियों के वृत्तान्तों से सूचित होता है, कि विजयनगर राज्य में स्त्रियों की दशा बहुत उन्नत थी। राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक जीवन में उनका स्थान बहुत ऊँचा था। विजयनगर की जिन अनेक रानियों ने उत्कृष्ट साहित्य की रचना की, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इस राज्य की स्त्रियाँ मल्लविद्या, शस्त्र-संचालन आदि में भी कुशल होती थीं। नूनिज नामक विदेशी यात्री ने लिखा है, कि विजयनगर के राजा की सेवा में ऐसी भी स्त्रियाँ हैं, जो कुश्ती करती हैं, और जो फलित ज्योतिष व भविष्यज्ञान में भी प्रवीण हैं। राजा की सेवा में बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ नियुक्त हैं, जो सब हिसाब-किताब रखती हैं, और राज्य की घटनाओं को लेखबद्ध करती हैं। उसकी सेवा में ऐसी स्त्रियाँ भी हैं, जो संगीत व वाद्य में अत्यन्त कुशल हैं। उसकी अपनी रानियाँ भी संगीत में प्रवीण हैं। इतना ही नहीं, राजा के अन्तःपुर में न्याय-प्रतीहार आदि के पदों पर भी स्त्रियाँ नियुक्त हैं, जो अपने कार्य को अच्छी तरह योग्यता के साथ करती हैं। स्त्रियों की ऐसी उच्च स्थिति होने पर भी विजयनगर राज्य में सती की प्रथा विद्यमान थी, और विधवा होने पर बहुत-सी स्त्रियाँ पति के साथ चिता पर बैठकर अपने को भस्म कर देती थीं।

विजय-नगर राज्य में मांस भक्षण का बहुत प्रचार था। गाय या बैल को वहाँ अवध्य माना जाता था, और उसके मांस को खाने का निषेध था। नूनिज ने विजयनगर के राजाओं के भोजन के सम्बन्ध में लिखा है, कि वे सब प्रकार की चीजों का भक्षण करते हैं। केवल गाय और बैल वे नहीं खाते, क्योंकि इन्हें वे अवध्य समझते हैं, और इनकी पूजा करते हैं। भेड़, बकरा, सुअर, खरगोश, मुर्गा, बत्तख, कबूतर आदि तो उनके लिए खाद्य हैं ही, पर साथ ही वे चूहे, बिल्ली और छिपकली को खाने में भी एतराज नहीं करते। बाजार में पशु-पक्षी जीवित रूप में बिकते हैं, ताकि उन्हें खाने के लिए खरीदने वाले लोगों को अपनी खाद्य वस्तु के सम्बन्ध में किसी भी भ्रम की गुन्जाइश न रहे। यद्यपि विजयनगर के राजा कट्टर हिन्दू थे और वैष्णव धर्म के प्रति भी श्रद्धा रखते थे, पर मांस-भक्षण के विरोधी नहीं थे। यज्ञों में पशु हिंसा भी इस समय दक्षिणी भारत में प्रचलित थी। विजयनगर में 'नौ दिन' का एक उत्सव मनाया जाता था, जिसमें बहुत बड़ी संख्या में पशुओं की बलि दी जाती थी। इस उत्सव के अन्तिम दिन २५० भैंसों और ४५०० बकरों की बलि दी जाती थी। इन पशुओं की बलि चढ़ाते हुए यह ध्यान में रखा जाता था, कि एक ही आघात से उनका सिर धड़ से

अलग हो जाय।

आर्थिक दशा—विजयनगर-राज्य के शिल्पी और व्यापारी 'श्रेणियों' और 'निगमों' में संगठित थे, और अपने आर्थिक संगठनों के नियमों का पालन करते हुए ही आर्थिक उत्पत्ति किया करते थे। पर इस राज्य की आर्थिक दशा के संबंध में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात इसका विदेशी व्यापार है। अब्दुल रज्जाक नामक लेखक ने लिखा है, कि विजयनगर राज्य में ४०० बन्दरगाह थे, जिनमें सर्वप्रधान कालीकट था। अपने विविध बन्दरगाहों से विजयनगर के व्यापारी बरमा, अरब, ईरान, दक्षिणी अफ्रीका, अबीसीनिया और पोर्तगाल तक व्यापार के लिये आया-जाया करते थे, और इन देशों के व्यापारी भी अच्छी बड़ी संख्या मे दक्षिणी भारत आते थे। सामुद्रिक व्यापार के क्षेत्र में विजयनगर राज्य ने अच्छी उन्नति की थी। भारत से बाहर जाने वाले पण्य में वस्त्र, चावल, लोहा, शोरा, खांड और मसालों की प्रधानता थी, और जो पण्य विदेशों से इस राज्य में बिकने के यिये आता था, उसमें घोड़े, मोती, ताम्बा, पारा, चीनी रेशम और मूंगों की मुख्यता थी। विजयनगर राज्य की नौ-सेना शक्ति भी कम नहीं थी, और विविध प्रकार के जहाजों का निर्माण भी वहाँ होता था।

विजयनगर की मुद्रा पद्धति में सुवर्ण, रजत और ताम्र का उपयोग किया जाता था, और उसके सिक्कों पर विविध देवताओं की प्रतिमाएं अंकित रहती थी। वस्तुओं का मूल्य बहुत कम था, इस कारण लोगों को अपने निर्वाह के लिये विशेष कठिनाई नहीं होती थी। सामान्यतया, लोग समृद्ध और सुखी थे।

(२) अन्य हिन्दू राज्य

उड़ीसा—स्वतन्त्र उड़ीसा-राज्य का संस्थापक अनन्तवर्मा चोड़ गंग (१०७६–११४८) था। जिस समय भारत पर अफगान आक्रान्ताओं के आक्रमण शुरू हुए, उड़ीसा का राज्य अच्छा शक्तिशाली हो चुका था, और उसका विस्तार उत्तर में गंगा के मुहाने से शुरू कर दक्षिण में गोदावरी नदी के मुहाने तक था। कुतुबुद्दीन ऐबक के समय में अफगानों की सत्ता मगध और बंगाल में स्थापित हो गयी थी। अत: यह स्वाभाविक था, कि बंगाल के मुसलिम शासक उड़ीसा पर भी आक्रमण करें और उसे जीतकर अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील हों। पर उड़ीसा के स्वतन्त्र हिन्दू राजाओं ने उनका मुकाबला करने में अद्भुत वीरता प्रदर्शित की, और अनेक बार आक्रमण करके भी मुसलिम आक्रान्ता उड़ीसा को जीत सकने में असमर्थ रहे। मुसलमानों को परास्त करने वाले इन हिन्दू राजाओं में नरसिंह प्रथम (१२३८–१२६४) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १४:४ ईस्वी तक नरसिंह प्रथम के उत्तराधिकारी स्वतन्त्र रूप से उड़ीसा का शासन करते रहे। ये राजा गंगवंश के थे। चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इनकी शक्ति क्षीण होनी प्रारम्भ हो गयी थी।

१४३४ ई० में गंगवंश के अन्त के साथ उड़ीसा से हिन्दू शासन का अन्त नहीं हो गया। गगवंश का अन्त कर उड़ीसा में नये राजवश की स्थापना करने वाला कपिलेन्द्र (१४३४–१४७०) था, जिसने एक बार फिर अपने राज्य को उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। कपिलेन्द्र ने बंगाल और बहमनी राज्य के मुसलिम सुलतानों को

अनेक युद्धों में परास्त किया। एक बार तो उसकी सेनाएँ बहमनी सल्तनत की सेनाओं का पीछा करती हुईं बीदर तक भी आ पहुँची। बहमनी सुलतानों की शक्ति का क्षय करने में कपिलेन्द्र की सेनाओं ने बड़ा कर्तृत्व प्रदर्शित किया। कपिलेन्द्र ने विजयनगर राज्य के साथ भी अनेक युद्ध किये, और अपने राज्य की दक्षिणी सीमा को गोदावरी के दक्षिण में कावेरी नदी तक विस्तृत कर दिया। कपिलेन्द्र के उत्तराधिकारी भी अच्छे शक्तिशाली थे, और बहमनी सल्तनत तथा विजयनगर-राज्य से निरन्तर युद्ध करते हुए अपने राज्य की रक्षा करने में समर्थ रहे थे। उड़ीसा का यह स्वतन्त्र हिन्दू राज्य १५६८ तक कायम रहा।

उड़ीसा के हिन्दू राजा संस्कृत और तेलगू भाषा के प्रेमी थे, और उनके संरक्षण में इन भाषाओं के साहित्य ने बहुत उन्नति की। जगन्नाथपुरी के प्रसिद्ध मन्दिर का निर्माण अनन्तवर्मा चोड़गंग के शासनकाल में शुरू हुआ था, और राजा नृसिंह प्रथम ने उसे पूर्ण कराया था। कोणार्क का प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर भी इसी राजा की कृति थी। उड़ीसा के इन हिन्दू राजवंशों के उल्लेख का प्रयोजन यह प्रदर्शित करना है, कि अफगान युग में उड़ीसा सदृश एक ऐसा स्वतन्त्र हिन्दू राज्य पूर्वी भारत में विद्यमान था, जिसके राजा अत्यन्त शक्तिशाली थे, और जो प्राचीन हिन्दू परम्परा का अनुसरण करते हुए विशाल मन्दिरों का निर्माण कराने और संस्कृत-साहित्य को प्रोत्साहित करने में तत्पर थे।

मेवाड़—अलाउद्दीन खिलजी के समय (चौदहवीं सदी के प्रथम चरण) में अफगान आक्रान्ताओं ने राजपूताना को अपने अधीन करने का किस प्रकार प्रयत्न किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हुई। कुछ समय के लिये प्रधान राजपूत दुर्गों को अपने अधिकार में रख कर भी मुसलिम आक्रान्ता इस प्रदेश को अपने आधिपत्य में लाने में असमर्थ रहे। मेवाड़ के राणाओं के नेतृत्व में विविध राजपूत राजवंश संगठित हुए, और उन्होंने न केवल अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक शासन किया, अपितु गुजरात, मालवा और दिल्ली के सुलतानों के साथ संघर्ष कर अपने आधिपत्य का विस्तार भी किया। मेवाड़ के इन राणाओं में हम्मीर का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसके उत्तराधिकारियों में कुम्भा (१४३६ ई०) बड़ा प्रतापी हुआ। गुजरात और मालवा के मुसलिम सुलतान इस समय अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर थे। कुम्भा ने उनके साथ बहुत-से युद्ध किये, और एक बार तो मालवा की सल्तनत की राजधानी माण्डू पर भी उसने कब्जा कर लिया। मेवाड़ की रक्षा के लिए उसने बत्तीस दुर्गों का निर्माण कराया, जिनमें कुम्भलगढ़ का किला सबसे प्रसिद्ध है। मुस्लिम सुलतानों को परास्त करने के उपलक्ष्य में उसने एक विशाल जय स्तम्भ या कीर्तिस्तम्भ का निर्माण कराया, जो उस युग की राजपूत वास्तुकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह स्तम्भ चित्तौड़ गढ़ में अब तक विद्यमान है, और संसार के सर्वोत्तम कीर्ति-स्तम्भों में इसकी गणना की जा सकती है। राणा कुम्भा केवल अनुपम विजेता और योद्धा ही नहीं था, अपितु कवि और संगीत-प्रेमी भी था।

राणा कुम्भा के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में यहाँ कुछ भी परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। उसके वंश में राणा सांगा (संग्रामसिंह) ने मेवाड़ की शक्ति का और अधिक उत्कर्ष किया, और सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब मुगल

विजेता बाबर ने भारत पर आक्रमण किया, तो वही उत्तरी भारत की प्रधान राज-शक्ति था।

कामरूप व आसाम—अफगान युग के प्रारम्भ में आसाम और पूर्वी बंगाल में अनेक छोटे-छोटे हिन्दू राज्य थे, जो आपस में संघर्ष करते रहते थे। मगध और बंगाल को अपनी अधीनता में ले आने वाले अफगान आक्रान्ता पूर्व दिशा में और आगे बढ़कर इन हिन्दू-राज्यों को अपनी अधीनता में ला सकने में असमर्थ रहे, और इन हिन्दू राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। पन्द्रहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में इन राज्यों में अन्यतम कामत-राज्य अपने उत्कर्ष में समर्थ हुआ, और वर्तमान कूचबिहार के दक्षिण में स्थित कामतापुर को राजधानी बनाकर कामत राजाओं ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। १४९८ में इस राज्य का स्वामी नीलाम्बर था। बंगाल के सुलतान अलाउद्दीन हुसैनशाह ने उस पर आक्रमण किया, और नीलाम्बर उससे अपने राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहा। पर मुसलिम लोग आसाम पर देर तक शासन नहीं कर सके। विश्वसिंह नाम के एक वीर पुरुष ने शीघ्र ही उसे मुसलिम आधिपत्य से मुक्त किया, और १५१५ के लगभग कूचबिहार को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। विश्वसिंह द्वारा स्थापित यह हिन्दू राज्य १६३६ ईस्वी तक कायम रहा। इस समय भारत में शक्तिशाली मुगल साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, और मुगल बादशाह सुदूर पूर्व के इस प्रदेश को भी अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। पर सम्पूर्ण आसाम मुगलों की अधीनता में नहीं आ गया था। तेरहवीं सदी में अहोम नाम की एक मंगोल जाति ने उत्तर की तरफ़ से आसाम पर आक्रमण किया था, और उसके उत्तर-पूर्वी प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। जिस समय आसाम के पश्चिमी प्रदेश पर कामतापुर के राजाओं और विश्वसिंह के उत्तराधिकारियों का शासन था, उसके पूर्वी प्रदेश पर अहोम लोगों के स्वतन्त्र राज्य की सत्ता थी। भारत में आकर अहोम लोगों ने हिन्दू धर्म और भारतीय संस्कृति को अपना लिया था, इसी लिये और उनके राज्य को सब दृष्टियों से हिन्दू राज्य समझा जा सकता है। मुसलिम आक्रान्ताओं ने उत्तरपूर्वी आसाम के अहोम राज्य को भी अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। मुगल सम्राटों के शासन काल में भी इस राज्य की स्वतन्त्र सत्ता कायम रही। भारत के जो कतिपय प्रदेश मुगलों के शासन में आने से बच रहे, उनमें अहोम राज्य भी एक था।

सत्ताईसवां अध्याय

भारतीय इतिहास का मुगल-युग

(१) मुगल-साम्राज्य

मंगोल आक्रमण—बारहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में शहाबुद्दीन गोरी की अफगान सेनाओं ने भारत पर आक्रमण किया था। सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में मुगल आक्रान्ता बाबर ने भारत की विजय की। शहाबुद्दीन गोरी और बाबर के बीच में सवा तीन सौ वर्षों का अन्तर था। इस सुदीर्घ काल में भारत विदेशी आक्रमणों से प्रायः मुक्त रहा। चंगेज खां के नेतृत्व में जब चीन में मंगोल लोगों का उत्कर्ष हुआ, तो उन्होंने अपने उस विशाल साम्राज्य का निर्माण किया, जो पूर्व में प्रशान्त महासागर से शुरू कर पश्चिम में काला सागर तक विस्तृत था। चंगेज खाँ की मंगोल सेनाओं ने भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर भी हमले किये थे, और लाहौर तक के प्रदेश को अपने अधीन कर लिया था। इस समय दिल्ली की तुर्क-अफगान सल्तनत का अधिपति अल्तमश (१२११–१२३६ ई०) था। पर उत्तर-पश्चिमी भारत पर मंगोलों का शासन देर तक कायम नहीं रहा। चंगेज खाँ के वंशज मंगू खाँ की मृत्यु (१२५० ई०) के बाद विशाल मंगोल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके भग्नावशेषों पर चार राज्य स्थापित हुए। ये राज्य चीन, पर्शिया, रूस और साइबीरिया के थे। इनमें से पर्शिया के मंगोल राज्य का भारतीय इतिहास के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। चौदहवीं सदी में इस राज्य में एक महत्त्वाकांक्षी पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जो चंगेज खाँ के विशाल साम्राज्य का पुनरुद्धार करने के लिये उत्सुक था। इस वीर पुरुष का नाम तैमूरलंग था। इसी प्रयत्न में उसने भारत पर भी आक्रमण किया, और १३९८ ई० में दिल्ली पर कब्जा कर लिया। दिल्ली के निर्बल अफगान सुलतान उसका मुकाबला करने में असमर्थ रहे। पर तैमूर ने भारत में स्थिर रूप से शासन करने का प्रयत्न नहीं किया। वह आंधी के समान आया, और अफगान सल्तनत को तहस-नहस कर पर्शिया को लौट गया। इसी कारण यह समझा जा सकता है, कि बारहवीं सदी के शुरू से सोलहवीं सदी के प्रारम्भ तक किसी ऐसी विदेशी शक्ति ने भारत पर आक्रमण नहीं किया, जिसका विचार इस देश को जीतकर स्थायी रूप से अपने अधीन करने का हो।

१४०५ ई० में तैमूर की मृत्यु हुई। तैमूर द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य उसकी मृत्यु के बाद स्थिर नहीं रह सका। पर्शिया के बाहर के जो प्रदेश उसने जीतकर अपने अधीन किये थे, वे सब स्वतन्त्र हो गये। खास पर्शिया और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर भी तैमूर के उत्तराधिकारी निश्चिन्तता के साथ शासन करने में असमर्थ रहे।

बाबर—तैमूर के साम्राज्य के खण्ड-खण्ड हो जाने पर जो अनेक छोटे-छोटे राज्य कायम हुए थे, उनमें फरगाना का राज्य भी एक था। इस राज्य का स्वामी

बाबर था, जो तैमूर का ही वंशज था। उसके अन्य कुटुम्बीजन बाबर को राज्य-च्युत कर स्वयं राजा बनने के लिये उत्सुक थे। अपने बन्धु-बान्धवों से निरन्तर लड़ाई में व्यग्र रहने के कारण बाबर निराश हो गया। अपने अनुयायी सैनिकों को साथ लेकर उसने दक्षिण की ओर प्रस्थान किया, और हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार कर काबुल को जीत लिया। उस समय भारत में कोई एक शक्तिशाली राजा नहीं था। दिल्ली के अफगान सुलतान बहुत निर्बल हो चुके थे। उनकी निर्बलता से लाभ उठाकर बंगाल, गुजरात, मालवा आदि में अनेक स्वतन्त्र मुसलिम सल्तनतें स्थापित हो गयी थीं, और राजपूताना में मेवाड़ के नेतृत्व ने एक अत्यन्त शक्तिशाली हिन्दूराज्य-संघ कायम हो गया था। बाबर ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और १५२५ ई० में दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी को परास्त कर उसके राज्य को अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार भारत में मंगोल शासन का सूत्रपात हुआ। बाबर मगोल जाति का था, उसके वंशज मुगल कहाते हैं, क्योंकि मुगल मगोल का ही रूपान्तर है।

इब्राहीम लोदी को परास्त कर बाबर ने दिल्ली और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पर भारत की प्रधान राजशक्ति इस समय अफगान सल्तनत नहीं थी। मेवाड़ का राणा साँगा इस समय उत्तरी भारत का सबसे शक्तिशाली राजा था। बाबर तब तक अपने को भारत का विजेता नहीं समझ सकता था, जब तक कि वह राणा साँगा को परास्त न कर दे। साँगा भी बाबर को हराकर भारत से बाहर निकाल देने के लिए उत्सुक था, क्योंकि वह स्वयं दिल्ली पर अधिकार करना चाहता था। उसने बाबर के साथ युद्ध करने के लिए बड़ी भारी तैयारी की। सब राजपूत राजाओं को सहायता के लिए निमन्त्रण दिया गया। राज-पूत राजाओं ने बड़े उत्साह से अपने अधिपति साँगा का साथ दिया। अनेक अफगान सरदार भी बाबर को परास्त करने के लिए साँगा के साथ आ मिले, क्योंकि मुगलों की विजय से राजशक्ति उनके हाथों से भी निकल चुकी थी। सीकरी के समीप १५२७ ई० में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें बाबर की विजय हुई। भारत की विजय में बाबर को जो असाधारण सफलता मिली, उसका प्रधान कारण यह था, कि वह युद्ध में तोपों का प्रयोग करता था। बारूद और तोप का प्रयोग सबसे पहले मंगोल लोगों ने ही शुरू किया था। चंगेज खाँ की विश्वविजय में बारूद ही प्रधान रूप से मंगोलों का सहायक हुआ था। सांगा को रणक्षेत्र में परास्त कर बाबर ने राजपूताना के अनेक दुर्गों पर आक्रमण किये, और उन्हें विजय करने में भी वह सफल हुआ।

दिल्ली के अफगान सुलतान और राजपूत राजाओं को परास्त कर बाबर ने बिहार और बंगाल पर भी आक्रमण किये। जौनपुर और बंगाल की मुसलिम सल्त-नतों को परास्त कर प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपनी अधीनता में ले आने में बाबर को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। बाबर का सम्पूर्ण जीवन युद्धों में ही व्यतीत हुआ। इसी कारण अपने विजित प्रदेशों के शासन को सुव्यवस्थित करने के लिए वह विशेष प्रयत्न नहीं कर सका। १५३० ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के समय बाबर द्वारा स्थापित साम्राज्य पश्चिम में आमू नदी से लेकर पूर्व में बंगाल की खाड़ी तक, और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में मालवा तक विस्तृत हो गया था।

हुमायूं—बाबर की मृत्यु के बाद उसका पुत्र हुमायूं विशाल मुगल-साम्राज्य का स्वामी बना। पर अभी भारत में मुगलों की शक्ति भली-भांति सुदृढ़ नहीं हुई थी। इसी लिए बिहार में शेर खां नामक वीर पुरुष केनेतृत्व में अफगानों ने मुगलों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। अभी हुमायूं इस विद्रोह को पूर्ण रूप से शान्त भी नहीं कर पाया था, कि गुजरात के स्वतन्त्र मुसलिम सुलतान बहादुरशाह ने उत्तरी भारत में मुगल साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया। उसे परास्त करने के लिए हुमायूं को बहुत यत्न करना पड़ा। मुगल बादशाह को बहादुरशाह के साथ युद्ध में व्यस्त देखकर बिहार में शेरखां ने अपनी शक्ति बहुत बढ़ा ली, और अन्त में हुमायूं को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया (१५४०)। बाबर द्वारा स्थापित मुगल-साम्राज्य भारत में देर तक कायम नहीं रह सका, और एक बार फिर दिल्ली अफगानों के आधिपत्य में आ गयी। शेरखां द्वारा दिल्ली में एक नये अफगान राजवंश का सूत्रपात हुआ, जिसे 'सूरी' कहते हैं। शेरखां या शेरशाह योग्य शासक था। उसने पंजाब, सिंध और मालवा की विजय कर अपने साम्राज्य का विस्तार किया, और उसके कर्तृत्व के कारण अफगान सल्तनत ने एक बार फिर अपने पुराने गौरव को प्राप्त कर लिया।

जिस समय शेरशाह भारत में अफगान शासन को पुनःस्थापित करने के लिए प्रयत्न कर रहा था, हुमायूं भी शान्त नहीं बैठा था। शेरशाह की मृत्यु (१५४५ ई०) के बाद उसने पर्शिया के शाह तहमास्प की सहायता से एक बार फिर अपने भाग्य को आजमाया। काबुल और कान्धार को जीतकर १५५५ ई० में उसने भारत पर आक्रमण कर दिया, और शेरशाह के वंशज सुलतान सिकन्दरशाह को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

अकबर—१५५६ ई० में हुमायूं की मृत्यु के बाद अकबर मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। राजगद्दी पर आरूढ़ होने के समय मुगलों का शासन केवल उत्तर-पश्चिमी भारत, पंजाब, दिल्ली और आगरा तक ही सीमित था। सूरवंशी अफगान सुलतानों को युद्ध में परास्त कर दिल्ली की राजगद्दी पर तो मुगलों का अधिकार हो गया था, पर इस समय दिल्ली की यह सल्तनत बहुत विस्तृत नहीं थी। शेरशाह के उत्तराधिकारी सूर सुलतानों की निर्बलता से लाभ उठाकर बंगाल, जौनपुर, मालवा, सिन्ध, गुजरात आदि में फिर से स्वतन्त्र मुसलिम सुलतानों के शासन स्थापित हो गए थे, और मेवाड़ जोधपुर, जैसलमेर, जयपुर आदि के राजपूतों ने अपने स्वतन्त्र राज्य पुनः स्थापित कर लिये थे। दक्षिणी भारत तो इस समय दिल्ली के आधिपत्य से मुक्त था ही। अपने पिता से जो राज्य अकबर ने उत्तराधिकार में प्राप्त किया था, उसका क्षेत्रफल सुदूर दक्षिण के विजयनगर के राज्य के मुकाबले में भी कम था। अतः भारत में मुगल शासन को स्थापित करने का वास्तविक श्रेय अकबर को ही प्राप्त है।

इतना ही नहीं, युद्ध में परास्त होने के बाद भी सूरवंशी अफगानों का मूलोच्छेद नहीं हो गया था। आदिलशाह सूर के नेतृत्व में अफगान राजशक्ति ने एक बार फिर सिर उठाने का यत्न किया, और हेमू नामक भार्गव-वंशी हिन्दू के सेनापतित्व में अफगानों ने आगरा और दिल्ली को मुगलों से जीत लिया। दिल्ली को जीतकर हेमू ने अपने को सम्राट् उद्घोषित कर दिया, और 'विक्रमादित्य' की प्राचीन व गौरवशाली

उपाधि धारण कर स्वतन्त्र रूप से शासन प्रारम्भ किया। पर हेमू विक्रमादित्य का शासन देर तक कायम नहीं रह सका। १५५६ ई० में पानीपत के रणक्षेत्र में अकबर की मुगल सेनाओं ने हेमू को परास्त कर दिल्ली और आगरा को एक बार फिर अपने अधिकार में कर लिया।

पर अभी तक भी भारत का बड़ा भाग मुगलों की अधीनता में नहीं आया था। भारत में अपने आधिपत्य का विस्तार करने के लिये अकबर ने बहुत-से युद्ध किये। उनका संक्षेप के साथ निर्देश कर सकना भी इस इतिहास में सम्भव नहीं है। अपने शासन-काल में अकबर प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ, और दक्षिणापथ के अफगान राज्यों के साथ भी उसने संघर्ष किया। भारत में अकबर को दो राजशक्तियों के विरुद्ध युद्ध करना था, मुस्लिम और हिन्दू राजपूत। जिन अफगानों और राजपूतों के अनेक राज्य इस समय भारत के विविध प्रदेशों में स्थापित थे, उन्हें परास्त किये बिना अकबर भारत में अपने आधिपत्य का विस्तार नहीं कर सकता था। पर साथ ही उसके लिये यह भी सुगम नहीं था, कि वह अफगान और राजपूत दोनों राजशक्तियों का एक साथ मुकाबला कर सके। अफगानों और मुगलों का धर्म एक था, पर धर्म की एकता उन्हें मित्र बना सकने में असमर्थ रही। इस स्थिति में अकबर का ध्यान राजपूतों की ओर गया, जो वीरता, साहस आदि गुणों में संसार की किसी भी जाति से कम नहीं थे। अकबर ने भारत में मुगल शासन की स्थापना करते हुए राजपूतों का सहयोग प्राप्त करने का यत्न किया, और इसमें वह सफल भी हुआ। इसी लिये उसने राजपूतों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उनके साथ मैत्री की। सबसे पूर्व जयपुर के राजा भारमल ने अपनी कन्या का विवाह अकबर के साथ कर दिया। इसके बाद अन्य भी अनेक राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये। अकबर ने राजपूतों को मुगल साम्राज्य में ऊँचे-ऊँचे पद प्रदान किये, और उनकी सेना की सहायता से ही भारत के बड़े भाग की विजय की। निःसन्देह, अकबर की यह नीति बहुत बुद्धिमत्तापूर्ण थी। इसी के कारण वह भारत में अपना स्थिर शासन स्थापित कर सका था।

यद्यपि अन्य सब राजपूत राजाओं ने अकबर के साथ मेल कर लिया था, पर मेवाड़ के राणा किसी भी प्रकार मुगलों के साथ मैत्री करने और अकबर को अपना अधिपति मानने के लिये तैयार नहीं हुए। राणा प्रताप के नेतृत्व में मेवाड़ के राजपूतों ने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा। यद्यपि मेवाड़ के सब दुर्ग मुगल सेनाओं के अधिकार में आ गये थे, पर राणा प्रताप ने जंगलों को अपना केन्द्र बनाकर अकबर के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा, और अपने राजवंश के गौरव को क्षीण नहीं होने दिया। पर इसमें संदेह नहीं, कि राणा प्रताप के अतिरिक्त अन्य सब राजपूत राजा अकबर की नीति से सन्तुष्ट थे, और उन्होंने स्वेच्छापूर्वक उसकी अधीनता को स्वीकार कर लिया था। अपने छोटे-छोटे राज्यों के स्वतन्त्र शासक होने की अपेक्षा उन्हें विशाल मुगल-साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी, सूबेदार व सेनापति होने में अधिक गौरव अनुभव होता था, और वे यह भली-भाँति समझते थे, कि मुगलों की शक्ति उन्हीं की सहायता और सहयोग पर निर्भर है।

अकबर ने हिन्दुओं के प्रति उदारता की नीति का अनुसरण किया। उससे पूर्व मथुरा, हरिद्वार, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि हिन्दू तीर्थों की यात्रा करने के लिये आने वाले तीर्थयात्रियों पर एक विशेष कर (तीर्थयात्रा-कर) लगाया जाता था। अकबर ने उसे हटा दिया। १५६४ में उसने हिन्दुओं से जजिया-कर वसूल करना भी बन्द कर दिया। इस कर से राज्य को करोड़ों रुपये की आमदनी थी। पर अपनी हिन्दू प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिये अकबर ने इस आमदनी की परवाह नहीं की। जजिया-कर को हटा देने से मुगल साम्राज्य की हिन्दू और मुसलिम प्रजा में कोई भेद नहीं रह गया, यह बात भारत के इतिहास में बहुत महत्त्व रखती है। तुर्क-अफगान युग में भारत में मुसलिम वर्ग का शासन था। पर अब अकबर ने अपने साम्राज्य में एक ऐसे शासन की नींव डाली, जो किसी सम्प्रदाय विशेष या किसी विशिष्ट वर्ग का न होकर सब जातियों व धर्मों का सम्मिलित शासन था। उसने अपने राज्य में ऊँचे-ऊँचे पदों पर हिन्दुओं को नियत किया। राजा टोडरमल उसका दीवान व अर्थसचिव था। राजा भगवानदास और मानसिंह उसके सबसे बड़े सेनापति थे। अफगानिस्तान जैसे मुसलिम प्रदेश का शासन करने के लिये उसने मानसिंह को नियुक्त किया था। इसी प्रकार बंगाल आदि अन्य अनेक सूबों के शासक भी इस युग में हिन्दू लोग थे, जिनकी नियुक्ति सूबेदार के रूप में अकबर द्वारा की गयी थी। इस सब का परिणाम यह हुआ, कि भारत में मुगलों के शासन का स्वरूप पूर्ण रूप से 'राष्ट्रीय' हो गया। हिन्दुओं के प्रति अकबर ने जिस नीति का अनुसरण किया, और धर्म के सम्बन्ध में जिस विचार-सरणी का उसने प्रारम्भ किया, इस पर हम आगे चलकर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

जहाँगीर—१६०५ ई० में अकबर की मृत्यु के बाद उसका लड़का सलीम जहाँगीर के नाम से विशाल मुगल साम्राज्य का स्वामी बना। वह राजपूत माता का पुत्र था, इस कारण उसमें हिन्दू रक्त विद्यमान था। उसने अनेक अंशों में अपने पिता की उदार नीति को जारी रखा। दक्षिणापथ में मुगल-शासन का विस्तार करने के लिए उसने अनेक युद्ध किये, पर उनमें उसे विशेष सफलता नहीं मिली। बहमनी राज्य के भग्नावशेषों पर जिन पाँच शाहियों की स्थापना हुई थी, उनमें से अहमदनगर की निजामशाही को अकबर ने अपने अधीन कर लिया था। पर इस समय मलिक अम्बर नाम के सुयोग्य पुरुष ने निजामशाही की स्वतन्त्र सत्ता का पुनरुद्धार किया, और उसे परास्त करने के जहाँगीर के सब प्रयत्न विफल हुए।

शाहजहाँ—१६२६ में जहाँगीर की मृत्यु होने पर शाहजहाँ मुगलों के राजसिंहासन सर आरूढ़ हुआ। दक्षिणापथ में अपने आधिपत्य को वितृत करने में उसे सफलता मिली। १६३३ में उसने अहमदनगर को जीतकर निजामशाही को अपने अधीन कर लिया, और बीजापुर व गोलकुण्डा की शाहियों के विरुद्ध युद्ध कर उन्हें अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिये विवश किया। शाहजहाँ के प्रयत्नों से दक्षिणापथ का बड़ा भाग भी मुगलों की अधीनता में आ गया। जहाँगीर और शाहजहाँ दोनों उदार बादशाह थे, और अकबर के प्रयत्न से मुगल साम्राज्य का जो 'राष्ट्रीय' रूप कायम हुआ था, उसे उन्होंने नष्ट नहीं होने दिया।

औरंगजेब—बादशाह शाहजहाँ के जीवन काल में ही अपने अन्य भाइयों को

गृहयुद्ध में परास्त कर और शाहजहाँ को बन्दी बनाकर औरंगजेब मुगल-साम्राज्य का स्वामी बना। अकबर की नीति का परित्याग कर उसने भारत को एक इस्लामी राज्य के रूप में परिणत करने का प्रयत्न किया। मुगल साम्राज्य की नींव राजपूतों और हिन्दुओं की सहायता और सहानुभूति पर रखी गयी थी। औरंगजेब ने इसी पर कुठाराघात किया। इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार भारत के शासन-सूत्र का संचालन करने के उद्देश्य से जो कार्य औरंगजेब ने किये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे :—

(१) हिन्दुओं पर फिर से जजिया-कर लगाया गया।

(२) हिन्दू मन्दिरों को तोड़ने की आज्ञा जारी की गयी। काशी में विश्वनाथ, गुजरात में सोमनाथ और मथुरा में केशवराय के मन्दिर उस समय बहुत प्रसिद्ध थे। वे सब औरंगजेब की आज्ञा से तोड़ दिए गये। अन्य भी बहुत-से मन्दिर गिराये गये।

(३) व्यापार, व्यवसाय आदि में हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद किया गया। यदि मुसलिम व्यापारी से ढाई प्रतिशत कर लिया जाता था, तो हिन्दू व्यापारी से पाँच प्रतिशत कर वसूल करने की व्यवस्था की गयी। इसका प्रयोजन यह था, कि हिन्दू व्यापारी आर्थिक लाभ के लालच से इस्लाम को स्वीकार कर लें।

(४) जो हिन्दू इस्लाम की दीक्षा ले लेते थे, उन्हें इनाम दिये जाते थे। उनका जुलूस निकाला जाता था। उन्हें राज्य में ऊँचा पद मिलता था। 'मुसलमान हो जाओ और कानूनगो बन जाओ'—यह उस समय एक कहावत-सी बन गई थी।

(५) यह आज्ञा प्रचलित की गयी, कि हिन्दू लोग सार्वजनिक रूप से अपने उत्सव और त्योहार न मना सकें।

(६) हिन्दुओं को उच्च राजकीय पदों से हटाकर उनके स्थान पर मुसलमानों को नियुक्त करने की नीति को अपनाया गया।

(७) दिल्ली के राजदरबार में जो अनेक हिन्दू रीति-रिवाज प्रविष्ट हो गये थे, उन सब को बन्द कर दिया गया।

औरंगजेब की इस हिन्दू-विरोधी नीति का परिणाम मुगल-साम्राज्य के लिये बहुत बुरा हुआ। हिन्दुओं की जो शक्ति अब तक मुगलों के लिये सहारा बनी हुई थी, वह अब उनके विरुद्ध उठ खड़ी हुई। हिन्दुओं ने औरंगजेब के विरुद्ध जो विद्रोह किये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे :—

(१) मथुरा के समीप जाटों ने विद्रोह कर दिया। बीस साल तक जाट लोग निरन्तर मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे।

(२) नारनौल के समीप सतनामी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को शान्त करने में औरंगजेब की सेनाओं को विकट कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(३) पंजाब में सिक्खों के गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की नीति का विरोध किया। बादशाह के खिलाफ बगावत फैलाने के अपराध में बड़ी क्रूरता के साथ गुरु तेगबहादुर का वध किया गया। गुरु के वध का हाल जानकर सिक्खों में सनसनी फैल गयी। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिये उठ खड़े हुए। इस समय सिक्खों में एक वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप में

परिवर्तित कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्द सिंह था। उसके प्रयत्न से सिक्ख लोग एक प्रबल सैनिक शक्ति (खालसा) बन गये, और मुगलों के विरुद्ध संघर्ष के लिये तत्पर हुए।

(४) राजपूताना में दुर्गादास राठौर के नेतृत्व में राजपूतों ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। चौथाई सदी के लगभग तक राजपूत लोग मुगलों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। मेवाड़ के राणा राजसिंह ने भी इस संघर्ष में दुर्गादास का साथ दिया। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि राजपूताना को अपने आधिपत्य में रख सकना औरंगजेब के लिये सम्भव नहीं रहेगा। मुगल बादशाह ने राजपूतों को परास्त करने के लिये जो भी सेनाएं भेजीं, वे प्रायः अपने प्रयत्न में असफल रहीं। अन्त में औरंगजेब को राजपूतों के साथ सन्धि करने और उन्हें सन्तुष्ट करने के लिये विवश होना पड़ा।

(५) दक्षिणी भारत में शिवाजी ने मराठा राज्य की नींव डाली, जिसका उद्देश्य मुसलिम शासन का अन्त कर हिन्दू राजशक्ति का पुनरुद्धार करना था।

मुगल-साम्राज्य की जो नीति अकबर ने निर्धारित की थी, उसके तीन प्रधान तत्त्व थे—(१) शासन को किसी धर्म या वर्ग की शक्ति पर आश्रित न रखकर सम्पूर्ण राष्ट्र पर आश्रित रखना। (२) हिन्दुओं के सहयोग व सहानुभूति को प्राप्त करना। (३) सम्पूर्ण भारत को एक शासन की अधीनता में लाना। औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति के कारण उसके समय में पहले दो तत्त्वों का अन्त हो गया था। पर तीसरे तत्त्व को क्रिया में परिणत करने के प्रयत्न में औरगजेब ने कोई कसर नहीं उठा रखी। शाहजहाँ के शासन काल में दक्षिणापथ में मुगल सत्ता का बहुत विस्तार हुआ था। अहमदनगर पर मुगलों का अधिकार हो गया था, और बीजापुर की आदिलशाही तथा गोलकुण्डा की कुतुबशाही ने शाहजहाँ के आधिपत्य को स्वीकार कर लिया था। पर औरंगजेब इन शाहियों की अधीनता स्वीकृत कर लेने की बात को पर्याप्त नहीं समझता था। इन शाहियों के सुलतान शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और औरंगजेब सुन्नी था। उसकी दृष्टि में शिया लोग भी विधर्मी थे। अपने साम्राज्य के विस्तार की आकांक्षा और विधर्मी शिया शासन का अन्त कर देने की अभिलाषा से उसने एक बड़ी सेना को साथ लेकर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। उसके शासनकाल के पिछले पच्चीस वर्ष दक्षिण में ही व्यतीत हुए। आखिर, औरंगजेब गोलकुण्डा और बीजापुर की स्वतन्त्र सलतनतों का अन्त कर उन्हें अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करने में सफल हुआ। दक्षिण में औरंगजेब ने केवल गोलकुण्डा और बीजापुर का ही अन्त नहीं किया, अपितु उसकी अधिक शक्ति मराठों के साथ संघर्ष करने में व्यतीत हुई।

(२) मराठों का अभ्युदय

औरंगजेब के शासन काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना मराठा शक्ति का अभ्युदय है। अफगान युग में हिन्दुओं में धार्मिक पुनर्जागरण की जो लहर चल रही थी, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। इसी लहर के परिणाम-स्वरूप महाराष्ट्र में भी अनेक ऐसे सन्त-महात्मा उत्पन्न हुए, जिन्होंने मराठा लोगों में नवजीवन का संचार किया। महाराष्ट्र के इन सन्तों में तुकाराम, रामदास, वामन-

पण्डित और एकनाथ बहुत प्रसिद्ध हैं। स्वामी रामदास समर्थ सतरहवीं सदी में हुए थे। उन्होंने न केवल मराठों के धार्मिक विचारों में जीवन और स्फूर्ति उत्पन्न की, अपितु, उनका ध्यान अपने देश और जाति के प्रति भी आकृष्ट किया। रामदास ने महाराष्ट्र में वह राष्ट्रीय लहर चलाई, जिसने मराठों में आत्मसम्मान और राष्ट्रीय उत्कर्ष की भावना को जागृत किया। वे उपदेश करते थे, कि "जो मराठे हैं, उन सब को मिलाकर एक कर दो। महाराष्ट्रीय धर्म की वृद्धि करो। धर्म के लिए बलि देने को तत्पर रहो। धर्म के शत्रुओं का संहार करो।"

रामदास जैसे महात्माओं के कारण मराठों में नवजीवन और संगठन तो उत्पन्न हो ही रहा था, ऐसे समय में उनमें एक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें एक प्रबल शक्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया। इस महापुरुष का नाम शिवाजी (जन्मकाल १६२७ ई०) था। शिवाजी के पिता शाहजी अहमदनगर की निजामशाही के एक प्रतिष्ठित जागीरदार थे। उनकी अपनी जागीर पूना में थी। शाहजी अहमदनगर के राजदरबार में एक सामन्त का सा जीवन व्यतीत करते थे, और शिवाजी पूना में अपनी माता जीजाबाई के पास रहते थे।

शिवाजी—बाल्यावस्था से ही शिवाजी के हृदय में महत्वाकांक्षाएँ उत्पन्न होने लगी थीं। दक्षिण के मुसलमान सुलतानों की उस समय जो दुर्दशा थी, उससे लाभ उठाकर उन्हें अपनी शक्ति के विस्तार का अच्छा अवसर हाथ लगा। अहमदनगर तब मुगलों के हाथ में जा चुका था। बीजापुर और गोलकुण्डा पर भी उनके आक्रमण जारी थे। इस स्थिति से लाभ उठाकर शिवाजी ने अपनी जागीर के नवयुवकों की एक सेना एकत्रित की, और पूना के आस-पास के दुर्गों पर हमले शुरू कर दिये। ये किले शीघ्र ही शिवाजी के हाथ में आ गये। शिवाजी जिन किलों और प्रदेशों पर आक्रमण कर अपनी शक्ति के विस्तार में लगा था, वे बीजापुर के आदिलशाह के राज्य में थे। अत: स्वाभाविक रूप से उसने शिवाजी के साथ अनेक युद्ध किये, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। अन्त में विवश होकर बीजापुर के सुलतान ने शिवाजी के साथ सन्धि कर ली, और उसे उन सब दुर्गों व प्रदेशों का स्वामी स्वीकार कर लिया, जिन्हें उसने पिछले वर्षों में जीता था।

अब शिवाजी एक स्वतन्त्र राज्य का स्वामी हो गया था। मुगल बादशाह औरंगजेब दक्षिणापथ में अपने आधिपत्य को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील था, अत: उसने शिवाजी के साथ भी युद्ध शुरू किए। शाइस्ता खाँ, जसवन्तसिंह और जयसिंह के सेनापतित्व में मुगल-साम्राज्य की सेनाओं ने उस पर आक्रमण किये। पहले दो सेनापति शिवाजी को काबू में लाने में असमर्थ रहे। पर जयसिंह जैसे वीर और कुशल सेनापति को परास्त कर सकना शिवाजी के लिये कठिन था। जयसिंह ने शिवाजी को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकृत करने के लिए तैयार कर लिया। जयसिंह की प्रेरणा से शिवाजी दिल्ली गया, और इस युग के अन्य सामन्त राजाओं के समान जीवन बिताने के लिए उद्यत हो गया। पर दिल्ली के वातावरण से उसने सन्तोष अनुभव नहीं किया, और कुछ समय बाद वह फिर अपने राज्य को वापस लौट आया। पूना लौटकर शिवाजी ने अपने राज्य को भली-भाँति संगठित किया, और १६७४ में

रायगढ़ के दुर्ग में बड़ी धूमधाम के साथ उसका राज्याभिषेक हुआ।

शिवाजी के राज्य के दो भाग थे—स्वराज्य और मुगलिया। जो प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में थे, उन्हें 'स्वराज्य' कहते थे। मुगलिया प्रदेश शिवाजी के अपने शासन में नहीं थे, पर मराठे लोग इनसे 'चौथ' और 'सरदेशमुखी' नाम के कर वसूल करते थे। जिन स्थानों से यह कर वसूल किये जाते थे, उनकी अन्य शक्तियों के आक्रमणों से रक्षा करना मराठे लोग अपना कर्त्तव्य समझते थे। शिवाजी के स्वराज्य में उत्तर में कल्याण से लेकर दक्षिण में गोआ तक के प्रदेश सम्मिलित थे। पर शिवाजी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ। सन् १६६७ में उसने एक बड़ा साहसपूर्ण कार्य किया। अपने स्वराज्य से बहुत दूर दक्षिण की ओर जाकर बेल्लारी और जिन्जी के दुर्गों को उसने विजय कर लिया। इन विजयों के कारण सुदूर दक्षिण में भी उसके आधिपत्य का विस्तार हुआ। मराठा राज्य की नींव को सुदृढ़ बनाकर १६८० में शिवाजी ने इस संसार से विदा ली। इसमें सन्देह नहीं, कि शिवाजी भारतीय इतिहास की महान् विभूतियों में से एक था। एक बिखरी हुई जाति को संगठित कर एक सूत्र में बांधना और फिर अपने स्वतन्त्र राज्य को कायम कर देना कोई साधारण बात नहीं है। आगे चलकर मराठों का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ, और कुछ समय के लिए वे सर्वप्रधान राजशक्ति बन गये। पर मराठों के इस उत्कर्ष का सूत्रपात शिवाजी के साहस और प्रतिभा के कारण ही सम्भव हुआ था।

सम्भाजी—शिवाजी का उत्तराधिकारी सम्भाजी था। वह औरंगजेब के मुकाबले में अपने राज्य की रक्षा कर सकने में असमर्थ रहा। मुगलों की जिन सेनाओं ने बीजापुर और गोलकुण्डा की सल्तनतों का अन्त किया था, वे सम्भाजी के मराठा राज्य को भी परास्त करने में समर्थ हुईं। १६८९ में सम्भाजी कैद कर लिया गया, और बड़ी क्रूरता के साथ उसका वध किया गया।

पर मराठों का यह अपकर्ष सामयिक था। औरंगजेब की मृत्यु के बाद उन्हें अपनी शक्ति को बढ़ाने का फिर अवसर मिला। यद्यपि मुगल सेनाओं ने मराठों के दुर्गों पर कब्जा कर लिया था, पर मराठे लोग इससे हार नहीं मान गये थे। उन्होंने मुगलों के साथ संघर्ष को बन्द नहीं किया। उनके बहुत-से दल चारों तरफ से मुगल साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये निकल पड़े। वे किसी प्रदेश पर अपना स्थिर शासन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करते थे। वे जहां जाते चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते। अगर उन प्रदेशों के सूबेदार इन करों को नियमपूर्वक देते रहते, तब तो ठीक था, अन्यथा मराठे लोग उन पर आक्रमण कर देते। मुगलों के विरुद्ध अपनी शक्ति का उत्कर्ष करने के लिए मराठों ने इसी ढंग को अपनाया था।

पेशवाओं का अभ्युदय—औरंगजेब के उत्तराधिकारी निर्बल थे। न उनमें अकबर जैसी नीति-कुशलता थी, और न औरंगजेब जैसा साहस। मराठों ने इस स्थिति से पूरा लाभ उठाया। बालाजी विश्वनाथ नामक सुयोग्य नेता के नेतृत्व में मराठों ने दिल्ली की बादशाहत के आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप किया, और सम्पूर्ण दक्षिणी भारत से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर लिया। बालाजी विश्वनाथ के प्रयत्न से मराठों की शक्ति बहुत बढ़ गयी। मुगल साम्राज्य की शक्ति

के क्षीण होते ही उन्होंने अपने असली मराठा राज्य को तो स्वाधीन कर ही लिया था, अब चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार प्राप्त कर वे दक्षिणी भारत की वास्तविक राजशक्ति बन गये।

पेशवा बाजीराव (१७२०–१७४०) के समय में मराठों की शक्ति केवल दक्षिणी भारत तक ही सीमित नहीं रह गयी। उन्होंने दक्षिणी भारत से आगे बढ़कर गुजरात, मध्यभारत आदि पर भी आक्रमण करने शुरू किये। इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप बाजीराव के समय में मराठों के चार नये राज्य कायम हुए। राघोजी भोंसले ने मध्य भारत में नागपुर को राजधानी बनाकर एक नए राज्य की स्थापना की। गुजरात में महादजी गायकवाड़ ने, मालवा और इन्दौर में मल्हारराव होलकर ने और ग्वालियर में रानोजी सिन्धिया ने अपने राज्य कायम किये। ये चारों सरदार पेशवाओं को अपना अधिपति मानते थे, और पेशवा शिवाजी के वंशज छत्रपति राजा के नाम पर वास्तविक राजशक्ति का उपयोग करता था। सिन्धिया, गायकवाड़, होलकर और भोंसले क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र राजा थे, और अपने शासन क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। उत्तर में इन वीर राजाओं ने गंगा यमुना के द्वाबे तक आक्रमण किये, और वहाँ के मुगल शासकों के साथ संघर्ष किये। मुगल साम्राज्य इस समय इतना निर्बल हो चुका था, कि मराठों से अपनी रक्षा कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं रह गया था।

बाजीराव की मृत्यु के बाद उसका पुत्र बालाजी बाजीराव (१७४०–१५६१) पेशवा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके शासन काल में मराठा साम्राज्य अपनी शक्ति की चरम सीमा पर पहुँच गया। इसी काल में राघोजी भोंसले ने उड़ीसा और बंगाल पर आक्रमण किया। उड़ीसा मराठों के शासन में आ गया, और बंगाल में उन्होंने चौथ और सरदेशमुखी-कर वसूल किये। इसी समय एक मराठा सेना ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण किया, और पेशवा के भाई रघुनाथ राव ने पंजाब पर चढ़ाई की। सिन्ध नदी के तट पर स्थित अटक के दुर्ग पर मराठों का भगवा झण्डा फहराने लगा। दिल्ली का मुगल बादशाह इस समय मराठों के हाथों में कठपुतली के समान था। उसका तेज मराठों के सामने मन्द पड़ गया था।

(३) मुगल साम्राज्य का ह्रास

औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति के कारण मुगल शासन के राष्ट्रीय रूप का अन्त हो गया था, और राजपूत, सिक्ख, मराठे आदि विविध हिन्दू राजशक्तियां मुगल आधिपत्य का अन्त कर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में तत्पर हो गयी थीं। इस समय में यदि मुगल राजकुल और उसके विविध मनसबदारों व सूबेदारों में ऐक्य होता, और वे खण्ड-खण्ड होते हुए साम्राज्य की रक्षा के लिए सम्मिलित रूप से यत्न करते, तो शायद कुछ समय के लिए उसकी रक्षा हो भी जाती। पर वे भी आपस में लड़ने, अपने स्वतन्त्र राज्यों को कायम करने और अपने वैयक्तिक उत्कर्ष की फिक्र में रहते थे। परिणाम यह हुआ कि विशाल मुगल साम्राज्य का पतन शुरू हो गया, और उसके स्थान पर विविध राज्य कायम होने लगे। पंजाब में सिक्खों ने जोर पकड़ा। बुन्देल-

खण्ड, राजपूताना और मध्य भारत में अनेक स्वतन्त्र व अर्ध-स्वतन्त्र राजपूत राज्य कायम हुए। जाटों ने आगरा के समीप के प्रदेशों में अपने राज्य स्थापित किये। मराठे न केवल दक्षिणी भारत में अपनी शक्ति का विकास करने में समर्थ हुए, अपितु अटक से कटक तक और हिमालय से कुमारी अन्तरीप तक अपने आधिपत्य की स्थापना के उद्देश्य से विजय-यात्राएं करने के लिए प्रयत्नशील हुए। मुगल बादशाहों द्वारा नियुक्त प्रान्तीय सूबेदार भी दिल्ली के बादशाह की शक्ति की उपेक्षा कर स्वतन्त्र राजाओं के समान आचरण करने की प्रवृत्ति रखने लगे।

ऐसी स्थिति में औरंगजेब की मृत्यु (१७०७ ई०) के बत्तीस साल बाद १७३९ में पर्शिया के शाह नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। इस समय दिल्ली की राजगद्दी पर मुहम्मदशाह विराजमान था। वह नादिरशाह का मुकाबला करने में असमर्थ रहा। मुगल सेना को युद्ध में परास्त कर नादिरशाह ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया, और उसे बुरी तरह से लूटा। उसने दिल्ली में कत्लेआम का भी हुक्म दिया। यद्यपि पर्शियन आक्रान्ता ने भारत में अपना स्थायी शासन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया, पर उसके आक्रमण के कारण मुगल बादशाहत की रही-सही शक्ति भी नष्ट हो गयी। मराठों, राजपूतों और सिक्खों ने उसे पहले ही खोखला कर दिया था। जो शक्ति उसमें शेष थी, वह अब नादिरशाह के आक्रमण से नष्ट हो गयी। इसके बाद मुगल बादशाह नाम को ही भारत का सम्राट् रह गये।

पर्शिया का जो साम्राज्य नादिरशाह ने कायम किया था, वह भी देर तक स्थिर नहीं रहा। उसकी मृत्यु के कुछ समय बाद अफगानिस्तान में, जो अकबर सदृश प्रतापी मुगल सम्राटों के शासन काल में मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत था, अहमदशाह अब्दाली ने अपने पृथक् राज्य की स्थापना की। अपने राज्य के उत्कर्ष को दृष्टि में रखकर उसने कई बार भारत पर चढ़ाई की, और सन् १७५७ में बुरी तरह दिल्ली को लूटा। इस समय तक भारत में मराठों की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी। उत्तरी भारत के भी अधिकांश प्रदेश उनकी अधीनता को स्वीकार करते थे। दिल्ली का मुगल बादशाह उनके हाथों में कठपुतली के समान था। अहमदशाह अब्दाली का सबसे महत्त्व-पूर्ण आक्रमण सन् १७६१ में हुआ। इस आक्रमण का उद्देश्य पंजाब से मराठों की सत्ता का अन्त करना था। अहमदशाह अब्दाली पहले के आक्रमणों द्वारा पंजाब को अपने आधिपत्य में ला चुका था। पर अब मराठों ने उसकी ओर से शासन करने वाले पंजाब के सूबेदार को परास्त कर वहाँ अपना सूबेदार नियत कर दिया था। १७६१ के आक्रमण में अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब के मराठा सूबेदार को परास्त किया, और दिल्ली को एक बार फिर अपने कब्जे में कर लिया। जब यह समाचार मराठों को मालूम हुआ, तो उन्होंने अब्दाली का मुकाबला करने के लिए बड़ी भारी तैयारी की। सदाशिवराव भाऊ और पेशवा बालाजी बाजीराव के पुत्र विश्वासराव ने बीस हजार घुड़सवार, दस हजार पदाति और एक बड़ा तोपखना लेकर दिल्ली की तरफ प्रस्थान किया। तोपखाने का सेनापति इब्राहीम गर्दे था, जो अपने तोपखाने के कारण दक्षिण में बहुत नाम पैदा कर चुका था। सब मराठे राजा अपनी-अपनी सेनाएँ लेकर पेशवा की सहायता के लिए आए। अनेक राजपूत राजाओं ने भी अब्दाली के विरुद्ध

युद्ध में मराठों के साथ सहयोग किया। पहले दिल्ली की विजय की गयी। बारहवीं सदी के अन्तिम भाग से शुरू कर जो दिल्ली साढ़े पांच सदी से भी अधिक समय तक निरन्तर मुसलिम सम्राटों के कब्जे में रही थी, अब अठारवीं सदी के मध्य भाग में उस पर मराठों का आधिपत्य स्थापित हो गया। पेशवा के पुत्र विश्वासराव को दिल्ली का 'मराठा-सम्राट' उद्घोषित करने की योजना बनाई गयी। निःसन्देह, इस समय मराठों की शक्ति उत्कर्ष की चमर सीमा पर पहुँच गयी थी।

अहमदशाह अब्दाली ने मराठों का मुकाबला करने के लिए पूर्ण शक्ति के साथ तैयारी की थी। १७६१ ई० समाप्त होने से पूर्व ही पानीपत के रणक्षेत्र में अब्दाली और मराठों की सेनाओं में लड़ाई हुई। सदाशिवराव भाऊ ने अपने उद्दण्ड व्यवहार द्वारा जाट और राजपूत लोगों को नाराज कर दिया था। अकबर ने हिन्दुओं के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया था, उसके कारण हिन्दुओं नें मुगल-राजवंश के प्रति आदर का भाव था। औरंगजेब की हिन्दू विरोधी नीति भी इस भावना को पूर्णतया नष्ट नहीं कर सकी थी। बाद के मुगल बादशाहों ने भी अपने शासन में राजपूतों व अन्य हिन्दुओं को ऊँचे पद दिये थे, और हिन्दू लोग मुगल बादशाहत व उसकी विविध संस्थाओं के प्रति सम्मान का भाव रखते थे। इस्लाम के धर्मस्थानों और रीति-रिवाजों का भी वे आदर करते थे। सदाशिवराज भाऊ ने दिल्ली के लाल किले और जामा मस्जिद आदि के प्रति जो असम्मान प्रदर्शित किया, वह राजपूतों और जाटों को अच्छा नहीं लगा। इसी लिये पानीपत के युद्ध (१७६१) में इन लोगों ने मराठों का साथ नहीं दिया। युद्ध में मराठे लोग परास्त हुए। सदाशिवराव, विश्वासराव और अन्य अनेक मराठे सरदार युद्ध में मारे गये। पानीपत की इस पराजय से मराठा-शक्ति को बहुत धक्का लगा। उनके उत्कर्ष का काल अब समाप्त हो गया था।

इस समय भारत में एक अन्य विदेशी जाति अपनी शक्ति का विकास करने में तत्पर थी। इसने हिन्दुकुश पर्वतमाला को पार कर उत्तर-पश्चिम की ओर से भारत में प्रवेश नहीं किया था। यह समुद्र के मार्ग से भारत में आई थी। इसका नाम अंग्रेज जाति है। मराठों के निर्बल पड़ने पर अंग्रेजों की शक्ति भारत में तेजी के समय बढ़ने लगी, और अठारहवीं सदी का अन्त होने तक वे भारत की प्रधान राजशक्ति बन गये।

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारत की राजशक्ति जिन विविध जातियों व राजवंशों के हाथों में थी, उनका निर्देश इस ढंग से किया जा सकता है।—

(१) मुसलिम—(क) दिल्ली में मुगल बादशाहों का शासन था, पर उनकी शक्ति बहुत क्षीण दशा में थी। (ख) अवध में एक पृथक् व स्वतन्त्र मुसलिम राजवंश की स्थापना हो गयी थी, जो नाममात्र को मुगल बादशाह की अधीनता स्वीकृत करता था। (ग) बंगाल के सूबेदार भी मुसलिम थे, पर क्रियात्मक दृष्टि से वे स्वतन्त्र थे। (घ) दक्षिणापथ (दक्खन) के सूबे का शासन अठारहवीं-सदी के शुरू में निजामुलमुल्क के सुपुर्द किया गया था, जो मुगल बादशाह की निर्बलता से लाभ उठाकर स्वतन्त्र रूप से आचरण करने लगा था। चौथ और सरदेशमुखी प्रदान कर मराठों को सन्तुष्ट रखते हुए दक्खन का यह निजाम अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम रखे हुए था।

(२) मराठे—शिवाजी द्वारा मराठा शक्ति का किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ

और पेशवाओं ने उसे किस प्रकार विकसित किया, इस विषय पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। अठारहवीं सदी के मध्य भाग में मराठों की शक्ति उत्कर्ष की चरम सीमा को पहुँच चुकी थी, और १७६१ के बाद भी ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर, बड़ोदा व महाराष्ट्र में उनके स्वतन्त्र व शक्तिशाली राज्य कायम थे। अपने 'स्वराज्य' के अतिरिक्त बहुत-से 'मुगलिया' प्रदेशों पर भी मराठों का आधिपत्य था, जिनसे कि वे चौथ और सरदेशमुखी वसूल करते थे।

(३) राजपूत—मुगल बादशाहत के उत्कर्ष-काल में भी राजपूताना के राजपूत राज्य अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। मुगल सेनाओं के सेनापति विभिन्न सूबों के सूबेदारों के रूप में राजपूत राजाओं की शक्ति व वैभव में बहुत वृद्धि हो गयी थी। औरंगजेब के बाद राजपूताने के विविध राजा क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र हो गये थे, और मुगल बादशाहत की राजनीति में खुलकर खेलने लगे थे।

(४) सिक्ख—औरंगजेब के शासन काल में ही गुरु गोविन्दसिंह के नेतृत्व में सिक्खों ने अपना सैनिक संगठन बना लिया था। १७६१ में पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों के परास्त हो जाने पर पंजाब में अपनी राजशक्ति के विकास का उन्हें अनुपम अवसर मिला, और १७६७ में अहमदशाह अब्दाली को परास्त कर उन्होंने पंजाब में अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये। अठारहवीं सदी के अन्त तक सिक्ख पंजाब की प्रधान राजशक्ति बन चुके थे।

(५) जाट—अठारहवीं सदी के मध्य तक दिल्ली और आगरा के समीपवर्ती प्रदेशों में अनेक छोटे-छोटे जाट राज्य स्थापित हो गये थे, और १६७१ में मराठों के परास्त हो जाने के बाद उन्हें अपने उत्कर्ष का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ। सूरजमल नाम के वीर नेता के नेतृत्व में उन्होंने आगरा, धौलपुर, मैनपुरी, हाथरस, अलीगढ़, इटावा, मेरठ, रोहतक, फर्रुखनगर, मेवात, रिवाड़ी, गुड़गांव और मथुरा के प्रदेशों पर अधिकार कर लिया, और भरतपुर को राजधानी बनाकर अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जाटों का यह राज्य भी भारत की प्रधान राजशक्तियों में अन्यतम था।

भारत की यह राजनीतिक दशा थी, जब कि अंग्रेजों ने इस देश में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ किया। यद्यपि अंग्रेज अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में ही इस देश में अपना पैर जमा चुके थे, पर उन के आधिपत्य का विस्तार मुख्यतया अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में हुआ। इस विदेशी राजशक्ति को यहाँ अपने आधिपत्य को स्थापित करने में जो सफलता हुई, उसका प्रधान कारण यही था, कि औरंगजेब के बाद मुगल-साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया था, और इस देश में कोई एक ऐसी प्रबल राजशक्ति नहीं रह गयी थी, जो इन विदेशी व विधर्मी लोगों से भारत की रक्षा करने में समर्थ हो सकती।

(४) मुगल-युग की विशेषताएं

इस अध्याय में अब तक हमने मुगल-युग के भारतीय इतिहास को अत्यन्त संक्षेप के साथ लिखा है। इसका प्रयोजन यह है, कि मुगल-युग की सभ्यता और संस्कृति को

भली-भाँति समझने में सहायता मिले। इससे पूर्व कि हम इस युग की सभ्यता, संस्कृति, धर्म, शासन-प्रबन्ध, भाषा, साहित्य आदि पर प्रकाश डालें, यह उपयोगी होगा कि मुगल साम्राज्य की कतिपय ऐसी विशेषताओं का निदर्शन करें, जिनका सम्बन्ध इस इस युग के राजनीतिक इतिहास के साथ है।

(१) **शक्तिशाली केन्द्रीय शासन**—मुगल-सम्राटों ने भारत के इतिहास मे वही कार्य किया, जो इंगलैण्ड में ट्यूडर वंश के राजाओं ने और फ्रांस में बूर्बों वंश के लुई चौदहवें आदि राजाओं ने किया था। संसार के विविध देशों के मध्यकालीन इतिहास की यह विशेषता रही है, कि सामन्त पद्धति के कारण देश में शान्ति और व्यवस्था का अभाव होकर अराजकता की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ती रही हैं। गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत में भी इसी प्रकार के मध्ययुग का प्रारम्भ हो गया था, जब कि देश में कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो विविध राजवंशों और सामन्तों को पूर्णतया अपना वशवर्त्ती बनाकर शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में समर्थ रहा हो। सातवीं सदी से बारहवीं सदी तक के हिन्दू राजा निरन्तर आपस में लड़ते रहे, और विजय यात्राओं द्वारा देश में अराजकता उत्पन्न करते रहे। तेरहवीं, चौदहवीं और पन्द्रहवीं सदियों में अफगान सुलतानों के शासन काल में भी यही दशा रही। पर मुगल सम्राटों के शासन काल में इस स्थिति में परिवर्त्तन आया, और कम से कम विन्ध्याचल के उत्तर के प्रदेशों में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित हो गया। अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब का यही प्रयत्न रहा, कि वे सारे भारत को जीतकर अपने शासन में ले आएँ। इसमें उन्हें सफलता भी हो जाती, यदि औरंगजेब हिन्दूविरोधी नीति का अनुसरण न करता।

मुगल बादशाहों ने भारत की विविध राजशक्तियों को अपना वशवर्ती बनाकर उन्हें अपना सहायक बना लिया था। अकबर से पूर्व सैकडों राजा, महाराजा, मुसलिम सरदार और सुलतान भारत के विविध प्रदेशों पर शासन करते थे, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। दिल्ली के अफगान सुलतानों के शासनकाल में इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया था। अलाउद्दीन खिलजी जैसा दिग्विजयी सुलतान भारत के बहुत बड़े भाग की विजय करने में समर्थ हुआ था। पर उसकी विजयों के कारण न भारत की विविध राजशक्तियाँ अफगान सुलतानों की वशवर्ती हुई थीं, और न उनके पारस्परिक संघर्ष का ही अन्त हुआ था। पर अकबर की नीति के कारण भारत के विविध राजवंश पूर्णतया मुगल बादशाह के वशवर्ती हो गये थे। अपने छोटे-छोटे राज्यों में स्वतन्त्र राजा के समान शासन करने की अपेक्षा वे आगरा और दिल्ली के राजदरबार में मनसबदार के रूप में जीवन व्यतीत करना अधिक सम्मानास्पद समझने लगे थे। मध्य काल की सामन्त पद्धति का ह्रास होकर अब यह स्थिति आ गयी थी, कि पुराने उग्र व स्वतन्त्रताप्रिय राजा और सरदार मुगल दरबार में अमीर-उमराओं के रूप में अदब कायदे के साथ खड़े होने को गौरव की बात मानने लगे थे। इनकी स्थिति केवल अपनी तलवार पर आश्रित न रहकर बादशाह की कृपा दृष्टि पर निर्भर हो गयी थी।

(२) **राष्ट्रीय शासन**—मुगल बादशाह का शासन किसी सम्प्रदाय या जातिविशेष का शासन नहीं था। वह सच्चे अर्थों में 'राष्ट्रीय' शासन था, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से उन्नति का अवसर था। केवल राजपूत राजा

ही नहीं, अपितु बीरबल जैसे मध्यवर्ग के लोग भी अपनी योग्यता के कारण इस समय उन्नति करने में समर्थ हुए थे।

(३) उदारतापूर्ण शासन—मुगल-दरबार के वैभव और समृद्धि से आकृष्ट होकर बहुत-से विदेशी लोग इस समय भारत में आते रहे, और मुगल बादशाहों ने उन्हें उदारतापूर्वक अपने दरबार या शासन-प्रबन्ध में स्थान दिया। विशेषतया, पर्शिया, मिस्र, अरब आदि मुसलिम देशों के बहुत-से विद्वान व वीर इस युग में भारत आए और उनके सम्पर्क से यहाँ के ज्ञान व सैनिक शक्ति की वृद्धि में पर्याप्त सहायता मिली।

(४) विदेशी व्यापार में वृद्धि—भारत में एक सुव्यवस्थित शासन की स्थापना के कारण इस देश के विदेशी व्यापार में भी बहुत वृद्धि हुई, और स्थल व जल दोनों मार्गों से भारत का विदेशी व्यापार बहुत उन्नत हुआ। इस युग में भारत का विदेशी व्यापार केवल मुस्लिम देशों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच, ब्रिटिश आदि यूरोपियन लोग भी व्यापार को दृष्टि में रखकर भारत आने जाने लगे। मुगल बादशाह इन यूरोपियन व्यापारियों का स्वागत करते थे, और उन्हें व्यापार-विषयक सब प्रकार की सुविधाएं प्रदान करते थे।

(५) बारूद का प्रयोग—बारूद और तोपखाने का प्रवेश बाबर द्वारा भारत में हुआ। मुगल-सम्राट् जो इस देश के बड़े भाग पर अपना सुव्यवस्थित शासन स्थापित कर सके, उसमें उनकी युद्धनीति व बारूद का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण कारण थे। मुगलों का सैन्य-संगठन बहुत उत्कृष्ट था, और उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति को इतना अधिक बढ़ा लिया था, कि कुछ समय के लिये भारत में उनका कोई भी प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया था।

(६) राष्ट्रीय एकता—भारत में राष्ट्रीय एकता के विकास में मुगल-साम्राज्य ने बहुत सहायता पहुँचाई। हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी इस युग में भारत की प्रधान भाषा बन गयी। उत्तरी भारत के बड़े भाग में समझी व बोली जाने वाली हिन्दी भाषा में पर्शियन शब्दों का समावेश होने से इस युग में एक ऐसी भाषा का विकास हुआ, जो न केवल उत्तरी भारत में सर्वत्र प्रयुक्त होने लगी, अपितु मुस्लिम विजेता जिसे दक्षिणी भारत में भी अपने साथ ले गये। इस भाषा का प्रादुर्भाव अफगान युग में ही हो चुका था। पर मुगलकाल में इसका विशेष रूप से विकास हुआ। इस राष्ट्रीय भाषा को पर्शियन लिपि में लिखने पर उर्दू कहते थे, और नागरी लिपि में लिखने पर हिन्दी। पर इसे हिन्दू और मुसलमान समान रूप से प्रयोग में लाते थे। दक्षिण में कितने ही मुसलमान कवियों ने इसमें काव्य की रचना की, और अब्दुर्रहीम खानखाना जैसे मुसलमान कवि (अकबर के समय में) ने इसमें कितनी ही कवितायें बनाईं।

(७) शान्ति और व्यवस्था का युग—मुगलों के शासन में भारत में जो शान्ति और व्यवस्था कायम हुई, उसके कारण इस देश की बहुत समृद्धि हुई। कला, भवन-निर्माण, संगीत साहित्य, कविता, धर्म आदि सभी क्षेत्रों में इस समय भारत ने असाधारण रूप से उन्नति की।

अट्ठाईसवां अध्याय

मुगल युग का भारत

(१) शासन-व्यवस्था

भारत के इतिहास में मुगल युग की शासन-व्यवस्था का बहुत अधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है, कि इस समय देश का शासन जिस ढंग से संगठित हुआ था उसके अनेक तत्त्व ब्रिटिश युग में भी कायम रहे, और अब तक भी उसके अवशेष विद्यमान हैं। शहरों के कोतवाल, मालगुजारी वसूल करने वाले तहसीलदार, कानूनगो और पटवारी उस युग का स्मरण दिलाने के लिये पर्याप्त हैं, जबकि भारत में मुगल सम्राटों का शासन था।

मुगल-युग की शासन-व्यवस्था का निर्माण अकबर के समय में हुआ था। यद्यपि मुगलों के पहले दो बादशाह बाबर और हुमायूं थे, पर वे अपने राज्य को सुव्यवस्थित रूप नहीं दे सके थे, क्योंकि उनका अधिकांश समय युद्धों में और भारत में अपना आधिपत्य स्थापित करने में ही व्यतीत हो गया था। मुगल साम्राज्य को सुव्यवस्थित रूप देने और उसके शासन को भली-भांति संगठित करने का प्रधान श्रेय अकबर को प्राप्त है। पर उससे भी पूर्व शेरशाह सूरी ने दिल्ली को हुमायूं की अधीनता से मुक्त कर जब उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य का विस्तार किया, तो उसने अपने शासन को सुसंगठित और सुव्यवस्थित करने पर भी विशेष रूप से ध्यान दिया। शेरशाह सूरी ने मालगुजारी वसूल करने व विविध राजकर्मचारियों द्वारा देश के शासन की जिस व्यवस्था का सूत्रपात किया था, आगे चलकर अकबर ने उसी को विकसित किया। अतः मुगल शासन पद्धति को अनेक अंशों में शेरशाह द्वारा स्थापित व्यवस्था का ही विकसित रूप मानना चाहिये।

शासन का स्वरूप—मुगलों द्वारा स्थापित शासन-पद्धति के स्वरूप को भली-भांति समझने के लिये उसकी निम्नलिखित विशेषताओं को ध्यान में रखना आवश्यक है—

(१) मुगल आक्रान्ता भारत के लिये विदेशी थे। वे धर्म से मुसलमान थे, और पर्शिया तथा अरब के शासन-सम्बन्धी सिद्धान्तों से भली-भांति परिचित थे। पर उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि भारत की शासन-सम्बन्धी परम्पराओं की सर्वथा उपेक्षा कर मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुसार इस देश का शासन कर सकते। इसलिये उनकी शासन-व्यवस्था मुसलिम राज्य के सिद्धान्तों और भारत की परम्परागत शासन-विधि के समन्वय का परिणाम थी। भारत में ग्राम-संस्थाओं और शिल्पियों व व्यापारियों के आर्थिक संगठनों (श्रेणी और निगम) का बहुत महत्त्व था। अफगान युग में भी स्थानीय स्वशासन की इन परम्परागत संस्थाओं का विनाश नहीं हुआ था। मुगल युग में भी ये पूर्ववत् कायम रहीं, और सर्वसाधारण जनता अपने साथ सम्बन्ध रखने

वाले मामलों का पुरानी परम्परा के अनुसार स्वयं शासन करती रही। भारत की विविध जातियों व विरादरियों में जो कानून व प्रथायें पुराने समय से चली आ रही थीं, मुगलों ने उनमें हस्तक्षेप नहीं किया। उत्तराधिकार, विवाह, स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध आदि सामाजिक मामलों के वे कानून ही कायम रहे, जो विविध जातियों में चिरकाल से चले आते थे। पर केन्द्रीय शासन और विविध सूबों के शासन की व्यवस्था करते हुए मुगल बादशाहों ने उस शासन-विधि को अपनी दृष्टि में रखा, जो ईरान, ईराक, मिस्र आदि मुसलिम देशों में विद्यमान थी, और जिससे वे भली-भांति परिचित थे।

(२) मुगल-शासन का स्वरूप सैनिक था। उसकी सत्ता सैन्य-शक्ति पर आश्रित थी। अतः प्रत्येक उच्च पदाधिकारी के लिये यह अनिवार्य था, कि सेना में उसका उच्च स्थान हो। ये कर्मचारी 'मनसबदार' कहाते थे। मनसब मुगल-सेना एक ओहदा होता था, और राज्य के प्रत्येक कर्मचारी के लिये यह आवश्यक था, कि सेना में वह अपना ओहदा (मनसब) रखे। इन मनसबदारों के दसहजारी, पाँच-हजारी, हजारी आदि कितने ही वर्ग थे। सबसे छोटा मनसबदार दस सैनिकों का नायक होता था, और सबसे बड़ा दस हजार सैनिकों का। राज्य के दीवान, बख्शी, काजी, मुहतसिब आदि सब उच्च पदाधिकारी सेना में भी 'मनसबदार' की स्थिति रखते थे। केवल बड़े पदाधिकारी ही नहीं, अपितु राज्य के मुनीम आदि छोटे कर्मचारी भी मुगल-सेना में ओहदा रखते थे। विविध कोटि के इन मनसबदारों के लिये यह आवश्यक था, कि वे अपनी स्थिति के अनुसार सैनिकों व घुड़सवारों की एक निश्चित संख्या अपने अधीन रखें, और अपने वेतन से उनका खर्च चलाएं। मनसबदारों को वेतन या तो नकद मिलता था, और या उसके बदले में उन्हें जागीर दे दी जाती थी, जिसकी आमदनी से वे अपना और अपने सैनिकों का खर्च चलाते थे।

(३) मुगल-सरकार जनता के हित और कल्याण के लिये शिक्षणालय तथा अस्पताल आदि खुलवाना अपने कार्यक्षेत्र से बाहर की बात समझती थी। इस युग में संसार के विविध देशों के राजा देश में शान्ति स्थापित रखना और बाह्य आक्रमणों से उसकी रक्षा करना ही अपना प्रधान कर्त्तव्य समझते थे। उनके राज्य-शासन का स्वरूप 'पुलिस स्टेट' के सदृश था। जनता के हित व कल्याण के लिये जिस प्रकार के उपायों का अवलम्बन करना आजकल के राज्य अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वैसा इस युग में नहीं समझा जाता था। ये कार्य या तो इस युग के धार्मिक सम्प्रदाय करते थे, और या सम्पन्न व्यक्ति। मुगल-बादशाहों ने भी शिक्षा, साहित्य आदि को प्रोत्साहन देने के लिये धन का उदारतापूर्वक व्यय किया। पर इनका यह कार्य राजा व बादशाह की स्थिति में न होकर एक सम्पन्न या धनी व्यक्ति की स्थिति में ही था। इस युग के अन्य सम्पन्न पुरुषों के समान मुगलबादशाहों ने भी विद्वानों और साहित्यिकों का संरक्षण व प्रोत्साहन किया। पर यह करते हुए उन्होने इस कार्य को अपना राजकीय कर्त्तव्य नहीं समझा। बादशाह की स्थिति में वह अपना प्रधान कर्त्तव्य यही समझते थे, कि देश की आभ्यन्तर व बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें, और सेना की सहायता से अपने आधिपत्य के क्षेत्र का विस्तार करने में तत्पर रहें।

(४) मुगल बादशाह पूर्णतया निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। उनकी शक्ति

को मर्यादित करने के लिये कोई ऐसी राज-सभाएं व अन्य संस्थाएं नहीं थीं, जो उनकी इच्छा पर अंकुश रख सकतीं। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य-कार्य में उनकी सहायता करने के लिए मन्त्रियों की सत्ता थी, और दीवाने-खास में उपस्थित अमीर-उमरा और मनसबदार लोग उसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर परामर्श दे सकते थे। पर इस परामर्श को मानना न मानना राजा की अपनी इच्छा पर निर्भर था। यही कारण है, कि अकबर ने हिन्दुओं के प्रति जिस नीति का अनुसरण किया, औरंगजेब ने उसे आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया। पर साथ ही यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है, कि बादशाह की निरंकुशता की एक सीमा भी थी। वह ऐसी नीति का अनुसरण नहीं कर सकता था, जो उसके मनसबदारों को सर्वथा अस्वीकार्य हो। इसी कारण अकबर को 'दीने-इलाही' के प्रचार में सफलता नहीं हुई, और इसीलिये औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी नीति ने मुगल-साम्राज्य को खण्ड-खण्ड कर दिया।

(५) इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार राजा न केवल अपने राज्य का स्वामी होता है, अपितु साथ ही मुसलिम धर्म का अधिपति भी होता है। इसी लिये हजरत मुहम्मद के उत्तराधिकारी खलीफा लोग जहाँ अरब साम्राज्य के स्वामी थे, वहाँ साथ ही सम्पूर्ण मुसलिम जगत् के भी प्रधान थे। राजा और पोप दोनों के पद उनमें एकीभूत हो गये थे। साथ ही, मुसलिम विधान-शास्त्र के अनुसार यह भी आवश्यक है, कि राजा शरायत के अनुसार शासन करे। मुसलिम राज्य में राजा मुसलिम प्रजा का शासक होता है। गैर-मुसलिमों की सत्ता या तो मुसलिम राज्य स्वीकार ही नहीं करता, या उनके जान-माल की रक्षा के बदले में उनसे एक विशेष कर वसूल करता है, जिसे जजिया कहते हैं। इसी लिये तुर्क-अफगान युग में हिन्दुओं को जजिया कर देना पड़ता था। पर अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ ने मुसलिम राज्य के इस सिद्धान्त की उपेक्षा की, और शासन के क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को दूर कर दिया। इसी दृष्टि से उनके शासन को 'राष्ट्रीय' समझा जाता है, क्योंकि उसमें हिन्दुओं और मुसलमानों की एक समान स्थिति थी।

(६) जिस प्रकार मुगल बादशाह राज्य-शासन के सर्वोच्च अधिकारी थे, वैसे ही न्याय के क्षेत्र में भी उनकी सत्ता सर्वोपरि थी। वे अपनी इच्छा के अनुसार 'शासन' (राजाज्ञा) जारी करते थे, और उनको पालन करना सम्पूर्ण प्रजा के लिए आवश्यक था। विवादग्रस्त बातों का अन्तिम निर्णय राजा द्वारा ही किया जाता था, और काजी आदि विविध न्याय-सम्बन्धी अधिकारियों के निर्णयों के विरुद्ध बादशाह की अदालत में अपील की जा सकती थी। दीवाने-आम में जनता को यह अवसर मिलता था, कि वह बादशाह की सेवा में अपने प्रार्थना-पत्र पेश कर सके। जहाँगीर ने आगरा के किले में स्थित शाहबुर्ज से लेकर यमुना के किनारे तक एक जंजीर लटकवा दी थी, जिसके सिरे पर घण्टियाँ बँधी हुई थीं। कोई भी व्यक्ति इस जंजीर को खींचकर बादशाह का ध्यान अपनी अर्जी की ओर आकृष्ट कर सकता था। पर मुगल काल का राजा न्यायप्रिय हो या नहीं, यह भी उसकी अपनी इच्छा और प्रवृत्ति पर ही निर्भर था। साथ ही, इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है, कि सर्वसाधारण जनता को अपने विवादग्रस्त विषयों के लिये बादशाह और उसके सूबेदारों की सेवा में उपस्थित

होने की विशेष आवश्यकता नहीं होती थी, क्योंकि ग्रामों, आर्थिक संगठनों और बिरादरियों की अपनी-अपनी पंचायतें इस युग में भी विद्यमान थीं, और बहुसंख्यक मामलों का निर्णय उन्हीं द्वारा होता था। जिन मामलों को आजकल दीवानी (सिविल) कहा जाता है, वे राजकीय न्यायालयों में बहुत कम पेश होते थे। उनका निर्णय प्रायः जनता की अपनी पंचायतों द्वारा ही होता था। फौजदारी के मामले और मुसलिम प्रजा के मामले काजी की अदालत में पेश होते थे, और प्रायः उन्हीं के बारे में बादशाह की सेवा में अर्ज की जाती थी।

(७) यद्यपि राज्य के आर्थिक जीवन में सरकार कोई विशेष दिलचस्पी नहीं रखती थी, पर अपनी अनेक प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसकी ओर से बहुत-से कारखाने खुले हुए थे, जिनमें बहुत-से शिल्पी और कर्मकर एकत्र होकर बड़े पैमाने पर आर्थिक उत्पत्ति का कार्य करते थे। मनसबदारों को साल में दो बार बादशाह की ओर से खिलत (पोशाक) दी जाती थी, और इन मनसबदारों की संख्या ११,००० से भी अधिक थी। इतने मनसबदारों के लिये खिलत तैयार करना साधारण बात नहीं थी। ये पोशाकें राजकीय कारखानों में ही तैयार की जाती थीं। इस प्रकार के कारखाने अफगान-युग में भी विद्यमान थे। वस्त्रों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र आदि भी राजकीय कारखानों में तैयार होते थे, जिनका संचालन बादशाह द्वारा नियुक्त दारोगा द्वारा किया जाता था। इस युग की सरकार के विविध कार्यों में इन कारखानों का संचालन अच्छा महत्वपूर्ण स्थान रखता था।

सरकार के विभाग—मुगल बादशाहत में सरकार के प्रधान राजपदाधिकारी निम्नलिखित थे, जो अपने-अपने विभाग के मुख्य अध्यक्ष होते थे—(१) दीवान—राजकीय आय को प्राप्त करना और उसका हिसाब रखना दीवान का कार्य होता था। बादशाह के बाद राज्य में उसकी स्थित सबसे ऊँची होती थी। (२) खानसामा—यह राजकीय अन्तःपुर व दरबार का प्रधान अधिकारी होता था। प्राचीन भारत में जो कार्य 'आन्तर्वंशिक' का था, वही मुगल काल में खानसामा का था। अकबर के अन्तःपुर में ५००० के लगभग स्त्रियाँ थीं, जो सब उसकी विवाहित पत्नियाँ नहीं थीं। यही दशा अन्य मुगल बादशाहों के अन्तःपुरों की भी थी। इतने विशाल अन्तःपुरों की सुव्यवस्था के लिए एक पृथक् सरकारी विभाग की सत्ता अनिवार्य थी। यही कारण है, कि इस युग में खानसामा की स्थिति बहुत महत्त्वपूर्ण थी। (३) बख्शी—सेना के खर्च का हिसाब रखना और विविध मनसबदारों को नियमित रूप से वेतन आदि प्रदान करना बख्शी का कार्य था। (४) काजी—यह न्याय विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। (५) सदर-उस्-सदूर—धार्मिक संस्थाओं को जो सहायता बादशाह की तरफ से दी जाती थी, या उसकी तरफ से गरीबों व अनाथों के पालन के लिये जो खर्च होता था, उसकी व्यवस्था करना सदर-उस्-सदूर का कार्य था। (६) मुहतसिब—जनता के नैतिक कार्यों पर नियन्त्रण रखना इस अधिकारी के विभाग के अधीन था। इन छः मुख्य पदाधिकारियों के अतिरिक्त (७) दारोगा-ए-तोपखाना और (८) दारोगा-डाक-चौकी नामक दो अन्य भी उच्च पदाधिकारी थे, जो राज्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे, यद्यपि उनकी स्थिति पहले छः अधिकारियों की तुलना में हीन

मानी जाती थी।

मुगल-युग के अन्य उच्च राजपदाधिकारी निम्नलिखित थे—(१) टकसाल का दारोगा, जिसका काम मुद्रा-पद्धति की व्यवस्था करना और सिक्कों को ढलवाना होता था। (२) मीर-माल, जिसकी स्थिति वर्त्तमान समय के 'लार्ड प्रिवी सील' के सदृश होती थी। (३) मुस्तौफी या आडिटर-जनरल। (४) नाजिरे-बुयुनात या सरकारी कारखानों का दारोगा। (५) मुशरिफ, जो भूमिकर विभाग का सचिव होता था। (६) मीर-बहरी या नौसेनाध्यक्ष। (७) मीर-बर्र या जंगलात के महकमे का अध्यक्ष। (८) वाकाए नवीस—राज्य में जो कुछ घटनाएँ घटित हो रही हैं, उन सबसे बादशाह को अवगत कराना इस पदाधिकारी का काम होता था। (९) मीर-अर्ज—यह जनता के प्रार्थनापत्र बादशाह की सेवा मे उपस्थित करता था। (१०) मीर-मंजिल या क्वार्टर-मास्टर-जनरल। (११) मीर-तोजक—इसका कार्य शाही दरबार के साथ सम्बन्ध रखने वाली विविध विधियों व कायदों के यथावत् अनुसरण व पालन की व्यवस्था कराना होता था।

मुगल बादशाह के केन्द्रीय शासन में ये अठारह राजकर्मचारी सर्वप्रमुख होते थे, और इन्हीं की सहायता से बादशाह राज्य-शासन का संचालन किया करता था। ये अपने कार्यों के लिये केवल बादशाह के प्रति ही उत्तरदायी होते थे, और तभी तक अपने पदों पर रह सकते थे, जब तक कि बादशाह का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे।

केन्द्रीय सभाओं का अभाव—मुगल बादशाहों के शासन में कोई ऐसी केन्द्रीय सभाएं नहीं थीं, जिनसे परामर्श लेना बादशाह के लिए अनिवार्य हो। पर वह अपनी इच्छा के अनुसार मन्त्रियों और राज्य के मनसबदारों से समय-समय पर परामर्श करता रहता था। उनके परामर्श को बादशाह स्वीकार करे या नहीं, यह उसकी इच्छा पर ही निर्भर था। अफगान-युग के बारे-खास और बारे-आम के समान दीवाने-खास और दीवने-आम मुगल-युग में भी विद्यमान थे। दीवाने-आम में बादशाह सर्वसाधारण जनता के प्रार्थना-पत्रों पर विचार करता था, और दीवाने-खास में वह राज्य के उच्च पदाधिकारियों से परामर्श करता था। दीवाने-खास में कौन लोग उपस्थित हों और वे किस क्रम से किस जगह पर बैठें, इन सब बातों के सम्बन्ध में विशद रूप से नियम बने हुए थे। पर ये संस्थाएं बादशाह की निरंकुशता व स्वेच्छाचारिता को किसी भी रूप से नियन्त्रित नहीं कर सकती थीं। मुगल-युग के राजा पूर्ण रूप से 'एकतन्त्र' व 'एकराट्' होते थे।

बादशाह की सर्वोच्च सत्ता—मुगल-युग के बादशाह न केवल शासन के क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता रखते थे, पर धर्म की दृष्टि से भी उनका बहुत ऊंचा स्थान था। इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार [मुसलिम लोग उन्हें अपना 'खलीफा' भी मानते थे, और उन्हीं के नाम से 'खुतबा' भी पढ़ा जाता था। अकबर जैसे शक्तिशाली बादशाह ने अपने को भारत के सब निवासियों का धर्मगुरु बनाने का भी प्रयत्न किया था। उसकी अनेक उपाधियों में 'जगत्-गुरु' भी एक थी। जिस प्रकार लोग प्रातःकाल सूर्य के दर्शन करते हैं, या अन्य देवी देवताओं के दर्शन करके अपने कार्य को प्रारम्भ करते हैं, वैसे ही बादशाह के रूप में जो प्रत्यक्ष देवता विद्यमान था, उसके दर्शन करना भी बहुत-

से लोग अपना पुण्य कर्त्तव्य मानते थे। राजमहल के झरोखे पर खड़ा होकर बादशाह सूर्योदय के दो घड़ी बाद जनता को दर्शन देता था, और बहुत-से लोग झरोखे के नीचे के विशाल मैदान में इसी उद्देश्य से एकत्र होते थे, ताकि उन्हें बादशाह के दर्शनों का पुण्य लाभ हो सके। अकबर के समय में एक ऐसा भी सम्प्रदाय संगठित हो गया था, जिसके अनुयायी बादशाह का दर्शन किये बिना न भोजन ही खाते थे, और न पानी ही पीते थे। इस सम्प्रदाय को 'दर्शनिया' कहते थे। मुगल बादशाहों के अतुल प्रताप के कारण लोगों ने उनके प्रति देवत्व भावना का विकास कर लिया था। प्राचीन युग के रोमन सम्राटों के समान अकबर, जहांगीर और शाहजहां जैसे बादशाह अपने को "दैवी" मानने लगे थे। यही कारण है, कि जहांगीर की मलका ने भी 'जगत्-गुसांइनी' की उपाधि धारण कर ली थी।

अफगान-युग में विविध प्रान्तों के नायब सुलतान प्रायः वही स्थिति रखते थे, जो दिल्ली के सुलतान की होती थी। पर मुगल-युग में बादशाह की स्थिति प्रान्तीय सूबेदारों की तुलना में बहुत ऊँची मानी जाती थी। बादशाह को कतिपय ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जो साम्राज्य के किसी भी सूबेदार, सिपहसालार या अधीनस्थ राजा को प्राप्त नहीं थे। इनमें से कुछ विशेषाधिकारों का उल्लेख करना उपयोगी है—(१) राजमहल के झरोखे पर खड़े होकर प्रजा को दर्शन देने का अधिकार केवल बादशाह को था। (२) हथेली को जमीन से छुआने के बाद फिर माथे पर लगाकर जो 'तसलीम' की जाती है, वह केवल बादशाह के प्रति ही की जा सकती थी, किसी अन्य व्यक्ति के प्रति नहीं। (३) जब बादशाह यात्रा के लिए चलता था, तो नगाड़े बजाये जाते थे। इसी प्रकार जब बादशाह दरबार में हाजिर होता था, तो दमदमा बजाया जाता था। नगाड़ा और दमदमा केवल बादशाह के लिये ही बज सकते थे। (४) किसी सूबेदार को यह अधिकार नहीं था, कि वह किसी व्यक्ति को कोई उपाधि या खिताब दे सके। यह अधिकार केवल बादशाह को प्राप्त था। (५) जब बादशाह सवारी पर चलता हो, तो कोई आदमी उसके साथ सवारी पर नहीं चल सकता था। यदि बादशाह पालकी पर हो, तो उसका लड़का घोड़े पर चढ़ सकता था। पर अन्य सब लोगों के लिये पैदल चलना आवश्यक था। यह अधिकार केवल बादशाह को ही प्राप्त था। मनसबदार व राजा यदि सवारी पर जाते हों, तो अन्य लोग भी सवारी का प्रयोग कर सकते थे। (६) विकलांग करने की आज्ञा देने का अधिकार केवल बादशाह को था। (७) हाथियों की लड़ाई केवल बादशाह के सामने ही कराई जा सकती थी। मनसबदारों को यह अधिकार नहीं था, कि वे आमोद-प्रमोद के लिये हाथियों को लड़ा सकें। इसी प्रकार की अन्य अनेक बातों के कारण मुगल-युग में बादशाहों की स्थिति अन्य सब लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक ऊँची बनी हुई थी, क्योंकि सर्वसाधारण लोगों की दृष्टि में इन बातों का बहुत महत्त्व था।

प्रान्तीय शासन—मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद अकबर ने अपने साम्राज्य को बारह सूबों में विभक्त किया था। उसकी मृत्यु के समय तक मुगल सूबों की संख्या १२ से बढ़कर १५ हो गयी थी, क्योंकि कतिपय नये प्रदेश साम्राज्य की अ[illegible]नता में आ गये थे। इन पन्द्रह सूबों के नाम निम्नलिखित थे—आगरा, इलाहाबाद, अवध

दिल्ली, लाहौर, मुलतान, काबुल, अजमेर, बंगाल, बिहार, अहमदाबाद, मालवा, बरार, खानदेश और अहमदनगर। जहांगीर के समय में मुगल सूबों की संख्या १७ हो गयी, और जब औरंगजेब के समय में मुगल-साम्राज्य चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर गया, तो उसके सूबों की संख्या २१ तक पहुँच गयी। मुगल साम्राज्य के सूबों का शासन करने के लिये जो पदाधिकारी नियत किये जाते थे, उन्हें 'नाजिम', 'सूबेदार', 'सिपहसालार', या 'साहिब-सूबा' कहते थे। क्योंकि सूबे का निजाम अपने क्षेत्र की मुगल-सेना का प्रधान सेनापति भी होता था, अतः उसे सिपहसालार भी कहा जाता था। नाजिम या सूबेदार अपने सूबे के शासन और सेना-दोनों का अधिपति होता था। उसके अधीन भी अनेक राजपदाधिकारी होते थे, जिनमें प्रमुख दीवान, बख्शी, काजी, सदर और वाकयानवीस थे। इन पदाधिकारियों की सूबे में वही स्थिति थी, जो केन्द्रीय शासन में इन्हीं नामों के पदाधिकारियों की होती थी। सूबेदार की नियुक्ति बादशाह द्वारा की जाती थी।

नाजिम या सूबेदार का प्रधान कार्य अपने सूबे में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखना समझा जाता था। मुगल बादशाहत का स्वरूप 'पुलीस राज्य' के सदृश था, अतः सूबेदारों से यही आशा की जाती थी, कि वे अपने क्षेत्र की आभ्यन्तर और बाह्य शत्रुओं से रक्षा करें। सार्वजनिक हित के कार्यों के प्रति इस युग के शासक उपेक्षावृत्ति रखते थे, अतः सूबेदार भी इन बातों की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। यदि वे विद्वानों को आश्रय देते, और ज्ञान, साहित्य आदि के संवर्धन के लिये कोई कार्य करते थे, तो उसे वे अपनी वैयक्तिक स्थिति में ही करते थे। सूबेदारों के अधीन अनेक फौजदार होते थे, जो सूबे के विभिन्न विभागों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने का कार्य करते थे।

मुगलों के शासन का प्रभाव मुख्यतया नगरों तक ही सीमित था, क्योंकि शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने की आवश्यकता विशेष रूप से वहीं पर होती थी। ग्रामों का प्रबन्ध पुराने युग से चली आ रही ग्राम संस्थाओं के ही हाथों में था, और इसके कारण सर्वसाधारण जनता को मुगल-शासकों के सम्पर्क में आने का बहुत कम अवसर मिलता था। जमीन की मालगुजारी देने के सम्बन्ध में किसानों का जिन कर्मचारियों से सम्पर्क होता था, उनके विषय में हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

सैन्य संगठन—मुगल युग की सेना के चार विभाग मुख्य थे—घुड़सवार सेना, पदाति सेना, तोपखाना और नौसेना। इनके अतिरिक्त हाथियों और ऊँटों के दस्ते भी होते थे, जो विशेष परिस्थितयों में प्रयोग में लाये जाते थे। सेना में सर्वप्रधान स्थान घुड़सवारों का था। इसी लिये विविध वर्गों के मनसबदारों के लिये यह आवश्यक था, कि वे घोड़ों की एक निश्चित संख्या अपने पास रखें, जिन्हें आवश्यकतानुसार राज्य के लिये प्रयुक्त किया जा सके। तोपखाने का भारत में प्रवेश बाबर के समय में हुआ था, और मुगल बादशाहों ने उसकी उन्नति पर बहुत ध्यान दिया था। औरंगजेब के समय तक मुगल-सेना में तोपखाने का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था, और युद्धों में बन्दूकों व तोपों का विशेष रूप से प्रयोग होने लगा था। तोपखाने के सब कर्मचारियों और सैनिकों को राज्य कोष से वेतन मिलता था। मनसबदारों के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। मुगल बादशाह के समय में नौसेना का भी अच्छा महत्त्व

था। इसके लिए एक पृथक् विभाग था, जिसके प्रधान अधिकारी को 'मीर-बहरी' कहते थे। इसके कार्य निम्नलिखित थे—(१) नदियों के पार उतरने के लिये सब प्रकार की नौकाओं का निर्माण करवाना, (२) युद्ध के काम आने वाले हाथियों को पार उतारने के लिए विशेष प्रकार की नौकाएं बनवाना (३) मल्लाहों को भरती करना और उन्हें नौकानयन सिखाना (४) नदियों का निरीक्षण करना, और (५) नदियों को पार करने के लिये घाटों पर कर को वसूल करना। इसके अतिरिक्त राज्य के पास ऐसे भी जहाज थे, जिनसे समुद्र यात्रा की जा सकती थी। पूर्वी बंगाल में ढाका में मुगलों ने ७६८ ऐसे जहाज तैनात किये हुए थे, जो सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे। इन जहाजों का प्रयोजन यह था, कि अराकान के लोगों के आक्रमणों से बंगाल के समुद्रतट की रक्षा की जा सके। सम्भवतः, इसी प्रकार के जहाजी बेड़े मुगल-साम्राज्य के पश्चिमी समुद्रतट पर भी रखे गये थे, यद्यपि मुगल-सेना में जंगी जहाजों का स्थान बहुत महत्त्व-पूर्ण नहीं था। इस युग में स्थल सेना का महत्त्व अधिक था, और मुगलों को अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसी की अधिक आवश्यकता भी पड़ती थी। इसी लिये मीर-बहरी का प्रधान कार्य नदियों के पार उतरने योग्य नौकाओं की व्यवस्था करना ही होता था, क्योंकि अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा करने व उसका विस्तार करने के लिये नदियों को पार करना बहुत आवश्यक था।

घुड़सवार और पदाति सेना का संगठन मनसबदारों के अधीन था। मनसब के सम्बन्ध में हम पहले भी लिख चुके हैं। मनसब का अभिप्राय है, पद या सेवा। सबसे छोटा मनसब दस सैनिकों का होता था, और सबसे बड़ा दस हजार का। दस और दस हजार के बीच में मनसबदारों के ३२ वर्ग थे, और प्रत्येक मनसबदार से यह आशा की जाती थी, कि वह सैनिकों और घोड़ों की एक निश्चित सख्या सदा अपने पास तैयार रखे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर सरकारी कार्य के लिये उसका उपयोग किया जा सके। मुगल-युग में इस प्रकार के मनसबदारों की कुल संख्या ११,५०० थी, जिनमें से ७५०० को अपने व अपने अधीनस्थ सैनिकों के खर्च के लिए वेतन मिलता था, और शेष ४००० को वेतन के बदले में जागीरें दी गई थीं, जिसकी आमदनी से वे अपना खर्च चलाते थे। पर सब मनसबदार अपने लिये नियत किये गये सैनिकों व घोड़ों को अवश्य ही अपने पास तैयार रखते हों, ऐसा नहीं था। बहुत-से मनसबदार इस विषय में प्रमाद भी करते थे, और अपने वेतन व जागीर की आमदनी का उपयोग अपने वैयक्तिक सुख के लिये करने में भी संकोच नहीं करते थे। अकबर ने इस सम्बन्ध में अनेक व्यवस्थाएं की थीं। उस द्वारा एक आज्ञा यह प्रकाशित की गयी थी, कि प्रत्येक मनसबदार अपने सैनिकों का बाकायदा रजिस्टर रखे, जिसमें सैनिक का नाम, उसके बाप का नाम, कौम, जन्म-स्थान व वैयक्तिक पहचान आदि सब बातें दर्ज हों। इसी प्रकार उनके पास जो घोड़े हों, उन्हें भी दाग कर रखा जाय, ताकि जरूरत पड़ने पर निरीक्षण करने में कठिनाई न हो। इन आज्ञाओं के बावजूद भी मनसबदार लोग प्रायः अपने कर्त्तव्य में शिथिलता करने से बाज नहीं आते थे।

यद्यपि मुगल-साम्राज्य की शक्ति का प्रधान आधार उसकी सेना थी, तथापि इस युग के सैन्य-संगठन को सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता। युद्धनीति के सम्बन्ध

में सब सैनिक एक नियन्त्रण का अनुसरण नहीं करते थे। धर्म, जाति व प्रदेश के अनुसार सैनिकों में बहुत भेद हो जाता था। साथ ही, सैनिक लोग अपने को बादशाह की सेवा में नियुक्त न समझकर अपने मनसबदार का सेवक समझते थे। इस दृष्टि से मुगल-सेना मध्य-काल की सामन्त पद्धति की सेना से बहुत भिन्न नहीं थी। बड़े-बड़े मनसबदार परस्पर ईर्ष्या रखते थे, और अवसर पड़ने पर आपस में युद्ध करने व राजगद्दी के किसी एक उम्मीदवार का पक्ष लेकर उसकी सहायता करने में भी संकोच नहीं करते थे। इस दशा में सैनिक भी अपने मनसबदार की तरफदारी करते थे, और मुगल सेना के विविध अंग आपसी युद्ध में ही व्यापृत हो जाते थे। अकबर के बाद जब मुगलों का वैभव बहुत बढ़ गया, तो उनकी सेना में भोग-विलास की प्रवृति उत्पन्न हो गयी। मुगल सेना जब युद्ध के लिये चलती थी, तो ऐसा प्रतीत होता था, मानो कोई नगर एक स्थान से दूसरे स्थान पर चल पड़ा हो। जहाँ सेना का पड़ाव पड़ता था, एक नगर-सा बस जाता था। हजारों खेमे व तम्बू गड़ जाते थे, जिनमें बड़े मनसबदारों के तम्बू रेशम के होते थे। नर्तक, वादक, गायक और तमाशा दिखाने वाले सेना के साथ-साथ चलते थे। छावनी में भी मनसबदारों को रूपाजीवाओं और गणिकाओं के बिना चैन नहीं पड़ती थी। यही कारण है, कि शिवाजी की मराठी सेनाओं का मुकाबला करने में प्रतापी मुगल सम्राट् असमर्थ रहे।

पुलिस—नगरों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये कोतवालों की नियुक्ति की जाती थी। आइने-अकबरी के अनुसार कोतवाल के कर्त्तव्य निम्नलिखित थे—(१) चोरों को पकड़ना, (२) तोल और माप के उपकरणों को नियन्त्रित रखना, और इस बात का ख्याल करना कि व्यापारी लोग ग्राहकों से मुनासिब कीमत लें; (३) रात के समय शहर के बाजारों, गलियों और मार्गों पर पहरे का इन्तजाम करना; (४) शहर के निवासियों का अपने रजिस्टर में उल्लेख करना, और बाहरी आदमियों पर निगाह रखना; (५) शहर की गलियों, रास्तों और मकानों का रिकार्ड रखना; (६) खुफिया पुलिस की नियुक्ति करना, जिसका काम शहर के गुण्डों पर निगाह रखना, नागरिकों के आय-व्यय का पता करना, और पड़ोस के ग्रामों के मामलों पर दृष्टि रखना होता था; (७) जिन मृत-लोगों का कोई वारिस न हो, उनकी सम्पत्ति पर कब्जा कर लेना और उसका हिसाब रखना क्योंकि लावारिस सम्पत्ति का मालिक राज्य हो जाता था। (८) गाय, बैल, भैंस-भैंसे, घोड़े और ऊँट के वध को रोकना; मुगल-युग में प्रायः गोवध का निषेध था। (९) किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध सती होने के लिये विवश किये जाने पर उसे सती होने से रोकना। निःसन्देह, मुगल-युग के कोतवालों के ये कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण थे, और इन्हें सम्पन्न करते हुए उन्हें बहुत सतर्क होने की आवश्यकता होती थी।

देहात में शान्ति और व्यवस्था रखने के लिये मुगल-युग में पुलिस का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। प्रान्तीय सूबेदारों की अधीनता में अनेक फौजदार उस युग में भी नियुक्त थे, पर फौजदारों का कार्य केवल यह था, कि अपने क्षेत्र में विद्रोह न होने दें। चोर-डाकू आदि से जनसाधारण की रक्षा करने का कार्य इस युग में भी ग्राम-संस्थाओं के ही हाथों में था, और वे ही ग्रामों की आन्तरिक सुव्यवस्था के लिये

उत्तरदायी थीं।

कानून और न्याय-व्यवस्था—जिन अर्थों में आजकल के राज्यों में कानून की सत्ता होती है, उस प्रकार के कानून मुगल काल में विद्यमान नहीं थे। यद्यपि समय-समय पर बादशाहों की ओर से अनेक 'शासन' (राजाज्ञा) जारी किये जाते थे, और उनकी स्थिति कानून के सदृश होती थी, पर इस प्रकार के कानूनों की संख्या बहुत कम थी। मुगल-युग में विवाद-ग्रस्त मामलों का निर्णय जिन कानूनों के अनुसार किया जाता था, उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) बादशाह द्वारा जारी की गयी राजाज्ञाएँ। (२) शरायत कानून—क्योंकि न्याय का कार्य प्रधानतया काजियों के सुपुर्द था, अतः वे न्याय करते हुए शरायत के कानून को दृष्टि में रखते थे। कुरान और हदीसद में जो नियम प्रतिपादित हैं, काजियों के विचार के अनुसार वे सत्य व सनातन कानून होते थे, और न्याय-कार्य में वे उन्हीं का उपयोग करते थे। मुसलमानों के आपसी मुकदमों में तो शरायत का कानून दृष्टि में रखा ही जाता था, पर जिन मुकदमों में एक पक्ष हिन्दू और दूसरा पक्ष मुसलिम हो, उनमें भी शरायत के कानून का ही प्रयोग होता था। (३) हिन्दुओं के परम्परागत कानून—जिन मुकदमों में वादी और प्रतिवादी दोनों हिन्दू हों, उनका निर्णय करते हुए काजी लोग हिन्दुओं के चरित्र और व्यवहार (परम्परागत कानून) को दृष्टि में रखते थे। पर ऐसा करना उनके लिये अनिवार्य नहीं था। काजी लोग जो कुछ भी उचित समझें, वही वे करते थे। उनके न्याय कार्य को मर्यादित करने के लिये वर्तमान समय के जाब्ता-दीवानी और जाब्ता-फौजदारी के ढंग के कोई विधान उस समय विद्यमान नहीं थे। कोई भी मनुष्य काजी के फैसले के खिलाफ बादशाह की सेवा में अपील कर सकता था। अपीलों को सुनने और उनका निर्णय करने के लिये एक पृथक् महकमा था, जिसमें मीर-अर्ज के अधीन अनेक पदाधिकारी होते थे। महत्त्वपूर्ण मामलों का निर्णय बादशाह स्वयं भी करता था, और जब बादशाह विजय-यात्रा पर या अन्य किसी कार्य से राजधानी के बाहर हो, तब भी मीर-अर्ज का महकमा उसके साथ-साथ रहता था।

न्याय विभाग के प्रधान अधिकारी को 'काजी-उल्-कजात, कहते थे। यह अधिकारी साम्राज्य के विविध सूबों की राजधानियों में प्रान्तीय काजियों की नियुक्ति करता था। काजी के न्यायालय में तीन कर्मचारी होते थे—काजी, मुफ्ती और मीर-अदल। काजी का यह कार्य था, कि वह मामले की जांच करे। मुफ्ती मुसलिम कानून का प्रतिपादन करता था, और यह बताता था कि शरायत के अनुसार मामले का क्या फैसला होना चाहिये। मीरअमल काजी की जांच और मुफ्ती द्वारा की गई कानून सम्बन्धी व्याख्या के अनुसार फैसला लिखने का कार्य करता था। काजी की अदालत में दीवानी और फौजदारी दोनों प्रकार के मुकदमे पेश होते थे। हिन्दुओं के पारस्परिक विवादों का निर्णय भी इसी अदालत द्वारा किया जाता था। यह आशा की जाती थी, कि काजी लोग निष्पक्ष, न्यायप्रिय और ईमानदार हों, पर क्रिया में सभी काजी इन गुणों से युक्त नहीं होते थे।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये कि काजियों की अदालतें केवल साम्राज्य और सूबों की राजधानियों में ही थीं। अन्य नगरों में इन अदालतों का

प्रायः अभाव था। बाद में मुगल बादशाहों ने अन्य बड़े नगरों में भी काजी नियुक्त किये। पर छोटे नगरों और ग्रामों में काजियों की अदालतें कभी कायम नहीं हुई। इन स्थानों पर न्याय का कार्य इस युग में भी ग्राम-पंचायतों के हाथों में ही रहा, जो स्थानीय परम्परागत कानूनों के अनुसार मामलों का निर्णय करने में तत्पर रहती थीं।

(२) मालगुजारी

मुगल-साम्राज्य की राजकीय आमदनी का प्रधान स्रोत मालगुजारी या भूमि-कर था। इसे वसूल करने के लिये जो व्यवस्था शेरशाह सूरी के समय में शुरू हुई थी, अकबर ने भली-भाँति उसे विकसित किया। जमीन का यथोचित बन्दोबस्त करने और उससे व्यवस्थित रूप से मालगुजारी वसूल करने की जो पद्धति अकबर के समय में शुरू हुई, उसका प्रधान श्रेय राजा टोडरमल को है, जो पहले सहायक दीवान के पद पर नियत था, और बाद में अकबर का मुख्य दीवान बन गया था। भारत के इतिहास में टोडरमल द्वारा शुरू की गयी इस व्यवस्था का महत्त्व बहुत अधिक है, क्योंकि बाद में ब्रिटिश लोगों ने भी उसे अनेक अंशों में अपनाया। मालगुजारी वसूल करने के लिए इस समय जमीन को चार भागों में विभक्त किया गया—(१) पोलज—जिस जमीन पर प्रतिवर्ष खेती होती हो, और जो कभी परती न पड़ती हो, उसे पोलज कहते थे। (२) परती—जिस जमीन की उपज-शक्ति को कायम रखने के लिये उसे कभी-कभी खाली छोड़ देना आवश्यक हो, उसे 'परती' कहते थे। (३) छाचर—यह वह जमीन होती थी, जो तीन या चार साल तक बिना खेती के पड़ी रहे। (४) बंजर—जो जमीन पाँच साल या अधिक समय तक खाली रहे, उसे बंजर कहते थे। जमीन को इन चार भागों में विभक्त कर यह अन्दाज किया जाता था कि पोलज और परती जमीनों की औसत पैदावार क्या होती है। इसके लिये प्रत्येक किसान की जमीन को तीन भागों में बाँटा जाता था, बढ़िया, मध्यम और घटिया। यदि बढ़िया जमीन से प्रति बीघा २० मन, मध्यम से १५ मन और घटिया जमीन से १० मन पैदावार मानी जाय, तो उस किसान की औसत पैदावार १५ मन प्रति बीघा मान ली जाती थी। यह सिद्धान्त तय कर लिया गया था, कि प्रत्येक किसान से उसकी औसत पैदावार का तिहाई हिस्सा मालगुजारी के रूप में वसूल किया जाएगा। जो उदाहरण हमने लिया है उसके अनुसार किसान को पाँच मन प्रति बीघा के हिसाब से मालगुजारी देनी पड़ती थी। पर मालगुजारी की मात्रा को तय करते हुए यह भी ध्यान में रखा जाता था, कि किसान अपने खेतों में कौन-सी फसल बोता है। उसे यह हक था, कि मालगुजारी चाहे नकद दे और चाहे फसल के रूप में। नकद मालगुजारी की मात्रा क्या हो, यह पिछले दस सालों में फसल की जो कीमतें रही हों, उनके आधार पर तय किया जाता था। टोडरमल से पहले नकद मालगुजारी तय करते हुए चालू कीमत को दृष्टि में रखा जाता था। पर इसमें अनेक दिक्कतें पेश आती थीं। अतः टोडरमल ने यह व्यवस्था की थी, कि पिछले दस सालों की कीमतों को ध्यान में रखकर नकद मालगुजारी तय कर दी जाय, और दस सालों के लिये वही मात्रा कायम रहे। दस साल बीत जाने पर जमीन का नया बन्दोबस्त होता था, जिसमें पैदावार और कीमतों की घटाबढ़ी को दृष्टि में रख कर मालगुजारी की मात्रा तय की जाती थी।

जमीन की पैमाइश के लिये अकबर के समय में एक नये माप को प्रयुक्त किया गया, जिसे 'इलाही गज' कहते थे। यह ३३ इंच के करीब होता था। पहले जमीन को मापने के लिये रस्सी का प्रयोग किया जाता था। अकबर के समय में उसके स्थान पर जरीब का प्रयोग शुरू हुआ, जिसे बांस के टुकड़ों को लोहे के छल्लों से जोड़कर बनाया जाता था। आज तक भी जमीन की पैमाइश के लिये भारत में जरीब इस्तेमाल की जाती है, यद्यपि आजकल की जरीब लोहे की होती है। जरीब से जमीन की पैमाइश करके यह तय किया जाता था, कि किसान कितनी जमीन पर खेती करता है। फिर यह निश्चित होता था, कि उसकी जमीन पोलज, परती, छाचर या बंजर— किस प्रकार की है। फिर उसकी औसत पैदावार का हिसाब करके उस पर मालगुजारी की मात्रा नियत की जाती थी। जमीन के बन्दोबस्त की इस पद्धति को 'जब्ती' कहते थे। बिहार, इलाहाबाद, मुलतान, अवध, आगरा, मालवा, लाहौर और दिल्ली के सूबों में इसी पद्धति के अनुसार जमीन का बन्दोबस्त किया गया था। बाद में गुजरात और अजमेर के सूबों के अनेक प्रदेशों में भी इस पद्धति का अनुसरण किया गया। पर इसके अतिरिक्त बन्दोबस्त के अन्य कई तरीके भी मुगल युग में प्रचलित थे। उनका हम यहाँ उल्लेख नहीं करेंगे, क्योंकि उनका विशेष महत्त्व नहीं था।

मालगुजारी को वसूल करने के लिये मुगल बादशाहत के सूबेदार अपने अधीनस्थ विविध राजकर्मचारियों की सहायता लेते थे। सूबे में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिये नाजिम या सूबेदार के अधीन अनेक फौजदार होते थे। पर मालगुजारी को वसूल करने की दृष्टि से सूबे को अनेक विभागों में विभक्त किया जाता था, जिन्हें सरकार और परगना कहते थे। प्रत्येक सूबे में बहुत-से सरकार होते थे, और प्रत्येक सरकार में बहुत-से परगने। परगना बहुत-से ग्रामों से मिलकर बनता था। मालगुजारी को वसूल करने का काम पटवारी और मुकद्दम नाम के दो कर्मचारी करते थे, जो राजकीय सेवा में न होकर ग्राम-संस्थाओं के अधीन होते थे। प्राचीन-युग के 'ग्रामणी' को ही इस युग में 'मुकद्दम' कहा जाने लगा था। पटवारी उसके अधीन होता था, और खेती की पैमाइश का हिसाब रखकर जमीन से मालगुजारी वसूल करता था। राज्य के सबसे निम्न श्रेणी के कर्मचारी कारकुन कहाते थे, जो खेतों की पैमाइश करने और उनकी पैदावार का हिसाब रखने का काम करते थे। कारकुनों द्वारा तैयार किये गये हिसाब के आधार पर कानूनगो मालगुजारी की मात्रा निर्धारित करता था। प्रत्येक ग्राम से कितनी मालगुजारी वसूल होनी है, यह निश्चित करना कानूनगो का ही काम था, जो अपने अधीन कारकुनों द्वारा प्रत्येक ग्राम के खेतों की पैमाइश कराता था और उनमें पैदा होने वाली फसल का हिसाब रखता था। कानूनगो द्वारा निर्धारित की गयी मालगुजारी की रकम को वसूल करना ग्राम के मुकद्दम और पटवारी का काम था, जो मालगुजारी की रकम को पोद्दार के पास जमा करा देते थे। पोद्दार उन खजांचियों को कहते थे, जो राज्य की ओर से मालगुजारी व अन्य राजकीय करों को जमा करने और राज्यकोष में पहुँचाने के लिये नियुक्त थे। मालगुजारी की वसूली के लिये प्रत्येक सूबा अनेक सरकारों में विभक्त था, यह ऊपर लिख चुके हैं। 'सरकार' के राज-कर्मचारी को 'आलमगुजार' कहते थे, जिसका प्रधान कार्य अपने क्षेत्र की राजकीय

आमदनी को समुचित रूप से वसूल किये जाने की व्यवस्था करना था। प्रत्येक सरकार के प्रधान नगर में 'फौजदार' भी होते थे, पर उनका मालगुजारी वसूल करने के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता था। उनका मुख्य कार्य यही था, कि वे अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखें।

इसमें सन्देह नहीं, कि पैदावार का तीसरा भाग मालगुजारी के रूप में वसूल करने की व्यवस्था करके मुगल-सम्राटों ने भारत की प्राचीन परम्परा का उलंघन किया था, जिसके अनुसार उपज का केवल 'षड्भाग' भूमिकर के रूप में लिया जाता था। इससे किसानों में अवश्य ही असन्तोष उत्पन्न हुआ होगा। पर अकबर आदि सभी मुगल बादशाहों ने यह भी यत्न किया था, कि जो अनेक प्रकार के अन्य कर ग्रामों व नगरों से वसूल किये जाते हैं उन्हें अब न लिया जाये। अफगान-युग में इन करों की मात्रा बहुत बढ़ गयी थी, और ये 'अबवाब' कहाते थे। औरंगजेब ने राजाज्ञा द्वारा जिन अबवाब करों को नष्ट करने का आदेश दिया, उनमें से कतिपय का यहाँ उल्लेख करना उपयोगी है। ये अबवाब निम्नलिखित थे—(१) मछली, सब्जी, गोबर के उपले, पेड़ों की छाल और पत्ते, बांस और ईंधन, तेल, घड़े और कसोरे, तमाखू आदि के क्रय-विक्रय पर वसूल किये जाने वाले कर। (२) जमीन को रहन पर रखने, जायदाद को बेचने और इमारत के मलबे को बेचने पर लिये जाने वाले कर। जब कोई आदमी अपनी जायदाद बेचता था, तो कानूनगो उससे ढाई प्रतिशत के हिसाब से अबवाब वसूल करता था। मलबा बेचने पर एक हजार ईंट पीछे तीन टंका अबवाब लिया जाता था। (३) राहदारी-कर, जो विविध मार्गों के पहरे के इन्तजाम का खर्च चलाने के लिये वसूल किया जाता था। (४) बाजार में जमीन पर बैठ कर शाक-सब्जी, फल, कपड़ा आदि बेचने वाले लोगों से खाली जमीन को इस्तेमाल करने के लिये वसूल किया जाने वाला महसूल। (५) कर्ज की रकम को अदालत द्वारा वसूल कराने पर राजकर्मचारी लोग प्रायः रकम का चौथाई भाग 'शुकराना' के रूप से वसूल कर लेते थे। (६) मल्लाही टैक्स, जो नदियों के नौका द्वारा पार करने पर लिया जाता था। (७) तोल और माप के विविध उपकरणों पर सरकारी मोहर लगाते समय वसूल किया जाने वाला कर। (८) जमीन की चकबन्दी करते हुए जनता से वसूल किया जाने वाला कर। (९) जब किसी इलाके में कोई नया राजकर्मचारी नियुक्त होकर आता था, तो अपने इलाके के व्यापारियों से पेशकश (भेंट-उपहार) प्राप्त करता था। इसी प्रकार के अन्य बहुत-से कर मुगल-साम्राज्य के विविध कर्मचारी जनता से वसूल करते थे, जिनके कारण सर्वसाधारण लोग सदा परेशान रहते थे। मुगल सम्राटों ने यत्न किया, कि इन अबवाबों को नष्ट कर दें। इसी लिये उन्होंने मालगुजारी की मात्रा 'षड्भाग' से बढ़ाकर पैदावार का तीसरा हिस्सा नियत कर दी, ताकि उससे आमदनी बढ़ जाने पर सरकार को अबवाब वसूल करने की आवश्यकता न रहे। पर अपने इस उद्देश्य में मुगल-सम्राट् सफल नहीं हो सके, क्योंकि उनके अधीनस्थ कर्मचारी सब प्रकार के उचित-अनुचित उपायों से अपनी आमदनी की वृद्धि के लिये उत्सुक रहते थे, और बादशाह की आज्ञा की उपेक्षा करने में संकोच नहीं करते थे।

(३) सामाजिक दशा

मुगल काल के ऐतिहासिकों ने पर्शियन भाषा में जो इतिहास लिखे हैं, उनमें मुगल बादशाहों की विजय-यात्राओं, उनके राजदरबार और अन्तःपुर के षड्यन्त्रों का विशद रूप से उल्लेख है। उनके अनुशीलन से इस युग की सामाजिक व आर्थिक दशा के सम्बन्ध में विशद परिचय नहीं मिलता। पर इस काल में अनेक यूरोपियन यात्री भारत में व्यापार और भ्रमण आदि के लिये आये, और उन्होंने मुगल-साम्राज्य का जो वृतान्त लिखा है, उससे हमें इस युग की सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हो सकती हैं। सोलहवीं सदी के शुरू में ही अनेक यूरोपियन यात्री भारत आने लगे थे, और मुगल काल में इस देश में उनका आवागमन जारी रहा। बाद में यूरोपियन लोगों ने इस देश पर अपना राजनीतिक आधिपत्य भी स्थापित कर लिया।

मुगल काल का सामाजिक जीवन सामन्त-पद्धति पर आश्रित था, जिसमें बादशाह का स्थान कूटस्थानीय व मूर्धन्य था। बादशाह की स्थिति जन-समाज में सर्वोच्च थी। उसके बाद उन अमीर-उमराओं का स्थान था, जो विविध श्रेणी के मनसब प्राप्त कर राज्य-शासन और समाज में उच्च पद प्राप्त किये हुए थे। इन अमीर उमरावों को अनेक ऐसे विशेषाधिकार प्राप्त थे, जिनके कारण उनकी स्थिति सर्वसाधारण जनता से सर्वथा भिन्न हो गयी थी। ये अमीर उमरा बड़े आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे, और भोग विलास में स्वाहा करने के लिये इनके पास धन की कोई कमी नहीं होती थी। बादशाह का अपना जीवन भी बहुत अनियन्त्रित और विलासपूर्ण होता था, और अमीर-उमरा लोग अपने-अपने क्षेत्र में अपने मनसब के अनुसार बादशाह का अनुकरण करना अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझते थे। न केवल मुगल बादशाह के, अपितु अमीर-उमराओं के भी बड़े-बड़े हरम (अन्तःपुर) होते थे, जिनमें सैकड़ों हजारों स्त्रियां निवास करती थीं। अकबर के हरम में ५००० स्त्रियां थीं, जिनके भोजन-आच्छादन व विलास-सामग्री का प्रबन्ध करने के लिये एक पृथक् विभाग था। बादशाह के उदाहरण का अनुसरण कर अमीर-उमरा भी बहुत-सी स्त्रियों, नर्तकियों और पेशलरूपा दासियों को अपने हरम में रखते थे, और उन पर दिल खोलकर खर्च करते थे। बादशाह व अमीर-उमराओं की ओर से बहुत-सी दावतें सदा होती रहती थीं, जिनमें सुरापान और सुस्वादु भोजन के अतिरिक्त नाच-गान भी हुआ करता था। मुगल बादशाहत में 'मनसब' वंशक्रमानुगत नहीं होती थी। यह आवश्यक नहीं था, कि पांचहजारी का लड़का भी पिता की मृत्यु के बाद पाँचहजारी पद को प्राप्त करे। यही दशा उन जागीरों के सम्बन्ध में थी, जो बादशाह की ओर से मनसब का खर्च चलाने के लिये किसी मनसबदार को दी जाती थीं। इसका परिणाम यह था, कि अमीर-उमरा अपनी जागीर व मनसब को अपनी वैयक्तिक आमदनी का साधनमात्र समझते थे, और इस आमदनी को मौज बहार में उड़ा देने में ही अपनी भलाई मानते थे। सुन्दर पोशाक, उत्कृष्ट सुरा, षड्रस भोजन, भोग-विलास, नृत्य-गायन व द्यूत-क्रीड़ा आदि में वे रुपये को पानी की तरह बहाते थे। धन-ऐश्वर्य की प्रचुरता ने उन्हें आलसी और विलासी बना दिया था। मोरलैण्ड ने हिसाब लगाकर बताया है, कि पाँचहजारी मनसबदार

की मासिक आय १८००० रुपये थी, और एकहजारी मनसबदार की ५००० रुपये मासिक। यह आय उस खर्च को निकालने के बाद थी, जो मनसबदार को अपने पद के अनुरूप सैनिक और घोड़े आदि को रखने के लिए करना पड़ता था। इस युग में वस्तुओं का मूल्य इतना कम था, कि जीवन के लिये आवश्यक वस्तुओं के क्रय में यह रकम खर्च ही नहीं हो सकती थी। इस दशा में यदि विविध मनसबदार अपनी प्रचुर आय को ऐशो-इशरत में व्यय करें, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था।

अमीर-उमरा और सर्वसाधारण जनता के बीच की एक मध्य श्रेणी का विकास भी इस युग में हो गया था, जिसमें निम्न वर्ग के कर्मचारी, व्यापारी और समृद्ध शिल्पियों को अन्तर्गत किया जा सकता है। मुगल साम्राज्य के कारण भारत में जो शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गयी थी, उसमें यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि देश के आभ्यन्तर और बाह्य व्यापार का भली-भांति विकास हो। बड़े-बड़े नगरों में निवास करने वाले व्यापारी एक स्थान के माल को दूसरे स्थान पर बेचकर अच्छी रकम पैदा कर लेते थे, पर वे जानबूझकर अपना रहन-सहन सादा रखते थे, क्योंकि नगरों के कोतवालों का एक कार्य यह भी था, कि वे लोगों की आमदनी और खर्च का पता करते रहें। व्यापारियों को सदा यह भय बना रहता था, कि कहीं राजकर्मचारी उनके रहन-सहन से उनकी आमदनी का अन्दाज न कर लें, और फिर उचित अनुचित उपायों से रुपया प्राप्त करने का यत्न करें। इसी लिये वे बहुत सादे तरीके से रहते थे। बर्नियर ने लिखा है, कि व्यापारी लोगों की आमदनी चाहे कितनी भी क्यों न हो, वे अत्यन्त मितव्ययिता से खर्च करते थे। यही दशा समृद्ध शिल्पियों की भी थी, जिन्हें कि मुगल-काल के वैभव के कारण अपने शिल्प से अच्छी खासी आमदनी प्राप्त करने का अवसर मिल गया था। बन्दरगाहों में निवास करने वाले अनेक ऐसे व्यापारी भी इस युग में थे, जो विदेशी व्यापार के कारण अत्यन्त धनी हो गये थे। ये अमीर-उमराओं के समान विलासमय जीवन बिताते थे। इन्हें राजकर्मचारियों का विशेष भय भी नहीं था, क्योंकि अनेक मनसबदार समय-समय पर इनसे भेंट-उपहार और कर्ज प्राप्त कर इनसे सन्तुष्ट रहते थे।

अमीर-उमरा व मध्य श्रेणी की तुलना में सर्वसाधारण जनता की दशा अत्यन्त हीन थी। इस श्रेणी में किसान, कर्मकर और शिल्पी लोग शामिल थे, जो अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकने योग्य आमदनी को सुगमता के साथ प्राप्त नहीं कर सकते थे। इनको तन ढकने के लिये कपड़ा भी कठिनता से प्राप्त हो पाता था। रेशमी व ऊनी कपड़ों का प्रयोग तो इनकी कल्पना से भी परे था। सर्वसाधारण जनता की दशा के सम्बन्ध में कतिपय यूरोपियन यात्रियों के विवरणों से बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है। फ्रांसिस्को पल्सेअर्त नामक यात्री ने जहांगीर के समय में भारत की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि इस देश की जनता में तीन वर्ग ऐसे हैं;, जो नाम को तो स्वतन्त्र हैं, पर जिनकी दशा गुलामों से बहुत भिन्न नहीं है। ये वर्ग मजदूरों (कर्मकरों), चपरासियों, नौकरों और छोटे दूकानदारों के हैं। पल्सेअर्त के अनुसार मजदूरों को बहुत कम वेतन दिया जाता था। राजकर्मचारी उनसे स्वेच्छापूर्वक बेगार ले सकते थे। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी लोग जिस मजदूर को चाहें, काम के लिये बुला सकते

थे। कोई यह साहस नहीं कर सकता था, कि वे कार देने से इन्कार करें। अमीर-उमरा व राजकर्मचारी काम के बदले में उन्हें क्या वेतन दें, यह उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर था। मजदूर व नौकर लोग उनसे स्वच्छापूर्वक वेतन व मजदूरी तय नहीं कर सकते थे। छोटे दूकानदारों को भी अमीर-उमराओं और मनसबदारों का भय सदा बना रहता था। शक्ति-सम्पन्न राजकर्मचारी बाजार भाव से कम कीमत पर उनसे माल खरीदते थे, और कीमत की प्राप्ति के लिए वे उनकी कृपा पर ही निर्भर रहते थे। वे जानबूझ कर गरीबी का जीवन बिताते थे, क्योंकि वे सदा राजकर्मचारियों की लूट व शोषण से डरते रहते थे।

पर इस सब विवेचन से यह नहीं समझना चाहिये, कि मुगल-काल में सर्व-साधारण जनता की दशा बहुत खराब थी। कीमतों की कमी के कारण इस युग में मनुष्य बहुत कम खर्च में अपना निर्वाह कर सकता था। अनेक प्रकार के अबवाबों का अन्त कर मुगल-सम्राटों ने मालगुजारी की मात्रा पैदावार के एक तिहाई हिस्से के रूप में निर्धारित कर दी थी, जिसे प्रदान करने के बाद किसान निश्चिन्त रूप से उपज के दो-तिहाई भाग को अपने खर्च के लिये प्रयुक्त कर सकता था। जमींदारी प्रथा उस युग में नहीं थी। जमीन तीन प्रकार की होती थी—खालसा, जागीर और सयूरघाल। जिन जमीनों पर बादशाह का स्वामित्व था, उन्हें खालसा कहते थे। मनसबदारों को वेतन के बदले में जो भूमि प्रदान की जाती थी, उसे जागीर कहते थे। सयूरघाल जमीन वह थी, जो किसी विशेष प्रयोजन से राज्य की ओर से किसी व्यक्ति को मुफ्त में दी गयी होती थी। इन तीनों प्रकार की जमीनों पर किसान को उपज के तृतीयांश से अधिक कर प्रदान करने की आवश्यकता नहीं थी। शेष से वह अपना निर्वाह भली-भाँति कर सकता था।

सुरापान की इल्लत से सर्वसाधारण लोग मुक्त थे। केवल धनी व अमीर-उमरा लोग ही सुरा के व्यसनी थे। टैरी नामक यूरोपियन यात्री ने लिखा है, कि लोग मदमस्त अवस्था में कभी दिखाई नहीं देते, यद्यपि शराब प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। लोगों का भोजन बहुत सादा होता था, और वे विदेशियों के प्रति भद्रता का व्यवहार करते थे। बाल-विवाह इस युग में भली-भाँति प्रचलित हो चुका था। देल्ला-वाल नामक एक यात्री ने दो बालकों के विवाह का वर्णन किया है, जिन्हें घोड़े पर सहारा देकर बिठाया गया था, और बरात में भी जिन्हें सहारा देकर घोड़े पर ले जाया गया था। अकबर ने इस बात का प्रयत्न किया था, कि बाल-विवाह की प्रथा बन्द हो। उसकी राजाज्ञाओं में से एक यह भी थी, कि रजस्वला होने से पूर्व किसी कन्या का विवाह न हो सके। उसने दहेज-प्रथा, बहु-विवाह और निकट सम्बन्धियों के विवाह को रोकने के लिये भी आदेश दिये थे। पर अकबर को अपने इन प्रयत्नों में कहाँ तक सफलता हुई थी, यह कह सकना कठिन है। पेशवाओं ने भी विवाह के सम्बन्ध में अनेक ऐसे आदेश जारी किये थे, जिनका उद्देश्य पारिवारिक सम्बन्ध को निर्दोष बनाना था। पर यह स्पष्ट है, कि मुगल काल में बाल-विवाह और दहेज प्रथा भली-भाँति विकसित हो चुकी थीं। विधवा-विवाह को इस युग में अच्छा नहीं माना जाता था, यद्यपि महा-राष्ट्र की ब्राह्मण-भिन्न जातियों और उत्तरी भारत के जाटों में यह प्रचलित था। विध-

स्त्रियों के सती हो जाने की प्रथा भी इस युग में प्रचलित थी। अनेक मुगल सम्राटों ने इसे रोकने व मर्यादित करने का प्रयत्न किया, पर वे सफल नहीं हो सके। नगरों के कोतवालों का एक कर्तव्य यह भी था, कि किसी विधवा को वे उसकी इच्छा के विरुद्ध सती न होने दें। विविध हिन्दू जातियों में अपने कुलीन होने का विचार भी इस युग में भली-भाँति विकसित हो गया था, और कुलीन समझे जाने वाली जातियाँ अन्य लोगों को अपने से हीन समझने लगी थीं।

फलित ज्योतिष में इस युग के हिन्दू और मुसलमान—दोनों का समान रूप से विश्वास था। विजय-यात्रा के लिये प्रस्थान करते हुए या कोई नया कार्य प्रारम्भ करते हुए लोग शकुन का विचार करते थे। पीरों, फकीरों और साधुओं के प्रति जनता में श्रद्धा का भाव था। टेवर्नियर ने लिखा है, कि इस देश में ८,००,००० मुसलिम फकीर और १२,००,००० हिन्दू साधु हैं, जो जनता से भिक्षा प्राप्त कर अपना निर्वाह करते है। टेवर्नियर की दी हुई संख्यायें कहाँ तक सही हैं, यह निश्चय कर सकना कठिन है, पर वर्त्तमान भारत के साधुओं को दृष्टि में रखते हुए इनको सही न मानने का कोई कारण नहीं है। गुलामी की प्रथा भी इस समय प्रचलित थी, यद्यपि गुलामों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी। गुलामों का क्रय-विक्रय कोई असाधारण बात नहीं थी, और बड़े नगरों में कोई भी मनुष्य कीमत देकर दास-दासी को खरीद सकता था। हिन्दुओं की नैतिक दशा बहुत उन्नत थी। टेवर्नियर ने उनके विषय में लिखा है, कि "हिन्दू लोग नैतिक दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट हैं। वैवाहिक जीवन में वे अपनी स्त्रियों के प्रति अनुरक्त र ते हैं, और उनके साथ धोखा नहीं करते। उनमें व्यभिचार या अनैनिकता बहुत कम पाई जाती है।" पर मुसलिम अमीर-उमराओं का जीवन इस ढंग का नहीं था। वे अपने वैयक्तिक जीवन में नैतिकता के आदर्शों का बहुत कम पालन करते थे। मुगल राजशक्ति के पतन में यह बात बहुत अधिक सहायक हुई थी।

(४) आर्थिक दशा

बाबर और हुमायूं के समय की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में हमें अधिक परिचय नहीं है। बाबरनामा में बादशाह बाबर के काल की आर्थिक दशा के विषय में जो कुछ लिखा है, अनेक ऐतिहासिक उसे प्रामाणिक नहीं मानते। इसी प्रकार गुलबदन बेगम के हुमायूंनामा में उल्लिखित विवरण को भी विश्वास-योग्य नहीं माना जाता। उसके अनुसार अकबर के जन्म स्थान अमरकोट में चार बकरियाँ एक रुपये में खरीदी जा सकती थीं, और अन्य वस्तुओं की कीमतें भी इसी प्रकार से अत्यधिक सस्ती थीं। पर अकबर के समय की आर्थिक दशा पर जहाँ आइने-अकबरी से बहुत प्रकाश पड़ता है, वहाँ इस काल के यूरोपियन यात्रियों के विवरणों से भी इस सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ज्ञात होती हैं। बाद के मुगल बादशाहों के शासन-काल के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के भी अनेक विश्वसनीय साधन ऐतिहासिकों के पास विद्यमान हैं। इस काल में यूरोपियन व्यापारियों ने अपनी कोठियाँ समुद्र तट के नगरों में स्थापित कर ली थी, और उनके रिकार्डों से मुगल युग के आर्थिक जीवन के विषय में बहुत प्रामाणिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

नगर—मुगल युग में भारत के अनेक नगर बहुत समृद्ध थे। फिच नामक यूरोपियन यात्री ने १५८५ में लिखा था—"आगरा और फतहपुर दो बहुत बड़े नगर हैं। इन दो में से प्रत्येक विशालता और जनसंख्या की दृष्टि से लण्डन की अपेक्षा बहुत बड़ा है। आगरा और फतहपुर के बीच का अन्तर बारह मील है। इस सुदीर्घ मार्ग के दोनों ओर बहुत-सी दुकानें हैं। इस पर चलते हुए इतने मनुष्य मार्ग में मिलते हैं, कि यह प्रतीत होता है, मानो हम बाजार में घूम रहे हों।" पंजाब के विषय में टैरी ने लिखा है—"यह एक विशाल और उपजाऊ सूबा है। इसका प्रधान नगर लाहौर है, जो बहुत बड़ा है, और जनसंख्या व सम्पत्ति दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। व्यापार के लिये यह भारत के सबसे बड़े नगरों में से एक है।" १५८१ में मोंसरात ने लाहौर के विषय में लिखा था, कि "यह नगर यूरोप व एशिया के किसी भी अन्य नगर की तुलना में कम नहीं है।" आगरा, फतहपुर सीकरी और लाहौर के समान बुरहानपुर (खानदेश), अहमदाबाद (गुजरात), बनारस, पटना, राजमहल, बर्दवान, हुगली, ढाका और चटगांव भी मुगल-युग में अत्यन्त समृद्ध नगर थे।

मुद्रा पद्धति—मुगल-युग की मुद्रा-पद्धति को स्थायी व नियमित रूप देने के लिये अकबर ने बहुत उद्योग किया। १५७७ ई० में उसने अब्दुस्समद शिराजी को टकसाल का दारोगा बनाया, जिसके अधिकार में दिल्ली की टकसाल दे दी गयी। इस तरह के दारोगा लाहौर, जौनपुर, अहमदाबाद, पटना आदि की टकसालों के लिये भी नियत किये गये। यह व्यवस्था की गयी, कि इन विभिन्न टकसालों में जिन सिक्कों का निर्माण हो, वे तोल, आकार और धातु-शुद्धता आदि की दृष्टि से एकसदृश हों। अकबर के सिक्कों में रुपया और दाम प्रमुख थे। रुपया चांदी का होता था, और उसका वजन १७५ ग्रेन या ११ माशा के लगभग था। एक रुपये में ४० दाम होते थे, जिन्हें पैसा भी कहते थे। दाम या पैसे का वजन ३२३ ग्रेन था। आजकल के पैसे के मुकाबले में यह बहुत भारी होता था, और इसके निर्माण के लिये ताम्बे का प्रयोग किया जाता था। दाम या पैसे के उपविभाग को जीतल कहते थे। एक पैसा २५ जीतल के बराबर होता था। अकबर ने चाँदी का एक अन्य सिक्का भी जारी किया था, जिसे 'जलाली' कहते थे। यह आकार में चौकोर होता था। अकबर के समय में जो मुद्रापद्धति जारी की गयी, वही थोड़े-बहुत अदल-बदल के साथ सम्पूर्ण मुगल युग में कायम रही।

कीमतें—आइने-अकबरी में बहुत-सी वस्तुओं की कीमतें दी गयी हैं, जो मुगल-युग की आर्थिक दशा को जानने के लिये बहुत सहायक हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख करना उपयोगी होगा। अकबर के समय में गेहूँ का भाव १२ दाम प्रति मन था। अन्य वस्तुओं का भाव प्रति मन निम्नलिखित प्रकार था—जौ आठ दाम, चना १६॥ दाम, बढ़िया चावल २० दाम, घटिया चावल ११ दाम, बाजरा ८ दाम, मूँग १८ दाम, आटा २२ दाम, घी १०५ दाम, तेल ८० दाम, दूध २५ दाम और चीनी १२८ दाम। शक्कर का भाव ५५ दाम प्रति मन और उड़द की दाल १६ दाम प्रति मन थी। भेड़ १$\frac{1}{2}$ रुपये में खरीदी जा सकती थी, और गाय का मूल्य १० रुपया था। बकरे का मांस ६५ दाम प्रति मन के भाव से बिकता था। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि अकबर के समय का मन वर्तमान समय के २५ सेर के बराबर होता था। यदि

अकबरी रुपये को वर्तमान समय के रुपये (जिसका वजन १२ माशा होता है) के बराबर मान लिया जाय, तो विभिन्न वस्तुओं के मूल्य इस प्रकार होंगे—गेहूँ १ रु० की ८३ सेर, बाजरा १ रु० का १२५ सेर, उड़द या मूंग की दाल १ रु० की ५६ सेर, घी १ रु० का ६ सेर, दूध १ रु० का ४० सेर, बकरे का मांस १ रु० का १५ सेर, और चीनी १ रु० की ८ सेर। वर्त्तमान समय की कीमतों से तुलना करके यह भली भाँति समझा जा सकता है, कि अकबर के समय में सर्वसाधारण जनता के उपयोग की सब वस्तुयें बहुत अधिक सस्ती थीं। पर कीमतों के सस्ती होने के साथ-साथ इस युग में मजदूरी की दर भी बहुत कम थी। मामूली मजदूर की मजदूरी इस समय दो दाम प्रति दिन और मिस्त्री, राज, बढ़ई आदि की मजदूरी ७ दाम प्रति दिन थी। यदि गेहूँ की दृष्टि से देखा जाय, तो अकबर के समय मजदूर अपनी दैनिक मजदूरी से सवा चार सेर के लगभग गेहूँ खरीद सकता था। मिस्त्री, बढ़ई आदि तो अपनी मजदूरी से १३ सेर के लगभग गेहूँ प्रतिदिन प्राप्त कर सकते थे। सस्ती कीमतों के कारण इस युग के लोगों को अपना गुजारा करने में विशेष कठिनाई नहीं होती थी। मजदूरी की दर कम होते हुए भी लोग प्रसन्न व सन्तुष्ट थे। एडवर्ड टैरी के अनुसार "सम्पूर्ण देश में खाद्य पदार्थों का बाहुल्य था......और बिना किसी कठिनाई के सब लोग रोटी खा सकते थे।" इसमें सन्देह नहीं, कि मुगल-युग में सर्व साधारण जनता आर्थिक दृष्टि से बहुत दुर्दशाग्रस्त नहीं थी, और वह अपने लिये आवश्यक वस्तुएं सुगमता से प्राप्त कर लेती थी।

दुर्भिक्ष—मुगल-युग में भारत को अनेक दुर्भिक्षों का सामना करना पड़ा। आगरा और बियाना के समीपवर्ती प्रदेशों में १५५५-५६ में एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसका वर्णन करते हुए बदायुंनी ने लिखा है—लोग मानव मांस को खाने में तत्पर हो गये और दुर्भिक्ष पीड़ित नर-नारियों की दशा को आंखों से देख सकना सम्भव नहीं रहा, और यह सम्पूर्ण प्रदेश एक रेगिस्तान के समान दिखाई देने लगा। १५७३-७४ में गुजरात में दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके साथ ही एक भयंकर महामारी भी फैल गयी। अनाज के अभाव में कीमतें बहुत बढ़ गयीं, और लोगों को अनन्त कष्ट भोगने पड़े। १५९५ से लेकर १५९८ तक एक बार भारत को पुनः दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा, और नरमांस तक का भक्षण करने में लोगों ने संकोच नहीं किया। इस दुर्भिक्ष में अनेक नगरों के बाजार लाशों से पट गये थे, और लाशों को दफना सकना भी सम्भव नहीं रह गया था। इन तीन दुर्भिक्षों में से एक बाबर के समय में हुआ, एक हुमायूं के समय में और तीसरा अकबर के समय में। जहांगीर के शासनकाल में भारत को किसी दुर्भिक्ष का सामना नहीं करना पड़ा। पर शाहजहां के समय में दक्खन और गुजरात में एक बार फिर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसका वृत्तान्त एक डच व्यापारी ने इस प्रकार लिखा है—"गलियों में अर्धमृत दशा में पड़े हुए लोगों को दूसरे लोग मार डालते थे, और मनुष्य मनुष्य का भक्षण करने के लिये तत्पर हो गये थे। मनुष्यों के लिये गलियों व मार्गों पर चल सकना कठिन हो गया था, क्योंकि उन्हें सदा यह भय बना रहता था कि कोई उन पर आक्रमण कर दे।" अकबर और शाहजहां जैसे बादशाहों ने दुर्भिक्ष के अवसरों पर जनता को भोजन देने के लिये अनेक व्यवस्थायें कीं। पर उनसे बहुत लाभ नहीं हुआ, विशेषतया छोटे नगरों और ग्रामों में निवास करने वाले लोग उनसे कोई लाभ नहीं उठा सके।

मुगल युग में दुर्भिक्षों का प्रधान कारण यह था, कि इस काल में भारत की अधिकांश भूमि देवमातृका थी। नहरों व कुओं से सिंचाई का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। यदि किसी साल वर्षा न होती, तो फसल नष्ट हो जाती और जनता के लिये भोजन प्राप्त कर सकना कठिन हो जाता। इस युग में आवागमन और माल की ढुलाई का वैसा प्रबन्ध नहीं था, जो रेल, मोटर, आदि के आविष्कार के कारण आजकल के जमाने में हैं। अतः यदि गुजरात में अकाल पड़ता, तो पंजाब या बंगाल से वहाँ अनाज पहुंचा सकना सुगम नहीं होता था। दुर्भिक्ष की भयंकरता का यही प्रधान कारण था।

शिल्प और व्यवसाय—मुगल-युग में भारत के आर्थिक जीवन का प्रधान आधार खेती थी। बहुसंख्यक लोग खेती द्वारा अपना निर्वाह करते थे। पर अनेक व्यवसाय व शिल्प इस युग में विकसित हो चुके थे, और भारत में तैयार हुए सूती व रेशमी कपड़ों और अन्य अनेक पदार्थों की न केवल इस देश के सम्पन्न लोगों में अपितु विदेशों में भी बहुत माँग थी। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि यूरोप में भी अभी व्यावसायिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। भारत के समान इंगलैंड और फ्रांस के कारीगर भी अठारहवीं सदी के प्रारम्भ तक यान्त्रिक शक्ति की सहायता के बिना छोटे-छोटे उपकरणों से ही आर्थिक उत्पत्ति किया करते थे, और बड़े कल-कारखानों का विकास इस समय तक नहीं हुआ था। यदि अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के व्यावसायिक जीवन को दृष्टि में रखा जाय, तो भारत फ्रांस या इंग्लैण्ड से किसी भी प्रकार कम नहीं था, और इस देश में तैयार हुए माल को देश-विदेश में सर्वत्र अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था।

भारत के इस युग के व्यवसायों में वस्त्र-व्यवसाय सर्वप्रधान था। गुजरात, खानदेश, जौनपुर, बनारस, पटना आदि इस व्यवसाय के केन्द्र थे, और बंगाल में जिस ढंग का महीन सूती कपड़ा बनता था, वह संसार में अपनी तुलना नहीं रखता था। उड़ीसा से पूर्वी बंगाल तक का सारा प्रदेश कपड़े के कारखानों से छाया हुआ था, और ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो यह सब प्रदेश वस्त्र-निर्माण का एक विशाल कारखाना हो। विशेषतया, ढाका का जिला महीन मलमल के लिये सर्वत्र प्रसिद्ध था। फ्रांसिस्को पल्सेअर्त के अनुसार पूर्वी बंगाल के सोनारगाँव और चाव्रासपुर में सब लोग वस्त्र-व्यवसाय द्वारा ही अपना निर्वाह करते थे, और वहाँ तैयार हुआ कपड़ा अपनी खूबियों के कारण अत्यधिक विख्यात था। बर्नियर ने लिखा है, कि बंगाल में सूती और रेशमी कपड़ा इतना अधिक होता है, कि उसे न केवल बंगाल व मुगल-साम्राज्य का, अपितु सब पड़ोसी देशों व यूरोप तक का, इस पण्य के लिये विशाल भाण्डार समझा जा सकता है। वस्त्र-व्यवसाय के साथ-साथ कपड़े की रंगाई और छपाई का शिल्प भी इस देश में बहुत उन्नत दशा में था। टैरी के अनुसार सूती कपड़े को रंगकर या बिना रंगे ही इस प्रकार सुन्दरता के साथ छापा जाता था, कि पानी द्वारा रंग व छपाई को उतार सकना किसी भी तरह सम्भव नहीं रहता था। भारत की छींट संसार के बाजारों में सर्वत्र दिखाई देती थी, और सब देशों के धनी लोग बड़े शौक से उसे क्रय करते थे। सूती वस्त्रों के समान रेशमी कपड़ों का भी प्रधान केन्द्र बंगाल ही था। टैवर्नियर के यात्रा-विवरण के आधार पर मोरलैण्ड ने लिखा है, कि बंगाल में २५,००,००० पौण्ड वजन के लगभग का रेशम प्रतिवर्ष तैयार होता था, जिसमें से ७,५०,००० पौण्ड रेशम डच लोग खरीद कर यूरोप भेज देते थे, और

शेष बंगाल व भारत के अन्य सूत्रों में बुनाई के लिये प्रयुक्त किया जाता था। इस रेशम का कुछ भाग स्थलमार्ग द्वारा मध्य एशिया को भी जाता था। रेशमी कपड़ा बुनने की खड्डियां बंगाल के अतिरिक्त लाहौर, आगरा, गुजरात आदि में भी थीं। इसी लिये इन प्रदेशों के व्यवसायी बंगाल के रेशम को क्रय करने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। अकबर ने शाल और गलीचे के व्यवसाय को भी प्रोत्साहन दिया था। काश्मीर के अतिरिक्त लाहौर और आगरा भी इस व्यवसाय के अच्छे, महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। शाल और गलीचों के साथ-साथ अनेक प्रकार के ऊनी वस्त्र व कम्बल भी इन स्थानों के कारखानों में तैयार होते थे।

मुगल-युग के अन्य व्यवसायों में नौका-निर्माण और शोरे का कारोबार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विशाल मुगल-साम्राज्य में नदियों को पार करने के लिये और विशेषतया सेनाओं को नदियों के पार उतारने के लिये नौकाओं का बहुत महत्त्व था। साथ ही, इस युग में व्यापार के लिये भी गंगा जैसी नदियां बहुत काम आती थीं। जल मार्ग द्वारा माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना बहुत सस्ता पड़ता था। इन सब प्रयोजनों के लिये जो नौकायें जरूरी थीं, वे सब भारत में ही बनती थीं। बंगाल की खाड़ी के समीपवर्ती प्रदेशों की अराकानी लोगों व सामुद्रिक डाकुओं से रक्षा करने के लिये मुगल काल में एक जहाजी बेड़ा भी था, यह हम पहले लिख चुके हैं। ये जहाज भी भारत के शिल्पियों द्वारा ही तैयार किये जाते थे। शोरे का उपयोग बारूद के निर्माण के लिये होता था। मुगल-युग में बारूद का प्रयोग बड़े पैमाने पर शुरू हो गया था, अतः मुगलों के तोपखाने के लिये आवश्यक बारूद का निर्माण करने के प्रयोजन से शोरे की बहुत मांग रहती थी। डच और इंग्लिश व्यापारी भी भारत से शोरा खरीद कर अपने देशों को भेजते थे और वहां उसे बारूद के लिये प्रयोग में लाया जाता था। इस कारण शोरे का व्यवसाय भी इस युग में अच्छी उन्नत दशा में था।

इन बड़े व्यवसायों के अतिरिक्त हाथी-दांत, आबनूस की लकड़ी, सोना-चांदी आदि की अनेक प्रकार की सुन्दर व कलात्मक वस्तुएँ इस युग के भारतीय शिल्पी तैयार करते थे, जिन्हें देश-विदेश के धनी मानी-लोग बड़े शौक से खरीद ते थे।

विदेशी व्यापार—मुगल-युग में विदेशों के साथ व्यापार स्थल और जल—दोनों मार्गों से होता था। विदेशी व्यापार के दो स्थल मार्ग प्रधान थे। एक मार्ग लाहौर से काबुल को जाता था, और दूसरा मुलतान से कन्धार को। सामुद्रिक व्यापार के लिये अनेक बन्दरगाह भारत के समुद्र तट पर विद्यमान थे, जिनमें सिन्ध का लाहौरी बन्दर, गुजरात के सूरत, भड़ौच और कैम्बे, रत्नगिरि के तटवर्ती बसीन, चौल और दाभोल, मलाबार के कालीकट और कोचीन, और पूर्वी समुद्र तट के सातगांव, श्रीपुर, चटगांव, सोनारगांव, नेगापटम और मछलीपटम बन्दरगाह विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी समुद्र तट का गोआ बन्दरगाह भी इस समय अच्छी उन्नत दशा में था, जो पोर्तुगीज व्यापारियों का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। इन बन्दरगाहों से भारत का माल विदेशों में और विदेशी माल भारत में विक्रय के लिये आता था। राज्य की ओर से इस माल पर महसूल लिया जाता था, जिसकी मात्रा सोना-चांदी पर दो प्रतिशत और अन्य सब प्रकार के माल पर साढ़े तीन प्रतिशत थी। यूरोपियन देशों के बहुत-से व्यापारी इस युग में व्यापार के लिये भारत आने जाने लगे थे, और इनके कारण भारत के

विदेशी व्यापार की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई थी। मुगल बादशाहों की यह नीति थी, कि सोना-चाँदी भारत से बाहर न जाने पाए, और विदेशी व्यापारी जो माल इस देश से खरीदें, उसकी कीमत वे सोना-चाँदी में अदा किया करें। इसी लिये यूरोपियन व्यापारियों को भारत का माल प्राप्त करने के लिए सोना-चाँदी अपने साथ लाना पड़ता था। जो माल बिक्री के लिये भारत से बाहर जाता था, उसमें विविध प्रकार के सूती व रेशमी वस्त्र, मिर्च-मसाले, नील, अफीम और औषधि मुख्य थे। भारत में बिकने आने वाले विदेशी माल में सोना, चाँदी, घोड़े, धातुएँ, हाथी दाँत, मूँगे, अम्बर, मणि-माणिक्य, सुगन्धि आदि प्रधान थे। विदेशी व्यापार के कारण इस देश के बन्दरगाहों में निवास करने वाले व्यापारी बहुत समृद्ध हो गये थे, और भारत के वैभव में भी इससे बहुत सहायता मिली थी।

उनतीसवां अध्याय

मुगल-युग का साहित्य, कला, धर्म और जीवन

(१) शिक्षा

शिक्षणालय—जिस प्रकार आजकल राज्य की ओर से शिक्षणालयों का संचालन व नियन्त्रण होता है, वैसा प्राचीन व मध्यकाल में नहीं होता था। मुगल युग के शिक्षणालय भी न राज्य द्वारा संचाचित थे, और न राज्य का नियन्त्रण ही उन पर विद्यमान था। इस काल में शिक्षा का कार्य धार्मिक संस्थाओं के अधीन था, और मन्दिरों व मस्जिदों के साथ अनेक इस प्रकार के विद्यालय स्थापित थे, जिनमें विद्यार्थी साधारण व उच्च शिक्षा प्राप्त करते थे। बौद्ध-युग में जिन विहारों व महाविहारों की स्थापना हुई थी, वे अब नष्ट हो चुके थे। उनका स्थान अब मन्दिरों और मस्जिदों के साथ सम्बद्ध शिक्षा-संस्थाओं ने ले लिया था। हिन्दू-मन्दिर न केवल हिन्दू-धर्म, दार्शनिक चिन्तन और भारतीय संस्कृति के केन्द्र थे, अपितु साथ ही शास्त्रों की शिक्षा का कार्य भी वहां होता था। यही बात मस्जिदों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जहां पर्शियन भाषा, कुरान व अन्य मुसलिम धर्मग्रन्थों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। इन धार्मिक शिक्षणालयों का खर्च जहाँ जनता द्वारा दिये जाने वाले दान से चलता था, वहां मुगल बादशाह व उनके बड़े-बड़े मनसबदार व अमीर-उमरा भी इन्हें आर्थिक सहायता व जागीरें प्रदान करते थे और उनकी आमदनी से इनका खर्च भली-भांति पूरा हो जाता था। मुगल बादशाहों ने मस्जिदों के साथ विद्यमान 'मकतबों' की दिल खोलकर सहायता की, और विद्वानों के संरक्षण व सहायता में भी उन्होंने बहुत उदारता दिखाई।

सैयद मकबर अली ने अपनी तवारीख में बाबर के विषय में लिखा है, कि बादशाह बाबर ने मकतबों व शिक्षणालयों की उन्नति पर बहुत ध्यान दिया, और उसकी सरकार के अन्यतम विभाग शुहरते-आम का एक कर्तव्य यह था, कि वह शिक्षा-संस्थाओं की उन्नति की व्यवस्था करे। यद्यपि हुमायूं का अधिकांश समय युद्धों में व्यतीत हुआ, पर उसे भूगोल और ज्योतिष का बहुत शौक था। पुस्तकों का वह बड़ा प्रेमी था, और युद्ध यात्रा के समय भी वह बहुत-सी पुस्तकों को अपने साथ रखता था। उसने दिल्ली में एक मदरसे की स्थापना की, और पुराने किले में शेरशाह द्वारा निर्मित प्रमोद-भवन को पुस्तकालय के रूप में परिणत किया। अकबर के समय में मुगल साम्राज्य पूर्णतया व्यवस्थित हो गया था। इस कारण बादशाह मकतबों और मदरसों की उन्नति पर विशेष ध्यान दे सका। फतहपुर सीकरी, आगरा व अन्य अनेक नगरों में उसने मदरसे खुलवाये, जिनमें विविध मुसलिम विद्वान् शिक्षण के कार्य में व्यापृत रहते थे। अकबर ने यह भी व्यवस्था की, कि इन मदरसों में हिन्दू विद्यार्थी भी शिक्षा प्राप्त कर सकें। जहांगीर पर्शियन और तुर्की भाषाओं का विद्वान् था। उसने यह आदेश जारी

किया, कि जिस किसी धनी मनुष्य का कोई वारिस न हो, उसकी सम्पति पर राज्य का अधिकार हो जाय, और सम्पत्ति का उपयोग मकतबों और मदरसों की मरम्मत के खर्च के लिये किया जाए। 'तारीखें-जांजहां' में जहांगीर के विषय में लिखा है, कि जो मदरसे वर्षों से उजड़े पड़े थे और जिनमें पशु भी निवास करने लगे थे, बादशाह की कोशिश से वे सब अध्यापकों और विद्यार्थियों से परिपूर्ण हो गये। शाहजहां को भी विद्या और ज्ञान से बहुत प्रेम था। वह अपना कुछ समय नियमित रूप से विद्याध्ययन में व्यतीत करता था, और उसने दिल्ली में एक नये मदरसे की स्थापना की थी। दार-उल-बका नाम का एक पुराना मदरसा इस समय बिल्कुल उजड़ी हुई दशा में था। शाहजहां ने उसका भी जीर्णोद्धार करवाया। शाहजहां का ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अरबी, पर्शियन और संस्कृत का पण्डित था। उसने उपनिषद्, भगवद्-गीता, योगवासिष्ठ आदि अनेक संस्कृत ग्रन्थों का स्वयं पर्शियन भाषा में अनुवाद किया, और सूफी सम्प्रदाय सम्बन्धी अनेक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे। यदि दाराशिकोह अपने पिता के बाद मुगल बादशाहत के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो सकता, तो निःसन्देह भारत में विद्या और ज्ञान को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिलता। पर दुर्भाग्यवश वह बादशाह नहीं बन सका, और इस विद्या-प्रेमी राजकुमार की आकांक्षायें मन की मन में ही रह गयीं। औरंगजेब स्वयं अच्छा विद्वान् था। पर उसकी सबशक्ति मुगल-साम्राज्य का विस्तार करने और राज्यशासन को मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुरूप बनाने में ही लग गयी। वह अपने साम्राज्य में शिक्षा की उन्नति की ओर ध्यान देने में असमर्थ रहा, यद्यपि उसने इस्लाम की वृद्धि और मुस्लिम धर्मशास्त्रों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

मुसलिम बादशाहों के शासनकाल में विद्यमान विविध मकतबों और मसजिदों में बहुत-से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। यह शिक्षा प्रधानतया पर्शियन और अरबी भाषाओं और कुरान आदि मुसलिम धर्म-ग्रन्थों की ही होती थी। इसी प्रकार हिन्दू-मन्दिरों में संस्कृत और हिन्दू शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता था। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र आदि वैज्ञानिक विषयों की पढ़ाई का भी इनमें प्रबन्ध था, पर ये विषय भी धार्मिक साहित्य के अंग-रूप में ही पढ़ाये जाते थे। शिल्प की शिक्षा के लिये विद्यार्थी प्रायः उस्तादों (आचार्यों) की सेवा में उपस्थित होते थे, जिनके पास वे शागिर्द (अन्तेवासी) के रूप में निवास करते थे। पर मस्जिदों और मन्दिरों के साथ सम्बद्ध शिक्षण-संस्थाओं से लाभ उठाने का अवसर सर्वसाधारण जनता को बहुत कम मिलता था, और इस युग के बहुसंख्यक लोग प्रायः निरक्षर ही होते थे। बड़े घरों के लड़कों के समान उनकी लड़कियां भी शिक्षा प्राप्त करती थीं। बादशाह के हरम और अमीर-उमरावों के घरों की स्त्रियां जहाँ संगीत, कला आदि में निपुण होती थीं, वहाँ साथ ही शिक्षित होने का भी प्रयत्न करती थीं। यही कारण है, कि मुगल-युग में हमें अनेक सुशिक्षित व सुसंस्कृत महिलाओं का पता मिलता है। बाबर की लड़की गुलबदन बेगम एक सुशिक्षिता महिला थी। उसने 'हुमायूंनामा' नामक पर्शियन पुस्तक में अपने भाई हुमायूँ का चरित्र लिखा है। हुमायूँ की भतीजी सलीमा सुलतान ने भी पर्शियन भाषा में अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें से कतिपय इस समय भी उपलब्ध हैं। जहाँगीर की प्रेयसी मलिका नूरजहाँ और शाहजहाँ की बेगम मुमताज महल अत्यन्त सुसंस्कृत महिलायें

थी। मुगल खानदान की अन्य सुशिक्षित महिलाओं में जहांनारा और जेबुन्निसा के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सब स्त्रियां अरबी और फारसी पर अधिकार रखती थीं और विद्या व ज्ञान से उन्हें बहुत प्रेम था।

(२) साहित्य

पर्शियन साहित्य—मुगल युग के साहित्य में पर्शियन ग्रन्थों का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस युग के पर्शियन साहित्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) इतिहास व जीवन चरित्र, (२) अनुवाद ग्रन्थ और (३) काव्यग्रन्थ। ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुल्ला दाऊद द्वारा लिखित तवारीखे-अल्फी, अबुल फजल द्वारा लिखित आइने-अकबरी और अकबर नामा, बदाउनी द्वारा लिखित मुन्तखाब-उत्-तवारीख, निजाम-उद्दीन अहमद द्वारा विरचित तबकाते-अकबरी, फैजी सरहिन्दी द्वारा लिखित अकबरनामा और अब्बुल बकी द्वारा लिखित मआसिरे-रहीमी ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मुगल युग का सबसे प्रसिद्ध पर्शियन लेखक अबुल फजल था, जो अकबर का परम मित्र और सहायक था। वह न केवल ऐतिहासिक था, अपितु साथ ही एक सुसंस्कृत कवि, आलोचक और विद्वान भी था। उसकी आइने-अकबरी का अकबर के समय के भारत का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उतना ही महत्त्व है, जितना कि मौर्य चन्द्रगुप्त के समय के भारत के लिये कौटलीय अर्थ-शास्त्र का है।

मुगल बादशाहों ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का पर्शियन भाषा में अनुवाद कराने के लिये भी प्रयत्न किया। अकबर के आदेश से महाभारत के बहुत-से भागों का पर्शियन में अनुवाद हुआ, और इन्हें 'रज्म-नामा' नाम दिया गया। महाभारत का यह अनुवाद मुस्लिम विद्वानों द्वारा किया गया था, जो कि पर्शियन के साथ-साथ संस्कृत के भी पण्डित थे। १५८९ में बदाउनी ने रामायण का पर्शियन में अनुवाद किया। हाजी इब्राहीम सरहिन्दी ने अथर्ववेद को और फैजी ने लीलावती को पर्शियन भाषा में अनूदित किया। लीलावती गणित का प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ है। इसी प्रकार मुकम्मल खाँ गुजराती से ज्योतिष के प्राचीन ग्रन्थ 'ताजक' का और मौलाना शाह मुहम्मद शाहबादी ने काश्मीर के इतिहास का पर्शियन में अनुवाद किया। अकबर की प्रेरणा से अनेक ग्रीक और अरबी पुस्तकें भी पर्शियन में अनूदित की गयीं। इसमें सन्देह नहीं, कि बादशाह अकबर के संरक्षण में पर्शियन साहित्य की बहुत उन्नति हुई। जहां उसमें अनेक मौलिक पुस्तकें लिखी गयीं, वहां अन्य भाषाओं की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें अनुवाद द्वारा भी उसमें समाविष्ट हुईं। अकबर की संरक्षा में जिन अनेक कवियों ने पर्शियन भाषा में काव्य-रचना की, उनमें फैजी, गिजली, मुहम्मद हुसैन नजीरी और सैयद जमालुद्दीन उर्फी का बहुत ऊंचा स्थान है।

पर्शियन भाषा के जो अनेक विद्वान व साहित्यिक जहांगीर के राजदरबार की शोभा बढ़ाते थे, उनमें गियास बेग, नकीब खां, मुतमिद खां, नियामतुल्ला और अब्दुल हक देहलवी सर्वप्रधान हैं। इस काल के ऐतिहासिक ग्रन्थों में मुआसिरे-जहांगीरी और जुब्दुत्तवारीख विशेष प्रसिद्ध हैं।

अपने पिता और पितामह के समान शाहजहां भी विद्वानों का संरक्षक व आश्रय-दाता था। उसके आश्रय में निवास करने वाले ऐतिहासिकों ने जो अनेक इतिहास-

ग्रन्थ लिखे, उनमें अब्दुल हमीद लाहौरी द्वारा लिखित पादशाहनामा और इनायत खां द्वारा लिखित शाहजहांनामा बहुत प्रसिद्ध हैं। शाहजहां के वृत्तान्त और इस युग के भारत के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के ये ही मुख्य साधन हैं। दाराशिकोह ने जिन अनेक संस्कृत पुस्तकों का पर्शियन भाषा में अनुवाद किया था, उनका उल्लेख हम इसी प्रकरण में ऊपर कर चुके हैं। औरंगजेब को शिक्षा और साहित्य से विशेष प्रेम नहीं था। न उसे संगीत का शौक था, और न कला व कविता का। इतिहास लेखन के भी वह विरुद्ध था। फिर भी उसके समय में पर्शियन भाषा में अनेक इतिहास-ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें मिर्जा मुहम्मद काजिम का आलमगीरनामा, मुहम्मद साकी का मआसीरे-आलमगीरी, सुजानराय खत्री का खुलासात्तुत्तवारीख, भीमसेन का नुस्खाए-दिलकुशा और ईश्वरदास का फतूहाते-आलमगीरी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार ब्रिटिश युग में बहुत-से हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजी की योग्यता प्राप्त कर इस विदेशी भाषा में ग्रन्थ प्रणयन करने के लिये प्रवृत्त हुए, वैसे ही मुगल शासन में अनेक हिन्दुओं ने भी पर्शियन भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था, और उनके लिखे हुए पर्शियन भाषा के ग्रन्थ भाषा और शैली की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट कोटि के हैं। इस युग में राजकीय कार्यों के लिये पर्शियन भाषा का ही उपयोग होता था, और इसी कारण उच्च व सम्पन्न वर्ग के हिन्दू इस भाषा में योग्यता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

औरंगजेब के शासनकाल के अन्तिम भाग में मुगल-साम्राज्य में अव्यवस्था और अराजकता छा गयी थी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे, और वे मुगल बादशाह को अक्षुण्ण रखने में असमर्थ रहे। औरंगजेब के बाद भारत की प्रधान राजशक्ति मुगलों के हाथों से निकलकर मराठों के हाथों में आ गयी। यही कारण है, कि पिछले मुगल बादशाहों के समय में पर्शियन साहित्य का अधिक विकास नहीं हो सका, यद्यपि अनेक लेखक व विद्वान् इस सुसंस्कृत भाषा को अपनी रचनाओं के लिये प्रयुक्त करते रहे।

हिन्दी-साहित्य—हिन्दी साहित्य की दृष्टि से मुगल-युग को 'सुवर्णीय काल' माना जाता है। इसमें सन्देह नहीं, कि मुगल-साम्राज्य की स्थापना के कारण भारत में जो शान्ति और सुव्यवस्थित शासन कायम हो गया था, उससे लाभ उठाकर अनेक प्रतिभाशाली कवि इस युग में हिन्दी-काव्य-साहित्य के विकास में तत्पर हुए। हिन्दी भाषा का यह साहित्य प्रधानतया धार्मिक था। अफगान युग में हिन्दू धर्म में जो नई चेतना उत्पन्न हुई थी, उसके कारण सर्वसाधारण जनता में नवजीवन का संचार हो गया था। स्वामी रामानन्द, कबीर, नानक, चैतन्य आदि सन्त महात्माओं ने भारत के धार्मिक क्षेत्र में जो नई लहर चलाई थी, वह निरन्तर जोर पकड़ रही थी, और उससे प्रभावित होकर तुलसी, सूर आदि कवियों ने एक ऐसी भक्तिमयी धारा का प्रवाह शुरू किया, जिससे भारत की सर्वसाधारण जनता ने बहुत शान्ति और सान्त्वना प्राप्त की।

तुलसी, सूर आदि कवियों का इस युग के धार्मिक इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि उन्होंने अपने धार्मिक विचारों के प्रतिपादन के लिये ही काव्य के साधन का उपयोग किया था। उनके धार्मिक विचारों पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। पर तुलसीदास जैसे व्यक्ति केवल सन्त महात्मा व धर्मसुधारक ही नहीं थे,

अपितु वे महाकवि भी थे। उनके काव्य हिन्दी साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं। यहाँ हम उनके काव्य व कविरूप पर ही विचार करेंगे।

महाकवि तुलसीदास सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुए थे, और अकबर के समकालीन थे। स्वामी रामानन्द की शिष्यपरम्परा द्वारा रामभक्ति की जो परम्परा निरन्तर पुष्टि पा रही थी, तुलसीदास से उसे बहुत बल मिला। यद्यपि तुलसी का अकबर के साथ कोई परिचय नहीं था, और उन जैसे सन्त को बादशाह के सम्पर्क व संरक्षण की कोई आवश्यकता भी नहीं थी, तथापि इस युग के अनेक प्रतिष्ठित व समर्थ पुरुषों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ, जिनमें अब्दुर्रहीम खानखाना और राजा मानसिंह के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अब्दुर्रहीम खानखाना या 'रहीम' से इनकी समय-समय पर दोहों में लिखा पढ़ी होती रहती थी, और इनके प्रति वे बहुत आदर का भाव रखते थे। तुलसीदास हिन्दी के सबसे बड़े महाकवि हुए हैं, और उनके राम-चरित मानस, विनय-पत्रिका आदि काव्य हिन्दी-साहित्य के अमोल रत्न हैं। तुलसी-रचित काव्य-ग्रन्थों में बारह प्रसिद्ध हैं, जिनमें पांच बड़े और सात छोटे हैं। रामचरित-मानस को केवल काव्य के रूप में ही नहीं पढ़ा जाता, सर्वसाधारण जनता की दृष्टि में वह एक धर्मग्रंथ की भी स्थिति रखता है। इसी लिए अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने उसे हिन्दू धर्म की 'बाइबल' कहा है। इसमें सन्देह नहीं, कि राजाओं के राजमहलों और गरीबों के झोंपड़ों में रामचरितमानस का समान रूप से आदर है, और इस एक ग्रन्थ ने उत्तरी भारत की जनता को जितना अधिक प्रभावित किया है, उतना सम्भवतः अन्य किसी पुस्तक ने नहीं किया।

तुलसी के समान ही राम की भक्ति का प्रतिपादन करने वाले अनेक अन्य सन्त-कवि इस युग में हुए, जिनमें नाभादास, हृदयराम और प्राणचन्द चौहान के नाम उल्लेख-नीय हैं। पर अफगान युग के वैष्णव आचार्यों ने विष्णु की भक्ति केवल 'राम' के रूप में ही शुरू नहीं की थी। पुरुषोत्तम कृष्ण को विष्णु का अवतार मानकर उन्होंने कृष्ण-भक्ति की भी लहर चलाई थी। कृष्ण-भक्ति शाखा के भी बहुत-से सन्त-कवि इस युग में हुए, जिनमें सबसे प्रधान स्थान सूरदास और मीराबाई का है। सूरदास जी बाबर, हुमायूं और अकबर के समकालीन थे, और मुगल बादशाहों के सम्पर्क व संरक्षण में आये बिना ही एक ऐसी काव्यधारा का सृजन कर रहे थे, जिसमें स्नान कर आज तक भी करोड़ों नर-नारी अपने को धन्य मानते हैं। सूरदास की कविता में अपूर्व माधुर्य है, और उनका एक-एक पद हृत्तन्त्री को झंकृत कर देने की क्षमता रखता है। कृष्ण की भक्ति में जिस ढंग के पदों का उन्होंने निर्माण किया, वे हिन्दी-साहित्य के उज्ज्वल रत्न हैं। मीराबाई मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं, और उदयपुर के महाराणा के कुमार भोजराज के साथ उनका विवाह हुआ था। विवाह के कुछ समय बाद ही वे विधवा हो गयीं, और उन्होंने अपना सब ध्यान कृष्ण की भक्ति में लगा दिया। वे सोलहवीं सदी के मध्य भाग में हुई थीं और उनके गीत आज तक भी जनता में बहुत लोकप्रिय हैं। कृष्ण-भक्ति मार्ग के अन्य कवियों में कृष्णदास, परमानन्ददास, चतुर्भुज-दास, हितहरिवंश, गदाधर भट्ट, हरिदास, रसखान, ध्रुवदास और श्रीभट्ट के नाम उल्लेख-नीय हैं। ये सब कवि मुगल युग में हुये थे, और इन्होंने कृष्ण की भक्ति में जो पद बनाये

थे, वे आज तक भारत के भक्त समाज में आदर का स्थान रखते हैं। इनमें रसखान का एक विशेष स्थान है, क्योंकि ये जन्म और धर्म से मुसलिम होते हुए भी कृष्ण के परम भक्त थे। हिन्दुओं के भक्तिमार्ग से मुसलिम लोग भी किस प्रकार प्रभावित हो रहे थे, रसखान इसके उत्तम उदाहरण हैं।

हिन्दी काव्य का विकास इस युग में केवल सन्त कवियों द्वारा ही नहीं हुआ, अपितु मुगल बादशाहों और उनके अमीर-उमराओं के आश्रय में भी अनेक ऐसे कवि हुए, जिन्होंने हिन्दी साहित्य को समृद्ध बनाने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इनमें सर्वप्रधान स्थान अब्दुर्रहीम खानखाना का है। वह बैरम खां का पुत्र था, और अकबर के समय के सबसे बड़े अमीर-उमराओं में से एक था। अब्दुर्रहीम अरबी, पर्शियन और संस्कृत का प्रकाण्ड पण्डित था, और अनेक विद्वानों व कवियों का आश्रय-दाता था। पर्शियन के अतिरिक्त हिन्दी में भी उसने कविता की। हिन्दी जानने वाला कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो रहीम के दोहों से अपरिचित हो। मुगल दरबार में आश्रय पाने वाले अन्य कवियों में नरहरि, टोडरमल और बीरबल के नाम उल्लेखीय हैं। अकबर के दरबार में नरहरि का बड़ा मान था और बादशाह ने उन्हें 'महापात्र' की उपाधि से विभूषित किया था। रुक्मिणी-मंगल, छप्पयनीति, कवित्त-संग्रह आदि अनेक पुस्तकों की इन्होंने रचना की। कहते हैं कि इनकी ही एक कविता को सुनकर अकबर के हृदय में गौओं के प्रति करुणा उत्पन्न हुई थी, और उन्होंने गोवध बन्द करने की आज्ञा जारी की थी। गंग अकबर के दरबारी कवि थे, और रहीम इन्हें बहुत मानते थे। कहते हैं, कि अब्दुर्रहीम खानखाना ने उनके एक छप्पय से प्रसन्न होकर उन्हें छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। अकबर के दीवान टोडरमल हिन्दी में कविता भी करते थे, और वे संस्कृत के भी विद्वान थे। अकबर के परम सखा बीरबल द्वारा विरचित अनेक हिन्दी कवितायें भी इस समय मिलती हैं। मुगल-साम्राज्य के वास्तविक संस्थापक अकबर के समय में हिन्दी भाषा का इतना अधिक प्रचार था, कि बहुत-से मुसलमान भी हिन्दी में कविता करने लग गये थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि अब्दुर्रहीम खानखाना का उल्लेख ऊपर हो चुका है। अकबर को स्वयं भी हिन्दी कविता का शौक था, और अनेक ऐसे कवित्त अब तक भी विद्यमान हैं जिन्हें 'साहि अकब्बर' का बनाया हुआ माना जाता है। हो सकता है, कि इन्हें बादशाह के नाम से उसके किसी दरबारी कवि ने बना दिया हो। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अकबर हिन्दी का संरक्षक था, और उसके आश्रय में अनेक हिन्दी कवि अपना निर्वाह करते थे। इस काल में अन्य भी अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में कविता की। आलम अकबर के समकालीन थे, जिन्होंने 'माधवानल काम कंदला' नाम की प्रेम-कहानी दोहा-चौपाइयों में लिखी थी। इसी प्रकार जमाल, कादिर और मुबारक आदि अनेक मुसलमानों ने इस काल में हिन्दी में काव्य-रचना की। ये सभी कवि भक्ति-मार्ग के अनुयायी नहीं थे, और न इनकी कविता का उद्देश्य धार्मिक विचारों का प्रतिपादन ही था। ये कवि रस की अभिव्यक्ति के लिये काव्य की रचना करते थे, और इसमें सन्देह नहीं कि कला की दृष्टि से इनकी रचनाओं में बहुत सौन्दर्य है।

काव्य के विकास के साथ-साथ हिन्दी में अनेक ऐसे लेखक व कवि भी उत्पन्न

होने शुरू हुए, जिन्होंने कि संस्कृत के अनुकरण में हिन्दी में भी अलंकार ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार के साहित्यिकों में केशवदास सर्वप्रधान हैं। ये भी अकबर के समकालीन थे, और ओरछा नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की राजसभा में इन्हें बहुत मान प्राप्त था। ओरछा का राज्य इस समय मुगलों के अधीन था, और उसके राजा की स्थिति मुगलों के सामन्त के सदृश थी। केशवदास संस्कृत के पण्डित थे, और हिन्दी में भी उन्होंने संस्कृत की शास्त्रीय साहित्यिक पद्धति का अनुसरण किया। उन्होंने अलंकारों पर 'कविप्रिया' और रस पर 'रसिक प्रिया' लिखी। इनके अतिरिक्त कतिपय काव्य-ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे, जिनमें अलंकार आदि की प्रचुरता है। सेनापति नाम के एक अन्य कवि भी सत्रहवीं सदी में हुए, जिनका हिन्दी काव्य-साहित्य में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुगल-युग के बहुत-से हिन्दू व मुसलमान अमीर-उमरा भी बादशाहों के समान ही साहित्य-प्रेमी थे, और कवियों का संरक्षण व प्रोत्साहन करना गौरव की बात समझते थे। विशेषतया, राजपूत राजाओं ने हिन्दी कवियों व साहित्यिकों को आश्रय देने में बहुत उत्साह दिखाया। केशवदास के समान इस युग के अन्य अनेक कवियों ने भी राजपूत राजाओं के दरबार में आश्रय पाकर निश्चिन्तता के साथ साहित्य-सृजन का कार्य किया।

अकबर के काल के बाद हिन्दी के जो कवि हुए, उनमें बिहारी लाल, महाराज जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण और घन आनन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सब कवि सत्रहवीं सदी में या अठारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में हुए थे। अकबर के समय में हिन्दी कवियों ने जो अपूर्व प्रतिभा प्रदर्शित की थी, वह बाद के कवियों में नहीं पाई जाती। पर इसमें सन्देह नहीं, कि सम्पूर्ण मुगल-युग में हिन्दी साहित्य निरन्तर उन्नति करता रहा। औरंगजेब जैसे धर्मान्ध मुसलिम बादशाह से यह आशा नहीं की जा सकती थी, कि अकबर के समान वह भी हिन्दी कवियों का आदर करता। पर उसकी हिन्दू विरोधी नीति के कारण भारत में जो विद्रोह की भावना प्रादुर्भूत हुई, वह भूषण जैसे कवियों के काव्य में प्रगट हुई, और शिवाजी जैसे वीर द्वारा उन्हें प्रोत्साहन व संरक्षण प्राप्त हुआ।

दक्षिणापथ में भी बहुत-से कवि इस युग में हुए, जिन्होंने हिन्दी में काव्य रचना की। ये कवि प्रायः सब मुसलमान थे। दक्षिण की भाषा हिन्दी नहीं थी। पर वहाँ मुसलिम शासन स्थापित हो चुका था। शासक व सैनिक के रूप में जो बहुत-से मुसलमान व हिन्दू इस युग में उत्तरी भारत से दक्षिण में गये, उनकी भाषा हिन्दी ही थी। इसी कारण उन्होंने पर्शियन शब्दों से मिश्रित हिन्दी भाषा में कविता की। इन मुसलिम कवियों की भाषा को उर्दू और हिन्दी दोनों ही समझा जा सकता है, पर उसमें आजकल की उर्दू के समान अरबी व पर्शियन शब्दों की भरमार नहीं है।

बंगाली साहित्य—महाप्रभु चैतन्य द्वारा बंगाल में भक्ति की जिस लहर का प्रारम्भ हुआ था, उसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। वैष्णव धर्म से प्रभावित होकर मुगल-युग में बंगाल में अनेक ऐसे साहित्यिक उत्पन्न हुए, जिन्होंने नवीन साहित्य का सृजन किया। कृष्णदास कविराज (जन्मकाल १५३१ ई०) ने इसी युग में चैतन्य-चरितामृत नाम से महाप्रभु का जीवन-चरित्र लिखा। इस काल के वैष्णव-साहित्य में वृन्दावनदास (जन्म काल १५०७ ई०) का चैतन्य-भागवत, जयानन्द (जन्म-

काल १५१३ ई०) का चैतन्य-मंगल, त्रिलोचनदास (जन्म १५२३ ई०) का चैतन्य-मंगल और नरहरि चक्रवर्ती का भक्ति-रत्नाकार विशेष महत्त्व रखते हैं। इसी काल में अनेक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का बंगाली भाषा में अनुवाद भी किया गया। इन अनुवाद-ग्रन्थों में काशीराम दास की महाभारत और मुकुन्दराम चक्रवर्ती की कवि-कंकणचण्डी उल्लेखनीय हैं। मुकुन्दराम चक्रवर्ती द्वारा विरचित इस पुस्तक का बंगाल में वही स्थान है, जो कि उत्तरी भारत में तुलसीकृत रामचरितमानस का है।

(३) धर्म

तुलसी और रामभक्ति की लहर—अफगान युग में हिन्दू-धर्म में नवजागृति की जो लहर शुरू हुई थी, मुगल काल में उसे और अधिक बल मिला। स्वामी रामानन्द द्वारा राम भक्ति की जो परम्परा प्रारम्भ की गयी थी, तुलसीदास ने उसे जन-साधारण तक पहुँचा दिया। भारतीय इतिहास में तुलसी का महत्त्व एक महाकवि के रूप में उतना नहीं है जितना कि एक नवीन धार्मिक लहर को जनसाधारण तक पहुँचाने वाले धर्म-प्रचारक व सुधारक के रूप में है। आज उत्तरी भारत की बहुसंख्यक जनता संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण वेदशास्त्रों के मर्म से परिचित होने के लिये वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ व उपनिषद् आदि का अध्ययन करने में असमर्थ है। पर इस कारण उसे भारतीय धर्म की प्राचीन विचारसरणी से अपरिचित रहने की आवश्यकता नहीं है। राम के चरित्र को निमित्त बनाकर तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' में उस सब ज्ञान को सरल भाषा में लिख दिया है, जो वेद-शास्त्र में विद्यमान है। उपनिषदों का अध्यात्मवाद, दर्शनों का तत्त्वचिन्तन और पुराणों की गाथायें—ये सब रामचरित मानस में उपलब्ध हैं; और वे भी ऐसी सरल भाषा में कि सर्वथा निरक्षर व्यक्ति भी उन्हें सुगमता के साथ समझ सकता है। हिन्दू धर्म, सभ्यता, संस्कृति और विचारसरणी में जो कुछ भी उत्कृष्ट तत्त्व हैं, तुलसी ने रामचरित मानस में उन सबका अत्यन्त सुन्दर रूप में समावेश कर दिया है। मध्यकालीन यूरोप में क्रिश्चियन लोग बाइबिल का अध्ययन लैटिन भाषा में किया करते थे। लैटिन सर्वसाधारण लोगों की भाषा नहीं थी। इसलिए केवल सुशिक्षित पादरी ही अपने धर्म ग्रन्थों के उपदेशों को जान सकने का अवसर प्राप्त कर सकते थे। मध्य काल के अन्त में जब प्रोटेस्टेन्ट आन्दोलन शुरू हुआ, तो उसके नेताओं ने बाइबल का लोकभाषाओं में अनुवाद किया, ताकि लेटिन से अपरिचित सर्वसाधारण लोग अपने धर्म के मान्य ग्रन्थ का अनुशीलन करने में समर्थ हों। तुलसीदास जी ने यही कार्य हिन्दू धर्म-शास्त्रों के सम्बन्ध में किया। उन्होंने वेद-शास्त्रों का अनुवाद तो नहीं किया, पर उन सब के तत्त्व व सार को स्वतन्त्र रूप से सरल कविता में इस ढंग से अभिव्यक्त किया, कि सर्वसाधारण जनता के लिये अपने धर्म के सिद्धान्तों व आख्यानों को जान सकना बिलकुल सुगम हो गया। धार्मिक क्षेत्र में तुलसी का यह कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। पर उनका कार्य केवल यहीं तक सीमित नहीं था। उन्होंने विष्णु के अवतार भगवान् राम को एक ऐसे रूप में जनता के सम्मुख रखा, जो धनुष बाण हाथ में लेकर राक्षसों का संहार करने में तत्पर था। बांसुरी बजाकर भक्तों के मन को मोह लेने वाले कृष्ण का रूप उन्हें आकृष्ट नहीं करता था। उनका मस्तक उस भगवान् के सम्मुख झुकता था,

जो हाथ में धनुष बाण धारण करता है। इस युग की यही सबसे बड़ी आवश्यकता थी। इसमें सन्देह नहीं, कि तुलसीदास के प्रयत्न से जहाँ भारत में रामभक्ति की लहर लोकप्रिय हुई, वहाँ जनता में वीरता और आशा का भी संचार हुआ। जो हिन्दू जाति अफगान-युग में तुर्क व अफगान विजेताओं से निरन्तर आक्रान्त होती रही थी, निरन्तर पराजयों के कारण जिसमें हीन भावना उत्पन्न हो गयी थी, वह अब धनुष बाण की सहायता से राक्षसों के हाथ में पड़ी हुई सीता का उद्धार करने वाले राम को अपना आदर्श मानकर नये जीवन और स्फूर्ति से परिपूर्ण हो गयी, और उसने मुगल साम्राज्य में वह स्थान प्राप्त कर लिया, जो उसके लिये उपयुक्त था। अत्याचारी व अधार्मिक रावण का नाश करने वाले राम के वीर और पुनीत चरित्र को जनता के सम्मुख रखकर तुलसीदास ने कहा—

'राम राज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम सदा विजयी हैं'

इस सन्देश से—राम के सदा विजयी होने की बात से हिन्दू जाति में नवीन उत्साह का संचार हुआ, और वह भारत में अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो गई। इसी लिये मुगल-युग में हिन्दू लोग पददलित व हीन दशा में ही नहीं रह गये थे। वे मुसलमानों के समकक्ष होकर विविध सूबों का शासन करते थे, मुसलिम सरदारों के विरुद्ध युद्ध करते थे, और साम्राज्य में अत्यन्त उच्च स्थान प्राप्त किये हुए थे।

कृष्ण भक्ति—सोलहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा के अन्यतम आचार्य श्री वल्लभाचार्य ने वृन्दावन को अपना केन्द्र बनाकर कृष्ण के पुरुषोत्तम रूप की भक्ति की जो लहर चलाई थी, उसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। वल्लभाचार्य के अनुसार श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं, और सब गुणों से सम्पन्न होने के कारण वे पुरुषोत्तम कहाते हैं। आनन्द की पूर्ण अभिव्यक्ति कृष्ण के इसी पुरुषोत्तम रूप में होती है, और इस रूप में जो लीलायें वे करते हैं, वे भी नित्य हैं। भगवान् कृष्ण की नित्य लीला में अपने को आत्मसात् कर देना ही मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट गति है। वल्लभाचार्य ने अपने शिष्य पूरनमल खत्री द्वारा गोवर्द्धन पर्वत (वृन्दावन में) पर एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया, जो कृष्ण की भक्ति का प्रधान केन्द्र बन गया। वल्लभाचार्य के बाद वृन्दावन व अन्यत्र अनेक ऐसे कृष्णभक्त उत्पन्न हुए, जिन्होंने कृष्ण की भक्ति को जन-साधारण में प्रचारित करने के लिये बहुत-से सुन्दर पदों की रचना की। इनमें 'अष्ट-छाप' के कवि सर्वप्रधान हैं। वल्लभाचार्य के बाद उनके पुत्र विट्ठलनाथ जी उनकी गद्दी के स्वामी बने थे। उन्होंने कृष्ण के भक्त आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की स्थापना की। ये आठ कवि निम्नलिखित थे—सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, कृष्ण दास, छीत स्वामी, गोविन्द स्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास। इनमें सूरदास का स्थान सर्वोच्च है, और उन्होंने कृष्ण की भक्ति का जनता में प्रसार करने के लिये अपने गीतों द्वारा जो अनुपम कार्य किया, वह भी वस्तुत: अद्वितीय है। ये सब कवि अकबर के समकालीन थे, और इनके भक्ति गीतों से न केवल हिन्दू अपितु मुसलमान भी बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। यही कारण है, कि सम्पूर्ण मुगल काल में बहुत-से ऐसे कवि होते रहे, जो अपने मधुर गीतों द्वारा जनता में कृष्णभक्ति की भावना का संचार करते रहे।

सिक्ख धर्म—अफगान युग में हिन्दू धर्म में नव-जागृति की जो लहर प्रारम्भ

हुई थी, उसमें गुरु नानक का स्थान बहुत महत्त्व का था। नानक की दृष्टि में हिन्दू और मुसलमान एक समान थे, और उनकी शिक्षा को सब लोग समान रूप से ग्रहण कर सकते थे। नानक के अनुयायी सिक्ख (शिष्य) कहाते थे। उनकी शिष्य परम्परा में दस गुरु हुए, जिनमें अन्तिम गुरु गोविन्द सिंह थे। शुरू के सिक्ख गुरुओं का रूप प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि रामानुजाचार्य व रामानन्द आदि की शिष्य परम्परा के आचार्यों का था। पर धीरे-धीरे सिक्ख पन्थ में परिवर्त्तन आना शुरू हुआ, और वह केवल एक धार्मिक सम्प्रदाय ही न रह कर एक राजनीतिक शक्ति भी बन गया। जहाँगीर के समय में सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव थे। जब राजकुमार खुसरो (जहाँगीर का ज्येष्ठ पुत्र) अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह कर लाहौर जा रहा था, तो गुरु अर्जुनदेव ने उसे आश्रय प्रदान किया। इस बात पर जहाँगीर बहुत नाराज हुआ, और जब खुसरो के सहायकों को भयंकर दण्ड दिये गये, तो अर्जुनदेव भी मुगल बादशाह के कोप के शिकार बने। उन पर जुर्माना किया गया, और जब उन्होंने जुर्माना देने से इन्कार किया, तो उन्हें मृत्युदण्ड दिया गया। गुरु अर्जुनदेव समझते थे, कि उनके पास जो कुछ भी सम्पत्ति है, वह पन्थ व ईश्वर की है, उसे वे जुर्माना अदा करने के लिये प्रयुक्त करने का कोई अधिकार नहीं रखते। इस घटना ने सिक्ख धर्म के इतिहास में भारी परिवर्त्तन किया, क्योंकि सिक्ख लोग अपने गुरु की हत्या को सहन नहीं कर सके। उन्होंने अपने को संगठित करना शुरू किया, और इस प्रकार वे धार्मिक सम्प्रदाय के साथ-साथ एक राजनीतिक शक्ति भी बन गए।

सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर थे, जो औरंगजेब के समकालीन थे। औरंगजेब किस प्रकार हिन्दू विरोधी नीति का आश्रय लेकर हिन्दुओं पर जजिया लगाने और उनके मन्दिरों को गिरवाने के लिये प्रयत्नशील था, इसका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब की इस नीति का विरोध किया। जब बादशाह को यह बात मालूम हुई, तो उसे बहुत क्रोध आया। गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलाया गया, और उन पर यह अभियोग लगाया गया, कि उन्होंने बादशाह के विरुद्ध बगावत फैलाई है। तेगबहादुर के सम्मुख दो विकल्प पेश किये गये, या तो वे इस्लाम को स्वीकार कर लें, अन्यथा उन्हें प्राण-दण्ड दिया जाएगा। तेगबहादुर ने दूसरा विकल्प चुना। बड़ी क्रूरता के साथ दिल्ली में उनका वध किया गया। गुरु के कत्ल का हाल जानकर सिक्खों में सनसनी फैल गयी। वे अपने गुरु की हत्या का बदला लेने के लिये उठ खड़े हुए। एक छोटे से धार्मिक सम्प्रदाय के लिए यह सुगम नहीं था, कि वह शक्तिशाली मुगल बादशाह का सामना कर सकता। पर इस समय सिक्खों में एक महापुरुष उत्पन्न हुआ, जिसने उन्हें भली-भाँति संगठित कर एक प्रबल शक्ति के रूप में परिणत कर दिया। यह महापुरुष गुरु गोविन्द सिंह थे, जो सिक्खों के दसवें व अन्तिम गुरु थे। गोविन्द सिंह ने सिक्खों को एक प्रबल सैन्य शक्ति बना दिया। वह कहा करते थे—'चिड़ियों से मैं बाज लड़ाऊँ, तो गुरुगोविन्द सिंह कहाऊँ।' सचमुच उन्होंने पंजाब की चिड़ियों को बाज के साथ लड़ने के योग्य बना दिया। उन्होंने प्रत्येक सिक्ख के लिये पाँच ककों का धारण करना आवश्यक कर दिया। पाँच कक्के ये थे—कंघा, कच्छ, कड़ा, केश और कृपाण। इनका उद्देश्य यह था, कि सिक्ख सिपाहियों की तरह

रहें और सैनिक कार्य को गौरव की बात समझें।

गुरु गोविन्दसिंह राजाओं के समान रहते थे। पर मुगल-साम्राज्य के सम्मुख उनकी शक्ति कितनी कम है, इसका भी उन्हें ज्ञान था। इसलिए उन्होंने पंजाब के पहाड़ों को अपना केन्द्र बनाया, और समय-समय पर वहाँ से निकलकर मुगल छावनियों पर आक्रमण करने शुरू किये। मुगलों ने गुरु गोविन्दसिंह व उनके 'खालसा' को कुचल डालने के लिये कोई कसर बाकी नहीं रखी। गुरु के दोनों लड़के पकड़े गये, और उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिये कहा गया। पर वे इसके लिये तैयार नहीं हुए। इस पर उन्हें जीते-जी दीवार में चुनवा दिया गया, पर वे धर्म से डिगे नहीं। औरंगजेब की मृत्यु तक गोविन्दसिंह ने मुगलों के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। औरंगजेब की मृत्यु के बाद जब मुगल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, तो सिक्खों को अपने उत्कर्ष का अपूर्व अवसर हाथ लगा। गोविन्दसिंह सिक्खों के अन्तिम गुरु थे। उन्होंने अपने बाद के लिये कोई गुरु निश्चित नहीं किया था। उन्होंने यह व्यवस्था की, कि भविष्य में ग्रन्थ साहब ही सिक्खों के गुरु का कार्य करें। ग्रन्थ साहब में सिक्ख-गुरुओं की वाणियां संगृहीत हैं। गुरु गोविन्दसिंह ने धार्मिक दृष्टि से जहाँ ग्रन्थ साहब को अपना उत्तराधिकारी नियत किया, वहाँ सिक्खों का सैनिक नेतृत्व उन्होंने बन्दा को सौंप दिया। बन्दा वैरागी सम्प्रदाय का था, तथा युद्ध-विद्या और सैन्य संचालन में अत्यन्त निपुण था। उसने गोविन्दसिंह के लड़कों की हत्या का बदला लेने के लिये सरहिन्द पर हमला किया, और वहाँ के फौजदार को परास्त कर सरहिन्द पर कब्जा कर लिया। इसी नगर में गोविन्दसिंह के पुत्रों को जीते-जी दीवार में चुनवाया गया था। सरहिन्द पर कब्जा करने के बाद भी बन्दा बहादुर निरन्तर मुगलों से संघर्ष करता रहा। मुगल बादशाहों को उसके कारण अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। अन्त में सन् १७१६ में बादशाह फर्रुखसियर उसे गिरफ्तार करने में सफल हुआ। बन्दा का बड़ी निर्दयता के साथ वध किया गया, और अन्य भी बहुत-से सिक्खों को कत्ल किया गया। पर इन अत्याचारों से सिक्ख दबे नहीं। उनकी शक्ति निरन्तर बढ़ती ही गयी। अन्त में नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली के आक्रमणों के कारण जब पंजाब में मुगलों की शासन-शक्ति अस्त-व्यस्त हो गयी, तो सिक्खों ने पंजाब में अपने अनेक स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये।

भारत के आधुनिक इतिहास में सिक्ख पन्थ का महत्त्व बहुत अधिक है। अफगान-युग में जो अनेक सन्त व धर्म-सुधारक उत्पन्न हुए थे, उनमें अकेले गुरु नानक ही ऐसे थे, जिनकी शिष्य परम्परा आगे चलकर एक ऐसे पन्थ के रूप में परिवर्तित हो गयी, जिसमें अपूर्व जीवनी शक्ति है। रामानन्द, वल्लभाचार्य और चैतन्य की शिष्य-परम्परा ने अपने अनुयायियों को चाहे कितनी ही शक्ति प्रदान की हो, पर उसके कारण उनके सम्प्रदायों में उस ढंग के नवजीवन का संचार नहीं हुआ, जैसा कि सिक्ख पन्थ में हुआ। जात-पांत व ऊँच-नीच के भेद का विरोध आदि बातों पर नानक और रामानन्द एक दृष्टिकोण रखते थे। पर रामानन्द व वल्लभाचार्य आदि भक्तिमार्गी आचार्यों के अनुयायी इनसे ऊपर उठने में उस अंश में सफल नहीं हुए, जैसे कि नानक के अनुयायी सिक्ख लोग हुए। सिक्ख पन्थ प्राचीन हिन्दू-धर्म का एक ऐसा परिष्कृत रूप है, जिसमें उन बुराइयों को कोई स्थान प्राप्त नहीं है, जो कि प्राचीन हिन्दू धर्म में देर से विद्यमान

हो रही थीं। पर यह बात अफगान-युग में प्रादुर्भूत हुए अन्य हिन्दू-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती।

दीने-इलाही—चिरकाल तक देश में एक साथ निवास करने के कारण हिन्दुओं और मुसलमानों में एक दूसरे के निकट सम्पर्क में आने की जो प्रवृत्ति अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगल-काल में वह बहुत अधिक जोर पकड़ गयी। अकबर धर्म के मामले में बहुत सहिष्णु था, और उसकी सहिष्णुता की नीति का जहांगीर और शाहजहां ने भी अनुसरण किया था। इन मुगल बादशाहों ने हिन्दुओं के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये थे, और इनकी हिन्दू रानियां विवाह के बाद भी अपने धर्म पर दृढ़ रही थीं। यह स्वाभाविक था, कि इनका असर मुगल बादशाहों पर पड़ता। अकबर की धार्मिक नीति पर जहां उसकी हिन्दू पत्नियों का असर हुआ, वहां साथ ही शेख मुबारक और उसके पुत्र अब्दुल फजल और फैजी के विचारों का भी उस पर प्रभाव पड़ा। ये सूफी सम्प्रदाय के थे, और धार्मिक दृष्टि से बहुत उदार विचार रखते थे। इनके संसर्ग से अकबर के विचारों में परिवर्त्तन आना शुरू हुआ, और इनके परामर्श से अकबर ने अपनी राजधानी फतहपुर सीकरी में एक इबादतखाने (पूजागृह) का निर्माण कराया। प्रति बृहस्पतिवार को यहां एक सभा होती थी, जिसमें हिन्दू, जैन, पारसी, यहूदी, ईसाई, शिया, सुन्नी आदि विविध सम्प्रदायों के विद्वान् धार्मिक विषयों पर विचार करते थे। अकबर स्वयं इस सभा में सभापति का आसन ग्रहण करता था, और विविध धर्माचार्यों के विचारों का ध्यानपूर्वक श्रवण करता था। विविध धर्मों के विद्वानों के विचारों को सुनने के कारण अकबर के धार्मिक विश्वासों में बहुत परिवर्त्तन आया, और इस्लाम के प्रति उसका विश्वास शिथिल होने लगा।

जिन विविध आचार्यों के सम्पर्क में आने के कारण अकबर के धार्मिक विचारों में परिवर्त्तन आना शुरू हुआ, उनमें से कतिपय के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दू-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करने वाले विद्वानों में पुरुषोत्तम और देवी प्रधान थे। देवी ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कृष्ण, राम, महामाया आदि के वास्तविक स्वरूप का अकबर को उपदेश दिया, और वह बहुधा उससे धर्मचर्चा किया करता था। जैन-धर्म का अकबर के सम्मुख प्रतिपादन करने वाले आचाय हीरविजय सूरि, विजयसेनसूरि, भानुचन्द्र उपाध्याय और जिनचन्द्र थे। १५७८ के बाद कोई-न-कोई जैनाचार्य सदा अकबर के दरबार में रहा करता था। हीरविजय के उपदेशों से प्रभावित होकर अकबर ने कुछ निश्चित तिथियों में पशुहिंसा का भी निषेध कर दिया था। पारसी धर्म के आचार्य दस्तूर मेहरजी राना ने अकबर को जरदुष्ट्र के धर्म का उपदेश किया था, और उसी के प्रभाव के कारण अकबर ने सूर्य की पूजा प्रारम्भ की थी, जो पारसियों की उपास्य-अग्नि का सबसे ज्वलन्त व प्रत्यक्ष रूप है। ईसाई धर्म से परिचय प्राप्त करने के लिये अकबर ने गोआ से पोर्तुगीज पादरियों को अपने दरबार में निमन्त्रित किया था। पर इस युग के ईसाई पादरी हिन्दुओ, जैनियों और पारसियों के समान सहिष्णु नहीं थे। उन्होंने अकबर के दरबार में आकर कुरान और पैगम्बर पर इस ढंग के आक्षेप शुरू किये, कि मुसलिम लोग उनसे बहुत नाराज हो गये। सिक्ख गुरुओं के प्रति भी अकबर की बहुत श्रद्धा थी, और वह उनकी वाणियों को बड़े आदर के साथ सुनता था।

विविध धर्मों के आचार्यों की शिक्षाओं को श्रवण कर अकबर ने इस बात की कोशिश की, कि एक ऐसे नये धर्म का विकास किया जाए, जिसमें सब धर्मों की अच्छी-अच्छी बातों का समावेश रहे। इस नये धर्म का नाम दीने-इलाही रखा गया। अकबर स्वयं दीने-इलाही का प्रवर्त्तक और गुरु बना। इस धर्म का मुख्य सिद्धान्त यह था, कि ईश्वर एक है, और अकबर उसका पैगम्बर है। मनुष्यों को सत्य असत्य का निर्णय करते हुए अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए और किसी पर अन्धविश्वास नहीं रखना चाहिये। दीने-इलाही के अनुयायी मांस-भक्षण से परहेज करते थे, और पशु-हिंसा को पाप मानते थे। अकबर प्रातःकाल के समय सूर्य को नमस्कार करता था, और अग्नि को दैवी शक्ति का प्रत्यक्ष रूप समझता था। उसके बहुत-से दरबारी दीने-इलाही के अनुयायी बन गये, पर ऐसा करने में उनका प्रधान हेतु बादशाह को प्रसन्न करना ही था। वे इस नये धर्म के सिद्धान्तों से आकृष्ट होकर इसके अनुयायी नहीं बने थे। यही कारण है, कि यह धर्म देर तक नहीं चल सका, और अकबर के साथ इसकी भी समाप्ति हो गई। यद्यपि दीने-इलाही सम्प्रदाय ने भारत में अपना कोई स्थिर प्रभाव नहीं छोड़ा, पर वह इस युग की धार्मिक प्रवृत्तियों का मूर्त्त रूप था। सदियों से एक साथ निवास करते हुए हिन्दू और मुसलमान एक-दूसरे के इतने समीप आ गये थे, कि दीने-इलाही जैसे धर्म का विकास सम्भव हो सका था। यदि जहाँगीर और शाहजहाँ के बाद दारा शिकोह को मुगल साम्राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने का अवसर मिलता, तो हिन्दू धर्म और इस्लाम के सामंजस्य की इस प्रवृत्ति को और अधिक बल मिलता। पर दुर्भाग्य से औरंगजेब के बादशाह बन जाने के कारण यह प्रवृत्ति निर्बल पड़ गयी, और उसकी हिन्दू-विरोधी नीति के कारण हिन्दू लोग मुगल बादशाहत के खिलाफ उठ खड़े हुए।

धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय की प्रवृत्ति—अफगान युग के सत्य-पीर सम्प्रदाय के समान मुगल युग में भी अनेक ऐसे सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों में एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। ये सम्प्रदाय सतनामी और नारायणी थे। नारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी हिन्दू और मुसलमान दोनों थे, और वे पूर्व की ओर मुख करके दिन में पांच बार प्रार्थना करते थे, ईश्वर के नामों में 'अल्लाह' को भी अन्तर्गत करते थे, और अपने मुर्दों को जलाने के बजाय जमीन में गाड़ा करते थे। इसी युग के एक साधक प्राणनाथ ने एक नया आन्दोलन चलाया, जिसमें जातिभेद, मूर्तिपूजा और ब्राह्मणों के प्रभुत्व का खंडन किया जाता था। प्राणनाथ गुजरात का निवासी था, और हिन्दू मुसलमान दोनों उसके अनुयायी थे। उससे दीक्षा लेने वाले व्यक्ति को हिन्दू और मुसलमान दोनों के साथ बैठकर भोजन करना पड़ता था। प्राणनाथ कहता था, कि हिन्दू और मुसलमान सबका एक धर्म व एक इमान होना चाहिये।

मुगल-युग की ये प्रवृत्तियां यदि जोर पकड़ती रहतीं, तो भारत में हिन्दू मुस्लिम समस्या उत्पन्न ही न हो पाती। पर औरंगजेब के समय के बाद ये प्रवृत्तियां निर्बल होती गयीं, और हिन्दू व मुसलमानों में सामंजस्य की प्रक्रिया बहुत कुछ रुक गयी। ब्रिटिश युग में भारत के विविध धर्मों में जो जागरण हुआ, उसके कारण तो यह प्रक्रिया एकदम समाप्त हो गयी, और हिन्दू व मुसलमान बहुत कुछ उसी प्रकार के दो वर्गों में विभक्त हो गये, जैसे कि तुर्क-अफगान युग के प्रारम्भ में थे।

(४) वास्तु कला

जिस प्रकार अफगान-युग में प्रादुर्भूत हुई धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक उन्नति की प्रक्रिया मुगल युग में भी जारी रही, उसी प्रकार वास्तुकला के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय कला और मुसलिम कला के सम्पर्क से विकसित व सुन्दर इमारतों के निर्माण की जो शैली अफगान-युग में प्रारम्भ हुई थी, मुगलकाल में वह निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही। यही कारण है, कि मुगल-युग की इमारतों पर हिन्दू और मुसलिम कलाओं के सम्मिश्रण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। औरंगजेब को छोड़कर अन्य सब मुगल बादशाह वास्तु-कला के प्रेमी थे, और उनके संरक्षण में अनेक सुन्दर इमारतें इस देश में निर्मित हुईं। धार्मिक कट्टरता के कारण औरंगजेब कला का विरोधी था, और उसकी शक्ति का उपयोग निर्माण की अपेक्षा विनाश के लिए अधिक हुआ था। उसने बहुत-से मन्दिरों को भूमिसात् तो किया, पर किसी उत्कृष्ट इमारत के निर्माण की ओर ध्यान देने की आवश्यकता उसने कभी अनुभव नहीं की। मन्दिरों को गिरवाकर जो अनेक मस्जिदें उसने बनवाईं, वे वास्तु-कला की दृष्टि से अधिक महत्त्व की नहीं हैं।

बाबर—बाबर बहुत कम समय तक भारत में शासन कर सका था। पाँच साल के लगभग के स्वल्प शासन काल में भी उसका ध्यान वास्तु कला की ओर आकृष्ट हुआ। उसने कान्स्टेन्टिनोपल से शिल्पियों को इस उद्देश्य से भारत निमन्त्रित किया, कि वे यहाँ आकर नई शैली के अनुसार मस्जिदों व अन्य इमारतों का निर्माण करें। उन दिनों कान्स्टेन्टिनोपल वास्तु-कला का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, और वहाँ के अनेक शिल्पी अपनी विशिष्ट शैली के अनुसार भवन निर्माण में तत्पर थे। पर भारत की किन्हीं भी इमारतों पर कान्स्टेन्टिनोपल की वास्तु-कला का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः यह कह सकना कठिन है, कि बाबर सुदूर टर्की से वास्तु-शिल्पियों को भारत बुलाने की अपनी योजना को क्रियान्वित करने में सफल हो सका था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि बाबर ने अनेक सुन्दर इमारतों का निर्माण कराया था, जिनमें इस समय केवल तीन ही विद्यमान है। पानीपत की काबुली बाग मसजिद, सम्भल की जामा मसजिद और आगरा के पुराने (लोदी) किले में विद्यमान मसजिद बाबर के समय की ही कृतियां हैं। पर इनके अतिरिक्त आगरा, धौलपुर, ग्वालियर, बियाना और सीकरी में भी उसने अनेक इमारतें बनवाई थीं, जिनका उल्लेख बाबरनामा में किया गया है। दुर्भाग्यवश, ये इमारतें अब नष्ट हो चुकी हैं।

हुमायूं—हुमायूं के समय की केवल दो मसजिदें इस समय विद्यमान हैं। उनमें से एक आगरा में है, और दूसरी हिसार जिले के फतहाबाद कस्बे में। इन इमारतों पर पर्शियन वास्तु-कला का प्रभाव स्पष्ट रूप से विद्यमान है। हुमायूं के शासनकाल के मध्य में ही अफगान नेता शेरशाह का दिल्ली पर आधिपत्य स्थापित हो गया था। इस कारण हुमायूं इमारतों के बनाने पर विशेष ध्यान नहीं दे सका। पर इस युग की वास्तु-कला के इतिहास में शेरशाह का स्थान बहुत महत्त्व का है। दिल्ली के पुराने किले में जो मसजिद है, वह और इस किले की प्राचीर के अनेक भाग शेरशाह की ही कृतियां हैं। बिहार के जिले में सहसराम नामक स्थान पर शेरशाह का मकबरा है, जो इण्डो-

मुसलिम वास्तु-कला का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। शाहजहाँ द्वारा निर्मित ताज-महल और सहसराम के इस मकबरे में कई दृष्टियों से समता है।

अकबर—अकबर का शासनकाल जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के लिये सुवर्णीय युग था, वैसे ही वास्तु-कला की दृष्टि से भी वह सुवर्णीय था। अकबर को वास्तु-कला का बहुत शौक था, और जैसा कि अबुल फजल ने लिखा है, पत्थर और मिट्टी के इन 'परिधानों' का आयोजन करने में वह स्वयं भी बहुत दिलचस्पी लेता था। अकबर की वास्तुकृतियाँ संख्या में बहुत अधिक हैं। कितने ही किलों, प्रासादों, बुर्जों, सरायों, मदरसों और जलाशयों का उसने निर्माण कराया। उसके समय की वास्तु-कला में हिन्दू, जैन, पर्शियन आदि विविध कलाओं का बहुत सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है। जिस प्रकार धर्म के मामले में अकबर समन्वय और सामञ्जस्य की नीति का समर्थक था, और हिन्दू धर्म के अनेक तत्त्व उसने अपना लिये थे, वैसे ही वास्तुकला के क्षेत्रमें भी उसने समन्वय की नीति को अपनाया, और प्राचीन भारतीय कला का उदारतापूर्वक उपयोग किया। अकबर के समय की सबसे पुरानी इमारत हुमायूँ का मकबरा है, जो दिल्ली में अब तक भी विद्यमान है। यह १५६५ में बनकर तैयार हुआ था। कला की दृष्टि से यह भार-तीयता के उतने समीप नहीं है, जितना कि पर्शियन कला से प्रभावित है। पर इसमें रंगीन टाइलों का प्रयोग नहीं हुआ है, जो कि पर्शियन शैली की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। उसके बजाय इसमें भारतीय शैली के अनुसार संगमरमर पत्थर का उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है। रणथम्बोर की विजय से वापस लौटते हुए अकबर ने १५६९ में फतहपुर सीकरी की नींव डाली, जो बाद में कुछ समय तक मुगलों की राजधानी भी रहा। यह नगर अब तक भी विद्यमान है, यद्यपि मुगल-युग में इसके विशाल प्रासाद प्रायः गैर-आबाद ही पड़े रहे, और अब भी वे भूतों की नगरी के सदृश प्रतीत होते हैं। फतहपुर सीकरी की इमारतों में सबसे प्रसिद्ध जामा मसजिद और बुलन्द दरवाजा है। बुलन्द दरवाजे का निर्माण अकबर ने दक्षिण की विजय के उपलक्ष में करवाया था, और निःसन्देह, यह भारत का सबसे ऊँचा व विशाल विजय-द्वार है। ऊँचाई में यह १६७ फीट है, और वास्तु-कला की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। फतहपुर सीकरी की अन्य इमारतों में राजा बीरबल का प्रसिद्ध सोनहरा मकान, ख्वाबगाह, दीवाने-खास और इबादतखाना विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यद्यपि ये इमारतें बहुत अधिक विशाल नहीं है, पर सौन्दर्य और कला की दृष्टि से ये सचमुच अनुपम हैं। इन्हीं को दृष्टि में रखकर ऐतिहासिक स्मिथ ने फतहपुर सीकरी के विषय में लिखा है, कि यह नगर प्रस्तर द्वारा निर्मित एक काव्य के समान है, जो कि अपना सानी नहीं रखता। अकबर की इमारतों में सबसे महत्त्वपूर्ण सिकन्दरा का मकबरा है। इसका निर्माण अकबर ने शुरू कराया था, और जहाँगीर के समय में यह पूर्ण हुआ। इसे बौद्ध-विहारों के नमूने पर बनाया गया है। शुरू में इसका जो नक्शा तैयार किया गया था, उसके अनु-सार इसका गुम्बज संगमरमर पत्थर का और इसके अन्दर की छत सोने की होनी चाहिये थी। यदि ऐसा कर दिया जाता, तो निःसन्देह बादशाह अकबर का यह मकबरा सौन्दर्य में अद्वितीय हो जाता। पर इसके बिना भी यह अत्यन्त सुन्दर और कलात्मक है, और अकबर जैसे महान् सम्राट् के अनुरूप है। फतहपुर सीकरी के बाद अकबर

ने आगरा को अपनी राजधानी बनाया, और वहां अपने निवास के लिये लाल किले का निर्माण कराया, जिसके प्रासाद व दीवाने-आम और दीवाने-खास वस्तुतः दर्शनीय हैं। आगरा के किले के प्रासाद को 'जहांगीर महल' कहते हैं, जिसे कि हिन्दू-वास्तुकला के अनुसार बनाया गया है। फतहपुर सीकरी, आगरा और सिकन्दरा की इन इमारतों के अतिरिक्त अकबर ने इलाहाबाद और लाहौर में भी बहुत-सी इमारतें बनवाई थीं। विलियम फिन्च ने लिखा है, कि इलाहाबाद के महल के निर्माण में चालीस साल लगे, और उसमें पांच हजार से बीस हजार तक शिल्पी व मजदूर चालीस वर्षों तक निरन्तर काम करते रहे। आगरा के किले के समान लाहौर में भी अकबर ने एक विशाल किले का निर्माण कराया था।

जहांगीर—जहांगीर को चित्रकला का बहुत शौक था, और उसने वास्तु-कला की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। यही कारण है, कि उनके समय में अधिक इमारतें नहीं बन पायीं। पर उसकी मलिका नूरजहां को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था, और उसने अपने पिता इतिमादुद्दौला का जो मकबरा आगरा में बनवाया, वह सौन्दर्य और कला की दृष्टि से वस्तुतः अनुपम है। यह मक़बरा संगमरमर से बनाया गया है, और इसकी शैली राजपूत है। उदयपुर में गोलमण्डल नाम का मन्दिर इसी शैली के अनुसार १६०० ई० के लगभग बना था। इतिमादुद्दौल्ला के मक़बरे के निर्माण में इसी मन्दिर का अनुसरण किया गया है। जहांगीर का मकबरा लाहौर में रावी के पार बना हुआ है, जिसका निर्माण भी नूरजहां ने कराया था। यह मकबरा भी कला की दृष्टि से अनुपम है। यद्यपि जहांगीर ने इमारतों के निर्माण में विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई, पर बागों और उद्यानों का उसे बहुत शौक था। काश्मीर में डल झील के तट पर स्थित सुन्दर उद्यान और अजमेर में अनासागर के घाट उसके प्रकृति-सौन्दर्य प्रेम के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

शाहजहां—मुगल बादशाहों में वास्तुकला की दृष्टि से शाहजहां का स्थान सर्वोच्च है। उस द्वारा निर्मित प्रसाद, दुर्ग, उद्यान, मसजिद आदि आगरा, दिल्ली, लाहौर, काबुल, कान्धार, काश्मीर, अजमेर, अहमदाबाद, मुखलीसपुर आदि कितने ही स्थानों पर अब तक भी विद्यमान हैं। इन सबके निर्माण में कितना खर्च हुआ होगा, इसका अन्दाज कर सकना सुगम नहीं है। पर यह निश्चित है कि इनके लिये शाहजहां ने करोड़ों रुपये खर्च किये होंगे। शाहजहां की वास्तु-कृतियों में सबसे महत्त्वपूर्ण आगरा का ताजमहल है, जिसे उसने अपनी प्रियतमा मुमताजमहल के चिरविश्राम के लिये बनवाया था। मुमताजमहल की मृत्यु सन् १६३० में हुई थी, और इसी समय शाहजहां ने इस विश्वविख्यात मकबरे का निर्माण शुरू करा दिया था। इसके लिये जहां बादशाह ने भारत के कुशल शिल्पियों को नियत किया था, वहां साथ ही पर्शिया, अरब, टर्की आदि से भी अनेक शिल्पियों को आमन्त्रित किया था। ताजमहल के निर्माण का कार्य प्रधानतया उस्ताद ईसा के सुपुर्द था, जिसे १००० रु० मासिक वेतन दिया जाता था। स्पेन के एक पादरी मानरीक ने १६१४ ई० में आगरा की यात्रा की थी। उसने लिखा है, कि ताज की रूपरेखा जरोनियो वरोनियो नामक एक इटालियन शिल्पी ने तैयार की थी। इसी के आधार पर अनेक ऐतिहासिकों ने यह प्रतिपादित किया है,

कि ताज की कल्पना यूरोपियन शिल्पियों के दिमाग से उत्पन्न हुई थी। स्मिथ के अनुसार ताजमहल यूरोपियन और एशियन प्रतिभा के सम्मिलित प्रयत्न का परिणाम है। पर बहुसंख्यक ऐतिहासिक इस बात को स्वीकृत नहीं करते। उनका कथन है, कि जरोनियो वरोनियो की मृत्यु १६४० में हो चुकी थी, और पादरी मानरीक को उससे मिलने का अवसर कभी प्राप्त ही नहीं हुआ था। अतः उसने जो सुनी-सुनाई बात अपने यात्रा-विवरण में लिखी है, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। मुसलिम लेखक ताजमहल को उस्ताद ईसा की कल्पना व प्रतिभा का परिणाम बताते हैं, और सम्भवतः यही बात ठीक भी है। पर यह असम्भव नहीं, कि ताजमहल के निर्माण में कतिपय यूरोपियन शिल्पियों का सहयोग भी प्राप्त रहा हो। इस युग में बहुत-से यूरोपियन यात्री, पादरी और कलाविज्ञ लोग भारत में आने लगे थे, और मुगल दरबार के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। पर ताजमहल की कला में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है, जिसे विदेशी या यूरोपियन समझा जा सके। सहसराम में विद्यमान शेरशाह के मकबरे की शैली ताज से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है, और संगमरमर की जिस ढंग की जालियाँ ताज की अनुपम विशेषता हैं, वे राजपूताने के अनेक पुराने मन्दिरों में भी पाई जाती हैं। पर यह निःसन्दिग्ध है, कि ताजमहल मुगल-युग की वास्तु-कला की सर्वोत्कृष्ट कृति है, और सैकड़ों वर्ष बीत जाने के बाद इस बीसवीं सदी में भी वह संसार भर के कलाप्रेमियों के लिये आश्चर्य की वस्तु है।

आजकल की पुरानी दिल्ली (शाहजहानाबाद) भी शाहजहाँ की ही कृति है। वहाँ उसने लाल किले और जामा मस्जिद का निर्माण कराया, जो सौन्दर्य की दृष्टि से अनुपम आकर्षण रखते हैं। लाल किले की मोती मस्जिद, दीवाने-आम, दीवाने-खास आदि इमारतें शाहजहाँ के सौन्दर्य और कला-प्रेम की परिचायक हैं। यद्यपि विशालता की दृष्टि से ये अकबर के समय की इमारतों का मुकाबला नहीं कर सकतीं, पर सौन्दर्य की दृष्टि से ये अनुपम हैं, और विविध प्रकार के दस्तकारों द्वारा इन्हें इस ढंग से विभूषित कर दिया गया है, कि इन्हें प्रस्तर द्वारा निर्मित आभूषण समझा जा सकता है। शाहजहाँ ने अलंकारमयी वास्तुकला द्वारा पृथ्वी पर बहिश्त (स्वर्ग) को उतारने का स्वप्न लिया था, और इसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इसी लिये उसने दिल्ली के लाल किले में बने हुए दीवाने-खास पर पर्शियन भाषा का एक पद उत्कीर्ण करवाया था, जिसका अर्थ है, कि "यदि पृथ्वी पर कहीं बहिश्त है, तो वह यहीं है, केवल यहीं है, अन्यत्र कहीं नहीं है।"

औरंगजेब—शाहजहाँ की मृत्यु के बाद मुगल-युग की वास्तु-कला में ह्रास प्रारम्भ हो गया। औरंगजेब को ललित कलाओं का जरा भी शौक नहीं था, और इस्लाम के आदर्शों का अनुसरण कर वह सादगी में विश्वास रखता था। इसी लिये अपने पूर्वजों के समान उसने किन्हीं विशाल व सुन्दर इमारतों के निर्माण का प्रयत्न नहीं किया। दिल्ली के लाल किले में उसने अपने निजी प्रयोग के लिये संगमरमर की एक मस्जिद का निर्माण करवाया था, जो अब तक भी विद्यमान है, और उसके सादे मिजाज का परिचय देती है। काशी में विश्वनाथ के मन्दिर को भूमिसात् करा के उसी के भग्नावशेषों पर उसने एक मसजिद का निर्माण कराया था, जो इस मुगल बादशाह की

धर्मान्धता का जीता-जागता प्रमाण है। लाहौर की बादशाही मसजिद भी औरंगजेब की ही कृति है।

औरंगजेब के बाद मुगल-साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके उत्तराधिकारी मुगल बादशाह इतने समृद्ध व वैभवपूर्ण नहीं थे, कि वे वास्तुकला पर ध्यान दे सकते। पर मुगल-साम्राज्य के भग्नावशेष पर जो अनेक हिन्दू व मुसलिम राज्य इस युग में कायम हुए, उनके राजाओं व नवाबों ने भवन-निर्माण की प्रक्रिया को जारी रखा। अमृतसर का सुवर्ण-मन्दिर (अकाल तख्त और गुरुद्वारा), लखनऊ के इमामबाड़े और हैदराबाद की आलीशान इमारतें इसी युग में निर्मित हुईं।

मन्दिर और मूर्तियां—जब भारत में मुसलमानों का शासन भली-भांति स्थापित हो गया, तो इस देश में मूर्तिकला का विकास सम्भव नहीं रह गया। मुसलिम लोग मूर्ति-पूजा के विरोधी थे, और बुतशिकन (मूर्तिभंजक) होना गौरव की बात समझते थे। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि भारत के कारीगर नये मन्दिरों का निर्माण करने और उनमें प्रतिष्ठापित की जाने वाली मूर्तियों को गढने में प्रवृत्त हो सकते। इस युग की मूर्ति-कला पत्थर पर विविध आकृतियों या बेलों व फूलों के निर्माण में ही प्रगट हुई, और प्राचीन काल तथा मध्य काल में जिस ढंग से विशाल मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण होता था, वह अब प्रायः बन्द हो गया।

पर फिर भी अकबर जैसे उदार व सहिष्णु बादशाहों के शासनकाल में और ऐसे प्रदेशों में जहां मुसलिम शासन नहीं था, मुगल युग में भी हिन्दुओं के अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण सम्भव हो सका। पन्द्रहवीं सदी में मुगलों की सत्ता के स्थापित होने से कुछ समय पूर्व राजस्थान में महाराणा कुम्भा ने अनेक विशाल मन्दिर बनवाये, जिनमें कुम्भस्वामी विष्णु का मन्दिर बहुत प्रसिद्ध है। इस मन्दिर के अलंकरण बहुत उत्कृष्ट ढंग के हैं। महाराणा कुम्भा ने गुजरात विजय के उपलक्ष में एक विशाल विजय-स्तम्भ का भी निर्माण कराया था, जो कि ऊंचाई में ११२ फीट है।

भारत में मुगल सत्ता के स्थापित हो जाने पर सोलहवीं सदी में महाराजा मानसिंह ने वृन्दावन में गोविन्ददेव का विशाल मन्दिर बनवाया। इसी काल में महाराज वीरसिंह देव ने ओरछा में चतुर्भुज मन्दिर का निर्माण कराया, जिसमें वैष्णव मन्दिरों के शिखर के आगे एक गुम्बद भी बनाया गया है।

(५) चित्रकला और संगीत

चित्रकला—वास्तुकला के समान चित्रकला में भी मुगल-युग में बहुत उन्नति हुई। मुगलों की चित्रकला का उद्भव पर्शिया में हुआ था। पर पर्शिया के स्रोत से जो चित्र-कला मुगलों द्वारा भारत में प्रविष्ट हुई, वह विशुद्ध पर्शियन नहीं थी। जब मंगोल लोगों ने पर्शिया को जीतकर उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया, तो वे अपने साथ एक ऐसी चित्रकला को उस देश में ले गए, जो बौद्ध, बैक्ट्रियन और मंगोलियन प्रभाव के सम्मिश्रण का परिणाम थी। पर्शिया में आने पर पर्शियन तत्त्व भी इसमें सम्मिश्रित हो गया, और पर्शिया के तैमूर वंशी शासकों के संरक्षण में इसका निरन्तर विकास होता रहा। मुगल विजेता बाबर तैमूर के वंश का था। तैमूर के सभी वंशज चित्रकला के प्रेमी थे। विशेषतया, हीरात के शासक हसैन बैकरा के संरक्षण में इस कला का असाधारण रूप

से विकास हुआ। उसके आश्रय में बिहज़ाद नाम का विख्यात चित्रकार रहता था, जिसकी गणना संसार के सर्वोत्कृष्ट कलावन्तों में की जाती है। बिहज़ाद ने चित्रकला के एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ किया, जिसमें पर्शियन, चीनी, बौद्ध आदि कलाओं के सर्वोत्कृष्ट तत्त्वों का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण किया गया था। बिहज़ाद की कला से बाबर भली भाँति परिचित था, और जब उसने भारत में अपना शासन स्थापित किया, तो इस कला का भारत में भी प्रवेश हुआ। उसके समय के अनेक ग्रन्थों की हस्त-लिखित प्रतियों को इस कला के अनुसार चित्रत किये गये चित्रों द्वारा विभूषित किया गया। ऐसी अनेक प्रतियाँ इस समय भी उपलब्ध होती हैं।

बाबर के समान हुमायूँ भी चित्रकला का प्रेमी था। शेरशाह द्वारा परास्त होने के कारण वह भारत छोड़ कर पर्शिया चले जाने के लिए विवश हुआ था। पर्शिया के शाह तहमास्प के पास रहते हुए भी वह अनेक चित्रकारों के सम्पर्क में आया, और उनकी कला से बहुत प्रभावित हुआ। भारत लौटने पर वह सैयद अली तबरीजी और ख्वाजा अब्दुस्समद नामक दो चित्रकारों को अपने साथ ले आया, जो कि बिहज़ाद द्वारा स्थापित चित्रकला-सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इन पर्शियन चित्रकारों को उसने 'दास्ताने अमीर-हमजा' नामक ग्रन्थ को चित्रित करने का कार्य सुपुर्द किया। इन दो चित्रकारों द्वारा चित्रित की गयी वह पुस्तक अब तक भी सुरक्षित दशा में विद्यमान है। हुमायूँ न केवल चित्रकारों का संरक्षक था, अपितु स्वयं भी चित्रकार था। उसने अपने पुत्र अकबर को भी इस कला की शिक्षा दी थी।

सैयद अली तबरोजी और ख्वाजा अब्दुस्समद भारत में ही स्थिर रूप से बस गये थे। हुमायूँ और अकबर के राजदरबार में निवास करते हुए ये भारत के चित्रकारों के सम्पर्क में भी आये, और इस निकट सम्पर्क के कारण चित्रकला की उस शैली का विकास हुआ, जिसे 'मुगल शैली' कहा जाता है। इसमें बिहज़ाद की नवीन शैली और भारत की परम्परागत प्राचीन शैली का अत्यन्त सुन्दर रूप से सम्मिश्रण हुआ, और मुगल युग में वह निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही। अकबर के शासन-काल में इस शैली की बहुत उन्नति हुई। साहित्यिकों और कवियों के समान चित्रकारों को भी अकबर ने अपने दरबार में आश्रय दिया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही धर्मों के चित्रकार उसके संरक्षण में रहते हुए अपनी-अपनी कला का चमत्कार प्रदर्शित करने के लिये तत्पर थे। इस युग के प्रमुख चित्रकारों में अब्दुस्समद, सैयद अली तबरीजी, फर्रुख-बेग, दसवन्त, बसावन, सावलदास, ताराचन्द और जगन्नाथ के नाम विशेष रूप से उल्लेख-नीय है। अब्दुस्समद और सैयद अली पर्शियन थे, जिन्हें हुमायूँ अपने साथ भारत लाया था। उन्हीं के द्वारा भारत में बिहज़ाद की कला का प्रवेश हुआ था। भारतीय चित्र-कारों में दसवन्त जाति से कहार था, पर चित्र-कला की उसमें अपूर्व प्रतिभा थी। जब वह बालक ही था, अकबर का ध्यान उसकी प्रतिभा की ओर आकृष्ट हुआ, और उसकी शिक्षा के लिए अब्दुस्समद को नियत किया गया। इस पर्शियन कलाकार के तत्त्वावधान में दसवन्त की प्रतिभा का खूब विकास हुआ, और उसने इतनी उन्नति की, कि वह अपने युग के सबसे महान् कलावन्तों में गिना जाने लगा। हिन्दू कला में बिहज़ाद-कला के तत्त्वों का समावेश कर उसने अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया।

अकबर के संरक्षण में जो चित्रकार इस ललित कला की उन्नति करने में तत्पर थे, उनकी संख्या सैकड़ों में थी। इनमें भी सौ चित्रकार बहुत प्रसिद्ध थे, और सत्रह कलाकार तो ऐसे थे, जिन्हें अपनी कला का उस्ताद माना जाता था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि इन सत्रह उस्तादों में तेरह हिन्दू थे। अबुल फजल ने इनके सम्बन्ध में लिखा है, कि ये हिन्दू चित्रकार इतने उच्चकोटि के हैं, कि संसार में मुश्किल से ही कोई इनकी समकक्षता कर सकता है। अकबर-युग के चित्रकार हस्तलिखित पुस्तकों को चित्रित करने, प्रासादों की दीवारों को विभूषित करने और वस्त्र व कागज पर चित्र बनाने में अपनी कला को अभिव्यक्त करते थे। अकबर के आदेश का पालन कर उन्होंने चंगेज-नामा, रामायण, नलदमयन्ती, कालियदमन आदि विविध प्रसिद्ध पुस्तकों को चित्रों द्वारा विभूषित किया। हुमायूँ द्वारा स्थापित पुस्तकालय में इस प्रकार की सैकड़ों पुस्तकें संगृहीत थीं, जिन्हें कि अकबर के आश्रय में रहने वाले चित्रकारों ने विविध प्रकार के सुन्दर व कलात्मक चित्रों से सुशोभित किया था। जब अकबर ने फतहपुर सीकरी और आगरा को अपनी राजधानी बनाया, तो ये चित्रकार भी उसके साथ-साथ वहाँ गये, और वहाँ भी उन्होंने अपने कार्य को जारी रखा। इसमें सन्देह नहीं, कि अकबर को चित्र-कला से अत्यधिक प्रेम था। उसका विचार था, कि चित्रकार अपनी कला द्वारा ईश्वर की शक्ति को अभिव्यक्त करता है। वह अपनी कला द्वारा विविध रंगों से जिस जीवित जागृत जगत् की सृष्टि करता है, उसमें भगवान् की शक्ति की ही अभिव्यक्ति होती है। अकबर के समय के अनेक मुसलिम धर्माचार्य कला के विरोधी थे, पर चित्रकारों की कला का चमत्कार देखकर उनकी भी आँखें खुल गयी थीं।

अकबर के समान जहाँगीर भी चित्रकला का प्रेमी था। उसके संरक्षण में जिन चित्रकारों ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की, उनमें आगा, रजा, अबुल हसन, मुहम्मद नादिर, मुहम्मद मुराद, उस्ताद मन्सूर, बिशनदास, गोवर्धन और मनोहर के नाम उल्लेखनीय हैं। जहाँगीर ने अपने दरबार में बहुत-से चित्रकारों को आश्रय दिया था, और यदि किसी अन्य चित्रकार की कलाकृति को उसके सम्मुख लाया जाता था, तो वह उसे अच्छा ऊँचा मूल्य देकर क्रय कर लेने में गौरव अनुभव करता था। चित्रकला से उसे इतना अधिक प्रेम था, कि वह प्रत्येक चित्र का ध्यान-पूर्वक निरीक्षण करके उसके गुण दोषों का विवेचन करता था, और यह पहचान भी रखता था, कि कोई चित्र किस शैली के अनुसार और किस चित्रकार द्वारा निर्मित है।

शाहजहाँ को वास्तु-कला से बहुत प्रेम था, पर चित्रकला का उसे अधिक शौक नहीं था। इसी कारण उसने दरबार के आश्रय में रहने वाले चित्रकारों की संख्या में बहुत कमी कर दी थी, और अनेक सुप्रसिद्ध कलाकार राजाश्रय न मिलने के कारण बेरोजगार हो गये थे। मुगल-दरबार से निराश होकर इन कलावन्तों ने राजपूताने के विविध राजाओं और हिमालय के पार्वत्य प्रदेशों के राजाओं का आश्रय लिया, और वहाँ जाकर चित्रकला की उन शैलियों का विकास किया, जिन्हें 'राजपूत-शैली' और 'पहाड़ी-शैली' कहते हैं। शाहजहाँ के समय में चित्रकला की मुगल-शैली का ह्रास शुरू हो गया, और उसके स्थान पर राजपूत आदि शैलियाँ उन्नति करने लगीं। पार्सी ब्राउन नामक कलाविज्ञ ने ठीक ही लिखा है, कि मुगल चित्रकला की आत्मा जहाँगीर के साथ ही

मृतप्राय हो गयी थी। शाहजहाँ को वास्तु-कला, भवन-निर्माण और मणिमाणिक्य से बहुत अधिक प्रेम था। राजदरबार के शिष्टाचार को वह बहुत महत्त्व देता था। इसलिए कलावन्तों को उसके सम्पर्क में आने का विशेष अवसर नहीं मिलता था।

मुगल-युग के चित्रकारों का प्रिय विषय राजदरबार का ऐश्वर्य ही था। इसी कारण वे अमीर उमराओं के ऐश्वर्य, रत्न जटित परदों व बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को अपने चित्रों में अंकित करने पर विशेष ध्यान देते थे। वे अपने चित्रों में रंगों का इतने कलात्मक रूप से प्रयोग करते थे, कि उनके चित्रों को देखकर यह प्रतीत होने लगता था, मानो उनमें रंगों के स्थान पर मणि-माणिक्यों का प्रयोग किया गया है। चित्रकला के प्रति शाहजहाँ की उपेक्षा का यह परिणाम हुआ, कि कलावन्त लोग ऐसे चित्रों का निर्माण करने में प्रवृत्त हुए, जो कि छोटे राजाओं और सम्पन्न जनों को आकृष्ट कर सकें। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में चित्रों का व्यवसाय प्रायः नहीं होता था। चित्रकार लोग केवल बादशाह और बड़े अमीर-उमराओं की रुचि को दृष्टि में रखकर ही चित्र बनाते थे। पर शाहजहाँ की उपेक्षा और औरंगजेब की कला-द्वेषिता के कारण चित्रकार लोग अब ऐसे चित्र बनाने के लिये प्रवृत्त हुए, जिन्हें सर्वसाधारण लोग भी खरीद सकें। यही कारण है, कि अठारहवीं सदी में भारत में चित्रों का बाकायदा व्यवसाय शुरू हो गया, और बहुत-से चित्रकार सम्पन्न लोगों की रुचि को दृष्टि में रखकर चित्रों के निर्माण में तत्पर हुए।

संगीत कला—वास्तु-कला और चित्र-कला के समान संगीत कला की भी मुगल-युग में बहुत उन्नति हुई। लेन पूल के अनुसार प्रत्येक मुगल शाहजादे से यह आशा की जाती थी, कि वह संगीत में भी प्रवीण हो। बाबर को संगीत का बहुत शौक था। हुमायूँ के दरबार में प्रति सोमवार व बुधवार को संगीतज्ञ एकत्रित होते थे, और बादशाह उनके गीतों को बड़े शौक के साथ सुनता था। १५३५ ई० में जब उसने माण्डू की विजय की, तो बहुत-से कैदी उसके हाथ लगे। इन कैदियों के वध की आज्ञा देते समय जब उसे मालूम हुआ, कि कैदियों में बच्चू नाम का एक गायक भी है, तो उसने उसे अपने पास बुलाया। उसके संगीत को सुनकर वह इतना प्रसन्न हुआ, कि उसने उसे अपने दरबार में स्थान दे दिया। सूरवंशी अफगान सुलतान भी संगीत के प्रेमी थे। आदिलशाह सूरी एक भगत के संगीत पर इतना मुग्ध था, कि उसने उसे दसहजारी का सर्वोच्च मनसब प्रदान किया था। अकबर के दरबार में तो कितने ही संगीतज्ञों ने आश्रय प्राप्त किया हुआ था। अबुल फजल के अनुसार उसके संरक्षण में रहने वाले संगीताचार्यों की संख्या ३६ थी, जिनमें भारतीयों के अतिरिक्त परशियन, तूरानी और काश्मीरी संगीतज्ञ भी थे। इनमें सबसे प्रधान स्थान मियाँ तानसेन का था, जो ग्वालियर के निवासी थे। वे हिन्दू-कुल में उत्पन्न हुए थे, पर मुसलमानों के सम्पर्क में आने के कारण उन्होंने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। ग्वालियर में उनकी कब्र अब तक विद्यमान है, जिसे आजकल के संगीतज्ञ भी अपने लिये तीर्थ-स्थान मानते हैं। तानसेन भारत का सबसे प्रसिद्ध गायनाचार्य हुआ है, और उसके राग व रागनियाँ आज तक भी भारत में सर्वत्र प्रचलित हैं। अकबर के समय के अन्य संगीतज्ञों में मालवा के बाज बहादुर का नाम भी उल्लेखनीय है, जो हिन्दी काव्य और संगीत का विशेषज्ञ था। जहाँगीर और शाहजहाँ ने भी संगीतज्ञों को आश्रय दिया, और उनके समय में भी इन

कला की बहुत उन्नति हुई। पर औरंगजेब ललित कलाओं का कट्टर शत्रु था। उसने संगीत के विरुद्ध आज्ञा जारी की थी, दिल्ली के लोगों ने जिसके विरुद्ध रोष प्रगट करने के लिये संगीत का एक जनाजा भी निकला था। औरंगजेब की नीति के कारण कलावन्तों को मुगल दरबार का आश्रय मिलना बन्द हो गया, और चित्रकारों के समान संगीतज्ञ भी राजपूत राजाओं व अन्य श्रीमन्त लोगों का आश्रय प्राप्त करने के लिये विवश हुए। मुगल-साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर जो अनेक मुसलिम व हिन्दू राज्य भारत में कायम हुए थे, उनकी राज-सभाओं में संगीतज्ञों को भी आश्रय प्राप्त हुआ था।

(६) भारतीय संस्कृति को मुगल-युग की देन

मुगल-युग की संस्कृति और सभ्यता के विविध अंगों पर प्रकाश डालने के बाद अब इस बात की विशेष आवश्यकता नहीं रह गयी है, कि भारतीय संस्कृति को मुगलों की देन के विषय पर पृथक् रूप से विचार किया जाय। पर उपसंहार के रूप में इसका संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा।

(१) भारत में राजनीतिक एकता की स्थापना में मुगल-शासन से बहुत सहायता मिली। धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत एक देश है, पर राजनीतिक क्षेत्र में केवल चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक और गुप्तवंशी सम्राट् ही इस देश के बड़े भाग को एक शासन की अधीनता में लाने में समर्थ हुए थे। गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद भारत में अकेन्द्रीभाव (डीसन्ट्रेलिजेशन) की प्रवृत्तियां फिर बलवती हो गयी थीं। ६०० से १२०० ई० तक भारत बहुत-से छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त रहा। मुगलों ने भारत के बहुत बड़े भाग पर अपना शासन स्थापित कर एक बार फिर उसमें राजनीतिक एकता की स्थापना की, और उस राष्ट्रीय एकता के लिये मैदान तैयार कर दिया, जिसका चरमोत्कर्ष ब्रिटिश युग में हुआ।

(२) राजनीतिक एकता की स्थापना के साथ-साथ मुगलों के शासन में इस देश की सांस्कृतिक एकता के विकास में भी बहुत सहायता मिली। मुगल शासन का प्राय: सब कार्य पर्शियन भाषा में होता था। सरकार के साथ सम्बन्ध रखने वाले हिन्दू व मुसलमान सब पर्शियन भाषा का अध्ययन करते थे। साम्राज्य के सब सूबों का शासन एक पद्धति से होता था, और सब जगह बादशाहों की आज्ञाएं समान रूप से लागू होती थीं। साम्राज्य में शान्ति और व्यवस्था के स्थापित होने के कारण भारत का आन्तरिक व्यापार भी निरन्तर उन्नति कर रहा था, और विविध प्रदेशों के लोगों को व्यापार व तीर्थयात्रा आदि द्वारा एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता था। राज्य के कर्मचारियों की बहुधा एक सूबे से दूसरे सूबे में बदली होती रहती थी। सैनिक लोग तो उत्तर से दक्षिण में व दक्षिण से उत्तर में प्राय: आते-जाते ही रहते थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि भारत के विविध प्रदेशों के लोगों को एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता रहा, और उनमें एकता की अनुभूति उत्पन्न हुई।

(३) एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाले सन्त-महात्माओं और फकीरों ने एकता की अनुभूति में और अधिक सहायता की। दक्षिण के वल्लभाचार्य वृन्दावन में रहकर कृष्ण-भक्ति का प्रचार करने में तत्पर हुए, और पंजाब के निवासी सिक्ख गुरु भारत के विविध प्रदेशों में अपनी वाणी को सुनाते हुए परिभ्रमण करने लगे।

मुसलिम पीरों और फकीरों का भी सर्वत्र समान रूप से आदर होने लगा। धर्म, वास्तु-कला, चित्रकला, संगीत आदि सब क्षेत्रों में इस युग में समन्वय और एकता की प्रवृत्तियों को बल मिला।

(४) मुगल बादशाहों का पर्शिया और अन्य मुसलिम देशों से घनिष्ठ सम्पर्क था। इसी कारण बहुत-से विद्वान् व कलावन्त इस युग में विदेशों से भारत आते रहते थे, और उनके ज्ञान व कला से इस देश को बहुत लाभ पहुँचता था। भारत के सम्पर्क में आकर मुसलिम देशों को इस देश के साहित्य, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा-शास्त्र आदि का भी परिचय प्राप्त हुआ, और धीरे-धीरे भारत का यह ज्ञान पश्चिमी एशिया के परे यूरोप तक भी पहुँच गया। विदेशी व्यापार द्वारा भी भारत का विदेशों से सान्निध्य स्थापित हुआ। स्थल-मार्गों द्वारा भारत का अन्य देशों के साथ कितना व्यापार होता था, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि जहाँगीर के शासनकाल में अकेले बोलान के दर्रे से १४,००० ऊँट प्रतिवर्ष माल से लदकर भारत से बाहर आया-जाया करते थे। विदेशी व्यापार की इस प्रचुरता के कारण भारत का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित होने में बहुत मदद मिली।

(५) हिन्दी भाषा के विकास, इस्लाम और हिन्दू-धर्म में सामीप्य, वास्तुकला, चित्रकला और संगीत के क्षेत्रों में मुगल-युग में जो कार्य हुआ, उसका उल्लेख विशद रूप से पहले किया जा चुका है। निःसन्देह, इन क्षेत्रों में मुगल युग की देन बहुत महत्त्व-पूर्ण थी।

(६) भारत की वेश-भूषा, रहन-सहन और खान-पान पर भी मुगल-युग का प्रभाव बहुत स्पष्ट है। हिन्दी, बंगला, मराठी आदि भारतीय भाषाओं में पर्शियन और अरबी भाषाओं के बहुत-से शब्द इस युग में प्रविष्ट हुए, और धीरे-धीरे वे भारतीय भाषाओं के ही अंग बन गये। पर्शियन लिपि के प्रयोग के कारण भारत में एक नई लिपि का प्रचलन हुआ, जो धीरे-धीरे उत्तरी भारत की एक प्रधान लिपि बन गयी। हिन्दी को लिखने के लिए भी इस लिपि का प्रयोग शुरू हुआ और इसके कारण हिन्दी की एक पृथक् शैली ही विकसित हो गयी, जिसे 'उर्दू' कहते हैं। हिन्दुओं के विवाह जैसे पवित्र संस्कार में भी अब सेहरा और जामा का प्रयोग होने लगा, जो मुसलमानों की देन हैं। भारत की पोशाक में पायजामा, शेरवानी आदि का प्रवेश हुआ, और हिन्दू लोग भी इन्हें निःसंकोच रूप से प्रयुक्त करने लग गये। मुगल बादशाहों के सब दरबारियों की पोशाक एक-सी होती थी, और राजपूत आदि उच्च पदाधिकारी व मनसबदार भी उसी ढंग की पोशाक पहनते थे, जैसी कि इस युग के मुसलमानों द्वारा धारण की जाती थी। शिवाजी तक की पोशाक मुसलिम अमीर उमराओं की पोशाक के सदृश थी। आमोद-प्रमोद के तरीकों में भी इस युग में परिवर्तन हुआ। बाज द्वारा पक्षियों का शिकार करना, बटेरें लड़ाना, ताश खेलना और इसी प्रकार की अन्य अनेक बातें इस काल में मुगलों द्वारा भारत में प्रविष्ट हुईं। हिकमत व यूनानी चिकित्सा-पद्धति भी मुसल-मानों द्वारा ही भारत में आयी, और कितने ही हिन्दू भी इसे सीखने के लिए प्रवृत्त हुए। यूनानी चिकित्सा प्राचीन भारतीय आयुर्वेद से अनेक अंशों में भिन्न है। मुगल युग में इसका भारत में बहुत प्रचार हुआ। वर्तमान समय की अनेक भारतीय सिद्धान्तों की

इसी काल में भारत में प्रविष्ट हुईं। बालूशाही, कलाकन्द, गुलाब जामन, बरफी आदि कितनी ही मिठाइयों के नाम विदेशी हैं, और सम्भवतः मुसलिम युग से पूर्व के भारतीय इनसे अपरिचित थे।

इस्लाम और हिन्दू धर्म के सम्पर्क के कारण मुगल-युग में एक ऐसी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, जो विशुद्ध रूप से न हिन्दू थी, और न मुसलमान। भारत की यह नयी संस्कृति हिन्दू और मुसलमान दोनों संस्कृतियों के तत्त्वों के सान्निध्य व सामंजस्य का परिणाम थी। वास्तुकला, धर्म, भाषा, चिकित्सा, संगीत, वेशभूषा, खानपान आदि सभी क्षेत्रों में हिन्दुओं और मुसलमानों का यह सम्मिश्रण दृष्टिगोचर होता है। भारत के लिये अब न अफगान विदेशी रहे थे, और न मुगल। इस देश में स्थिर रूप से बस जाने के कारण वे पूर्ण रूप से भारतीय बन गये थे, और उनके धर्म इस्लाम ने भी इस देश में आकर एक ऐसा रूप धारण कर लिया था, जो अरब और पर्शिया के इस्लाम से बहुत भिन्न था।

तीसवां अध्याय

ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना

(१) समुद्रमार्ग द्वारा यूरोप का भारत से सम्पर्क

पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों को बाहरी दुनिया से बहुत कम परिचय था। उस समय समुद्र में जो जहाज चलते थे, वे चप्पुओं द्वारा खेये जाते थे। दिग्दर्शक-यन्त्र के अभाव के कारण मल्लाहों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे महासमुद्रों में दूर तक आ-जा सकें। पन्द्रहवीं सदी में इस यन्त्र का यूरोप में पहले-पहल प्रवेश हुआ। कागज के समान दिग्दर्शक-यन्त्र भी अरब होता हुआ चीन से यूरोप गया था। साथ ही, इस समय जहाज पहले की अपेक्षा बड़े और मजबूत बनने लगे। चप्पुओं के साथ अब पाल का भी जहाजों में प्रयोग होने लगा। पाल से चलने वाले जहाजों के लिये यह सम्भव था, कि दिग्दर्शक यन्त्र की सहायता से अनुकूल वायु होने की दशा में वे महासमुद्र को पार कर सकें।

यूरोप और एशिया के बीच में व्यापार बहुत प्राचीन काल से चला आता था। इन महाद्वीपों के बीच का मुख्य व्यापारिक मार्ग लाल सागर से ईजिप्ट होता हुआ भूमध्य-सागर पहुँचता था। एक दूसरा मार्ग पर्शिया की खाड़ी से बगदाद होता हुआ एशिया माइनर के बन्दरगाहों तक जाता था। पहले इन व्यापारिक मार्गों पर अरबों का अधिकार था। अरब लोग सभ्य थे, और व्यापार के महत्त्व को भली-भांति समझते थे। पर पन्द्रहवीं सदी में तुर्क लोग इन प्रदेशों के स्वामी हो गये, और इस कारण एशिया और यूरोप के मध्यवर्ती व्यापारिक मार्ग रुद्ध होने लगे। सन् १४५३ में जब तुर्क विजेता मुहम्मद द्वितीय ने कान्स्टेन्टिनोपल को भी जीत लिया, तब तो यूरोप के लिये इन पुराने मार्गों से व्यापार कर सकना अत्यन्त कठिन हो गया।

पियन राज्य भी इसी सामुद्रिक मार्ग से एशिया आने जाने लगे। हालैंड, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों में पूर्वी व्यापार को हस्तगत करने के लिये कम्पनियां खड़ी की गयीं। ये कम्पनियां, भारत आदि एशियन देशों के बन्दरगाहों में अपनी व्यापारी कोठियां कायम करती थीं, और अधिक-से-अधिक व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का उद्योग करती थीं।

सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में भारत में प्रतापी मुगल बादशाहों का शासन था। अतः इस काल में यूरोपियन लोग केवल व्यापार द्वारा ही सन्तुष्ट रहे। पोर्तुगीज लोगों के व्यापार का प्रधान केन्द्र भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर स्थित गोआ नगरी थी, जो मुगल बादशाहों के साम्राज्य से बाहर थी। सुदूर दक्षिण में उस समय किसी एक शक्तिशाली भारतीय राजा का शासन नहीं था। पोर्तुगीज लोगों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट न रह कर उन्होंने गोआ व उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपना आधिपत्य भी स्थापित करना शुरू किया। गोआ पहले बीजापुर के सुलतानों के अधीन था। उनकी सत्ता की उपेक्षा करके ही पोर्तगीजों ने उस पर अधिकार किया था। पर पोर्तुगीज लोग भारत में अपनी सत्ता का अधिक विस्तार नहीं कर सके। वे धर्मान्ध ईसाई थे, और मुसलमानों और हिन्दुओं को जबरदस्ती ईसाई बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। उन्होंने अनेक हिन्दू मन्दिरों को ईसाई गिरजों के रूप में परिवर्तित किया, और इस कारण जनता उनसे बहुत असन्तुष्ट हो गयी। शाहजहां के समय जब दक्षिण में मुगल आधिपत्य की स्थापना का उद्योग शुरू हुआ, तो मुगलों का पोर्तुगीजों से भी संघर्ष हुआ। पहले मुगलों और बाद में मराठों की शक्ति के उत्कर्ष के कारण पोर्तुगीज लोग भारत में अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं को पूरा कर सकने में असमर्थ रहे।

पोर्तुगीजों के अनुकरण में हालैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड के जिन व्यापारियों ने भारत में व्यापार के उद्देश्य से आना शुरू किया, वे भी सोलहवीं और सत्रहवीं सदियों में केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट रहे। पर औरंगजेब के बाद जब मुगल-साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी, और भारत में अनेक छोटे-बड़े राज्य कायम हो गये, तो इन यूरोपियन व्यापारियों ने देश की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाया, और व्यापार के साथ-साथ अपनी राजसत्ता भी स्थापित करनी शुरू की। हालैण्ड के व्यापारियों की भारत में सूरत, चिनसुरा, कासिम बाजार, पटना, कोचीन, नेगापटन आदि स्थानों पर बहुत-सी व्यापारी कोठियां थीं। उन्होंने इस देश के राजनीतिक मामलों में विशेष रूप से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं किया। पर इंग्लैण्ड और फ्रांस ने भारत की राजनीतिक दुरवस्था से पूरा-पूरा लाभ उठाया, और इस देश की विविध राजशक्तियों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप करके अपनी सत्ता स्थापित करने का उद्योग शुरू किया। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भारत को अपने प्रभुत्व में लाने के लिये इंग्लैण्ड और फ्रांस ने अपने देशों से कोई सेनायें नहीं भेजीं। उन्होंने भारत की विजय के लिये मुख्यतया भारतीय सेनाओं का ही प्रयोग किया। भारत की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर अपनी सत्ता इस देश में स्थापित की जा सकती है, यह विचार सबसे पहले फ्रांस के लोगों में उत्पन्न हुआ था। ड्यूप्ले पहला यूरोपियन राजनीतिज्ञ था, जिसने भारत में फ्रांस के आधिपत्य को स्थापित करने का स्वप्न लिया। पर फ्रेंच लोगों को अपने प्रयत्न में

सफलता नहीं मिली। इनका प्रधान कारण यह था, कि अठारहवीं सदी में फ्रांस में बूर्बो वंश के स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था, और भारत में फ्रेंच लोग अपनी शक्ति के विस्तार का जो प्रयत्न कर रहे थे, उसका संचालन फ्रांस की इस निरंकुश सरकार द्वारा ही होता था। इसके विपरीत, ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ब्रिटिश सरकार के नियन्त्रण से प्रायः स्वतन्त्र थी। उसके लिये यह अधिक सुगम था, कि वह समय और परिस्थिति के अनुसार स्वतन्त्रता के साथ कार्य कर सके। डूप्ले के प्रधान प्रतिद्वन्द्वी क्लाइव को यह आवश्यकता नहीं थी, कि वह अपने प्रत्येक कार्य के लिये सरकार की अनुमति ले। पर डूप्ले को अपने कार्यों के लिये फ्रांस की सरकार का मुंह देखना पड़ता था, और इस युग की फ्रेंच सरकार सर्वथा विकृत और दुर्दशाग्रस्त थी। भारत के विविध राजाओं, नवाबों व मुगलों सूबेदारों के पारस्परिक झगड़ों का लाभ उठाकर ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के अनेक प्रदेशों पर अठारहवीं सदी के अन्त से पूर्व ही अपना शासन स्थापित करने में किस प्रकार समर्थ हो गयी, इसका वृत्तान्त लिखना इस इतिहास में सम्भव नहीं है, और न उसकी विशेष आवश्यकता ही है। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक प्रायः सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया था, और इस देश में जो अनेक राजा व नवाब रह गये थे, वे भी अंग्रेजों की अधीनता स्वीकृत करने लग गये थे।

भारत में अंग्रेजी शासन की नींव क्लाइव ने डाली। बाद में वारेन हेस्टिंग्स, कार्नवालिस, वेलेज्ली, हार्डिंग और डलहौजी ने अंग्रेजी सत्ता का भारत में विस्तार किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत में ब्रिटिश आधिपत्य की जो स्थापना हो गयी थी, उसका प्रधान श्रेय इन्हीं प्रतापी गवर्नर-जनरलों को है। ये ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से भारत का शासन करने और ब्रिटिश सत्ता का विस्तार करने के लिये नियत किये गये थे, और इस देश की राजनीतिक दुरवस्था से लाभ उठाकर इन्हें अपने कार्य में असाधारण सफलता प्राप्त हुई थी।

यद्यपि भारत में राष्ट्रीय एकता की भावना का सर्वथा अभाव था, पर यहाँ की जनता इन विदेशी व विधर्मी शासकों से बहुत असन्तुष्ट थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा नियुक्त शासक अपने भारतीय शासन को ब्रिटेन की आर्थिक समृद्धि का साधन-मात्र समझते थे। उनकी आर्थिक नीति का संचालन इसी उद्देश्य से होता था, कि कम्पनी की आमदनी में निरन्तर वृद्धि होती रहे। साथ ही, अंग्रेज शासक भारत की पुरानी परम्पराओं और धार्मिक विश्वासों की जरा भी परवाह नहीं करते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि उनके शासन के विरुद्ध भावना इस देश में निरन्तर जोर पकड़ती गयी। १८५७ में यह भावना एक राज्यक्रान्ति के रूप में परिवर्तित हो गयी। पर ५७ की यह राज्य-क्रान्ति सफल नहीं हो सकी। अंग्रेज लोग इसे कुचलने में समर्थ हुए, और भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें और भी मजबूत हो गयीं। सन् ५७ की क्रान्ति के बाद भारत का शासन ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी को क्षति-पूर्ति के रूप में एक भारी रकम ब्रिटेन की ओर से प्रदान की गयी, और यह रकम भारत के राष्ट्रीय ऋण में परिवर्तित कर दी गयी। १९४७ तक भारत में ब्रिटिश शासन कायम रहा। इस विशाल देश में ब्रिटिश शासन स्थापित हो जाने के कारण ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार व शक्ति में बहुत वृद्धि हुई।

(२) भारतीय इतिहास का आधुनिक युग

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संसार के इतिहास में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। इसका प्रारम्भ यूरोप से हुआ था, जहाँ पहले व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और बाद में राजनीतिक क्रान्ति। अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इंगलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि यूरोपियन देशों का आर्थिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि दो हजार पहले सिकन्दर व सीजर के जमाने में था। उस समय यूरोप का किसान लकड़ी के हलों से जमीन जोतता था, खुरपी से उसकी नलाई करता था, और दरांती से फसल को काटता था। कारीगर तकुए व चरखे पर सूत कातते थे, और लकड़ी की खड्डियों पर कपड़े की बुनाई करते थे। लुहार लोग पुराने युग के घन और हथौड़े से अपना काम करते थे। लकड़ी की बनी हुई गाड़ियाँ असबाब ढोने व यात्रा करने के काम आती थीं। घोड़े की अपेक्षा तेज चलने वाली किसी सवारी का उस समय के यूरोपियन लोगों को परिज्ञान नहीं था। समुद्र को पार करने वाले जहाज चप्पुओं और पाल से चलते थे। उस समय (अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध) में यूरोप का आर्थिक व व्यावसायिक जीवन प्रायः वैसा ही था, जैसा कि भारत, चीन आदि एशियन देशों का था।

इतिहास के नवयुग का सूत्रपात—पर अठारहवीं सदी के मध्य भाग और उत्तरार्व में इस स्थिति में परिवर्त्तन आना शुरू हुआ। नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण यूरोप के आर्थिक जीवन में परिवर्त्तन आने लगा। इसी को इतिहास में 'व्यावसायिक क्रान्ति' कहा जाता है। इस क्रान्ति का प्रारम्भ अचानक व एकदम नहीं हो गया। वस्तुतः, यह धीरे-धीरे विकसित हुई। पर इसके कारण मनुष्य के जीवन में एक मौलिक परिवर्त्तन आ गया, और एक नई सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ इंगलैण्ड में हुआ था। वहीं से शुरू होकर वह न केवल यूरोप में, अपितु सारे संसार में व्याप्त हो गयी है। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों ने यूरोप में व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) ऐसे नवीन यान्त्रिक आविष्कार, जिनसे मानव-श्रम की बचत हो। (२) जल, कोयला, भाप और बिजली यान्त्रिक-शक्ति के काम आ सकते हैं, इस बात का परिज्ञान। (३) रसायन-शास्त्र की नवीन प्रक्रियाओं का आविष्कार। यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम अठारहवीं सदी की इस व्यावसायिक क्रान्ति पर विशद रूप से प्रकाश डाल सकें। पर ध्यान देने योग्य बात यह है, कि व्यावसायिक क्रान्ति के कारण मानव-समाज के आर्थिक जीवन में जो महान् परिवर्त्तन हुआ, वह आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग (१७८९) में फ्रांस में राज्य-क्रान्ति हुई। इस राज्य-क्रान्ति से पूर्व यूरोप के प्रायः सभी देशों में स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था, जो अपनी इच्छा को ही कानून मानते थे। इंगलैण्ड के स्टुअर्ट राजा और फ्रांस के बूर्बो वंश के राजा पूर्णतया स्वेच्छाचारी थे, और उनके शासन का स्वरूप प्रायः वही था, जो भारत के मुगल बादशाहों का था। यद्यपि इंगलैण्ड में सत्रहवीं सदी के मध्य भाग में ही राज्य-क्रान्ति के परिणामस्वरूप वैध राजसत्ता का प्रादुर्भाव हो चुका था, पर अठारहवीं सदी की ब्रिटिश पार्लियामेंट जनता का नाममात्र का ही प्रतिनिधित्व करती थी। जिसे हम लोकतन्त्रवाद कहते हैं, उसका ब्रिटेन में भी सूत्रपात

वस्तुतः, अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ही हुआ था। यूरोप के अन्य देशों से तो स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन का अन्त उन्नीसवीं सदी में ही हुआ।

जिस प्रकार व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा यूरोप के आर्थिक जीवन में नवयुग का सूत्रपात हुआ, वैसे ही फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने यूरोप के राजनीतिक जीवन में एक नये युग का प्रारम्भ किया। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति द्वारा जो नई प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुई, वे लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की थीं। भाषा, धर्म, रीति-रिवाज, ऐतिहासिक परम्परा आदि की दृष्टि से जो लोग एक हों, उनका अपना पृथक् राज्य होना चाहिये, और इस राज्य में किसी एक राजा या किसी एक कुलीन श्रेणी का शासन न होकर सर्वसाधारण जनता का शासन होना चाहिये, ये विचार संसार के इतिहास में फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की देन हैं।

व्यावसायिक क्रान्ति और राज्य-क्रान्ति के कारण यूरोप के इतिहास में 'आधुनिक युग' का प्रारम्भ हुआ, पर विचार व वैज्ञानिक आविष्कार किसी एक देश व भू-भाग तक सीमित नहीं रह सकते। गणित, ज्योतिष, चिकित्सा-शास्त्र आदि के क्षेत्र में भारत ने जो आविष्कार किये थे, वे धीरे-धीरे अरब और यूरोप में फैल गये थे। चीन द्वारा आविष्कृत छापाखाना, कागज, दिग्दर्शक यन्त्र आदि को समयान्तर में अन्य सब देशों ने अपना लिया था। इसी प्रकार अठारहवीं सदी में व्यावसायिक क्रान्ति और राज्यक्रान्ति के कारण जो नई प्रवृतियाँ प्रारम्भ हुई, वे केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रह सकीं। धीरे-धीरे वे अन्य देशों में भी फैल गयीं, और संसार के प्रायः सभी देशों में उन के कारण आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ।

बारूद का पहले-पहल आविष्कार मंगोल लोगों ने किया था। इस आविष्कार के कारण मंगोल लोगों के हाथ में एक ऐसी शक्ति आ गयी थी, जो किसी अन्य जाति व देश के पास नहीं थी। इसी कारण वे प्रशान्त महासागर से कैस्पियन सागर तक विस्तृत विशाल मंगोल साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हुए थे। अठारहवीं सदी के नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण पश्चिमी यूरोप के हाथों में भी ऐसे साधन आ गये थे, जिनसे कि इंग्लैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड आदि पाश्चात्य देश एशिया व अफ्रीका के विविध प्रदेशों को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हो गये थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक एशिया के अधिकांश प्रदेश पाश्चात्य देशों के प्रभाव व आधिपत्य में आ चुके थे। भारत में ब्रिटिश लोगों का शासन अठारहवीं सदी में ही स्थापित होना शुरू हो गया था, और १७५७ में प्लासी की लड़ाई के परिणाम स्वरूप बंगाल पर अंग्रेजी प्रभुत्व कायम हो गया था। १८५७ तक पूरी एक सदी अंग्रेजों को भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने के संघर्ष में लगानी पड़ी। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत में अंग्रेजी राज्य की नीव पर्याप्त रूप से सुदृढ़ हो गयी थी।

भारत में आधुनिक युग का प्रारम्भ—अंग्रेजी शासन के परिणाम स्वरूप भारत के इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ, जिसे हमने 'आधुनिक-युग' कहा है। जिस प्रकार व्यावसायिक क्रान्ति और राजनीतिक क्रान्ति के कारण यूरोप में एक ऐसे नये युग का सूत्रपात हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक यूरोप मध्यकालीन यूरोप से बहुत

भिन्न व बहुत अधिक उन्नत हो गया, उसी प्रकार अंग्रेजी शासन के कारण भारत में उन सब प्रवृत्तियों (व्यवसायिक क्रांति, राजनीतिक जागरण, धार्मिक सुधार आदि) का प्रादुर्भाव हुआ, जो इस देश में भी नवयुग व आधुनिकता को लाने में समर्थ हुई। यह नहीं समझना चाहिये, कि अंग्रेजी राज्य के अभाव में ये नई प्रवृत्तियां भारत में प्रादुर्भूत न होतीं। जापान कभी किसी पाश्चात्य देश के अधीन नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जापान की भी प्रायः वही दशा थी, जो अठारहवीं सदी में भारत की थी। पर जब जापानी लोगों ने यह अनुभव कर लिया, कि वे ज्ञान-विज्ञान आदि के क्षेत्र में पाश्चात्य लोगों से बहुत पीछे रह गये हैं, तो वे अपनी उन्नति के लिये तत्पर हो गये, और आधी सदी के स्वल्प काल में ही यूरोपियन लोगों के समकक्ष बन गये। यह ठीक है, कि राजनीतिक दृष्टि से अठारहवीं सदी के भारत की दशा जापान से बहुत भिन्न थी। अनेक छोटे-बड़े राज्यों की सत्ता और उनके राजाओं के निरन्तर संघर्ष के कारण इस देश के लिये उन्नति पथ पर आरूढ़ होना उतना सुगम नहीं था जितना कि जापान के लिये था। पर चीन में भी किसी विदेशी राजशक्ति का प्रत्यक्ष शासन स्थापित नहीं हुआ था, वहां की राजनीतिक अवस्था प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि ब्रिटिश शासन से पूर्व भारत की थी। फिर भी चीनी लोग आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान को अपना कर अपनी उन्नति में समर्थ हुए। ध्यान देने योग्य बात यह है. कि ज्ञान-विज्ञान व विचार किसी एक देश व जाति की सम्पत्ति बनकर नहीं रह सकते। वे वायु के समान होते हैं, जो शीघ्र ही सर्वत्र फैल जाते हैं। आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान का प्रादुर्भाव पश्चिमी यूरोप के देशों में हुआ था, बाद में उसे पूर्वी यूरोप के देशों ने अपनाया, और फिर एशिया में भी वे प्रसारित हो गये। इतिहास का यही क्रम है। यदि भारत पर अंग्रेजी राज्य कायम न भी होता, तो भी इस देश में उन ज्ञान-विज्ञानों का प्रवेश हो जाता, जो इंगलैण्ड और फ्रांस में प्रादुर्भूत हुए थे, और उनके कारण यहां नवयुग व आधुनिकता का भी प्रारम्भ हो जाता। पर हमें यह स्वीकार करना होगा, कि अंग्रेजी शासन की स्थापना के कारण पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान व राजनीतिक प्रवृत्तियों के भारत में प्रविष्ट होने की प्रक्रिया में सहायता अवश्य मिली। आज जो भारत व्यावसायिक व राजनीतिक क्षेत्र में अच्छा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, उसका कारण वे प्रवृत्तियां ही हैं, जो अंग्रेजी शासन के समय में इस देश में बलवती होनी शुरू हो गयी थीं। अंग्रेज शासकों ने जान बूझकर इन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ किया हो, यह सत्य नहीं है। अंग्रेजों की आर्थिक नीति यह थी, कि भारत इंग्लैण्ड की आर्थिक समृद्धि का साधनमात्र बनकर रहे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने बंगाल के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने का प्रयत्न किया, ताकि इंग्लैण्ड अपने कारखानों में तैयार हुआ कपड़ा इस देश में सुगमता के साथ बिक सके। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक अंग्रेजों का यही प्रयत्न था, कि भारत में कल-कारखानों का विकास न होने पाए, और इस देश का आर्थिक जीवन इस ढंग का बना रहे, जिससे कि इंग्लैण्ड के कारखानों के लिये आवश्यक कच्चे माल को सस्ती कीमत पर भारत से प्राप्त करता रहे। पर अंग्रेजों की इस नीति के बावजूद भी यह सम्भव नहीं था, कि यूरोप की व्यावसायिक क्रान्ति का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी लिये उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही यहां कल-कारखाने स्थापित होने शुरू हो गये, और बीसवीं सदी के शुरू के स्वदेशी आन्दोलन ने

भारत की व्यावसायिक क्रान्ति को बहुत सहायता पहुँचाई।

ब्रिटिश शासन के कारण भारत में आधुनिक युग के सूत्रपात में सहायता—पर यह निर्विवाद है, कि भारत में नवयुग व 'आधुनिक-युग' के प्रारम्भ होने में ब्रिटिश शासन द्वारा अनेक रूपों में मदद मिली। इसे हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं :—

(१) ब्रिटिश युग में सम्पूर्ण भारत एक शासन की अधीनता में आ गया। औरंगजेब के बाद मुगल शासन की शक्ति के क्षीण होने पर भारत में जो बहुत-से छोटे-बड़े राज्य स्थापित हो गये थे, उन सबकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर अंग्रेजों ने भारत में एक केन्द्रीय शक्तिशाली सरकार की स्थापना की। इस कारण भारत में एक सदी के लगभग समय तक इस ढंग की शान्ति और व्यवस्था कायम रही, जैसी कि शायद मौर्य-युग के बाद कभी नहीं हुई थी।

(२) अंग्रेजी राज्य के समय में भारत पर कोई ऐसे विदेशी आक्रमण नहीं हुए, जो इस देश की शान्ति और व्यवस्था को भंग कर सकते। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों के अवसर पर भी भारत विदेशी सेनाओं द्वारा आक्रान्त होने से बचा रहा, क्योंकि अंग्रेजों द्वारा संगठित भारतीय सेना और ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति इस देश की रक्षा के लिये जागरूक थी।

(३) सम्पूर्ण भारत में एक सुव्यवस्थित व सुसंगठित सरकार स्थापित कर अंग्रेजों ने भारत में वही कार्य किया, जो लुई १४वें जैसे शक्तिशाली राजा ने फ्रांस में, हेनरी आठवें ने इंगलैण्ड में, फिलिप द्वितीय ने स्पेन में और पीटर ने रूस में किया था। इन राजाओं से पूर्व फ्रांस आदि यूरोपियन देशों में भी बहुत-से छोटे-छोटे राजाओं व सामन्तों की सत्ता थी, जो निरन्तर युद्धों में व्यापृत रहते थे। शक्तिशाली केन्द्रीय शासन के अभाव में राज्य के अन्दर शान्ति व व्यवस्था कायम नहीं हो पाती थी। फ्रांस में लुई चौदहवें ने विविध सामन्त राजाओं को अपना वशवर्त्ती बनाया, और एक सुदृढ़ व शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना की। भारत में अकबर सदृश शक्तिशाली मुगल बादशाहों ने भी यही प्रयत्न किया था। यदि औरंगजेब अपनी धार्मिक नीति को परिवर्तित न करता, तो शायद मुगलों द्वारा सम्पूर्ण भारत में एक सुदृढ़ व शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना हो जाती, और विदेशी राजशक्तियों के लिये इस देश पर अपना आधिपत्य कायम करना सम्भव न होता। पर औरंगजेब की नीति के कारण अठारहवीं सदी में भारत में सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता उत्पन्न हो गयी थी। इस स्थिति का अन्त कर सम्पूर्ण भारत में एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकार की स्थापना अंग्रेजों का एक ऐसा महत्त्व-पूर्ण कार्य था, जिससे इस देश में नवयुग के सूत्रपात में बहुत अधिक सहायता मिली।

(४) अंग्रेजी राज्य की स्थापना से भारत में अंग्रेजी भाषा का भी प्रवेश हुआ। अंग्रेजों ने अपनी भाषा को ही सरकारी कार्य के लिये प्रयुक्त किया, और विवश होकर उन भारतीयों को अंग्रेजी भाषा सीखनी पड़ी, जो राजकार्य में ब्रिटिश सरकार के सहयोगी बने। अंग्रेजी के प्रवेश के कारण उन सब ज्ञान-विज्ञानों व विचारधाराओं का स्रोत भारत के लिये खुल गया, जिनका विकास इस युग में इंग्लैण्ड व यूरोप के अन्य देशों में हो रहा था। इससे न केवल भारत की वैज्ञानिक व व्यावसायिक उन्नति में

सहायता मिली, अपितु राष्ट्रीयता, लोकतन्त्रवाद, समाजवाद आदि के नये विचार भी इस देश में प्रसारित हुए। ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी भाषा के प्रसार के कारण भारत का अन्य देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध भी स्थापित हुआ।

(५) अपने शासन को भारत में भली-भांति स्थापित रखने के लिये अंग्रेज भी सैनिक शक्ति पर निर्भर करते थे। पर इस सुविशाल देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये और विदेशी आक्रमणों से इसकी रक्षा करने के लिये केवल अंग्रेजी सेना ही पर्याप्त नहीं हो सकती थी। अंग्रेजों ने भारत की विजय भारतीय सैनिकों की सहायता से ही की थी। भारत में भृत सैनिकों को प्राप्त कर सकना उनके लिये बहुत सुगम था। इस कारण ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद भी अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों को अच्छी बड़ी संख्या में अपनी सेना में भरती किया। धीरे-धीरे भारतीयों की एक ऐसी सेना तैयार हो गयी, जो शस्त्र-संचालन व युद्ध-नीति के सब आधुनिक तरीकों से अवगत थी। अंग्रेजों का प्रयत्न था, कि यह सेना देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावनाओं से दूर रहे। बहुत समय तक वे अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुए। पर भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना के प्रादुर्भाव होने के साथ-साथ सेना में भी देश-भक्ति की भावना उत्पन्न होने लगी, और द्वितीय महायुद्ध (१९३९–४५) तक यह स्थिति आ गयी, कि अंग्रेजों के लिये भारत में अपने आधिपत्य को कायम रखने के कार्य में भारतीय सैनिकों पर निर्भर रह सकना कठिन हो गया।

ये सब बातें थीं, जिन्होंने ब्रिटिश युग में भारत में 'आधुनिकता' व नवीन युग का सूत्रपात करने में सहायता की। इसी प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भारत में मध्य-काल का अन्त होकर आधुनिक युग का प्रादुर्भाव पूर्णतया उस ढंग से नहीं हुआ, जैसा कि यूरोप में हुआ था। यूरोप में नवयुग की स्थापना में निम्नलिखित प्रवृत्तियों ने सहायता पहुँचाई थी :—

(१) विद्या का पुनःजागरण (रिनैसांस)—तेरहवीं सदी से ही यूरोप में अनेक ऐसे विचारक उत्पन्न होने शुरू हो गये थे, जो ईसाई चर्च के प्रमाणवाद के विरुद्ध थे, और जो बुद्धि-स्वातन्त्र्य व वैज्ञानिक विधि से सत्य की खोज के पक्षपाती थे। रोजर बेकन (१२१०–१२९२) सदृश अनेक विचारकों ने इस बात पर जोर देना शुरू किया था, कि हमें पुरानी लकीर का फकीर न होकर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये। सत्य को जानने का यह साधन नहीं है, कि हम प्राचीन धर्म ग्रन्थों को कंठस्थ करें, व उनके शब्दार्थ पर बहस करते रहें। इसके लिये हमें अपने दिमाग को प्रमाणवाद से मुक्त कर वज्ञानिक परीक्षणों के लिये तत्पर होना चाहिये। बुद्धि-स्वातन्त्र्य के इसी आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप यूरोप के अनेक विचारक परीक्षणों द्वारा सत्य की खोज के लिये प्रवृत्त हुए। कोपर्निकस (१४७३–१५४३) और गेलेलियो (१५६४–१६४२) जैसे व्यक्तियों ने परीक्षण द्वारा अनेक ऐसे मन्तव्यों का खण्डन किया, जो ईसाई धर्म-ग्रन्थों पर आश्रित थे। ईसाई चर्च ने इन स्वतन्त्र विचारकों को कड़े से कड़े दण्ड दिये, पर इन सब अत्याचारों के बावजूद भी यूरोप में बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति रुकी नहीं, और धीरे-धीरे यूरोप के लोगों ने उन वैज्ञानिक तथ्यों का पता कर लिया, जिनके कारण संसार में नवयुग का प्रारम्भ हुआ।

(२) पन्द्रहवीं सदी में यूरोप में धार्मिक सुधारणा (रिफर्मेशन) का आन्दोलन शुरू हुआ, जिसके कारण ईसाई चर्च का आधिपत्य बहुत कुछ शिथिल हो गया, और ईसाई धर्म में अनेक ऐसे सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, जिनमें नवचेतना और अनुपम स्फूर्ति थी ;

(३) बुद्धि-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्तियों के कारण अठारहवीं सदी में व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, जिसने यूरोप के आर्थिक व सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये ।

(४) इंगलिश राज्यक्रान्ति (सत्रहवीं सदी) और फ्रांस की राज्यक्रान्ति (अठारहवीं सदी) ने यूरोप में लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियों को जन्म दिया, जिनके कारण सर्वसाधारण जनता को सामाजिक जीवन और राजनीति में समुचित स्थान प्राप्त करने का सुअवसर मिला ।

भारत के इतिहास में नवयुग का सूत्रपात होने में न इतना समय लगा, और न ये सब प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न कालों में ही प्रगट हुईं । अंग्रेजों के आधिपत्य के कारण अकस्मात् ही भारत का सम्पर्क एक ऐसे देश के साथ हो गया, जो ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में संसार का शिरोमणि था, और जो व्यावसायिक उन्नति और लोकतन्त्र शासन में अन्य देशों का अग्रणी था । इसीलिये विद्या के पुनर्जागरण और धार्मिक सुधारणा से पूर्व ही यहाँ यातायात के साधनों में उन्नति प्रारम्भ हो गयी । १८५३ में भारत में रेलवे का प्रयोग शुरू हो गया, और नई व पक्की सड़कों के निर्माण द्वारा स्थल मार्गों में बहुत उन्नति हुई । नई-नई नहरें निकालकर जमीन की सिंचाई प्रारम्भ की गयी, जो कृषि की उन्नति में सहायक हुई। रेलवे, पोस्ट-आफिस, तार आदि के प्रयोग से भारत के आर्थिक जीवन में परिवर्तन आने लगा, और बाद में वस्त्र, लोहा, कोयला, जूट आदि के कारखानों द्वारा व्यावसायिक क्रान्ति के चिह्न भी इस देश में प्रगट होने लगे।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रवेश के कारण भारतीयों ने अनुभव किया, कि हम लोग ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों की तुलना में बहुत पीछे रह गये हैं । इस अनुभव ने दो प्रवृत्तियों को जन्म दिया—कुछ विचारक यह सोचने लगे, कि पाश्चात्य देशों ने परीक्षणों द्वारा जिन तथ्यों का पता किया है, वे प्राचीन भारतीयों को ज्ञात थे । सूर्य स्थिर है, पृथ्वी उसके चारों ओर घूमती है; विविध नक्षत्र, तारा, ग्रह आदि गुरुत्वाकर्षण के कारण ही अपनी-अपनी जगह पर स्थित है—ये सब वैज्ञानिक तथ्य वेद-शास्त्रों में प्रतिपादित हैं । अतः यूरोप के नये ज्ञान-विज्ञान को सीखना किसी नये तथ्य को ग्रहण करना नहीं है, अपितु विस्मृत व उपेक्षित सत्यों की ओर फिर से अपने ध्यान को आकृष्ट करना है । अन्य विचारकों ने सोचा, कि हमें अपनी सब शक्ति को पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान को अवगत करने में ही लगाना चाहिये । पुराने शास्त्रों को कण्ठस्थ करने व उनके अनुशीलन में ही अपने जीवन को व्यतीत कर देने से कोई विशेष लाभ नहीं है । दोनों प्रकार के विचारकों के चिन्तन का परिणाम एक सदृश ही हुआ । भारत में नये ज्ञान-विज्ञान को सीखने की प्रवृत्ति बल पकड़ने लगी, और प्रमाणवाद का अन्त होकर बुद्धि-स्वातन्त्र्य की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ । भारत के विविध धर्मों व सम्प्रदायों के सुधार की प्रवृत्ति भी इस समय में शुरू हुई, और ब्राह्म-समाज, आर्य-समाज आदि के रूप में अनेक ऐसे नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका उद्देश्य धर्म के क्षेत्र में सुधार करना

था। इन नये धार्मिक आन्दोलनों के कारण भारत की पुरानी सामाजिक रूढ़ियों व परम्पराओं में भारी परिवर्तन हुआ, और पुराने सिद्धान्तों व मन्तव्यों की इस ढंग से व्याख्या प्रारम्भ हुई, जो नवयुग की विचारधारा के अनुकूल है। भारत एक राष्ट्र है, उसका अपना स्वतन्त्र राज्य होना चाहिये, और इस राज्य का शासन लोकतन्त्रवाद के अनुसार होना चाहिये, ये विचार भी इस युग में विकसित हुए, और इनके परिणामस्वरूप ब्रिटिश शासन का अन्त कर स्वराज्य की स्थापना के लिये आन्दोलन शुरू हुआ। महात्मा गांधी जैसे नेताओं के नेतृत्व में सर्वसाधारण जनता में स्वराज्य की भावना ने इतना प्रबल रूप धारण कर लिया, कि अंग्रेजों के लिये भारत पर शासन कर सकना कठिन हो गया, और १९४७ में भारत ब्रिटिश शासन से स्वतन्त्र हो गया।

आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव और उनकी सफलता ही भारतीय इतिहास के ब्रिटिश युग की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसीलिये हमने इस इतिहास में उन युद्धों व घटनाओं का उल्लेख नहीं किया है, जिनसे अंग्रेजों ने भारत पर अपने आधिपत्य की स्थापना की थी। अगले अध्यायों में हम इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे, कि भारत में किस प्रकार पुनर्जागरण शुरू हुआ, धार्मिक सुधार के कौन-से नये आन्दोलन जारी हुए, किस प्रकार व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और किस प्रकार स्वराज्य व लोकतन्त्रवाद के लिये संघर्ष हुआ। इस सब बातों के कारण ही ब्रिटिश शासन के काल में भारत में उसी ढंग से आधुनिक युग का प्रादुर्भाव हुआ, जैसा कि पाश्चात्य देशों में हुआ था।

ईसाई मिशनरियों के शिक्षणालय—यद्यपि ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी नवीन शिक्षा के सम्बन्ध में सर्वथा उदासीन थे, पर ईसाई पादरियों का ध्यान इस की ओर आकृष्ट हुआ। उनका ख्याल था, कि भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए अंग्रेजी शिक्षा बहुत सहायक सिद्ध हो सकती है। इसीलिए अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में उन्होंने मद्रास प्रान्त में अनेक शिक्षा-संस्थाओं का प्रारम्भ किया। १७९२ में विलियम कैरो नाम का पादरी कलकत्ता आया, और उसके प्रयत्न से बंगाल में अनेक स्कूल स्थापित हुए। वहां अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था, और इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थी अंग्रेजी के साथ-साथ गणित, इतिहास, भूगोल, भौतिक विज्ञान आदि आधुनिक विषयों की शिक्षा भी प्राप्त कर सकते थे। विलियम कैरी के प्रयत्न से पहले-पहल बंगाली भाषा में बाइबल का अनुवाद हुआ, और बंगाल की इस लोकभाषा में गद्य-साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ।

हिन्दू कालिज की स्थापना—ईसाई पादरियों के अनुकरण में अनेक विचारशाल व देशभक्त भारतीयों का ध्यान भी नवीन शिक्षा की ओर आकृष्ट हुआ, और राजा राममोहन राय व उनके साथियों के प्रयत्न से कलकत्ता में हिन्दू कालिज की स्थापना हुई। यही कालिज आगे चलकर 'प्रेसीडेन्सी कालिज' के नाम से विख्यात हुआ।

सरकारी शिक्षा का प्रारम्भ—ईसाई पादरियों और राजा राममोहन राय सदृश भारतीयों के प्रयत्न से भारत में नवीन शिक्षा की जो रुचि उत्पन्न हो रही थी, अंग्रेजी सरकार उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। अंग्रेजी शासकों ने भी शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया। पर भारत में शिक्षा का क्या स्वरूप हो, इस विषय पर अंग्रेज विचारकों में मतभेद था। बहुसंख्यक अंग्रेजों का यह विचार था, कि भारत के लिये संस्कृत, अरबी व फारसी की शिक्षा ही अधिक उपयुक्त है, और सरकार को उसी के लिए अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिए। पर मैकाले सदृश अनेक विचारक यह प्रतिपादित करते थे, कि शासन कार्य की सुविधा के लिए यह आवश्यक है, कि कुछ भारतीय अंग्रेजी भाषा व अंग्रेजों की विचारसरणी से भी भली-भाँति परिचित हों। इश विशाल देश में शासन का कार्य चलाने के लिए बहुत-से भारतीय कर्मचारियों का सहयोग भी आवश्यक होगा, और ये तभी अपना कार्य भली-भाँति कर सकेंगे जबकि अंग्रेजी भाषा व इंगलिश संस्थाओं से ये भली-भाँति परिचित होंगे। शुरू में पहला मत अधिक प्रबल रहा, और इसी कारण उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण तक सरकार की ओर से शिक्षा-सम्बन्धी जो भी प्रयत्न हुए, उन सबका उद्देश्य भारत की प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य का अध्ययन ही था। पर बाद में जब ब्रिटिश शासन अधिक विस्तृत हो गया, तो आवश्यकता से विवश होकर सरकार की ओर से अनेक ऐसी शिक्षा-संस्थायें भी स्थापित की गईं, जिनमें अंग्रेजी भाषा के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। १८५७ में कलकत्ता यूनिवर्सिटी की स्थापना की गई, जो ब्रिटिश युग की प्रथम भारतीय यूनिवर्सिटी थी। १८५७ और १८७७ के बीच के तीस वर्षों में बम्बई, मद्रास, लाहौर और इलाहाबाद में चार नई यूनिवर्सिटियाँ कायम हुईं, जिनमें इंग्लैण्ड की विविध यूनिवर्सिटियों में दी जाने वाली शिक्षा को दृष्टि में रखकर अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध

किया गया। साथ ही, बहुत से स्कूल व कालिज भी इस काल में स्थापित किये गए, जिनके द्वारा भारतीयों को नवीन ढंग की शिक्षा प्राप्त करने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि अंग्रेजों द्वारा शुरू की गई इस नवीन शिक्षा का लाभ मुख्यतया मध्य श्रेणी ने ही उठाया, क्योंकि इससे उन्हें अपने जीवन की उन्नति का अवसर प्राप्त होता था। अंग्रेज शासकों को सरकार का संचालन करने के लिए ऐसे कर्मचारियों की आवश्यकता थी, जो उनकी भाषा को समझते हों, और छोटे राजकीय पदों को सम्भालकर उनके आदेशों को क्रिया में परिणत करने की सामर्थ्य रखते हों। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त कोई भी नवयुवक इस समय सुगमता से नौकरी प्राप्त कर सकता था। लोग इस इस नई शिक्षा का यही लाभ समझते थे, कि इसे प्राप्त कर उन्हें अपने योगक्षेम का साधन प्राप्त हो जायगा। मैकाले सदृश अंग्रेज शिक्षा-विज्ञ भारतीयों को शिक्षा देने का यही प्रयोजन समझते थे।

वे भारत में ऐसे शिक्षित लोगों की एक नई श्रेणी उत्पन्न करने के लिए उत्सुक थे, जो रंग में तो काले हों, पर भाषा, विचार, मानसिक चिन्तन, वेश-भूषा व रहन-सहन की दृष्टि से अंग्रेजों के सदृश हों। इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई, और शुरू-शुरू में जिन भारतीयों ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की, वे अंग्रेजी बोलने, अंग्रेजों की तरह रहने और अपने विदेशी शासकों का सब प्रकार से अनुकरण करने में गौरव अनुभव करने लगे। कुलीन वर्ग के वे लोग, जो ब्रिटिश शासन की स्थापना से पूर्व राजशक्ति के प्रयोग में हाथ बटाते थे, अंग्रेजी शिक्षा को अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। इसलिए उन्होंने इन नई शिक्षा।संस्थों से लाभ उठाने का प्रयत्न नहीं किया। धार्मिक संकीर्णता व कट्टरता के कारण मुसलमानों को भी इस नई शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि भारतीय जनता के ये वर्ग अंग्रेजी शिक्षा के लाभों से वंचित रह गये।

नवीन शिक्षा का विकास—ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने शिक्षा के विषय में लार्ड मेकाले के मत को स्वीकार कर लिया था, अतः १८३५ ई० के बाद भारत में अंग्रेजी शिक्षा का तेजी के साथ विकास प्रारम्भ हुआ। १८३५-३६ में सरकार की ओर से ४२ सरकारी स्कूल खोले गये, जिनमें अंग्रेजी भाषा की शिक्षा को प्रधान स्थान दिया गया था, और शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी को ही रखा गया था। १८४० में इन स्कूलों की संख्या ५१ हो गई, और १८५५ मे ११५१। १८५७ में कलकत्ता में भारत के पहले अंग्रेजी विश्वविद्यालय की स्थापना हुई, और इस वर्ष के अन्त होने से पूर्व ही मद्रास और बम्बई में भी विश्वविद्यालय स्थापित हुए। १८८७ तक भारत में पांच विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, और देश में अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों की संख्या २५ लाख से भी अधिक हो गई थी। स्कूल विभाग की शिक्षा को सुव्यवस्थित करने के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर अनेक कमीशनों की नियुक्ति की गई, जिन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार पर विशेष रूप से जोर दिया। १८८२ ई० में नियुक्त किये गये हण्टर कमीशन ने यह सिफारिश की, कि प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान देना चाहिए, और अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ भारतीय भाषाओं की उन्नति का

भी यत्न किया जाना चाहिए। जो लोग अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से नई शिक्षा-संस्थाएँ खोलें, उन्हें सरकार की ओर से उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने की सिफारिश भी हण्टर कमीशन द्वारा की गई। १६१० ई० में केन्द्रीय भारत सरकार के अधीन एक पृथक् शिक्षा विभाग खोला गया, जिसके द्वारा भारत में शिक्षा प्रसार के लिए बहुत उपयोगी कार्य हुआ। प्रथम महायुद्ध (१६१४-१६) के बाद जब भारत के विविध प्रान्तों में प्रान्तीय स्वशासन की आंशिक रूप से स्थापना की गई, तो शिक्षा का विषय उन मन्त्रियों के हाथों में दिया गया, जो जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी थे। इन मंत्रियों ने शिक्षा के प्रसार पर विशेष ध्यान दिया। इसी कारण १६१७ से १६२२ तक के पांच वर्षों में भारत में विश्वविद्यालयों की संख्या ५ से बढ़कर १४ हो गई, और पटना (१६१७), बनारस, (१६१७) हैदराबाद, (१६१८) लखनऊ, (१६२०), अलीगढ़ (१६२०), दिल्ली (१६२२) आदि में अनेक विश्वविद्यालय स्थापित हुए। शिक्षा प्रसार के साथ-साथ भारत में कालिजों और विश्वविद्यालयों की संख्या में भी निरन्तर वृद्धि होती गई। १६५२ ई० तक भारत में कुल मिलाकर ३० विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, और उनसे सम्बद्ध कालिजों की संख्या तो सैकड़ों में थी।

उच्च शिक्षा के साथ-साथ माध्यमिक और प्रारम्भिक शिक्षा के प्रसार पर भी सरकार ने ध्यान दिया। इसके लिए सब प्रान्तों में पृथक्-पृथक् शिक्षा विभागों का संगठन किया गया, और प्रायः सब बड़े नगरों में हाई स्कूलों और इन्टरमीडिएट कालिजों की स्थापना हुई। प्रारम्भिक स्कूल तो प्रायः सभी नगरों, कस्बों और बड़े गाँवों में कायम किये गये। इन शिक्षणालयों में शिक्षा का क्या ढंग हो, कौन-कौन से विषय पढ़ाये जाएँ, और इन पर सरकारी नियंत्रण का क्या स्वरूप हो—इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों ने समय-समय पर अनेक कमीशनों और कमिटियों की नियुक्ति की, जिनकी सिफारिशों के अनुसार शिक्षा पद्धति में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार भी किए गये।

भारत में नवीन शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न केवल ब्रिटिश सरकार द्वारा ही नहीं हुआ। सुशिक्षित भारतीय जनता का ध्यान भी शिक्षा की समस्या की ओर गया, और विविध धार्मिक सम्प्रदायों तथा समाजों ने अपनी-अपनी शिक्षा-संस्थाएँ खोलकर शिक्षा प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यूरोप के ईसाई पादरी भारत में अपने धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। शिक्षणालयों को वे धर्म प्रचार का महत्त्वपूर्ण साधन समझते थे। इसलिए अठारहवीं सदी में भी ईसाई पादरियों ने भारत में अनेक विद्यालयों की स्थापना की थी। उन्नीसवीं सदी में इन ईसाई शिक्षा-संस्थाओं की संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई, और भारत के प्रायः सभी बड़े नगरों में ईसाइयों द्वारा कालिज और स्कूल कायम किये गये। इन शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी जहाँ अंग्रेजी भाषा, पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान और नवीन विचारों से परिचय प्राप्त कर लेते थे, वहाँ साथ ही ईसाई धर्म के प्रभाव से भी वे वंचित नहीं रहते थे। अनेक देशभक्त भारतीयों ने अपने देश में ईसाई धर्म के इस बढ़ते हुए प्रभाव को हानिकारक समझा, और उन्होंने ऐसे शिक्षणालयों की स्थापना पर ध्यान दिया, जिनमें

नवीन शिक्षा के साथ-साथ भारतीय धर्मों और संस्कृति का वातावरण हो। राजा राममोहन राय ने इसी उद्देश्य से १८१६ ईस्वी में हिन्दू कालिज की स्थापना की थी। उन्नीसवीं सदी में भारत में जो नये धार्मिक आन्दोलन चले, उन सबने शिक्षा के प्रसार की ओर ध्यान दिया। इसी कारण आर्य समाज ने दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालिजों और आर्य विद्यालयों की स्थापना शुरू की, और सनातन धर्म सभा आदि हिन्दू संस्थाओं द्वारा अनेक सनातन धर्म कालिजों व हिन्दू कालिजों को कायम किया गया। अलीगढ़ का ऐंग्लो-ओरियन्टल कालिज भी इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। भारत के इतिहास में उन्नीसवीं सदी नव जागरण की सदी थी। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, जैन आदि सभी धर्मों में इस काल में नई चेतना उत्पन्न हो रही थी। इसी कारण इन सब धार्मिक सम्प्रदायों की ओर से बहुत-से कालिज व स्कूल इस युग में स्थापित किये गये, जिनमें नये ज्ञान-विज्ञानों की शिक्षा के साथ-साथ अपने धार्मिक वातावरणों को उत्पन्न करने का प्रयत्न भी किया जाता था। भारत में नवीन शिक्षा के विकास पर विचार करते हुए यह बात ध्यान में रखने योग्य है, कि शिक्षा के लिए जितना प्रयत्न सरकार द्वारा किया गया, उससे कहीं अधिक प्रयत्न उन विविध धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं द्वारा हुआ, जिनकी स्थापना भारत में नई जागृति उत्पन्न करने के उद्देश्य से की गई थी। बहुत से धनी व सम्पन्न लोगों ने भी शिक्षणालय कायम करके अपने धन का सदुपयोग किया, और उनके प्रयत्न से भारतमें नवीन शिक्षा के विकास में बहुत अधिक सहायता मिली।

इन सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि भारत में शिक्षा के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। देश के युवक पुराने ढंग की संस्कृत, फारसी व अरबी की शिक्षा की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा और नये ज्ञान-विज्ञानों को अधिक महत्त्व देने लगे, और उनके विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आना शुरू हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध प्रतिक्रिया—यद्यपि भारत में अंग्रेजी शिक्षा का तेजी के साथ विकास हो रहा था, पर ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं थी, जो नई शिक्षा को देश के लिए हानिकारक समझते थे। उन्हें नये ज्ञान-विज्ञान से कोई विरोध नहीं था। पर वे यह पसन्द नहीं करते थे, कि भारतीय बालकों को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाए। उनका विचार था कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन पर अधिक जोर देने के कारण भारतीय युवकों में हीनता की भावना उत्पन्न होती है, वे अपने देश की संस्कृति को तुच्छ समझने लगते हैं, और पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने में गौरव अनुभव करने लगते हैं। यह बात धर्म और राष्ट्रीयता दोनों के लिए विघातक है। इसीलिए उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की गई, जिसमें जहां संस्कृत और वैदिक साहित्य के अध्ययन को प्रमुख स्थान दिया गया, वहां साथ ही हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा नये ज्ञान विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था की गई। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बोलपुर में 'शान्ति निकेतन' की स्थापना की, जो १९२१ ई० में विश्वभारती यूनिवर्सिटी के रूप में परिवर्तित हो गया। टैगोर द्वारा स्थापित यह शिक्षा-संस्था भी गुरुकुल कांगड़ी के समान भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र है, और उच्च शिक्षा भी वहां बंगाली भाषा में दी जाती है। शान्ति निकेतन और गुरुकुल के अनुकरण में अनेक अन्य

'राष्ट्रीय' शिक्षणालय बीसवीं सदी के प्रथम चरण में कायम हुए, जिन्होंने अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार करने से इन्कार किया।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में जब १९२१ ई० में असहयोग आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, तो सरकारी शिक्षणालयों का बहिष्कार भी राष्ट्रीय कार्यक्रम में सम्मिलित किया गया। इस समय भारत में काशी विद्यापीठ, जामिया मिलिया, बिहार विद्यापीठ, तिलक विद्यापीठ, नेशनल कालिज लाहौर आदि अनेक शिक्षा-संस्थाएं कायम हुईं, जिनमें भारतीय भाषाओं के माध्यम द्वारा उच्च शिक्षा की व्यवस्था की गई। ये सब संस्थाएं उस प्रतिक्रिया का परिणाम थीं, जो अंग्रेजी शिक्षा के विरुद्ध भारत में प्रारम्भ हुई थी।

धीरे-धीरे इस तथ्य को भारत के शिक्षाशास्त्रियों ने स्वीकार कर लिया, कि अंग्रेजी के माध्यम द्वारा शिक्षा देना जहां राष्ट्रीय दृष्टि से हानिकारक है, वहां विद्यार्थियों के मानसिक विकास में भी इसके कारण बाधा पहुँचती है। पहले हाई स्कूलों में शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाओं को स्वीकार किया गया, और अब वह समय भी आ चुका है, जबकि कालिजों में भी शिक्षा और परीक्षा के लिये भारतीय भाषाओं को माध्यम रूप से स्वीकार कर लिया गया है। इसके कारण जहां नवीन शिक्षा का एक बहुत बड़ा दोष आंशिक रूप से दूर हो गया है, वहां सर्वसाधारण जनता में शिक्षा के प्रसार में भी इससे बहुत सहायता मिल रही है।

नवीन शिक्षा के परिणाम—(१) अंग्रेज शासकों ने भारत में नई शिक्षा का सूत्रपात चाहे किसी भी उद्देश्य से किया हो, पर यह संभव नहीं था कि अंग्रेजी साहित्य के विचारों का भारतीयों पर कोई प्रभाव न पड़ता। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक इंग्लैण्ड में लोकतन्त्रवाद और जन-साधारण के अधिकारों के आन्दोलन अच्छा प्रबल रूप धारण कर चुके थे। १८३२ के सुधार कानून (रिफार्म एक्ट) द्वारा इंग्लैन्ड में वोट के अधिकार को अधिक विस्तृत करने का प्रयत्न किया गया। १८३८ में इंग्लैण्ड में दास प्रथा का अन्त करने के लिए कानून बनाया गया। १८३८ में इंग्लैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन ने जोर पड़ा, और जनता लोकतन्त्रवाद की स्थापना के लिए उतावली हो उठी। १७८९ और १८३० में फ्रांस को केन्द्र बनाकर राज्यक्रान्ति की जो लहरें यूरोप में प्रादुर्भूत हुई थीं, इंग्लैण्ड की जनता और अंग्रेजी साहित्य को उसने प्रभावित किया, और अंग्रेजी भाषा में इस प्रकार के साहित्य की रचना शुरू हुई, जो स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की भावनाओं से अनुप्राणित था। अंग्रेजी भाषा द्वारा इस साहित्य का भी भारत में प्रवेश हुआ, और इस देश के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अपने देश की सामाजिक व राजनीतिक दुर्दशा को अनुभव करने लगे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब भारत में अनेक विश्वविद्यालय कायम हुए, तो उनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी जहां आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त करने में समर्थ हुए, वहां साथ ही उन्हें उन विचार-धाराओं का भी ज्ञान हुआ, जो इस युग में इंग्लैण्ड व यूरोप के अन्य देशों में विकसित हो रही थीं। भारत को ब्रिटिश शासन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र होना चाहिए, और इस देश में भी लोकतन्त्र शासन की स्थापना होनी चाहिए, इस विचार के विकास में नई शिक्षा द्वारा बहुत सहायता मिली।

इतिहास, भूगोल, गणित, रसायनशास्त्र, भौतिक विज्ञान, साहित्य आदि

आधुनिक विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण भारत में एक ऐसे शिक्षित वर्ग का विकास हुआ, जिनके लोग जहाँ एक तरफ सरकारी नौकरी प्राप्त कर अपने वैयक्तिक उत्कर्ष के लिए उत्सुक थे, वहाँ साथ ही जो यह भी अनुभव करते थे, कि भारत को भी इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों के समान उन्नति-पथ पर आरूढ़ होना चाहिए। अपने देश की सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक दुर्दशा को ये तीव्रता के साथ अनुभव करते थे, और इस बात के लिए उत्सुक थे, कि भारत में भी नवयुग का सूत्रपात हो, और भारतीयों का कार्य केवल अंग्रेजी सरकार रूपी यंत्र का पुर्जा बनकर रहना ही न रहे, अपितु अपने देश के शासन-सूत्र के संचालन में भी उनका हाथ हो,

(२) नवीन शिक्षा का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि भारत की जनता को अपनी धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा का बोध हुआ। हिन्दू धर्म बहुत पुराना है। छठी सदी ईस्वी पूर्व में बुद्ध, महावीर आदि ने उसमें सुधार करने का प्रयत्न किया था, और धार्मिक सुधारणा के एक नवीन आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ था। मुसलमानों का शासन स्थापित होने पर पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में भी भारत में अनेक ऐसे संत महात्मा उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने कि इस देश के पुराने धर्म में सुधार कर जनता में नवजीवन का संचार करने का प्रयत्न किया था। यही प्रक्रिया अब उन्नीसवीं सदी में भी हुई, जबकि नवीन शिक्षा के कारण राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे आदि सुधारकों ने हिन्दू समाज की कुरीतियों का अनुभव कर उनमें सुधार का प्रयत्न किया। स्वामी दयानन्द, रामकृष्ण परमहंस आदि अनेक ऐसे सुधारक भी इस काल में उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि हिन्दू-धर्म के वास्तविक व उत्कृष्ट रूप को जनता के सम्मुख रखकर उसमें नई चेतना व जागृति पैदा करने की कोशिश की।

(३) भारत की भौतिक और आर्थिक उन्नति में भी नवीन शिक्षा ने बहुत सहायता पहुँचाई। ब्रिटिश सरकार द्वारा जिस नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया गया था, उसमें औद्योगिक और शिल्प सम्बन्धी शिक्षा, कृषि तथा वन सम्बन्धी शिक्षा और चिकित्सा-शास्त्र को भी समुचित स्थान दिया गया था। १८४७ ईस्वी तक भारत में इंजीनियरिंग और टेक्नोलोजी की शिक्षा देने वाले ५०६ स्कूल और १७ कालिज स्थापित हो गये थे, और मनुष्यों व पशुओं की चिकित्सा की शिक्षा देने वाले २८ कालिज और २० स्कूल इस काल तक भारत में स्थापित कर दिये गये थे। कृषि तथा वन सम्बन्धी शिक्षा देने वाले कालिजों की संख्या भी १५ तक पहुँच गई थी। इसके कारण भारत में हजारों की संख्या में ऐसे सुशिक्षित व्यक्ति तैयार हो गये थे, जो देश की भौतिक उन्नति व लोक-कल्याण सम्बन्धी कार्यों को करने के लिए उपयुक्त योग्यता रखते थे।

(४) नवीन शिक्षा द्वारा जहाँ इतने लाभ हुए, वहाँ इससे कुछ हानियाँ भी हुईं। भारतीयों में मानसिक गुलामी को विकसित करने में इस शिक्षा द्वारा बहुत सहायता मिली। पराधीन जाति के लोग स्वाभाविक रूप से अपने शासकों के सम्मुख अपने को हीन समझने की प्रवृत्ति रखते हैं। यदि उन्हें शिक्षा भी ऐसी दी जाय, जो उनमें हीन भावना को विकसित करे, तब तो उनमें राष्ट्रीय व जातीय गौरव का स्वाभाविक रूप से ह्रास होने लगता है। ब्रिटिश सरकार द्वारा जिस ढंग की शिक्षा-प्रणाली का भारत में प्रारम्भ किया गया था, उसमें अंग्रेजी भाषा और साहित्य का

प्रमुख स्थान था। भारतीय भाषाओं की उसमें उपेक्षा की जाती थी। शिक्षा का माध्यम भी अंग्रेजी को ही रखा गया था। इन शिक्षणालयों में पढ़ने वाले विद्यार्थी अंग्रेजी भाषा की योग्यता को ही विद्वत्ता का मानदंड समझते थे, और पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने में गौरव अनुभव करते थे। अंग्रेजी रहन सहन, आचार विचार और आदर्शों का उनकी दृष्टि में बहुत अधिक महत्त्व था। यह प्रवृत्ति भारत की अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

(५) पर नवीन शिक्षा ने बहुत-से देशभक्त भारतीयों का ध्यान अपने देश के लुप्त गौरव की ओर भी आकृष्ट किया। ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में संस्कृत भाषा और प्राचीन साहित्य के अध्ययन को भी स्थान दिया गया था। संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन पुराने ढंग के पंडितों द्वारा भी जारी था, पर वैज्ञानिक विधि से उसका अनुशीलन नवीन यूनिवर्सिटियों द्वारा ही शुरू किया गया। नये ढंग से प्राचीन साहित्य और दर्शन का अध्ययन कर अनेक युवकों में अपने देश की प्राचीन विचारधारा के प्रति श्रद्धा का भाव उत्पन्न हुआ, और वे भारतीय संस्कृति व आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने के लिए प्रवृत्त हुए। भारत के प्राचीन इतिहास की शोध को भी नई यूनिवर्सिटियों में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। इस कारण भारत के लुप्त इतिहास का जनता को ज्ञान हुआ, और वह अपने अतीत गौरव से प्रेरणा तथा उत्साह प्राप्त कर देश की दशा को सुधारने के लिए प्रवृत्त हुई।

(६) स्त्री शिक्षा के प्रचार में भी नवीन शिक्षा बहुत सहायक हुई। चिर काल तक मुसलिम शासन के अधीन रहने के कारण भारत में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति बहुत हीन हो गई थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में जिस नवीन शिक्षा का सूत्रपात किया गया, उसमें स्त्रियों की शिक्षा पर भी ध्यान दिया गया था। शिक्षा प्राप्त करके स्त्रियों को अपनी दुर्दशा का अनुभव हुआ, और ऐसे अनेक सामाजिक सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका उद्देश्य बालविवाह और परदे की प्रथा का विरोध करना, विधवा विवाह का समर्थन करना और स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार व स्थिति प्रदान करना था।

(२) धार्मिक सुधार के आन्दोल

समाज और धर्म के क्षेत्र में सुधार के जो विविध आन्दोलन उन्नीसवीं सदी में भारत में शुरू हुए, वे सब नवीन शिक्षा के ही परिणाम नहीं थे। इसमें संदेह नहीं, कि अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य साहित्य को पढ़कर अनेक सुधारकों ने ऐसे आन्दोलनों का भी सूत्रपात किया, जिनका उद्देश्य भारत के समाज व धर्म में आमूलचूल परिवर्तन करना था। पर साथ ही आर्य समाज सदृश अनेक ऐसे आन्दोलन भी इस युग में शुरू हुए, जो हिन्दू-धर्म की बुराइयों व कुरीतियों को दूर कर सच्चे व सनातन धर्म की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे। हम इस प्रकरण में इन दोनों प्रकार के सुधार आन्दोलनों पर अत्यन्त संक्षेप के साथ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

ब्राह्म समाज—१८२८ ई० में राजा राममोहन राय ने 'ब्राह्म-समाज' नाम से एक नई संस्था की स्थापना की, जिसमें वे सब लोग सम्मिलित हो सकते थे, जो ईश्वर

औरब्राह्म-समाज को एक नवीन ढंग का धार्मिक सम्प्रदाय बना देने के लिए प्रयत्नशील थे। देवेन्द्रनाथ टैगोर इस बात से सहमत नहीं हुए। वे ब्राह्म-समाज को हिन्दू धर्म का ही एक अंग बनाये रखना चाहते थे।

केशवचन्द्र सेन और देवेन्द्र नाथ टैगोर के मतभेद ने इतना उग्र रूप धारण किया, कि ब्राह्म समाज दो दलों में विभक्त हो गया। देवेन्द्र नाथ के अनुयायियों से पृथक् होकर दूसरे दल ने अपना पथक् संगठन बना लिया। केशवचन्द्र सेन इसके प्रधान नेता थे। उनके नेतृत्व में ब्राह्म समाज ने असाधारण उन्नति की, और देवेन्द्रनाथ टैगोर का 'आदि ब्राह्म समाज' पीछे रह गया। बहुसंख्यक ब्राह्म समाजियों ने केशवचन्द्र सेन का साथ दिया। यद्यपि केशवचन्द्र और उनके अनुयायी 'आधुनिकता' के पक्षपाती थे, पर वे अपने मज्जातन्तुगत संस्कारों से ऊपर नहीं उठ सके। बाद में चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति धारा के प्रवाह में बहकर उन्होंने भी संकीर्तन को महत्त्व देना शुरू किया, और ब्राह्म लोग केशवचन्द सेन की उसी ढंग से पूजा करने लगे, जैसे कि मध्य-युग में सन्त गुरुओं की पूजा होती थी। प्रगतिशील ब्राह्म समाजियों को यह बात पसन्द नहीं आई। उन्होंने आन्दोलन करना शुरू किया, कि ब्राह्म समाज के नियमों को स्पष्ट रूप से निर्धारित करना व उसके सिद्धांतों व मन्तव्यों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करना अनिवार्य है। इसके बिना समाज में ऐसे तत्त्व प्रविष्ट हुए बिना नहीं रहेंगे, जो ब्राह्म आन्दोलन के मूल सिद्धान्तों के विपरीत हों। साथ ही, प्रगतिशील ब्राह्म-समाजियों ने अनेक ऐसी बातें भी कहनी शुरू कीं, जो केशवचन्द्र सेन को स्वीकार्य नहीं थीं। वे कहते थे, स्त्रियों को भी उसी ढग की उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर होना चाहिए, जैसी कि पुरुष प्राप्त करते हैं। स्त्रियों और पुरुषों को स्वतन्त्र रूप से मिलने का अवसर मिलना चाहिए, और परदा प्रथा का पूर्ण रूप से अन्त कर देना चाहिए। १८७८ ई० में केशवचन्द्रसेन ने चौदह वर्ष की आयु की अपनी कन्या का विवाह कूच बिहार के महाराजा के साथ कर दिया। ये महाराज कट्टर सनातनी थे। ब्राह्म-समाजियों को अपने नेता की यह बात बिल्कुल भी पसन्द नहीं आई। वे उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और प्रगतिशील ब्राह्म-समाजियों ने 'साधारण ब्राह्मसमाज' नाम से एक पृथक् संगठन बना लिया।

साधारण ब्राह्म समाज ने आगे चलकर बहुत उन्नति की। इसके अनुयायी सामाजिक सुधार पर बहुत बल देते थे। वे बाल-विवाह के विरोधी थे, विधवा-विवाह का समर्थन करते थे, परदे को हटाकर स्त्रियों को उच्च शिक्षा देना परम आवश्यक समझते थे, और बहु-विवाह को मानव समाज के लिए अत्यन्त हानिकारक मानते थे। सब धर्मों के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए वे विविध धर्मों के धर्म-ग्रन्थों को पढ़ना उपयोगी समझते थे, और इस प्रकार विश्वबन्धुत्व की भावना को प्रोत्साहित करते थे। विविध जातियों में विवाह सम्बन्ध स्थापित करना और खान-पान विषयक संकीर्ण विचारों का विरोध करना भी वे अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसमें संदेह नहीं कि साधारण ब्राह्म समाज के आन्दोलन ने बंगाल में हिन्दू-धर्म की पुरानी रूढ़ियों व कुरीतियों को दूर करने के लिए बहुत उपयोगी कार्य किया। ईसाई व मुसलमानों को अपने समाज में शामिल करने में यद्यपि उन्हें सफलता नहीं हुई, पर हिन्दू समाज में उन्होंने एक ऐसा वर्ग अवश्य उत्पन्न कर दिया, जो पुरानी रूढ़ियों का विरोध करके एक उन्नत

के प्रधान नेता महादेव गोविन्द रानाडे थे, जो ब्रिटिश सरकार की सेवा में न्यायाधीश (जस्टिस) के पद पर नियुक्त थे। जस्टिस रानाडे के समाज-सुधार-सम्बन्धी विचार बहुत सुलझे हुए थे। उनका मन्तव्य था, कि सामाजिक सुधार के उत्साह में हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये, कि मनुष्य और समाज का अपने भूतकाल के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पुरानी परम्पराओं को एकदम तोड़ सकना मनुष्य के लिये सम्भव नहीं होता। अतः सुधारक का यह कर्तव्य है, कि वह मानव-समाज के भूतकाल को दृष्टि में रखते हुए और उसके मज्जातन्तुगत संस्कारों तथा पुरानी प्रथाओं का आदर करते हुए ही उनमें परिष्कार का प्रयत्न करे।

आर्य-समाज—प्राचीन हिन्दू-धर्म में नवजीवन का संचार करने और हिन्दू जाति की सामाजिक दशा में सुधार करने के लिये उन्नीसवीं सदी में जिन विविध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, उनमें आर्य समाज का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है। जो कार्य बंगाल में राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३) ने किया, वही उत्तरी भारत में स्वामी दयानन्द (१८२४–१८८३) ने किया। दयानन्द काठियावाड़ के एक ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध और वर्धमान महावीर के समान उन्हें भी युवावस्था में ही सांसारिक जीवन से वैराग्य हो गया था, और वे घर बार का परित्याग कर सत्य की खोज में निकल पड़े थे। ईश्वर का क्या स्वरूप है, हिन्दू धर्म का वास्तविक रूप क्या है, और ईश्वर के ज्ञान व मोक्ष की प्राप्ति का क्या साधन है—इन बातों की जिज्ञासा को लेकर उन्होंने भारत में दूर-दूर तक भ्रमण किया, बहुत-से साधु-महात्माओं व विद्वानों का सत्संग किया, और अनेक प्रकार से तपस्या की। भारत-भ्रमण में जनता की वास्तविक दशा को देखते हुए और वेदादि प्राचीन धर्मग्रन्थों का अनुशीलन करते हुए उन्होंने अनुभव किया, कि हिन्दू धर्म का जो रूप उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में विद्यमान था, वह प्राचीन आर्य धर्म से बहुत भिन्न था। दयानन्द अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अपरिचित थे। न वे ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आये थे, और न ही उन्हें पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का अवसर मिला था। केवल वेद शास्त्रों का अनुशीलन करके वे इस परिणाम पर पहुँचे, कि बाल विवाह सर्वथा अनुचित है, विशेष परिस्थितियों में विधवा विवाह शास्त्र-सम्मत है, और समाज में ऊँच-नीच का भेद भाव आर्यधर्म के विपरीत है। जातिभेद उस वर्ण-व्यवस्था का विकृत रूप है, जिसमें कि गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार मानव-समाज को चार भागों में विभक्त किया गया था, और प्रत्येक मनुष्य को यह अवसर था कि वह अपनी योग्यता और गुणों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्ण प्राप्त कर सके। स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा दी जानी चाहिए। छूत और अछूत का भेद धर्म-विरुद्ध है, प्राचीन आर्य समुद्र को पार कर दूर-दूर तक यात्रा किया करते थे, और अब भी भारतीयों को अपने संकीर्ण विचारों का परित्याग कर देश-विदेश की यात्रा करनी चाहिए। ईश्वर एक है, और सबको उस एक ईश्वर की ही उपासना करनी चाहिए। मूर्त्ति पूजा वेदों में विहित नहीं है, और निराकार ईश्वर की प्रतिमा बनायी ही नहीं जा सकती। ईश्वर मानव रूप धारण कर कभी अवतार नहीं लेता, राम और कृष्ण सदृश अवतार माने जाने वाले व्यक्ति वस्तुतः महापुरुष थे, जिनका हमें उचित आदर तो करना चाहिए, पर उन्हें ईश्वर का अवतार नहीं मानना

कभी 'स्वशासन' का स्थान नहीं ले सकता। विदेशी राज चाहे कितना ही उत्कृष्ट व सुशासित क्यों न हो, स्वराज्य उसकी अपेक्षा अच्छा है। पाश्चात्य विचारसरणी व पाश्चात्य भाषाओं से पूर्णतया अपरिचित होते हुए भी दयानन्द ने जो इस ढंग के विचार जनता के सम्मुख रखे, उन्हें पढ़कर आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहा जाता। गरीबी और अमीरी की समस्या को हल करने के लिये भी दयानन्द ने सर्वथा मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया। उन्होंने लिखा, कि यह जाति-नियम और राजनियम होना चाहिये, कि सात वर्ष की आयु होने पर सब बच्चों को शिक्षणालयों में भेज दिया जाय, ताकि सबको योग्यता-प्राप्ति का समान रूप से अवसर मिल सके। शिक्षणालयों में राजा और रंक सबकी सन्तान को एक सदृश भोजन, शय्या, वस्त्र व शिक्षा मिलनी चाहिये, और शिक्षा की समाप्ति पर सबको योग्यता के अनुरूप कार्य दिया जाना चाहिये। निःसन्देह, दयानन्द एक मौलिक विचारक थे, और उन्होंने प्राचीन वेदशास्त्रों के आधार पर हिन्दू-धर्म का एक ऐसा स्वरूप जनता के सम्मुख उपस्थित किया, जिसके कारण हिन्दू-धर्म क्रियात्मक क्षेत्र में भी संसार के उन्नत धर्मों की समकक्षता में आ गया।

दयानन्द की शिक्षाओं का प्रसार करने के लिये आर्यसमाज ने जहाँ बहुत-से भजनोपदेशकों और धर्म-प्रचारकों को नियत किया, वहाँ बहुत-से विद्यालयों, कालेजों, अनाथालयों, विधवाश्रमों, चिकित्सालयों और आश्रमों की भी स्थापना की। ईसाई चर्च के प्रचार-कार्य को दृष्टि में रखकर आर्य-समाज ने उपदेशक-मण्डलियाँ तैयार कीं, जो विविध नगरों और ग्रामों में घूम-घूम कर जनता को वैदिक धर्म का सन्देश देती थीं, सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध प्रचार करती थीं, और विधर्मी लोगों को आर्यसमाजी व हिन्दू बनाने के लिये प्रयत्नशील रहती थीं। स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में आर्य-समाज ने अनुपम कार्य किया। आर्य-समाज के प्रायः सभी मन्दिरों के साथ पुत्री-पाठशालाओं की स्थापना की गयी। अछूतोद्धार आर्यसमाज का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य था। कितने ही चमार व भंगी आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर 'पंडित' व 'ठाकुर' बन गये। पहाड़ों के मेघ और शिल्पकार आर्यसमाज द्वारा 'महाशय' बना दिये गये, और वे यज्ञोपवीत धारण कर यज्ञ-हवन करने में तत्पर हो गये।

वैदिक साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के लिये आर्य-समाज ने गुरुकुलों की स्थापना की, जिनमें निःशुल्क शिक्षा पद्धति का आश्रय लिया गया, और सब 'ब्रह्मचारियों' को एक समान वस्त्र, भोजन व शय्या देने की व्यवस्था की गयी। गुरुकुलों द्वारा भारत के प्राचीन ज्ञान के अनुशीलन में बहुत सहायता मिली, और इनमें पढ़े हुए विद्यार्थी वेदशास्त्रों की नये रूप से व्याख्या करने में समर्थ हुए। दयानन्द सरस्वती के बाद आर्य समाज के मुख्य नेताओं में स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। स्वामी श्रद्धानन्द गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रवर्तक थे। पर आर्यसमाज में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को प्राचीन वेदशास्त्रों के अनुशीलन की अपेक्षा अधिक महत्त्व देते थे। इनके नेता महात्मा हंसराज थे। उन्होंने लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो-वैदिक कालेज की स्थापना की, और समयान्तर में इसी प्रकार के अनेक कालेज भारत के अन्य नगरों में भी खोले गये। इन कालेजों में विद्यार्थियों का रहन-सहन आर्य समाज के आदर्शों के अनुसार होता था, और नये ज्ञान-

थे। रामकृष्ण की शिक्षाओं के अनुसार जन-समाज की सेवा करने के लिये 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की गयी, जिसकी शाखाएँ कुछ समय में ही भारत तथा विदेशों में अनेक स्थानों पर कायम हो गयीं। रामकृष्ण मिशन के सदस्य जहाँ अपने गुरु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों व मन्तव्यों का उपदेश करते हैं, वहाँ साथ ही चिकित्सालय, शिक्षणालय आदि खोलकर जनता की सेवा भी करते हैं। रामकृष्ण के अनुसार ईश्वर एक है, और अध्यात्मवाद का अनुसरण कर ब्रह्म में लीन होना ही मनुष्य का चरम ध्येय है। पर विविध देवी-देवताओं के रूप में विश्व की सर्वोपरि शक्ति की पूजा की जा सकती है, और प्रतिमापूजन द्वारा मनुष्य अध्यात्म-शक्ति का विकास कर सकता है। रामकृष्ण विविध धर्मों व सम्प्रदायों की आधारभूत एकता पर भी विश्वास रखते थे। उनका मन्तव्य था, कि विविध धर्म उन विविध मार्गों के समान है, जो मनुष्य को एक ही मंजिल की तरफ ले जाते हैं। जिस प्रकार जल के पानी, वाटर, आब आदि कितने ही नाम हैं, वैसे ही हरि, अल्लाह, कृष्ण आदि एक ही सत्ता के बोधक हैं। ईश्वर एक है, पर एक होते हुए भी वह अपने को विविध रूपों में अभिव्यक्त करता है। निर्गुण और सगुण दोनों रूपों से उसकी उपासना की जा सकती है।

इस युग के अनेक अन्य धार्मिक आन्दोलनों के समान रामकृष्ण मिशन ने भी हिन्दू जनता को बहुत अधिक प्रभावित किया। भारत की अशिक्षित, रोगग्रस्त, पददलित और पीड़ित जनता की सेवा करना और उसकी स्थिति को उन्नत करना इस मिशन का मुख्य उद्देश्य है। स्वामी विवेकानन्द जहाँ भारत के अध्यात्मवाद का देश-विदेश में प्रचार करते थे, वहाँ साथ ही वर्तमान भारत की दुर्दशा की ओर भी वे संसार का ध्यान आकृष्ट करते थे। उनका विश्वास था, कि भौतिक सुखों के पीछे पागल हुई आधुनिक दुनिया को भी भारत का अध्यात्मवाद सच्ची शान्ति का सन्देश दे सकता है। पर यह तभी सम्भव है, जब कि भारत अपनी तमोमयी निद्रा से जागकर संसार में अपने लिये उपयुक्त स्थान प्राप्त कर ले। स्वामी विवेकानन्द का दृष्टिकोण न केवल अन्तर्राष्ट्रीय था, पर साथ ही राष्ट्रीय भी था। इसलिए उनके मिशन द्वारा भारत के नव-जागरण में बहुत सहायता मिली।

थियोसोफिकल सोसाइटी—सन् १८५७ में मादाम ब्लावत्सकी और कर्नल आलकोट ने अमेरिका में थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की थी। १८७६ और १८८६ में ये भारत भी आये, और इन्होंने भारत के विविध धार्मिक आन्दोलनों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द सरस्वती से भी इनका सम्पर्क हुआ, और कुछ समय के लिये इन्होंने यह भी प्रयत्न किया, कि आर्यसमाज और थियोसाफिकल सोसाइटी परस्पर मिलकर एक हो जाएं, और साथ मिलकर ही कार्य करें। पर दयानन्द वेदों की अपौरुषेयता पर बल देते थे, और इसी कारण ब्लावत्स्की व आलकोट का उनके साथ मेल नहीं हो सका। आर्य-समाज के साथ मिलकर एक हो जाने के विषय में निराश होकर इन्होंने मद्रास के अदयार नामक स्थान पर अपना केन्द्र स्थापित किया, और भारत के विविध प्रदेशों में अपने सिद्धान्तों का प्रचार शुरू किया। प्रारम्भ में इस सोसाइटी को विशेष सफलता नहीं मिल सकी, पर जब १८६३ में श्रीमती एनी बीसेन्ट ने स्थिर रूप से भारत में बसकर थियोसोफिकल आन्दोलन का संचालन शुरू

ज्ञान और सत्यासत्य के विवेचन की प्रवृत्ति को विकसित कर रहे थे। आर्य-समाजी और सनातनी—दोनों प्रकार के उपदेशक ग्रामों में जाकर उपदेश देते थे, भजन गाते थे और शास्त्रार्थ करते थे। अशिक्षित जनता को भी इन भजनों और शास्त्रार्थों से धर्म के तत्त्वों पर विचार करने का अवसर मिलता था, और उसमें नये उत्साह का संचार होता था।

जनता को अपने धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति आकृष्ट करने के लिये इन संस्थाओं ने जहाँ चिकित्सालय, विधवाश्रम, अनाथालय आदि खोले, वहाँ साथ ही आर्य वीर दल आदि स्वयंसेवक-दलों का भी संगठन किया। ये दल मेलों, उत्सवों आदि के अवसर पर जनता की सेवा करते थे, और हिन्दू संगठन का आदर्श देश के सम्मुख उपस्थित करते थे।

महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज के आदर्श से प्रभावित होकर १८८४ में 'दक्खन एजुकेशन सोसाइटी' का निर्माण हुआ। इस सोसाइटी का उद्देश्य यह था, कि ऐसी शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना की जाय, जिनमें पढ़े हुए विद्यार्थी देश-सेवा को ही अपना ध्येय मानें। इस सोसाइटी की ओर से पूना में फर्ग्युसन कालेज और सांगली में विलिंगडन कालेज की स्थापना की गयी, और उनमें कार्य करने के लिये जो प्रोफेसर नियत किये गये, उन्हें जीवन निर्वाह के लिये केवल ७५ रुपये मासिक वेतन देने की व्यवस्था की गयी। केवल ७५ रुपये मासिक लेकर जो प्रोफेसर इन कालेजों में कार्य करते थे, वे अपने विद्यार्थियों के सम्मुख भी त्याग और सेवा के आदर्शों को उपस्थित कर सकते थे। उत्तरी भारत में जब गुरुकुलों और दयानन्द कालेजों की स्थापना हुई, तो उनके शिक्षकों ने भी इसी आदर्श को अपनाया, और नाम मात्र वेतन लेकर शिक्षण का कार्य शुरू किया। निःसन्देह, इस समय भारत में नव जागरण उत्पन्न हो रहा था, और बहुत-से शिक्षित लोग धर्म, देश और जाति की सेवा के लिये कार्य क्षेत्र में प्रवेश कर रहे थे।

देश-सेवा के उद्देश्य से जो अनेक अन्य संस्थाएं इस समय कायम होनी शुरू हुईं, उनमें पूना की 'सर्वेन्ट्स आफ इण्डिया सोसाइटी' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके संस्थापक श्री गोपाल कृष्ण गोखले थे। दक्खन एजुकेशन सोसाइटी के सदस्य रूप में २० वर्ष तक ७५ रुपये मासिक पर सेवा-कार्य समाप्त कर १६०५ में उन्होंने इस नई सोसाइटी की स्थापना की। इसका उद्देश्य इस प्रकार के राष्ट्रीय प्रचारक (मिशनरी) उत्पन्न करना था, जो सब प्रकार के वैध उपायों द्वारा भारतीय जनता के हित साधन में ही अपने सम्पूर्ण जीवन को व्यतीत करने के लिये उद्यत हों। बाद में लाला लाजपतराय ने पंजाब में 'सर्वेण्ट्स आफ पीपुल सोसाइटी' के नाम से इसी ढंग की एक अन्य संस्था कायम की। भारत के शिक्षित वर्ग में जनता की निष्काम भाव से सेवा करने की जो प्रवृत्ति इस युग में शुरू हुई, उसकी मूल प्रेरणा उन धार्मिक आन्दोलनों द्वारा ही प्राप्त की गयी थी, जो इस काल में भारत के विविध प्रदेशों में जारी थे।

इस्लाम में जागृति—हिन्दू-धर्म में जो नव-जागरण हो रहा था, उसने इस्लाम को भी प्रभावित किया। ब्रिटिश शासन की स्थापना के समय मुसलिम लोग अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य शिक्षा से घृणा करते थे। उन्हें वे दिन भूले न थे, जब भारत पर विविध मुसलिम राजवंशों का शासन था। उनका यह भी विश्वास था, कि ज्ञान

के लिये जोर दे रहे थे। इन कुरीतियों में सर्वप्रधान सती प्रथा थी, जिसके विरुद्ध अकबर ने भी राजाज्ञा प्रकाशित की थी। राजा राममोहन राय की प्रेरणा व प्रयत्न से १८२९ ई० में ब्रिटिश सरकार ने सती प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर दिया, और यह व्यवस्था की, कि जो कोई व्यक्ति किसी स्त्री को सती होने के लिये प्रेरित या विवश करे, उसे सजा दी जाय। सती प्रथा को बन्द करने से पूर्व अंग्रेजी सरकार ने पुत्रप्राप्ति के लिये सन्तान को बलि देने व कन्यावध को रोकने की प्रथा के सम्बन्ध में भी अनेक कानून बनाये थे।

(३) भारत में ईसाई धर्म का प्रसार

जिस प्रकार तुर्क-अफगान सल्तनत की स्थापना के कारण बारहवीं सदी के अन्त में भारत में इस्लाम का प्रसार शुरू हुआ, वैसे ही अठारहवीं सदी में अंग्रेजी शासन स्थापित होने के कारण इस देश में ईसाई धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव पैलेस्टाइन में हुआ था। धीरे-धीरे यह धर्म सारे यूरोप में फैल गया था। रोमन सम्राटों के ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेने के कारण पाश्चात्य जगत् में इस धर्म के प्रसार में बहुत सहायता मिली। पर इस धर्म का प्रसार केवल राजशक्ति द्वारा ही नहीं हुआ, ईसाई सन्त-महात्माओं ने भी दूर-दूर के प्रदेशों में अपने धार्मिक मन्तव्यों का प्रचार करने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। ईसाई अनुश्रुति के अनुसार पहली सदी ईस्वी में ही कतिपय प्रचारक भारत में ईसाई धर्म के प्रसार के लिये आ गये थे, और उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई थी। प्राचीन काल में भारत और पाश्चात्य देशों में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध विद्यमान था, और इसी कारण दक्षिणी भारत के समुद्रतट के प्रदेशों में बहुत पुराने समय से ही ईसाई धर्म का प्रवेश होना शुरू हो गया था। इसीलिये दक्षिण के अनेक हिन्दू राजा ईसाई गिरजों का भी उसी प्रकार सम्मान करते थे, जैसे कि हिन्दू मन्दिरों का। वे ईसाई प्रचारकों को सब प्रकार की सुविधाएं भी उदारतापूर्वक प्रदान करते थे।

पन्द्रहवीं सदी के अन्त में जब अफ्रीका का चक्कर काटकर पोर्तुगीज लोगों ने भारत आना प्रारम्भ किया, तो जिस प्रकार उन्होंने इस देश में अपने शासन की स्थापना का यत्न किया, वैसे ही ईसाई धर्म के प्रचार के लिये भी उन्होंने कोई कसर नहीं उठा रखी। भारत के पश्चिमी समुद्र तट के जिन प्रदेशों पर पोर्तुगीज लोगों का शासन स्थापित हो गया था, वहां उन्होंने जनता को जबर्दस्ती ईसाई बनाने का भी यत्न किया। पोर्तुगीज लोगों का विचार था, कि जिस प्रकार अमेरिका के मूल निवासियों की सभ्यता का अन्त कर उन्हें पूर्ण रूप से अपना वशवर्ती बनाया जा सकना सम्भव हुआ है, वैसे ही भारत में भी किया जा सकता है। पर भारत के निवासी अमेरिका के निवासियों की अपेक्षा अधिक सभ्य व उन्नत थे। इस कारण पोर्तुगीजों को अपने प्रयत्न में पूर्ण रूप से सफलता नहीं मिली। पर फिर भी वे अपने अधिकृत प्रदेशों के निवासियों को अच्छी बड़ी संख्या में ईसाई धर्म में दीक्षित करने में समर्थ हुए।

अठारहवीं सदी के मध्य भाग में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन भारत के अनेक प्रदेशों में स्थापित हो गया, तो ईसाई धर्म के प्रचार के लिये भी विशेष रूप से

शक्तिसम्पन्न धर्म का मुकाबला करना पड़ा। राजशक्ति के अपने अनुकूल होने के कारण जहाँ ईसाई पादरियों का भारत में विशेष प्रभाव था, वहाँ साथ ही वे एक ऐसी संस्कृति के भी प्रतिनिधि थे, जो नये ज्ञान विज्ञान के विकास के कारण बहुत उन्नत दशा में थी। ईसाई धर्म के मन्तव्य चाहे हिन्दू धर्म के मुकाबले में कितने ही साधारण क्यों न हों, पर उसके साथ यूरोप की उस सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव व प्रभाव भी सम्मिलित था, जो उन्नीसवीं सदी में एशिया, अफ्रीका और अमेरिका में सर्वत्र अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी। पर इस काल में एक बार फिर हिन्दू धर्म में सुधार के नये आन्दोलन प्रारम्भ हुए, जिनके कारण हिन्दू लोग ईसाई मत का मुकाबला करने में बहुत अंश तक सफल रहे।

ईसाई धर्म के प्रचार के कारण भारत में एक नये धार्मिक सम्प्रदाय का प्रवेश हो गया है, और वह अब तक भी अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने में तत्पर है। इंगलैण्ड, अमेरिका, इटली, पोर्तुगाल, स्वीडन, फ्रांस आदि कितने ही पाश्चात्य देशों के ईसाई प्रचारक भारत में अपने-अपने ईसाई सम्प्रदायों के प्रचार के लिये तत्पर हैं, और उनके ऐसे चर्च भारत में स्थापित हैं, जिन्हें विदेशों से अच्छी बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। इन चर्चों का विदेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, और इनमें कार्य करने वाले पादरी भी प्रायः विदेशी हैं। यह सही है, कि भारत में ईसाई चर्च का स्वरूप अब निरन्तर अधिक-अधिक राष्ट्रीय होता जा रहा है, और बहुत-से भारतीय पादरी भी ईसाई धर्म के प्रचार के लिये विदेशी प्रचारकों को सहयोग प्रदान कर रहे हैं। पर यह सब होते हुए भी ईसाई धर्म के प्रचार को भारतीय लोग अच्छी निगाह से नहीं देखते। इसका कारण सम्भवतः यह है, कि संसार के आधुनिक इतिहास में विदेशी पादरी पाश्चात्य साम्राज्यवाद के सहायक रहे हैं, और ईसाई धर्म के साथ पाश्चात्य देशों के साम्राज्य-सम्बन्धी उत्कर्ष का घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। पर यह भी सत्य है, कि भारत के ईसाई चर्चों का रूप अब बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है, और भारतीय ईसाई देशभक्ति व राष्ट्रीय भावना में अन्य भारतीयों के मुकाबले में किसी तरह से भी पीछे नहीं हैं। भारत में ईसाई धर्म का स्वरूप भी अनेक अंशों में परिवर्तित हो गया है, क्योंकि जिन लोगों ने इस मत को स्वीकार किया है, वे अपने पुराने परम्परागत विचारों, प्रथाओं और मज्जातन्तु-गत संस्कारों का पूर्ण रूप से त्याग नहीं कर सके हैं। उनके लिये क्राइस्ट का प्रायः वही रूप है, जो हिन्दुओं के लिए कृष्ण का है। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अंग्रेजी शासन के कारण भारत के धर्मों में एक धर्म की संख्या और बढ़ गयी है, और हिन्दू धर्म व इस्लाम के समान ईसाई धर्म भी भारत में स्थायी रूप से अपना स्थान बना चुका है।

(४) नये साहित्य का विकास

नई शिक्षा के प्रसार और नवीन धार्मिक आन्दोलनों का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटिश युग में हिन्दी आदि विविध भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। भारत में कागज का प्रवेश मुसलिम युग में ही हो चुका था। चिकने व बढ़िया कागज पर सुन्दर रीति से लिखी हुई पुस्तकें भी बाजार मे बिकने लगी थीं। लकड़ी की तख्तियों पर अक्षरों को उत्कीर्ण कर उनके ठप्पे से कागज की छपाई भी ब्रिटिश युग से पूर्व भारत में शुरू हो चुकी थी। पर अठारहवीं सदी में छापेखाने

(प्रिंटिंग प्रेस) का भी भारत में प्रवेश हुआ, और मशीन द्वारा पुस्तकों व पत्र-पत्रिकाओं को अच्छी बड़ी संख्या में छाप सकना सम्भव हो गया। छापेखाने के प्रवेश के कारण साहित्य की वृद्धि में बहुत अधिक सहायता मिली, और बहुत-सी नई पुस्तकें और पत्र-पत्रिकायें बाजार में बिकने के लिये आने लगीं। नये विचारों के प्रचार मे कागज और उस पर छपी हुई पुस्तकें बहुत सहायक सिद्ध हुईं, और सर्वसाधारण जनता के लिये ज्ञान-वृद्धि कर सकना बहुत सुगम हो गया। ईसाई मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये भारतीय भाषाओं में बाइबल का अनुवाद किया, और अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएं प्रकाशित करनी शुरु कीं। अठारहवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही बंगाली भाषा में बाइबिल का अनुवाद प्रकाशित हो चुका था। इस समय तक भारत के साहित्यिक अपनी रचनायें प्रायः पद्य में ही किया करते थे। छापेखाने के अभाव में बड़े गद्य-ग्रन्थों का लिखना बहुत क्रियात्मक नहीं था। पर फिर भी अनेक लेखक अपने विचारों को प्रकट करने के लिये गद्य का उपयोग करने लगे थे, और चौदहवीं सदी से ही हिन्दी आदि लोक भाषाओं में अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें गद्य में भी लिखी जाने लगी थीं। पर इन पुस्तकों का विषय या तो धर्म होता था, या कथा-कहानियां। आधुनिक शैली के गद्य-ग्रन्थ अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक भारत की लोक-भाषाओं में प्रायः नहीं लिखे गये थे।

आनन्दमठ का धर्म-ग्रन्थ के समान अध्ययन करते थे, और उसके अन्यतम गीत 'वन्दे मातरम्' को अपना 'मंत्र' व 'सूक्त' समझते थे। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास के साथ-साथ बंकिम के 'वन्दे मातरम्' का भी प्रचार होने लगा, और बाद में यही भारत का राष्ट्रीय गीत बन गया। माइकेल मधुसूदन दत्त ने ईसाई मिशनरियों के सम्पर्क में आकर क्रिश्चियन धर्म को अपना लिया था। अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव से बोल चाल, रहन-सहन आदि में वे पूर्णतया अंग्रेजों का अनुकरण करते थे। अंग्रेजी भाषा पर उनका अधिकार था, अतः शुरू में उन्होंने अंग्रेजी के माध्यम से ही अपनी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। पर उन्नीसवीं सदी के यूरोपियन साहित्य में राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावनाओं का जो प्राबल्य था, मधुसूदन दत्त भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। बाद में उन्होंने बंगाली भाषा में काव्य-रचना शुरू की, और उन जैसे उच्च शिक्षा-प्राप्त व आधुनिक विचार-सरणी से परिचित कवि द्वारा बंगाली में ऐसे काव्य की सृष्टि हुई, जिसे एक सदी के लगभग समय बीत जाने पर आज भी अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है। दीनबन्धु मित्र नाटककार थे, और उन्होंने बंगाली भाषा में आधुनिक शैली के नाटक लिखने की जिस परम्परा का प्रारम्भ किया, आगे चलकर द्विजेन्द्र लाल राय सदृश साहित्यिकों ने उसे पूर्णता तक पहुँचा दिया।

इस युग के अन्य बंगाली साहित्यकारों में अक्षय कुमार दत्त, राजनारायण बोस, देवेन्द्रनाथ टगोर, हेमचन्द्र बनर्जी और नवीन चन्द्र सेन के नाम भी उल्लेखनीय हैं। नवीन शिक्षा के प्रसार के कारण बंगाल में इस समय साहित्य सृजन की एक ऐसी परम्परा का प्रारम्भ हो गया था, जिसके कारण जहाँ बंगाली साहित्य असाधारण रूप से उन्नति कर रहा था, वहाँ जनता को भी नये विचारों से परिचय प्राप्त करने का अनुपम अवसर प्राप्त होता था। बंगाल की साहित्यिक प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट रूप रवीन्द्रनाथ टैगोर (१८६१-१९४१) के रूप में प्रकट हुआ, जिनकी ख्याति न केवल भारत में अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सर्वत्र फैल गयी। १९१३ में उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'गीतांजलि' पर नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया, और विश्व भर के साहित्यिकों ने उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट की। गद्य, पद्य, नाटक, निबन्ध रचना, संगीत, चित्र-कला—सब पर रवीन्द्रनाथ का समान रूप से अधिकार था, और उनकी कृतियाँ विश्व-साहित्य का स्थायी अंग बन गई हैं। इतिहास में उनकी गणना सदा अमर व 'अमर्त्य' साहित्यकों में की जायगी। शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय आदि कितने ही अन्य साहित्यकार भी आधुनिक युग में बंगाल में हुए। इनके नामों का निर्देश करना भी इस इतिहास में सम्भव नहीं है। पर ध्यान देने योग्य बात यह है, कि भारत के नव-जागरण में इन साहित्यकारों का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है, और आज जनता में जो नई स्फूर्ति व चेतना उत्पन्न हो गयी है, उसका श्रेय अनेक अंशों में इन्हीं को दिया जाना चाहिये।

बंगाली भाषा के समान हिन्दी में भी ब्रिटिश युग में साहित्य का बहुत विकास हुआ। उन्नीसवीं सदी के शुरू में ईसाई मिशनरियों द्वारा हिन्दी में भी बाइबल का अनुवाद प्रकाशित किया गया। मिशनरियों द्वारा जो अनेक स्कूल इस युग में स्थापित किये जा रहे थे, उनमें अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी, उर्दू आदि भाषाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। मिशनरियों ने आवश्यकता अनुभव की, कि भारतीय भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकें तैयार की

जानी चाहिएं। इसीलिये १८८३ ई० में उन्होंने आगरा में 'स्कूल बुक सोसाइटी' की स्थापना की, और उसकी ओर से इतिहास आदि विषयों पर अनेक हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। १८५७ की राज्य क्रान्ति से पूर्व ही ईसाई मिशनरियों की ओर से मिर्जापुर में 'आरफेन प्रेस' नाम से एक मुद्रणालय कायम हो चुका था, जिससे शिक्षा सम्बन्धी अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में कलकत्ता के फोर्ट विलियम कालेज की ओर से हिन्दी और उर्दू में गद्य की पुस्तकें लिखवाने की व्यवस्था की गयी, और हिन्दी में पुस्तकें लिखने के लिये लल्लू लाल जी और सदल मिश्र को नियत किया गया। मुन्शी सदा सुख लाल और इंशा अल्ला खां सदृश व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से भी इस युग में गद्य ग्रन्थ लिखने के लिये तत्पर थे। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ही हिन्दी गद्य साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थों को हिन्दी में लिखकर हिन्दी गद्य साहित्य के विकास के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में उन्होंने जिस प्रकार के विचार सरल हिन्दी-भाषा में लिखे, वे वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के लिये नई बात थे। स्वामी जी हिन्दी को आर्य-भाषा कहते थे, और अपने अनुयायियों से आशा करते थे, कि वे हिन्दी में ही पत्र

भारत के नव जागरण के परिणाम स्वरूप हिन्दी-साहित्य के उत्कर्ष की जो प्रक्रिया बीसवीं सदी के प्रारम्भ में शुरू हुई थी, वह अब तक भी पूर्ण वेग के साथ जारी है। वर्त्तमान समय के हिन्दी साहित्यिकों में मैथिली शरण गुप्त, राहुल सांकृत्यायन, रामनरेश त्रिपाठी, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', यशपाल आदि का बहुत ऊंचा स्थान है, और इनकी कृतियां हिन्दी साहित्य के लिये गौरव की वस्तु हैं। न केवल साहित्य के क्षेत्र में, अपितु इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र, रसायन, चिकित्सा-शास्त्र, भौतिक विज्ञान आदि आधुनिक विषयों पर भी हिन्दी में उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना तेजी के साथ हो रही है, और वह समय दूर नहीं है, जबकि संसार की अन्य उन्नत भाषाओं के समान हिन्दी-भाषा का वाङ्मय भी अत्यन्त उन्नत दशा को प्राप्त हो जाएगा। यह बात भारत के नव-जागरण का एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

गुजराती, मराठी, उर्दू, तामिल, तेलगू आदि अन्य भाषाओं को भी ब्रिटिश युग में बहुत उन्नति हुई। हाली, मुहम्मद इकबाल, अकबर आदि कवियों ने उर्दू में इस प्रकार के काव्य की रचना की, जिससे भारत के नव जागरण में बहुत सहायता मिली। इकबाल का 'सारे जहां से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' गीत उत्तरी भारत के घर घर में गाया जाने लगा, और उसने सर्वसाधारण जनता में राष्ट्रीय चेतना को उत्पन्न करने में बहुत सहायता की। हाली ने अपने काव्य द्वारा इस्लाम के लुप्त गौरव की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया, और भविष्य में फिर उन्नति करने के लिये उन्हें प्रेरणा दी। मराठी भाषा के आधुनिक साहित्यिकों में लोकमान्य तिलक, केलकर, फड़के, हरिनारायण आपटे आदि के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। गुजराती में रमन लाल बसन्त लाल देसाई और कन्हैया लाल माणिक लाल मुन्शी ने बहुत-से साहित्यिक ग्रन्थ लिखे। धूमकेतु, चन्द्रवदन मेहता, चुन्नीलाल, बलवन्तराम आचार्य आदि साहित्यिकों की गुजराती रचनाओं ने भी बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। उत्तरी भारत की विविध भाषाओं के समान दक्षिण की तामिल, तेलगू आदि भाषाओं में भी ब्रिटिश युग में नये साहित्य का निर्माण हुआ। भारत के इन साहित्यकारों का परिचय इस पुस्तक में दे सकना न सम्भव है, और न उसकी आवश्यकता ही है। ध्यान देने योग्य बात केवल यह है, कि ब्रिटिश शासन की स्थापना होने के बाद भारत में नवजागरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई थी, उसमें नवीन साहित्य ने बहुत सहायता पहुँचाई, और नवयुग का यह साहित्य स्वयं भी भारत के इस जागरण का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम है। भारत के इस नवीन साहित्य में न निराशा की भावना है, और न ही जनता को मोहनिद्रा में सुलाने वाले विलास की अभिव्यक्ति। भारत का यह नया साहित्य प्रगतिशील है। इसे पढ़कर देश की दुर्दशा की अनुभूति होती है, और साथ ही अपने उत्कर्ष की उत्कट अभिलाषा इससे उत्पन्न होती है। स्त्रियों की हीन दशा, अछूतों की समस्या, भारत का प्राचीन गौरव, ऊँच-नीच की भावना और जाति भेद की बुराई, जमींदारी प्रथा के दोष आदि विषय थे, जिन्हें लेकर इस युग के पहले साहित्यिकों ने अपनी रचनाएं कीं। विदेशी शासन के विरुद्ध भावना उत्पन्न करने में इस साहित्य ने बहुत उपयोगी कार्य किया। जब भारत में स्वराज्य स्थापित हो गया, तो भारत के साहित्यिक उन समस्याओं की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट करने के लिये तत्पर हुए, जो पूंजीपतियों के शोषण और गरीब-अमीर के भेद-रूप में अब तक भी हमारे

के कलाकार अब इस बात को स्वीकार कर चुके हैं, कि वास्तुकला और चित्र कला के क्षेत्र में भारतीयों ने अनुपम प्रतिभा का प्रदर्शन किया था, और उनकी कलात्मक कृतियाँ उत्कृष्ट हैं। हैवेल और कुमार स्वामी के प्रयत्नों का ही यह परिणाम है, कि अब पाश्चात्य देशों में ऐसी अनेक संस्थाएं कायम हो गयी हैं, जो भारतीय कला का विशेष रूप से अनुशीलन करने में तत्पर रहती हैं।

अवनीन्द्रनाथ टैगोर और उनकी शिष्य मण्डली के अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे कलाकार इस युग में हुए, जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से भारतीय चित्रकला का विकास किया। इसमें अब्दुलरहमान चुगताई और अमृत शेरगिल के नाम उल्लेखनीय हैं। कलकत्ता, शान्तिनिकेतन बोलपुर, लखनऊ आदि स्थानों पर अनेक ऐसी संस्थाएं भी इस युग में कायम हुई, जिन्होंने चित्र कला के विकास के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

चित्रकला के समान संगीत और नाट्य के क्षेत्र में भी ब्रिटिश युग में भारत में नवजागरण हुआ। पंडित विष्णु नारायण भटखण्डे ने बम्बई की ज्ञानोत्तेजक मण्डली द्वारा संगीत के प्रचार में बहुत कार्य किया। उन्हीं के प्रयत्न से १९१६ में अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन का बड़ोदा में प्रथम अधिवेशन हुआ, और उसके बाद अन्य स्थानों पर भी इस सम्मेलन के अधिवेशन हुए। भटखण्डे ने बड़ोदा में संगीत के उत्कर्ष के लिए एक नई संस्था की भी स्थापना की। विष्णु दिगम्बर ने गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना कर संगीत के प्रति जनता में बहुत अधिक रुचि उत्पन्न की। उनके शिष्य आजकल भारत के प्रधान संगीताचार्य माने जाते हैं। विष्णु दिगम्बर द्वारा गाया हुआ 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीताराम' गीत आज भारत के घर-घर में गाया जाता है। रवीन्द्र नाथ टैगोर द्वारा बंगाल में संगीत की एक नई परम्परा का प्रारम्भ हुआ, जो 'रवीन्द्र संगीत' के नाम से प्रसिद्ध है। जालन्धर में नियमपूर्वक संगीत-सम्मेलन संगठित होते रहे, जिनसे उत्तरी भारत के संगीत प्रेमियों को बहुत प्रोत्साहन मिला। सिनेमा के प्रवेश के कारण भारत के प्राचीन संगीत को कुछ धक्का अवश्य लगा, और जनता की रुचि कलात्मक संगीत की ओर से हटकर फिल्मी गीतों की ओर बढ़ने लगी। पर प्राचीन व मध्यकालीन कला के अनुयायी ऐसे संगीताचार्य अब भी भारत में विद्यमान हैं, जो सर्वसाधारण जनता को भी अपनी कला द्वारा मन्त्र-मुग्ध करने की सामर्थ्य रखते हैं। सुरुचि-सम्पन्न लोग इनकी कला का आदर करते हैं, और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ कलात्मक संगीत के प्रति जनता की रुचि में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

अन्य क्षेत्रों में नवजागरण के साथ ही नृत्य की कत्थक, कथाकली, भारत-नाट्यम्, मणिपुरी आदि पुरानी शैलियों के प्रति भी जनता की रुचि बढ़ रही है। उदय-शंकर, रामगोपाल आदि नृत्याचार्यों के प्रयत्न से न केवल भारत में अपितु विदेशों में भी भारत की नृत्यकला का आदर होने लगा है।

अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही भारत में पाश्चात्य वास्तुकला का भी प्रवेश हुआ। भारत में अंग्रेजों की पहली राजधानी कलकत्ता थी। विक्टोरिया मेमोरियल आदि जो नई इमारतें अंग्रेजों द्वारा कलकत्ता में बनवाई गयीं, उनका निर्माण पाश्चात्य वास्तुकला के अनुसार ही किया गया था। दिल्ली को राजधानी बनाने के बाद अंग्रेजों ने वहाँ भी बहुत-सी नई इमारतें बनवाईं। नई दिल्ली के रूप में एक नया नगर

ही इस युग में बस गया, जो दिल्ली के तुगलकाबाद, शाहजहांनाबाद आदि के समान भारतीय इतिहास के एक नवीन युग का प्रतिनिधि है। इस नगर में राष्ट्रपति भवन, पार्लियामेंट हाउस आदि जो प्रसिद्ध इमारतें हैं, वे सब पाश्चात्य वास्तुकला के अनुरूप हैं। नई दिल्ली नगरी का आयोजन भी पाश्चात्य कला के अनुसार ही किया गया है। बम्बई, मद्रास, लखनऊ, लाहौर आदि अन्य बड़े नगरों में इस काल में पाश्चात्य वास्तु कला के अनुसार नई-नई इमारतों का निर्माण हुआ, और बहुत-से भारतीय भी अपने भवनों का निर्माण करने के लिए इस नवीन कला का अनुसरण करने लगे। पर यह सम्भव नहीं था, कि नवजागरण का प्रभाव वास्तुकला पर न पड़ता। अनेक कल्पनाशील व्यक्तियों ने इस क्षेत्र में भी भारत की प्राचीन कला का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया। रवीन्द्रनाथ टैगोर के शान्ति निकेतन की अनेक इमारतों में भारतीय कला का अनुसरण किया गया, और दिल्ली आदि के बिड़ला मन्दिरों में भी इसी कला के अनेक विशिष्ट तत्त्वों को अपनाया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि भवन निर्माण जैसे कार्य में आधुनिक युग की प्रवृत्तियों की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है। पर भारत की जलवायु को दृष्टि में रखते हुए यह भी सम्भव नहीं है, कि इस देश की इमारतें इंगलैण्ड व फ्रांस जैसे शीतप्रधान देशों की नकल मात्र हों। इसीलिए वास्तुकला के क्षेत्र में पुरानी परिपाटी का अनुसरण क्रियात्मक दृष्टि से भी उपयोगी है। साथ ही, जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, भारत के आधुनिक भवनों में उसका उपयोग सौन्दर्य की वृद्धि में अवश्य सहायक होता है। यही कारण है, कि प्रगतिशील लोग वास्तुकला के क्षेत्र में भी प्राचीन परम्परा के उपयोगी व कलात्मक तत्त्वों के प्रयोग के पक्षपाती हैं।

चित्रकला, संगीत, नाट्य, वास्तुकला आदि सभी क्षेत्रों में जो नई उन्नति बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुई, वह भारत के उस नवजागरण की प्रक्रिया का ही परिणाम था, जो इस देश को उन्नति पथ पर आरूढ़ करने में समर्थ हुई है।

बत्तीसवां अध्याय

ब्रिटिश-युग में भारत की भौतिक उन्नति

(१) नई भौतिक उन्नति

संसार के इतिहास में आधुनिक युग की एक मुख्य विशेषता यह है, कि इस काल में मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त कर उसका उपयोग अपनी सुख-समृद्धि के लिये किया। अत्यन्त प्राचीन काल में मनुष्य अपने को प्रकृति के सम्मुख असहाय अनुभव करता था। जल, वायु, अग्नि, सूर्य आदि प्रकृति के तत्त्वों को वह आश्चर्य के साथ देखता था, और उनके सामने सिर झुका देने में ही अपना हित व कल्याण समझता था। इसी लिये इन सब प्राकृतिक शक्तियों में उसने देवत्व की भावना की, और अनेक प्रकार के विधि-विधानों व अनुष्ठानों द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयास किया। वायु, अग्नि आदि जीवित जागृत सत्ताएं हैं, जो कुपित होकर मनुष्य का अनर्थ कर सकती हैं; अतः उन्हें सन्तुष्ट रखने में ही मनुष्य का लाभ है—ये विचार प्रस्तर-युग व उसके बाद के मनुष्यों में प्रायः सर्वत्र विद्यमान थे। पर धीरे-धीरे मनुष्य ने इन प्राकृतिक तत्त्वों का उपयोग शुरू किया। अग्नि को वह भोजन पकाने व अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिये प्रयुक्त करने लगा। जल और वायु शक्ति से उसने चक्कियां चलाईं। पर आधुनिक युग से पूर्व मनुष्य प्रकृति पर उस प्रकार से विजय नहीं पा सका था, जैसी कि उसने अठरहवीं सदी के बाद प्राप्त की है। वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा मनुष्य ने यान्त्रिक शक्ति का अविष्कार किया, और भाप, बिजली, गैस आदि की शक्तियों का प्रयोग वह आर्थिक उत्पत्ति के लिये करने में तत्पर हुआ। यही कारण है, जो पिछली दो सदियों में मनुष्य भौतिक क्षेत्र में इतनी अधिक उन्नति कर सका है।

समाज और राजनीति के क्षेत्रों में भी आधुनिक युग में जो कुछ प्रगति हुई है, उसका आधारभूत कारण मनुष्य की यह भौतिक उन्नति ही है। व्यावसायिक क्रान्ति के कारण मनुष्य बड़े पैमाने पर आर्थिक उत्पत्ति करने में समर्थ हुआ। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विशालकाय कारखानों में कार्य करने के लिये हजारों मजदूर बड़े नगरों में एकत्र होने लगे। इस नयी परिस्थिति के कारण व्यावसायिक जीवन का स्वरूप ही एकदम परिवर्त्तित हो गया। अपने घर पर बैठ कर स्वतन्त्र रूप से कार्य करने वाले शिल्पियों का स्थान अब कारखानों में काम करने वालों मजदूरों ने ले लिया, जो पूंजीपतियों के वशवर्ती होकर आर्थिक उत्पत्ति में तत्पर हुए। इस दशा में विचारशील मनुष्यों ने यह सोचना शुरू किया, कि विविध मनुष्यों में परस्पर किस प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिये। इसी कारण 'समाजवाद' आदि नई विचारधाराओं का विकास हुआ, जो मानव समाज के स्वरूप को ही परिवर्तित कर देने के लिये प्रयत्नशील हैं। छापेखाने, कागज आदि के आविष्कार के कारण विद्या व ज्ञान केवल कतिपय व्यक्तियों तक ही सीमित

नहीं रह गये, और सर्वसाधारण जनता को भी शिक्षित होने व नये विचारों से परिचित होने का अवसर मिला। राजाओं के एकतन्त्र शासन व कुलीन वर्ग के विशेषाधिकारों के विरुद्ध भावना उसमें उत्पन्न हुई, और लोकतन्त्रवाद का विकास हुआ।

रेल, तार, रेडियो, हवाई जहाज आदि के आविष्कार के कारण देश और काल पर विजय स्थापित हुई, और संसार के विविध देश एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये। इन्हीं भौतिक साधनों का यह परिणाम है, कि आज अमेरिका में जो नया आविष्कार होता है, वह शीघ्र ही भारत, चीन, अफ्रीका आदि में भी पहुँच जाता है, और रूस या जर्मनी से जो नई विचारधारा शुरू होती है, वह भी शीघ्र ही अन्य देशों के विचारकों को भी प्रभावित करने लगती है।

भौतिक उन्नति के इस युग में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि भारत में भी उन सब नये साधनों का उपयोग शुरू होता, जिनका आविष्कार यूरोप में अठारहवीं सदी में प्रारम्भ हुआ था, और जिनमें बाद के काल में निरन्तर उन्नति होती गयी। विज्ञान व विचार हवा के सदृश होते हैं, जो कभी किसी एक देश तक सीमित नहीं रह सकते। आधुनिक युग में भारत में जो भौतिक उन्नति हुई, उसका श्रेय प्रायः ब्रिटिश शासकों को दिया जाता है। पर इस उन्नति के लिये ब्रिटिश शासकों का रुख सहायक न होकर बाधक था। यह सत्य है, कि अंग्रेजों ने भारत में रेलवे का निर्माण किया, डाक, तार आदि की व्यवस्था की, अनेक सड़कें बनवाईं, और नई नहरें खुदवाईं। पर इन सब कार्यों में उनका उद्देश्य अपने शासन को सुदृढ़ और सुव्यवस्थित करना ही था। भारतीय जनता की भौतिक उन्नति की उन्हें कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। वे भारत को इंग्लैण्ड की आर्थिक समृद्धि का साधनमात्र समझते थे। इसी कारण उनकी यह नीति थी, कि इस देश में व्यवसायों का विकास न होने पाए। यहाँ केवल कच्चे माल की ही उत्पत्ति हो, जिसे सस्ती कीमत पर प्राप्त कर इंग्लैण्ड के कारखानों को समृद्ध व उन्नत होने का अवसर मिल सके। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अंग्रेजों का यही प्रयत्न रहा, कि भारत से कपास, जूट आदि सस्ते मूल्य पर खरीद कर उसे इंग्लैण्ड के कारखानों में तैयार माल के रूप में परिणत किया जाए, और फिर उसे ऊँची कीमत पर भारत में बेचा जाए। बीसवीं सदी में इस नीति में परिवर्तन आया। पर इसका कारण अंग्रेजों का भारत-प्रेम नहीं था। १९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर युद्ध की आवश्यकताओं से विवश होकर अंग्रेजों ने भारत की व्यवसायिक उन्नति पर ध्यान दिया और इस देश में उस भौतिक उन्नति का सूत्रपात हुआ, जिसके कारण आज भारत को व्यावसायिक क्षेत्र में एशिया के सर्वाधिक उन्नत देशों में गिना जाता है।

पर इसमें सन्देह नहीं, कि उन्नीसवीं सदी में ही भारत में भौतिक उन्नति की दृष्टि से नवयुग के चिह्न प्रगट होने शुरू हो गये थे। ये चिह्न निम्नलिखित क्षेत्रों में प्रगट हुए—

(१) रेलवे—भारत में पहले पहल रेलवे का निर्माण १८५३ ई० में हुआ। शुरू में जो रेलवे लाइनें बनीं, वे केवल बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के समीपवर्ती प्रदेशों में ही थीं। बाद में इनकी बहुत वृद्धि हुई। भारत के विविध क्षेत्रों में रेलवे का निर्माण करने के लिये इंग्लैण्ड में अनेक कम्पनियां खोली गयीं, जिन्हें सरकार की ओर

से यह गारण्टी दी गयी, कि यदि उनका मुनाफा पाँच प्रतिशत से कम होगा, तो उसे भारतीय सरकार की ओर से पूरा कर दिया जाएगा। अपने रुपये के सूद व मुनाफे के विषय में निश्चिन्त होकर अंग्रेज पूंजीपतियों ने भारतीय रेलवे कम्पनियों में दिल खोलकर रुपया लगाया, और इस कारण इस देश में रेलवे का विस्तार बड़ी तेजी के साथ होने लगा। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भारत में रेलवे लाइनों का एक जाल-सा बिछ गया था। बीसवीं सदी में रेलवे का और अधिक विस्तार हुआ, और अब वह समय आ चुका है जबकि यातायात की दृष्टि से भारत को संसार के उन्नत देशों में गिना जा सकता है। निःसन्देह, रेलवे के कारण भारत में यातायात की बहुत सुविधा हो गयी, और इससे देश के आन्तरिक और विदेशी व्यापार में बहुत सहायता मिली।

(२) रेलवे लाइनों के साथ-साथ अंग्रेजी सरकार ने पक्की सड़कों के निर्माण पर भी ध्यान दिया। भारत में सड़कें पहले भी विद्यमान थीं, और यातायात व व्यापार के लिये उनका उपयोग भी होता था। पर कंकड़ और तारकोल द्वारा जिस ढंग की नई सड़कें इस युग में बनीं, उनसे मोटर कार आदि यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले यानों के लिये भी उनका उपयोग सुगम हो गया।

(३) रेलवे के विस्तार से पूर्व भारत में जलमार्गों का बहुत महत्त्व था। गंगा आदि नदियों में चलने वाली नौकाओं से माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने में बहुत सहायता मिलती थी। इसी प्रकार समुद्र-तट के साथ-साथ उस समय बहुत-से जहाज भी चला करते थे। अंग्रेजी शासन में रेलों के चलने के कारण इन जलमार्गों का महत्त्व बहुत कम हो गया। समुद्र-तट के साथ-साथ व्यापार के लिए जहाजों का प्रयोग इस युग में भी जारी रहा, पर ये जहाज भारतीयों के हाथ से निकल कर अंग्रेजी कम्पनियों के स्वामित्व में आ गये। भारत के विदेशी व्यापार के लिये भी भाप की शक्ति से चलने वाले विशाल-काय जहाजों का प्रयोग शुरू हुआ। पर ये जहाज भी अंग्रेजों की ही सम्पत्ति थे। यद्यपि भारत के आन्तरिक व बाह्य जलमार्ग और उन पर चलने वाले जहाज ब्रिटिश युग में भारतीयों के स्वामित्व में नहीं रहे, पर यह स्वीकार करना होगा, कि भाप की शक्ति से संचालित विशालकाय जहाजों के कारण भारत के विदेशी व्यापार में बहुत सहायता मिली, और इससे उसकी भौतिक उन्नति भी पहले की अपेक्षा अधिक हो गयी।

(४) भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के लिए सिंचाई का महत्त्व बहुत अधिक है। प्राचीन और मध्य कालों में भी अनेक राजाओं ने सिंचाई के लिए नहरें निकालने की बात पर बहुत ध्यान दिया था। ब्रिटिश शासकों ने भी भारत की इस समस्या को महत्त्व दिया। इसी कारण १८७४ में आगरा कैनाल का, १८७८ में गंगा की नहर का, और १८८२ में पश्चिमी यमुना कैनाल का निर्माण हुआ। गंगा-यमुना द्वारा सिंचित प्रदेशों में सिंचाई के लिये इन नहरों से बहुत सहायता मिली। १८९० ई० से चनाब नदी से एक बड़ी नहर पंजाब में निकाली गयी, जिससे बीस लाख एकड़ परती पड़ी हुई जमीन की सिंचाई का प्रबन्ध हुआ। चनाब और रावी नदियों के बीच का बहुत-सा प्रदेश इस नहर के निकलने से पूर्व ऊजड़ पड़ा हुआ था। १९०१ तक इस प्रदेश में ८,००,००० मनुष्य आबाद हो गये थे, जो इस नहर की उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है। बीसवीं सदी में ब्रिटिश सरकार ने सिंचाई की समस्या पर और अधिक ध्यान दिया। इसके परिणाम-

स्वरूप पंजाब में सतलज-वेली प्रोजेक्ट, सिन्ध में सक्खर बेरेज, मद्रास में कावेरी-रिजर्वोयर, बाम्बे में लायड-डाम और उत्तर प्रदेश में शारदा कैनाल का निर्माण किया गया। नहरों के अतिरिक्त ट्यूब वेल बनाने पर भी सरकार ने ध्यान दिया, और इन सब प्रयत्नों के कारण कृषि की बहुत उन्नति हुई।

(५) डाक, तार और टेलीफोन के सम्बन्ध में जो उन्नति ब्रिटिश युग में हुई, उसका विशद रूप से उल्लेख कर सकना यहाँ सम्भव नहीं है। ये सब जहाँ ब्रिटिश शासन की सुव्यवस्था के लिए अत्यन्त उपयोगी थे, वहाँ साथ ही जनता को भी इनसे लाभ उठाने का अवसर मिलता था। भौतिक उन्नति की अन्य अनेक बातों के समान डाक, तार और टेलीफोन भी आधुनिक युग की ही देन हैं। पाश्चात्य देशों में भी इनका विकास इसी युग में हुआ था। अंग्रेजी शासन में भारत को जिस प्रकार रेलवे प्राप्त हुई, वैसे ही डाक, तार और टेलीफोन की सुविधा भी प्राप्त हुई। इनसे भारत के व्यापार-व्यवसाय और भौतिक उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली।

रेलवे, पक्की सड़कें, नहरें, जहाज, डाक, तार आदि भारत के आर्थिक जीवन में एक नया युग लाने में समर्थ हुए। इनके कारण जहाँ भारतीय जनता का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सम्पन्न बना, वहाँ साथ ही उसे व्यवसाय और व्यापार के क्षेत्र में उन्नति करने का भी अवसर मिला।

(२) व्यवसाय और व्यापार

ब्रिटिश लोगों ने भारत मे अपना शासन स्थापित कर इस देश के व्यवसायों के सम्बन्ध में किस नीति का अनुसरण किया था, उसका निर्देश हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत शिल्प और व्यवसाय की दृष्टि से अच्छी उन्नत दशा में था। इस देश में तैयार हुआ माल विदेशों में अच्छी बड़ी मात्रा में बिकता था और यूरोप के बाजारों में बंगाल के वस्त्र की माँग बहुत अधिक थी। भारत के व्यापार से आकृष्ट होकर ही यूरोपियन लोगों ने यहाँ आना शुरू किया था। सत्रहवीं सदी के अन्त तक अंग्रेज लोग भारत के व्यापार से ही सन्तुष्ट रहे। पर अठारहवीं सदी में इंगलैंड में व्यावसायिक क्रान्ति हुई, और यान्त्रिक शक्ति का उपयोग कर वहाँ के कारखाने अच्छी बड़ी मात्रा में वस्त्र आदि तैयार माल उत्पन्न करने लगे। इधर जब भारत में अंग्रेज आधिपत्य स्थापित होने लगा, तो अंग्रेजों ने स्वाभाविक रूप से यह प्रयत्न किया, कि वे अपने माल को भारत के बाजारों में बेचकर रुपया कमायें, और अपने देश के कारखानों के लिए आवश्यक कपास आदि कच्चा माल यहाँ से सस्ती कीमत पर प्राप्त करें। इस दशा में उन्होंने भारत के शिल्पियों को नष्ट करने के लिये अनेक घृणित उपायों का प्रयोग किया। राजशक्ति का सहारा लेकर उन्होंने बंगाल के वस्त्र-व्यवसाय को नष्ट करने के लिये सब प्रकार के उपायों को प्रयुक्त किया। इस प्रकार अंग्रेजी शासन का एक हानिकारक परिणाम यह हुआ, कि भारत के पुराने व्यवसाय नष्ट होने लगे, और इस देश के बाजार इंगलैण्ड के कारखानों में तैयार हुए माल से भर गये। अंग्रेज चाहते थे, कि भारत केवल कृषि-प्रधान देश बना रहे, ताकि यहाँ के कच्चे माल को सस्ती कीमत से खरीद सकना उनके लिए जरा भी कठिन न हो। इसी कारण उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण के प्रारम्भ होने तक भारत में व्यावसायिक उन्नति जरा भी न होने पाई। अंग्रेजी

शासन की पहली सदी भारत के आर्थिक जीवन के लिये बहुत ही भयंकर थी। इस काल में सरकार 'मुक्त द्वार वाणिज्य' की नीति का अनुसरण करती थी, जिसके कारण भारत के कारखानों के लिये विदेशी प्रतिस्पर्द्धा का मुकाबला कर सकना सर्वथा असम्भव था। प्रथम तो इस युग में भारत में कारखानों का विकास हुआ ही न था, पर परम्परागत रूप से जो कतिपय शिल्प व व्यवसाय इस देश में विद्यमान थे, उनके लिये इंगलैण्ड के यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले कारखानों का मुकाबला कर सकना असम्भव था। यूरोप में इस समय व्यावसायिक क्रान्ति हो चुकी थी, पर भारत में अभी उसने कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं किया था। पर नये वैज्ञानिक आविष्कारों का लाभ भारत को भी पहुँचने लगा था। रेल, तार आदि के प्रवेश के कारण जनता की सुविधा में वृद्धि हो गयी थी। बिजली की रोशनी से कलकत्ता और बम्बई सदृश बड़े शहर जगमगाने लगे थे। यातायात के लिये बिजली से चलने वाली ट्राम गाड़ियों का भी प्रयोग होने लगा था। ये सब बातें मनुष्यों के सुख व सुविधा की वृद्धि में सहायक तो थीं, पर पाश्चात्य संसार की वैज्ञानिक उन्नति का प्रयोग ब्रिटिश शासकों ने भारत की आर्थिक व व्यावसायिक उन्नति के लिये नहीं किया था। इसी लिये शुरू में जो नये ढंग के कारखाने भारत में खोले गये, उन्हें बहुत दिक्कतों का सामना करना पड़ा।

कपड़े का पहला कारखाना भारत में १८१८ ई० में खुला था। पर इसके कारण भारत में वस्त्र-व्यवसाय के विकास का प्रारम्भ नहीं हो गया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग (१८५४ ई०) में जब बम्बई में कपड़े के कारखाने खुलने लगे, तभी वस्तुतः इस व्यवसाय का विकास शुरू हुआ। १८७७ ई० के बाद नागपुर, अहमदाबाद, शोलापुर आदि अनेक स्थानों पर कपड़े की मिलें कायम हुईं। बंग भंग के कारण १९०५ में जब स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा, तो भारत के अनेक धनी व सम्पन्न लोगों का ध्यान व्यावसायिक उन्नति की ओर आकृष्ट हुआ, और अनेक नई मिलें खुलनी प्रारम्भ हुईं। पर इन मिलों के लिये सफल हो सकना सुगम नहीं था। भारत के बाजार पर अंग्रेजी कपड़े का प्रभुत्व था। लंकाशायर और लिवरपूल की मिलें अपनी प्रभूत पूंजी और दीर्घ अनुभव के कारण जिस ढंग का कपड़ा तैयार करती थीं, वैसा भारत की मिलें नहीं बना सकती थीं। साथ ही, कीमत की दृष्टि से भी विलायती कपड़ा सस्ता पड़ता था। इस दशा में स्वदेशी मिलें तभी कामयाब हो सकती थीं, जब कि सरकार उनकी सहायता करती, और संरक्षण नीति का उपयोग कर स्वदेशी मिलों की रक्षा करने के लिये तत्पर होती। पर भारत की ब्रिटिश सरकार ने मुक्त-द्वार वाणिज्य की नीति का अनुसरण किया। जब आर्थिक आमदनी की आवश्यकता से विवश होकर सरकार ने अंग्रेजी माल के आयात पर कर लगाया, तो साथ ही भारतीय मिलों द्वारा तैयार किये गये माल पर भी उतनी ही एक्साइज ड्यूटी लगा दी, ताकि आयात-कर के कारण स्वदेशी व्यवसायों को किसी प्रकार का लाभ न पहुँच सके। वस्तुतः, बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग तक अंग्रेजों को भारतीय व्यवसायों की उन्नति का जरा भी ध्यान नहीं था। १९०५ के बाद जब जापान ने व्यावसायिक क्षेत्र में असाधारण उन्नति की, तो उसकी मिलों में तैयार हुआ सस्ता माल भारत के बाजारों में प्रचुर परिमाण में आने लगा। अंग्रेजी माल के लिये जापान और जर्मनी के सस्ते माल का मुकाबला कर सकना कठिन हो गया। विवश होकर

सरकार के 'साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर' (इम्पीरियल प्रिफरेन्स) की नीति का प्रयोग किया, जिसके अनुसार साम्राज्य के बाहर के देशों के माल के मुकाबले में अंग्रेजी माल पर आयात-कर में रियायत की जाती थी। इस नीति के कारण अंग्रेजी माल का जर्मनी और जापान के माल के मुकाबले में सस्ता बिक सकना तो सम्भव हो गया, पर भारतीय व्यवसायों को इससे कोई मदद नहीं मिली।

१९१४–१८ के महायुद्ध में जर्मनी ब्रिटेन के शत्रुपक्ष का देश था। उसका माल तो इस काल में भारत आ ही नहीं सकता था, पर अंग्रेजी माल के लिये भी यहाँ आ सकना कठिन हो गया, क्योंकि शत्रुपक्ष के जंगी जहाजों के आक्रमण से बचकर अंग्रेजी जहाजों का भारत में आ सकना सुगम नहीं था। इस दशा में भारतीय व्यवसायों को उन्नति का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो गया। भारत के बाजारों में अंग्रेजी माल की कमी हो गई, और भारतीय कारखानों का माल यहाँ प्रचुर परिमाण में दिखाई पड़ने लगा। ब्रिटेन के शत्रुपक्ष में टर्की भी शामिल था। ईराक, सीरिया आदि भी इस काल में युद्ध-क्षेत्र बने हुए थे। यहाँ के ब्रिटिश पक्ष के सैनिकों के लिये वस्त्र, जूते, युद्ध-सामग्री आदि जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी, वे ब्रिटेन से नहीं आ सकते थे, क्योंकि भूमध्य सागर में शत्रु पक्ष के जहाज और पनडुब्बियों की प्रभुता थी। इस युद्धक्षेत्र के लिये आवश्यक सामग्री केवल भारत से ही निरापद रूप में पहुँचाई जा सकती थी। इस दशा में अंग्रेजी सरकार ने भी भारतीय व्यवसायों को उन्नत करने की आवश्यकता को अनुभव किया। महायुद्ध के समय में सरकार भी भारत की व्यावसायिक उन्नति के लिये उत्सुक हो गयी। महायुद्ध की समाप्ति पर वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गयी थीं। इस स्थिति का भी भारतीय कारखानों ने लाभ उठाया। परिणाम यह हुआ, कि १९१९ ई० के बाद भारत की व्यावसायिक उन्नति बड़ी तेजी के साथ हुई, और ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है, कि जिस ढग की व्यावसायिक क्रान्ति का प्रादुर्भाव इंगलैण्ड में अठारहवीं सदी में हुआ था, वैसी ही व्यावसायिक क्रान्ति का भारत में बीसवीं सदी में सूत्रपात हुआ। व्यावसायिक क्षेत्र में जर्मनी, जापान और रूस इगलैण्ड से प्रायः एक सदी पीछे रहे थे। पर भारत में यह प्रक्रिया प्रायः दो सदी के बाद शुरू हुई।

बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना के अनन्तर भारत में भी पूंजीपतियों और श्रमियों की प्रायः उसी ढंग की समस्याएं उत्पन्न हुईं, जैसी कि इगलैण्ड आदि पाश्चात्य देशों में हुई थीं। परिणाम यह हुआ, कि यहाँ भी श्रमी-संघों (ट्रेड यूनियन) की स्थापना हुई, और अनेक विचारशील व्यक्ति मजदूरों का सगठन करने और उनके हितों की रक्षा के लिये तत्पर हुए। इन लोगों के आन्दोलन के कारण सरकार ने अनेक ऐसे कानून बनाये, जिनका उद्देश्य कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा मे सुधार करना था। इन कानूनों के अनुसार कारखानों में मजदूरों से अधिक-से-अधिक कितने घण्टे प्रति सप्ताह काम लिया जा सके, उनकी भृति की न्यूनतम दर क्या हो, बीमार पड़ने और चोट खा जाने की दशा मे उन्हें क्या सुविधाएं दी जाएं—इस प्रकार की बहुत-सी बातों की व्यवस्था की गयी। व्यावसायिक क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप जिस प्रकार पाश्चात्य देशों में सोशलिज्म, कम्युनिज्म आदि नये आन्दोलन शुरू हुए, वैसे ही भारत मे भी हुए,

और यहाँ भी बहुत-से लोग वैयक्तिक सम्पत्ति और पूंजीवाद का अन्त कर सामाजिक व आर्थिक संगठन में नई व्यवस्था का सूत्रपात करने के लिये कटिबद्ध होने लगे।

व्यावसायिक क्षेत्र के समान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी ब्रिटिश युग में अच्छी उन्नति हुई। १८५५–६० के काल में भारत का विदेशी व्यापार ५२,००,००० रुपये वार्षिक के लगभग था। उस समय इंगलैण्ड जाने वाले जहाज अफ्रीका का चक्कर लगाकर जाया करते थे। १८६९ में जब स्वेज नहर बनकर तैयार हो गयी, तो समुद्र-मार्ग द्वारा पूर्व और पश्चिम का सम्पर्क बहुत सुगम हो गया। यूरोप आने-जाने वाले माल की ढुलाई के खर्च में भी इससे बहुत कमी हुई। इस कारण भारत के विदेशी व्यापार में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हुई, और सन् १९०० तक उसकी मात्रा दो करोड़ रुपया वार्षिक तक पहुँच गयी। महायुद्ध (१९१४–१८) के बाद भारत का यह व्यापार और अधिक तेजी के साथ बढ़ा। १९२८–२९ तक इसकी मात्रा ६ करोड़ रुपया वार्षिक से भी ऊपर पहुँच गयी थी। बीसवीं सदी के प्रथम चरण तक भारत के विदेशी व्यापार में कच्चे माल (कपास, जूट, तिलहन, चाय आदि) का निर्यात बहुत अधिक मात्रा में होता था, और उसके आयात माल में वस्त्र, बाइसिकल, रेशम आदि तैयार माल का परिमाण बहुत अधिक था। ज्यों ज्यों भारत में व्यावसायिक उन्नति होती गयी, वस्त्र सदृश तैयार माल का आयात कम होता गया। भारत के विदेशी व्यापार में निरन्तर वृद्धि हो रही है, पर अब वह केवल कच्चे माल का ही निर्यात नहीं करता, उसके तैयार माल की भी विदेशी बाजार में अच्छी मांग है। हवाई जहाज, मशीनरी, अस्त्र शस्त्र, इंजन आदि जिस सामान के लिये अत्यधिक शिल्पनैपुण्य की आवश्यकता है, उनके सम्बन्ध में अब भी भारत बहुत कुछ अपने आयात व्यापार पर निर्भर करता है। पर धीरे-धीरे इस स्थिति में भी परिवर्त्तन आ रहा है। वह समय अब दूर नहीं है, जब कि भारत व्यावसायिक क्षेत्र में संसार के उन्नत देशों में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लेगा।

इस अध्याय में हमने ब्रिटिश युग में हुई भौतिक उन्नति का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से निर्देश किया है। भौतिक व आर्थिक दशा का किसी भी देश की सभ्यता व संस्कृति के साथ सीधा सम्बन्ध होता है। कृषि-प्रधान देश की संस्कृति की तुलना में व्यवसाय-प्रधान देश की संस्कृति अनेक अंशों में भिन्न होती है। रेल, तार, टेलीफोन, रेडियो और यान्त्रिक शक्ति से संचालित कारखानों ने जहां भारत के आर्थिक जीवन पर प्रभाव डाला है, वहाँ साथ ही यहाँ की जनता की मानसिक दशा को भी परिवर्तित किया है। आज भारत में समाजवाद-सम्बन्धी जो अनेक आन्दोलन चल रहे हैं, वे इसी आर्थिक उन्नति और व्यावसायिक क्रान्ति के परिणाम हैं। इन आन्दोलनों ने भारत के धार्मिक, सामाजिक व नैतिक विचारों को भी अनेक अंशों में परिवर्तित किया है। आज जो भारत में बहुत-से लोग पुरानी रूढ़ियों, बद्धमूल धारणाओं और विश्वासों का परित्याग कर एक नये समाज के निर्माण की कल्पना को सम्मुख रखकर कार्य करने के लिये तत्पर हैं, उसका एक महत्वपूर्ण कारण वे समाजवादी आन्दोलन भी हैं, जो भौतिक उन्नति और व्यवसायिक क्रान्ति के कारण इस देश में विकसित हो रहे हैं।

तेतीसवां अध्याय

राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक स्वाधीनता

(१) राष्ट्रीय चेतना

राजनीतिक क्षेत्र में आधुनिक युग की मुख्य विशेषताएं राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की भावनाएं हैं। मध्यकाल में न राष्ट्रीयता की भावना थी, न स्वाधीनता की और न लोकतन्त्रवाद की। जर्मनी, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों में भी राष्ट्रीय अनुभूति का अभाव था। प्रशिया और बवेरिया के निवासी अपने को जर्मन न मानकर प्रशियन व बवेरियन समझते थे। ग्रेट ब्रिटेन तक में स्काटलैण्ड और वेल्स के निवासी अपने को इंग्लिश लोगों से भिन्न मानते थे। राष्ट्रीय भावना के अभाव में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का विचार भी मध्य युग में विकसित नहीं हुआ था। आस्ट्रिया का सम्राट् स्पेन, इटली आदि भी का स्वामी हो सकता था, और उनको इसमें कोई असाधारणता अनुभव नहीं होती थी। जर्मनी के अन्यतम प्रदेश का राजा ब्रिटेन के राजसिंहासन पर भी आरूढ़ हो सकता था, और दोनों राज्यों के निवासियों की दृष्टि में इसमें कोई अनौचित्य नहीं था। जिन लोगों की भाषा, धर्म, ऐतिहासिक परम्परा और रीति रिवाज आदि एक हैं, उनका अपना एक पृथक् राज्य होना चाहिये, और उस राज्य पर किसी विदेशी राजा का शासन नहीं होना चाहिये—यह विचार मध्य युग में प्रचलित नहीं था। लोकतन्त्रवाद की तो कल्पना भी सत्रहवीं सदी तक यूरोप में उत्पन्न नहीं हुई थी। सर्वत्र किसी एक निरंकुश व स्वेच्छाचारी राजा या किसी कुलीन श्रेणी का शासन था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने इस स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया, और राष्ट्रीयता, स्वाधीनता व लोकतन्त्रवाद के विचारों ने जोर पकड़ना शुरू किया। उन्नीसवीं सदी में ये विचार निरन्तर प्रबल होते गये, और अब वह समय आ चुका है, जबकि यूरोप के विविध राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार हो गया है, और इन राज्यों में जनता का अपना शासन कायम है।

इस दशा में ब्रिटिश आधिपत्य के सूत्रपात के समय अठारहवीं सदी में यदि भारत में भी राष्ट्रीयता की भावना, स्वाधीनता के विचार और लोकतन्त्रवाद का अभाव रहा हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। पाश्चात्य जगत् में आधुनिकता की जिन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव इस काल में हो रहा था, वे न केवल यूरोप को अपितु संसार के अन्य देशों को भी प्रभावित कर रही थीं। भारत भी इन प्रवृत्तियों के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। अंग्रेजी शिक्षा और पाश्चात्य साहित्य से परिचय के कारण भारत में इन प्रवृत्तियों को बल मिला। धार्मिक सुधार, सामाजिक कुरीतियों के निवारण, भारत के प्राचीन गौरव का ज्ञान और नई शिक्षा द्वारा भारत में जो नव-जागरण हो रहा था, उसने राजनीतिक क्षेत्र में भी जागृति उत्पन्न की, और भारतीय जनता में

राष्ट्रीय चेतना प्रादुर्भूत होनी शुरू हुई।

सन् १८८३ में ब्रिटिश सरकार ने यह व्यवस्था करने की योजना बनाई, कि भारतीय न्यायाधीशों की अदालतों में यूरोपियन लोगों के मुकदमे भी विचारार्थ पेश किये जा सकें। इससे पूर्व यूरोपियन लोगों के मुकदमों का फैसला यूरोपियन जजों द्वारा ही किया जाता था। पर सन् ५७ की राज्य-क्रान्ति के बाद जब भारत का शासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश राजा और उसकी सरकार के हाथों में आ गया, तो शासन-कार्य में भारतीयों के सहयोग की नीति का अनुसरण किया गया। इसी कारण अनेक सुशिक्षित भारतीय न्यायाधीश आदि के पदों पर नियुक्त किये जाने लगे। १८८३ ई० में इल्बर्ट बिल द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी, कि भारतीय न्यायाधीश यूरोपियन लोगों के मुकदमों पर भी विचार कर सकें। पर भारत में निवास करने वाले यूरोपियन लोगों को यह बात असह्य थी। वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे, कि उन्हें किसी काले आदमी के सम्मुख पेश होना पड़े। परिणाम यह हुआ, कि यूरोपियन लोगों ने इस बिल के विरुद्ध घोर आन्दोलन शुरू कर दिया। यूरोप के लिये इस ढंग का आन्दोलन कोई नई बात नहीं थी। इससे कुछ समय पूर्व इंगलैण्ड में चार्टिस्ट आन्दोलन बहुत जोर पकड़ चुका था, और राजनीतिक आन्दोलन द्वारा अपनी बात को मनाने का प्रयत्न करना इंग्लिश लोगों के लिये कोई असाधारण बात नहीं थी। इल्बर्ट बिल के विरुद्ध यूरोपियन लोगों के आन्दोलन ने इतना जोर पकड़ा, कि अन्त में सरकार को उसके सम्मुख झुकना पड़ा। बिल में ऐसे संशोधन किये गये, जिनसे भारत के यूरोपियन निवासी सन्तोष अनुभव कर सकें।

भारत के शिक्षित वर्ग के लिये यूरोपियन लोगों का यह आन्दोलन एक उदाहरण बन गया। उन्होंने अनुभव किया, कि राजनीतिक आन्दोलन में इतनी अधिक शक्ति होती है, कि उसके सम्मुख सरकार को भी झुकना पड़ता है। उन्होंने सोचा, कि यदि भारतीयों को भी संगठित किया जा सके, और उनकी सम्मिलित आवाज को सरकार तक पहुँचाया जा सके, तो उसका परिणाम अवश्य निकलेगा। इसी लिये १८८५ में (इल्बर्ट बिल के विरुद्ध यूरोपियन आन्दोलन शुरू होने के केवल दो साल बाद) इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना की गयी, जो धीरे-धीरे भारत की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्ति बन गयी। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि १८८५ में कांग्रेस भारत की सर्व-साधारण जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। इस काल में जन-साधारण में राज-नीतिक चेतना का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। समाज-सुधार व धार्मिक सुधार के विविध आन्दोलन जनता में नवजागरण उत्पन्न कर रहे थे। इनके कारण जनता अपने देश की पराधीनता और राजनीतिक दुर्दशा का भी अनुभव करने लगी थी। उसका ध्यान भारत के लुप्त गौरव की ओर भी आकृष्ट होने लगा था, और वह यह भी सोचने लगी थी, कि एक बार फिर भारत को अपने पुराने गौरवपूर्ण स्थान को प्राप्त करना चाहिये। पर इसके लिये किसी ऐसी राजनैतिक संस्था का अभी संगठन नहीं हुआ था, जो जनता में राष्ट्रीय चेतना का विकास कर उसे स्वराज्य प्राप्ति के संघर्ष के लिये तैयार करे। राष्ट्रीय चेतना और स्वाधीनता की आकांक्षा इस समय दो रूपों में प्रकट होने लगी थी। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' जैसी सभाओं में एकत्र होकर व्याख्यान

देते थे, प्रस्ताव पास करते थे और सरकार की सेवा में भेजने के लिए आवेदन-पत्र तैयार करते थे। इसके विपरीत कुछ देशभक्त लोग क्रान्तिकारी समितियों का संगठन कर शस्त्रबल के प्रयोग द्वारा ब्रिटिश शासन का अन्त करने की तैयारी में तत्पर थे, और इसके लिये उन्हें अपने प्राणों की आहुति देने में कोई संकोच नहीं था। उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारत की राष्ट्रीय चेतना का यही स्वरूप था। सर्वसाधारण जनता में अभी स्वाधीनता की आकांक्षा संगठित रूप में उत्पन्न नहीं हुई थी।

(२) स्वराज्य आन्दोलन

जनता में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने और स्वाधीनता-प्राप्ति के लिये संघर्ष करने में इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य किया। १८८५ ई० में जब कांग्रेस की स्थापना हुई थी, तो वह जनसाधारण की संस्था नहीं थी, और न ही उसका उद्देश्य ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त कर स्वराज्य स्थापित करना था। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में उसके सभापति श्री उमेशचन्द्र बैनर्जी ने उसके उद्देश्य इस प्रकार प्रकट किये थे—(१) ब्रिटिश साम्राज्य में निवास करने वाले उन सब लोगों में जान-पहचान व मैत्री उत्पन्न करना, जो भारत के उन्नति के पक्षपाती हैं। (२) ऐसे उपायों व साधनों पर विचार करना, जिनसे भारत की शासन-पद्धति में सुधार हो। (३) देश के शासन में भारतीयों को अधिक संख्या में नियुक्त कराने के लिये प्रयत्न करना। १८८५ से १६०५ तक कांग्रेस का यही रूप रहा, कि हर साल क्रिसमस की छुट्टियों में देश के सुशिक्षित और सार्वजनिक जीवन का शौक रखने वाले लोग किसी बड़े शहर में एकत्र होते थे, और कांग्रेस के अधिवेशन में परिमार्जित भाषा में व्याख्यान देकर अपनी अंग्रेजी की योग्यता का परिचय देते थे। इस युग के कांग्रेसी नेताओं में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे, फीरोजशाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले और दादाभाई नौरोजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। १६०५ ई० में बंग भंग के प्रश्न पर बहुत उत्तेजना फैली, और अनेक देश-भक्त लोग उग्र उपायों द्वारा ब्रिटिश सरकार का विरोध करने के लिये अग्रसर हुए। इसी समय जापान जैसे छोटे-से एशियाई देश द्वारा रूस जैसे विशाल यूरोपियन देश की पराजय के कारण एशिया के निवासियों में स्फूर्ति व नवजीवन उत्पन्न हुआ, और जनता में यह विचार प्रबल होने लगा, कि यूरोपियन लोग नसल आदि की दृष्टि से एशियाई देशों की अपेक्षा उत्कृष्ट नहीं हैं। नए युग के ज्ञान-विज्ञान को अपनाकर कोई भी एशियाई देश पाश्चात्य देशों को परास्त कर सकता है। बंगाल में इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर स्वदेशी आन्दोलन ने जोर पकड़ा। सन् १६०५ का भारत की राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। इसी समय कांग्रेस में एक नये दल का प्रादुर्भाव हुआ, जो केवल भाषण देने व प्रस्ताव पास करने पर ही विश्वास नहीं करता था, अपितु स्वराज्य-प्राप्ति के लिये क्रियात्मक पग उठाने की नीति का प्रतिपादक था। इसे 'गरम दल' कहते थे, इसके मुकाबले पर पुराने कांग्रेसी लोगों को 'नरम' कहा जाता था। कांग्रेस के गरम दल के प्रधान नेता बालगंगाधर तिलक, लाजपतराय और विपिनचन्द्र पाल थे। ये नेता भारत में घूम-घूम कर राजनीतिक चेतना और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न करने के लिये प्रयत्नशील थे, और विदेशी

सरकार का विरोध करना अपना कर्तव्य समझते थे। पंजाब और महाराष्ट्र में जो अनेक क्रान्तिकारी व विप्लववादी आन्दोलन इस समय चल रहे थे, गरम नेताओं की दृष्टि में उनका भी उपयोग था। परिणाम यह हुआ, कि नरम और गरम दलों के मतभेद ने उग्र रूप धारण कर लिया, और १९०७ में हुई सूरत की कांग्रेस में इन दलों में फूट पड़ गयी।

१९१४–१८ के महायुद्ध में भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। इस युद्ध में ब्रिटिश पक्ष के लोग यही कहते थे, कि वे राष्ट्रीयता, स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर रणक्षेत्र में उतरे हैं, और उनका उद्देश्य आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी और टर्की के स्वेच्छाचारी शासनों का अन्त कर राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के अनुसार यूरोप का पुनर्निर्माण करना ही है। भारत की जनता में इन विचारों द्वारा नव स्फूर्ति का संचार हुआ। ब्रिटिश लोगों ने भी उसे यह आश्वासन दिया, कि युद्ध की समाप्ति पर वे भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। यही कारण था, जिससे कांग्रेस ने युद्ध-प्रयत्न में ब्रिटिश सरकार का उत्साहपूर्वक साथ दिया, और महात्मा गांधी जैसे नेता ने सेना में रंगरूट भरती करने में सहायता की। पर महायुद्ध की समाप्ति पर भारतीयों की राष्ट्रीय आकांक्षाएं पूर्ण नहीं हो पाईं, और ब्रिटिश सरकार की कृपा पर आश्रित रह के स्वराज्य प्राप्ति की आशा छोड़ कर उन्होंने अपने बल द्वारा स्वतन्त्र होने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस समय कांग्रेस का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथों में आ गया था, जिन्होंने १९२०–२१ में एक नए आन्दोलन का प्रारम्भ किया। इस आन्दोलन का कार्यक्रम निम्नलिखित था—(१) सरकार की सेवा में जो भारतीय कार्य कर रहे हैं, वे त्याग-पत्र दे दें, ताकि ब्रिटिश शासकों के लिए इस देश पर शासन कर सकना सम्भव न रह सके। (२) सरकार द्वारा संचालित व अभिमत शिक्षणालयों का बहिष्कार कर विद्यार्थी राष्ट्रीय विद्यालयों व विद्यापीठों में शिक्षा प्राप्त करें, जिससे कि वे राष्ट्रीय हितों की विरोधी शिक्षा के असर में न रहें। (३) सब भारतीय स्वदेशी वस्तुओं और हाथ के कते व हाथ के बुने कपड़ों का व्यवहार करें, और विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार में प्रवृत्त हों। इस आन्दोलन को 'असहयोग' (नान-कोऑपरेशन) का नाम दिया गया, और इसे सफल बनाने के लिए एक करोड़ रुपये का तिलक-स्वराज्य-फण्ड कायम किया गया। असहयोग-आन्दोलन के कारण सारे भारत में राजनीतिक चेतना उत्पन्न हो गयी। खिलाफत के प्रश्न को लेकर मुसलमान भी अच्छी बड़ी संख्या में इस आन्दोलन में शामिल हुए। यद्यपि दमन-नीति का प्रयोग कर सरकार इस आन्दोलन को कुचलने में सफल हुई, पर इसके कारण राष्ट्रीय चेतना व स्वराज्य की आकांक्षा सर्वसाधारण जनता तक पहुंच गयी। गांधी जी के नेतृत्व की भारत को सबसे बड़ी देन यही है, कि उन्होंने स्वराज्य आन्दोलन को सर्वसाधारण जनता तक पहुंचा दिया। अंग्रेज असहयोग आन्दोलन को कुचलने में तो समर्थ हुए थे, पर इससे देश में अशान्ति दूर नहीं हो गयी थी। विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने १९२७ में सर जान साइमन के नेतृत्व में एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसे भारत में शासन-सुधार सम्बन्धी परामर्श देने का काम सुपुर्द किया गया। इस कमीशन के सब सदस्य अंग्रेज थे। उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी, कि वह भारत की राष्ट्रीय आकां-

क्षाओं को भली-भांति समझ सकेगा। कांग्रेस ने उसका बहिष्कार किया, और किसी महत्त्वपूर्ण नेता ने उसके सम्मुख गवाही नहीं दी। साइमन कमीशन जहाँ भी गया, काले झण्डों से उसका स्वागत किया गया। इस कमीशन की रिपोर्ट से भारत में किसी को भी सन्तोष नहीं हुआ। १६२६ में पण्डित जवाहरलाल के सभापतित्व में कांग्रेस ने लाहौर के अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की स्थापना को ही अपना उद्देश्य निश्चित किया। मार्च, १६३० में महात्मा गांधी ने सत्याग्रह-आन्दोलन शुरू किया, जिसके लिए उन्होंने नमक-कानून को तोड़ने का कार्यक्रम बनाया। गांधी जी का अनुसरण कर जगह-जगह पर नमक कानून तोड़ा गया, और हजारों स्त्री-पुरुषों ने स्वेच्छापूर्वक जेल यात्रा की।

इसी समय कांग्रेस ने यह भी आन्दोलन किया, कि विदेशी वस्त्र की दूकानों और शराब की भट्टियों पर धरना दिया जाए, और किसान सरकार को मालगुजारी अदा न करें। शीघ्र ही सत्याग्रह-आन्दोलन सारे देश में फैल गया, और जेल जाने वाले वीर देशभक्तों की संख्या एक लाख तक पहुँच गयी। सरकार ने देशभक्त सत्याग्रहियों पर घोर अत्याचार किये। १६२०–२१ के असहयोग-आन्दोलन और १६३०–३१ के सत्याग्रह आन्दोलन का परिणाम यह हुआ, कि सर्वसाधारण जनता में अन्याय का प्रतिरोध करने की शक्ति और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी। महात्मा गांधी और उनके साथी नेताओं के प्रयत्न से भारत में एक ऐसी जागृति प्रादुर्भूत हुई जिससे ब्रिटिश शासन का इस देश में स्थिर रह सकना असम्भव हो गया। ब्रिटेन जैसे शक्तिशाली देश का शिकंजा जो भारत में ढीला पड़ गया, उसका प्रधान कारण यही था, कि जन-शक्ति ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़ी हुई थी।

१६३६–४५ के महायुद्ध से भारत के स्वराज्य-संग्राम को बहुत बल मिला। १६४२ के अगस्त मास में कांग्रेस ने विदेशी सरकार का प्रतिरोध करने के लिए अधिक उग्र उपायों का अनुसरण करने का निश्चय किया। उसकी प्रेरणा से देशभक्त भारतीय युवक ब्रिटिश सत्ता को नष्ट करने के लिए कुर्बानियां करने के लिए तैयार हो गये। १६४२ में सरकार के प्रतिरोध ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया, कि रेल, तार और डाक तक में अनियमितता आ गयी। कई स्थानों पर तो जनता खुले तौर पर विद्रोह के लिए उतारू हो गयी। यद्यपि ब्रिटिश शासक अस्त्र-शक्ति का उपयोग कर इस क्रान्ति को कुचलने में सफल हुए, पर इसके कारण भारत में इतनी अधिक जागृति उत्पन्न हो गयी थी, कि अंग्रेजों के लिये भारत को अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव नहीं रह गया था। उन्होंने अनुभव कर लिया था, कि भारत को स्वतन्त्र कर देने में ही ब्रिटेन का लाभ है।

भारत को स्वतन्त्र कराने में इण्डियन नेशनल कांग्रेस का बहुत बड़ा हाथ है। पर साथ ही क्रान्तिकारी युवकों ने अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जो विप्लववादी उपाय प्रयुक्त किये, उनका महत्त्व भी कम नहीं है, यद्यपि शस्त्र-बल का प्रयोग कर अंग्रेजी शासन को नष्ट कर सकना सम्भव नहीं था। पर इन देशभक्तों के कार्यों से जनता में उत्साह और जागृति उत्पन्न होने में बहुत अधिक सहायता मिलती थी। लाहौर में सान्डर्स की हत्या, किसी अंग्रेज अफसर पर बम्ब पात, दिल्ली की असेम्बली के भवन में बम्ब फूटना, क्रान्तिकारियों द्वारा रेलगाड़ियों को लूट लेना—ये ऐसी घटनाएं होती थी, जिन्हें पढ़कर भारतीय जनता का हृदय पुलकित हो जाता था। समाचारपत्रों व सार्वजनिक सभाओं

में इस प्रकार की क्रान्तिकारी बातों का चाहे विरोध किया जाता हो, पर यह स्वीकार करना होगा, कि सर्वसाधारण भारतीय लोग विप्लववादियों को श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे और उन्हें शहीद मानते थे। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब और उत्तर प्रदेश भारतीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रधान केन्द्र थे।

१९३९–४५ के महायुद्ध के समय नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद हिन्द सेना का संगठन कर जापान और जर्मनी की सहायता से ब्रिटिश शासन का अन्त करने का प्रयत्न किया। महायुद्ध में ब्रिटिश पक्ष की विजय होने के कारण यद्यपि नेताजी को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिली, पर इसका महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन की भारतीय सेना में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हो गयी। भारत में ब्रिटिश शासन का मुख्य आधार भृत सेना ही थी, जिसके सैनिक धन की लालसा से विदेशी शासन की सहायता करते थे। जब उन्हीं में राष्ट्रीय जागृति और स्वराज्य की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी, तो अंग्रेजों के लिये भारत को अपनी अधीनता में रख सकना असम्भव हो गया। इसी कारण बम्बई में भारतीय जल-सेना ने भी अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया, और अंग्रेजों ने स्पष्ट रूप से अनुभव कर लिया, कि अब वे इस देश पर अपना शासन कायम नहीं रख सकेंगे।

(३) मुस्लिम राष्ट्रीयता

इसमें सन्देह नहीं, कि अफगान और मुसलिम शासकों के शासन काल में हिन्दुओं और मुसलमानों में अनेक दृष्टियों से सामंजस्य उत्पन्न हो गया था। धर्म, भाषा, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि अनेक क्षेत्रों में वे एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। यदि ब्रिटिश युग में हिन्दू-मुस्लिम सामञ्जस्य की यह प्रक्रिया जारी रहती, और भारत में नवजागरण की जो प्रक्रिया शुरू हुई थी, वह हिन्दुओं और मुसलमानों में एकानुभूति विकसित करने में सहायक होती, तो भारत के इन दो प्रधान धर्मों के अनुयायी राष्ट्रीय दृष्टि से भी एक हो सकते। पर ब्रिटिश युग में यह नहीं हो पाया। नवजागरण, धार्मिक सुधारणा, राजनीतिक शिक्षा और चेतना, ये सब हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से पृथक् करने में सहायक हुए। हिन्दुओं और मुसलमानों में भेद उत्पन्न करने वाले तत्त्वों का इस प्रसंग में उल्लेख करना उपयोगी है।

(१) ब्राह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण मिशन आदि नये धार्मिक आन्दोलनों ने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में हिन्दुओं में नवजागरण उत्पन्न किया। यद्यपि ये सभी आन्दोलन भारतीय जनता की एकता के पक्षपाती थे, और धार्मिक भेद-भाव को दूर कर भारतीयों को एकता के सूत्र में बांधने का यत्न करते थे, पर इनका प्रभाव मुख्यतया हिन्दुओं पर ही पड़ा। स्वामी दयानन्द ने मुसलिम नेता सर सैयद अहमद खां से मिलकर धार्मिक एकता को स्थापित करने का उद्योग किया था। पर तात्त्विक रूप से ये सब आन्दोलन हिन्दू धर्म और प्राचीन संस्कृति में नवजागृति उत्पन्न करने में सहायक हुए, और इन्होंने धर्म का एक ऐसा रूप जनता के सम्मुख रखा, जिसमें मुसलमानों के लिये सम्मिलित हो सकना सम्भव नहीं था। मध्य युग में कबीर, नानक सदृश सन्त-महात्माओं ने जो धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ किये थे, उनका

आधार केवल वेद शास्त्र ही नहीं थे। उनकी शिक्षाओं और वाणियों में सब धर्मों के विशिष्ट तत्त्वों का समावेश था। पर उन्नीसवीं सदी के हिन्दू धार्मिक आन्दोलन वेद शास्त्रों के महत्त्व पर जोर देते थे। आर्य समाज की तो स्थापना ही वेदों के पुनरुद्धार के लिये हुई थी। ब्राह्म समाज की उपासना भी वैदिक मंत्रों और उपनिषदों पर आश्रित थी। रामकृष्ण मिशन के सर्वप्रसिद्ध प्रचारक विवेकानन्द भी वेदान्त के गौरवपूर्ण व उत्कृष्ट सिद्धान्तों को देश-विदेश के लोगों के सम्मुख लाने के लिये प्रयत्नशील थे।

(२) नवजागरण का प्रभाव मुसलमानों पर न पड़ता, यह सम्भव नहीं था। पर उनमें जागरण की जो प्रवृत्ति प्रादुर्भूत हुई, वह सर्वथा स्वतन्त्र रूप में थी। अठारहवीं सदी में जब मुसलिम राज-शक्ति का पतन हुआ, तो अनेक मौलवियों के हृदय में इस्लाम की दुर्दशा की अनुभूति उत्पन्न हुई। देहली के मुहम्मद शाह वलीउल्ला सदृश कितने ही मुसलिम नेता इस्लाम के लुप्त गौरव का पुनरुद्धार करने के लिये उतावले हो उठे। वली उल्ला के अन्यतम शिष्य अहमद शाह ने वहावी सम्प्रदाय की नींव डाली, जिसका उद्देश्य इस्लाम की कमजोरियों को दूर कर मुसलमानों में नवजीवन व स्फूर्ति का संचार करना था। अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति को वहावी लोग बड़ी चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। १८५७ की राज्यक्रान्ति में उन्होंने मुसलमानों को अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। पर वहावी लोगों को भारत की दुर्दशा का उतना ध्यान नहीं था, जितना कि इस्लाम की दुरावस्था का। इस आन्दोलन ने इस्लाम में स्फूर्ति का संचार अवश्य किया, पर मुसलमानों को हिन्दुओं से दूर करने में भी सहायता की।

(३) सर सैयद अहमद खां ने अलीगढ़ को केन्द्र बनाकर एक नये मुसलिम आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसका उद्देश्य मुसलमानों में नई शिक्षा का प्रसार करना, और उन्हें भारत की राज-शक्ति के उपभोग में हाथ बँटाने के लिये तैयार करना था। ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षा की उपेक्षा की थी। इसके विपरीत हिन्दुओं ने अंग्रेजी पढ़कर नये ज्ञान-विज्ञान को सीख लिया था, और भारत के राजनीतिक व सामाजिक जीवन में उनका महत्त्व निरन्तर बढ़ता जाता था। १८७५ में सर सैयद ने अलीगढ़ में एंग्लो-ओरियंटल कालेज की स्थापना की, और मुसलिम जनता में नवजागरण का प्रारम्भ किया, जिससे इस जाति में नई स्फूर्ति और आशा का संचार हुआ। भारत भर के मुसलमान अलीगढ़ को अपना केन्द्र मानने लगे। बंगाल, मद्रास, पंजाब, बम्बई आदि प्रान्तों के मुसलिम युवक अलीगढ़ में पढ़ने के लिये आने लगे, और वहां रहने से उनमें एक भाषा, एक रहन-सहन, एक विचारसरणी और एक संस्कृति का विकास होने लगा। अलीगढ़ में स्कूल विभाग के लिये शिक्षा का माध्यम उर्दू को बनाया गया, और मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये उर्दू का ज्ञान आवश्यक कर दिया गया। अलीगढ़ का विद्यार्थी चाहे भारत के किसी भी भाग का निवासी हो, वह उर्दू को अपनी भाषा समझने लगा। इस का परिणाम यह हुआ, कि भारत भर के शिक्षित मुसलमान उर्दू को अपनी धार्मिक व राष्ट्रीय भाषा मानने लगे। रहन-सहन, भाषा, विचारसरणी आदि की एकता के कारण जहां अलीगढ़ के वातावरण में पले हुए मुसलमान अपने को एक जाति व एक राष्ट्र का अंग समझते थे, वहां उनमें यह अनुभूति भी उत्पन्न होने लगी, कि वे हिन्दुओं से पृथक् हैं।

(४) भारत के नवजागरण का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि विविध जातियों व सम्प्रदायों में अपनी पृथक्-पृथक् शिक्षा-संस्थाएं खोलने की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। मुसलमानों के मुहम्मडन एंग्लो-ओरियन्टल कालेज के समान, दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज, सनातन धर्म कालेज, खालसा कालिज आदि शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना शुरू हुई, जिनमें नवीन शिक्षा के साथ-साथ अपने धर्म, सम्प्रदाय आदि की शिक्षा की भी व्यवस्था की गयी। इस्लामिया कालेजों के विद्यार्थी जहां उर्दू को अपनी भाषा समझते थे, और इस्लाम के उत्कर्ष को अपना ध्येय मानते थे, वहां डी० ए० वी० कालेजों के विद्यार्थियों को हिन्दी की शिक्षा दी जाती थी, और वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का आदर्श उनके सम्मुख उपस्थित किया जाता था।

(५) उन्नीसवीं सदी का अन्त होते-होते आर्य समाज ने गुरुकुलों की स्थापना शुरू कर दी थी। सनातनी और जैनी लोग भी उनकी देखादेखी अपने 'कुल' स्थापित करने में तत्पर थे। देवबन्द आदि में मुसलमानों ने भी ऐसे मदरसे कायम कर लिये थे, जो इस्लाम की शिक्षा को ही संसार के लिये आदर्श व कल्याणकारी मानते थे। ये सब संस्थाएं भारत के नवजागरण में सहायक अवश्य थीं, पर साथ ही इनके कारण हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई अधिकाधिक चौड़ी होती जाती थी। देहात के रहने वाले हिन्दू और मुसलमान एक भाषा बोलते थे। उनके विचार करने का ढंग एक सदृश था, उनके रहन-सहन में भी विशेष अन्तर नहीं था। पर जब ये देहाती बालक गुरुकुल कांगड़ी या देवबन्द में पढ़कर बाहर निकलते थे, तो वे एक दूसरे से भिन्न दो पृथक् संस्कृतियों के मूर्त्तरूप बन जाते थे। अलीगढ़ के एंग्लो ओरियंटल कालेज और लाहौर के दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज के विद्यार्थियों की संस्कृति में भी इसी प्रकार का भेद आ जाता था। पण्डित मदन मोहन मालवीय के प्रयत्न से जब काशी में 'हिन्दू विश्वविद्यालय' की स्थापना हुई, तो यह संस्था हिन्दू अध्ययन और संस्कृति का उसी प्रकार केन्द्र बन गयी, जैसे कि अलीगढ़ मुसलिम शिक्षा का केन्द्र था। शिक्षा का प्रसार हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को घटाने के स्थान पर उसे बढ़ा रहा था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन के परिणामस्वरूप जब भारत में राष्ट्रीय शिक्षणालयों की स्थापना का प्रयत्न शुरू हुआ, तो राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन भी शिक्षा के क्षेत्र में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक नहीं कर सका। दिल्ली की 'जामिया मिल्लिया इस्लामिया' मुसलिम राष्ट्रीय शिक्षा का प्रतिनिधित्व करती थी, और काशी का 'काशी विद्यापीठ' हिन्दू राष्ट्रीय शिक्षा का। कांग्रेस की दृष्टि में दोनों ही संस्थाएं राष्ट्रीय शिक्षा देती थीं, पर इनके पढ़े हुए विद्यार्थियों में विदेशी शासन का अन्त करने की इच्छा समान रूप से विद्यमान होते हुए भी संस्कृति की दृष्टि से वे एक दूसरे से बहुत भिन्न थे। राष्ट्रीय शिक्षा भी हिन्दुओं और मुसलमानों के भेद को दूर करने में असमर्थ ही रही।

(६) राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन भी इन दो जातियों को एक करने में समर्थ नहीं हुआ। सर सैयद अहमदखां और उनके अनुयायी भली-भांति अनुभव करते थे, कि भारत में मुसलिम लोग अल्प संख्या में हैं। लोकतन्त्रवाद पर आश्रित स्वराज्य के स्थापित हो जाने का परिणाम यह होगा, कि मुसलमान अल्प संख्या में होने के कारण सदा हिन्दुओं के वशवर्त्ती बने रहेंगे। इसी लिये उन्होंने मुसलिम-हितों की रक्षा

का आन्दोलन खड़ा किया, और १६०६ में मुसलिम लीग के रूप में अपनी पृथक् राजनीतिक संस्था का संगठन किया। १६१६ में कांग्रेस और लीग में समझौता अवश्य हुआ, पर उसके कारण भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने व्यवस्थापिका सभाओं में हिन्दुओं और मुसलमानों के पृथक् प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकृत कर लिया, जिसके कारण इन दो धर्मों व जातियों के लोगों में अपनी पृथक् अनुभूति ने स्पष्ट रूप से राजनीतिक रूप धारण कर लिया।

(७) गांधी जी के नेतृत्व में जब कांग्रेस ने जनसाधारण में राजनीतिक चेतना के प्रादुर्भाव का प्रयत्न किया, तो मुसलमानों को अपने साथ लेने के लिये उन्होंने 'खिलाफत आन्दोलन' को अपनाया। टर्की में खिलाफत के पुनरुद्धार का विचार मुसलमानों को बहुत आकर्षक प्रतीत होता था, और वे इसी कारण बड़ी सख्या में कांग्रेस में शामिल हुए। १६२०-२२ के कांग्रेस आन्दोलन में मुसलिम स्वयंसेवक अरबी पोशाक पहनकर शामिल होते थे और खिलाफत पर व्याख्यान देते थे। गांधी टोपी धारण किये हुए हिन्दू-लोग अरबी पोशाक पहने हुए मुसलमानों की राष्ट्रीय भावना और देशभक्ति की प्रशंसा करते थे। इस युग में उन्हें यह अनुभव करने का अवकाश नहीं था, कि मुसलिम राष्ट्रीयता हिन्दू राष्ट्रीयता से किस प्रकार भिन्न है, और मुसलमान लोग किस प्रकार राष्ट्रीय क्षेत्र में एक नये मार्ग का अनुसरण करने में प्रवृत्त हैं।

इन्हीं सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि मुसलमान हिन्दुओं से पृथक् होते गये। मुसलमान एक पृथक् राष्ट्र हैं, यह विचार उनमें निरन्तर विकसित होता गया। इसी कारण पाकिस्तान का पृथक् रूप से निर्माण हुआ। मुहम्मद अली जिन्ना ने उन प्रवृत्तियों को मूर्त्त रूप प्रदान किया, जो ब्रिटिश युग में निरन्तर विकास को प्राप्त करती रही थीं।

इस समय भारत में स्वराज्य स्थापित हो चुका है। अगस्त १६४७ में स्वराज्य की स्थापना के बाद भारत में एक नये युग का सूत्रपात हुआ है, जो अफगान, मुगल और ब्रिटिश युगों से बहुत भिन्न है। इन युगों में भारत का शासन भारतीय जनता के हाथ में न होकर किसी एक व्यक्ति, वर्ग व जाति के हाथ में था। संसार के अन्य देशों के समान भारत में भी अब लोकतन्त्रवाद पर आश्रित स्वराज्य सरकार की स्थापना हुई है, जिसके कारण जनता को अपनी उन्नति करने का अवसर प्राप्त हुआ है। इसमें सन्देह नहीं, कि कांग्रेस के नेतृत्व में भारतीय जनता अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील है, और सामाजिक सुधार, आर्थिक प्रगति, राजनीतिक शक्ति आदि सब क्षेत्रों में भारत उन्नति पथ पर तेजी के साथ पग बढ़ा रहा है। आधुनिक युग की सब विशेषताएं इस समय भारत में विकसित हो रही हैं। नवजागरण इस देश में उन्नीसवीं सदी में ही शुरू हो गया था। अब शिक्षा के प्रसार के कारण इसका प्रभाव सर्वसाधारण जनता पर भी पड़ रहा है। देहात में निवास करने वाले लोग भी नये विचारों से परिचित हो रहे हैं, और वे अपने सामाजिक व आर्थिक संगठन में परिवर्तन लाने की बातों को शौक के साथ सुनते व पढ़ते हैं। बड़ी-बड़ी नहरों के निर्माण और जमींदारी प्रथा के अन्त के कारण कृषि के क्षेत्र में तेजी के साथ उन्नति हो रही है। यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विशालकाय कारखानों की स्थापना से देश में व्यावसायिक क्रान्ति हो रही है, और भारत

अब 'कृषि प्रधान' देश न रहकर 'व्यवसाय-प्रधान' होता जाता है। धर्म के क्षेत्र में भी संसार के लोग भारत के अध्यात्म-चिन्तन की ओर आकृष्ट हो रहे हैं, और बुद्ध व गांधी सदृश महात्माओं के सत्य व अहिंसा आदि के आदर्श संसार में नई आशा का संचार कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति के मूल-तत्त्व संसार के उन्नत व सभ्य लोगों के लिये आकर्षण की चीज बनते जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति द्रविड़, आर्य, बौद्ध, यवन, शक, हूण, अफगान, मुगल और ब्रिटिश संस्कृतियों के तत्त्वों के सम्मिश्रण का परिणाम है। यद्यपि इसकी मूल व मुख्य धारा आर्य है, पर यवन, शक, मुसलिम व ईसाई धाराओं ने भारतीय संस्कृति की इस मूल धारा को समृद्ध व विशाल बनाने में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। यह ठीक है, कि ब्रिटिश युग के नव जागरण के परिणामस्वरूप हिन्दू और मुसलमान के भेद में अधिक वृद्धि हुई, और अन्ततोगत्वा भारत का विभाजन होकर पाकिस्तान के रूप में एक पृथक् मुसलिम राष्ट्र का निर्माण हो गया। पर अब भी भारत में आठ करोड़ के लगभग मुसलमान विद्यमान हैं, जो इस देश की संस्कृति को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकते। 'धर्म-निरपेक्ष' (सिक्युलर) राष्ट्र की कल्पना इसी दशा का परिणाम है। समन्वय और सामंजस्य की भावना भारतीय संस्कृति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता रही है, और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का आदर्श भारत की इसी संस्कृति की विशेषता का परिचायक है। ब्रिटिश शासन के कारण भारत को पाश्चात्य संसार के भौतिकवाद से परिचित होने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हुआ, पर इससे उसने अपने अध्यात्मवाद को सर्वथा भुला नहीं दिया। अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय द्वारा यदि भारत एक नई संस्कृति के विकास में समर्थ हो सका, तो यह संस्कृति संसार के सुख व शान्ति में सहायक होगी, यह निर्विवाद है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

Nandlal Dey : Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India.

Cunningham : Ancient Geography of India.

Grierson : Linguistic Survey of India.

Chanda R. C. : Indo-Aryan Races.

Mukerjee R K : Fundamental Unity of India.

Pargiter : Ancient Indian Historical Tradition.

Muzumdar, Ray Chaudhuri and Datta : An Advanced History of India.

Pannikar, K. M. : A Survey of Indian History.

Piggott : Prehistoric India.

Krishnaswami, V. D. : Indian Stone Age (in Ancient India 3, 1947).

Childe : What Happened in History.

Mazumdar, N. C. : Excavations in Sind.

Krishna, M. H. : Pre-historic Deccan.

Burkitt : The Old Stone Age.

Earnest Makey : Early Indus Civilization.

Childe : What happened in History.

Mazumdar, N. C. : Explorations in Sind.

Marshall, Sir J. : Recent Discoveries in the Indus Valley.

Piggott. : Pre-historic India.

Piggott. : Some Ancient Cities of India.

Kashinath Dixti. : Pre-historic Civilization of the Indus Valley.

Marshall, Mackey and others : Mohenjo-daro and the Indus Civilization.

Vats : Excavations at Harappa, Cambridge History of India Vol. I.

Taylor : The Origin of the Aryans.

Ragozin : Vedic India.

Pavagee : Aryavartic Home.

Das, A. C. : Rigvedic India.

Tilak : Arctic Home In the Vedas.

Muir : Original Sanskrit Texts, Vol. II.

Childe, V. Ch. : The Aryans

Masson Oursel : Ancient India and Indian Civilization.

Das, A.C. : Rigvedic Culture.

Winternitz. : History of Sanskrit Literature Vol. I.

Mazumdar R.C. : Ancient Indian History and Civilization.

Jayaswal K. P. : Hindu Polity.
Tripathi : State in Ancient India.
Kieth : The Age of the Rigveda (In Cambridge History of India Vol. I.).
Tripathi : History of Ancient India.
Pargiter : Dynasties of the Kali Age.
Smith : Early History of India.
Winternitz : History of Sanskrit Literature.
Mukerjee : Hindu Civilization.
Kieth : A History of Sanskrit Literature.
Chakladar : Social Life in Ancient India.
Bhandarkar : Vaishnavism, Shaivism and other Minor Religions of India.
Rhys Davids : Buddhist India.
,, : Indian Buddhism.
,, : Buddhism, the History and Literature.
Jacobi : Jain Sutras (Sacred Books of the East. Vol. xxii).
Rhys Davids : Dialogues of the Buddha.
Watters : On Yuan Chwang.
Rockhill : Life of Buddha.
Cowell : The Jataka.
Bhandarkar : Carmichael Lectures, 1918.
Ray Chowdhary : Political History of Ancient India.
Hoernle : Uvasagadasao.
Geiger : Mahavanso.
Witson : Vishnu Purana.
Sumangala Vilasini
Digha Nikaya
Lefnann : Lalita Vi tara
Jacobi : Kalpa Sutra.
Fuusball : The Jatak.
Beal : Romantic Legend of Shakya Buddha.
Cowell and Neil : Divyavadana.
Samyutta Nikaya (Pali Text Society).
Fick : Social Organisation.
Mazumdar : Corporate life in Ancient India.
Das, S. K. : Economic History of Ancient India.
Vandyopadhyaya N. C. : Economic life and Progress in Ancient India.
McCrindle : The Invasion of India by Alexander the Great.
McCrindle : Ancient India, as described in Classical Literature.
Havel E. G. : The History of Aryan Rule in India.
Smith V. A. : Ashoka.

Samaddar : Glories of Magadha.
Bhandarkar D. R. : Ashoka.
Macphail J.M. : Ashoka.
Mukerjee R. K. : Men and Thought in Ancient India.
Mukerjee, R.K. : Ashoka.
Waddel L.A. : Excavations at Pataliputra.
Marshall J.A. : A Guide to Sanchi.
Marshall J.A. : A Guide to Taxila.
Malsey : Sanchi and its Remains.
Cunningham : Bhilsa Topes.
Beal : Fa-hien.
Hoernle : Studies in the Medicine in Ancient India.
Mukerjee : A History of Indian Shipping and Maritime Activity from the Earliest Times.
Sarkar B.K. : Positive Backgrounds of Hindu Sociology.
Dubreuil : Ancient History of the Deccan.
Jayaswal : Manu and Yagyavalkya.
Seal B.N. : Positive Science of the Ancient Hindus.
Rawlinson : Intercourse between India and the Western World.
Banerjee : Age of the Imperial Guptas.
Brown : Indian Architecture.
Mazumdar : A New History of the Indian People Vol. VI.
Cunningham : Archeological Survey of India, Vol. X.
Agrawal : Handbook to the Sculptures in the Mathura Museum.
Chaterji B.R. : Indian Cultural Influence in Combodia.
Elivt : Hinduism and Buddhism.
Mazumdar : Ancient Indian Colonies in the Far East.
Chakravarti : India and Central Asia.
Stein : Serindia.
,, : Ancient Khotan.
Law B.C. : Buddhist Studies.
Latourette : The Chinese : their History and Culture.
Aiyangar : Ancient India.
Senart : Caste in India.
Farquhar : Outline of the Religious Literature of India.
Ishwari Prasad : Short History of Muslim Rule in India.
,, : The History of Medieval India.
Tara Chand : Influence of Islam on Indian Culture.
Ramakrishana Centanary Committee : Cultural Heritage of India (3 Vols.).
Humayun Kabir : Our Heritage.
Ishwar Topa : Our Cultural Heritage.
Roy, D.N. : The Spirit of Indian Culture.

Dutt : Indian Culture.
Percy Brown : Indian Painting.
,, : Indian Architecture.
Law, N. T. : History and Culture.
Zacharias : Renascent India.
Andrews : Indian Renaissance.
Shah : The Splendour that was 'Ind.
Hartog : Indian Education.
Moreland . India from Akbar to Aurangzeb.
Sarkar : Studies in Mughal India.
राहुल सांकृत्यायन : मध्य एशिया का इतिहास
,, : बौद्ध संस्कृति
जयचन्द विद्यालंकार : भारतीय इतिहास की रूपरेखा
सत्यकेतु विद्यालंकार : मौर्य साम्राज्य का इतिहास
,, : भारत का प्राचीन इतिहास
राय कृष्णदास : भारतीय चित्रकला
,, : भारतीय मूर्तिकला